जैनतत्त्वप्रकाश



लेखक—
श्रीमज्जैनाचार्य शास्त्रोद्धारक जैनदिवाकर
बालब्रह्मचारी पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज



संयोजक
पं० मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म०



प्रकाशक
श्री अमोल जैन ज्ञानालय धूलिया (पश्चिम खानदेश)

वीर संवत्
२४८१
अमोलाब्द १८



आवृत्ति आठवीं
प्रति १०००
मूल्य आधी कीमत ५) रुपया



विक्रम संवत्
२०११
नवम्बर १९५४

श्री जालमसिंह मेड़तवाल के प्रबन्ध से
श्री गुरुकुल प्रिन्टिङ्ग प्रेस, ब्यावर में मुद्रित ।

पंचमावृत्ति की प्रस्तावना



'भारतवर्ष धर्मप्रधान भूमि है' यह कहावत हमारे देश में बहुत समय से प्रचलित है। निस्सन्देह भारतीय जनता का आचार-विचार, अब से कुछ समय पहले तक, धर्मभाव से समन्वित रहा है। हमारे यहाँ के रीति-रिवाजों में, रहन-सहन में और जीवन-व्यापारों में धार्मिक भावना की स्पष्ट या अस्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है। किन्तु पाश्चात्य लोगों का लम्बे काल तक इस देश पर शासन रहने से तथा भौतिक विज्ञान की विस्मयजनक उन्नति के कारण पाश्चात्य देशों के साथ भारत का आज जो निकटतर सम्पर्क बढ़ गया है उससे, आज भारतीय जनता अपने परम्परागत धर्मभाव से विचलित और विमुख होती जा रही है। विगत एक-दो दशाब्दियों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट विदित होगा कि भारतीय जनता के अन्तःकरण में से धर्म का भाव कितनी द्रुतगति से क्षीण होता जा रहा है।

धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव रखना अथवा धर्म का विरोध करना आज 'प्रगति' के नाम से पुकारा जाता है। आँखें बंद करके किसी ओर दौड़ पड़ना ही अगर प्रगति कही जाती हो तो बात अलग है, पर प्रगति का लक्ष्य अगर वास्तविक अभ्युदय, स्थायी शान्ति और आध्यात्मिक शुचिता है, तो इसे प्रगति कैसे कहा जा सकता है? सच्चे अभ्युदय और शाश्वत शान्ति का स्रोत तो धर्म ही है, और धर्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, लालसानिरोध, दान, शील, तप, सद्भावना और संयम धर्म के प्राण हैं। धर्म का विरोध करने का मतलब इन्हीं पवित्र एवं स्वर्गीय भावनाओं का विरोध करना है और धर्म से विमुख होने का अर्थ इनसे विमुख होना है। जिस दिन आज की तथाकथित प्रगति की मंजिल पूरी हो जायगी, अर्थात् धर्मभावना पूरी तरह मनुष्य के हृदय से

निकल जायगी, अर्थात् अहिंसा आदि की पूर्वोक्त दिव्य भावनाएँ मनुष्य के मानस में नहीं रह जाएँगी, उस समय संसार की क्या दशा होगी ? उस समय मनुष्य, मनुष्य न होकर विकराल पिशाच के रूप में होगा ! धरती नरक बन जाएगी ! आज संसार में जो भी थोड़ी-बहुत शान्ति नज़र आती है, वह सब अहिंसा, दया, क्षमा आदि का ही प्रताप है, अर्थात् धर्म का ही प्रताप है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि धर्म के विना संसार की सारी व्यवस्था छिन्नभिन्न हो सकती है और शान्ति के नष्ट हो जाने की आशंका है तो लोग धर्म का विरोध क्यों करते हैं ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होना ही धर्मविरोध का कारण है। धर्म निराधार रूढ़ियों का समूह नहीं है, धर्म नाना प्रकार की लोकमूढ़ताओं में नहीं है, बल्कि अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है, यह बात अगर दुनिया समझ जाय तो धर्म के विरोध की कोई गुंजाइश ही न रह जाय। किन्तु सच्चे स्वरूप को समझाने वाले विद्वान् महात्मा आज विरले हैं। उनकी आवाज, ढोंगियों और धूर्तों की, जो धर्म के नाम पर कमाई करना चाहते हैं, मौज उड़ा रहे हैं और लोगों को गलत राह पर ले जा रहे हैं, आवाज में बिलीन हो जाती है। परिणाम यह होता है कि लोग धर्म को ढोंग समझ लेते हैं और उसका विरोध करने पर तुल जाते हैं।

जैनशास्त्रों में धर्म की जो सुन्दर परिभाषा दी गई है, उसे दृष्टि के सन्मुख रख कर अगर धर्म के स्वरूप पर विचार किया जाय तो धर्म के संबंध में आज सर्वसाधारण में फैले हुए भ्रम शीघ्र ही दूर हो सकते हैं। जब हम इस तथ्य पर विचार करते हैं तो हमें गौरव का अनुभव होता है। हमें अभिमान होता है कि हमारे पास एक बहुत बड़ी और मूल्यवान् थाती है—अनमोल खजाना है। जैनशास्त्रों में दुनिया के सामने प्रकट करने के लिए बड़ी-बड़ी चीजें मौजूद हैं। हमारे पास वह आलोक है, जिससे विश्व का अंधकार दूर हो सकता है। पर हम उससे जगत् को लाभान्वित करने के लिए कहाँ प्रयत्नशील होते हैं ? वीतराग भगवान् की असीम करुणा [illegible]

जो अनमोल खजाना मिला है, उसे हम वणिक् की तरह दबाये-छिपाये बैठे हैं। दुनिया के आगे लुटाते नहीं हैं! हमारी यह दुर्बलता ही जैनधर्म की महिमा के विस्तार में बाधक है!

हमारी निश्चित धारणा है कि आज का युग जैनधर्म के शुद्ध एवं मौलिक स्वरूप के प्रचार के लिए अतीव उपयोगी है। ऐसे अवसर पर हमें अपने साहित्य के प्रचार में कोई कसर नहीं रखनी चाहिए। आज जनता में पहले जैसी धार्मिक संकीर्णता नहीं है; सत्य की गवेषणा करने की वृत्ति भी है। जैनधर्म के प्रचार के लिए ऐसा ही अवसर तो चाहिए।

मेरे खयाल से, वर्त्तमान युग की प्रवृत्ति को ठीक रूप में जिन्होंने समझा, उनमें बालब्रह्मचारी जैनाचार्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज का स्थान बहुत ऊँचा है। आचार्य महाराज का जीवनपरिचय अन्यत्र दिया जा रहा है। उसे पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होगा कि इस महान् आचार्य सन्त ने अपने जीवन में अद्भुत कार्य कर दिखलाया है। साधु अपनी चर्या के अनुसार रात्रि में साहित्य-निर्माण का कार्य नहीं कर सकते। दिन में भी आवश्यक क्रिया, गोचरी आदि में उन्हें पर्याप्त समय लगाना पड़ता है। फिर भी आचार्यश्री ने स्वल्प काल में जिस विपुल साहित्य की रचना की है, उसे देखकर चकित रह जाना पड़ता है। वे कितनी शीघ्र गति से साहित्य-सृजन कर सकते थे, इस बात का अनुमान इसी ग्रन्थ से लगाया जा सकता है। यह विशालकाय ग्रन्थ सिर्फ तीन महीने में सम्पूर्ण किया गया था! बत्तीस शास्त्रों का अनुवाद सिर्फ तीन वर्ष में पूर्ण कर दिया था! आचार्यश्री द्वारा विनिर्मित ग्रन्थों की प्रचुर संख्या को देखते हुए मुँह से सहसा निकल पड़ता है-धन्य, धन्य महाभाग!

आचार्यश्री अमोलकऋषिजी महाराज संतों के ढंग की भाषा लिखते थे। उसमें सरलता और मधुरता सर्वत्र व्याप्त है। उसे बिलकुल आधुनिक ढंग में ढालने की आवश्यकता है, जिससे सब लोग अनायास ही लाभ उठा सकें। हर्ष का विषय है कि आचार्यश्री के सुविनीत और सुपण्डित शिष्य मुनिश्री कल्याणऋषिजी महाराज का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ

है और कई ग्रन्थों का खड़ी बोली में रूपान्तर होकर प्रकाशन भी हो गया है। आज 'जैनतत्त्वप्रकाश' भी पाठकों के कर-कमलों में पहुँच रहा है। आशा है आचार्य महाराज का शेष साहित्य भी नूतन शैली से सम्पादित और परिमार्जित होकर पाठकों के सामने आएगा। पं० मुनिश्री कल्याणऋषिजी महाराज जैनधर्म की प्रभावना में जो महान् योग दे रहे हैं, वास्तव में वह स्तुत्य है। मुनिश्री मुलतानऋषिजी महाराज तथा महासतीजी श्री शायरकुंवरजी म० का उन्हें जो सहयोग प्राप्त है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार पर श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया (पू० खानदेश) के उत्साहशील कार्यकर्त्ताओं को भी नहीं भुलाया जा सकता। वे आचार्यश्री के साहित्य के प्रकाशन में जो दिलचस्पी दिखला रहे हैं, उसके लिए समाज उनका चिर कृतज्ञ रहेगा।

आज सारा समाज हिन्दी अनुवाद वाली बत्तीसी के लिए तरस रहा है। कितने खेद की बात है कि हमारे मूल धर्मशास्त्र भी आज राष्ट्रभाषा में पूरे नहीं उपलब्ध हैं ? आचार्यश्री के अनुवाद की बत्तीसी भी आज सुलभ नहीं है। उसका दूसरा संस्करण निकालने की नितान्त आवश्यकता है। कान्फरेंस की तरफ से ऐसा आयोजन किया गया था, परन्तु पता नहीं क्यों वह बीच ही में रुक गया ! क्या ही अच्छा हो, यदि श्रीअमोल जैन ज्ञानालय के विवेकी अधिकारी आचार्य महाराज कृत बत्तीसी का दूसरा संस्करण प्रकाशित करने का प्रयास करें। ऐसा करने से आचार्य महाराज की कीर्त्ति भी चिरस्थायिनी हो जायगी और जनता का भी असीम लाभ होगा।

'जैनतत्त्वप्रकाश' की यह पाँचवीं आवृत्ति है। गुजराती संस्करणों को भी गिन लिया जाय तो आठवीं आवृत्ति कहलाएगी। इतने बड़े ग्रन्थ की इतनी आवृत्तियाँ हो जाना इसकी सर्वप्रियता का प्रबल प्रमाण है। प्रस्तुत आवृत्ति में ग्रन्थ की भाषा को आधुनिक रूप में ढालने का प्रयत्न किया गया है, अतएव इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। आशा है यह

परिवर्तन पाठकों को रुचिकर होगा और इस ग्रंथ का उसी प्रकार प्रेम के साथ स्वागत किया जायगा, जिस प्रकार अब तक होता आया है। वास्तव में यह ग्रंथराज जैनतत्त्वज्ञान का भंडार है। इससे जिज्ञासु जनता अधिक से अधिक लाभ उठावे, यही आन्तरिक कामना है।

सम्पादित मेटर को पं० र० प्रधानमंत्री श्री आनन्दऋषिजी म० ने अवलोकन करने की कृपा की है। फिर भी संभव है, दृष्टि-दोष से सम्पादन में कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो पाठक सूचना दें और उसके लिए क्षमा करें।

ब्यावर
रक्षाबन्धन,
वि० सं० २०११

निवेदकः—
शोभाचन्द्र भारिल्ल



ग्रन्थकर्त्ता का संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त



मेड़ता (मारवाड़) निवासी श्री कस्तूरचन्दजी काँस्टिया ओसवाल कुलोत्पन्न थे। वे व्यापार के लिए मारवाड़ छोड़ कर मालवा देश के आष्टा (भोपाल) शहर में रहने लगे थे। दैवयोग से सेठजी की, उनके बड़े पुत्र की छोटे पुत्र की एवं बीच के पुत्र की पत्नी की मृत्यु हो जाने से सेठजी की पत्नी श्रीमती जवरीबाई को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपने दो पुत्रों को छोड़ कर साधुमार्गी संप्रदाय में दीक्षा ग्रहण की। वे १८ वर्ष तक संयम पाल कर स्वर्गस्थ हुई। अपनी माता, पिता, पत्नी, बड़े और छोटे भाई के वियोग से उदास और शोकाकुल होकर कस्तूरचंदजी के द्वितीय पुत्र केवलचंदजी भोपाल में आकर रहने लगे। वहाँ वे पितृधर्मानुसार पंच प्रतिक्रमण नवस्मरण आदि कंठस्थ कर जिनपूजादि क्रिया करने लगे। उन दिनों भोपाल में निरंतर एकांतर उपवास करने वाले, एक ही चद्दर रखने वाले, स्वल्पभाषी कुंवरजी ऋषिजी महाराज का आगमन हुआ। उनका उपदेश सुनने के लिए श्री फूलचन्दजी धाड़ीवाल केवलचंदजी को जबर्दस्ती ले गए। उस समय सूयगडांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक की दसवीं गाथा का व्याख्यान चल रहा था। उससे प्रभावित हो सद्धर्म प्राप्त करने के इच्छुक बन कर केवलचंदजी प्रतिदिन व्याख्यान श्रवण करने आने लगे। धीरे धीरे उन्होंने प्रतिक्रमण, पच्चीस बोल का थोकड़ा आदि कंठस्थ कर लिया। उनके दीक्षा लेने के भाव उत्पन्न हो गए। किन्तु भोगावली कर्मों का अभी अन्त नहीं हुआ था, अतः उनके स्वजनों ने जबर्दस्ती ही उनका विवाह खेड़ी ग्राम निवासी श्री छोटमलजी टाँटिया की पुत्री श्री हुलासाबाई से कर दिया। किन्तु दुर्भाग्यवश वह भी दो पुत्रों को छोड़कर स्वर्गवासिनी हुई। पुनः पुत्रों के लालन पालन के लिए विवाह करने के

हित मारवाड़ की ओर जाते समय रास्ते में पूज्य श्री उदयसागरजी महाराज के दर्शनार्थ रतलाम उतरे। यहाँ पर अनेक शास्त्रों एवं ग्रन्थों के ज्ञाता, युवावस्था में सजोड़ ब्रह्मचर्य व्रत के धारक, श्री कस्तूरचन्ददी लसोड़ से मिले। उन्होंने कहा—'विष का प्याला सहज ही गिर गया है। अब पुनः उसे भरने के लिए क्यों तत्पर होते हो?' पूज्यश्री जी ने भी कहा कि—'एक बार वैरागी बनकर फिर क्यों वर बनने के लिए तैयार होते हो?' परिणाम यह हुआ कि जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर वे भोपाल लौट आए एवं दीक्षा के लिए प्रस्तुत हुए। किन्तु आज्ञा प्राप्त न होने से एव माह तक भिक्षाचारी रह कर फिर आज्ञा प्राप्त की। संवत् १९४३, चैत्र शुक्ला ५ को श्री पुनाऋषिजी महाराज से दीक्षा ग्रहण कर पूज्य श्री खूबाऋषिजी महाराज के शिष्य बने। दीक्षा लेने के पश्चात् पर्याप्त ज्ञानाभ्यास करके तपश्चर्यारत हुए और १-२-३-४-५-६-७-८-९-१०-११-१२-१३-१४-१५ १६-१७-१८-१९-२०-२१-३१-३३-४१-५१-६१-६३-७१-८१-८४-९१—१०१-१११ और १२१ तक की तपश्चर्या केवल छाछ के आधार पर की। इसके अलावा छः महीने तक एकान्तर उपवास तथा अन्य फुटकल तपस्या की। उन्होंने पंजाब, मालवा, मेवाड़, मारवाड़, गुजरात, काठियावाड़, ढुंढाड़ झालावाड़, दक्षिण, खानदेश, और तेलंगाना आदि अनेक देशों में अप्रतिबन्ध विहार किया। साथ ही वाडिया के और माधोपुर के राजाजी को मांस आहार के प्रत्याख्यान कराए।

"श्रीकेवलचन्दजी के ज्येष्ठ पुत्र और इस ग्रन्थ के कर्त्ता श्री अमोलकचंद्रजी पिता के साथ ही दीक्षा लेना चाहते थे, किन्तु स्वजनों ने आज्ञा प्रदान नहीं की। उन्हें मोशाल पहुँचा दिया गया। एक बार कविवर श्री तिलोक ऋषिजी महाराज के पट्टशिष्य महात्मा श्री रत्नऋषिजी महाराज और तपस्वीजी श्री केवलऋषिजी महाराज ठाना २ सहित इच्छावर ग्राम में पधारे। वहाँ से दो कोस दूर खेड़ी ग्राम में अमोलकचन्दजी अपने मामा के यहाँ थे। वे पिताजी के दर्शनार्थ वहाँ आए। पिताजी को साधु वेष में देखकर उन्हें पुनः वैराग्य हुआ। उस समय केवल साढ़े दस वर्ष की अवस्था में ही संवत् १९४४ के फाल्गुण मास की कृष्णा द्वितीया को दीक्षा लेकर केवलऋषिजी

के शिष्य होने लगे। किन्तु उन्होंने आपको शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया। तब उन्हें पूज्यश्री खूबाऋषिजी के समीप ले जाया गया। और उन्होंने अपने ज्येष्ठ शिष्य आर्यमुनि श्री चेनाऋषिजी महाराज का शिष्य बनाया। स्वल्प काल में ही गुरुवर्य एवं पूज्य श्रीजी का स्वर्गवास हो जाने पर वे ३ वर्ष तक श्री केवलऋषिजी म० के साथ विचरण करते रहे। फिर तपस्वीजी के एकल विहारी हो जाने पर श्री अमोलकऋषिजी दो वर्ष तक भैंरुऋषिजी म० के साथ रहे। संवत् १९४८ के फाल्गुण में ओसवाल जातीय श्री पन्नालालजी ने १८ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। श्री अमोलकऋषिजी के शिष्य बने। उस समय कविवर श्री कृपारामजी महाराज के शिष्य रूपचंदजी महाराज गुरुवियोग से दुःखी हो रहे थे। उन्हें सान्त्वना देने के लिये आपने पन्नाऋषिजी को उन्हें समर्पित किया। यह आपकी महान् उदारता थी। संवत् १९४८ मार्गशिर में आप श्री रत्नऋषिजी महाराज के सहचारी बने। उन्होंने आपको योग्य जान कर पूर्ण परिश्रम पूर्वक शास्त्राभ्यास कराया। संवत् १९५६ के फाल्गुन मास में ओसवाल संचेती जाति के श्री मोतीऋषिजी चरितनायकजी के शिष्य बने। उनका देहान्त संवत् १९६१ के आश्विन में बम्बई में हुआ। सं० १९६० में घोड़नदी ग्राम में चरितनायकजी ने चातुर्मास किया एवं वहीं पर आषाढ शुक्ला ९ को इस ग्रंथ का प्रारम्भ एवं आश्विन शुक्ला दशमी, दशहरा के दिन समाप्ति की। चौमासे के पूर्ण होते ही श्री केवलऋषिजी महाराज की वृद्धावस्था देखकर वे उनकी सेवा में रहे। संवत् १९६९ का चातुर्मास बम्बई संघ के आग्रह से हनुमान गली में किया। उसी समय यहाँ पर 'रत्न चिन्तामणि जैन मित्र मंडल' की स्थापना हुई। एक जैनशाला खुली और इस मंडल की ओर से चरितनायक द्वारा रचित 'जैनामूल्यसुधा' नामकी पद्यबद्ध पुस्तक प्रकाशित की गई।

दक्षिण हैद्राबाद निवासी साधुमार्गी श्रावक श्री पन्नालालजी कीमती कार्यवश बंबई आए। उन्होंने निवेदन किया कि हैद्राबाद में साधुमार्गियों के घर तो बहुत हैं किन्तु साधुदर्शन के अभाव से वे अन्यमतावलम्बी हो रहे हैं। यदि आप जैसे महात्मा उधर पधारने की कृपा करें तो एक नया

क्षेत्र खुल जाएँ और बड़ा उपकार हो। चातुर्मास पूर्ण होते ही महाराज ने हैद्राबाद की तरफ विहार किया। मध्य में सं० १९६२ का चौमासा उन्होंने इगतपुरी में किया। यहां के एवं घोटी ग्राम के श्रावकों ने महाराजश्रीकृत 'धर्मतत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ की १५०० प्रतियाँ छपाकर अमूल्य वितरित कीं। चातुर्मास के पश्चात् आप बीजापुर (औरंगाबाद) पधारे। वहाँ के सुश्रावक भीखुजी संचेती ने धर्मतत्त्वसंग्रह की गुजराती भाषान्तर की १२०० प्रतियाँ छपा कर अमूल्य भेंट दीं। यहाँ से औरंगाबाद जालना होते हुए एवं क्षुधा, तृषा, शीतोष्णादि मार्ग के अनेक कठोर परिषह सहते हुए संवत् १९६३ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को आप हैद्राबाद (अलवाल) पधारे। महाराज श्री को चातुर्मास करने के लिए चार कमान में नव कोटी का मकान, लाला नेतराम जी रामनारायणजी ने दिया। यहाँ रह कर महाराज श्री ने स्याद्वाद शैली से युक्त, विभिन्न भाषाओं का उपयोग करते हुए एवं अकाट्य तर्क युक्त विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान दिए। परिणामतः अनेकों अजैन प्रभावित होकर जैन बने। राजाबहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी जैसे जैन स्तम्भ दानवीर, महाप्रभाविक श्रावक रत्न बने एवं अनेक शास्त्रादि के ज्ञाता, दुष्कर तपःकृता, सौभाग्यावस्था में चारों स्कन्धों की पालक गुलाबबाई जैसी श्राविकारत्न बनी। ये दोनों रत्न अत्यन्त प्रभावशाली हुए।

तपस्वीराजजी श्री केवलऋषि महाराज के शिष्य श्री सुखाऋषिजी आश्विन में अस्वस्थ हुए एवं फाल्गुन में स्वर्गस्थ बन गए। इतने में ग्रीष्म ऋतु आ गई और विहार नहीं हो सका। अतः दूसरा चौमासा भी लालाजी ने अत्यन्त आग्रह से वहीं कराया। इस चौमासे में तपस्वीराज बीमार हो गये और इस कारण लगातार नौ वर्ष तक वहीं रहना हुआ। इस समय में श्रीकेवलऋषिजी महाराज के प्रयास से लाखों पंचेन्द्रियों को अभय प्राप्त हुआ एवं चरितनायकजी ने अनेकों ग्रन्थ रचे। लालाजी आदि प्रमुख श्रावकों ने उन्हें छपवा कर अमूल्य बँटवाया। सं० १९६१, श्रावण वदी १३ मंगलवार को तपस्वीराज महाराज स्वर्गस्थ हुए। चरितनायकजी महाराज के आदर्श वैराग्यमय जीवन एवं प्रभावशाली उपदेश से प्रभावित होकर पाँच व्यक्ति दीक्षा लेने के लिए प्रस्तुत हुए, उनमें से तीन को योग्य जान कर लालाजी

मे खूब महोत्सव से फाल्गुन शुक्ला १२ शनिवार को दीक्षा दिलाई। तत्पश्चात् अनेक वर्षों से होती हुई सिकन्द्राबाद वालों की विनती स्वीकार कर वहां चौमासा किया। वहां पर ग्यारह रंगिया आदि खूब धर्म ध्यान हुआ। चौमासे में लालाजी ने शास्त्रोद्धार का कार्य आरम्भ करवाया। श्री अमोलक-ऋषिजी महाराज ने सदैव एक समय भोजन कर के एवं ७-८ घंटे निरंतर लेखन पठन कार्य में लगाकर ३ वर्ष में ३२ ही शास्त्रों का हिन्दी भाषानुवाद करके लिख दिया। लालाजी ने ४२०००) रु० का संव्यय कर सब शास्त्रों की १०००-१००० प्रति ५ वर्ष में छपवाकर सब स्थानों पर अमूल्य वितरण करवाई। हैद्राबाद सिकन्द्राबाद में रहते हुए १५ वर्ष में कुल सवा लाख पुस्तकें अमूल्य दी गई। इस बीच सं० १९७२ फाल्गुन में श्री मोहनऋषिजी म० की दीक्षा हुई। वह युवऋषिराज ३ शास्त्र, १५ थोकड़े कंठस्थ करने वाले और संस्कृत व्याकरण तथा न्याय कोष आदि के वेत्ता थे। वे बड़े प्रभाव-शाली हुए। किन्तु सं० १९७५ के चैत कृष्णा ८मी को महान तपस्वी, श्रेष्ठ व्याख्यानी श्री देवऋषिजी और श्री मोहनऋषिजी दोनों ही एक ही रात्रि में स्वर्गस्थ हुए। सं० १९७४ के आश्विन में राजाबहादुर लाला सुखदेवसहायजी भी स्वर्गस्थ हो गए।

शास्त्रोद्धार का कार्य समाप्त होते ही सं० १९७७ पौष शुक्ला २ को श्री अमोलकऋषिजी म० ठाणा ३ सहित हैद्राबाद से विहार करके शास्त्रज्ञ श्रावक नवलमलजी सूरजमलजी धोका की अनेक वर्षों से होती हुई विज्ञप्ति को स्वीकार कर कर्नाटक देश के यादगिरि ग्राम पधारे। वहाँ अनेक ग्रामों के श्रावक आए और विनती करके कर्नाटक में ही विचरने की स्वीकृति प्राप्त की। महाराज श्री ने कर्नाटक के अनेक ग्रामों में विचर कर जैन, वैष्णव, मुस्लिम, राजवर्गी आदि लोगों को धर्मप्रेमी बनाया। चौमासा रायचूर में किया, खूब धर्मोद्योत हुआ। वहाँ पर बड़े-बड़े राज्याधिकारी एवं प्रतिष्ठित पुरुष आपके दर्शनार्थ आए एवं उपकार के अनेक कार्य हुए। महाराज श्री की कीर्ति से प्रभावित होकर बैंगलोर के ७० श्रावक श्राविका विज्ञप्ति के लिए आए। श्रीमान् सेठ गिरधारीलालजी अन्नराजजी साँकला ने उस स्थान से विहार करने के पश्चात् बैंगलोर में विराजने तक तन, मन और धन

से सेवा करना स्वीकार किया। उपकार का कार्य समझ कर, अनेक वर्षों से अत्यन्त आग्रह से होती हुई विनती को स्वीकार कर, मार्ग में क्षुधा, तृषा आदि के अनेक कष्ट सहते हुए आप २६७ मील दूर बैंगलोर पधारे। वहाँ जैन साधुमार्गी पोषधशाला, जैन रत्न अमोल पाठशाला और जैन पुस्तकालय यह तीनों संस्थाएँ स्थापित हुईं। इरानखाँ और गोस्तखाँ नामक दो कसाइयों ने जीवहिंसा का त्याग किया तथा वहाँ के जज साहब ने पंचेन्द्रियों की हिंसा एवं मांसाहार का त्याग किया। धर्मोन्नति फंड में १५०००) एवं जीव दया फंड में ४४००) रुपये का सदुव्यय हुआ। ग्यारह रंगिये, नव रंगिये आदि अन्य उपकार कार्य हुए। उसी समय श्री अमीऋषिजी महाराज के समाचार आए कि अब आप विलायत जाएँगे या विदेश जाएँगे? अन्य के यहाँ तो बहुत उजाला कर चुके, अपनी संप्रदाय की क्या हालत है, इस पर भी विचार कीजिए! उसी प्रकार अहमदनगर से भी श्री रत्नऋषिजी महाराज के समाचार आए कि अब शीघ्र ही इधर आइए। दो मास में आते हों तो एक ही मास में आइए। ऐसे ज्येष्ठ मुनिवरों की आज्ञा शिरोधार्य कर, महाराज श्री ने ठाणा ३ सहित पुनः महाराष्ट्रदेश की ओर विहार किया। पूर्वोक्त अनेक प्रकार के कष्ट सहते हुए आप रायचूर पधारे। हैदराबाद आदि स्थानों पर खबर पहुँची कि महाराज शीघ्रता से महाराष्ट्र देश में पधार रहे हैं। यह सुनकर राजा बहादुर लाला ज्वालाप्रसादजी आदि अनेक श्रावक सहपरिवार दर्शनार्थ आए। उन्होंने महाराज श्री से हैदराबाद पधारने और कर्नाटक प्रदेश में विचरण करने की अत्यन्त आग्रह से विनती की। किन्तु महाराज श्री ने स्वीकार नहीं की और यादगिरि पधारे। वहाँ रायचूर वाले राजमान कच्छी मोमिन कम्मू सेठ, जो महाराज श्री के बड़े ही प्रेमी थे, आए और अत्यन्त आग्रह से रायचूर में चौमासा करने की विनती की। विहार करते समय वे रास्ते में बैठ गए किन्तु महाराज श्री नहीं माने और महाराष्ट्र की ओर बढ़ते गए। श्रीमान् सेठ सूरजमलजी झोका पैदल ही महाराज श्री को पहुँचाने के लिए शोलापुर तक आए। महाराज श्री गुलबर्गे पधारे। वहाँ उनके जाहिर व्याख्यान हुए। चौहान वकील आदि ने यहाँ

धूमधाम से मनाया गया। उसके उपरान्त श्री सूरजमलजी यादगिरि लौट गए। महाराज श्री ने वहाँ से करमाले की तरफ विहार किया। यह समाचार महाराष्ट्र में फैलते ही श्री रत्नऋषिजी महाराज ठाणे ३ सहित करमाले पधारे। महाराज श्री के स्वागत के लिए श्रावकों ने बाजार से स्थानक तक पताकाएँ लगाईं। महात्मा श्री रत्नऋषिजी तथा श्री आनन्दऋषिजी आदि महात्मा अन्य श्रावक श्राविकाओं सहित एक मील तक सन्मुख आए एवं जयध्वनि गायन आदि के साथ नगर प्रवेश कराया। श्रीसंघ ने अत्यन्त आग्रह पूर्वक चौमासे की स्वीकृति ली। वहाँ से ठाणा ६ सहित आप मिरच गाँव पधारे। वहाँ लाला ज्वालाप्रसादजी सहकुटुम्ब दर्शनार्थ आए। लालाजी ने पाथर्डी संस्था को २५००) रु० का दान दिया। श्री अमोलकऋषिजी महाराज का चौमासा कराने के लिए अहमदनगर का श्रीसंघ मिरचगाँव आया, आग्रह से विनती की, किन्तु आपकी इच्छा श्री रतनऋषिजी म० के साथ चौमासा करने की थी; अतः स्वीकृति नहीं दी। चौमासा करमाले ही हुआ। चौमासे में लगभग ६०००-७००० लोग दर्शनार्थ आए। वर्द्धमान जैन पाठशाला की स्थापना हुई जो श्री बुधमलजी मोहनलालजी के आश्रय से चल रही है। श्रमणसूत्र युक्त प्रतिक्रमण, सद्धर्म बोध आदि पुस्तकें प्रसिद्ध हुईं। श्री कहानजी ऋषिजी महाराज के संप्रदाय के साधु साध्वियों का सम्मेलन फाल्गुन महीने में करने का निश्चय हुआ। चौमासे के पश्चात् श्री रत्नऋषिजी महाराज ने ठाणा ३ सहित मिरचगांव की तरफ विहार किया। चरितनायकजी ने ठाणे ३, जामखेड़ की तरफ विहार किया। अरणगांव वालों और जामखेड़ वालों ने पधरामणी का करमाले के समान ही आयोजन किया। यहां से महाराज आष्टी पधारे। वहां आपके दर्शनार्थ महासतीजी श्री रंभाकँवरजी ठाणा १२, पधारे। श्री नंदकंवरजी ठाणा ३ भी पधारे। ग्राम के हाकिम साहिब भी महाराज श्री के व्याख्यान में आए और मुक्तकंठ से महाराज श्री की प्रशंसा की। वहां से आप कडे पधारे। श्री महासतीजी भी वहां पधारीं। यहां पर भी जैन पाठशाला की स्थापना हुई। कुछ दिन बाद छात्रावास (बोर्डिंग) भी स्थापित हुआ। आजकल भी संस्थान और अनाथालय दोनों में सनाथ और अनाथ दोनों तरह के बच्चों

का पालन पोषण हो रहा है, एवं धार्मिक तथा व्यावहारिक विद्यादान दिया जा रहा है। वृद्ध महासतीजी श्री रामकुंवरजी को महाराज श्री के दर्शन की अतीव इच्छा थी, अतः महाराजश्री चीचोंडी होकर मीरी पधारे। यहाँ से कुडगाँव पधारे। यहाँ श्री भीकराजजी चुनिलालजी के वर-सी भांनसहिवडे के गृहस्थ भानूजी की सं० १९८१ माघ सुदी पंचमी को दीक्षा हुई, जिनका नाम श्री कल्याणऋषिजी रखा गया। वहाँ से महाराज श्री मीरी आए। मीरी में बैंगलोर वाले कुन्दनमलजी मुलतानमलजी बोरा की पुत्री और सिकन्द्राबाद वाले श्री सुगालचन्दजी मकाणा की पत्नी सायरकुँवरबाई की दीक्षा हुई। वहाँ से महाराज श्री बाम्बोरी आए। वहाँ समाचार प्राप्त हुए कि मालवा से श्री अमीऋषिजी महाराज आदि साधु पधार रहे थे, किन्तु साधु के अड़चण होने से रुकना पड़ा। तब मनमाड़ में साधु सम्मेलन करने का विचार रद हुआ। फिर खबर मिली कि श्री अमीऋषिजी म० ने दक्षिण की तरफ विहार किया है। वे वैसाख महीने में दक्षिण पधार गए। सोनई में साधु साध्वियों का समागम हुआ और सम्प्रदाय की एकता के लिए पूज्य पदवी आदि पदवियों के आरोपण का निश्चय किया गया। श्री अमीऋषिजी म० के कथनानुसार साधु साध्वियों को अहमदनगर बुलाया गया। और वहाँ पर यह कार्य करने का निश्चय हुआ। १६ साधु और ३६ साध्वियाँ श्री कहानऋषिजी म० की संप्रदाय के एकत्र हुए। अन्य संप्रदाय के भी ५ साधु और ५ साध्वियाँ उपस्थित थीं। कुल ६२ ठाणे एकत्र हुए। किन्तु अभिमान रूपी शत्रु ने कार्य पूर्ण न होने दिया। चरितनायकजी का इस बार का चौमासा ठाणे ४ से घोड़नदी में हुआ। वहाँ भी श्री शांतिनाथ जैन पाठशाला की स्थापना हुई। ३०००-४००० लोग दर्शनार्थ आए और खूब धर्मध्यान हुआ। मीरी (अहमदनगर) के गृहस्थ मुलतानमलजी मेर की दीक्षा सं० १९८२ मार्गशीर्ष पूर्णिमा को हैदराबाद के राजाबहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी की तरफ से हुई। वहाँ से महाराज श्री पूना पधारे। वहाँ के श्रावकों ने चौमासे की अत्यन्त आग्रह से विनती की। उसे स्वीकार कर महाराज चिंचवड बड़गांव पधारे। वहाँ पर मालवे से श्री दौलतऋषिजी महाराज के दो शिष्य चौथऋषिजी और रत्नऋषिजी, महाराजश्री के पास रहने को आए।

महासती श्री राजकँवरजी भी ठाणा सात से महाराज श्री के पास चौमासा करने के विचार से पधारीं। कुल चौदह ठाणे का चौमासा हुआ। जैन पाठशाला की स्थापना हुई। दर्शनार्थ ४०००-५००० मनुष्यों का आगमन हुआ। धर्म तपदान बहुत हुआ और चौमासे की खूब धूमधाम हुई। खासी धर्मप्रभावना हुई। महाराज श्री वहाँ से घोड़नदी पधारे। यहाँ दो आर्याओं की दीक्षा हुई और अहमदनगर में चौमासा हुआ। यहां से राहोरी होकर आप कोपरगांव आये। यहाँ सुना कि पुनतांबा में आर्याजी रम्भकंवर जी बहुत बीमार हैं एवं बड़े कष्ट में हैं। अतः आप मुलतानऋषिजी म० को साथ लेकर वहां पधारे और महासतीजी श्री रम्भाकुँवरजी की सहायता से उन्हें कोपरगांव ले आये। बीमारी असाध्य देख आर्याजी के भाव संथारा करने के हुए। अतः उन्हें संथारा कराया। ४३ दिन का संथारा हुआ। कोपरगांव वालों ने दर्शनार्थ आने वालों की बहुत सेवा की। वहां से महाराज श्री मनमाड़ पधारे। यहां चरितनायकजी महाराज ठाणे ५ थे और महासती श्री रम्भाकँवरजी महाराज ठाणे १३ थीं। कुल ठाणे १८ का चौमासा हुआ। लगभग १०००० मनुष्यों का दर्शनार्थ आगमन हुआ। चौमासे की समाप्ति के पश्चात् महाराज श्री धुलिया पधारे। श्री राजऋषिजी म० आंखों से अपंग एवं विहार करने में असमर्थ होने से एवं जैन संघ के आग्रह से चौमासा धूलिया में ही हुआ। धर्मदासजी की सम्प्रदाय की श्री मेहताबकुंवरजी का ठाणे ४ से चौमासा धूलिया ही हुआ। इस बार लगभग ५००० व्यक्ति दर्शनार्थ आये एवं खूब धर्मध्यान हुआ। फाल्गुन कृष्णा ग्यारस को राजऋषिजी म० का स्वर्गवास होगया। जिनका अन्तिम महोत्सव श्रीमान् हेमराजजी पृथ्वीराजजी की तरफ से बहुत अच्छी तरह मनाया गया। वहां से विहार करके महाराज श्री फागना पधारे।

वहां से श्रीसंघ का अत्यन्त आग्रह होने से महाराज श्री धूलिया पधारे। महाराज श्री ने भयंकर गर्मी के दिनों में भी वहां बेले, तेले और चोले किये और पारणे में भी कभी छाछ, कभी गुड़ का पानी और कभी केवल दूध लेकर ही यह क्रम दो महीने तक चालू रक्खा। परिणामतः शरीर में गर्मी का प्रकोप होगया। नेत्र कम्म हो गये और रक्त की दस्तें होने लगीं।

श्रावक श्राविकाओं ने विनती की कि आपकी आंखों की श्रीसंघ को अत्यन्त आवश्यकता है। आप अकेले हैं। यदि आंखों की ज्योति मंद हो गई तो साधुपना पालना कठिन हो जायगा। इस कथन पर महाराज श्री ने विचार किया और औषधोपचार करवाया। इस वर्ष का चौमासा भी धूलिया ही हुआ। चौमासे के पश्चात् भी अस्वस्थता के कारण महाराज श्री को विहार नहीं करने दिया गया। महाराजश्री भक्त जनों की प्रबल प्रार्थना को अस्वीकार न कर सके। यहां माघ महीने में घोरकुण्ड वाली पद्मकँवर बाई की दीक्षा महासती सायरकँवरजी के पास हुई। यह उत्सव भी धूलिया श्री संघ ने सम्पन्न किया। तीसरा चौमासा भी धूलिया में ही हुआ। चौमासे में महाराज श्री के संसारी भाई श्रीमान् सेठ अमीचन्दजी कांस्टिया दर्शनार्थ आये। जैन संघ में धातु के प्याले आदि की प्रभावना में लगभग ४०० रुपये खर्च किये। हैद्राबाद से श्रीमान् सेठ जमनालालजी रामलालजी कीमती भी आये। रामलालजी ने शीलव्रत का स्कंध धारण किया। जैनतत्त्वप्रकाश और थोकड़े की पुस्तक छपवाकर अमूल्य वितरण की। गरीबों को वस्त्रदान दिया। हैद्राबाद से श्रीमान् धर्मात्मा रूपचन्द्रजी जवाहरलालजी रामावत भी सकुटुम्ब आये। आपने तपश्चर्या की और धर्मार्थ अच्छी रकम खर्च की। लगभग १०००० मनुष्य दर्शनार्थ आये। धर्म, तप, प्रभावना आदि खूब हुआ। दलोट (मालवा) निवासी श्री जसराजजी तथा कन्हैयालालजी दोनों पिता पुत्र ने भगवती दीक्षा धारण की। जसराजजी का नाम श्रीजसवन्तऋषि और कन्हैयालालजी का नाम श्री 'शान्तिऋषि' रक्खा गया। वहां से विहार करके चरितनायकजी महाराज मनमाड़ पधारे। यहां मुनिश्री चौथमलजी महाराज के साथ समागम हुआ। यहीं श्री रूपचन्द्रजी पूज्य पदवी स्वीकार करने की प्रार्थना करने आये। महाराज श्री मनमाड़ से विहार करके इन्दौर पधारे। इन्दौर में धूमधाम के साथ पूज्यपदवी का उत्सव हुआ, जिसका विवरण पृथक् प्रकाशित हो चुका है।

संवत् १९८९ का चातुर्मास भोपाल में हुआ। श्री अमीचन्दजी कांस्टिया तथा श्री राजमलजी डोशी ने खूब सेवा की। चातुर्मास का समस्त व्यय भी आपने ही उठाया। इसी चातुर्मास में अजमेर साधु सम्मेलन का

प्रतिनिधिमण्डल भोपाल आया, जिसमें धर्मवीर श्री दुर्लभजी भाई झवेरी, श्री हेमचन्द्रजी भाई एंजीनियर तथा रा. ब. लाला ज्वालाप्रसादजी आदि प्रतिष्ठित सज्जन सम्मिलित थे।

चौमासे के पश्चात् चरितनायकजी का पदार्पण सुजालपुर हुआ। वहाँ तीन भाइयों की तथा एक बाई की दीक्षा हुई। फिर विचरते हुए आप प्रतापगढ़ पधारे। प्रतापगढ़ में साध्वी सम्मेलन का सफल आयोजन हुआ। वहाँ से आपने अजमेर-सम्मेलन में सम्मिलित होने के उद्देश्य से अजमेर की ओर विहार किया। बीच में ब्यावर पधारे और फिर अजमेर में सम्मेलन में सम्मिलित हुए। अजमेर में धूलिया-निवासी श्री हरिऋषिजी की दीक्षा सम्पन्न हुई।

वि० सं० १९९० का चातुर्मास सादड़ी (मारवाड़) के श्री संघ की आग्रहपूर्ण प्रार्थना से सादड़ी में हुआ। सादड़ी में मन्दिरमार्गियों और साधुमार्गियों में कई वर्षों से पारस्परिक झगड़ा चल रहा था। आपके शान्तिपूर्ण प्रभावशाली उपदेश से वहाँ शान्ति का प्रसार हुआ। चौमासा समाप्त होने पर महाराजश्री विहार करके जोधपुर होते हुए जयपुर पधारे। वहाँ प्रधान मुनियों के सम्मेलन में आपने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। तत्पश्चात् लाला ज्वालाप्रसादजी की आग्रहपूर्ण प्रार्थना स्वीकार करके आप महेन्द्रगढ़ (पटियाला) पधारे।

वि० सं० १९९१ का चौमासा पूज्य श्री मोतीरामजी म० के साथ महेन्द्रगढ़ में हुआ। देहली के ला० गोकुलचन्दजी आदि दर्शनार्थ आये। चौमासा पूर्ण होने पर पूज्यश्री शेष काल में देहली पधारे। फिर जमना पार के क्षेत्रों को फरसते हुए अमृतसर (पंजाब) पधारे। यहाँ पंजाबी पूज्यश्री सोहनलालजी म० के साथ आपका समागम हुआ। वहाँ से जालंधर में पदार्पण हुआ। यहाँ विदुषी महासती श्रीपार्वतीजी विराजमान थीं। जालंधर के अनन्तर आप लुधियाना पधारे। यहाँ उपाध्याय श्रीआत्मारामजी महाराज (श्रमण संघ के वर्त्तमान आचार्य) के साथ सम्मिलन हुआ। यहां से विहार करके पूज्यश्री पंचकूला, शिमला होते हुए दिल्ली पधार गये।

वि० सं० १९९२ का चातुर्मास दिल्ली में हुआ। अपने अमृतमय उपदेश से दिल्ली की जनता को लाभान्वित करके, चातुर्मास पूर्ण होने पर आप आगरा, मथुरा, कोटा, बूँदी, प्रतापगढ़, इन्दौर, रतलाम, उज्जैन होते हुए धूलिया पधारे।

वि० सं० १९९३ का चौमासा धूलिया में हुआ। इस चातुर्मास में आपके कान में पीड़ा उत्पन्न हुई। आखिर भाद्रपद कृष्णा १० ता० १३-९-१९३६ के दिन आप स्वर्गस्थ हो गए। आपकी आयु उस समय ६० वर्ष ९ दिन की थी। पूज्यश्री के स्वर्गवास से साधुमार्गी समाज का एक अनमोल रत्न; एक महान् सन्त, एक आदर्श साहित्यसेवी और आचरण-परायण महामुनि समाज से सदा के लिए छिन गया। आचार्य महाराज ने अपने जीवनकाल में श्रीसंघ की ज्ञान-चारित्र संबंधी उन्नति में जो सराहनीय योग प्रदान किया, उसे जैन समाज युग-युग में स्मरण करेगा। आपके द्वारा निर्मित विशाल ग्रन्थराशि आपकी कीर्त्ति को चिरकाल तक स्थायी रक्खेगी। सचमुच ही पूज्यश्री अमोलकऋषिजी म० समाज में अमोलक रत्न थे।

— ग्रंथों की सूची —



पूज्य श्रीअमोलक ऋषिजी महाराज द्वारा लिखित, अनुवादित, संपादित और संग्रहीत पुस्तकों की सूची

संख्या	नाम		प्रतियाँ
१	श्री आचारांग	सूत्र	११००
२	,, सूयगडांग	,,	११२५
३	,, ठाणांग	,,	,,
४	,, समवायांग	,,	,,
५	,, भगवती	,,	,,
६	,, ज्ञाताधर्मकथांग	सूत्र	,,
७	,, उपासकदशांग	,,	,,
८	,, अंतगड दशांग	,,	,,
९	,, अणुत्तरोववाई	सूत्र	,,
१०	,, प्रश्नव्याकरण	,,	,,
११	,, विपाक	,,	,,
१२	,, रायपसेणी	,,	,,
१३	,, जीवाभिगम	,,	,,
१४	,, पन्नवणा	,,	,,
१५	,, उववाई	,,	,,
१३	,, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति	,,	,,
१७	,, चन्द्रप्रज्ञप्ति	सूत्र	११२
१८	,, सूर्यप्रज्ञप्ति	,,	,,
१९ से २३ तक	श्रीनिरयावलिका सूत्र आदि पंच सूत्र		,,
२४	श्री व्यवहार	सूत्र	,,
२५	,, बृहत्कल्प	,,	,,
२६	,, निशीथ	,,	,,
२७	,, दशाश्रुत स्कंध	सूत्र	,,
२८	,, दशवैकालिक	सूत्र	,,
२९	,, उत्तराध्ययन	,,	,,
३०	,, नंदी	,,	,,
३१	,, अनुयोगद्वार	,,	,,
३२	,, आवश्यक	,,	,,

नोट—इन बत्तीस आगमों का अनुवाद किया।

सं०	नाम	प्रतियां
३३	जैनतत्वप्रकाश ५ आवृत्ति	८०००
	,, ,, गुजराती	३०००
३४	परमात्म मार्ग दर्शक २ ,,	३०००
३५	मुक्ति सोपान(गुणस्थान ग्रंथ)	१०००
३६	ध्यानकल्पतरु २ आवृत्ति	२७००
	,, ,, गुजराती ,,	५००
३७	धर्मतत्वसंग्रह ३ आवृत्ति	४५००
	,, ,, गुजराती	१२००
३८	सद्धर्मबोध ३ आवृत्ति	२०००
	,, ,, मराठी ७ ,,	११०००
	,, ,, कन्नड	३०००
	,, उर्दू	२०००
३९	सच्ची संवत्सरी	२००
३०	शास्त्रोद्धारमीमांसा	११२५
४१	तत्वनिर्णय	२०००
४२	अघोद्धारक कथागार	१५००
४३	जैन अमूल्य सुधा	१०००
४४	श्री केवलऋषिजी जीवन	११००
४५	,, ऋषभदेव चरित्र	१०००
४६	,, शान्तिनाथ चरित्र	१०००
४७	,, मदन श्रेष्ठि ,, २ आ	
४८	,, चन्द्रसेन लीलावती	
४९	,, जयसेन विजयसेन	
५०	,, वीरसेन कुसुम श्री २ आ	
५१	,, जिनदास सुगुणी २ आ.	२०००
५२	,, भीमसेन हरिसेन २ ,,	२२५०
५३	,, लक्ष्मीपति सेठ	१०००

सं०	नाम	प्रतियां
५४	श्री सिंहल कुमार	१०००
५५	,, वीरांगद सुमित्र	१०००
५६	,, संवेग सुधा	१०००
५७	,, मदिरा सती	१०००
५८	,, भवन सुंदरी	१०००
५९	,, मृगांक लेखा	१०००
६०	सार्थ आवश्यक	१५००
६१	मूल आवश्यक	१५००
६२	आत्महित बोध	१५००
६३	सुबोध संग्रह	१०००
६४	पचीस बोल लघु दंडक२आ.	२२५०
६५	दान का थोकड़ा	१०००
६६	चौबीस थाणा का थोकड़ा	५००
६७	श्रावक के बारह व्रत	२०००
६८	धर्म फल प्रश्नोत्तरी	१००००
६९	जैन शिशु बोधिनी	१०००
७०	सदा स्मरण	१७०००
७१	जैन मंगल पाठ	२५००
७२	जैन प्रातःस्मरण	१०००
७३	जैन प्रातःपाठ	५००
	. त्य स्मरण	२०००
	नित्य पठन	५००
७६	शास्त्र स्वाध्याय ३ आ.	२६२५
७७	सार्थ भक्तामर	२०००
७८	युरोप में जैनधर्म	५००
७९	तीर्थंकर पंच कल्याणक	१०००
८०	वृहद् आलोयणा २ आवृ.	३०००

सं०	नाम	प्रतियां	सं०	नाम	प्रतियां
८१	केवलानंद छंदावली ४ ,,	४५००	९२	श्री नेमिनाथ चरित्र	१०००
८२	मनोहर रत्न घनावलि	१०००	९३	श्री शालिभद्र ,,	१०००
८३	जैन सुबोध हीरावलि	१०००	९४	जैन गणेश बोध	१२००
८४	जैन सुबोध रत्नावलि	१०००	९५	गुलाबी प्रभा	१२५०
८५	जैन सुबोध माला	१०००	९६	स्वर्गस्थ मुनि युगल	५००
८६	श्रावक नित्य स्मरण	१०००	९७	सफल घड़ी	१०००
८७	मल्लिनाथ चरित्र	२०००	९८	छः काया के बोल	२०००
८८	श्रीपाल राजा चरित्र	२०००	९९	अनमोल मोती	१०००
८९	श्री महावीर ,,	१०००	१००	सुवासित फूलड़ां	१०००
९०	सुख साधन	१०००	१०१	सज्जन सुगोष्ठी	५००
९१	जैन साधु (मराठी)	१५००	१०२	धन्ना शालिभद्र	१०००

नोट—(१) कुल पुस्तकों की जोड़ १०२ है।

(२) कुल पुस्तकों की सभी आवृत्तियों की प्रकाशित प्रतियों की जोड़ १८६३२५ होती है।

(३) सभी पुस्तकों की केवल मूल पृष्ठ संख्या यानि रचना की दृष्टि से चरितनायकजी ने लगभग ५० हजार पृष्ठों जितने साहित्य की रचना की, अनुवाद किया, और संपादन किया।

श्री अमोल जैन ज्ञानालय (धूलिया) संस्था में दान देने वाले दानवीर सज्जनों की शुभनामावली

— जन्मदाता —

१	श्रीमान्	राजाबहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी,	हैद्राबाद
२	,,	प्रेमराजजी चन्दुलालजी छाजेड़	,,
३	,,	मोतीलालजी गोविन्दरामजी श्रीश्रीमाल,	धूलिया
४	,,	हीरालालजी लालचन्दजी धोका,	यादगिरी
५	,,	केवलचन्दजी पन्नालालजी बोरा,	बैंगलूर

— स्तम्भ —

६	श्रीमान्	श्रीसंघ-बार्शी	बार्शी
७	,,	दलीचन्दजी चुन्नीलालजी बोरा,	रायचूर
८	,,	शम्भूमलजी गंगारामजी मुथा,	बैंगलोर
९	,,	अगरचन्दजी मानमलजी चोरड़िया,	मद्रास
१०	,,	कुन्दनमलजी लूंकड़ की सुपुत्री श्री सायरबाई,	बैंगलूर
११	,,	नानचन्दजी भगवानदासजी दूगड़,	कोड़नदी
१२	,,	बस्तीमलजी हस्तीमलजी मूला,	रायचूर
१२	,,	तेजराजजी उदैराजजी रुनवाल,	,,
१४	,,	मुकनचन्दजी कुशलराजजी भंडारी,	,,
१५	,,	नेमिचन्दजी शिवराजजी गोलेच्छा,	वेलूर
१६	,,	पुखराजजी सम्पतराजजी धोका,	यादगिरि
१७	,,	इन्दरचन्दजी गेलड़ा,	मद्रास
१८	,,	बिरदीचन्दजी लालचन्दजी सरलेछा,	मद्रास
१९	,,	जसराजजी बोहरा की धर्मपत्नी श्रीकेशरबाई,	सुरापूर
२०	,,	चम्पालालजी लोढ़ा की पत्नी श्रीमती बीसीबाई,	सिकंदराबाद
२१	,,	चम्पालालजी पगारिया,	मद्रास
२२	,,	सज्जनराजजी मूथा की धर्मपत्नी श्री उमरावबाई,	आलंदूर (म०)
२३	,,	श्री अमोलक जैन स्थानकवासी सहायक समिति,	पूना
२४	,,	गिरधारीलालजी बालमुकुन्दजी लुंकड़,	बोरद

— संरक्षक —

२५	श्रीमान्	किसनलालजी बच्छावत मूथा की पत्नी गिलवीबाई,	रायचूर
२६	,,	हंसराजजी मरलेचा की धर्मपत्नी मेहताब बाई,	आलंदूर (म०)
२७	,,	जयवन्तराजजी भंवरलालजी चोरड़िया,	मद्रास
२८	,,	निहालचन्दजी मगराजजी सांकला,	वेलूर
२९	,,	लाला रामचन्द्रजी की पत्नी पार्वतीबाई,	हैदराबाद
३०	,,	पुखराजजी लुंकड़ की धर्मपत्नी गजराबाई,	बैंगलूर

३१ श्रीमान् किसनलालजी फूलचन्दजी लूणिया, बैंगलूर
३२ ,, मिश्रीलालजी कातरेला की धर्मपत्नी मिश्रीबाई ,,
३३ ,, उमेदमलजी गोलेच्छा की सुपुत्री मिश्रीबाई, हैद्राबाद
३४ ,, गाढ़मलजी प्रेमराजजी बाँठिया, सिकन्दराबाद
३५ ,, मुल्तानमलजी चन्दनमलजी साँकला, ,,
३६ ,, जेठालालजी रामजी के सुपुत्र श्री गुलाबचन्दजी (अपनी स्व० माता जवलबाई के स्मरणार्थ) सिकन्दराबाद
३७ ,, गुलाबचन्दजी चौथमलजी बोहरा, रायचूर
३८ ,, जसराजजी शान्तिलालजी बोहरा, ,,
३९ ,, दौलतरामजी अमोलकचन्दजी धोका, यादगिरि
४० ,, मांगीलालजी भंडारी, मद्रास
४१ ,, हीराचन्दजी खींवराजजी चोरड़िया, ,,
४२ ,, किसनलालजी रूपचन्दजी लूनिया, ,,
४३ ,, मांगीलालजी बंसीलालजी कोटड़िया ,,
४४ ,, मोहनलालजी प्रकाशमलजी दूगड़, ,,
४५ ,, पुखराजजी मीठालालजी बोहरा, पेरम्बूर, मद्रास
४६ ,, राजमलजी शांतीलालजी पोखरणा ,, ,,
४७ ,, ऋषभचन्दजी उदयचन्दजी कोठारी, ,, ,,
४८ ,, आर० जेतारामजी कोठारी, ,, ,,
४९ ,, जवानमलजी सुराणा की धर्मपत्नी मायाबाई, आलंदूर ,,
५० ,, मिश्रीलालजी रांका की धर्मपत्नी मिश्रीबाई, पुदुपेठ ,,
५१ ,, माणकचन्दजी चुतर की धर्मपत्नी रतनबाई, वेलूर
५२ ,, बोरीदासजी पोरवाल की धर्मपत्नी पानीबाई, बैंगलूर
५३ ,, एम० कन्हैयालाल एण्ड ब्रदर्स समदड़िया ,,
५४ ,, हीराचन्दजी सांखला की धर्मपत्नी भूरीबाई ,,
५५ ,, निहालचन्दजी घेवरचन्दजी भटेवरा, वेलूर
५६ ,, वनेचन्दजी विजेराजजी भटेवरा, ,,
५७ ,, गुलाबचन्दजी केवलचन्दजी भटेवरा, ,,
५८ ,, गुप्तदानी बहिन ,,
५९ ,, रामचन्द्रजी बाँठिया की धर्मपत्नी पानीबाई ,,
६० ,, बींजराजजी घाड़ीवाल की धर्मपत्नी मिश्रीबाई, त्रिवेलूर
६१ ,, सम्पतराजजी एण्ड कम्पनी, तिरपातूर
६२ ,, आशकरणजी चौरड़िया की धर्मपत्नी केसरबाई उलंदूर पेठ
६३ ,, जुगराजजी खिवराजजी केवलचन्दजी [illegible] श्रीपेरमपूर
६४ ,, नवलमलजी शंभूमलजी चोरड़िया, मद्रास

६५	,,	मिश्रीलालजी पारसमलजी कात्रेला,	बैंगलूर
६६	,,	केशरमलजी घीसूलालजी कटारिया,	,,
६७	,,	मुल्तानमलजी चन्दनमलजी गरिया,	,,
६८	,,	चुन्नीलालजी की धर्मपत्नी झूमीबाई,	,,
६९	,,	अचलदासजी हंसराजजी कहाड़,	सिंधनूर
७०	,,	एन० शान्तिलाल बलदोटा,	पूना
७१	,,	धोंडीरामजी की धर्मपत्नी रंगूबाई,	निफाड़
७२	,,	जुगराजजी मूथा की धर्मपत्नी पताशीबाई,	काठपाडी
७३	,,	डूंगरमलजी अनराजजी भीकमचन्दजी भँवरलालजी सुराणा,	मद्रास
७४	,,	मिश्रीलालजी बोरा की धर्मपत्नी नेनीबाई,	बैंगलोर
७५	,,	केवलचन्दजी बोरा की ,, पार्वतीबाई,	,,
७६	,,	सुवालालजी शकरलालजी जैन,	माम्फलम (मद्रास)
७७	,,	बक्तावरमलजी गादिया की धर्मपत्नी गंगाबाई,	,,
७८	,,	अमरचन्दजी मरलेचा की धर्मपत्नी चौथीबाई,	पल्लावरम (मद्रास)
७९	,,	गोविन्दरामजी मोडूरामजी ट्रस्ट के सेक्रेटरी श्री दीपचन्दजी सा० संचेती,	धूलिया
८०	,,	स्व० रूपचन्दजी भंसाली की धर्मपत्नी श्री जतनबाई,	फत्तेपूर
८१	,,	(अनराजजी जवाहरमलजी मंडलेचा के स्मरणार्थ) बंशीलालजी मेघराजजी मंडलेचा,	फत्तेपूर



विषय-सूची



प्रथम खण्ड

पहला प्रकरण

प्रकरण दूसरा

બેઇંદ્રિય જીવો	તેઇંદ્રિય જીવો
શંખ	કાનખજુરા
કોડા	માંકણ
મોટા કરમીયા	જૂ, લીખ
જળો	કીડી, ઉધેઇ, મંકોડા
ચંદનક	ઇયળ
અળશીયા	સવા
લાકડાનાં કીડાં	ગીંગોડા
કરમીયા	વિષ્ટાના કીડાં, છાણના કીડાં
વાળા, છિપ, પોરા	ધનેડા, કંથવા, ખાંડની ઇયળ
	ભરવાડ (જૂમેલ), ચાંચડ

* श्री जिनाय नमः *

जैन-तत्त्व-प्रकाश

●

प्रथम खण्ड

●

प्रवेशः—

सिद्धाणं णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥

—श्री उत्तराध्ययन, अ० २०, १.

अर्थः—सिद्धों को अर्थात् अरिहन्तों और सिद्धों को तथा संयतों को अर्थात् आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को विशुद्ध भाव से नमस्कार करके समस्त अर्थों की सिद्धि करने वाले, आचरणीय धर्म के स्वरूप को अनुक्रम से कहता हूँ। हे भक्त जीवो! उसे मन, वचन, काय के योग को स्थिर करके श्रवण करो।

सिद्धाणं णमो किच्चा

●

सिद्ध भगवान् दो प्रकार के होते हैं:—(१) भाषक सिद्ध अर्थात् बोलने वाले सिद्ध और (२) अभाषक सिद्ध। अरिहन्त भगवान् भाषक सिद्ध कहलाते हैं। वे धर्मोपदेश देते हैं, इस कारण भाषक हैं और सन्निकट भविष्य में ही उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है तथा वे जीवन्मुक्त या कृतकृत्य होते हैं, इस कारण सिद्ध कहलाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्ययन में नमिराजजी को संसार-अवस्था में 'भगवान्' शब्द से कहा है। 'जाइं सरित्तु भयवं' अर्थात् उन भगवान् ने जाति (जन्म) का स्मरण किया। इसी सूत्र के १७वें अध्ययन में मृगापुत्र को 'जुवराया दमीसरे' अर्थात् युवराज पद भोगते हुए भी दमीश्वर, ऋषीश्वर कहा है। यह कथन भावी भाव को वर्त्तमान रूप में कथन करने वाले द्रव्य-निक्षेप की अपेक्षा से है। इसी प्रकार अरिहन्त भगवान् भविष्य में सिद्ध होने वाले हैं, इसी कारण (द्रव्य-निक्षेप से) उनको भी सिद्ध कहा है।

सर्व कार्य को सिद्ध कर, सर्व कर्म-कलंक से रहित निजात्मस्वरूपी सच्चिदानन्द (सत्-चित्-आनन्द) रूप पद को जो प्राप्त कर चुके हैं, वे अभाषक (बिना बोलते) सिद्ध कहलाते हैं।

इन दोनों प्रकार के सिद्ध भगवंतों का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे क्रम से अलग-अलग प्रकरणों में किया जाएगा।

अरिहन्त



जो जीव पहले के तीसरे भव में निम्नोक्त २० बोलों में से किसी एक या अधिक बोलों की यथोचित विशिष्ट आराधना करता है, वह आगे के तीसरे भव में अरिहन्त* पद को प्राप्त करता है ।

तीर्थङ्कर गोत्र उपार्जन करने के बीस बोल



अरिहन्त-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुय-तवस्सीसु ।
वच्छलया य तेसिं, अभिक्खणाणोवओगे य ॥१॥
दंसण-विणय आवस्सए य, सीलव्वए य निरइयारे ।
खणलवं तवच्चियाए, वेयावच्चं समाहीयं ॥२॥
अपुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

अर्थः—(१) अरिहन्त (२) सिद्ध (३) प्रवचन (भगवान् का उपदेश) (४) गुरु (५) स्थविर (वृद्ध मुनि) (६) बहुसूत्री-पण्डित (७) तपस्वी, इन सातों का गुणानुवाद करने से (८) बार-बार ज्ञान में उपयोग लगाने से

* अरि अर्थात् राग-द्वेष रूप शत्रुओं को नष्ट करने के कारण 'अरिहन्त' कहलाते हैं । सुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि द्वारा पूजनीय होने से 'अर्हन्त' और कर्मांकुर को समूल नष्ट करने के कारण 'अरुहन्त' कहलाते हैं ।

(६) निर्मल सम्यक्त्व (समकित) का पालन करने से (१०) गुरु आदि पूज्य जनों का विनय करने से (११) निरन्तर षड्-आवश्यक का अनुष्ठान करने से (१२) शील अर्थात् ब्रह्मचर्य अथवा उत्तर गुणों का, व्रतों—मूल गुणों का तथा प्रत्याख्यान का अतिचार-रहित पालन करने से (१३) सदैव वैराग्य भाव रखने से (१४) बाह्य (प्रकट) और अभ्यन्तर (गुप्त) तपश्चर्या करने से (१५) सुपात्र को दान देने से (१६) गुरु, रोगी, तपस्वी, वृद्ध तथा नव-दीक्षित मुनि की वैयावृत्य-सेवा करने से (१७) समाधिभाव-क्षमाभाव रखने से (१८) अपूर्व अर्थात् नित्य नये ज्ञान का अभ्यास करने से (१९) बहुमान-आदरपूर्वक जिनेश्वर भगवान् के वचनों पर श्रद्धान करने से और (२०) तन मन, धन से जिन शासन की प्रभावना करने से; इन बीस कामों में से किसी भी काम को विशिष्ट रूप से करने वाला प्राणी तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन करता है।* वह बीच में देवलोक का या नरक का एक भव+ करके तीसरे भव में तीर्थङ्कर-अरिहन्त पद को प्राप्त होता है।

अरिहन्त पद को प्राप्त करने वाला प्राणी मनुष्यलोक के पन्द्रह कर्म-भूमि क्षेत्र में, उत्तम निर्मल कुल में, अपनी माता को १४ उत्तम स्वप्न× होने के साथ अवतरित÷ होता है। सवा नौ महीने पूर्ण होने पर, चन्द्रबल आदि

---

* दोहा—अरिहन्त सिद्ध सूत्र गुरु, स्थविर बहुसूत्री जान।
गुण गाते तपस्वी तने, नित-नित सीखे ज्ञान ॥१॥
शुद्ध समकित नित्य आवश्यक, व्रत शुद्ध शुभ ध्यान।
तपस्या करते निर्मली, देत सुपात्र दान ॥२॥
वेयावच सुख उपजावते, अपूर्व ज्ञान उद्योत।
सूत्र भक्ति मारग दिपत, बँधे तीर्थङ्कर गोत ॥३॥

\+ कृष्ण महाराज तथा श्रेणिक राजा की तरह नरक से आकर।

× चौदह स्वप्न इस प्रकार हैं—(१) ऐरावत हस्ती (२) धोरी वृषभ (३) शार्दूल-सिंह (४) लक्ष्मीदेवी (५) पुष्पमालाओं का युगल (६) पूर्ण चन्द्रमा (७) सूर्य (८) इन्द्र-ध्वजा (९) पूर्ण कलश (१०) पद्मसरोवर (११) क्षीर सागर (१२) देवविमान (१३) रत्नों की राशि (१४) धूम रहित अग्नि की ज्वाला। नरक से आने वाले तीर्थङ्कर की माता बारहवें स्वप्न देवविमान के स्थान पर भवनपतिदेव का भवन देखती है।

÷ अवतरित होना—(१) च्यवनकल्याणक, जन्म लेना (२) जन्मकल्याणक, दीक्षा धारण करना (३) दीक्षाकल्याणक, केवल ज्ञान प्राप्त होना (४) ज्ञानकल्याणक और मुक्ति प्राप्त होना (५) मोक्षकल्याणक कहलाता है।

उत्तम योग होने पर, शुभ मुहूर्त्त में, मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, इन तीन ज्ञानों सहित जन्म लेता है। तीर्थङ्कर के जन्म के समय छप्पन कुमारिका देवियाँ❀ आकर जन्म का महोत्सव करती हैं। चौंसठ इन्द्र आदि देव मेरुपर्वत के पण्डक वन में ले जाकर बहुत उमंग और धूमधाम से जन्म-महोत्सव करते हैं। यह इन्द्रों का जीतव्यवहार अर्थात् परम्परागत व्यवहार है। फिर तीर्थङ्कर के पिता जन्म-महोत्सव करके नाम रखते हैं। तीर्थङ्कर बालक्रीड़ा करके यौवनावस्था को प्राप्त होने के पश्चात् अगर भोगावली कर्म का उदय होता है तो उत्तम स्त्री का पाणिग्रहण करके रूक्ष-अनासक्तवृत्ति से भोग भोगते हैं। फिर दीक्षा ग्रहण करने से पहले प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख के हिसाब से कुल तीन अरब, अठासी करोड़ सुवर्ण-मोहरों का बारह महीनों तक दान देते हैं। भगवान् तीर्थङ्कर दीक्षा ग्रहण करने से पहले दान-धर्म का जो आदर्श उपस्थित करते हैं, उसका जैनों को यथाशक्ति अवश्य अनुकरण करना चाहिए।

फिर नौ लौकान्तिक देव, देवलोक से आकर भगवान् को चेताते हैं अर्थात् उनके वैराग्य की अनुमोदना करते हैं। तब तीर्थङ्कर तीन करण

❀ छप्पन कुमारियों के नाम—(१) भोगंकरा (२) भोगवती (३) सुभोगा (४) भोगमालिनी (५) सुवत्सा (६) वत्समित्रा (७) पुष्पमाला (८) अनिन्दिता (यह आठ अधोलोक में रहने वाली हैं), (९) मेघंकरा (१०) मेघवती (११) सुमेघा (१२) मेघमालिनी (१३) तोयधरा (१४) विचित्रा (१५) वारिषेणा (१६) बलाहका (यह ऊर्ध्वलोक में रहने वाली हैं), (१७) नन्दोत्तरा (१८) नन्दा (१९) आनन्दा (२०) नन्दीवर्धना (२१) विजया (२२) वैजयन्ती (२३) जयन्ती (२४) अपराजिता (यह आठ पूर्व रुचक पर रहने वाली हैं) (२५) समाहारा (२६) सुप्रदत्ता (२७) सुप्रबुद्धा (२८) यशोधरा (२९) लक्ष्मीवती (३०) शेषवती (३१) चित्रगुप्ता (३२) वसुन्धरा (यह आठ दक्षिण रुचक पर रहने वाली हैं) (३३) इलादेवी (३४) सुरादेवी (३५) पृथ्वी (३६) पद्मावती (३७) एकनाशा (३८) नवमिका (३९) भद्रा (४०) सीता (यह आठ पश्चिम रुचक पर रहने वाली हैं) (४१) अलंबुसा (४२) मितकेशी (४३) पुण्डरिका (४४) वारुणी (४५) हासा (४६) सर्वप्रभा (४७) श्री भद्रा (४८) सर्वभद्रा (यह आठ उत्तर रुचक पर रहने वाली हैं), (४९) चित्रा (५०) चित्रकरा (५१) शतेरा (५२) वसुदामिनी (यह चार विदिशा रुचक पर रहने वाली हैं), (५३) रूपा (५४) रूपासिका (५५) सुरूपा और (५६) रूपवती (यह चार भी विदिशा रुचक पर रहने वाली हैं)।

और तीन योग से* आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके दीक्षा धारण करते हैं। दीक्षा धारण करते ही उन्हें चौथे मनःपर्यय ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। कुछ काल तक छद्मस्थ-अवस्था में रह कर तपस्या करते हैं। तपस्या करते समय देव, दानव और तिर्यञ्च सम्बन्धी अनेक प्रकार के जो उपसर्ग होते हैं, उन्हें समभाव से सहन करते हैं। किसी-किसी को उपसर्ग नहीं भी होते हैं। अनेक प्रकार का दुष्कर तपश्चरण करके, चार घन-घातिया कर्मों का क्षय करते हैं। वह इस प्रकार हैं:—

(१) सर्व प्रथम दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय का क्षय होने से अनन्त आत्म-गुणरूप यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। मोहनीय कर्म का क्षय होते ही (२) ज्ञानावरणीय (३) दर्शनावरणीय (४) और अन्तराय कर्मों का एक साथ नाश हो जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से अनन्त केवलज्ञान प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्त होने से समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव को जानने लगते हैं अर्थात् सर्वज्ञ हो जाते हैं। दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने से अनन्त केवलदर्शन की प्राप्ति होती है, जिससे उक्त द्रव्य आदि पाँचों को देखने लगते हैं अर्थात् सर्वदर्शी हो जाते हैं। अन्तराय कर्म का क्षय होने से अनन्त दानलब्धि, लाभलब्धि, भोग-लब्धि, उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि की प्राप्ति होती है जिससे अनन्त शक्तिमान् होते हैं।

चार घनघातिया कर्मों का क्षय होने के पश्चात् (१) वेदनीय (२) आयुष्य (३) नाम और (४) गोत्र, यह चार अघातिया कर्म शेष रह जाते हैं। यह चारों कर्म शक्तिरहित होते हैं। जैसे भुना हुआ बीज अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह कर्म अरिहन्त भगवान् की आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते। आयु

* तीन करण-तीन योग के नौ भंग होते हैं:—(१) मन से न करे (२) मन से न करावे (३) मन से करने वाले की अनुमोदना न करे (४) वचन से न करे (५) वचन से न करावे (६) वचन से करने वाले की अनुमोदना न करे (७) काय से न करे (८) काय से न करावे (९) काय से करने वाले की अनुमोदना न करे। इन नौ भंगों के द्वारा पाप का पूर्ण रूप से त्याग होता है।

पूर्ण होने पर आयुष्य कर्म के साथ ही साथ समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है।

उपर्युक्त चारों घनघातिक कर्मों का क्षय होने पर ही अरिहन्त पद की प्राप्ति होती है। अरिहन्त भगवान् १२ गुणों, ३४ अतिशयों और ३५ वाणी के गुणों से युक्त होते हैं। १८ दोषों से रहित होते हैं। इन सब का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया जाता है।

अरिहन्त के १२ गुण



अरिहन्त भगवान् निम्नलिखित बारह गुणों से युक्त होते हैं:—(१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त चारित्र (४) अनन्त तप (५) अनन्त बल-वीर्य* (६) अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व (७) वज्रऋषभनाराच संहनन (८) समचतुरस्रसंस्थान (९) चौतीस अतिशय (१०) पैंतीस वाणी के गुण (११) एक हजार आठ लक्षण (१२) चौंसठ इन्द्रों के पूज्य।×

अरिहन्त के ३४ अतिशय



सर्व साधारण में जो विशेषता नहीं पाई जाती, उसे अतिशय कहते हैं। अरिहन्त में ऐसी चौंतीस मुख्य विशेषताएँ होती हैं। यह विशेषताएँ

** अरिहन्त भगवान् के बल का परिमाण इस प्रकार है:—२००० सिंहों का बल एक अष्टापद में, १०००००० अष्टापदों का बल एक बलदेव में, २ बलदेवों का बल एक वासुदेव में, २ वासुदेवों का बल एक चक्रवर्त्ती में, १००००००० चक्रवर्त्तियों का बल एक देवता में और १००००००० देवताओं का बल एक इन्द्र में होता है। ऐसे बलशाली अनन्त इन्द्र भी मिलकर भगवान् की कनिष्ठा उङ्गली को भी नहीं हिला सकते।*

× कोई-कोई नि० लि० बारह गुण मानते हैं:—(१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त चारित्र (४) अनन्त तप और (५-१२) आठ महाप्रातिहार्य—अशोक वृक्ष, सिंहासन, तीन छत्र, चौसठ चँवर के जोड़े, प्रभामण्डल, अचित्त फूलों की वर्षा, दिव्यध्वनि, अन्तरिक्ष में साढ़े बारह करोड़ गेबी बाजे।

या अतिशय कुछ जन्म से ही होती हैं, कुछ केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् होती हैं। वे इस प्रकार :—

(१) मस्तक आदि समस्त शरीर के बालों का मर्यादा से अधिक (बुरे लगें ऐसे) न बढ़ना।

(२) शरीर में रज मैल आदि अशुभ लेप न लगना।

(३) रक्त और मांस गौ के दूध से भी अधिक उज्ज्वल-धवल और मधुर होना।

(४) श्वासोच्छ्वास में पद्म-कमल से भी अधिक सुगन्ध होना।

(५) आहार और निहार चर्मचक्षु वालों द्वारा दिखाई न देना (अवधिज्ञानी देख सकता है)।

(६) जब भगवान् चलते हैं तो आकाश में गरणाट शब्द करता हुआ धर्मचक्र चलता है और जब भगवान् ठहरते हैं तब ठहरता है।

(७) भगवान् के सिर पर लम्बी-लम्बी मोतियों की झालर वाले, एक के ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा, इस प्रकार तीन छत्र आकाश में दिखाई देते हैं।

(८) गौ के दूध और कमल के तन्तुओं से भी अधिक अत्यन्त उज्ज्वल बाल वाले, तथा रत्नजड़ित डण्डी वाले चमर भगवान् के दोनों तरफ ढोरे जाते हुए दिखाई देते हैं।

(९) स्फटिक मणि के समान निर्मल देदीप्यमान, सिंह के स्कंध के आकार वाले रत्नों से जड़े हुए, अन्धकार को नष्ट करने वाले, पादपीठिका-युक्त सिंहासन पर भगवान् विराजे हुए हैं, ऐसा दिखाई देता है।

(१०) बहुत ऊँची, रत्नजड़ित स्तम्भ वाली और अनेक छोटी-छोटी ध्वजाओं के परिवार से वेष्टित इन्द्रध्वजा भगवान् के आगे दिखाई देती है।

(११) अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं से युक्त, पत्र, पुष्प, फल एवं सुगंध वाला, भगवान् से बारहगुना ऊँचा अशोक वृक्ष भगवान् पर छाया करता हुआ दिखाई देता है।

(१२) शरद् ऋतु के जाज्वल्यमान सूर्य से भी बारहगुनें अधिक तेज वाला, अन्धकार का नाशक प्रभामण्डल* अरिहन्त के पृष्ठ भाग में दिखाई देता है ।

(१३) तीर्थङ्कर भगवान् जहाँ-जहाँ विहार करते हैं, वहाँ की जमीन गड्हे या टीले आदि से रहित सम हो जाती है ।

(१४) बम्बूल आदि के कांटे उल्टे हो जाते हैं, जिससे पैर में चुभ न सकें ।

(१५) शीतकाल में उष्ण और उष्णकाल में शीत वाला सुहावना मौसिम बन जाता है ।

(१६) भगवान् के चारों ओर एक-एक योजन तक मन्द-मन्द शीतल और सुगन्धित वायु चलती है, जिससे सब अशुचि वस्तुएँ दूर चली जाती हैं ।

(१७) भगवान् के चारों ओर बारीक-बारीक सुगन्धित अचित्त जल की वृष्टि एक-एक योजन में होती है, जिससे धूल दब जाती है ।

(१८) भगवान् के चारों ओर देवताओं द्वारा विक्रिया से बनाये हुए अचित्त पाँचों रंगों के पुष्पों की घुटनों प्रमाण वृष्टि होती है । उन पुष्पों का टेंट (डंठल) नीचे की तरफ और मुख ऊपर की ओर होता है ।

(१९) अमनोज्ञ (अच्छे न लगने वाले) वर्ण, रस, गंध और स्पर्श का नाश होता है ।

(२०) मनोज्ञ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का उद्भव होता है ।

(२१) भगवान् के चारों ओर एक-एक योजन में स्थित परिषद् बराबर धर्मोपदेश सुनती है और वह धर्मोपदेश सभी को प्रिय लगता है ।

ग्रन्थों में लिखा है कि प्रभामण्डल के प्रभाव से तीर्थङ्कर भगवान् के चारों दिशाओं में चार मुख दिखाई देते हैं । इस कारण उपदेश सुनने वालों को ऐसा मालूम होता है कि कि भगवान् का मुख हमारी ओर ही है । ब्रह्मा को चतुर्मुख कहने का भी सम्भवतः ऐसा ही कोई कारण है ।

(२२) भगवान् का धर्मोपदेश अर्धमागधी (आधी मगध देश की और आधी अन्य देशों की मिश्रित) भाषा में होता है।*

(२३) आर्य देश और अनार्य देश के मनुष्य, द्विपद (पक्षी), चतुष्पद (पशु) और अपद (सर्प आदि) सभी भगवान् की भाषा को समझ जाते हैं।

(२४) भगवान् का दर्शन करते ही और उपदेश सुनते ही जाति-वैर (जैसे सिंह और बकरी का, कुत्ता और बिल्ली का) तथा भवान्तर (पिछले जन्मों) का वैर शांत हो जाता है।

(२५) भगवान् का प्रभावपूर्ण और अतिशय सौम्य स्वरूप देखते ही अपने अपने मत का अभिमान रखने वाले अन्य दर्शनी वादी अभिमान को त्याग कर नम्र बन जाते हैं।

(२६) भगवान् के पास वादी वाद करने के लिये आते तो हैं, किन्तु उत्तर देने में असमर्थ हो जाते हैं।

(२७) (भगवान् के चारों तरफ २५-२५ योजन तक) ईति-भीति अर्थात् टिड्डी और मूषकों आदि का उपद्रव नहीं होता।

(२८) महामारी हैजा आदि का उपद्रव नहीं होता।

(२९) स्वदेश के राजा का और सेना का उपद्रव नहीं होता।

(३०) परदेश के राजा का और सेना का उपद्रव नहीं होता।

(३१) अतिवृष्टि अर्थात् बहुत अधिक वर्षा नहीं होती।

(३२) अनावृष्टि (कम वर्षा या वर्षा का अभाव) नहीं होती।

(३३) दुर्भिक्ष-दुष्काल नहीं पड़ता।

(३४) जिस देश में पहले से ईति-भीति, महामारी, स्व-परचक्र का भय आदि उपद्रव हो, वहाँ भगवान् का पदार्पण होते ही तत्काल उपद्रव दूर हो जाते हैं।

इन चौंतीस अतिशयों में से ४ अतिशय जन्म के होते हैं, १५ केवल-ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् होते हैं और १५ देवों के किये हुए होते हैं।

---

* भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खति। —उववाई सूत्र

अरिहन्त की वाणी के ३५ गुण



तीर्थङ्कर भगवान् कृतकृत्य होने पर भी, तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय से नेरीह-निष्काम भाव से, जगत् के जीवों का कल्याण करने के लिए धर्मोप-देश देते हैं। उनकी वाणी में जो-जो गुण होते हैं, वे इस प्रकार हैं:—

[१] तीर्थङ्कर भगवान् संस्कारयुक्त वचनों का प्रयोग करते हैं।

[२] भगवान् ऐसे उच्च स्वर (बुलन्द आवाज) से बोलते हैं कि एक-एक योजन तक चारों तरफ बैठी हुई परिषद् (श्रोतागण) भलीभाँति श्रवण कर लेती है।

[३] 'रे' 'तू' इत्यादि तुच्छता से रहित सादे और मानपूर्ण वचन बोलते हैं।

[४] मेघगर्जना के समान भगवान की वाणी सूत्र से और अर्थ से गम्भीर होती है। उच्चारण और तत्त्व दोनों दृष्टियों से उनकी वाणी का रहस्य बहुत गहन होता है।

[५] जैसे गुफा में और शिखरबन्द प्रासाद में बोलने से प्रतिध्वनि उठती है, उसी प्रकार भगवान् की वाणी की भी प्रतिध्वनि उठती है।

[६] भगवान् के वचन श्रोताओं को घृत और शहद के समान स्निग्ध और मधुर लगते हैं।

[७] भगवान् के वचन ६ राग और ३० रागिनी रूप परिणत होने से श्रोताओं को उसी प्रकार मुग्ध और तल्लीन बना देते हैं, जैसे पुंगी का शब्द सुन कर नाग और वीणा का शब्द सुन कर मृग मुग्ध और तल्लीन हो जाता है।

[८] भगवान् के वचन सूत्र रूप होते हैं। उनमें शब्द थोड़े और अर्थ बहुत होता है।

[९] भगवान् के वचनों में परस्पर विरोध नहीं होता। जैसे 'अहिंसा

परमो धर्मः' कह कर फिर 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः' अर्थात् पशु यज्ञ के लिए ही बने हैं, ऐसे पूर्वापरविरोधी वचन भगवान् नहीं बोलते।

[१०] भगवान् एक प्रस्तुत प्रकरण को पूर्ण करके फिर दूसरे प्रकरण को प्रारम्भ करते हैं। एक बात पूरी हुई कि नहीं और बीच में दूसरी बात कह दी; इस तरह गड़बड़ नहीं करते। उनका भाषण सिलसिलेवार होता है।

[११] भगवान् ऐसी स्पष्टता (खुलासा) करके उपदेश देते हैं कि श्रोताओं को किंचित् भी संशय उत्पन्न नहीं होता।

[१२] बड़े से बड़े पण्डित भी भगवान् के वचन में किंचित् मात्र भी दोष नहीं निकाल सकते।

[१३] भगवान् के वचन सुनते ही श्रोताओं का मन एकाग्र हो जाता है। उनके वचन सब को मनोज्ञ लगते हैं।*

[१४] बड़ी विचक्षणता के साथ देश-काल के अनुसार बोलते हैं।

[१५] सार्थक और सम्बद्ध वचनों से अर्थ का विस्तार तो करते हैं किन्तु व्यर्थ और ऊटपटाँग बातें कह कर समय पूरा नहीं करते।

[१६] जीव आदि नौ पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले सार-सार वचन बोलते हैं, निस्सार वचन नहीं बोलते।

[१७] सांसारिक क्रिया की निस्सार बातें (कहना आवश्यक हो तो) संक्षेप में पूरी कर देते हैं अर्थात् ऐसे पदों को संक्षेप में समाप्त करके आगे के पद कहते हैं।

[१८] धर्मकथा ऐसे खुलासे के साथ कहते हैं कि छोटा-सा बच्चा भी समझ जाय।

[१९] अपनी श्लाघा (प्रशंसा) और दूसरे की निन्दा नहीं करते। पाप की निन्दा करें परन्तु पापी की निन्दा नहीं करते।

---

* *वेद भी कहते हैं—सत्यं ब्रूहि, प्रियं ब्रूहि; अर्थात् सत्य बोलो किन्तु वह ऐसा हो कि श्रोता को प्रिय लगे।*

[२०] भगवान् की वाणी दूध और मिश्री से भी अधिक मधुर होती है, इस कारण श्रोता धर्मोपदेश छोड़ कर जाना नहीं चाहते।

[२१] किसी की गुप्त बात प्रकट करने वाले मर्मवेधी वचन नहीं बोलते।

[२२] किसी की योग्यता से अधिक गुण-वर्णन करके खुशामद नहीं करते किन्तु वास्तविक योग्यता के अनुसार गुणों का कथन करते हैं।

[२३] भगवान् ऐसा सार्थक धर्मोपदेश करते हैं, जिससे उपकार हो और आत्मार्थ की सिद्धि हो।

[२४] अर्थ को छिन्न-भिन्न करके तुच्छ नहीं बनाते।

[२५] व्याकरण+ के नियमानुसार शुद्ध शब्दों का प्रयोग करते हैं।

[२६] अधिक जोर से भी नहीं, अधिक धीरे भी नहीं और शीघ्रता-पूर्वक भी नहीं, किन्तु मध्यम रीति से वचन बोलते हैं।

[२७] प्रभु की वाणी सुन कर श्रोता ऐसे प्रभावित होते हैं और बोल उठते हैं कि—अहा! धन्य है प्रभु की उपदेश देने की शक्ति! धन्य है प्रभु की भाषणशैली!

[२८] भगवान् हर्षयुक्त और प्रभावपूर्ण शैली से उपदेश करते हैं, जिससे सुनने वालों के सामने हूबहू चित्र उपस्थित हो जाता है और श्रोता एक अनूठे रस में निमग्न हो जाते हैं।

[२९] भगवान् धर्म-कथा करते-करते बीच में विश्राम नहीं लेते, बिना विलम्ब किये धाराप्रवाह भाषण करते हैं।

[३०] सुनने वाला अपने मन में जो प्रश्न सोच कर आता है, उसका विना पूछे ही समाधान हो जाता है।

[३१] भगवान् परस्पर सापेक्ष वचन ही कहते हैं और जो कहते हैं वह श्रोताओं के दिल में जम जाता है।

+ इस कथन से व्याकरण-ज्ञान की कितनी आवश्यकता है, यह समझा जा सकता है। अशुद्ध वाणी द्वारा किया हुआ हितकारी कथन भी श्रोता के हृदय पर पर्याप्त प्रभाव नहीं डाल सकता। अतएव वक्ताओं को व्याकरण पढ़कर भाषा की शुद्धता का खयाल अवश्य रखना चाहिए।

[३२] अर्थ, पद, वर्ण, वाक्य–सब स्फुट कहते हैं—आपस में भेलसेल करके नहीं कहते।

[३३] भगवान् ऐसे सात्विक वचन कहते हैं जो ओजस्वी और प्रभावशाली हों।

[३४] प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि होने पर ही दूसरे अर्थ को आरम्भ करते हैं—अर्थात् एक कथन को दृढ़ करके ही दूसरा कथन करते हैं।

[३५] धर्मोपदेश देते-देते कितना ही समय क्यों न बीत जाय, भगवान् कभी थकते नहीं हैं, किन्तु ज्यों के त्यों निरायास रहते हैं।*

*जिस क्षेत्र (ग्राम-नगर आदि) में अन्यमतावलम्बी अधिक होते हैं या श्रोतागण बहुत अधिक आते हैं, वहाँ देवता समवसरण की रचना करते हैं। समवसरण की रचना इस प्रकार की जाती है—समवसरण के चारों ओर तीन कोट होते हैं। पहला कोट चांदी का होता है और उस पर सोने के कंगूरे होते हैं। इस कोट के भीतर, १३०० धनुष का अन्तर छोड़कर दूसरा कोट सुवर्ण का होता है। उस पर रत्नों के कंगूरे होते हैं। फिर उसके भीतर १३०० धनुष का अन्तर छोड़कर चौतरफ घिरा हुआ तीसरा कोट होता है। यह तीसरा कोट रत्नों का होता है और उस पर मणिरत्नों के ही कंगूरे होते हैं। इस कोट के मध्य में अष्ट महाप्रतिहार्य से युक्त भगवान् विराजमान होकर धर्मोपदेश देते हैं।

तीर्थङ्कर भगवान् से ईशानकोण में श्रावक, श्राविकाएँ और वैमानिक देव बैठते हैं। आग्नेय कोण में साधु, साध्वी और वैमानिक देवों की देवियों के बैठने की जगह होती है। वायव्य कोण में भवनपति देव, वाणव्यन्तर देव और ज्योतिषी देव बैठते हैं। नैऋत्य कोण में भवनपति देवों की देवियाँ, वाणव्यन्तरों की देवियाँ और ज्योतिषी देवों की देवियाँ बैठती हैं। इस प्रकार बारह तरह की परिषद् जुड़ती है। किसी-किसी आचार्य के कथनानुसार चार प्रकार के देव, चार प्रकार की देवियाँ तथा मनुष्य, मनुष्यनी, तिर्यञ्च और तिर्यञ्चनी; इस तरह बारह प्रकार की परिषद् बैठती है।

समवसरण के पहले कोट में चढ़ने के लिए १०००० पंक्तियाँ होती हैं। दूसरे और तीसरे कोट में चढ़ने के लिए पाँच-पाँच हजार पंक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार कुल बीस हजार पंक्तियाँ एक-एक हाथ की ऊँचाई पर होती हैं। चार हाथ का एक धनुष होता है और दो हजार धनुष का एक कोस होता है। इस हिसाब से समवसरण अढ़ाई कोस ऊँचा होता है। किन्तु तीर्थङ्कर भगवान् के अतिशय के कारण तथा चढ़ने वालों की उमंग के कारण कोई चढ़ने वाले थकावट अनुभव नहीं करते। ऐसा दिगम्बर-आम्नाय के ग्रन्थ में उल्लेख है।

अरिहन्त भगवान् १८ दोष रहित होते हैं



अरिहन्त भगवान् वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अर्हन्त-अवस्था प्रकट होती है। जो महान् पुरुष चार घातिया कर्मों से रहित हो चुके हैं, उनकी आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार या दोष नहीं रह सकता। घातिया कर्म ही सब प्रकार के दोषों को उत्पन्न करते हैं। मोहनीय आदि घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा विभाव-परिणति का त्याग करके स्वभाव-परिणति में आ जाता है। ऐसी अवस्था में आत्मा निर्दोष, निरंजन, निष्कलंक और निर्विकार होता है। अतः अरिन्हत भगवान् में दोष का लेश भी नहीं रहता। वे समस्त दोषों से अतीत होते हैं। किन्तु यहाँ जिन अठारह दोषों का अभाव बतलाया जा रहा है, वे उपलक्षण मात्र हैं। इन दोषों का अभाव प्रकट करने से समस्त दोषों का अभाव समझ लेना चाहिए। जिस आत्मा में नीचे लिखे अठारह दोष न होंगे, उसमें अन्य दोष भी नहीं रह सकते।

(१) मिथ्यात्व:—जो वस्तु जैसी है उस पर वैसी ही श्रद्धा न रख कर, विपरीत श्रद्धा करना मिथ्यात्व दोष कहलाता है। अरिहन्त भगवान् अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व की परिपूर्णता को प्राप्त कर चुकते हैं, इसलिए मिथ्यात्व दोष से रहित होते हैं।

(२) अज्ञान:—ज्ञान न होना अथवा विपरीत ज्ञान होना अज्ञान कहलाता है। ज्ञान न होने का कारण ज्ञानावरणीय कर्म है और विपरीत ज्ञान होने का कारण मोहनीय कर्म है। अरिहन्त भगवान् इन कर्मों से रहित होते हैं। वे केवलज्ञानी होने से समस्त लोकालोक एवं चर-अचर पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं।

(३) मद:—अपने गुणों का गर्व होना मद कहलाता है। मद वहीं होता है जहाँ अपूर्णता हो। अरिहन्त सब गुणों से सम्पन्न होने के

कारण मद नहीं करते। कहा भी है—'सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्दम्' अर्थात् गर्व न करना ही सम्पूर्णता का चिह्न है।

(४) क्रोध :—'क्षमाशूर अरिहन्त' कहलाते हैं। वे क्षमा के सागर होते हैं।

(५) माया :—छल-कपट को कहते हैं। अरिहन्त अत्यन्त सरल स्वभाव वाले होते हैं।

(६) लोभ :—इच्छा या तृष्णा को कहते हैं। अरिहन्त भगवान् प्राप्त हुई ऋद्धि का परित्याग करके अनगार-अवस्था अङ्गीकार करते हैं। उन्हें अतिशय आदि की महान् ऋद्धि प्राप्त होती है, फिर भी उसकी इच्छा नहीं करते। वे अनन्त सन्तोष-सागर में ही रमण करते रहते हैं।

(७) रति :—इष्ट वस्तु की प्राप्ति से होने वाली खुशी रति कहलाती है। अरिहन्त अवेदी, अकषायी और वीतराग होने के कारण तिल मात्र भी रति का अनुभव नहीं करते, क्योंकि भगवान् को कोई भी वस्तु इष्ट नहीं है।

(८) अरति :—अनिष्ट या अमनोज्ञ वस्तु के संयोग से होने वाली अप्रीति अरति कहलाती है। अरिहन्त भगवान् समभावी होने से किसी भी दुःखप्रद संयोग से दुःखी नहीं होते।

(९) निद्रा :—दर्शनावरण कर्म के उदय से निद्रा आती है। इसका सर्वथा क्षय हो जाने के कारण अरिहन्त निरन्तर जागृत ही रहते हैं।

(१०) शोक :—इष्ट वस्तु के वियोग से शोक होता है। अरिहन्त भगवान् के लिए कोई इष्ट नहीं है और किसी भी परवस्तु के साथ उनका संयोग भी नहीं होता, अतः वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता और इसीलिए उन्हें शोक नहीं होता।

(११) अलीक :—झूठ बोलना अलीक कहलाता है। अरिहन्त सर्वथा निस्पृह होने से कभी किंचित् भी मिथ्या भाषण नहीं करते और न अपना वचन पलटते हैं। भगवान् शुद्ध सत्य की ही प्ररूपणा करते हैं।

(१२) चौर्य :—मालिक की आज्ञा के विना किसी वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। अरिहन्त निरीह होने के कारण मालिक की आज्ञा के विना किसी भी पदार्थ को कदापि ग्रहण नहीं करते।

(१३) मत्सरता :—दूसरे में किसी वस्तु या गुण की अधिकता देखने से होने वाली ईर्षा को मत्सरता कहते हैं। अरिहन्त से अधिक गुणधारक तो कोई होता नहीं, अगर गोशालक के समान फितूर करके कोई अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न करता है तो भी अरिहन्त कभी ईर्षाभाव नहीं धारण करते।

(१४) भय :—अर्थात् डर। भय सात प्रकार के हैं—(१) इहलोक-भय-मनुष्य का भय (२) परलोकभय-तिर्यञ्च तथा देव आदि का भय (३) आदानभय-धनादि सम्बन्धी भय (४) अकस्मात् भय (५) आजीविका का भय (६) मृत्यु का भय (७) पूजा-श्लाघा का भय। अरिहन्त भगवान् अनन्त बलशाली होने से इन सातों भयों से अतीत हैं। वे किसी भी प्रकार भय से भीत नहीं होते।

(१५) हिंसा :-षट्काय के जीवों में से किसी का घात करना हिंसा है। अरिहन्त महादयालु होते हैं। वे त्रस और स्थावर सभी जीवों की हिंसा से सर्वथा निवृत्त होते हैं। साथ ही 'मा हन' अर्थात् किसी भी जीव को मत मारो, इस प्रकार का उपदेश देकर दूसरों से भी हिंसा का त्याग करवाते हैं। 'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं' अर्थात् समस्त जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए ही भगवान् ने उपदेश दिया है। ऐसा श्रीप्रश्नव्याकरणसूत्र में उल्लेख है। अरिहन्त हिंसा के कृत्य को अच्छा नहीं जानते।

(१६) प्रेम :—अरिहन्त में तन, स्वजन तथा धन आदि सम्बन्धी स्नेह नहीं होता। वे वन्दक और निन्दक में समभाव रखते हैं। इसलिए अपनी पूजा करने वाले पर तुष्ट होकर उसका कार्य सिद्ध नहीं करते और निन्दा करने वाले पर रुष्ट होकर उसे दुःख नहीं देते।

(१७) क्रीड़ा :—मोहनीय कर्म से रहित होने के कारण अरिहन्त सब प्रकार की क्रीड़ाओं से भी रहित होते हैं। गाना, बजाना, रास खेलना,

रोशनी करना, मण्डप बनाना, भोग लगाना इत्यादि क्रियाएँ करके भगवान् को जो प्रसन्न करना चाहते हैं, वे बड़े मोहमुग्ध हैं।

(१८) हास्य:—किसी अपूर्व-अद्भुत वस्तु या क्रिया आदि को देख कर हँसी आती है। सर्वज्ञ होने के कारण अरिहन्त के लिए कोई वस्तु अपूर्व नहीं है, गुप्त नहीं है। इस कारण उन्हें कभी हँसी भी नहीं आती।

अरिहन्त भगवान् इन अठारह दोषों से रहित होते हैं। इन अठारह दोषों में समस्त दोषों का समावेश हो जाता है, अतः अरिहन्त भगवान् को समस्त दोषों से रहित; सर्वथा निर्दोष समझना चाहिए।

अरिहन्त को 'नमोत्थुणं'



उक्त प्रकार के अनन्तानन्त गुणों के धारक—

अरिहन्ताणं—चार घन घातिया कर्मों को तथा कर्मोत्पादक राग-द्वेष रूप शत्रुओं को नष्ट करने वाले।

भगवंताणं—भव-भ्रमण के नाशक तथा बारह गुणों के धारक।*

आइगराणं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म की आदि करने वाले।

+तित्थयराणं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चारों तीर्थों के कर्त्ता (तीर्थ के कर्त्ता होने से ही अरिहन्त तीर्थङ्कर कहलाते हैं)।

सहसंबुद्धाणं—तीर्थङ्कर का जीव पहले से ही अवधिज्ञानी होता है। उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। इस कारण वे गुरु के उपदेश के

---

* 'भग' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे:—

१ २ ३ ४ ५ ६
भगं तु ज्ञानयोनीच्छायशो माहात्म्यमुक्तिषु।
७ ८ ९ १० ११ १२ १३
ऐश्वर्य वीर्य वैराग्य धर्म श्री रत्न भानुषु ॥ —(विश्वलोचन कोश)

इनमें से भगवान् में ज्ञान, यश माहात्म्य, मुक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य, वैराग्य, धर्म और श्री का अर्थ घटित होता है।

+ जिससे जीव संसार से तिरें उसे तीर्थ कहते हैं। ग्रंथ, घर, नदी, पर्वत आदि संसार तारने वाले नहीं है, इसलिए भगवान् ने चार तीर्थ कहे हैं।

विना ही स्वयंमेव प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं और स्वयमेव दीक्षा धारण करते हैं।

पुरिसुत्तमाणं—एक हजार आठ उत्तम लक्षण आदि गुणों से युक्त होने के कारण जगत् के समस्त पुरुषों में भगवान् परमोत्तम पुरुष होते हैं।

पुरिससीहाणं—जैसे सिंह शूरवीर और निडर होता है, वनचरों को क्षुब्ध करता हुआ वन में स्वच्छन्द विचरता है, उसी प्रकार भगवान् संसार रूपी वन में निडर हो, पाखंडियों को क्षुब्ध करते हुए अपने द्वारा प्रवर्तित मार्ग में स्वयं प्रवृत्त होते हैं।

पुरिसवरपुण्डरीयाणं—जैसे हजारों पांखुडियों वाला श्वेत कमल (पुण्डरीक) पानी और कीचड़ से अलिप्त रहता हुआ रूप और सुगन्ध में अनुपम होता है; उसी प्रकार भगवान् काम रूप कीचड़ और भोग रूप पानी से अलिप्त रहकर महा दिव्य रूप और महायश रूप सौरभ से अनुपम होते हैं।*

पुरिसवरगंधहत्थीणं—पुरुषों में गन्धहस्ती के समान। जैसे गन्धहस्ती सेना में श्रेष्ठ और अपने शरीर की गन्ध से परचक्री की सेना को पलायन कराने वाला होता है तथा अस्त्र-शस्त्र के प्रहार की परवाह न करता हुआ आगे ही बढ़ता जाता है, उसी प्रकार भगवान् चतुर्विध सङ्घ में प्रधान, सदुपदेश रूप पराक्रम से और यश रूप गन्ध से पाखण्डियों को दूर करते-हुए, पाखण्डियों की तरफ से होने वाले परीषह और उपसर्ग की परवाह न करते हुए मुक्ति-पथ पर आगे ही बढ़ते चले जाते हैं।

लोगुत्तमाणं—लोक में उत्तम। बाह्य (अष्ट महाप्रातिहार्य आदि) और आंतरिक (अनन्त ज्ञान आदि) सम्पत्ति में भगवान् ही सम्पूर्ण लोक के समस्त प्राणियों में उत्तम हैं।

---

*जहा पउमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तकामेणं, तं वयं बूम माहणं॥ —उत्तराध्ययन अ० २५।
अर्थात् जैसे कमल जल में उत्पन्न होता है, फिर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो महात्मा कामभोगों में लिप्त नहीं होता, वही सच्चा ब्राह्मण कहलाता है।

लोगनाहाणं— अप्राप्त गुणों की प्राप्ति और प्राप्त गुणों के रक्षक होने से भगवान् लोक के नाथ हैं।

लोगहियाणं—उपदेश और प्रवृत्ति के द्वारा भगवान् ही समस्त लोक के हितकर्त्ता हैं।

लोगपईवाणं—लोक में दीपक के समान। भव्य जीवों के हृदय रूपी सदन में रहे हुए मिथ्यात्व रूपी और अन्धकार का नाश करके, ज्ञान रूपी प्रकाश फैला कर सत्य-असत्य का, धर्म-अधर्म का यथार्थ स्वरूप प्रकट करने वाले भगवान् ही सच्चे देश-प्रकाशक दीपक हैं।

लोगपज्जोयगराणं—जन्म के समय में तथा केवलज्ञान होने के बाद सूर्य के समान प्रकाशकर्त्ता होने से भगवान् ही सर्वप्रकाशक सच्चे सूर्य हैं।

(आगे के पदों का अर्थ दृष्टांत द्वारा समझाते हैं)

दृष्टांत—कोई धनाढ्य पुरुष देशान्तर में जा रहा था। रास्ते में उसे चोर मिल गये। चोर रास्ता भुलाकर उसे भयानक अटवी में ले गये। वहाँ उन चोरों ने उस धनाढ्य का धन छीन लिया। आँखों पर पट्टी बाँध दी और उसे एक पेड़ से बाँध कर चल दिये। कुछ देर बाद उसके सौभाग्य से कोई राजा उसी अटवी में अपनी चतुरङ्गिनी सेना साथ लेकर शिकार खेलने आ पहुँचा। उस पुरुष को दुःखी देखकर, दयाभाव से प्रेरित होकर राजा ने कहा—"डरो मत।" ऐसा कह कर उसे अभय दिया। आँखों की पट्टी खोल कर उसे चक्षुदान दिया। इच्छित स्थान पर जाने का मार्ग बतला कर मार्ग-दान दिया। पहुँचाने के लिए सुभट साथ में देकर शरण दिया। आजीविका के लिए द्रव्य देकर जीविका-दान दिया। 'फिर कभी ऐसे फन्दे में मत फँसना' कह कर बोध-दान दिया और उसे इच्छित मार्ग के स्थान में पहुँचाया।

भावार्थ—प्रकरण में जीव मुसाफिर है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) आदि गुण रूप धन से वह युक्त है। वह मुक्ति रूपी देशांतर में जा रहा था। संसार रूपी अटवी में, कर्म रूपी चोर उसे

मिले और वे भुला कर ले गये। उन्होंने उसका सम्यग्ज्ञान आदि रूपी धन हरण कर लिया, अज्ञान की पट्टी बाँध दी, ममता रूपी वृक्ष से उसे बाँध दिया। तब तीर्थङ्कर रूपी महाराज, चतुर्विध सङ्घ रूपी चतुरङ्गिणी सेना से युक्त होकर, पाखण्डों के विनाश रूपी शिकार करने लिए संसार-अटवी में पधारे। दुःखी जीवों को देखकर, करुणा से प्रेरित होकर 'माहण' 'माहण' अर्थात् मत मारो, मत मारो, ऐसी दयामया ध्वनि से—

अभयदयाणं—जगत् के समस्त प्राणियों को सातों प्रकार के भयों से मुक्त करने वाले—छुड़ाने वाले—सच्चे अभयदाता भगवान् ही हैं।

चक्खुदयाणं—ज्ञान रूप नेत्रों पर बँधी हुई ज्ञानावरणीय रूप पट्टी को हटा कर ज्ञान रूप चक्षु के दाता भगवान् ही हैं।

मग्गदयाणं—अनादिकाल से मार्ग भूले हुए और संसार-अटवी में फँसे हुए प्राणी को मोक्ष-मार्ग दर्शक व प्रवर्त्तक भगवान् ही हैं।

सरणदयाणं—चार गतियों के दुःखों से त्रास पाने वाले प्राणियों को ज्ञान रूप सुभट का शरण देने वाले भगवान् ही हैं।

जीवदयाणं—मोक्ष स्थान तक पहुँचाने के लिए संयम रूप जीविका के दाता भगवान् ही हैं।

धम्मदयाणं—आत्मोन्नति से गिरते हुए जीवों को धारण करके नहीं गिरने देने वाले श्रुत और चारित्र रूप धर्म के दाता भगवान् ही हैं।

धम्मदेसियाणं—धर्म का उपदेश करने वाले। एक योजन के मण्डल में स्थित बारह प्रकार की परिषद् को स्याद्वादमय, सत्य, शुद्ध, निरुपम तथा यथातथ्य धर्म के स्वरूप का उपदेश देने वाले अरिहन्त ही हैं।

धम्मनायगाणं—चतुर्विध सङ्घ रूप टांडे (तांडे) के रक्षक और प्रवर्त्तक अर्थात् नायक अरिहन्त भगवान् ही हैं।

धम्मसारहीणं—धर्म के सारथि। धर्म रूप रथ में आरूढ़ चारों तीर्थों को उन्मार्ग में जाने से बचाकर, सन्मार्ग में लगाने वाले सच्चे सारथि भग-

वान् ही हैं। निर्विघ्न रूप से मोक्ष रूपी नगर में पहुँचाने वाले सार्थवाह भी भगवान् ही हैं।

दृष्टांत—एक बड़ा सार्थवाह था। वह सभी मार्गों का ज्ञाता था। बहुत से परिवार के साथ वह शिवपुर जा रहा था। रास्ते में उसने अपने साथियों से कहा—'देखो, आगे मरुस्थल है। वहाँ जल नहीं है, वृक्ष नहीं है। उस मरुस्थल को पार करते समय कई प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। उन कष्टों को समभाव से सहन करते हुए मरुस्थल को पार करना। उस मरुस्थल की अटवी में एक बाग है। वह बहुत मनोरम दिखाई देता है, किन्तु उसे देखने मात्र से महान् दुःख होता है। उसमें जो चला जाता है, उसे तो प्राणों से ही हाथ धोना पड़ते हैं। अतएव उस ओर दृष्टि भी न करते हुए, सीधे रास्ते से ही अटवी को पार कर लेना। उस अटवी को पार कर लेने के पश्चात् सब सुखदाता उपवन प्राप्त होगा।'

सार्थवाह का यह उपदेश जिन्होंने नहीं माना वह क्षुधा-तृषा से व्याकुल होकर उस बगीचे में गये। वहाँ किंपाक वृक्ष के अत्यन्त मधुर प्रतीत होने वाले फलों को भक्षण करते ही घोर वेदना से व्याकुल हो गये, मानो कोट्पात बिच्छू ने डँस लिया हो! अन्त में अर्राट मचाते हुए अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुए। जिन लोगों ने सार्थवाह की आज्ञा मानी वे अटवी को पार करके, आगे के उपवन में पहुँचे और परम सुखी बने।

भावार्थ—यहाँ सार्थवाह के स्थान पर अरिहन्त भगवान् समझना चाहिए। सार्थवाह के परिवार के स्थान पर चारों सङ्घों को समझना चाहिए। युवावस्था अटवी है। बगीचा स्त्री है। जिन्होंने अरिहन्त की आज्ञा को भङ्ग किया, वे दुःखी हुए और जिन्होंने पालन किया वे मोक्ष रूपी उपवन को प्राप्त कर सुखी हुए।

अप्पडिहयवर-णाण-दंसणधराणं—दूसरे से घात को प्राप्त न होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक।

वियट्टछउमाणं—छद्मस्थ-सराग-अवस्था से निवृत्त। तात्पर्य यह है कि भगवान् की आत्मा के प्रदेश कर्मों के आच्छादन से मुक्त हो गये हैं।

जिणाणं—संसार के समस्त प्राणियों का पराभव करने वाले कर्म-शत्रुओं को जीतने वाले।

जावयाणं—भगवान् ने अपने अनुयायियों को भी कर्म-शत्रुओं को जीतने की युक्ति बतलाई है। अतः वे ज्ञापक भी हैं।

तिन्नाणं—भगवान् दुस्तर संसार-सागर से तिर चुके हैं।

तारयाणं—भगवान् अन्य प्राणियों को भी सन्मार्ग के उपदेश द्वारा संसार से तारते हैं।

बुद्धाणं—भगवान् स्वयं सभी तत्त्वों का सम्पूर्ण बोध प्राप्त कर चुके हैं।

बोहयाणं—भगवान् अन्य जीवों को तत्त्व का ज्ञाता बनाते हैं।

मुत्ताणं—राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्म-बन्धन से भगवान् मुक्त हो चुके हैं।

मोयगाणं—भगवान् संसार के प्राणियों को भी कर्म-बन्धन से मुक्त करते हैं।

सव्वन्नूणं-सव्वदरिसीणं—भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। सूक्ष्म, बादर, त्रस, स्थावर, कृत्रिम, अकृत्रिम, नित्य, अनित्य आदि समस्त जगत् पदार्थों के को ज्ञान से (विशेष रूप से) जानते हैं और दर्शन से (सामान्य रूप से) देखते हैं।

यहाँ अरिहन्त भगवान् के किंचित् गुणगणों का वर्णन किया गया है। भगवान् आत्मा के विकास की चरम सीमा को, परमात्मदशा को, सम्पूर्ण विशुद्ध चेतनास्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं। वे ऐसे-ऐसे अनन्तानन्त गुणों के धारक हैं। उनके समस्त गुणों का वर्णन या कथन होना असंभव है।

तीर्थङ्करों की नामावली



दस कर्मभूमि क्षेत्रों के भूतकालीन, वर्त्तमानकालीन और भविष्य-कालीन—तीनों चौवीसियों के ७२० तीर्थङ्करों के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र की भूतकालीन चौवीसी

१ श्री केवलज्ञानीजी	१३ श्री समितिजिनजी
२ श्री निर्वाणजी	१४ श्री शिवगतिजी
३ श्री सागरजी	१५ श्री अस्तांगजी
४ श्री महायशजी	१६ श्री नमीश्वरजी
५ श्री विमलप्रभजी	१७ श्री अनिलनाथजी
६ श्री सर्वानुभूतिजी	१८ श्री यशोधरजी
७ श्री श्रीधरजी	१९ श्री कृतार्थजी
८ श्री श्रीदत्तजी	२० श्री जिनेश्वरजी
९ श्री दामोदरजी	२१ श्री शुद्धमतिजी
१० श्री सुतेजजी	२२ श्री शिवशंकरजी
११ श्री स्वामीनाथजा	२३ श्री स्यन्दननाथजी
१२ श्री मुनिसुव्रतजी	२४ श्री सम्प्रतिजी

जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र की वर्त्तमानकालीन चौवीसी

(१) श्री ऋषभदेव—भूतकाल की अर्थात् इस अवसर्पिणीकाल के पहले वाली उत्सर्पिणीकाल की चौवीसी के अन्तिम (२४वें) तीर्थङ्कर के निर्वाण के पश्चात् अठारह* कोड़ाकोड़ी+ सागरोपम बीत जाने पर इक्ष्वाकुभूमि× में (ईख के खेत के किनारे) नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवी से वर्त्तमान चौवीसी के प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेवजी (आदिनाथजी) का जन्म हुआ। इनके

* पहला आरा ४ कोड़ाकोड़ी सागरोपम का, दूसरा आरा ३ कोड़ाकोड़ी सागरोपम का, तीसरा आरा २ कोड़ाकोड़ी सागरोपम का, इस प्रकार ९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम उत्सर्पिणी काल के और ९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम अवसर्पिणी काल के मिलकर, छहों आरों के १८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक तीर्थङ्कर के उत्पन्न होने का उत्कृष्ट अन्तर होता है।

+ करोड़ की संख्या को करोड़ की संख्या से गुणा करने पर जो गुणनफल आवे उसे कोड़ाकोड़ी (कोटाकोटि) कहते हैं।

× इस समय तक ग्राम बसने की प्रणाली प्रचलित नहीं हुई थी।

शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान पीला था। वृषभ का लक्षण* (चिह्न) था। शरीर की उँचाई ५०० धनुष की और आयु ८४ लाख पूर्व+ की थी। ८३ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था में रहे और एक लाख पूर्व तक संयम का पालन करके, तीसरे आरे के ३ वर्ष और ८॥ माह जब शेष रहे थे, तब दस हजार साधुओं के साथ मोक्ष को प्राप्त हुए।

(२) श्री अजितनाथजी—आदिनाथजी से ५० लाख करोड़ सागर के बाद, अयोध्या नगरी के राजा जितशत्रु की रानी विजयादेवी से दूसरे तीर्थङ्कर अजितनाथजी हुए। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण सरीखा पीला था। हाथी का चिह्न था। देह की उँचाई ४५० धनुष की और आयु ७२ लाख पूर्व की थी। ७१ लाख पूर्व तक गृहस्थ-अवस्था में रहे। एक लाख पूर्व संयम पाला और एक हजार साधुओं के साथ मोक्ष पधारे।

(३) संभवनाथजी—अजितनाथजी से ३० लाख करोड़ सागरोपम के पश्चात् श्रावस्ती नगर में, जितारि राजा की सेनादेवी रानी से तीसरे तीर्थङ्कर सम्भवनाथजी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण सुवर्ण जैसा पीला और चिह्न अश्व का था। शरीर की उँचाई ४०० धनुष की और आयु ६० लाख पूर्व की थी। ५९ लाख पूर्व तक गृहस्थी में रहे। एक लाख पूर्व तक संयम पाला। एक हजार साधुओं के साथ मोक्ष पधारे।

(४) श्री अभिनन्दनजी—तत्पश्चात् १० लाख करोड़ सागरोपम के बीत जाने पर विनीता नगरी में, संवर राजा की सिद्धार्था रानी से चौथे तीर्थङ्कर श्री अभिनन्दनजी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान पीला और चिह्न कपि (बन्दर) का था। शरीर की ऊँचाई ३५० धनुष की और आयु ५० लाख पूर्व की थी। ४९ लाख पूर्व गृहवास में रहे। एक लाख पूर्व संयम का पालन करके एक हजार साधुओं के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए।

** लक्षण या चिह्न पैर में होते हैं किन्तु किसी-किसी के कथनानुसार वक्षस्थल में।*

+ ७० लाख, ५६ हजार वर्ष को एक करोड़ से गुणा करने पर ७०५६००००-०००००० वर्षों का एक पूर्व होता है।

(५) श्री सुमतिनाथजी—तदनन्तर नौ लाख करोड़ सागरोपम व्यतीत होने पर, कंचनपुर नगर में, मेघरथ राजा की सुमंगला रानी से पाँचवें तीर्थङ्कर श्री सुमतिनाथजी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के सदृश पीला और लक्षण क्रौंच पक्षी का था। देहमान ३०० धनुष का, आयुष्य ४० लाख पूर्व का था। ३९ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था में रहे। एक लाख पूर्व संयम का पालन करके एक हजार मुनियों के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

(६) श्री पद्मप्रभजी—फिर ९० हजार करोड़ सागरोपम के पश्चात् कौशाम्बी नगरी में, श्रीधर राजा की सुसीमा रानी से छठे तीर्थङ्कर श्रीपद्मप्रभ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण माणिक के समान लाल और चिह्न पद्म (कमल) का था। शरीर की उँचाई २५० धनुष की और आयु ३० लाख पूर्व की थी। २९ लाख पूर्व गृहस्थावस्था में रहे, एक लाख पूर्व तक संयम का पालन किया। अन्त में एक हजार मुनियों के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

(७) श्री सुपार्श्वनाथजी—नौ हजार करोड़ सागरोपम के पश्चात् वाणारसी नगरी में, प्रतिष्ठ राजा की पृथ्वीदेवी रानी से सातवें तीर्थङ्कर श्री सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान पीला और लक्षण स्वस्तिक का था। शरीर की उँचाई २०० धनुष की और आयु २० लाख पूर्व की थी। १९ लाख पूर्व गृहस्थावस्था में रहे। एक लाख पूर्व संयम पाल कर एक हजार मुनियों के साथ सिद्धि प्राप्त की।

(८) श्री चन्द्रप्रभजी—श्री सुपार्श्वनाथ के अनन्तर ९०० करोड़ सागर के पश्चात् चन्द्रपुरी नगरी के महासेन राजा की लक्ष्मणादेवी रानी से आठवें तीर्थङ्कर श्री चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण हीरा के समान श्वेत और लक्षण चन्द्रमा का था। शरीर की उँचाई १५० धनुष की और आयु १० लाख पूर्व की थी। नौ लाख पूर्व तक गृहवास में व्यतीत करके, एक लाख पूर्व संयम का पालन करके, एक हजार साधुओं के साथ मुक्त हुए।

(६) श्रीसुविधिनाथजी—तत्पश्चात् ६० करोड़ सागरोपम के बाद, काकन्दी नगरी के सुग्रीव राजा की रामादेवी रानी से नववें तीर्थङ्कर श्री सुविधिनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण हीरा के समान श्वेत था और लक्षण मत्स्य का था। देहमान १०० धनुष का तथा आयुष्य दो लाख पूर्व का था। एक लाख पूर्व गृहवास में रहे और एक लाख पूर्व संयम पाला। अन्त में एक हजार साधुओं के साथ मुक्ति प्राप्त की। इनका दूसरा नाम 'श्री पुष्पदन्त' भी है।

(१०) श्री शीतलनाथजी—तदन्तर नौ करोड़ सागरोपम के बाद भद्दलपुर नगरी के दृढ़रथ राजा की नन्दादेवी रानी से श्री शीतलनाथ का जन्म हुआ। देह का वर्ण स्वर्ण के समान पीत और श्रीवत्स-स्वस्तिक का लक्षण था। देहमान ६० धनुष था और आयुष्य एक लाख पूर्ण का था। पौन लाख पूर्व गृहस्थी में रहे और पाव लाख पूर्व तक संयम का पालन करके एक हजार मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए।

(११) श्री श्रेयांसनाथ—एक अरब छयासठ लाख, छब्बीस हजार वर्ष कम एक करोड़ सागरोपम के बाद सिंहपुरी नगरी में, विष्णु राजा की विष्णुदेवी रानी से ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्री श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान पीला और लक्षण गेंडा का था। देहमान ८० धनुष का और आयुष्य ८४ लाख पूर्व का था। जिसमें से ६३ लाख पूर्व गृहस्थावस्था में रहे। २१ लाख पूर्व संयम पाला। एक हजार मुनियों के साथ मुक्त हुए।

(१२) श्री वासुपूज्यस्वामी—फिर ६४ सागरोपम के बाद चम्पापुरी नगरी में, वासुपूज्य राजा की जयादेवी रानी से बारहवें तीर्थङ्कर श्री वासुपूज्य का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण माणिक जैसा लाल था। महिष (भैंसे) का चिह्न था। देहमान ७० धनुष का और आयुष्य ७२ लाख वर्ष का था। अठारह लाख वर्ष गृहवास में रहे। ५४ लाख वर्ष तक संयम का पालन किया। ६०० मुनियों के साथ मोक्ष पधारे।

(१३) श्री विमलनाथजी—तदनन्तर ३० सागरोपम के पश्चात् कम्पिलपुर नगर में, कृतवर्म राजा की श्यामादेवी रानी से तेरहवें तीर्थङ्कर विमलनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान पीला और वाराह का लक्षण था। शरीर की उँचाई ६० धनुष की तथा आयु ६० लाख वर्ष की थी। ४५ लाख वर्ष गृहस्थाश्रम रहे और १५ लाख वर्ष संयम पाल कर ६०० मुनियों के साथ मोक्ष पधारे।

(१४) श्री अनन्तनाथजी—फिर नौ सागरोपम के बाद, अयोध्या नगरी में, सिंहसेन राजा की सुयशा रानी से चौदहवें तीर्थङ्कर श्री अनन्तनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण समान पीला था और सिकरे पक्षी का लक्षण था। शरीर की उँचाई ५० धनुष की और आयु ३० लाख वर्ष की थी। २२॥ लाख वर्ष गृहवास में रहे और साढ़े सात लाख वर्ष तक संयम पाला। ७०० मुनियों के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

(१५) श्री धर्मनाथजी—फिर चार सागरोपम के बाद रत्नपुरी नगरी में, भानु राजा की सुव्रता रानी से पन्द्रहवें तीर्थङ्कर श्री धर्मनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के सदृश पीला था। वज्र का लक्षण था। देहमान ४५ धनुष का था। आयु १० लाख वर्ष की थी। नौ लाख वर्ष गृहवास में रहे और एक लाख वर्ष संयम का पालन किया। ८०० साधुओं के साथ सिद्धि प्राप्त की।

(१६) श्री शांतिनाथजी—श्री धर्मनाथ के बाद पौन पल्य कम तीन सागर बीत जाने पर हस्तिनापुर के विश्वसेन राजा की अचला रानी से सोलहवें तीर्थङ्कर श्री शान्तिनाथजी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के सरीखा पीला था। मृग का चिह्न था। देहमान ४० धनुष और आयुष्य एक लाख वर्ष का था। पचहत्तर हजार वर्ष गृहस्थावस्था में रहे और पच्चीस हजार वर्ष संयम का पालन करके ९०० मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हुए।

(१७) श्री कुन्थुनाथजी—तत्पश्चात् आधा पल्योपम बीत जाने पर गजपुर नगर के सुर राजा की श्रीदेवी रानी से सत्तरहवें तीर्थङ्कर श्री कुन्थु-

नाथजी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण सदृश पीला था। देह-मान ३५ धनुष का और आयुष्य ९५ हजार वर्ष का था। ७१। हजार वर्ष गृहस्थी में रहे। २३॥। हजार वर्ष संयम पाला। एक हजार मुनियों के साथ सिद्ध हुए।

(१८) श्री अरहनाथजी—इसके अनन्तर एक करोड़ और एक हजार वर्ष कम पाव पल्योपम व्यतीत हो जाने पर हस्तिनापुर नगर के सुदर्शन राजा की देवी रानी से अठारहवें तीर्थङ्कर श्री अरहनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान पीला था। नन्दावर्त्त स्वस्तिक का लक्षण था। देह की उँचाई ३० धनुष की थी और आयु ८४ हजार वर्ष की। ६३ हजार वर्ष गृहस्थ रहे, २१ हजार वर्ष संयम पाला। एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पधारे।

(१९) श्री मल्लिनाथजी—तदनन्तर एक करोड़ और एक हजार वर्ष बाद, मिथिला नगरी के कुम्भ राजा की प्रभावती रानी से उन्नीसवें तीर्थङ्कर श्री मल्लिनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण पन्ना के समान हरा था। कुम्भ का लक्षण था। देहमान २५ धनुष और आयुष्य ५५ हजार वर्ष का था। १०० वर्ष गृहस्थावास में रहे। ५४९०० वर्ष संयम का पालन किया। ५०० साधुओं और ५०० आर्याओं के साथ मोक्ष पधारे।

(२०) श्री मुनिसुव्रतस्वामी—तदनन्तर ५४ लाख वर्ष के बाद राज-गृह नगर के सुमित्र राजा की प्रभावती रानी से बीसवें तीर्थङ्कर श्री मुनि-सुव्रतनाथजी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण नीलम जैसा श्याम था। कूर्म (कछुए) का लक्षण था। देह की ऊँचाई २० धनुष की और आयु ३० हजार वर्ष की थी। २२॥ हजार वर्ष गृहवास में रहे। ७॥ हजार वर्ष संयम पाला। एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पधारे।

(२१) श्री नमिनाथजी—फिर छह लाख वर्षों के बाद, मथुरा नगरी के विजय राजा की विप्रादेवी रानी से इक्कीसवें तीर्थङ्कर श्री नमिनाथ का जन्म हुआ। शरीर का वर्ण स्वर्ण-सा पीला था। नील-कमल का चिह्न

था। देह की अवगाहना १५ धनुष की और आयु दस हजार वर्ष की थी। नौ हजार वर्ष तक गृहस्थावस्था में रहे। एक हजार वर्ष संयम पाला। एक हजार साधुओं के साथ मोक्ष पधारे।

(२२) श्री अरिष्टनेमिजी—फिर पाँच लाख वर्षों के पश्चात् सौरीपुर नगर के समुद्रविजय राजा की शिवादेवी नामक महारानी से बाईसवें तीर्थङ्कर श्री अरिष्टनेमि का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण नीलम के समान श्याम था। शङ्ख का लक्षण था। देह का मान १० धनुष का और आयुष्य एक हजार वर्ष का था। जिसमें से ३०० वर्ष गृहवास में रहे। ७०० वर्ष संयम पाला। ५३६ मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया।

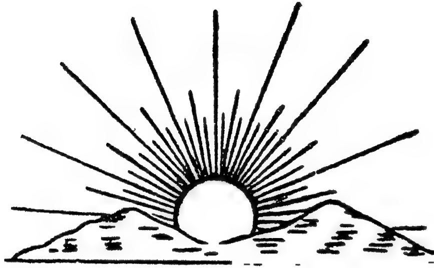
(२३) श्री पार्श्वनाथजी—श्री अरिष्टनेमि के पश्चात् ८४ हजार वर्ष बीत जाने पर, वाणारसी के अश्वसेन राजा की वामादेवी रानी से तेईसवें तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण पन्ना के समान हरा था और सर्प का लक्षण था। देहमान नौ हाथ का और आयुष्य सौ वर्ष का था। ३० वर्ष गृहस्थावस्था में रहे और ७० वर्ष संयम का पालन किया। एक हजार मुनियों के साथ मुक्तिलाभ किया।

(२४) श्री महावीर स्वामी—तत्पश्चात् २५० वर्ष के बाद, क्षत्रिय-कुण्ड नगर के सिद्धार्थ राजा की त्रिशलादेवी रानी से चौवीसवें तीर्थङ्कर श्री वर्द्धमान (महावीर) स्वामी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के सदृश पीला था। सिंह का लक्षण था। देह की उँचाई सात हाथ की और आयु ७२ वर्ष की थी। ३० वर्ष गृहस्थी में रहे। ४२ वर्ष संयम पाला। जब चौथे आरे के ३ वर्ष और ८॥ महीने शेष थे, तब अकेले ही मोक्ष पधारे।

प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामी तक का कुल समय ४२००० वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ अधिक जानना चाहिए।

एक तीर्थङ्कर के निर्वाण और अगले तीर्थङ्कर के जन्म के बीच का जो समय-परिमाण यहाँ बतलाया गया है, वह अन्तर शाश्वत है। भूतकाल

में जो अनन्त चौबीसियाँ हो चुकी हैं, वे इसी अन्तर से हुई हैं। भविष्यकाल में जो अनन्त चौबीसियाँ होंगी, वे भी इसी अन्तर से होंगी। सब तीर्थङ्करों के देह की उँचाई और आयु इसी प्रकार की होगी। विशेषता यह है कि उत्सर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थङ्कर से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर तक उपर्युक्त कथनानुसार होता है, जबकि अवसर्पिणीकाल में अन्तिम तीर्थङ्कर से लेकर पहले तीर्थङ्कर तक उलटा क्रम होता है।



जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के भावी तीर्थङ्करों का परिचय

●

(१) श्रेणिक राजा का जीव, प्रथम स्वर्ग से आकर पहले तीर्थङ्कर श्रीपद्मनाभ के रूप में जन्म लेगा।

(२) श्री महावीर स्वामी के काका सुपार्श्व का जीव स्वर्ग से आकर दूसरे तीर्थङ्कर श्रीसुरदेव के रूप में जन्म लेगा।

(३) कोणिक राजा के पुत्र उदायी राजा का जीव[1] देवलोक से आकर तीसरा तीर्थङ्कर श्रीसुपार्श्व होगा।

(४) पोट्टिल अनगार का जीव, तीसरे देवलोक से आकर चौथा तीर्थङ्कर श्रीस्वयंप्रभ होगा।

(५) दृढ़युद्ध श्रावक का जीव, पाँचवें देवलोक से आकर पाँचवाँ तीर्थङ्कर श्री सर्वानुभूति होगा।

(६) कार्तिक[2] श्रेष्ठी का जीव, प्रथम देवलोक से आकर छठा तीर्थङ्कर देवश्रुति होगा।

(७) शंख[3] श्रावक का जीव देवलोक से आकर सातवाँ तीर्थङ्कर श्री उदयनाथ होगा।

(८) आनन्द[4] श्रावक का जीव देवलोक से आकर आठवाँ तीर्थङ्कर श्री पेढाल होगा।

१—पाटलीपुर-पति। २—प्रथम देवलोक के इन्द्र की आयु दो सागरोपम है और इनका अन्तर थोड़ा है। इस कारण कार्तिक श्रेष्ठी का जो जीव प्रथम देवलोक का इन्द्र है, वह यहाँ नहीं समझना चाहिए। यह कार्तिक श्रेष्ठी कोई और ही है। ३—भगवतीसूत्र में वर्णित शङ्ख श्रावक यह नहीं हैं, यह कोई दूसरे हैं। ४—उपासकदशांगसूत्र में वर्णित आनन्द श्रावक से यह भिन्न हैं। यह सम्यग्दृष्टि, मांडलिक राजा, चक्रवर्ती, साधु, केवल-

(९) सुनन्द श्रावक का जीव देवलोक से आकर नौवाँ तीर्थङ्कर श्री पोटिल्ल[५] होगा।

(१०) पोक्खली श्रावक के धर्मभाई शतक श्रावक का जीव देवलोक से आकर दसवाँ तीर्थङ्कर श्री शतक होगा।

(११) कृष्णजी की माता देवकी रानी का जीव नरक से आकर ग्यारहवाँ तीर्थङ्कर श्री मुनिव्रत होगा।

(१२) श्रीकृष्णजी[७] का जीव तीसरे नरक से आकर बारहवाँ तीर्थङ्कर श्री अमम नामक होगा।

(१३) सुज्येष्ठजी का पुत्र, सत्यकी रुद्र का जीव नरक से आकर तेरहवाँ तीर्थङ्कर श्रीनिष्कषाय के रूप में उत्पन्न होगा।

(१४) कृष्णजी के भ्राता बलभद्र का जीव पाँचवें देवलोक से आकर चौदहवाँ तीर्थङ्कर श्री निष्पुलाक होगा।

(१५) राजगृह के धन्ना सार्थवाह की बांधवपत्नी सुलसा श्राविका का जीव देवलोक से आकर पन्द्रहवाँ तीर्थङ्कर श्री निर्मम के नाम से उत्पन्न होगा।

(१६) बलभद्रजी की माता रोहिणी का जीव देवलोक से आकर सोलहवाँ तीर्थङ्कर श्री चित्रगुप्त होगा।

(१७) कोल-पाक वहराने वाली रेवती गाथापत्नी का जीव देवलोक से आकर सत्तरहवाँ तीर्थङ्कर श्री समाधिनाथ होगा।

(१८) शततिलक[८] श्रावक का जीव देवलोक से आकर अठारहवाँ तीर्थङ्कर श्री संवरनाथ होगा।

ज्ञानी और तीर्थङ्कर—इन छह पदवियों के धारक होंगे। ५-६—यह भी छह पदवियों के धारक होंगे। ७—कितनेक कहते हैं कि यह तेरहवें तीर्थङ्कर होंगे, किन्तु तेरहवें तीर्थङ्कर का अन्तर ४६ सागरोपम का होता है, इस कारण यह मेल नहीं खाता। हाँ, पश्चादनुपूर्वी से १३वें हो सकते हैं।

८—कोई-कोई गांगुली तापस को भी शततिलक कहते हैं। तत्त्वं केवलिगम्यम्।

(१९) द्वारिका नगरी को दग्ध करने वाले द्वीपायन ऋषि का जीव देवलोक से आकर उन्नीसवाँ तीर्थङ्कर श्री यशोधर होगा।

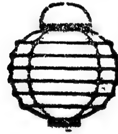
(२०) कर्ण[1] का जीव देवलोक से आकर बीसवाँ तीर्थङ्कर श्री विजयजी होगा।

(२१) निर्ग्रन्थपुत्र[2] (मल्लनारद) का जीव देवलोक से आकर २१वाँ तीर्थङ्कर श्री मल्यदेव होगा।

(२२) अम्बड़ श्रावक का जीव देवलोक से आकर बाईसवाँ तीर्थङ्कर श्री देवचन्द्र होगा।

(२३) अमर का जीव देवलोक से आकर तेईसवाँ तीर्थङ्कर श्री अनन्तवीर्य होगा।

(२४) शनकजी का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से आकर चौवीसवाँ तीर्थङ्कर श्रीभद्रंकर होगा।*



१—इन कर्ण को कोई कौरवों का साथी मानते हैं और कोई-कोई चम्पापुरपति वासुपुज्यजी के परिवार का कहते हैं। तत्त्वं केवलिगम्यम्।

२—कोई-कोई इन्हें रावण का नारद मानते हैं।

३—यह उववाईसूत्र में वर्णित श्रावक नहीं हैं, किन्तु जिन्होंने सुलसा श्राविका की परीक्षा की है, वे हैं।

** उक्त चौवीस तीर्थङ्करों का अन्तर मिलाने पर कइयों का मिलान नहीं खाता। जान पड़ता है, इसमें से किसी ने तीर्थङ्कर गोत्र उपार्जन कर लिया है और कोई-कोई आगे के भवों में करेंगे फिर भी उनका नाम प्रगट कर दिया गया है, जैसे महावीर स्वामी का नाम २७ प्रधान भव पहले ही मरीचि के भव में ही श्री ऋषभदेव ने प्रकट कर दिया था। तत्त्वं केवलिगम्यम्।*

जम्बूद्वीप ऐरावत क्षेत्र के ७२ तीर्थङ्करों के नाम

भूतकाल के चौवीस	वर्त्तमानकाल के चौवीस	भविष्यकाल के चौवीस
१ श्री पंचरूपजी	१ श्री चन्द्राननजी	१ श्री सुमंगलजी
२ ,, जिनधरजी	२ ,, सुचन्द्रजी	२ ,, सिद्धार्थजी
३ ,, सम्प्रतकजी	३ ,, अग्निसेनजी	३ ,, निर्वाणजी
४ ,, उरमतजी	४ ,, नन्दसेनजी	४ ,, महाशयजी
५ ,, आदिछांयजी	५ ,, ऋषिदत्तजी	५ ,, धर्मध्वजजी
६ ,, अभिनन्दजी	६ ,, व्रतधारीजी	६ ,, श्रीचन्द्रजी
७ ,, रत्नसेनजी	७ ,, सोमचन्द्रजी	७ ,, पुष्पकेतुजी
८ ,, रामेश्वरजी	८ ,, युक्तिसेनजी	८ ,, महाचन्द्रजी
९ ,, रंगोजीतजी	९ ,, अजितसेनजी	९ ,, श्रुतसागरजी
१० ,, विनपासजी	१० ,, शिवसेनजी	१० ,, सिद्धार्थजी
११ ,, आरोवसजी	११ ,, देवसेनजी	११ ,, पुष्पघोषजी
१२ ,, शुभध्यानजी	१२ ,, निक्षिप्तशस्त्रजी	१२ ,, महाघोषजी
१३ ,, विप्रदत्तजी	१३ ,, असंज्वलजी	१३ ,, सत्यसेनजी
१४ ,, कुँवारजी	१४ ,, अनन्तकजी	१४ ,, शूरसेनजी
१५ ,, सर्वसहेलजी	१५ ,, उपशान्तजी	१५ ,, महासेनजी
१६ ,, परमंजनजी	१६ ,, गुप्तिसेनजी	१६ ,, सर्वानन्दजी
१७ ,, सौभाग्यजी	१७ ,, अतिपार्श्वजी	१७ ,, देवपुत्रजी
१८ ,, दिवाकरजी	१८ ,, सुपार्श्वजी	१८ ,, सुपार्श्वजी
१९ ,, व्रतविन्दुजी	१९ ,, मरुदेवजी	१९ ,, सुव्रतजी
२० ,, सिद्धकान्तजी	२० ,, श्रीधरजी	२० ,, सुकौशलजी
२१ ,, ज्ञानश्रीजी	२१ ,, श्यामकोष्ठजी	२१ ,, अनन्तविजयजी
२२ ,, कल्पद्रुमजी	२२ ,, अग्निसेनजी	२२ ,, विमलजी
२२ ,, तीर्थफलजी	२३ ,, अग्निपुत्रजी	२३ ,, महाबलजी
२४ ,, ब्रह्मप्रभुजी	२४ ,, वारिसेनजी	२४ ,, देवानन्दजी

पूर्व धातकीखण्ड के भरतक्षेत्र के ७२ तीर्थङ्करों के नाम

भूतकाल के चौवीस	वर्त्तमानकाल के चौवीस	भविष्यकाल के चौवीस
१ श्री रत्नप्रभजी	१ श्री युगादिदेवजी	१ श्री सिद्धनाथजी
२ ,, अमितदेवजी	२ " सिंहदत्तजी	२ " समकितजी
३ ,, संभवजी	३ " महासेनजी	३ " जिनेन्द्रनाथजी
४ ,, अकलङ्कजी	४ " परमार्थजी	४ " सम्पतनाथजी
५ ,, चन्द्रनाथजी	५ " वरसेनजी	५ " सर्वस्वामीजी
६ ,, शुभंकरजी	६ " समुद्ररायजी	६ " मुनिनाथजी
७ ,, तत्त्वनाथजी	७ " बुद्धरायजी	७ " सुविष्टजी
८ ,, सुन्दरनाथजी	८ " उद्योतजी	८ " अइतनाथजी
९ ,, पुरन्दरजी	९ " आर्यवजी	९ " ब्रह्मशांतिजी
१० ,, स्वामीदेवजी	१० " अभयजी	१० " परवनाथजी
११ ,, देवदत्तजी	११ " अप्रकम्पजी	११ " आकामुषजी
१२ ,, वासदत्तजी	१२ " प्रेमनाथजी	१२ " ध्याननाथजी
१३ ,, श्रेयनाथजी	१३ " पद्मानन्दजी	१३ " कल्पजिनेशजी
१४ ,, विश्वरूपजी	१४ " प्रियकरजी	१४ " संवरनाथजी
१५ ,, तप्ततेजजी	१५ " सुकृतजी	१५ " शुचिनाथजी
१६ ,, प्रतिबोधजी	१६ " भद्रसेनजी	१६ " आनन्दनाथजी
१७ ,, सिद्धार्थजी	१७ " मुनिचन्द्रजी	१७ " रविप्रभजी
१८ ,, अमलप्रभुजी	१८ " पंचमुनिजी	१८ " चन्द्रप्रभजी
१९ ,, संयमजी	१९ " गंगेयकजी	१९ " सुनन्दजी
२० ,, देवेंद्रजी	२० " गणधरजी	२० " सुकरणनाथजी
२१ ,, अयनाथजी	२१ " सर्वाङ्गदेवजी	२१ " सुकर्मजी
२२ ,, विश्वनाथजी	२२ " ब्रह्मदत्तजी	२२ " अनुमायजी
२३ ,, मेघनन्दजी	२३ " इन्द्रदत्तजी	२३ " पार्श्वनाजी
२४ ,, अयनेत्रकायजी	२४ " दयानाथजी	२४ " सरश्वतनाथ

पूर्व धातकीखण्ड के ऐरावत क्षेत्र के ७२ तीर्थङ्करों के नाम

भूतकाल के चौवीस	वर्त्तमानकाल के चौवीस	भविष्यकाल के चौवीस
१ श्री ऋषभनाथजी	१ श्री विश्वचन्द्रजी	१ श्री रत्नकोषजी
२ " प्रायमिन्नजी	२ " कपिलजी	२ " चउस्नजी
३ " सातीनाथजी	३ " ऋषभजी	३ " ऋतुनाथजी
४ " सुमइजिनजी	४ " प्रयातेजजी	४ " परमेश्वरजी
५ " अकुजिनजी	५ " प्रशमजी	५ " सुमुक्तिकजी
६ " अतीताजिनजी	६ " विसमांगजी	६ " मुहत्तजी
७ " कलसेणजी	७ " चारित्रनाथजी	७ " नाकेशजी
८ " सर्वजिनजी	८ " प्रभादित्यजी	८ " प्रशस्तजी
९ " प्रबुद्धनाथजी	९ " मंजूकजी	९ " निराहारजी
१० " प्रव्रजिनजी	१० " पीतवासजी	१० " अमूर्त्तिजी
११ " सोधर्माजिनजी	११ " सुरेशपूज्यजी	११ " दयावरजी
१२ " तमोघरिपुजी	१२ " दयानाथजी	१२ " सेतीगंधजी
१३ " वज्रजिनजी	१३ " सहस्रभुजजी	१३ " अरुहनाथजी
१४ " प्रबुद्धसेनजी	१४ " जिनसिंहजी	१४ " सहश्रचित्तजी
१५ " प्रबन्धजी	१५ " रेफनाथजी	१५ " देवनाथजी
१६ " अजितजिनजी	१६ " बाहुजिनजी	१६ " दयाद्विपजी
१७ " प्रमुखीजिनजी	१७ " यमालजी	१७ " पुष्पनाथजी
१८ " पल्योपमजी	१८ " अजोगिजी	१८ " नरनाथजी
१९ " अकोपजिनजी	१९ " अभोगीजी	१९ " नग्गइनाथजी
२० " निष्टांतजी	२० " कामरिपुजी	२० " तपाधिकजी
२१ " मृगनाभिजी	२१ " अरणीबाहूजी	२१ " दशाननजी
२१ " देवजिनजी	२२ " तमनाशजी	२२ " अरणकजी
२३ " प्रायछनजी	२३ " गर्भज्ञानीजी	२३ " दशानिकजी
२४ " शिवनाथजी	२४ " एकराजजी	२४ " भौतिकजी

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में, वर्त्तमानकाल के दूसरे तीर्थङ्कर श्री अजितनाथजी के समय में हुए उत्कृष्ट संख्यक १७० तीर्थङ्करों के नाम बतलाये जा चुके हैं। इनमें १६ तीर्थङ्कर नीलम् जैसे श्याम वर्ण के, ३८ पन्ना के समान हरित वर्ण के, ३० माणिक के सदृश लाल वर्ण के, ३६ स्वर्ण के समान पीत वर्ण के और ५० हीरा के समान श्वेत वर्ण के हुए हैं। ऐसा ग्रन्थकारों का मत है।

वर्त्तमानकाल में, पंचमहाविदेह क्षेत्र में विद्यमान तीर्थङ्कर



(१) श्री सीमन्धर स्वामी—जम्बूद्वीप के सुदर्शन मेरु पर्वत से पूर्व दिशा के महाविदेह क्षेत्र की ८वीं पुष्कलावती नामक विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के श्रेयांस राजा की सत्यिकी रानी से उत्पन्न हुए। इनका लक्षण (चिह्न) वृषभ का। स्त्री का नाम रुक्मिणी।

(२) श्री युगमन्धरस्वामी—जम्बूद्वीप के सुदर्शन मेरु से पश्चिम के महाविदेह क्षेत्र की २५वीं वप्रा विजय की विजया राजधानी के सुसढ राजा, सुतारा रानी से हुए। लक्षण छाग (बकरे) का। स्त्री का नाम प्रियंगमा।

(३) श्री बाहुस्वामी—जम्बूद्वीप के सुदर्शन मेरु से पूर्व के महाविदेह क्षेत्र की ९वीं वत्सविजय की सुसीमा नगरी के सुग्रीव राजा की विजया रानी से उत्पन्न हुए। इनका लक्षण मृग का। स्त्री का नाम मोहना।

(४) श्री सुबाहुस्वामी—जम्बूद्वीप के सुदर्शन मेरु से पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की २४वीं नलिनावती विजय की वीतशोका नगरी के निसढ राजा की विजया रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम किम्पुरिषा। लक्षण मर्कट का।

(५) श्री सुजातस्वामी—पूर्व धातकीखण्डद्वीप के विजय मेरु से पूर्व की महाविदेह क्षेत्र की ८वीं पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के देवसेन राजा की देवसेना रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम जयसेना। लक्षण सूर्य का।

(६) श्री स्वयंप्रभस्वामी—पूर्व धातकीखण्डद्वीप के विजय मेरु से पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की २५वीं वप्रा विजय की विजया नगरी के मित्रभुवन राजा की सुमङ्गला रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम वीरसेना। लक्षण चन्द्रमा का।

(७) श्री ऋषभाननस्वामी—पूर्व धातकीखण्डद्वीप के विजय मेरु से पूर्व के महाविदेह क्षेत्र की ९वीं वत्सविजय की सुसीमा नगरी के कीर्ति राजा की वीरसेना रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम जयवन्ती। लक्षण सिंह का।

(८) श्री अनन्तवीर्यस्वामी—पूर्व धातकीखण्डद्वीप के विजय मेरु से पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की २४वीं नलिनावती विजय की वीतशोका नगरी के मेघ राजा की मङ्गला रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम विजयवती। लक्षण छाग (बकरे) का।

(९) श्री सूरप्रभस्वामी—पश्चिम धातकीखण्डद्वीप के अचलमेरु से पूर्व दिशा के महाविदेह क्षेत्र की आठवीं पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकगणी नगरी के नाग राजा की भद्रा रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम विमला। लक्षण सूर्य का।

(१०) श्री विशालधरस्वामी—पश्चिम धातकीखण्डद्वीप के अचल मेरु से पश्चिम के महाविदेह क्षेत्र में, २५वीं वप्रा विजय की विजया राजधानी में विजय राजा की विजयादेवी रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम नन्दसेना। लक्षण चन्द्रमा का।

(११) श्री वज्रधरस्वामी—पश्चिम धातकीखण्डद्वीप के अचलमेरु से पूर्व के महाविदेह क्षेत्र की ९वीं वत्स विजय की सुसीमा नगरी के पद्मरथ राजा की सरस्वती रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम विजयादेवी। लक्षण वृषभ का।

(१२) श्री चन्द्राननस्वामी—पश्चिम धातकीखण्डद्वीप के अचलमेरु से पश्चिम महाविदेह की २४वीं नलिनावती विजय की वीतशोका नगरी के वाल्मिक राजा की पद्मावती रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम लीलावती। लक्षण वृषभ का।

(१३) श्री चन्द्रबाहुस्वामी—पूर्व पुष्करार्धद्वीप के मन्दिर मेरु से पश्चिम महाविदेह की ८वीं पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकगणी नगरी के देवकर राजा की यशोज्ज्वलरेणुका रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम सुन्दरा। लक्षण पद्म-कमल का।

(१४) श्री ईश्वरस्वामी—पूर्व पुष्करार्धद्वीप के मन्दिर मेरु से पश्चिम महाविदेह की १५वीं वप्राविजय की विजय नगरी के कुलसेन राजा की यशोज्ज्वला रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम भद्रावती। लक्षण चन्द्रमा का।

(१५) श्री भुजंगस्वामी—पूर्व पुष्करार्धद्वीप के मन्दिर मेरु से पश्चिम महाविदेह की ९वीं वच्छ विजय की सुसीमा नगरी के महाबल राजा की महिमावती रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम गर्वसेना। लक्षण पद्म का।

(१६) श्री नेमप्रभस्वामी—पूर्व पुष्करार्धद्वीप के मन्दिर मेरु से पश्चिम महाविदेह की २४वीं नलिनावती विजय की वीतशोका नगरी के वीरसेन राजा की सेनादेवी रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम मोहनादेवी। लक्षण सूर्य का।

(१७) श्री वीरसेनस्वामी—पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप के विद्युन्माली मेरु से पूर्व महाविदेह की ८वीं पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकगणी नगरी के भूमिपाल राजा की भानुमती रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम राजसेना। लक्षण वृषभ का।

(१८) श्री महाभद्रस्वामी—पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप के विद्युन्माली मेरु से पश्चिम महाविदेह की २५वीं वप्रा विजय की विजया नगरी के देवसेन राजा की उमादेवी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम सूर्यकांता। लक्षण हाथी का।

(१९) श्री देवसेनस्वामी—पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप के विद्युन्माली मेरु से पूर्व महाविदेह की ९वीं वत्स विजय की सुसीमा नगरी के सर्वानुभूति राजा की गङ्गादेवी रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम पद्मावती। लक्षण चन्द्रमा का।

(२०) श्री अजितवीर्यस्वामी—पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप के विद्युन्माली मेरु से पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की २४वीं नलिनावती विजय की वीतशोका

नगरी के राजपाल राजा की कननी रानी से उत्पन्न हुए। स्त्री का नाम रत्नमाला। लक्षण स्वस्तिक का।

इन बीसों विहरमान तीर्थङ्करों का जन्म, जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सत्तरहवें तीर्थङ्कर श्री कुन्थुनाथजी के निर्वाण गये बाद एक ही समय में हुआ था। बीसवें तीर्थङ्कर श्रीमुनिसुव्रत के निर्वाण होने के पश्चात् इन सब ने एक ही समय दीक्षा ली। बीसों एक मास तक छद्मस्थ रहकर एक ही समय केवलज्ञानी हुए और यह बीसों ही भरतक्षेत्र की भविष्यकाल की चौवीसी के सातवें तीर्थङ्कर श्रीउदयनाथजी का निर्वाण होने के बाद एक ही साथ मोक्ष पधारेंगे। इन बीसों तीर्थङ्करों का देहमान ५०० धनुष का है और आयु ८४ लाख पूर्व की है। जिसमें से ८३ लाख पूर्व गृहस्थावस्था में रहे और एक लाख पूर्व संयम का पालन करके मोक्ष पधारेंगे। इन सभी वर्तमान तीर्थङ्करों के ८४-८४ गणधर हैं, दस-दस लाख केवलज्ञानी हैं, सौ-सौ करोड़ अर्थात् एक-एक अरब साधु हैं और इतनी-इतनी ही साध्वियाँ हैं। बीसों तीर्थङ्करों के मिल कर दो करोड़ केवलज्ञानी, दो हजार करोड़ साधु और दो हजार करोड़ साध्वियों की संख्या है। यह बीसों तीर्थङ्कर जिस समय मोक्ष पधारेंगे उसी समय दूसरी विजय में जो-जो तीर्थङ्कर* उत्पन्न हुए होंगे, वे दीक्षा ग्रहण करके तीर्थङ्कर पद प्राप्त होंगे। ऐसा सिलसिला

** तीर्थङ्करों की २० संख्या जघन्य है। इससे कम कभी नहीं रहते। इसलिए वर्त्तमानकाल के बीसों तीर्थङ्करों के मोक्ष चले जाने पर उसी समय दूसरे बीस तीर्थङ्कर-पद को प्राप्त होने ही चाहिए। इस हिसाब से एक तीर्थङ्कर गृहवास में एक लाख पूर्व के हों तब दूसरे क्षेत्र में दूसरे तीर्थङ्कर का जन्म हो जाना चाहिए और जब यह एक पूर्व के हों तब अन्य क्षेत्र में तीसरे का भी जन्म हो जाना चाहिए। इस प्रकार कोई एक लाख पूर्व की आयु वाले, कोई दो लाख पूर्व की आयु वाले, यावत् कोई ८३ लाख पूर्व की आयु वाले—यों एक-एक तीर्थङ्कर के पीछे ८३-८३ तीर्थङ्कर गृहवास में हों और एक तीर्थङ्कर पद भोगते हों। जब चौरासीवें तीर्थङ्कर मुक्त हो जाएँ तो तेरासीवें अन्य क्षेत्र में तीर्थङ्कर पद को प्राप्त हो जाते हैं और किसी अन्य क्षेत्र में एक तीर्थङ्कर का जन्म हो जाता है। इस तरह एक-एक तीर्थङ्कर के पीछे ८३-८३ तीर्थङ्कर गृहवास में हों तो बीसों तीर्थङ्करों के पीछे ८३×२० =१६६० तीर्थङ्कर गृहवास में और २० तीर्थङ्कर पद भोगते हुए और यह सब मिलकर १६८० तीर्थङ्कर कम से कम. एक ही समय में होने चाहिए। लेकिन इतने तीर्थङ्कर होने पर भी वे कभी आपस में मिलते नहीं हैं। यह अनादिकाल की रीति चली आ रही है और अनन्तकाल तक ऐसी ही रीति चलती रहेगी।*

अनादिकाल से चला आता है और आगे अनन्तकाल तक चलता रहेगा। अर्थात् कम से कम बीस तीर्थङ्कर तो अवश्य होंगे—इनसे कम कभी न होंगे और अधिक से अधिक १७० तीर्थङ्करों से अधिक कभी न होंगे। इस प्रकार अनन्त तीर्थङ्कर भूतकाल में हो गये हैं, बीस वर्त्तमानकाल में मौजूद हैं और अनन्त तीर्थङ्कर भविष्यकाल में होंगे।

सब तीर्थङ्करों की जघन्य आयु ७२ वर्ष की होती है—इससे कम नहीं और उत्कृष्ट आयु ८४ लाख पूर्व की होती है, इससे अधिक नहीं। तीर्थङ्कर के शरीर की ऊँचाई जघन्य सात हाथ की+ और उत्कृष्ट ५०० धनुष की होती है—न इससे कम और न इससे ज्यादा। तीर्थङ्कर का शरीर, रज, मैल, स्वेद (पसीना), थूक, श्लेष्म (कफ) आदि से रहित, काकरेखा आदि दुष्ट लक्षणों से और तिल, मसा आदि दुष्ट व्यंजनों से रहित होता है। चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, पर्वत, मगर, सागर, चक्र, शंख, स्वस्तिक आदि १००८ अति-उत्तम लक्षणों से अलंकृत, सूर्य के समान महान् तेजस्वी तथा निर्धूम अग्नि के समान देदीप्यमान और अत्यन्त मनोहर होता है। तीर्थङ्कर भगवान् के शरीर की सुन्दरता का वर्णन करते हुए भक्तामरस्तोत्र में कहा गया है:—

वसन्ततिलकावृत्तम्

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानिसहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम्॥

अर्थ—ग्रह, नक्षत्र और ताराओं को जन्म देने वाली तो अनेक दिशाएँ हैं, किन्तु सूर्य को जन्म देने वाली केवल पूर्व दिशा ही है। इसी प्रकार इस

+ शास्त्र में जीवों की जो अवगाहना (ऊँचाई) बतलाई है, वह इस पाँचवें आ[रे] के १०५०० वर्ष बीत जाने पर अर्थात् पाँचवाँ आरा आधा व्यतीत होने पर जो मनुष्य हों उनके हाथ से समझना चाहिए। उक्त तीर्थङ्करों की अवगाहना भी इसी प्रमाण से समझ[ना] चाहिए। यों तीर्थङ्कर अपने-अपने अंगुल से १०८ अंगुल के ऊँचे होते हैं और उन[का] मस्तक बारह अंगुल होता है। समस्त शरीर मिलकर १२० अंगुल की ऊँचाई होती है।

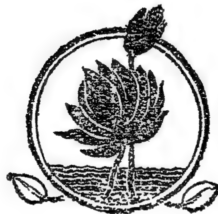
विशाल विश्व में पुत्रों को जन्म देने वाली तो सैकड़ों हजारों स्त्रियाँ हैं, किन्तु तीर्थङ्कर के समान पुत्ररत्न को जन्म देने वाली केवल तीर्थङ्कर की माता ही है। दूसरी कोई भी ऐसे पुत्र-रत्न को जन्म नहीं दे सकती। तात्पर्य यह हुआ कि संसार में तीर्थङ्कर के समान दूसरा कोई पुरुष नहीं हो सकता।

ऐसे अनन्त गुणों के धारक, सकल अघ (पाप) के निवारक, सम्पूर्ण जगत् के सुधारक, मोह आदि आन्तरिक रिपुओं के संहारक, अपूर्व उद्योत कारक, तीनों तापों के अपहारक, भूतल के भव्य जीवों के तारक, अज्ञान-तिमिर के विदारक और सन्मार्ग के प्रचारक, नरेन्द्र, सुरेन्द्र, अहमिन्द्र, मुनीन्द्र आदि त्रिलोकी के वन्दनीय, पूजनीय, महनीय और सेवनीय अरिहन्त भगवन्त जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं।

तित्थयरा मे पसीयन्तु !
कित्तिय-वंदिय-महिया, जे य लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिन्तु ॥

समस्त लोक में उत्तम, सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होने वाले तीर्थङ्करों की मैं वचन से कीर्ति करता हूँ, काय से वन्दना करता हूँ और मन से भाव-पूजा करता हूँ। वे मुझे भाव-आरोग्य और बोधि (सम्यक्त्व) प्रदान करें।

तीर्थङ्कर देव मुझ पर प्रसन्न हों !




प्रकरण
२

सिद्ध भगवान्

●

सिद्धि-स्थान

●

सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाह-
मपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं ॥

इस पाठ में सिद्धि गति या सिद्ध भगवान् का स्वरूप सूत्र रूप में वर्णित किया गया है। मूलपाठ का अर्थ इस प्रकार है—सिद्धिगति शीत, उष्णता, क्षुधा पिपासा, दंश-मशक, सर्प आदि से होने वाली समस्त बाधाओं से रहित होने के कारण शिव है। स्वाभाविक अथवा प्रयोगजन्य हलन-चलन, गमन-आगमन का कोई भी कारण न होने से अचल है। रोग के कारणभूत शरीर और मन का सर्वथा अभाव होने से अरुज (रोग रहित) है। अनन्त पदार्थों संबंधी ज्ञानमय होने के कारण अनन्त है। सादि होने पर भी अन्तरहित होने के कारण अक्षय है। अथवा सुख से परिपूर्ण होने के कारण पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह अक्षत है। दूसरों के लिए बाधाकारी न होने के कारण अव्याबाध है। एक बार सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद मुक्तात्मा फिर संसार में नहीं आता—सदैव के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है इसलिए अपुनरावृत्ति है। ऐसा सर्वथा निरामय और निरुपम परमानन्द-धाम लोकाग्र में है। वह सिद्धिगतिस्थान कहलाता है। सिद्ध भगवान् उसी स्थान पर विराजमान रहते हैं।

साधारण लोग समझते हैं कि जैसे नरक एक विशेष भूमिभाग को--जगह को कहते हैं, अथवा स्वर्ग जैसे स्थान-विशेष को कहते हैं, उसी प्रकार मोक्ष भी किसी स्थान का नाम है। किन्तु यह उनका भ्रम है। वास्तव में मोक्ष कोई स्थान नहीं है किन्तु आत्मा की विशिष्ट पर्याय है। सर्वथा शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध रूप आत्मा की अवस्था (पर्याय) मोक्ष कहलाती है। सिद्ध आत्मा लोक के अग्रभाग में विराजमान होती है इस कारण उसे सिद्धिगति-स्थान कहते हैं। मगर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जो उस स्थान में रहते हैं वे सभी सिद्ध हैं या उस स्थान को ही मोक्ष कहते हैं। वास्तव में समस्त कर्मों से रहित आत्मा की अवस्था मोक्ष कहलाती है और मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

सिद्ध भगवान् के निवास के विषय में शास्त्र में कहा है:—

प्रश्न—कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?
कहिं बोदिं चइत्ताणं, कत्थ गन्तूणसिज्झइ ?

अर्थात्—सिद्ध भगवान् कहाँ जाकर रुके हैं ? सिद्ध भगवान् कहाँ जाकर स्थित हो रहे हैं ? सिद्ध भगवान् कहाँ शरीर त्याग कर—अशरीर होकर—किस जगह सिद्ध हुए हैं ?

उत्तर—अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोदिं चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्झइ॥

—श्री उववाई सूत्र

अर्थात्—सिद्ध भगवान् लोक के आगे-अलोक से लगकर रुके हैं, लोक के अग्रभाग में सिद्ध भगवान् स्थित हैं, सिद्ध भगवान् ने यहाँ मनुष्य लोक में शरीर का त्याग किया है और वहाँ—लोक के अग्रभाग में सिद्ध हुए हैं।

जैसे पाषाण आदि पुद्गलों का स्वभाव नीचे की ओर गति करने का है और वायु का स्वभाव तिर्छी दिशा में गति करने का है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है। जब तक आत्मा कर्मों से लिप्त रहा है तब तक उसमें एक प्रकार की गुरुता रहती है। इस गुरुता के कारण

आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्व गति-शील होने पर भी ऊर्ध्व गति नहीं कर पाता। जैसे तूंबा स्वभाव से जल के ऊपर तैरता है किन्तु मृत्तिका का लेप कर देने पर भारी हो जाने के कारण वह जल के ऊपर नहीं आ सकता। किन्तु ज्यों ही मृत्तिका का लेप हटता है त्यों ही तूँबा ऊपर आता है। इसी प्रकार आत्मा जब कर्मलेप से मुक्त होता है तब वह अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता है। ऊर्ध्वगमन करके एक ही समय में वह लोकाकाश के अन्तिम छोर तक जा पहुँचता है। वहाँ से आगे अर्थात् अलोकाकाश में गति का निमित्त कारण धर्मास्तिकाय विद्यमान नहीं है अतः वहीं मुक्तात्मा की गति रुक जाती है। इसी कारण यह कहा गया है कि सिद्ध भगवान् लोक के अग्रभाग में स्थित हैं और अलोक से लगकर रुक गये हैं।

कई लोग कहते हैं कि मुक्तात्मा अनन्त काल तक ऊपर ही ऊपर जाता रहता है। वह निरन्तर अविश्रान्त गति से अनन्त आकाश में सदैव ऊपर गमन करता रहता है। कभी किसी काल में ठहरता नहीं। पूर्वोक्त कथन से उनकी मान्यता का निराकरण हो जाता है।

पूर्वोक्त कथन से स्वाभाविक ही अन्तःकरण में यह प्रश्न उद्भूत होता है कि जिस लोक के अग्रभाग में सिद्ध भगवान् स्थित हैं, वह लोक क्या है? उसका स्वरूप और आकार आदि कैसा है? इन प्रश्नों का उत्तर आगे दिया जाता है।

लोक और अलोक



लोक शब्द 'लुक्' धातु से बना है। लोक्यते इति लोकः, अर्थात् आकाश के जिस भाग में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य दिखाई देते हैं, वह लोक कहलाता है। इसके विपरीत जहाँ आकाश के अतिरिक्त और कोई भी द्रव्य दिखाई नहीं देता—शुद्ध आकाश ही आकाश है—वह अलोकाकाश है।

अलोक अनन्तानन्त, अपरम्पार, अखण्ड, अमूर्तिक और केवल आकाशास्तिकाय (पोलार) मय है। जैसे किसी विशाल स्थान के मध्य में छींका लटका हो, उसी प्रकार अलोक के मध्य में लोक है। विवाहप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र में कहा है कि—जैसे जमीन पर एक दीपक उलटा रख कर उसके ऊपर दूसरा दीपक सीधा रख दिया जाय और उस पर तीसरा दीपक फिर उलटा रख दिया जाय तो जैसा आकार बनता है, वैसा ही आकार लोक का है।

यह लोक नीचे सात राजू* चौड़ा है। फिर ऊपर-ऊपर अनुक्रम से एक-एक प्रदेश कम चौड़ा होता-होता, सात राजू की उँचाई पर—दोनों दीपकों की सन्धि के स्थान पर—एक राजू चौड़ा रह गया है। इससे आगे अनुक्रम से चौड़ाई बढ़ती गई है और साढ़े तीन राजू (नीचे से १०॥ राजू) की उँचाई पर—दूसरे और तीसरे दीपक के सन्धिस्थान पर पाँच राजू चौड़ा है। फिर आगे क्रम से घटता-घटता अन्तिम भाग में—तीसरे दीपक के अन्तिम भाग पर—एक राजू चौड़ा है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक नीचे से ऊपर तक सीधा १४ राजू लम्बा है और घनाकार मपती से ३४३ राजू परिमाण है। (अर्थात् सम्पूर्ण लोक के विषम स्थान को सम करने से चौरस सात राजू लम्बा, सात राजू चौड़ा और सात राजू जाड़ा (मोटा), इस प्रकार ७×७=४९ और ४९×७=३४३ राजू होते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि एक राजू लम्बे, एक राजू चौड़े और एक राजू मोटे खण्ड की कल्पना की जाय तो सम्पूर्ण लोक के सब खण्ड ३४३ होते हैं।)

जैसे वृक्ष सभी ओर से त्वचा (छाल) से वेष्टित होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण लोक तीन प्रकार के वलयों से वेष्टित (घिरा हुआ) है। पहला वलय घनोदधि (जमे हुए पानी) का है। वह नीचे के भाग में २०००

---

*राजू का परिमाण—३, ८१, २७, ९७० मन वजन को भार कहते हैं। ऐसे १००० भार के लोहे के गोले को कोई देवता ऊपर से नीचे फैंके। वह गोला छह महीने, छह दिन, छह प्रहर, छह घड़ी में जितने क्षेत्र को लाँघ कर जावे, उतने क्षेत्र को राजू-परिमाण जगह कहते हैं।

योजन+ का चौड़ा, नीचे के दोनों कोनों में सात योजन चौड़ा, ऊपर के दोनों कोनों में पाँच योजन चौड़ा और ऊपर के मध्य भाग में दो कोस चौड़ा है।

दूसरा घनवात (जमी हुई हवा) का वलय है। वह नीचे के मध्य भाग में २०००० योजन चौड़ा, नीचे के दोनों कोनों में पाँच योजन चौड़ा, ऊपर के मध्यभाग में चार योजन चौड़ा, ऊपर दोनों दीपक की सन्धिस्थान पर पाँच योजन चौड़ा, ऊपर के दोनों कोनों में चार योजन चौड़ा और ऊपर के मध्यभाग में एक कोस चौड़ा है।

तीसरा तनुवात (पतली हवा) का वलय है। नीचे के मध्य में २०००० योजन चौड़ा, नीचे के दोनों कोनों में चार योजन चौड़ा, ऊपर के मध्यभाग में तीन योजन चौड़ा, ऊपर दोनों दीपकों के संधिस्थान पर चार योजन चौड़ा, ऊपर दोनों कोनों में तीन योजन चौड़ा और ऊपर के मध्य में १५७५ धनुष चौड़ा है। वहाँ सिद्ध भगवान् विराजमान हैं।

+ योजन का [illegible] जिसके दो भाग की कल्पना भी न हो सके, उस निरंश पुद्गल को परमाणु कहते हैं। ऐसे अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के संयोग से एक बादर परमाणु होता है। अनन्त बादर परमाणुओं का एक उष्ण श्रेणिक (गरमी का) पुद्गल, आठ उष्ण-श्रेणिक पुद्गलों का एक शीतश्रेणिक (सर्दी का) पुद्गल ; आठ शीतश्रेणिक पुद्गलों का एक ऊर्ध्वरेणु (तरवले में दिखाई देने वाला), आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु (त्रस जीव के चलने से उड़ने वाली धूलि का कण), आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु (रथ चलने पर उड़ने वाली धूलि का कण), आठ रथरेणु का एक देवकुरु या उत्तर कुरुक्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, देवकुरु तथा उत्तर कुरु के मनुष्य के आठ बालाग्र का एक हरिवास-रम्यकवास क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, हरिवास-रम्यकवास के मनुष्य के आठ बालाग्र का एक हैमवत-ऐरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, हेमवत-ऐरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य के आठ बालाग्र का एक पूर्व-पश्चिम महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, पूर्व-पश्चिम महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य के आठ बालाग्र की एक लीख, आठ लीख का एक यूका, आठ यूका का एक यवमध्य, आठ यवमध्य का एक अंगुल, छह अंगुल का एक पाद (मुट्ठी), दो पाद की वितस्ति, दो वितस्ति का एक हाथ, दो हाथ की एक कुक्षि, दो कुक्षि का एक धनुष, २००० धनुष का एक गव्यूति (कोस), चार गव्यूति का एक योजन। इस योजन से अशाश्वत वस्तु का माप होता है। शाश्वत (नित्य) वस्तु का माप ४००० कोस के एक योजन से होता है। आगे सब जगह यही परिमाण समझना चाहिए।

जैसे घर के मध्यभाग में स्तंभ खड़ा होता है। उसी प्रकार लोक के मध्य में एक राजू चौड़ी और चौदह राजू ऊपर नीचे तक लम्बी त्रसनाड़ी है। त्रसनाड़ी के अन्दर त्रस और स्थावर जीव होते हैं। बाकी सारा लोक स्थावर जीवों से ही भरा है। त्रसनाड़ी के बाहर त्रस जीव नहीं होते।×

लोक के तीन विभाग किये गये हैं—(१) अधोलोक (नीचालोक), (२) मध्यलोक (बीच का लोक), और (३) ऊर्ध्वलोक। इनका वर्णन क्रम से आगे किया जायगा।

अधोलोक

●

(नरक का वर्णन)

लोक के नीचे और अलोक के ऊपर, वलय के अन्दर एक रज्जु ऊँची और ४६ रज्जु (राजू) के घनाकार विस्तार में माघवती (तमस्तमःप्रभा) नामक नरक है। इसमें १०८००० योजन मोटा पृथ्वीमय पिण्ड है। उसमें से ५२॥ हजार योजन नीचे और ५२॥ हजार योजन ऊपर छोड़ कर बीच में ३ हजार योजन की पोलार है। उसमें एक पाथड़ा (प्रस्तर-गुफा जैसी जगह) है। उस पाथड़े में काल, महाकाल, रुद्र, महारुद्र और अप्रतिष्ठ नामक पाँच *नारकावास—नारक जीवों के रहने के स्थान-हैं, जिनमें

× त्रसनाड़ी के बाहर त्रसजीव तीन कारणों से पाया जाता है—(१) किसी त्रसजीव ने त्रसनाड़ी के बाहर के स्थावरजीव के रूप में उत्पन्न होने की आयु बाँधी हो। वह मारणान्तिक समुद्घात करके आत्मप्रदेशों को त्रसनाड़ी से बाहर फैलाता है, (२) त्रसजीव आयु पूर्ण करके, विग्रहगति से जब त्रसनाड़ी के बाहर आता है, (३) केवलिसमुद्घात करते समय जब केवली के आत्मप्रदेश चौथे-पाँचवें समय में सम्पूर्ण लोक में फैलते हैं। (यह तीनों कारण कादाचित्क और सूक्ष्म समय के हैं)।

÷ जैसे मकान में मंजिल होती है वैसे ही नरक की मंजिलों को अन्तर कहते हैं और जैसे मंजिलों के बीच पृथ्वी का पिण्ड होता है वैसे ही अन्तर के बीच के पिण्ड को पाथड़ा कहते हैं। यह सब पाथड़े तीन-तीन हजार योजन के जाड़े (मोटे) और असंख्यात योजन लम्बे-चौड़े होते हैं। इसमें से एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोड़कर बीच में १००० योजन के पोले हैं। इन्हीं में नारकावास हैं। नारकावासों में नारकजीव रहते हैं।

असंख्यात कुंभियाँ और असंख्यात नारकी हैं। उन नारकी जीवों का देहमान ५०० धनुष का और आयुष्य जघन्य २२ सागरोपम एवं उत्कृष्ट ३३ सागरोपम का है।

सातवें नरक की हद के ऊपर एक रज्जु ऊँची और चालीस रज्जु घनाकार विस्तार में छठी मघा (तमःप्रभा) नरक है; जिसमें ११६००० योजन का पृथ्वीपिण्ड है। उसमें से १००० योजन ऊपर और १००० योजन नीचे छोड़कर, बीच में ११४००० योजन की पोलार है। इस पोलार में तीन पाथड़े और दो अन्तर हैं। प्रत्येक पाथड़ा ३००० योजन का है और प्रत्येक अन्तर ५२५०० योजन का है। अन्तर तो खाली हैं और प्रत्येक पाथड़े के मध्य १००० योजन की पोलार में ९९९९५ नारकावास हैं। इनमें असंख्यात कुंभियाँ हैं और असंख्यात नारकी जीव रहते हैं। इन जीवों का देहमान २५० धनुष का और आयुष्य जघन्य १७ सागरोपम का एवं उत्कृष्ट २२ सागरोपम का है।

छठे नरक की सीमा के ऊपर, एक रज्जु ऊँचा और ३४ रज्जु घनाकार विस्तार में पाँचवाँ रिष्टा (रिष्टा-धूमप्रभा) नामक नरक है। इसमें ११८००० योजन का पृथ्वीपिण्ड है। उसमें से १००० योजन ऊपर और १००० योजन नीचे छोड़कर, बीच में ११६००० योजन की पोलार है। इसमें पाँच पाथड़े और चार अन्तर हैं। प्रत्येक पाथड़ा ३००० योजन का और प्रत्येक अन्तर ५२५० का है। अन्तर खाली हैं और प्रत्येक पाथड़े के मध्य में १००० योजन की पोलार में ३००००० नारकावास हैं, जिनमें असंख्यात कुंभियाँ और असंख्यात नारकी जीव हैं। उन जीवों का देहमान १२५ धनुष का और आयुष्य जघन्य दस सागरोपम तथा उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम का है।

उक्त पाँचवें नरक की सीमा के ऊपर, एक रज्जु ऊँचा और २८ रज्जु घनाकार विस्तार में चौथा अंजना (पंकप्रभा) नामक नरक है। इसमें १२०००० योजन का पृथ्वीपिण्ड है। उसमें से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर बीच में ११८००० योजन की पोलार है। इसमें सात

चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकप्रतिकृति :।

: तनवा धनुष्य १५३३ सिद्धक्षेत्र .

— कोस - १ —

— कोस - २ —

सिद्धशिला विमान :

पंच अनुत्तरा:

नव ग्रैवेयका:

वैमानिका

ऊर्ध्वलोक :

सहस्रार ८ देवलोक

महाशुक्र ७ देवलोक

लांतक ६ देवलोक

ब्रह्म ५ देवलोक

सनत्कुमार ३ ४ माहेन्द्र

देवलोक देवलोक

वाणव्यंतर ज्योतिष

व्यंतर

अधोलोक:

रत्नप्रभादय: सप्त नरका:

७ राज नीचो लोक :

रत्न प्रभा — १

शर्करा प्रभा — वंशा — २

वालुप्रभा — शीला — ३

पंकप्रभा — अंजना — ४

धूमप्रभा — रिष्टा — ५

तमप्रभा — मघा — ६

तमतमाप्रभा — माघवती — ७

नित्य निगोद

सर्व १४ राज त्रसनाल ऊंची छे:

(५१२)

८९६

सर्व घनाकार ३४३ रज्जु संपूर्ण लोक छे:

(घनरज्जु)

११२३२

७ राज पहोळो :

घनोदधि २०००० योजन

घनवात २०००० योजन

तनवात २०००० योजन

त्रसनाडी

पाथड़े और छह अन्तर हैं । प्रत्येक पाथड़ा ३००० योजन का है और प्रत्येक अन्तर १३१६६ योजन का है । सब अन्तर खाली हैं । प्रत्येक पाथड़े के मध्य १००० योजन की पोलार में १०,००,००० नारकावास हैं। इनमें असंख्यात कुंभियाँ हैं, और असंख्यात नारकी जीव रहते हैं । इन जीवों का ६२।। धनुष का देहमान होता है और आयु जघन्य सात सागरोपम एवं उत्कृष्ट दस सागरोपम की होती है ।

इस चौथे नरक की सीमा पर, एक राजू ऊँचा और २२ रज्जु घनाकार विस्तार वाला तीसरा सीला (वालुका प्रभा) नामक नरक है । इसमें १२८००० योजन का पृथ्वीपिण्ड है । उसमें से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर, बीच में १,२६००० योजन की पोलार है । इसमें नौ पाथड़े और आठ अन्तर हैं । प्रत्येक पाथड़ा ३००० योजन का है और प्रत्येक अन्तर १२३७५ योजन का है । अन्तर सब खाली हैं और प्रत्येक पाथड़े के मध्य १००० योजन की पोलार में १५,००,००० नारकावास हैं । इनमें असंख्यात कुंभियाँ और असंख्यात नारकी जीव हैं। इन नारकी जीवों का देहमान ३१। धनुष का और आयुष्य जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात सागरोपम का है ।

इस तीसरे नरक की सीमा के ऊपर एक रज्जु ऊँचा और सत्तरह रज्जु के घनाकार विस्तार में वंशा (शर्करप्रभा) नामक दूसरा नरक है । इससे १३२००० योजन का पृथ्वीपिण्ड है। उसमें से नीचे और ऊपर एक-एक हजार योजन छोड़कर बीच में १,३०,००० योजन की पोलार है । इस पोलार में ग्यारह पाथड़े और दश अन्तर हैं । प्रत्येक पाथड़ा ३००० योजन का है और प्रत्येक अन्तर ९७०० योजन का है । अन्तर खाली हैं और प्रत्येक पाथड़े के मध्य में १००० योजन की पोलार में २५००००० नारकावास हैं । इनमें असंख्यात नारकी जीव हैं । इनका देहमान १५।। धनुष और १२ अंगुल का है और आयु जघन्य एक सागर तथा उत्कृष्ट तीन सागर की है ।

इस दूसरे नरक की सीमा के ऊपर, एक राजू ऊँचा और दस राजू घनाकार विस्तार में पहला घम्मा (रत्नप्रभा) नामक नरक है । इसमें कोयले

के समान काला एक-एक रत्न एक-एक हजार योजन का है। ऐसे सोलह रत्नों का १६००० योजन का खर काण्ड है; ८००० योजन का अप्बहुल काण्ड है और ८४००० योजन का पंकबहुल काण्ड है। इस प्रकार सब मिलकर १,८०,००० योजन का पृथ्वीपिण्ड है। उसमें से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर बीच में १,७८,००० योजन की पोलार है। इसमें तेरह पाथड़े और बारह अन्तर हैं। प्रत्येक पाथड़ा ३००० योजन का है और प्रत्येक अन्तर ११५८२$\frac{३}{१}$ योजन का है। एक ऊपर का और एक नीचे का अन्तर खाली है। शेष बीच के दस अन्तरों में असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनपतिदेव रहते हैं। प्रत्येक पाथड़े के मध्य में १००० योजन की पोलार है, जिसमें ३०००००० नारकावास हैं। इनमें असंख्यात कुंभियाँ हैं और असंख्यात नारकी जीव हैं। इनका देहमान ७।।। धनुष और ६।। अंगुल का है और आयुष्य जघन्य १०००० वर्ष का तथा उत्कृष्ट एक सागरोपम का है।*

सातों नरकों के सब मिलकर ४९ पाथड़े, ४२ अन्तर और ८४००००० नारकावास होते हैं। सब नारकावास अन्दर से गोलाकार और बाहर से चौकोर, पाषाणमय भूमितल वाले और महा दुर्गन्धमय हैं। वहाँ की भूमि का स्पर्श करने से ही इतनी भयानक वेदना होती है, जैसे एक हजार विच्छुओं के एक साथ काटने से होती है।

सातवें नरक का 'अप्रतिष्ठ' (अप्पइट्ठ) नामक नारकावास १००००० योजन का लम्बा-चौड़ा और गोलाकार है और पहले नरक का 'सीमन्त' नामक नारकावास ४५००००० योजन का लम्बा-चौड़ा और गोलाकार है। शेष सब नारकावास असंख्यात-असंख्यात योजन लम्बे-चौड़े हैं; तीन हजार

---

* *वर्ष, पल्योपम और सागरोपम का परिमाण—एक बार आँख का पलक गिराने में असंख्यात समय बीत जाते हैं। ऐसे असंख्यात समयों की एक आवलिका, ४४८० आवलिकाओं का एक श्वासोछ्वास, निरोग पुरुष के ३७७३ श्वासोच्छ्वास का एक मुहूर्त्त (दो घड़ी), तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र (दिन-रात), पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष का एक महीना, दो महीनों की एक ऋतु, (बसन्त आदि), तीन ऋतुओं का एक अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन), दो अयन का एक वर्ष और पाँच वर्ष का एक युग। एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े, एक योजन गहरे गोलाकार गड्हे में, देवकुरु-उत्तर कुरुक्षेत्र*

योजन ऊँचे हैं; जिनमें एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोड़कर, बीच के एक हजार योजन के पोलार में नारकी जीव रहते हैं।

प्रथम नरक के नीचे अलग-अलग तीन-तीन वलयार्ध (आधी चूड़ी जैसे) हैं। यथा-पहला वलयार्ध घनोदधि (जमे पानी) का है और २००० योजन का है। उसके नीचे दूसरा वलयार्ध घनवात का है जो घनोदधि से असंख्यातगुना अधिक है। उसके नीचा तीसरा वलयार्ध तनुवात का उससे भी असंख्यातगुना अधिक है। उसके नीचे असंख्यातगुना आकाश है। जैसे पारे पर पत्थर और हवा पर बेलून (गुब्बारा) ठहरता है, उसी प्रकार इन तीनों वलयार्ध के ऊपर सातों नरक ठहरे हैं।

पहला नरक अर्थात् रत्नप्रभा भूमि काले वर्ण वाले भयानक रत्नों से व्याप्त है। दूसरी शर्कराप्रभा भूमि भाले बर्छी आदि शस्त्रों से भी अधिक तीक्ष्ण कंकरों से व्याप्त है। तीसरी बालुकाप्रभा भूमि भड़भूँजे के भाड़ की रेती से भी अधिक उष्ण रेती से व्याप्त है। चौथी पंकप्रभा भूमि रक्त मांस और रसी के कीचड़ से व्याप्त है। पाँचवीं धूम्रप्रभा नरक राई-मिर्च के धुएँ से भी अधिक खारे धुएँ से व्याप्त है। छठी तमःप्रभा भूमि घोर अन्धकार से व्याप्त है।

नारकावास की भींतों में ऊपर बिल* के आकार के योनिस्थान (नारकियों के उत्पन्न होने के स्थान) बने हुए हैं। पापी प्राणी उन स्थानों में

के मनुष्य के एक दिन से लेकर सात दिन तक के जन्मे हुए बालक के बालाग्र, ऐसे बारीक करके कि तीक्ष्ण शस्त्र से भी उसके दो टुकड़े न हो सकें, ठूंस-ठूंस कर भर दिये जाएँ। ऐसे ठूंस दिये जाएँ कि चक्रवर्त्ती की सेना उनके ऊपर से निकले तो भी दबें नहीं। फिर उस गड्ढे में से सौ-सौ वर्ष बीत जाने पर एक-एक बालाग्र निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने समय में सारा गड़हा खाली हो जाय—एक भी बाल उसमें शेष न रहे, उतने वर्षों को एक पल्योपम कहते हैं और दस कोड़ाकोड़ी (१०००००००००००००००) पल्योपम का एक सागरोपम कहलाता है।

** सूयगडांग सूत्र के पाँचवें अध्ययन में कहा है—'अहो सिरो कट्टु उवेइ दुग्गं' अर्थात् नारकी जीव नीचा सिर करके गिरते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र के आस्रवद्वार में भी ऐसा ही कथन है। इससे जान पड़ता है कि नारकी जीवों की उत्पत्ति का स्थान नारकावासों के ऊपर बिलों में होना चाहिए। इस विषय का खुलासा और विस्तृत कथन दिगम्बर आम्नाय के ग्रन्थों में है। कोई-कोई कुम्भियों में उत्पत्ति-स्थान मानते हैं।*

उत्पन्न होते हैं। नरक में उत्पन्न होने वाले नारकी जीव—(१) वहाँ के अशुभ पुद्गलों का आहार ग्रहण करके आहारपर्याप्ति को पूर्ण करते हैं। (२) ग्रहण किये हुए पुद्गल वैक्रिय शरीर के रूप में परिणत होते हैं, तब शरीरपर्याप्ति पूरी होती है (३) शरीर से इन्द्रियों का आकार बनने पर इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण होती है (४) फिर इन्द्रियों के द्वारा वायु को ग्रहण करते और छोड़ते हैं, तब श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्त होते हैं (५-६) फिर मन और भाषा पर्याप्ति से पूर्ण होते हैं। फिर बिल के नीचे रही हुई कुम्भी में नीचे सिर और ऊपर पैर करके गिरते हैं। वे कुम्भियाँ चार प्रकार की कही गई हैं—(१) ऊँट की गर्दन के समान टेढ़ी-मेढ़ी (२) घी के कुप्पे सरीखी—जिनका मुख चौड़ा और अधोभाग सँकड़ा होता है (३) डिब्बा जैसी—ऊपर और नीचे बराबर परिमाण वाली (४) अफीम के डोड़े जैसी—पेट चौड़ा और मुख सँकड़ा।

इन चार प्रकार की कुम्भियों में से किसी एक कुम्भी में गिरने के बाद नारकी जीव का शरीर फूल जाता है। शरीर फूल जाने के कारण वह उसमें बुरी तरह फँस जाता है। कुम्भी की तीखी धारें उसके चारों ओर से चुभती हैं और नारकी जीव वेदना से तिलमिलाने लगता है। उस समय परमधामी देव उसे चीमटे या संडासी से पकड़ कर खींचते हैं। नारकी जीव के खण्ड-खण्ड होकर उसमें से निकलते हैं। इससे नारकी जीव को घोर वेदना तो होती है, मगर वह मरता नहीं है। कृत-कर्मों को भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता। नारकी जीव के शरीर के वे टुकड़े फिर मिल जाते हैं और फिर जैसे का तैसा शरीर बन जाता है।

नारकी जीवों की वेदनाएँ



नारकी जीवों को तीन प्रकार की वेदनाएँ प्रधान रूप से होती हैं—(१) परमाधामी देवों के द्वारा दी जाने वाली वेदनाएँ, (२) क्षेत्रकृत अर्थात्

नरक की भूमि के कारण होने वाली वेदनाएँ और (३) नारकी जीवों द्वारा आपस में एक दूसरे को पहुँचाई जाने वाली वेदनाएँ।

परमाधामी देव तीसरे नरक तक ही जाते हैं, आगे नहीं। अतएव आगे के चार नरकों में दो ही प्रकार की वेदनाएँ होती हैं; किन्तु वेदनाओं की तीव्रता आगे-आगे बढ़ती ही जाती है। पहले नरक से अधिक दूसरे में, दूसरे से अधिक तीसरे में, तीसरे से अधिक चौथे में, इस प्रकार सातवें नरक में सबसे अधिक वेदना होती है। इन सब वेदनाओं का वर्णन आगे किया जाता है।

परमाधामी-देवकृत वेदनाएँ

●

परमाधामी देव असुरकुमार देवों की एक जाति है। वह पन्द्रह प्रकार के होते हैं। दूसरों को दुःख देना और दुःखी देखकर प्रसन्न होना तथा आपस में लड़ाना-भिड़ाना और लड़ाई देखकर आनन्द अनुभव करना इनका स्वभाव है। यह परमाधामी देव नारकी जीवों को इस प्रकार कष्ट पहुँचाते हैं:—

(१) अम्ब—नारकी जीवों को आकाश में ले जाकर एक दम नीचे पटक देते हैं।

(२) अम्बरीष—नारकी जीवों को छुरी वगैरह से छोटे-छोटे टुकड़े करके भाड़ में पकने के योग्य बनाते हैं।

(३) श्याम—रस्सी या लात-घूँसे वगैरह से नारकी जीवों को मारते हैं तथा भयंकर कष्टकारी स्थानों में ले जाकर पटक देते हैं। जैसे सिपाही चोर को मारता है उसी प्रकार यह परमाधामी नारकियों को बुरी तरह पीटते हैं।

(४) शबल—जैसे सिंह, बिल्ली या कुत्ता अपने भक्ष्य को पकड़ कर उसे चीर-फाड़ कर मांस निकालता है, उसी प्रकार यह परमाधामी देव नारकी के शरीर को चीर-फाड़ कर मांस जैसे पुद्गल को बाहर निकालते हैं।

(५) रुद्र—जैसे देवी को भोपे (पंडे) बकरा आदि के त्रिशूल से छेदते हैं और शूलों से बींधते हैं, उसी प्रकार यह परमाधामी नारकी जीवों को छेदते-भेदते हैं।

(६) महारौद्र—जैसे कसाई मांस के खण्ड-खण्ड करता है, उसी प्रकार यह परमाधामी नारकी जीवों के शरीर के खण्ड-खण्ड करते हैं।

(७) काल—जैसे हलवाई गरम तेल वाली कढ़ाई में पूड़ी या भुजिया तलता है, उसी प्रकार यह परमाधामी नारकी का मांस काट-काट कर और तेल में तलकर उसी को खिलाते हैं।

(८) महाकाल—जैसे पक्षी मुर्दा जानवर का मांस नौंच-नौंच कर खाते हैं, उसी प्रकार यह परमाधामी नारकी का मांस चीमटे से नौंच-नौंच कर उसे ही खिलाते हैं।

(९) असिपत्र—जैसे योद्धा संग्राम में तलवार से शत्रु का संहार करता है उसी प्रकार यह परमाधामी तलवार से नारकियों के शरीर के तिल के बराबर-बराबर छोटे-छोटे खण्ड करते हैं।

(१०) धनुष—जैसे शिकारी कान तक धनुष को खींच कर, बाण से पशु के शरीर को भेदता है, उसी प्रकार यह परमाधामी बाणों से नारकी जीवों के शरीर को भेदते हैं और उनके कान आदि अवयवों का छेदन करते हैं।

(११) कुम्भ—जैसे गृहस्थ नींबू को चीर-फाड़ कर, उसमें नमक-मिर्च आदि मसाला भर कर घड़े में आचार डालता है, उसी प्रकार यह परमाधामी नारकी के शरीर को चीर-फाड़ कर, उसमें मसाला भर कर कुम्भी में पकाते हैं।

(१२) वालुक—जैसे भड़भूँजा उष्ण रेती की कढ़ाई में चना आदि धान्य को भूँजते हैं, उसी प्रकार यह परमाधामी नारकी जीवों को गर्म बालू में भूँजते हैं।

(१३) वैतरणी—जैसे धोबी वस्त्र को धोता है, निचोड़ता है, पछाड़ता है, उसी प्रकार यह परमाधामी असुर वैतरणी नदी की सिला पर नारकियों को पछाड़-पछाड़ कर धोते हैं तथा गरम मांस, रुधिर, राध आदि पदार्थों

से उबलती हुई नदी में नारकियों को फैंक कर उन्हें तैरने के लिए मजबूर करते हैं।

(१४) खरस्वर—जैसे शौकीन लोग बगीचे की हवा खाते हैं, उसी प्रकार यह परमाधामी विक्रिया से बनाये हुए शाल्मली वृक्षों के समान वन में नारकियों को बिठला कर हवा चलाता है, जिससे तलवार की धार के तीखे पत्ते उन वृक्षों से गिरते हैं और नारकियों के अङ्ग कट-कट कर गिरते हैं। यह शाल्मली वृक्षों पर चढ़ा कर करुण चिल्लाहट करते हुए नारकियों को खींचते हैं।

(१५) महाघोष—जैसे निर्दय ग्वाला बकरियों को बाड़े में ठूँस-ठूँस कर भरता है, उसी प्रकार यह परमाधामी घोर अन्धकार से व्याप्त सँकड़े कोठे में नारकियों को ठूँस-ठूँस कर—खचाखच भरते हैं और वहीं रोक रखते हैं।

मांसाहारी जीव नरक में उत्पन्न होते हैं। यमदेव (पूर्वोक्त परमाधामी) उनके शरीर का मांस चिमटे से नौंच कर, तेल में तलकर या गरम रेत में भून कर उन्हीं को खिलाते हैं। कहते हैं—ले, तुझे मांस भक्षण करने का बड़ा शौक था! अब उसका फल चख! जैसे तुझे दूसरे प्राणियों का मांस पसन्द था, वैसे ही अब इसे भी पसन्द कर!

जो लोग मदिरा-पान करके अथवा बिना छना पानी पीकर नरक में उत्पन्न होते हैं, उनको तांबे, सीसे, लोहे आदि का उबलता हुआ रस, संडासी से जबरदस्ती मुँह फाड़ कर पिलाते हैं और कहते हैं—लीजिए न, इसका भी तो शौक कीजिए! यह भी बड़ी लज्जतदार चीज़ है!

जो वेश्यागमन और पर-स्त्रीसेवन करके नरक में जाते हैं, उन्हें आग में तपा-तपा कर लाल बनाई हुई फौलाद की पुतली का बलात्कार से गाढ़ आलिंगन कराते हैं और कहते हैं—अरे दुष्ट व्यभिचारी! अपने कुकर्म का फल भोग! तुझे पर-स्त्री प्यारी लगती थी तो अब क्यों रोता है? इस पुतली को भी छाती से लगा!

कुमार्ग पर चलने वालों को और खोटा उपदेश देकर दूसरों को कुमार्ग पर चलाने वालों को धधकते हुए लाल-लाल अंगारों पर चलाया जाता है।

जो लोग जानवरों और मनुष्यों पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादते हैं, उनसे कङ्कर-पत्थर और काँटों से युक्त रास्ते में लाखों टन वजन वाली गाड़ी खिंचवाई जाती है। ऊपर से तीखी आर वाले चाबुकों के प्रहार किये जाते हैं। परमाधामी कहते हैं—निर्दय कहीं के! तुझे मूक पशुओं पर दया नहीं आई, उसका फल भुगत! जो दूसरों पर दया नहीं दिखलाता उस पर कौन दया करेगा!

कूप, तालाब, नदी आदि के पानी में मस्ती करने वालों को, बिना छाना पानी काम में लाने वालों को और वृथा पानी बहाने वालों को वैतरणी नदी के उष्ण, खारे पानी में डाल कर उनके शरीर को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं।

साँप, बिच्छू, पशु, पक्षी आदि प्राणियों की हिंसा करने के शौकीन लोगों को यमदेव साँप, बिच्छू, सिंह आदि का रूप बनाकर चीरते-फाड़ते हैं और तीक्ष्ण जहरीले दंश से उन्हें त्रास पहुँचाते हैं।

वृथा वृक्षों का छेदन-भेदन करने वालों के शरीर का छेदन-भेदन करते हैं। माता-पिता आदि वृद्ध और उपकारी जनों को जो सन्ताप देते हैं, उनका हृदय भाले से भेदा जाता है, दगाबाजी करने वालों को ऊँचे पहाड़ से पटका जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय को प्रिय राग-रागिनी के अत्यन्त शौकीन के कान में उबलता हुआ शीशा भर दिया जाता है। चक्षुरिन्द्रिय से दुर्भावना के साथ पर-स्त्री का अवलोकन करने वालों की और ख्याल-तमाशे देखने वालों की आँखें शूल से फोड़ी जाती हैं। घ्राणेन्द्रिय के विषय में अत्यन्त आसक्त पुरुष को राई-मिर्च आदि का अत्यन्त तीखा धुआँ सुँघाया जाता है। जिह्वा से चुगली, निन्दा आदि करने वाले के मुँह में कटार भरी जाती हैं। किसी-किसी पापी को घानी में पीलते हैं, अंगारों में पकाते हैं और महावायु में उड़ाते हैं। इस प्रकार पूर्व जन्म में किये हुए कुकृत्यों के अनुसार अनेक प्रकार के घोर-अतिघोर दुःखों से दुःखित करते हैं।

इन अतीव भयानक दुःखों से व्यथित होकर—घबड़ा कर नारकी जीव बड़ी लाचारी और दीनता दिखलाते हैं। दोनों हाथों की दशों उँगलियाँ मुँह में डाल कर, पैरों में नाक रगड़ते हुए प्रार्थना करते हैं—बचाओ, हमें बचाओ! मत मारो। अब हम कभी ऐसा पाप नहीं करेंगे। अब न सताओ! नारकों के इस प्रकार के करुणापूर्ण शब्द सुनकर परमाधामी देवों को तनिक भी तरस नहीं आता। वे लेशमात्र भी दया नहीं दिखलाते। उनके करुण क्रन्दन पर जरा भी विचार न करके, उलटे ठहाका मारकर उनकी हँसी उड़ाते हैं और अधिकाधिक व्यथा पहुँचाते हैं।

यहाँ स्वभावतः दो प्रश्न उठते हैं। पहला यह कि परमाधामी असुर नारक जीवों को क्यों दुःख देते हैं और दूसरा प्रश्न यह कि परमाधामी असुरों को पाप लगता है या नहीं?

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि जो लोग निर्दय होते हैं, शिकार खेलने तथा हाथी, बैल, मेष, कुत्ता आदि जानवरों को लड़ाने में आनन्द मानते हैं अथवा जो बालतपस्वी अग्निकाय, जलकाय एवं वनस्पतिकाय के असंख्यात जीवों की घात करके अज्ञान-तप करते हैं, वे मर कर परमाधामी देव होते हैं। वे स्वभावतः नारकी जीव को लड़ाने-भिड़ाने और कष्ट पहुँचाने में आनन्द मानते हैं। ऐसा उनका पूर्व जन्म का कुसंस्कार है। इसी कुसंस्कार से प्रेरित हो कर दुःख देते हैं।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि पाप करने वाले को फल अवश्य भोगना पड़ता है। 'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।' किये हुए कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। आगम के इस कथन के अनुसार चाहे देव हो या मनुष्य, पशु हो या पक्षी, कोई भी अपने भले-बुरे कर्म के फल से बच नहीं सकता। अतः परमाधामी देवों को भी अपने कृत्यों का फल मिलता है। परमाधामी देव मरने के बाद बकरा, मुर्गा आदि की नीच योनियों में उत्पन्न होते हैं और अपूर्ण आयु में ही मारे जाते हैं। आगे भी उन्हें विविध प्रकार की व्यथाएँ भोगनी पड़ती हैं।

परस्परजनित वेदनाएँ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सिर्फ तीसरे नरक तक ही परमाधामी देव जाते हैं। अतएव उनके द्वारा पहुँचाई जाने वाली विविध वेदनाएँ भी तीसरे नरक तक ही होती हैं। उससे आगे चौथे और पाँचवें नरक के नारकी आपस में एक दूसरे को कष्ट देते हैं। जैसे नये कुत्ते के आने पर दूसरे कुत्ते उस पर टूट पड़ते हैं और दांतों से, पंजों से उसे त्रास पहुँचाते हैं, उसी प्रकार नरक में नारकी जीव एक दूसरे पर निरन्तर आक्रमण करते रहते हैं और घोर परिताप उत्पन्न करते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव नरक में नहीं जाता। सम्यक्त्व होने से पहले किसी ने नरक की आयु का बंध कर लिया हो तो वह पहले नरक में उत्पन्न होता है। किन्तु नरक की वेदना भोगते-भोगते किसी जीव को वहीं सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि नारकी सभी-सातों नरकों में हो सकते हैं। जो नारकी सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे नरक के दुःखों को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल जान कर समभाव से उन्हें सहन करते रहते हैं। वे दूसरों को दुःख नहीं देते। किन्तु मिथ्यादृष्टि नारकी एक दूसरे को लातों और मुक्कों से मारते हैं तथा विक्रिया से विविध प्रकार के शस्त्र बनाकर परस्पर में प्रहार करते हैं। इस प्रकार का आघात-प्रत्याघात निरन्तर चलता रहता है।

इसी प्रकार छठे और सातवें नरक के नारकी गोबर के कीड़े सरीखे वज्रमय मुख वाले, कुंथुवे का रूप बनाकर, आपस में एक दूसरे के शरीर के आर-पार निकल जाते हैं। सारे शरीर में चालनी के समान छेद करके महान् भयंकर परिताप उत्पन्न करते हैं। वे प्रतिक्षण आपस में इसी प्रकार की घोर-अतिघोर व्यथाएँ एक दूसरे को पहुँचाते रहते हैं।

नारकी जीव अपने बचाव के लिए प्रयत्न करते हैं। किन्तु उनका वह प्रयत्न उन्हें दुःख से बचाने के बदले और अधिक दुःख का कारण बन जाता है। उनकी विक्रिया अनुकूल न होकर उन्हीं के प्रतिकूल होती है।

क्षेत्र-वेदनाएँ

नरक की भूमि के स्वभाव से होने वाली वेदनाएँ क्षेत्रवेदनाएँ कहलाती हैं। वह दस प्रकार की होती हैं। उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:—

(१) अनन्त क्षुधा—जगत् में जितने भी खाद्य पदार्थ हैं, वे सब एक नारकी को दे दिये जाएँ तो भी उसकी भूख न मिटे, इस प्रकार की क्षुधा से नारकी सदैव आतुर रहते हैं।

(२) अनन्त तृषा—संसार के सहस्र समुद्रों का जल एक नारकी को दे दिया जाय तो भी उसकी प्यास न बुझे, इस प्रकार की प्यास से नारकी सदैव पीड़ित रहते हैं।

(३) अनन्त शीत—एक लाख मन का लोहे का गोला, शीतयोनि वाले नरक में छोड़ा जाय तो तत्काल शीत के प्रभाव से छार-छार होकर बिखर जाय। नरक में इतनी भयानक सर्दी है। कल्पना कीजिए अगर कोई वहाँ के नारकी को उठाकर हिमालय के बर्फ में सुला दे तो वह उसे बड़ा ही आराम का स्थान समझेगा। ऐसी घोर सर्दी वहाँ सदैव पड़ती रहती है।

(४) अनन्त ताप—नरक के उष्णयोनिक स्थान में एक लाख मन का लोहे का गोला छोड़ दिया जाय तो तत्काल गल कर वह पानी-पानी हो जाय। अगर उस जगह के नारकी को उठा कर कोई जलती भट्ठी में डाल दे तो नारकी जीव बड़ा ही आराम समझे और उसे नींद आजाए। ऐसी भयानक गर्मी वहाँ सदैव पड़ती रहती है।

(५) अनन्त महाज्वर—नारकी के शरीर में सदैव महाज्वर बना रहता है। इस महाज्वर के कारण उसके शरीर में दुस्सह जलन होती रहती है।

(६) अनन्त खुजली—नारकी सदैव अपना शरीर खुजलाते रहते हैं।

(७) अनन्त रोग—जलोदर, भगन्दर, खाँसी, श्वास, कुष्ठ, शूल आदि १६ महारोगों और ५, ६८, ६६, ५८५ प्रकार के छोटे रोगों से नारकी सदा पीड़ित रहता है।

(८) अनन्त अनाश्रय—नारकी इतनी भयानक वेदनाएँ भोगते हुए भी शरणहीन हैं, निराधार हैं ! कोई उन्हें आश्रय देने वाला नहीं, दिलासा देने वाला नहीं, सान्त्वना के शब्द कहने वाला नहीं मिलता।

(९) अनन्त शोक—नारकी जीव सदा चिन्ता और शोक में डूबे रहते हैं।

(१०) अनन्त भय—नरक की भूमि ऐसी अन्धकारमयी है कि करोड़ों सूर्य मिलकर भी वहाँ प्रकाश नहीं कर सकते। नारकियों का शरीर भी महा-भयानक काला होता है। चारों ओर मार-मार का कोलाहल मचा रहता है। इत्यादि कारणों से नारकी जीव प्रतिक्षण भय से व्याकुल रहते हैं।

यह दस प्रकार की वेदनाएँ* सभी नारकियों को सदैव भोगनी पड़ती हैं। इनके कारण प्रतिक्षण दुःखी रहते हैं। पल भर भी आराम नहीं पाते।

प्रश्न—ऐसे महादुःख वाले नरक में किस पाप-कर्म के उदय से जीव जाता है ?

उत्तर—सूयगडांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के, पाँचवें अध्ययन में कहा है:—

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसती आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि॥
पागब्भि पाणे बहुणं तिपाती, अनिव्वते घातमुवेति बाले।
णिहो णिसं गच्छति अन्तकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं॥

अर्थ—जो प्राणी अपने सुख के लिए त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) और स्थावर (पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायु-काय, वनस्पतिकाय) के जीवों की तीव्र-निर्दय-क्षुद्र परिणाम से हिंसा करता है, उन्हें मर्दन कर परिताप उपजाता है, परद्रव्य का हरण करता—चोरी करता है, राहगीर को लूटता है, सेवन करने योग्य व्रतों का

* पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे नरक में ताप की वेदना होती है। पाँचवें नरक के ऊपरी भाग में भी ताप की वेदना होती है। पाँचवें के निचले भाग में तथा छठे-सातवें नरक में शीत वेदना होती है। शेष सभी वेदनाएँ सभी नरकों में हैं।

सेवन नहीं करता अर्थात् हिंसा आदि से निवृत्त होकर नवकारसी आदि इच्छानिरोध रूप प्रत्याख्यान का ज्ञान प्राप्त नहीं करता, हिंसा आदि पाप के कार्यों को पुण्य का कार्य बतलाने की धृष्टता करता है, क्रोध आदि (अनन्तानुबंधी) कषायों से निवृत्त नहीं होता, वह अज्ञानी मृत्यु के पश्चात् नीचा सिर करके अन्धकारमय महाविषम नरक में जाता है और दुःख पाता है।

भवनपति देवों का वर्णन

●

पूर्वोक्त प्रथम नरक के १२ अन्तर असंख्यात योजन के लम्बे-चौड़े और ११५८३ योजन के ऊँचे हैं। उनके दो विभाग हैं—उत्तर विभाग और दक्षिण-विभाग। बारह अन्तरों में से एक सबसे ऊपर का और दूसरा सबसे नीचे का खाली पड़ा है। बीच के दस अन्तरों में अलग-अलग जाति के भवनपति देव रहते हैं। दस में से पहले अन्तर में असुरकुमार जाति के भवनपति देव रहते हैं। दक्षिण विभाग में उनके ४४ लाख भवन हैं। चमरेन्द्र उनके स्वामी हैं। चमरेन्द्र के ६४००० सामानिक देव, २,५६००० आत्मरक्षक देव और छह अग्रमहिषियाँ (बड़ी इन्द्रानियाँ) हैं। प्रत्येक इद्रानी का भी छह-छह हजार का परिवार है। चमरेद्र की सात अनीक (सेनाएँ) हैं। तीन प्रकार की परिषद् हैं। आभ्यन्तर परिषद् के २४००० देव, मध्यपरिषद् के २८००० देव और बाह्य परिषद् के ३२००० देव हैं। इसी प्रकार आभ्यन्तर परिषद् की ३५० देवियाँ, मध्यपरिषद् की ३०० देवियाँ और बाह्यपरिषद् की २५० देवियाँ हैं। देवों की आयु जघन्य १०००० वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की है। इनकी देवियों की आयु जघन्य १०००० वर्ष की और उत्कृष्ट ३॥ पल्योपम की है।

दक्षिण विभाग की तरह उत्तर के विभाग में ४० लाख भवन हैं। इनके स्वामी बलेन्द्र हैं। बलेन्द्र के ६०,००० सामानिक देव, २,४०,००० आत्मरक्षक देव, छह अग्रमहिषियाँ (जिनका छह-छह हजार का परिवार है), सात अनीक* और तीन परिषद् हैं। आभ्यन्तर परिषद् के २०,००० देव,

* (१) गन्धर्व की (२) नाटक की (३) अश्व की (४) हस्तियों की (५) रथ की (६) पैदल की और (७) भैंसों की—यह सात प्रकार की सेना है।

मध्यपरिषद् के २४,००० देव, बाह्यपरिषद् के २८,००० देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् में ४५० देवियाँ, मध्यपरिषद् में ४०० देवियाँ और बाह्यपरिषद् में ३५० देवियाँ भी हैं। इन देवों की आयु जघन्य १०,००० वर्ष से भी कुछ अधिक और उत्कृष्ट एक सागरोपम से कुछ अधिक और इनकी देवियों की आयु जघन्य १०,००० वर्ष से कुछ अधिक तथा उत्कृष्ट ४॥ पल्योपम की है।

दूसरे अन्तर में नागकुमार जाति के भवनपति रहते हैं। दक्षिणविभाग में उनके ४४ लाख भवन हैं और धरणेन्द्र उनके स्वामी हैं। उत्तरविभाग में ४० लाख भवन हैं और भूतेन्द्रजी उनके स्वामी हैं।

तीसरे अन्तर में सुवर्णकुमार जाति के भवनपति रहते हैं। दक्षिण-विभाग में इनके ३८ लाख भवन हैं और उनके स्वामी वेणुइन्द्र हैं। उत्तर-विभाग में ३४ लाख भवन हैं और उनके स्वामी वेणुदालेन्द्र हैं।

चौथे अन्तर में विद्युत्कुमार जाति के भवनपति देव रहते हैं। दक्षिण-विभाग के इन्द्र हरिकांत हैं और उत्तरविभाग के इन्द्र हरिशेखरेन्द्र हैं।

पाँचवें अन्तर में अग्निकुमार जाति के भवनदेव रहते हैं। दक्षिणविभाग के इन्द्र अग्निशिखेन्द्र हैं और उत्तरविभाग के अग्निमाणवेन्द्र हैं।

छठे अन्तर में द्वीपकुमार जाति के भवनपति देव रहते हैं। दक्षिण के पूरणेन्द्र हैं और उत्तर के विष्टेन्द्र हैं।

सातवें अन्तर में उदधिकुमार देव रहते हैं। दक्षिण के इंद्र जलकान्तेन्द्र और उत्तर के जलप्रभेन्द्र हैं।

आठवें अन्तर में दिशाकुमार जाति के भवनपति रहते हैं। दक्षिण के इन्द्र अमितेन्द्र और उत्तर के अमितवाहनेन्द्र हैं।

नौवें अन्तर में वायुकुमार जाति के भवनपति रहते हैं। दक्षिण के इन्द्र बलवकेन्द्र और उत्तर के प्रभंजनेन्द्र हैं।

दसवें अन्तर में स्तनितकुमार देव रहते हैं। इनमें दक्षिण के इन्द्र घोषेन्द्र हैं और उत्तर के महाघोषेन्द्र हैं।

इनमें चौथे विद्युत्कुमार से स्तनितकुमार तक प्रत्येक के दक्षिणविभाग में चालीस-चालीस लाख और उत्तरविभाग में छत्तीस-छत्तीस लाख भवन हैं।

दूसरे नागकुमार से लेकर दसवें स्तनितकुमार तक को नवनिकाय (नौ जाति) के देव कहते हैं। दक्षिणविभागों में नौ ही निकायों के प्रत्येक इन्द्र के छह-छह हजार सामानिक देव हैं, चौबीस-चौबीस हजार आत्मरक्षक देव हैं, पाँच-पाँच अग्रमहिषियाँ (इन्द्रानियाँ) हैं। प्रत्येक इन्द्राणी का पाँच-पाँच हजार का परिवार है। नौ ही इन्द्रों की सात-सात अनीक हैं, तीन-तीन परिषद् हैं। आभ्यन्तर परिषद् के ६०,००० देव हैं, मध्यपरिषद् के ७०,००० देव हैं और बाह्यपरिषद् के ८०,००० देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् में ७५ देवियाँ हैं, मध्य परिषद् में १५० देवियाँ हैं और बाह्य परिषद् में १२५ देवियाँ हैं। इन नौ ही जातियों के देवों की आयु जघन्य १०००० वर्ष की और उत्कृष्ट १॥ पल्योपम की है। देवियों की आयु जघन्य १०००० वर्ष की और उत्कृष्ट आयु पौन पल्योपम की है।

उत्तरविभाग के नौ ही इन्द्रों के सामानिक देवों, आत्मरक्षक देवों, अग्रमहिषियों, अग्रमहिषियों के परिवार, अनीक और परिषदों की संख्या दक्षिणविभाग के समान ही है। परिषद् के देवों की संख्या में अन्तर है। वह इस प्रकार-आभ्यन्तर परिषद् के ५०,००० देव, मध्यपरिषद् के ६०,००० देव और बाह्य परिषद् के ७०,००० देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् की देवियाँ २२५, मध्य परिषद् की २००, और बाह्य परिषद् की १७५ देवियाँ हैं। सभी की आयु जघन्य १०,००० वर्ष की और उत्कृष्ट कुछ कम दो पल्योपम की है।

पूर्वोक्त दसों अन्तरों में रहने वाले दक्षिण दिशा के देवों के भवन मिल कर ४,०६,००,००० हैं और उत्तरविभाग के सब भवन ३,६६,००००० होते हैं। इनमें छोटे से छोटा भवन जम्बूद्वीप के बराबर अर्थात् एक लाख योजन का है, मध्यम भवन अढ़ाई द्वीप के बराबर अर्थात् पैंतालीस लाख योजन के हैं और सब से बड़ा भवन असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बराबर अर्थात् असंख्यात योजन का है। सब भवन भीतर से चौकोर, बाहर गोलाकार, रत्नमय, महाप्रकाशयुक्त का और समस्त सुख-सामग्रियों से भरपूर हैं।

संख्यात योजन के भवन में संख्यात देव-देवियों का और असंख्यात योजन के भवन में असंख्यात देव-देवियों का निवास है। यह देव कुमारों की तरह क्रीड़ा करने वाले हैं इस कारण इन्हें कुमार कहते हैं।

भवनपति देवों की विभिन्न जातियों के शरीर का वर्ण अलग-अलग प्रकार का होता है। वस्त्र भी उन्हें विभिन्न वर्ण का पसंद आता है। उनकी जाति की पहिचान उनके मुकुट में बने हुए चिह्नों से होती है। इन सब के स्पष्टी-करण के लिए नीचे एक तालिका दी जाती है।

भवनपति देव की जाति	शरीर का वर्ण	वस्त्र का वर्ण ×	मुकुट का चिह्न*
१ असुरकुमार	कृष्ण	रक्त	चूडामणि
२ नागकुमार	श्वेत	हरे	नागफणि
३ सुवर्णकुमार	कनक	श्वेत	गरुड
४ विद्युत्कुमार	रक्त	हरे	वज्र
५ अग्निकुमार	रक्त	हरे	कलश
६ द्वीपकुमार	रक्त	हरे	सिंह
७ उदधिकुमार	श्वेत	हरे	अश्व
८ दिशाकुमार	रक्त	श्वेत	हस्ती
९ वायुकुमार	हरा	गुलाबी	मगर
१० स्तनितकुमार	कनक	श्वेत	सरावला

नोट—× उक्त रंग के वस्त्र पहनने का शौक अधिक है।

* यह चिह्न देवताओं के मुकुट में होते हैं, इससे इनकी जाति की पहिचान होती है।

मध्यलोक का वर्णन



रत्नप्रभा भूमि के ऊपर एक हजार योजन का पृथ्वीपिण्ड है। उसमें से एक सौ योजन ऊपर और एक सौ योजन नीचे छोड़ कर, बीच में ८०० योजन की पोलार है। इस पोलार में असंख्यात नगर (ग्राम) हैं। इन नगरों में आठ प्रकार के व्यन्तर देव रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–(१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग (८) गन्धर्व।

ऊपर के भाग में सौ योजन जो छोड़ दिये थे, उसमें भी दस योजन ऊपर और दस योजन नीचे छोड़ कर, बीच में अस्सी योजन की पोलार है। इस पोलार में भी असंख्यात नगर हैं और इन नगरों में आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव रहते हैं। यथा—(१) आनपन्नी (२) पानपन्नी (३) इसीवाइ (४) भूइवाइ (५) कन्दिय (६) महाकन्दिय (७) कोहंड और (८) पइंग देव।

उक्त आठ सौ योजन वाली और अस्सी योजन वाली पोलार में व्यन्तरों और वाण व्यतरों के जो नगर हैं, उनमें छोटे से छोटा भरत क्षेत्र के बराबर (५२६ योजन से कुछ अधिक), मध्यम महाविदेह क्षेत्र के बराबर (३३६८४ योजन से कुछ अधिक), और बड़े से बड़ा जम्बूद्वीप के बराबर (एक लाख योजन) का है।

उक्त दोनों पोलारों के दो-दो विभाग हैं--दक्षिण भाग और उत्तर भाग। इन विभागों में रहने वाले सोलह प्रकार के व्यन्तर तथा वाण व्यन्तर देवों की एक-एक जाति में दो-दो इन्द्र हैं। अतः कुल बत्तीस इन्द्र हैं, जिनके नाम आगे के कोष्ठक में दिये गये हैं। प्रत्येक इन्द्र के चार-चार हजार सामानिक देव हैं, सोलह-सोलह हजार आत्मरक्षक देव हैं, चार-चार

अग्रमहिषियाँ हैं। प्रत्येक अग्रमहिषी के हजार-हजार का परिवार है। सात अनीक हैं। तीन परिषद् हैं। आभ्यन्तर परिषद् के ८००० देव, मध्य परिषद् के १०००० देव और बाह्य परिषद् के १२००० देव हैं। इन सोलहों प्रकार के देवों की आयु जघन्य १०००० वर्ष की और उत्कृष्ट एक पल्योपम की है। देवियों की जघन्य आयु १०००० वर्ष की और उत्कृष्ट आधे पल्योपम की है।

व्यन्तर और वाणव्यन्तर देव चंचल स्वभाव के धारक होते हैं। मनोहर नगरों में देवियों के साथ नृत्य-गान करते हुए, इच्छानुसार भोग भोगते हुए और पूर्वोपार्जित पुण्य के फलों का अनुभव करते हुए विचरते हैं। विविध अन्तरों में रहने कारण इन्हें 'व्यन्तर' कहते हैं। वन में भ्रमण करने के अधिक शौकीन होने कारण इन्हें वाण व्यन्तर कहते हैं।



८०० योजन के प्रथम प्रतर के ८ जाति के व्यन्तर देवों का यंत्र			८० योजन की दूसरी प्रतर के ८ जाति के वाण व्यन्तर देवों का यंत्र			दोनों प्रतरों के देव ।के शरीर का वर्ण अ र मुकुट का चिह्न	
८ व्यन्तर देवों के नाम	दक्षिण दिशा के इन्द्र के नाम	उत्तर दिशा के इन्द्र के नाम	८ वाण व्यन्तर देव के नाम	दक्षिण दिशा के इन्द्र के नाम	उत्तर दिशा के इन्द्र के नाम	शरीर का वर्ण	मुकुट का चिह्न
१ पिशाच	कालेन्द्र	महाकालेन्द्र	९ आनपन्नी	सन्निहितेन्द्र	सन्मानेन्द्र	कृष्ण	कदंब वृक्ष
२ भूत	सुरूपेन्द्र	प्रतिरूपेन्द्र	१० पानपन्नी	धातेन्द्र	विधातेन्द्र	कृष्ण	शालि वृक्ष
३ यक्ष	पूर्णभद्रेन्द्र	मणिभद्रेन्द्र	११ ईसीवाई	ईसीन्द्र	इसीपतेन्द्र	कृष्ण	बड़ वृक्ष
४ राक्षस	भीमेन्द्र	महाभीमेन्द्र	१२ भूइवाई	ईश्वरेन्द्र	महेश्वरेन्द्र	श्वेत	पाडुली वृक्ष
५ किन्नर	किन्नरेन्द्र	किंपुरुषेन्द्र	१३ कंदीये	सुवच्छेन्द्र	विशालेन्द्र	हरा	अशोक वृक्ष
६ किंपुरुष	सुपुरुषेन्द्र	महापुरुषेन्द्र	१४ महाकंदिये	हास्येन्द्र	हास्यरतीन्द्र	श्वेत	चंपक वृक्ष
७ महोरग	अतिकायेन्द्र	महाकायेन्द्र	१५ कोहंड	श्वेतेन्द्र	मेहश्वेतेन्द्र	कृष्ण	नाग वृक्ष
८ गंधर्व	गीतरतीन्द्र	गीतरसेन्द्र	१६ पयंगदेव	पहेगेन्द्र	पहंगपतेन्द्र	कृष्ण	टिम्बरू वृक्ष

मनुष्यलोक का वर्णन



जहाँ हम रहते हैं, यह मनुष्यलोक, रत्नप्रभा पृथ्वी की छत पर है। इसके मध्यभाग में (बीचोंबीच) सुदर्शन मेरु पर्वत है। मेरु पर्वत के नीचे के भूमिभाग में, बिल्कुल बीचोंबीच, गाय के स्तन के आकार के आठ रुचक प्रदेश हैं। इन रुचक प्रदेशों से ९०० योजन नीचे और ९०० योजन ऊपर, कुल १८०० योजन उँचाई वाला और दस रज्जु घनाकार विस्तार वाला तिर्छा लोक या मनुष्यलोक है। ९०० योजन के निचले भाग में व्यन्तर और वाणव्यन्तर देवों का निवास है, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। ९०० योजन के ऊपरी भाग में असंख्यात द्वीप, समुद्र और ज्योतिषी-देव हैं। इनका वर्णन आगे किया जाता है।

मेरु पर्वत



समस्ती पृथ्वीमण्डल के मध्य में सुदर्शनमेरु पर्वत है। वह पर्वत मल्ल स्तंभ (मलखंभ) के से आकार का है—नीचे चौड़ा और फिर ऊपर क्रम से संकड़ा होता गया है। उसकी पूरी लम्बाई १००००० योजन की है। इस एक लाख योजन में से १००० योजन पृथ्वी के भीतर है और ९९००० योजन पृथ्वी के ऊपर है। पृथ्वी के भीतर, मूल में १००९०$\frac{10}{11}$ योजन चौड़ा है। और पृथ्वी पर १०००० योजन चौड़ा है। इस प्रकार क्रम से घटता-घटता शिखर पर सिर्फ १००० योजन चौड़ा रह गया है।

इस पर्वत के तीन काण्ड हैं—विभाग हैं। वह इस प्रकार (१) पृथ्वी के भीतर मृत्तिका, पाषाण, कंकर और वज्ररत्नमय १००० योजन का प्रथम काण्ड है (२) पृथ्वी पर स्फटिकरत्न, अंकरत्न, रूप्य और सुवर्णमय ६३००० योजनका दूसरा काण्ड है। वहाँ से आगे तीसरा काण्ड रक्तसुवर्णमय ३६००० योजन का है।

સુદર્શન મેરુ પર્વત

: ૧૦૦૦૦૦ યોજન ઉંચો છે :

ચૂલિકા

૪૦ યોજન ઊંચી

મૂળિયામાં ૧૨ યોજન,
મધ્યમાં ૮ યોજન, અંતમા
૪ - યોજન પ્હોળી વૈડૂર્ય
(લાલ) રત્નમય એક ચૂલિકા -

પંડગવનમાં તીર્થંકરોના
જન્મ-મહોત્સ ઇન્દ્રો કરે છે:

બધા જ્યોતિષીઓ મેરૂની
પ્રદક્ષિણા હંમેશાં કરે છે:

શનિ ૩ યોજન
મંગળ ૩ યોજન
બૃહસ્પતિ ૩ યોજન
શુક્ર ૩ યોજન
બુધ ૪ યોજન
નક્ષત્ર ૪ યોજન
નિત્ય રાહુ
ચંદ્ર ૮૦ યોજન
પૂર્વ રાહુ
સૂર્ય ૧૦ યોજન
કેતુ
તારામંડળ ૭૯૦ યોજન
નંદનવન ૫૦૦ યોજન

૪૯૪ યોજન પહોળું પંડગવન.

૧૦૦૦ યોજન
પહોળું પંડગવન

સોમનસ વનથી
૩૬૦૦૦ યોજન ઉપર
પંડગ વન

૪૨૭૨ યોજન પહોળું
સોમનસ વન

૫૦૦ યોજન પહોળું
સોમનસ વન

નંદનવનથી ૬૨૫૦૦ યોજન ઊંચું
ઉપર સોમનસ વન

શનિ ૩ યોજન
મંગળ ૩ યોજન
બૃહસ્પતિ ૩ યોજન
શુક્ર ૩ યોજન
બુધ ૪ યોજન
નક્ષત્ર ૪ યોજન
ચંદ્ર ૮૦ યોજન
રાહુ
સૂર્ય ૧૦ યોજન
કેતુ
તારામંડળ

૯૯૫૪ $\frac{6}{11}$ યોજન પહોળું
નંદનવન

૫૦૦ યોજન
ભદ્રશાલ વનઃ

૫૦૦ યોજન
નંદનવનઃ

સમભૂમિપર ૧૦૦૦૦ યોજન પહોળું
ભદ્રશાલવન

ભદ્રશાલ વન
પૂર્વ પશ્ચિમ
૨૨૦૦૦ યોજન
લાંબુ

ભૂમિ અંદર ૧૦૦૯૦ $\frac{10}{11}$
યોજન પહોળું

ઉત્તર દક્ષિણ
૨૫૦ યોજન
પહોળું

मेरुपर्वत पर चार वन हैं—(१) पृथ्वी पर चारों गजदन्त पर्वतों और सीता-सीतोदा नदियों से आठ विभागों सहित, पूर्व-पश्चिम में २२००० योजन लम्बा और उत्तर-दक्षिण में २५० योजन चौड़ा भद्रशाल नामक प्रथम वन है (२) यहाँ से ५०० योजन ऊपर मेरुपर्वत के चारों ओर वलयाकार (चूड़ी के आकार का गोल), पाँच सौ योजन चौड़ा दूसरा नन्दन वन है (३) यहाँ से ३५०० योजन ऊपर मेरुपर्वत के चारों ओर वलयाकार का फिरता हुआ, ५०० योजन चौड़ा तीसरा सौमनसवन है और (४) यहाँ से ३६००० योजन ऊपर, मेरु के चारों ओर वलयाकार ४६४ योजन चौड़ा चौथा पाण्डुक वन है। इस पाण्डुक वन के चारों दिशाओं में अर्जुन (श्वेत) सुवर्णमय, अर्धचन्द्राकार, चार शिलाएँ हैं। उनके नाम यह हैं—पूर्व में पाण्डुकशिला, पश्चिम में रक्तशिला, दक्षिण में पाण्डुकम्बल (कवन) शिला और उत्तर में रक्तपाण्डुकम्बल शिला। पहली और दूसरी शिला पर दो-दो सिंहासन हैं, जिन पर जम्बूद्वीप के पूर्व और पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में जनमे हुए तीर्थङ्करों का और उत्तर दिशा की शिला पर ऐरावत क्षेत्र में जनमे तीर्थङ्करों का जन्मोत्सव मनाया जाता है।* इस वन के बीच में ४० योजन ऊँची, नीचे १२ योजन चौड़ी, मध्य में ८ योजन चौड़ी और अन्त में ४ योजन चौड़ी वैडूर्य (हरे) रत्नमय एक चूलिका (शिखर के समान डूँगरी) है।

जम्बूद्वीप का वर्णन



पृथ्वी पर मेरु पर्वत के चारों ओर थाली के आकार का, पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक १००००० योजन का लम्बा-चौड़ा गोलाकार जम्बूद्वीप नामक द्वीप है। जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से ४५००० योजन दक्षिण दिशा में, विजय द्वार के अन्दर 'भरत' नामक क्षेत्र है। भरत क्षेत्र विजय द्वार से क्षुद्र (चूल) हिमवंत पर्वत तक सीधा, ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन

* उक्त चारों शिलाएँ पाँच-पाँच सौ योजन लम्बी और ढ़ाई-ढ़ाई सौ योजन चौड़ी है। सिंहासन पाँच-पाँच सौ धनुष के विस्तार वाले और ढ़ाई-ढ़ाई सौ धनुष के ऊँचे हैं।

(६ कला)+ का विस्तार वाला है। भरत क्षेत्र के मध्य में, पूर्व-पश्चिम में १०७२०$\frac{12}{19}$ योजन (१२ कला) का लम्बा उत्तर-दक्षिण में ५० योजन चौड़ा, २५ योजन ऊँचा, ६। योजन पृथ्वी के भीतर गहरा, रजतमय वैताढ्य पर्वत है। इस पर्वत में ५० योजन लम्बी (आरपार), १२ योजन चौड़ी और ८ योजन ऊँची घोर अन्धकार से व्याप्त दो गुफाएँ हैं—पूर्व में खण्डगुफा और पश्चिम में तमसगुफा। इन गुफाओं के मध्य में भित्ति से निकली हुई और तीन-तीन योजन जाकर गङ्गा एवं सिंधु में मिली दो नदियाँ हैं। उनके नाम—उद्गमजला और निमग्नजला हैं।×

पृथ्वी से दस योजन की उँचाई पर वैताढ्य पर्वत पर १० योजन चौड़ी और वैताढ्य पर्वत के बराबर लम्बी दो विद्याधरश्रेणियाँ हैं। दक्षिण की श्रेणी में गगनवल्लभ आदि ५० नगर हैं और उत्तर श्रेणी में रथानुपुर चक्रवाल आदि ६० नगर हैं। इनमें रोहिणी, प्रज्ञप्ति गगनगामिनी आदि हजारों विद्याओं के धारक विद्याधर (मनुष्य) रहते हैं। वहाँ से १० योजन ऊपर इसी प्रकार की दो श्रेणियाँ और हैं। वह आभियोग्य देवों की हैं। वहाँ प्रथम देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्रजी के द्वारपाल—(१) पूर्व दिशा के स्वामी सोम महाराज (२) दक्षिण दिशा के स्वामी यम महाराज (३) पश्चिम दिशा के स्वामी वरुण महाराज और (४) उत्तर दिशा के स्वामी वैश्रवण महाराज के आज्ञापालक और (१) अन्न के रक्षक अन्नजृम्भक (२) पानी के रक्षक पानजृम्भक (३) सुवर्ण आदि धातुओं के रक्षक लयनजृम्भक (४) मकान के रक्षक शयनजृम्भक (५) वस्त्र के रक्षक वस्त्रजृम्भक (६) फलों के रक्षक फलजृम्भक (७) फूलों के रक्षक फूलजृम्भक (८) साथ रहे हुए फलों और फूलों के रक्षक फल-फूलजृम्भक (९) पत्र-भाजी के रक्षक अविपतजृम्भक और (१०) बीच-धान्य के रक्षक बीजजृम्भक—इन दस प्रकार के देवों के आवास हैं। यह देव अपने-अपने नाम के अनुसार वाणव्यन्तर देवों से अन्न-पानी

+ एक योजन के दसवें भाग को कला कहते हैं।

× उमगजला नदी में कोई सजीव या निर्जीव वस्तु पड़ जाय तो उसे वह तीन बार घुमा-फिरा कर बाहर फेंक देती है और निमग्नजला वस्तु को तीन बार घुमा कर पाताल में बैठा देती है।

आदि उक्त वस्तुओं की रक्षा करने के लिए प्रातः मध्याह्न और सायंकाल फेरी लगाने निकलते हैं।

उक्त आभियोग्य श्रेणी÷ से ५ योजन ऊपर, १० योजन चौड़ा और पर्वत के बराबर लम्बा वैताढ्य पर्वत का शिखर है। यहाँ ६। योजन ऊँचे अलग-अलग नौ कूट (डूँगरी) हैं। यहाँ महान् ऋद्धि के धारक और वैताढ्य पर्वत के स्वामी वैताढ्यगिरिकुमार रहते हैं।

भरत क्षेत्र के मध्य में वैताढ्य पर्वत आ जाने से भरतक्षेत्र के दो भाग हो गये हैं। इन भागों को दक्षिणार्धभरत और उत्तरार्धभरत कहते हैं। उत्तर में भरतक्षेत्र की हद पर चुल्ल हिमवान् पर्वत है। इस पर्वत पर 'पद्म' नामक एक द्रह है। पद्मद्रह के पूर्व द्वार से गङ्गा और पश्चिम द्वार से सिन्धु नामक दो नदियाँ वैताढ्यपर्वत के नीचे से निकल कर लवणसमुद्र में मिलती हैं। इस प्रकार वैताढ्यपर्वत और गङ्गा एवं सिन्धु नदी के कारण भरतक्षेत्र के छह विभाग हो गये हैं, जिन्हें 'षट्खण्ड' कहते हैं।

जम्बूद्वीप के पूर्व दिशा के विजय द्वार के नीचे के नाले से लवणसमुद्र का पानी भरत क्षेत्र में आता है। इस कारण नौ योजन विस्तार वाली खाड़ी है। उसके तट पर तीन देव-स्थान हैं—(१)पूर्व में मागध (२) मध्य में वरदाम और (३) दक्षिण में प्रभास। तीर पर होने से इन्हें तीर्थ कहते हैं।

पश्चिम में खाड़ी, पूर्व में वैताढ्यपर्वत, दक्षिण में गङ्गा नदी और उत्तर में सिन्धु नदी—इन चारों के मध्य बीच के स्थल में ११४$\frac{11}{16}$ (११ कला) के अन्तर से १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी अयोध्या नगरी है।*

वैताढ्यपर्वत से उत्तर में, चुल्लहिमवन्त पर्वत से दक्षिण में, गङ्गा नदी से पूर्व में और सिन्धु नदी से पश्चिम में, बीचोंबीच १२ योजन ऊँचा, गोलाकार ऋषभकूट नामक पर्वत है। जब चक्रवर्त्ती महाराज भरतक्षेत्र के छहों खण्डों

÷ पर्वत पर फिरने योग्य खुली जगह को श्रेणी कहते हैं।

* वृद्ध पुरुषों का कथन है कि अयोध्या नगरी की जगह, जमीन में शाश्वत वज्रमय स्वस्तिक का चिह्न अङ्कित है। कर्मभूमियों की उत्पत्ति के समय इन्द्र महाराज उस स्थान पर नगर बसाते हैं।

पर विजय प्राप्त करने के लिए निकलते हैं तब इस पर्वत पर वे अपना नाम अंकित कर देते हैं।

जम्बूद्वीप की उत्तरदिशा के विजय नामक द्वार के अन्दर ठीक भरत क्षेत्र के समान ही ऐरावत क्षेत्र है। इसमें भेद यही है कि इसमें रक्ता और रक्तवती नामक दो नदियाँ हैं, जबकि भरतक्षेत्र की नदियों के नाम गङ्गा और सिन्धु बतलाये जा चुके हैं।

मेरुपर्वत से दक्षिण में, भरतक्षेत्र की सीमा पर १०० योजन ऊँचा, २५ योजन जमीन में गहरा, २४९२५ योजन लम्बा, १०५२$\frac{12}{16}$ योजन (१६ कला) चौड़ा, पीत-स्वर्ण-वर्ण का चुल्ल हेमवन्त नामक पर्वत है। इसके ऊपर ११ कूट हैं। प्रत्येक कूट पाँच-पाँच सौ योजन ऊँचे हैं। पर्वत के मध्य में १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और १० योजन गहरा पद्मद्रह (कुण्ड) है। इस कुण्ड में रत्नमय कमल है, जिस पर श्रीदेवी सपरिवार रहती है। इस पद्मद्रह से तीन नदियाँ निकली हैं। जिनमें गंगा नदी और सिन्धु नदी भरतक्षेत्र में होकर, चौदह-चौदह हजार नदियों के परिवार के साथ पूर्व और पश्चिम के लवणसमुद्र में जाकर मिल गई हैं। तीसरी रोहितास्या नदी पद्मद्रह के उत्तर द्वार से निकल कर हैमवत क्षेत्र में होती हुई, २८००० नदियों के परिवार के साथ पश्चिम के लवण समुद्र में जाकर मिल गई है।

मेरुपर्वत से उत्तर में ऐरावत क्षेत्र की मर्यादा करने वाला, चुल्ल हिमवान् पर्वत के समान ही शिखरि नामक पर्वत है। जैसे चुल्ल हिमवान् पर्वत पर पद्मद्रह है, उसी प्रकार शिखरि पर्वत पर पुण्डरीक द्रह है, जिस पर लक्ष्मीदेवी सपरिवार रहती है। पुण्डरीक द्रह से भी तीन नदियाँ निकलती हैं। इनमें से रक्ता और रक्तवती नामक दो नदियाँ उत्तर की ओर ऐरावत क्षेत्र में होकर, चौदह-चौदह हजार नदियों के परिवार से पूर्व और पश्चिम के लवण समुद्र में जा मिली हैं। और तीसरी सुवर्णकूला नदी दक्षिण तरफ हैरण्यवत क्षेत्र में होकर २८००० नदियों के परिवार के साथ पूर्व के लवण समुद्र में जाकर मिल गई है।

मेरु से दक्षिण में चुल्ल हिमवान् पर्वत के पास, पूर्व-पश्चिम ३७,६७४$\frac{16}{19}$ योजन (१६ कला), उत्तर के किनारे की तरफ लम्बा और उत्तर से दक्षिण २१५५$\frac{5}{19}$ योजन (५ कला) चौड़ा हैमवत क्षेत्र है। इसमें रहने वाले जुगलिया मनुष्यों का शरीर सोने के समान पीला दमकता है। यहाँ सदैव तीसरे आरे के प्रथम भाग जैसी रचना-अवस्था रहती है। इस क्षेत्र के मध्य में, रोहित और रोहितास्या नदियों के बीच में, १००० योजन ऊँचा और १००० योजन चौड़ा 'शब्दापाती' नामक वृत्त (गोल) वैताढ्य पर्वत है।

मेरुपर्वत से उत्तर में, शिखरि पर्वत के पास हैमवत क्षेत्र के समान हैरण्यवत क्षेत्र है। उसमें रहने वाले जुगलिया मनुष्यों का शरीर चांदी के समान श्वेत दमकता है। इसके मध्य में शब्दापाती वैताढ्य जैसा ही 'विकटापाती' नामक गोलाकार वैताढ्य पर्वत है।

मेरुपर्वत से दक्षिण में, हैमवत क्षेत्र के पास उत्तर दिशा में २०० योजन ऊँचा ५० योजन जमीन में गहरा, पूर्व-पश्चिम में ५४९२९$\frac{16}{19}$ (१६ कला) लम्बा, उत्तर-दक्षिण में ४२१०$\frac{10}{19}$ योजन (१० कला) चौड़ा 'महाहिमवान्' पर्वत पीला स्वर्णमय है। इस पर पाँच-पाँच सौ योजन के आठ कूट हैं। इसके मध्य में २००० योजन लम्बा, १००० योजन चौड़ा, १० योजन गहरा 'महापद्म' द्रह है। इसमें रत्नमय कमलों पर ह्रीदेवी सपरिवार रहती है। इस द्रह में से दो नदियाँ निकलती हैं। रोहित नदी दक्षिण की तरफ और हैमवत क्षेत्र के मध्य में होती हुई २८००० नदियों के परिवार से, पूर्व के लवणसमुद्र में मिली है और हरिकान्ता नदी उत्तर की ओर, हरिवास क्षेत्र में होती हुई ५६००० नदियों के परिवार के साथ लवणसमुद्र में जा मिली है।

मेरु पर्वत से उत्तर में एरण्यवन्त क्षेत्र के पास, महा हिमवन्त रुक्मि पर्वत जैस ही 'रूपी पर्वत' रूपे का है, इसके मध्य में महापद्म द्रह जैसा ही 'महापुंडरीक' द्रह है। इस में रत्नमय कमल पर 'बुद्धि' देवी सपरिवार रहती है। इसमें से दो नदियाँ निकली हैं—(१) रूप्यकूला नदी उत्तर की ओर एरण्यवय क्षेत्र के मध्य में हो, २८००० नदियों के परिवार से, पश्चिम के लवण समुद्र में जा मिली है और (२) 'नरकांता' नदी, दक्षिण की ओर

रम्यकवास क्षेत्र के मध्य में हो ५६००० नदी के परिवार से पूर्व के लवण समुद्र में जाकर मिली है।

मेरुपर्वत से दक्षिण दिशा में महाहिमवान पर्वत के पास, उत्तर दिशा में, पूर्व-पश्चिम ७३६०१$\frac{11}{19}$ योजन (१७ कला), उत्तर-दक्षिण में ८४२१$\frac{1}{19}$ योजन (१ कला) हरिवास क्षेत्र है। इसमें रहने वाले युगलियों का शरीर पन्ना के समान हरा है। यहाँ दूसरे आरे के समान रचना (हालत-अवस्था) सदैव रहती है। इसके मध्य 'विकटपाती' नामक वृत्त वैताढ्य पर्वत है।

मेरु के उत्तर में, रुक्मि पर्वत के पास दक्षिण में हरिवास क्षेत्र के समान ही रम्यकवास क्षेत्र है। विशेषता यह है कि रम्यकवास के युगलियों का शरीर बड़ा ही रमणीक है। इसके मध्य में गन्धपाति नामक वृत्ताकार वैताढ्य पर्वत है।

मेरु से दक्षिण में, हरिवास क्षेत्र के निकट उत्तर में पृथ्वी से ४०० योजन ऊँचा, १०० योजन जमीन में गहरा, पूर्व-पश्चिम में ९४१५६$\frac{2}{19}$ योजन (२ कला) लम्बा, उत्तर-दक्षिण में १६८४२ योजन चौड़ा माणिक के समान रक्तवर्ण वाला, 'निषध' पर्वत है। इसके ऊपर नौ कूट हैं और मध्य में ४००० योजन लम्बा, २००० योजन चौड़ा और १० योजन गहरा 'तिगिंछ' नामक द्रह है। इसके मध्य रत्नमय कमलों पर धृतिदेवी सपरिवार रहती है। इस द्रह से दो नदियाँ निकलती हैं—हरिसलीला और सीतोदा। हरिसलीला नदी दक्षिण की ओर हरिवास क्षेत्र के मध्य में होती हुई ५६००० नदियों के परिवार के साथ पूर्व के लवणसमुद्र में मिलती है। सीतोदा नदी उत्तर की तरफ देवकुरु क्षेत्र के चित्र-विचित्र पर्वत के मध्य में होती हुई (१) निषध, (२) देवकुरु (३) सूर (४) सुलस और (५) विद्युत्—इन पाँचों* द्रहों के मध्य में से निकल कर, भद्रशाल वन में होती हुई मेरु पर्वत से दो योजन की दूरी पर बहती हुई, विद्युत्प्रभ गजदन्त पर्वत के

* इन द्रहों के पास दस-दस पूर्व में और दस-दस पश्चिम में, इस प्रकार कुल बीस-बीस पर्वत हैं। पाँचों द्रहों के कुल १०० पर्वत दक्षिण दिशा में और १०० ही पर्वत उत्तर दिशा में हैं।

नीचे से पश्चिम की ओर मुड़कर, पश्चिम महाविदेह क्षेत्र के दो भाग करती हुई, एक-एक विजय में से अट्ठाईस अट्ठाईस हजार नदियों को साथ लेती हुई ५३२००० नदियों के परिवार से परिवृद्ध होकर पश्चिम लवण-समुद्र में मिलती है।

निषधपर्वत के पास उत्तर में ३०२०९ योजन लम्बे निषध पर्वत के पास ४०० योजन ऊँचे, ५०० योजन चौड़े, आगे क्रम से उँचाई में बढ़ते हुए और चौड़ाई में घटते-घटते मेरु पर्वत के पास ५०० योजन ऊँचे, अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने चौड़े, हाथी के दाँत के समान बाँके आकार वाले दो गजदन्त पर्वत हैं। यथा—(१) पश्चिम में तप्तसुवर्ण जैसे वर्ण वाला विद्युत्प्रभ गजदन्त पर्वत है और (२) पूर्व में हीरे के समान श्वेत वर्ण वाला सौमनस गजदन्त पर्वत है। इन दोनों पर्वतों पर अलग-अलग ९ और ७ कूट हैं।

मेरुपर्वत की उत्तर दिशा में, रम्यकवास क्षेत्र के पास, दक्षिण में बतलाये हुए निषध पर्वत जितना, नीलम के समान वर्ण वाला नीलवन्त पर्वत है। इसके मध्य में तिगिंछ द्रह के बराबर केसरिद्रह है। उसमें रत्नमय कमलों पर कीर्त्तिदेवी* सपरिवार निवास करती है। इस द्रह में से दो नदियाँ निकली हैं—नारीकान्ता और सीता। नारीकान्ता नदी उत्तर की तरफ रम्यकवास क्षेत्र के मध्य में होकर ५६००० नदियों के परिवार के साथ पश्चिम लवण समुद्र में जाकर मिलती हैं। सीता नदी दक्षिण तरफ उत्तर कुरुक्षेत्र और झमक-समक पर्वत के मध्य में होकर तथा (१) नीलवन्त (२) उत्तर कुरु, (३) चन्द्र (४) ऐरावत और (५) माल्यवन्त—इन पाँचों द्रहों के मध्य में होकर, भद्रशाल वन के मध्य में वहती हुई मेरु से दो योजन दूर

* द्रहों के मध्य में रहने वाली भवनपति देवियों की आयु एक पल्योपम की है। उनके ४००० हजार सामानिक देव हैं, १६००० आत्मरक्षक देव हैं, ८००० आभ्यन्तर परिषद् के देव हैं, १०००० मध्य परिषद् के देव हैं, १२००० बाह्य परिषद् के देव हैं, ७ अनीकनायक देव हैं, ४ महत्तरी देवियाँ हैं, १२००००० आभियोग्य देव हैं। इन सबके रहने के लिए अलग-अलग रत्नमय कमल हैं और १०८ भूषण रखने के कमल हैं। इस प्रकार सब १२०५०१२० कमल हैं, जिन पर रत्नमय भवन हैं।

माल्यवन्त गजदन्त के नीचे होकर, पूर्व दिशा की तरफ मुड़कर, पूर्व महाविदेह को दो भागों में विभक्त करती हुई पूर्वोक्त प्रकार से ५३२००० नदियों के परिवार के साथ पूर्व लवण समुद्र में जाकर मिल जाती है।

उक्त नीलवन्त पर्वत के भी दक्षिण में, उक्त प्रकार के गजदन्त जैसे वक्र दो गजदन्त पर्वत हैं—माल्यवन्त और गन्धमादन। माल्यवन्त पूर्व में पन्ना के समान हरित वर्ण वाला है और गन्धमादन सुवर्ण के समान पीत वर्ण वाला है।

मेरुपर्वत से दक्षिण में, निषध पर्वत के पास उत्तर में विद्युत्प्रभ और सौमनस गजदन्त पर्वत के मध्य में, ११८४२$\frac{2}{16}$ योजन (२ कला) चौड़ा, ५३००० योजन लम्बा, अर्धचन्द्राकार देवकुरु क्षेत्र है। इसमें सदैव पहले आरे जैसी रचना रहती है। देवकुरु क्षेत्र में ८॥ योजन ऊँचा रत्नमय जम्बू-वृक्ष है। इस पर जम्बूद्वीप का अधिष्ठाता महाऋद्धि का धारक अणाढी नामक देव रहता है।

मेरुपर्वत के उत्तर में, नीलवन्त पर्वत के पास दक्षिण में, दोनों गजदन्त पर्वतों के बीच में, देवकुरु क्षेत्र के समान ही 'उत्तरकुरु' क्षेत्र है। वहाँ जम्बूवृक्ष के समान ही शाल्मलि वृक्ष है।+

+ मेरु पर्वत से दक्षिण-उत्तर के एक लाख योजन का हिसाब:—

मेरुपर्वत	१००००	योजन	महाहिमवान् पर्वत	४२१०$\frac{१०}{१९}$	योजन
दक्षिण का भद्रशाल वन	५००	,,	रुक्मि पर्वत	४२१०$\frac{१०}{१९}$	,,
उत्तर का भद्रशाल वन	५००	,,	हैमवत क्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१९}$	,,
देवकुरु क्षेत्र	११८४२$\frac{२}{१९}$	,,	हैरण्यवत क्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१९}$	,,
उत्तर कुरुक्षेत्र	११८४२$\frac{२}{१९}$	,,	चुल्लहिमवान् पर्वत	१०५२$\frac{१२}{१९}$	,,
निषध पर्वत	१६८४२	,,	शिखरि पर्वत	१०५२$\frac{१२}{१९}$	,,
नीलवन्त पर्वत	१६८४२	,,	भरत क्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$	,,
हरिवास क्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$	,,	ऐरावत क्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$	,,
रम्यकवास क्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$	,,	कुल जोड़	१०००००	

महाविदेह क्षेत्र



मेरुपर्वत से पूर्व और पश्चिम में भद्रशाल वन आदि सबको मिला कर १००००० योजन लम्बा, उत्तर और दक्षिण में निषध और नीलवन्त पर्वतों के मध्य में ३३६३४ योजन चौड़ा महाविदेह क्षेत्र है। इस क्षेत्र में सदैव चौथे आरे के समान र ना रहती है।

महाविदेह क्षेत्र के बीचोंबीच मेरुपर्वत के आ जाने से, इसके दो विभाग हो गये हैं, जिन्हें पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह कहते हैं। पूर्व महाविदेह के मध्य में सीता नदी और पश्चिम महाविदेह के मध्य में सीतोदा नदी के आ जाने से एक-एक के फिर दो-दो विभाग हो गये हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र के चार भाग हो गये हैं। इन चारों विभागों में आठ-आठ विजय हैं, अतः महाविदेह क्षेत्र में ८×४=३२ विजय हैं।

मेरुपर्वत से पूर्व में और पश्चिम में बाईस-बाईस हजार योजन का भद्रशाल वन है, जिसके पास नीलवन्त पर्वत से दक्षिण में, चित्रकूट वक्षकार पर्वत से पश्चिम में, माल्यवन्त गजदन्त पर्वत से पूर्व में, सीता महानदी से उत्तर में १६५६२$\frac{2}{19}$ योजन (२ कला) उत्तर-दक्षिण में लम्बी और २२१२$\frac{7}{8}$ योजन पूर्व-पश्चिम में चौड़ी पहली कच्छविजय है। इस विजय के मध्य में पूर्व-पश्चिम में विजय के ही बराबर (२२१२$\frac{7}{8}$ योजन) लम्बा, २५ योजन ऊँचा, ५० योजन चौड़ा, भरत क्षेत्र के वैताढ्य पर्वत जैसा ही वैताढ्य पर्वत है। विशेषता यह है कि इसकी उत्तर-दक्षिण की दोनों श्रेणियों पर विद्याधरों के ५५ नगर हैं। इस वैताढ्य पर्वत के उत्तर में, नीलवन्त पर्वत के नितम्ब में (पास में), ८ योजन ऊँचा ऋषभकूट है। इस पर कच्छविजय के चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करते हैं। इस ऋषभकूट से पूर्व में गंगा नामक कुण्ड है और पश्चिम में सिन्धु नामक कुण्ड है। यह दोनों ही कुण्ड ६० योजन के लम्बे-चौड़े गोल हैं। इन दोनों कुण्डों में से गंगा और सिन्धु नदी निकल कर, वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं के नीचे होकर, चौदह-

चौदह हजार नदियों के परिवार से सीता नदी में जाकर मिली है। इससे कच्छविजय के छह खण्ड हो गये हैं। वैताढ्य पर्वत से दक्षिण में, गंगा और सिन्धु नदी के बीच में क्षेमा नगरी राजधानी है। इसमें भरत क्षेत्र के चक्रवर्त्ती जैसे ही कच्छ-चक्रवर्त्ती होते हैं और वे छह खण्डों पर शासन करते हैं। इस कच्छविजय के पास पूर्व-पश्चिम में १६५९२$\frac{2}{19}$ योजन लम्बा, नीलवन्त पर्वत के पास ४०० योजन ऊँचा और आगे क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता हुआ सीता नदी के पास ५०० योजन ऊँचा चित्रकूट वक्षकार (विजय की सीमा निर्धारित करने वाला) पर्वत है। इस पर चार कूट हैं। इसके पास कच्छविजय के समान ही दूसरी सुकच्छविजय है। इसमें 'क्षेमंपुरा' नामक राजधानी है, जिसके पास नीलवन्त पर्वत के समीप ग्राहावती कुण्ड से निकली हुई, आदि से अन्त तक एक-सी १२५ योजन चौड़ी और २८ योजन गहरी नहर सरीखी ग्राहावती नदी है। यह सीता नदी में जाकर मिली है। इसके पास पूर्व में, कच्छविजय जैसी ही तीसरी महाकच्छविजय है। इसके पास चित्रकूट वक्षकार पर्वत के समान ब्रह्मकूट वक्षकार पर्वत है। इसके पास चौथी कच्छावतीविजय है। इसमें अरिष्टवती राजधानी है। कच्छावती विजय के पास ग्राहावती नदी जैसी द्रहवती नदी है। इसके पास पाँचवीं आवर्त्त विजय है। इसमें पंकावती राजधानी है। इसके पास नलिन-कूट वक्षकार पर्वत है। इसके पास छठी मंगलावर्त्त विजय है, जिसमें मंजूषा राजधानी है। इसके पास हैंगवती नदी है, जिसके पास सातवीं पुष्कर विजय है। इसमें ऋषभपुरी राजधानी है, जिसके पास एक शैलकूट वक्षकार पर्वत है। इसके पास आठवीं पुष्कलावती विजय है। इसके पास पूर्व में विजय के बराबर १६५९$\frac{2}{19}$ योजन पूर्व-पश्चिम लम्बा, दक्षिण में सीता नदी के पास २९२२ योजन चौड़ा, उत्तर में क्रम से घटता-घटता नीलवन्त पर्वत के पास $\frac{1}{19}$ जितना चौड़ा 'सीतामुख' वन है। इसके पास पूर्व में जम्बूद्वीप का विजय द्वार है।

जम्बूद्वीप के विजयद्वार के अन्दर, सीता नदी से दक्षिण दिशा में, पूर्वोक्त सीतामुख वन जैसा ही दूसरा सीतामुख वन है। विशेषता यह है कि यह वन निषधपर्वत के पास $\frac{1}{19}$ योजन चौड़ा है। इसके पास मेरुपर्वत की

ओर पश्चिम में नौवीं 'वत्सा' विजय है। इसकी राजधानी 'सुसीमा है। इसके पास चित्रकूट वक्षकार पर्वत है, जिसके पास सुवत्सा विजय है। इसकी राजधानी कुण्डला है। इसके पास 'तप्ततीरा' नदी है। इसके पास ग्यारहवीं 'महावत्सा' विजय है। इसकी राजधानी 'अमरावती' है। इसके पास 'वैश्रमण' वक्षकार पर्वत है। इसके पास बारहवीं विजय 'वत्सावर्त्त' है। इसकी राजधानी प्रभंकरा है। इसके पास 'मत्तान्तरी' नदी है, जिसके पास तेरहवीं विजय 'रम्य' है। इसकी पद्मावती राजधानी है। इसके पास 'उन्मत्तानीरा' नदी है। इसके पास पन्द्रहवीं 'रमणी' विजय है, जिसकी राजधानी का नाम 'शुभा' है। इसके पास मातंजन कूट वक्षकार पर्वत है। इसके पास सोलहवीं 'मंगलावती' विजय है, जिसमें रत्नसंचया राजधानी है। इसके पास २२००० योजन का भद्रशाल वन आ गया है।

यह मेरुपर्वत से पूर्व दिशा के महाविदेह क्षेत्र की १६ विजयों का वर्णन है।

मेरुपर्वत से पश्चिम में, निषध पर्वत के उत्तर में, सीतोदा नदी से दक्षिण में,विद्युत् गजदन्त पर्वत के पास सत्तरहवीं 'पद्म' विजय है। इसकी राजधानी 'अश्वपुरी' है। इसके पास 'अंकावती' वक्षकार पर्वत है। इसके पास अठारहवीं 'सुपद्म' विजय है। इसकी राजधानी 'सिंहपुरा' है। इसके पास क्षीरोदा नदी है, जिसके पास उन्नीसवीं 'महापद्म' विजय है। इसकी राजधानी 'महापुरा' है। इसके पास पद्मावती वक्षकार पर्वत है। इसके पास 'पद्मावती' नामक बीसवीं विजय है, जिसकी राजधानी 'विजयपुरा' है। इसके पास शीतस्रोता नदी है। इसके पास इक्कीसवीं 'शङ्ख' विजय है। इसकी राजधानी अपराजिता है। इसके पास 'असीविष' वक्षकार पर्वत है। इसके पास बाईसवीं 'नलिन' विजय है। इसकी राजधानी 'अरजा' है। इसके पास अन्तर्वाहिनी नदी है। इसके पास 'कुमुद' विजय है, जिसकी राजधानी का नाम 'अशोका' है। इसके पास 'सुखवाह' वक्षकार पर्वत है और इस पर्वत के पास चौबीसवीं 'नलिनावती' विजय* है। इसकी राजधानी 'वीतशोका' है।

* चौबीसवीं नलिनावती विजय क्रम से उतरती हुई मध्य में १००० योजन गहरी है।

इसके पास 'सीतामुख' वन सरीखा ही 'सीतोदामुख' वन है और इसके पास जम्बूद्वीप का पश्चिम का जयन्त द्वार है।

जयन्त द्वार के अन्दर सीतोदा नदी से उत्तर दिशा में भी वैसा ही 'सीतोदामुख' वन है। इसके पास पूर्व में (मेरु की तरफ) पच्चीसवीं विजय 'वप्रा' है। इसमें विजया राजधानी है। इसके पास चन्द्रकूट वक्षकार पर्वत है। उसके पास छब्बीसवीं 'सुवप्रा' विजय है। 'वैजयन्ती' उसकी राजधानी है। उसके पास 'ऊर्मिमालिनी' नदी है। उसके पास सत्ताईसवीं 'महावप्रा' विजय है। उसकी राजधानी 'जयन्ती' है। उसके पास 'सूरकूट' वक्षकार पर्वत है। उसके पास अट्ठाईसवीं 'वप्रावती' विजय है। उसकी राजधानी 'अपराजिता' है। उसके पास 'फेनमालनी' नदी है और उसके पास उनतीसवीं 'वल्गु' विजय है। इसकी राजधानी 'चक्रपुरा' है। उसके पास 'नागकूट' वक्षकार पर्वत है। इस पर्वत के पास तीसवीं 'सुवल्गु' विजय है। इसकी राजधानी 'खड्गी' है। उसके पास गम्भीरमालिनी' नदी है। इसके पास इकतीसवीं 'गंधिला' विजय है। इसकी राजधानी 'अवध्या' है। इसके पास देवकूट वक्षकार पर्वत है। उसके पास बत्तीसवीं 'गंधिलावती' विजय है। इसकी राजधानी 'आउजला' है। इसके पास मेरु का भद्रशाल वन और गन्धमादन गजदन्त पर्वत है।

सभी विजय पूर्वोक्त कच्छ विजय के समान हैं, सब वक्षकार पर्वत चित्रकूट पर्वत के समान हैं और सभी नदियाँ गाथापति नदी के समान हैं। इस प्रकार महाविदेह क्षेत्र के पूर्व से पश्चिम तक १००००० योजन का वर्णन हुआ।❀

+ मेरु पर्वत से पूर्व-पश्चिम के १००००० योजन का हिसाबः—

प्रत्येक विजय २२१२⅞ योजन की है तो सोलह विजय के	योजन	३५४०६
प्रत्येक वक्षकार ५०० योजन का है तो आठ वक्षकार के	योजन	४०००
प्रत्येक अन्तर नदी १२५ योजन की है तो छह नदियों के	योजन	७५०
प्रत्येक सीतामुखवन २९२२ योजन का है तो दो वनों के	योजन	५८४४
प्रत्येक भद्रशाल वन २२००० योजन का है तो दो वनों के	योजन	४४०००
मध्य में मेरु पर्वत	योजन	१००००
	कुल योजन	१०००००

जम्बूद्वीप के चारों ओर घिरी हुई, ८ योजन ऊँची, नीचे १२ योजन चौड़ी, मध्य में ८ योजन चौड़ी, और ऊपर ४ योजन चौड़ी, ३,१६,२,२७ योजन, ३ कोस, १२८ धनुष, १३॥ अङ्गुल, कुछ अधिक घेराव में, जगती (जम्बूद्वीप का कोट) है। इसके चारों दिशाओं में, ८ योजन ऊँचे और ३ योजन चौड़े, ४ द्वार (दरवाजे) हैं, जिनके नाम—(१) पूर्व में विजय द्वार (२) दक्षिण में वैजयन्त द्वार (३) पश्चिम में जयन्त द्वार और (४) उत्तर में 'अपराजित' द्वार है।

लवणसमुद्र का वर्णन



जम्बूद्वीप की जगती के बाहर, वलय (चूड़ी) के आकार का, चारों ओर से जम्बूद्वीप को घेरे हुए २००००० योजन विस्तार वाला लवणसमुद्र है। वह किनारे पर तो बाल के अग्रभाग जितना ही गहरा है, किन्तु आगे क्रम से उसकी गहराई बढ़ती चली गई है। ९५००० योजन आगे जाने पर १००० योजन की चौड़ाई में १००० योजन गहराई है। फिर गहराई कम होने लगती है और क्रम से घटती-घटती धातकीखण्ड द्वीप के समीप बालाग्र जितना ही गहरा रह गया है।

पूर्वोक्त जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र से उत्तर में स्थित चुल्लहिमवान् पर्वत के पूर्व और पश्चिम में—दोनों तरफ हाथी के दाँत के समान वक्र दो-दो दाढ़ें लवणसमुद्र में गई हैं। एक-एक दाढ़ दक्षिण की ओर मुड़ी हुई है और एक-एक उत्तर की ओर। इन चारों दाढ़ों पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। जम्बूद्वीप की जगती से ३०० योजन आगे चल कर ३०० योजन विस्तार वाले (गोलाकार)—(१) रुचक (२) आभाषिक (३) वैषाणिक (४) लांगुली नामक चार द्वीप हैं। इनके आगे चार-चार सौ योजन दूर चल कर चार-चार सौ योजन विस्तार वाले—(१) हयकर्ण (२) गजकर्ण (३) गोकर्ण और (४) शष्कुलीकर्ण नामक चार द्वीप हैं। इनके आगे ५०० योजन चल कर पाँच-पाँच सौ योजन लम्बे-चौड़े—(१) आदर्शमुख (२) मेढमुख (३) अयोमुख और (४) गोमुख नामक चार द्वीप हैं। इनके आगे छह सौ योजन

चल कर छह-छह सौ योजन लम्बे-चौड़े—(१) हयमुख (२) गजमुख (३) हरिमुख और (४) व्याघ्रमुख नामक चार द्वीप हैं। इनसे सात सौ योजन आगे सात-सात सौ योजन लम्बे-चौड़े—अश्वकर्ण (२) सिंहकर्ण (३) अकर्ण और (४) कर्णप्रावरण नामक चार द्वीप हैं। इनसे आठ सौ योजन आगे आठ-आठ सौ योजन लम्बे-चौड़े—(१) उल्कामुख (२) मेघमुख (३) विद्युन्मुख और (४) अमुख नामक चार द्वीप हैं। इनसे नौ सौ योजन आगे नौ-नौ सौ योजन लम्बे-चौड़े (१) वनदन्त (२) लष्टदन्त (३)]गूढ़दन्त और (४) शुद्धदन्त नामक चार द्वीप हैं। यह सब २८ ही द्वीप जगती से तो तीन-तीन सौ योजन ही दूर हैं किन्तु दाढ़ों के वक्र होने के कारण इन द्वीपों के बीच इतनी दूरी है।*

चुल्लहिमवान् पर्वत की तरह ऐरावत क्षेत्र की सीमा करने वाले शिखरि पर्वत की दाढ़ों पर भी उक्त नामके ही २८ द्वीप हैं। इस प्रकार दोनों तरफ के मिल कर सब अन्तर्द्वीप ५६ होते हैं।+ इन अन्तर्द्वीपों में एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु वाले, ७७५ धनुष की अवगाहना वाले युगलिया मनुष्य रहते हैं। इन द्वीपों में सदैव तीसरे आरे जैसी रचना रहती है। यहाँ के मनुष्य मर कर एक मात्र देवगति में ही उत्पन्न होते हैं।

जम्बूद्वीप के चारों द्वारों से पंचानवे-पंचानवे हजार योजन की दूरी पर लवण समुद्र के भीतर वज्ररत्न के चार पाताल-कलश हैं। वे एक लाख योजन गहरे हैं। पचास हजार योजन बीच में चौड़े हैं, एक हजार योजन तलभाग में चौड़े हैं और एक हजार योजन मुखभाग में चौड़े हैं। उनका १०० योजन मोटा दल (ठीकरी) है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) पूर्व में वलयमुख, (२) दक्षिण में केतु (३) पश्चिम में यूप और (४) उत्तर में ईश्वर, प्रत्येक कलश के तीन-तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में

** अन्तर्द्वीपों का जैसा नाम है, वैसी ही आकृति वाले मनुष्य वहाँ रहते हैं, ऐसा दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में उल्लेख है।*

+ किन्हीं आचार्यों के मत से चुल्लहिमवान् पर्वत और शिखरि पर्वत के दोनों कोनों से लवण समुद्र में, उपर्युक्त अन्तर से अलग-अलग डूंगरियाँ (बेट) हैं। इस कारण इन्हें अन्तर्द्वीप कहते हैं।

३३३३३$\frac{1}{3}$ योजन में वायु भरा है, दूसरे ३३३३३$\frac{1}{3}$ योजन के काण्ड में वायु और पानी मिले हुए भरे हैं और तीसरे ३३३३३$\frac{1}{3}$ योजन के काण्ड में सिर्फ पानी भरा है। इन चारों कलशों के मध्य चारों अन्तरों में वज्ररत्नमय छोटे कलशों की नौ-नौ पंक्तियाँ बनी हैं। पहली पंक्ति में २१५ कलश, दूसरी में २१६, तीसरी में २१७ चौथी में २१८, पाँचवीं में २१६, छठी में २२०, सातवीं में २२१, आठवीं में २२२, और नौवीं में २२३ कलश हैं। यह छोटे कलश १००० योजन गहरे, बीच में १००० योजन चौड़े, तलभाग में तथा मुखभाग में १०० योजन चौड़े हैं। इनका दल १० योजन मोटा है। इन सब कलशों के भी तीन-तीन काण्ड हैं। ३३३ योजन से कुछ अधिक भाग में वायु भरी है, ३३३ झाझेरा (कुछ अधिक) में पानी और वायु भरी है और ३३३ झाझेरा योजन में सिर्फ पानी भरा है। छोटे बड़े सब कलश ७८८८ होते हैं। इन कलशों के नीचे के काण्ड की वायु जब गुंजायमान होती है, तब ऊपर के काण्ड से पानी उछल कर नीचे लिखी दकमाला से दो कोस ऊपर चढ़ जाता है। अष्टमी और पक्खी के दिन पानी ज्यादा उछलता है, जिससे समुद्र में भरती आती है। प्रत्येक बड़े कलश पर १७४००० नागकुमार जाति के देव सोने के कुड़छे से पानी को दबाते हैं। इसलिए वे वेलंधर देव कहलाते हैं। इनके दबाने पर भी पानी रुकता नहीं है। उससे १६००० योजन ऊँची और १०००० योजन चौड़ी, समुद्र के मध्य में दकमाला (पानी की दीवाल) है। जम्बूद्वीप और धातकीखण्ड में स्थित तीर्थङ्कर, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, सम्यग्दृष्टि आदि उत्तम पुरुषों के तप, संयम, धर्म, पुण्य के अतिशय से समुद्र का पानी कभी भी झड़क नहीं डालता है।

जम्बूद्वीप के चारों द्वारों से दिशाओं और विदिशाओं में, बयालीस-बयालीस हजार योजन पर १७२१ योजन ऊँचे, नीचे के भाग में १०२२ योजन चौड़े, ऊपर ४२४ योजन चौड़े आठ पर्वत हैं।* इन पर्वतों पर वेलंधर देवों के

* पूर्व में गोथूभ पर्वत, दक्षिण में उदकभास पर्वत, पश्चिम में शङ्ख पर्वत और उत्तर में दकसीम पर्वत, इन चार पर्वतों पर रहने वाले देव वेलंधर देव कहलाते हैं और ईशान कोण में कर्कोटक पर्वत, अग्निकोण में विद्युत्प्रभ पर्वत, नैऋत्य कोण में कैलाश पर्वत,

आवास हैं, जिनमें वे सपरिवार रहते हैं। इसी जगह १२५०० योजन का गौतम द्वीप है, जिसमें लवणसमुद्र का स्वामी सुस्थित देव सपरिवार रहता है। इस गौतम द्वीप के चारों ओर ८८।। योजन से कुछ अधिक ऊँचे चन्द्र-सूर्य के द्वीप हैं। वहाँ ज्योतिषी देव क्रीड़ा करते हैं।

लवणसमुद्र के चारों ओर गोलाकार ४००००० योजन विस्तार वाला धातकीखण्ड द्वीप हैं। यह द्वीप लवणसमुद्र को घेरे हुए है। इसके मध्य में ५०० योजन ऊँचे, धातकीखण्ड जितने लम्बे, पूर्व और पश्चिम द्वार से निकले दो इक्षुकार पर्वत हैं। उनसे धातकीखण्डद्वीप के पूर्वधातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड—ऐसे दो विभाग हो गये हैं। दोनों विभागों में एक-एक मेरुपर्वत है। प्रत्येक मेरु चौरासी-चौरासी हजार योजन ऊँचा है और भूमि पर ६४००० योजन चौड़ा है। ऊपर चल कर नन्दन वन में ६२५० योजन चौड़ा है, सौमनस वन में ३८०० योजन चौड़ा है और शिखर पर १००० योजन चौड़ा है।

पूर्वधातकीखण्ड द्वीप के मध्य में जो मेरु है, उसका नाम 'विजय' मेरु है और पश्चिमधातकीखण्ड में जो मेरु है, उसका नाम 'अचल' मेरु है। समभूमि पर भद्रशाल वन है। वहाँ से ५०० योजन ऊपर नन्दन वन है और वहाँ से ५५५०० योजन ऊपर सौमनस वन है और इससे भी २८००० योजन ऊपर पाण्डुक वन है। यहाँ धातकीखण्ड में उत्पन्न होने वाले तीर्थङ्करों का जन्माभिषेक होता है। धातकीखण्ड के दोनों विभागों में से प्रत्येक विभाग में जम्बूद्वीप में कहे अनुसार ही क्षेत्र, पर्वत, द्रह, नदी, महाविदेह क्षेत्र आदि सब पदार्थ हैं। इस प्रकार धातकीखण्ड में जम्बूद्वीप से दुगुने सब शाश्वत पदार्थ हैं। धातकीखण्ड द्वीप में जम्बूद्वीप के समान जगती (कोट) और चार द्वार हैं।

धातकीखण्ड द्वीप को चारों ओर से घेरे हुए, वलय के आकार का ८००००० योजन का चौड़ा, इस तीर से उस तीर तक एक सरीखा १०००

वायव्य कोण में अरुणप्रभ पर्वत है। इन चारों पर्वतों पर रहने वाले अनुवेलन्धर देव कहलाते हैं।

योजन गहरा कालोदधि नामक समुद्र है। इसके पानी का स्वाद साधारण पानी जैसा है। इसमें दो गौतम द्वीप और १०८ चन्द्रमा-सूर्य के द्वीप हैं।

कालोदधि समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए, वलयाकार १६००००० योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस द्वीप के मध्य में १७२१ योजन ऊँचा और मूल में १०२२ योजन चौड़ा, शिखर में ४२४ योजन चौड़ा, वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत के कारण पुष्करद्वीप के दो विभाग हो गए हैं। इस पर्वत के भीतर आधे भाग में ही मनुष्यों की बस्ती है, बाहर नहीं। इस कारण यह 'मानुषोत्तर' पर्वत कहलाता है।

धातकीखण्ड द्वीप की तरह इस पुष्कर द्वीप के मध्य में भी दो इक्षुकार पर्वत हैं, जिनसे इसके भी दो विभाग हो गये हैं—(१) पूर्व पुष्करार्ध द्वीप और (२) पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप। धातकीखण्ड के जैसे और जितने ही ऊँचे तथा चौड़े दो मेरुपर्वत इसमें भी हैं। पूर्व पुष्करार्धद्वीप में मन्दिरमेरु और पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप में 'विद्युन्माली' मेरु है। यह मेरु आदि समस्त शाश्वत पदार्थ धातकीखण्ड के जैसे और धातकीखण्ड जितने ही हैं। इन सबका विस्तार और संख्या धातकीखण्ड के बराबर ही समझना चाहिए।

इस प्रकार एक लाख योजन का जम्बूद्वीप, दोनों तरफ का चार लाख योजन का लवणसमुद्र, दोनों तरफ का आठ लाख योजन का धातकीखण्ड द्वीप, दोनों तरफ का सोलह लाख योजन का कालोदधि समुद्र और दोनों तरफ का सोलह लाख योजन का पुष्करार्ध द्वीप, इस प्रकार १+४+८+१६+१६=४५ लाख योजन का अढ़ाई द्वीप है। अढ़ाई द्वीप में उत्कृष्ट ७९२२८१६२, ५१४२६४३, ३७५६३५४, ३९५०३३६ मनुष्य रहते हैं।* अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्य रहते हैं, इसलिए इसे मनुष्यक्षेत्र या मनुष्यलोक भी कहते हैं।

---

* *अढ़ाई द्वीप में मनुष्यों की संख्या २९ अङ्क प्रमाण कही है, किन्तु क्षेत्रफल के हिसाब से इतने मनुष्यों का समावेश होना शक्य नहीं है, अतः किसी-किसी का कथन है कि स्त्री की योनि में उत्पन्न होने वाले ९००००० संज्ञी मनुष्य भी इस संख्या में सम्मिलित हैं। कोई-कोई कहते हैं—अजितनाथ भगवान् के समय में जब उत्कृष्ट मनुष्यसंख्या हुई थी तब २९ अङ्क प्रमाण मनुष्य थे। जब मनुष्यों की संख्या कम होती है तब भी वह २९ अङ्क प्रमाण रहती है, भले ही उपर्युक्त संख्या के बदले एक-एक का ही अङ्क हो, मगर अङ्क रहेंगे २९ ही।*

अढ़ाई द्वीप के बाहर (१) मनुष्यों की उत्पत्ति (२) बादर अग्निकाय (३) द्रह-कुण्ड (४) नदी (५) गर्जनारव (६) विद्युत् (७) मेघ (८) वर्षा (६) गड्ढे और (१०) दुष्काल नहीं होता। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर के पुष्करार्ध द्वीप में देवताओं का तथा तिर्यञ्च आदि का निवास है।

पुष्कर द्वीप के बाहर, पुष्कर द्वीप को चारों ओर से घेरे हुए, वलयाकार ३२०००००० योजन विस्तार वाला पुष्करसमुद्र है। इसी प्रकार आगे एक द्वीप और एक समुद्र, के क्रम से द्वीप और समुद्र हैं। यह सब द्वीप और समुद्र एक दूसरे से दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं। तीन द्वीपों और तीन समुद्रों का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। आगे के कुछ द्वीपों और समुद्रों के नाम यहाँ बतलाये जाते हैं:—(७) वारुणी द्वीप (८) वारुणीसमुद्र (६) क्षीरद्वीप (१०) क्षीरसमुद्र (११) घृतद्वीप (१२) घृतसमुद्र (१३) इक्षुद्वीप (१४) इक्षुसमुद्र (१५) नन्दीश्वर द्वीप (१६) नन्दीश्वर समुद्र (१७) अरुण द्वीप (१८) अरुणसमुद्र (१६) अरुणवर द्वीप (२०) अरुणवर समुद्र (२१) पवनद्वीप (२२) पवनसमुद्र (२३) कुण्डल द्वीप (२४) कुण्डलसमुद्र (२५) शङ्ख द्वीप (२६) शङ्ख समुद्र (२७) रुचक द्वीप (२८) रुचक समुद्र (२६) भुजङ्ग द्वीप (६०) भुजङ्ग समुद्र (३१) कुशद्वीप (३२) कुशसमुद्र (३३) कुच द्वीप (३४) कुच समुद्र।+ इस प्रकार अगला-अगला, पूर्व-पूर्व वाले द्वीप-

---

अढ़ाई द्वीप में हस्ती और सिंह की आयु मनुष्य की आयु के ही बराबर होती है, घोड़े की आयु मनुष्य की आयु का चौथा भाग; बकरे-मेंढ़े जम्बुक की आयु आठवाँ भाग; गाय, भैंस, ऊँट, गधे की आयु पाँचवाँ भाग और कुत्ते की आयु दसवाँ भाग समझना चाहिए।

+ लवणसमुद्र में नमक जैसा खारा पानी रहता है, कालोदधि समुद्र में मामूली पानी सरीखा पानी है, वारुणी समुद्र में मदिरा जैसा, क्षीरसमुद्र में दूध जैसा, घृतसमुद्र में घी जैसा और असंख्यात समुद्रों में इक्षुरस जैसा पानी का स्वाद है।

नन्दीश्वर द्वीप में कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अन्तिम आठ दिनों में (तीनों चौमासी के समय) तथा तीर्थङ्करों के पंचकल्याण आदि शुभ दिनों में देवगण अष्टाह्निका (अठाई) महोत्सव करते हैं।

रुचक द्वीप तक जङ्घाचारण मुनि जाते हैं। रुचक द्वीप के मध्य में वलयाकार रुचक पर्वत है, जिस पर ४० दिशाकुमारी देवियाँ रहती हैं तथा ८ नन्दन वन में और ८ गजदन्त पर्वत पर, यों सब ५६ दिशाकुमारी देवियाँ हैं।

अढ़ाई उद्धार सागरोपम अर्थात् २५ कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योपम के जितने समय

समुद्र को घेरे हुए असंख्यात द्वीप हैं और असंख्यात समुद्र हैं। सबका विस्तार दुगुना-दुगुना होता गया है। इन सबके अन्त में आधा रज्जु चौड़ा स्वयंभूरमण समुद्र है। उससे १२ योजन दूर चारों ओर अलोक है। ऊपर ज्योतिषचक्र से ११११ योजन दूरी पर अलोक है।

ज्योतिषचक्र



जम्बूद्वीप के सुदर्शनमेरु के समीप की, समतल भूमि से ७९० योजन ऊपर तारामण्डल है। आधा कोस लम्बे-चौड़े और पाव कोस ऊँचे तारा के विमान हैं। तारादेव की जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवाँ भाग एवं उत्कृष्ट पाव पल्योपम की है। तारादेवियों की स्थिति जघन्य पल्य के आठवें भाग और उत्कृष्ट पल्योपम के आठवें भाग से कुछ अधिक है। तारा के विमान को २००० देव उठाते हैं।

तारामण्डल से १० योजन ऊपर, एक योजन के ६१ भाग में से ४८ भाग लम्बा-चौड़ा और २४ भाग ऊँचा, अङ्करत्नमय सूर्य देव का विमान है। सूर्यविमानवासी देवों की आयु जघन्य पाव पल्योपम की और उत्कृष्ट एक पल्योपम तथा एक हजार वर्ष की है। इनकी देवियों की आयु जघन्य पाव पल्योपम और उत्कृष्ट आधा पल्योपम एवं ५०० वर्ष की है। सूर्य के विमान को १६००० देव उठाते हैं।

सूर्यदेव के विमान से ८० योजन* ऊपर एक योजन के ६१ भाग में से ५६ भाग लम्बा-चौड़ा+ और २८ भाग ऊँचा, स्फटिक रत्नमय चन्द्रमा का

होते हैं, उतने सब द्वीप-समुद्र हैं। जगत् में प्रशस्त (अच्छी) वस्तुओं के जितने नाम हैं उन सब नामों के द्वीप औरसमुद्र हैं। जम्बूद्वीप नाम के द्वीप भी असंख्यात हैं।

** चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों के वर्णन में योजन तथा कोस शाश्वत समझना चाहिए। ४००० अशाश्वत कोस का एक शाश्वत योजन होता है।*

+ सूर्य विमान से एक योजन नीचे केतु का विमान है और चन्द्र विमान से एक योजन नीचे राहु का विमान है, ऐसा दिगम्बर सम्प्रदाय के चर्चाशतक ग्रन्थ में उल्लेख है।

का विमान है।× चन्द्र विमानवासी देवों की आयु जघन्य पाव पल्योपम की और उत्कृष्ट एक पल्योपम तथा एक लाख वर्ष की है। इनकी देवियों की आयु जघन्य पाव पल्योपम की और उत्कृष्ट आधे पल्योपम की तथा ५०००० वर्ष की है। चन्द्रविमान को भी १६००० देव उठाते हैं।

चन्द्रविमान से ४ योजन ऊपर नक्षत्रमाला है। इनके विमान पाँचों वर्णों के रत्नमय हैं। एक-एक कोस के लम्बे-चौड़े और आधे कोस के ऊँचे हैं। नक्षत्र-विमानों में रहने वाले देवों की आयु जघन्य पाव पल्योपम की तथा उत्कृष्ट आधे पल्योपम की है। इनकी देवियों की आयु जघन्य पाव पल्योपम की और उत्कृष्ट पाव पल्योपम से कुछ अधिक की है। नक्षत्रविमान को ४००० देव उठाते हैं।

नक्षत्रमाला से ४ योजन ऊपर ग्रहमाला है। ग्रहों के विमान भी पाँचों वर्णों के रत्नमय हैं। ग्रह-विमान दो कोस लम्बे-चौड़े और एक कोस उँचे हैं। ग्रह-विमानवासी देवों की आयु जघन्य पाव पल्योपम की और उत्कृष्ट एक पल्योपम की है। इनकी देवियों की जघन्य आयु पाव पल्योपम की और उत्कृष्ट आयु आधे पल्योपम की है। ग्रह के विमान को ८००० देव उठाते हैं।÷

ग्रहमाला से चार योजन की उँचाई पर हरित-रत्नमय बुध का तारा है। इससे तीन योजन ऊपर स्फटिकरत्नमय शुक्र का तारा है। इससे तीन योजन ऊपर पीत-रत्नमय बृहस्पति का तारा है। इससे तीन योजन ऊपर रक्त-रत्नमय मंगल का तारा है। इससे तीन योजन ऊपर जाम्बूनदमय शनि का तारा है।

× दिगम्बर आम्नाय के मिथ्याखण्डनसूत्र में लिखा है—चन्द्रमा का विमान सामान्यतः १८०० कोस चौड़ा है। सूर्य का विमान १६०० कोस चौड़ा है और ग्रह एवं नक्षत्रों के विमान जघन्य १२५ कोस और उत्कृष्ट ५०० कोस के चौड़े हैं। इसी प्रकार समतल भूमि से १६००००० कोस सूर्य का विमान और १७६०००० कोस चन्द्रमा का विमान है।

÷ जोतिषियों के विमान उठाने वाले, जितने-जितने देव कहे हैं, उनके ४ विभाग करना। जिसमें एक विभाग पूर्व दिशा में, सिंह के रूप में, दूसरा विभाग दक्षिण में, हस्ती के रूप में, तीसरा विभाग पश्चिम दिशा में, बैल के रूप में और चौथा उत्तर दिशा में, घोड़े के रूप में विमान उठा कर फिरते हैं।

इनमें रहने वाले देवों की आयु और इन विमानों को उठाने वाले देवों की संख्या ग्रहमाला के विषय में वर्णित आयु आदि के ही समान समझनी चाहिये।

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिषचक्र मध्यलोक में ही है और समतल भूमि से ७९० योजन की उँचाई से आरम्भ होकर ९०० योजन तक अर्थात् ११० योजन में स्थित है। ज्योतिषी देवों के विमान जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से ११२१ योजन चारों तरफ दूर फिरते-घूमते हैं।

जम्बूद्वीप में २ चन्द्रमा, २ सूर्य, लवणसमुद्र में ४ चन्द्र, ४ सूर्य, धातकीखण्ड द्वीप में १२ चन्द्र, १२ सूर्य, पुष्करार्धद्वीप में ७२ चन्द्रमा, ७२ सूर्य हैं। अढ़ाई द्वीप के भीतर कुल १३२ चन्द्रमा और १३२ सूर्य हैं। यह चन्द्र-सूर्य पाँच मेरुपर्वतों के चारों ओर सदैव भ्रमण करते रहते हैं। अढ़ाईद्वीप के बाहर जो असंख्यात सूर्य और असंख्यात चन्द्र* हैं वे सदैव स्थिर रहते हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के विमानों की लम्बाई-चौड़ाई तथा उँचाई, अढ़ाई द्वीप के अन्दर के ज्योतिष्क विमानों से आधी समझना चाहिए। अढ़ाई द्वीप के भीतर के ज्योतिष्क देवों के विमान आधे कवीठ (कपित्थ-कैथ) के फल के आकार के नीचे से गोल और ऊपर से सम हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर के ज्योतिष्क देवों के विमान ईंट के आकार के लम्बे ज्यादा और चौड़े कम हैं। इन बाहर के विमानों का तेज भी मन्द

१—असंख्यात द्वीप-समुद्रों के ज्योतिषियों का परिमाण (हिसाब) लगाने की युक्ति इस प्रकार है-धातकी खण्ड द्वीप में १२ चन्द्र और १२ सूर्य कहे हैं। इन्हें तिगुना करने से १२ × ३ = ३६ हुए। इनमें जम्बूद्वीप के २, लवण समुद्र के ४ मिला देने से ४२ हुए। बस, कालोदधि में ४२ चन्द्र और ४२ सूर्य है। इसी प्रकार कालोदधि के ४२ को तिगुना करने से ४२×३=१२६ हुए। इनमें जम्बूद्वीप के २, लवण समुद्र के ४ और धातकी खंड के १२ यों १८ मिलाने से १४४ हुए। अतएव पुष्कर द्वीप में १४४ चन्द्र और १४४ सूर्य हैं। इसी प्रकार आगे भी किसी विवक्षित द्वीप या समुद्र की चन्द्रसंख्या या सूर्यसंख्या को तिगुनी करके पिछले द्वीप-समुद्रों की चन्द्र-सूर्य संख्या को जोड़ देने से किसी भी द्वीप और समुद्र के चन्द्रों या सूर्यों की संख्या मालूम हो जाती है। चन्द्रों और सूर्यों की संख्या अलग-अलग समझना चाहिए।

अढाई द्वीप के बाहर सूर्य और चन्द्र में ५००० योजन का अन्तर हैं। चन्द्र का चन्द्र से और सूर्य का सूर्य से १००००० योजन का अन्तर है। सभी स्थानों में इसी प्रकार समझना चाहिए।

होता है। यहाँ के सूर्य और चन्द्रमा का जैसा तेज उदित होते समय होता है, वैसा वहाँ के चन्द्र-सूर्य का हल्का तेज सदैव रहता है।

अढ़ाई द्वीप के ज्योतिष्क देव भ्रमण करते रहते हैं, अतः यहाँ दिन-रात्रि आदि का भेद होता है और इसी आधार पर समय, आवलिका, मुहूर्त्त आदि काल का प्रमाण होता है। परन्तु बाहर के ज्योतिष्क देव स्थिर रहते हैं, अतएव जहाँ रात्रि है वहाँ सदा रात्रि ही रहती है और जहाँ दिन है वहाँ दिन ही रहता है।

सब ज्योतिषियों के इन्द्र जम्बूद्वीप के चन्द्र और सूर्य❀ हैं। चन्द्र-सूर्य के साथ ८८+ ग्रह हैं, २८ नक्षत्र× हैं और ६६९७५०००००००००००००० (छयासठ हजार, नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोड़ी) तारे हैं। प्रत्येक ज्योतिषी के स्वामी के ४ अग्रमहिषियाँ (इन्द्रानियाँ) है। प्रत्येक इन्द्रानी का चार-चार

❀ *दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ में उल्लेख है कि आश्विन और चैत्र की पूर्णिमा के दिन जो चन्द्र और सूर्य भरतक्षेत्र में प्रकाशित होते हैं, वही इन्द्र हैं।*

+ *८८ ग्रहों के नाम-१ अङ्गारक, २ विकालक, ३ लोहिताक्ष, ४शनैश्चर, ५ आधुनिक, ६ प्रधूनिक, ७ कण, ८ कणक, ९ कणकणक, १० कणवितानी, ११ कण शतानी, १२ सोम, १३ सहित, १४, अश्वसत, १५ कार्षोत्वत, १६ कबुंक, १७ अजकर्क १८ दुंदमक, १९ शङ्ख, २० शङ्ख नाम, २१ शङ्ख वर्ण, २२ कंश, २३ कंश नाम, २४ कंश वर्ण, २५ नील, २६ नीलाभास, २७ रूप २८ रूपायभास, २९ भस्म, ३० भस्मरास, ३१ तिल, ३२ पुष्पवर्ण ३३ दक ३४ दकवर्ण ३५ काय ३६ बध्य ३७ इन्द्राग्नी ३८ धूमकेतु ३९ हरि ४० पिंगलक ४१ बुध ४२ शुक्र ४३ बृहस्पति ४४ शुक्र ४५ अगस्ति ४६ माणवक ४७कालस्पर्श ४८धुरक ४९प्रमुख ५०विकट ५१विषम्र कल्प ५२प्रकल्प ५३जयल ५४अरुण ५५ अनिल ५६ काल ५७ महाकाल ५८ स्वस्तिक ५९ सौवस्तिक ६० वर्द्धमानक ६१ पालम्बोक ६२ नित्योदक ६३ स्वयंप्रभ ६४ आभास ६५ प्रभास ६६ श्रेयस्कर ६७ क्षेमंकर ६८ आभकर ६९ प्रभाकर ७० अरज ७१ विरज ७२ अशोक ७३ तसोक ७४ विमल ७५ वितत ७६ विवस्त्र ७७ विशाल ७८ शाल ७९ सुव्रत ८० अनिवृत्त ८१ एकजटी ८२ द्विजटी ८३ करी ८४ करीक ८५ राजा ८६ अर्गल ८७ पुष्पकेतु ८८ भावकेतु।*

× *२८ नक्षत्र—१ अभिजित् २ श्रवण ३ धनिष्ठा ४ शतभिषा ५ पूर्वाभाद्रपद ६ उत्तराभाद्रपद ७ रेवती ८ अश्विनी ९ भरणी १० कृत्तिका ११ रोहिणी १२ मृगशिर १३ आर्द्रा १४ पुनर्वसु १५ पुष्य १६ आश्लेषा १७ मघा १८ पूर्वाफाल्गुनी १९ उत्तरा फाल्गुनी २० हस्त २१ चित्रा २२ स्वाति २३ विशाखा २४ अनुराधा २५ जेष्ठा २६ मूल २७ पूर्वाषाढ़ा २८ उत्तराषाढ़ा।*

हजार देवियों का परिवार है। ४००० सामानिक देव हैं। १६००० आत्म-रक्षक देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् के ८००० देव हैं। मध्य परिषद् के १०००० देव हैं और बाह्य परिषद् के १२००० देव हैं। सात प्रकार की अनीक हैं। इसके सिवाय और भी बहुत-सा परिवार है। वे पूर्वोपार्जित पुण्य के फल भोग रहे हैं। इस प्रकार इस भूतल से ६०० योजन नीचे और ६०० योजन ऊपर—कुल १८०० योजन में मध्यलोक है।

मेरुपर्वत तीनों लोकों का स्पर्श करता है।

काल-चक्र



(१) अवसर्पिणीकाल

ज्योतिषचक्र के वर्णन में बतलाया गया है कि समय, आवलिका, घटिका, दिन, रात, मास, वर्ष आदि काल का विभाग और परिमाण चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों के भ्रमण के कारण होता है। अतएव ज्योतिषी देवों के वर्णन के पश्चात् यहाँ काल-चक्र का वर्णन कर देना आवश्यक है।

मुख्य रूप से काल के दो विभाग हैं—(१) अवसर्पिणीकाल और (२) उत्सर्पिणी काल। जिस काल में जीवों की शक्ति, अवगाहना, आयु क्रमशः घटती जाती है वह अवसर्पिणी काल कहलाता है और जिस काल में शक्ति, अवगाहना और आयु आदि में क्रमशः वृद्धि होती जाती है, वह उत्सर्पिणी काल कहलाता है। अवसर्पिणीकाल समाप्त होने पर उत्सर्पिणीकाल आता है और उत्सर्पिणीकाल के समाप्त होने पर अवसर्पिणीकाल आता है। अनादि-काल से यह क्रम चला आ रहा है और अनन्त काल तक यही क्रम चलता रहेगा।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पहले मध्यलोक का जो विस्तारपूर्वक वर्णन दिया गया है, उसमें से भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में ही काल का यह भेद होता है। इन दोनों क्षेत्रों के अतिरिक्त और किसी भी क्षेत्र पर कालचक्र का प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव वहाँ सदैव एक-सी स्थिति रहती है।

उत्सर्पिणीकाल १० कोड़ाकोड़ी सागरोपम का है और अवसर्पिणी-काल भी इतना ही है। अतएव दोनों मिल कर २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। प्रत्येक काल के छह-छह आरे हैं। कालचक्र के कुल बारह आरे हैं। यहाँ पहले अवसर्पिणीकाल के छह आरों का विवरण दिया जाता है:—

(१) सुखमा-सुखमा—अवसर्पिणीकाल के पहले सुखमा-सुखमा आरे में मनुष्यों के शरीर की अवगाहना तीन कोस की होती है। आयु तीन पल्योपम की होती है। मनुष्यों के शरीर में २५६ पसलियाँ होती हैं और और वे वज्रऋषभनाराचसंहनन तथा समचतुरस्र संस्थान के धारक होते हैं। महारूपवान् और सरल स्वभाव वाले होते हैं। एक साथ स्त्री और पुरुष का जोड़ा उत्पन्न होता है। उनकी इच्छाएँ दस प्रकार के कल्पवृक्षों से पूर्ण होती हैं।

दस प्रकार के कल्पवृक्षों के नाम यह हैं:—(१) 'मतंग' वृक्ष से मधुर फल प्राप्त होते हैं (२) 'भिंगा' वृक्ष से सुवर्ण-रत्न के बर्त्तन मिलते हैं (३) 'तुडियंगा' वृक्ष ४९ प्रकार के मनोहर वादित्र प्रदान करता है (४) 'ज्योति' वृक्ष रात्रि में सूर्य के समान प्रकाश करता है (५) 'दीप' वृक्ष दीपक के समान प्रकाश करता है (६) 'चित्तंगा' वृक्ष से सुगंधित फूलों के भूषण प्राप्त होते हैं (७) 'चित्तरसा' वृक्ष से १८ प्रकार का भोजन मिलता है (८) 'मनोवेगा' वृक्ष से सुवर्ण-रत्नमय आभूषण मिलते हैं (९) 'गिहंगारा' वृक्ष ४२ मंज़िल के महल जैसे हो जाते हैं (१०) 'अणियगणा' वृक्ष से उत्तम-उत्तम वस्त्र प्राप्त होते हैं।

प्रथम आरे के मनुष्यों को आहार की इच्छा तीन-तीन दिन के अन्तर से होती है। तब अपने शरीर के परिमाण में,* कल्पवृक्ष के फल एवं मृत्तिका आदि का आहार करते हैं। उस समय की मिट्टी का स्वाद मिश्री के समान मीठा होता है। पहले आरे के स्त्री-पुरुष की आयु जब छह महीना

* युगलिया मनुष्य पहले आरे में तुअर (अरहर) के दाने के बराबर, दूसरे आरे में बेर बराबर और तीसरे आरे में आँवले के बराबर आहार करते हैं। ऐसा ग्रंथकार कहते हैं।

शेष रहती है तो युगलिनी पुत्र-पुत्री का एक जोड़ा प्रसव करती है।+ सिर्फ ४६ दिन तक उनका पालन-पोषण करना पड़ता है। इतने दिनों में वे होशियार और स्वावलम्बी होकर सुख का उपभोग करते हुए विचरने लगते हैं। उनके माता-पिता में से एक को छींक और दूसरे को जँभाई (उबासी) आती है और मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मृत्यु के बाद वे देवगति× प्राप्त करते हैं। उस क्षेत्र के अधिष्ठाता देव युगल के मृतक शरीरों को क्षीर-समुद्र में ले जाकर प्रक्षेप कर देते हैं।

(२) सुखमा—उक्त प्रकार से प्रथम आरे की समाप्ति होने पर तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम का 'सुखमा' नामक दूसरा आरा आरम्भ होता है। दूसरे आरे में, पहले आरे की अपेक्षा वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की उत्तमता में अनन्तगुनी हीनता आ जाती है। क्रम से घटती-घटती दो कोस की शरीर की अवगाहना, दो पल्योपम की आयु और १२८ पसलियाँ रह जाती हैं। दो दिन के अन्तर से आहार की इच्छा होती है। फूल, फल और मृत्तिका आदि का आहार करते हैं। पृथ्वी का स्वाद मिश्री के बदले शक्कर जैसा रह जाता है। मृत्यु से छह माह पहले युगलिनी पुत्र-पुत्री के एक जोड़े को जन्म देती है। इस आरे में ६४ दिन तक उनका पालन-पोषण करना पड़ता है। तत्पश्चात् वे स्वावलम्बी हो जाते हैं और सुखोपभोग करते हुए विचरते हैं। शेष कथन पहले आरे के समान ही समझना चाहिए।

(३) सुखमा-दुखमा—दूसरा आरा समाप्त होने पर दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम का तीसरा सुखमा-दुखमा (बहुत सुख और थोड़ा दुःख) नामक तीसरा आरा आरम्भ होता है। इस आरे में भी वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की उत्तमता में क्रमशः अनन्तगुनी हानि हो जाती है। घटते-घटते एक कोस

+ जब युगल की आयु पन्द्रह महीना शेष रहती है तब युगलिनी ऋतु को प्राप्त होती है। उस समय युगल का वेद मोहनीय कर्म का उदय तीव्र होने से उनका सम्बन्ध होता है और नारी गर्भ धारण करती है। इससे पहले वे भाई-बहिन की तरह, ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहते हैं। इस उत्तमता के कारण युगल-नर और नारी को देवगति ही प्राप्त होती है। ऐसा वृद्धों का कथन है।

× युगल की जितनी आयु मनुष्यगति में होती है, उससे कुछ कम आयु देवगति में उन्हें प्राप्त होती है।

का देहमान, एक पल्योपम का आयुष्य और ६४ पृष्ठ करंडक (पसलियाँ) रह जाते हैं। एक दिन के अन्तर पर आहार की इच्छा होती है, तब पूर्वोक्त प्रकार का आहार करते हैं। पृथ्वी का स्वाद गुड़ जैसा रह जाता है। मृत्यु से छह माह पहले युगलिनी पुत्र-पुत्री के जोड़े को जन्म देती है। ७९ दिनों तक पालन-पोषण करने के पश्चात् वह जोड़ा स्वावलम्बी हो जाता है और सुखपूर्वक विचरने लगता है। शेष सब कथन पहले के समान ही समझना चाहिए। इन तीनों आरों के तिर्यञ्च भी युगलिया होते हैं।

तीसरे आरे के तीन विभागों में से दो विभागों तक उक्त रचना रहती है। तीसरे आरे के ६६,६६,६६,६६,६६,६६,६६,६६,६६,६६,६६ (छयासठ लाख करोड़, छयासठ हजार करोड़, छयासठ करोड़, छयासठ लाख, छयासठ हजार, छयासठ सौ छयासठ) सागरोपम बीत जाने पर काल-स्वभाव के प्रभाव से, कल्प वृक्षों से पूरी वस्तु प्राप्त नहीं होती और इसी कारण युगल मनुष्यों में परस्पर विवाद-झगड़ा होने लगता है। मानो, इस विवाद का अन्त करने और झगड़ों को मिटाने के लिए क्रम से पन्द्रह कुलकरों की उत्पत्ति होती है।* यह कुलकर अपने-अपने समय में प्रतापशाली और विद्वान् मनुष्य होते हैं। यह तत्कालीन समाज के मर्यादा-पुरुष होते हैं—समाज-व्यवस्थापक होते हैं। प्रारंभ के पाँच कुलकरों के समय तक हकार की दण्ड-नीति प्रचलित होती है। अर्थात् जब कोई मनुष्य कोई अशोभनीय कार्य करता है तो उसे कुलकर 'हा !' ऐसा शब्द कहते हैं। अर्थात् उसके कृत्य पर खेद प्रकट करते हैं। अपराधी के लिए यही दण्ड पर्याप्त होता है। इससे वह लज्जित हो जाता है। इसके आगे के पाँच कुलकरों तक मकार की

** पन्द्रह कुलकरों की आयु—पहले कुलकर की पल्योपम का दसवाँ भाग, दूसरे की पल्योपम का सौवाँ भाग, तीसरे की पल्योपम का हजारवाँ भाग, चौथे की पल्योपम का दस हजारवाँ भाग, पाँचवें की पल्योपम का एक लाखवाँ भाग, छठे की पल्योपम का दस लाखवाँ भाग, सातवें की पल्योपम का करोड़वाँ भाग, आठवें की पल्योपम के दस करोड़वाँ भाग, नौवें की पल्योपम का सौ करोड़वाँ भाग, दसवें की पल्योपम के हजार करोड़वाँ भाग, ग्यारहवें की पल्योपम के दस हजार करोड़वाँ भाग, बारहवें की पल्योपम का एक लाख करोड़वाँ भाग, तेहरवें की पल्योपम के दस लाख करोड़वाँ भाग, चौदहवें की एक पल्योपम के कोड़ाकोड़ीवाँ भाग और पन्द्रवें कुलकर की ८४ लाख पूर्व की आयु होती है। (पद्मपुराण)*

दण्ड-नीति चलती है। अर्थात् अपराधी को 'मा' शब्द कह दिया जाता है। 'मा' का अर्थ है—मत, अर्थात् 'ऐसा मत करो'। इस प्रकार कह देना ही अपराध का दण्ड हो जाता है। इससे आगे के पाँच कुलकरों के समय में दण्ड की कुछ कठोरता बढ़ जाती है। उस समय अपराधी को 'धिक्' शब्द कह कर दण्ड दिया जाता है। इन दण्डों से लज्जित होकर उस समय के लोग अपराध से विरत हो जाते हैं।

यद्यपि कल्पवृक्षों की फलदायिनी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाती है, तथापि इस समय तक कल्पवृक्षों से ही निर्वाह होता रहता है। लोगों को अपने निर्वाह के लिए असि (शस्त्रों की आजीविका), मसि (व्यापार) और कृषि (खेती) सम्बन्धी आजीविका की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव पहले आरे से लेकर तीसरे आरे के इस समय तक यह भूमि 'अकर्मभूमि' कहलाती है और यहाँ के मनुष्य जोड़े से ही उत्पन्न होते हैं और जोड़े से ही रहते हैं। इस कारण वे युगल, जुगल या जुगलिया कहलाते हैं।

जब तीसरा आरा समाप्त होने में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और ८॥ महीने शेष रह जाते हैं, तब पूर्वोक्त अयोध्या नगरी में पन्द्रहवें कुलकर से प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म होता है। काल के प्रभाव से, जब कल्पवृक्षों से कुछ भी प्राप्ति नहीं होती, तब मनुष्य क्षुधा से पीड़ित और व्याकुल होते हैं। मनुष्यों की यह दशा देख कर और दयाभाव लाकर, उनके प्राणों की रक्षा के लिए, वहाँ स्वभावतः उगे हुए २४ प्रकार के धान्य को और मेवा वगैरह को तीर्थङ्कर भगवान् खाने के लिए बतलाते हैं। कच्चा धान्य खाने से उनका पेट दुखता है, ऐसा जानकर अरणि-काष्ठ से अग्नि उत्पन्न करके उसमें धान्य पकाने को कहते हैं। भोले लोग अग्नि प्रज्वलित करके उसमें धान्य डालते हैं। जब अग्नि उसे भस्म कर देती है तो उनको बड़ी निराशा होती है। वे भाग कर तीर्थङ्कर के पास जाते हैं और कहते हैं—नाथ! यह अग्नि तो राक्षस है। जितना धान्य पकाने के लिए इसमें डालते हैं, उतने ही को वह हजम कर जाती है! उसका ही पेट नहीं भर पाता तो हमें क्या देगी? तब तीर्थङ्कर कुम्भकार की स्थापना करके उसे बर्त्तन बनाना सिखलाते हैं।

फिर चार* कुल, १८ श्रेणियाँ+ (जातियाँ) और १८ प्रश्रेणियाँ स्थापित करते हैं। पुरुषों की ७२ कलाएँ,× स्त्रियों की चौसठ कलाएँ÷ और

* चार कुल— (१) कोतवाल, न्यायाधीश आदि का उग्रकुल, (२) गुरुस्थानीय उच्च पुरुषों का भोग कुल, (३) मंत्रियों का राजकुल, और (४) प्रजा का क्षत्रिय कुल।

+ क्षत्रियकुल की १८ श्रेणियाँ और प्रश्रेणियाँ इस प्रकार हैं:-(१) कुम्भकार (२) माली (३) कृषिबल (किसान), (४) बुनकर (५) चित्रकार (६) चूड़ीगर (७) दरजी (८) कलाल (९) तम्बोली (१०) रंगरेज (११) गोपालक (१२) बढ़ई (१३) तेली (१४) धोबी (१५) हलवाई (१६) नापित (१७) कहार (१८) बंधार (१९) सीसगर (२०) संगृही (२१) काछी (२२) कुंदीगर (२३) कागजी (२४) रेवारी (२५) ठठेरा (२६) पटवा (२७) सिलावट (२८) भड़भूँजा (२९) सुवर्णकार (३०) चमार (३१) चुनारा (३२) धीवर (३३) गिरा (३४) सिकलीगर (३५) कसेरा (३६) वणिक्।

× पुरुषों की ७२ कलाएँ:-(१) लेखन (२) गणित (३) रूपपरिवर्तन (४) नृत्य (५) संगीत (६) ताल (७) वाद्यवादन (८) बाँसुरी (९) नर लक्षण (१०) नारी-लक्षण (११) गज लक्षण (१२) अश्वलक्षण (१३) दण्ड लक्षण (१४) रत्नपरीक्षा (१५) धातुर्वाद (१६) मंत्रवाद (१७) कवित्व (१८) तर्क शास्त्र (१९) नीति शास्त्र (२०) धर्म शास्त्र (२१) ज्योतिष शास्त्र (२२) वैद्यक शास्त्र (२३) षड्भाषा (२४) योगाभ्यास (२५) रसायन (२६) अंजन (२७) स्वप्न शास्त्र (२८) इन्द्रजाल (२९) कृषिकर्म (३०) वस्त्रविधि (३१) द्यूतविधि (३२) व्यापार (३३) राजसेवा (३४) शकुनविचार (३५) वायुस्तंभन (३६) अग्निस्तंभन (३७) मेघवृष्टि (३८) विलेपन (३९) मर्दन (४०) ऊर्ध्वगमन (४१) स्वर्णसिद्धि (४२) रूपसिद्धि (४३) घटबंधन (४४) पत्रछेदन (४५) मर्मछेदन (४६) लोकाचार (४७) लोकरंजन (४८) फल-आकर्षण (४९) अफलाफलन (जहाँ फल न लगता हो वहाँ बता देना), (५०) धारबन्धन (५१) चित्रकला (५२) ग्राम बसाना (५३) मल्लयुद्ध (५४) रथयुद्ध (५५) गरुड़युद्ध (५६) दृष्टियुद्ध (५७) वाग्युद्ध (५८) मुष्टियुद्ध (५९) बाहुयुद्ध (६०) दंडयुद्ध (६१) शस्त्रयुद्ध (६२) सर्पमोहन (६३) व्यन्तर मर्दन (६४) मंत्रविधि (६५) तंत्रविधि (६६) यंत्रविधि (६७) रौप्यपाकविधि (६८) सुवर्णपाकविधि (६९) बंधन (७०) मारण (७१) स्तंभन (७२) संजीवन।

÷ स्त्रियों की ६४ कलाएँ:—(१) नृत्य (२) चित्र (३) औचित्य (४) वादित्र (५) मंत्र (६) यंत्र (७) ज्ञान (८) विज्ञान (९) दंभ (१०) जल स्तंभन (११) गीतगान (१२) तालमान (१३) मेघवृष्टि (१४) फलाकृष्टि (१५) आकार गोपन (रूप को छिपा लेना), (१६) धर्मविचार (१७) धर्मनीति (१८) शकुनविचार (१९) क्रिया कलाप (२०) आरामरोपण (२१) संस्कृतजल्प (२२) प्रसादनीति (२३) सुवर्णवृद्धि (२४) सुगंधित तैल बनाना (२५) लीलासंचरण (माया करना) (२६) हाथी-घोड़ा की परीक्षा (२७) स्त्री-पुरुष के लक्षणों का ज्ञान (२८) कामक्रिया (२९) लिपिछेदन (३०) तात्कालिक बुद्धि (३१) वस्तुसिद्धि (३२) वैद्यक्रिया (३३) सुवर्णरत्न शुद्धि (३४) कुंभभ्रम (३५) सार परिश्रम (३६) अंजनयोग (३७) चूर्ण योग (३८) हस्तमदुता (३९) वचनपटुता (४०) भोजनविधि (४१) वाणिज्य-

१८ लिपियाँ* और १४ विद्याएँ+ वगैरह सिखलाते हैं। फिर जिताचार के अनुसार स्वर्ग से इन्द्र आकर बहुत ठाटबाट के साथ, उन तीर्थङ्कर का राज्याभिषेक करके उन्हें राजा बनाता है। लग्नोत्सव करके पाणिग्रहण कराता है। ज्यों-ज्यों कुटुम्ब की वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों ग्राम-नगर आदि की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार भरतक्षेत्र में आबादी हो जाती है।

सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था हो चुकने के अनन्तर तीर्थङ्कर राज्य-ऋद्धि का परित्याग कर देते हैं। और संयम ग्रहण करके, तपश्चर्या करके चार घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय करके, केवलज्ञानी होकर तीर्थ

विधि (४२) काव्य शक्ति (४३) व्याकरण (४४) शालि खंडन (४५) मुखमण्डन (४६) कथाकथन (४७) पुष्पमालाग्रंथन (४८) शृङ्गार सजना (४९) सर्वभाषा ज्ञान (५०) अभिधानज्ञान (५१) आभरणविधि (५२) भृत्य उपचार (५३) गृहाचार (५४) संचयन (संचय करना) (५५) निराकरण (५६) धान्य राँधना (५७) केश गूंथना (५८) वीणावाद (५९) वितंडावाद (६०) अंकविचार (६१) सत्यसाधन (६२) लोक व्यवहार (६३) अन्त्याक्षरी (६४) प्रश्न पहेली।

* *अठारह प्रकार की लिपियाँ—(१) हंसलिपि (२) भूतलिपि (३) पक्षलिपि (४) राक्षसलिपि (५) यवनीलिपि (६) तुर्कीलिपि (७) कीरलीलिपि (८) द्राविडीलिपि (९) सैंधवीलिपि (१०) मालवीलिपि (११) कन्नड़ीलिपि (१२) नागरीलिपि (१३) लाटीलिपि (१४) फारसीलिपि (१५) अनिमतलिपि (१६) चाणकीलिपि (१७) मूलदेवलिपि (१८) उड़ियालिपि। यह अठारह मूललिपियाँ हैं। देश विदेश से एक-एक लिपि के अनेकानेक अवान्तर भेद होते रहते हैं। जैसे माघवी, लटी, चौड़ी डाहली, तेलंगी, गुजराती, सोरठी, मरहठी, कोंकणी, खुरसाणी, सिंहली, हारी, कीही, हम्मीरी, परतीरी, मस्सी, महायोधी आदि अनेक लिपियाँ उक्त मूल लिपियों के ही विभिन्न रूपान्तर हैं।*

+ *चौदह लोकोत्तर विद्याएँ—(१) गणितानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग (५) शिक्षाकल्प (६) व्याकरण (७) छन्दविद्या (८) अलंकार (९) ज्योतिष् (१०) निर्युक्ति (११) इतिहास (१२) शास्त्र (१३) मीमांसा (१४) न्याय।*

चौदह लौकिक विद्याएँ—(१) ब्रह्म (२) चातुरी (३) बल (४) वाहन (५) देशना (६) वाहु (७) जलतरण (८) रसायन (९) गायन (१०) वाद्य (११) व्याकरण (१२) वेद (१३) ज्योतिष (१४) वैदिक।

उल्लिखित कलाएँ, विद्याएँ और लिपियाँ यों तो अनादि काल से चली आ रही हैं और अनन्त काल तक चलती रहेंगी; किन्तु काल के प्रभाव से भरत और ऐरावत क्षेत्र में कभी लुप्त हो जाती हैं और कभी प्रकाश में आती हैं। महाविदेह क्षेत्र में सदैव बनी रहती हैं।

की स्थापना करते हैं। इस प्रकार लौकिक कल्याण और लोकोत्तर कल्याण का, जगत को मार्ग प्रदर्शित करके आयु का अन्त होने पर मोक्ष पधारते हैं।

प्रथम तीर्थङ्कर के समय, राजकुल में प्रथम चक्रवर्त्ती का भी जन्म होता है। जैसे तीर्थङ्कर की माता १४ स्वप्न देखती हैं उसी प्रकार चक्रवर्त्ती की माता भी १४ स्वप्न देखती है मगर वे स्वप्न कुछ मन्द होते हैं। इन चक्रवर्त्ती का भी देहमान ५०० योजन का और आयुष्य ८४ लाख पूर्व का होता है। वे चालीस लाख अष्टापदों के बल के धारक होते हैं। युवावस्था प्राप्त होने पर पहले माण्डलिक राजा होते हैं और फिर १३ तेला करके भरतक्षेत्र के छह खण्डों के एकच्छत्र शासक बनते हैं।

चक्रवर्त्ती की ऋद्धि



चौदह रत्न

चक्रवर्त्ती के चौदह रत्न और नौ निधियाँ होती हैं। चौदह रत्नों में सात एकेन्द्रिय और सात पंचेन्द्रिय रत्न हैं। निम्नलिखित चौदह रत्नों में प्रारम्भ के सात एकेन्द्रिय और अन्त के सात पंचेन्द्रिय रत्न हैं:—

(१) चक्ररत्न-सेना के आगे-आगे आकाश में 'गरणाट' शब्द करता हुआ चलता है और छह खण्ड साधने का रास्ता बतलाता है।

(२) छत्ररत्न—सेना के ऊपर १२ योजन लम्बे, ९ योजन चौड़े छत्र के रूप में परिणत हो जाता है और शीत, ताप तथा वायु आदि के उपसर्ग से रक्षा करता है।

(३) दण्डरत्न—विषम स्थान को सम करके सड़क जैसा रास्ता बना देता है और वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं के द्वार खुले करता है।

(४) खड्गरत्न—यह ५० अंगुल लम्बा, १६ अंगुल चौड़ा और आधा अंगुल मोटा होता है, अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला होता है। हजारों कोसों की

दूरी पर स्थित शत्रु का सिर काट डालता है। (यह चारों रत्न चक्रवर्ती की आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं।)

(५) मणिरत्न—चार अंगुल लम्बा और दो अंगुल चौड़ा होता है। इसे ऊँचे स्थान पर रख देने से दो योजन तक चन्द्रमा के समान प्रकाश करता है। अगर हाथी के मस्तक पर रख दिया जाय तो सवार को किसी प्रकार का भय नहीं होता।

(६) कांगनीरत्न—छहों ओर से चार-चार अंगुल लम्बा-चौड़ा, सुनार के ऐरन के समान, ६ तले, ८ कोने और १२ हांसे वाला तथा ८ सोनैया भर वजन का होता है। इस से वैताढ्य पर्वत की गुफाओं में एक-एक योजन के अन्तर पर ५०० धनुष के गोलाकार ४९ मंडल किये जाते हैं। उसका चन्द्रमा के समान प्रकाश जब तक चक्रवर्त्ती जीवित रहते हैं तब तक बना रहता है।

(७) चर्मरत्न—यह दो हाथ लम्बा होता है। यह १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी नौका रूप हो जाता है। चक्रवर्त्ती की सेना इस पर सवार हो कर गङ्गा और सिंधु जैसी महानदियों को पार करती है। (यह तीनों रत्न चक्रवर्त्ती के लक्ष्मीभण्डार में उत्पन्न होते हैं।)

(८) सेनापतिरत्न—बीच के दोनों खंडों को चक्रवर्त्ती स्वयं जीतता है और चारों कोनों के चारों खण्डों को चक्रवर्ती का सेनापति जीतता है। यह वैताढ्यपर्वत की गुफाओं के द्वार दंड का प्रहार करके खोलता है और म्लेच्छों को पराजित करता है।

(९) गाथापतिरत्न—चर्मरत्न को पृथ्वी के आकार का बना कर, उस पर २४ प्रकार का धान्य और सब प्रकार के मेवा-मसाले, शाक-भाजी आदि दिन के पहले पहर में लगाते हैं, दूसरे पहर में सब पक जाते हैं और तीसरे पहर में उन्हें तैयार करके चक्रवर्ती आदि को खिला देता है।

(१०) वर्धकिरत्न—मुहूर्त्त भर में १२ योजन लम्बा, ९ योजन चौड़ा और ४२ खंड का महल, पौषधशाला, रथशाला, घुड़साल, पाकशाला,

बाजार आदि सब सामग्री से युक्त नगर बना देता है । रास्ते में चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार के साथ उसमें निवास करते हैं ।

(११) पुरोहितरत्न—शुभ मुहूर्त्त बतलाता है। लक्षण, हस्तरेखा आदि (सामुद्रिक), व्यंजन (तिल, मसा आदि) स्वप्न, अंग का फड़कना-इत्यादि सबका शुभ-अशुभ फल बतलाता है। शान्तिपाठ करता है। जाप करता है।

(१२) स्त्रीरत्न—(श्रीदेवी) वैताढ्यपर्वत की उत्तर श्रेणी के स्वामी विद्याधर की पुत्री होती है। अत्यन्त सुरूपवती और सदैव कुमारिका के समान युवती रहती है। इसका देहमान चक्रवर्ती के देहमान से चार अंगुल कम होता है। यह पुत्र प्रसव नहीं करती हैं।

(१३) अश्वरत्न—(कमलापति घोड़ा) पूंछ से मुख तक १०८ अंगुल लम्बा, खुर से कान तक ८० अंगुल ऊँचा, क्षण भर में अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देने वाला और विजयप्रद होता है।

(१४) गजरत्न—यह चक्रवर्ती से दुगुना ऊँचा होता है। महा सौभाग्यशील, कार्यदक्ष और अत्यन्त सुन्दर होता है । (यह अश्व और हाथी वैताढ्यपर्वत के मूल में उत्पन्न होते हैं।)

चक्रवर्त्ती महाराज के यह चौदह रत्न (श्रेष्ठ पदार्थ) होते हैं।

नवनिधियाँ



(१) 'नैसर्पनिधि' से ग्राम आदि बसाने की तथा सेना का पड़ाव डालने की सामग्री और विधि प्राप्त होती है।

(२) 'पंडुकनिधि' से तोलने और नापने के उपकरण प्राप्त होते हैं।

(३) 'पिंगलनिधि' से मनुष्यों और पशुओं के सब प्रकार के आभूषण प्राप्त होते हैं।

(४) 'सर्वरत्ननिधि' से चक्रवर्ती को १४ रत्न और सब प्रकार के रत्नों तथा जवाहरात की प्राप्ति होती है।

(५) 'महापद्मनिधि' से वस्त्रों की तथा वस्त्रों को रङ्गने की सामग्री प्राप्त होती है।

(६) 'कालनिधि' अष्टाङ्ग निमित्त सम्बन्धी, इतिहास सम्बन्धी तथा कुम्भकार आदि के शिल्प सम्बन्धी शास्त्रों की प्राप्ति होती है।

(७) 'महाकालनिधि' से स्वर्ण आदि धातुओं की, वर्त्तनों की और नकद धन की प्राप्ति होती है।

(८) 'माणवडनिधि' से सब प्रकार के अस्त्रों और शस्त्रों की प्राप्ति होती है।

(९) 'शङ्खनिधि' से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन बतलाने वाले शास्त्र की तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, संकीर्ण गद्य-पद्यमय शास्त्रों की और सब प्रकार के वादित्रों की प्राप्ति होती है।

यह नौ ही महानिधियाँ सन्दूक के समान १२ योजन लम्बे, ९ योजन चौड़े, ८ योजन ऊँचे चक्र से युक्त, जहाँ समुद्र और गङ्गा का समागम हुआ है वहाँ रहती हैं। जब चक्रवर्त्ती अष्टमभक्त (तेला) तप करके इनकी आराधना करते हैं, तब वहाँ चक्रवर्त्ती के पैर के नीचे आकर रहती हैं। इनमें से द्रव्यमय वस्तु तो साक्षात् निकलती है और कर्मरूप वस्तु को बतलाने वाली विधियों की पुस्तकें निकलती हैं; जिन्हें पढ़कर इष्ट अर्थ की सिद्धि की जा सकती है। चक्रवर्त्ती की आयु पूर्ण होने के पश्चात् अथवा दीक्षा लेने के बाद यह सब साधन अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

चौदह रत्न और नव निधियाँ एक-एक हजार देवों से अधिष्ठित होती हैं। वह देव ही पूर्वोक्त सब कार्य करते हैं।

अन्य ऋद्धि



चक्रवर्त्ती महाराज के २००० आत्मरक्षक देव होते हैं। छहों खण्डों के ३२००० देशों* में (२१०००००० कोस में) राज्य होता है।

* २८ पुरुषों और ३२ स्त्रियों का—६० व्यक्तियों का एक कुल गिना जाता है। ऐसे १०००० कुलों का एक ग्राम और ३०००० ग्रामों का एक देश माना जाता है। पाँच अनार्य खंडों में से प्रत्येक में ऐसे ५३३६ देश हैं और मध्य के आर्य खंड में ५३२० देश होते हैं। इस प्रकार ३२००० देशों में ३१९७४॥ देश अनार्य हैं और सिर्फ २५॥ देश आर्य होते हैं।

३२००० मुकुटधारी राजा उनके सेवक होते हैं। ६४००० रानियाँ+ होती हैं। ८४००००० लाख हाथी, ८४००००० घोड़े, ८४००००० रथ, ९६००००००० पैदल, ३२००० नृत्यकार, १६००० राजधानियाँ, १६००० द्वीप, ९९००० द्रोणमुख, ९६००००००० ग्राम, ४९००० बगीचे, १४००० महामन्त्री, १६००० म्लेच्छ राजा सेवक, १६००० रत्नागार, २०००० सुवर्ण चाँदी के आकर, ४८००० पट्टन, ३००००००० गोकुल× ३६० भोजन बनाने वाले रसोइए, २६००००० अङ्गमर्दक, ९९००००००० दास-दासियाँ, ९९००००० अङ्गरक्षक, ३००००००० आयुधशालाएँ, ३००००००० वैद्य, ८००० पण्डित और ६४००० बयालीस मंजिल वाले महल होते हैं। ४००००००० मन अन्न, १००००० मन नमक और ७२ मन हींग प्रतिदिन का खर्च है। इत्यादि और भी बहुत-सी ऋद्धि चक्रवर्त्ती की होती है। इस ऋद्धि को त्याग कर जो संयम धारण करते हैं तो मोक्ष या स्वर्ग जाते हैं। अगर राज्य भोगते-भोगते मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो नरक गति में जाते हैं।÷

इस आरे में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका और केवलज्ञानी होते हैं। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और मोक्ष—इन पाँचों गतियों में जाने वाले जीव होते हैं।

(४) दुखमा-सुखमा—इस प्रकार तीसरा आरा समाप्त होते ही, ४२००० वर्ष कम एक करोड़ सागरोपम का चौथा दुखमा-सुखमा (दुःख ज्यादा, सुख थोड़ा) नामक चौथा आरा आरंभ होता है। तब पहले की अपेक्षा वर्णादि की, शुभ पुद्गलों की अनन्तगुणी हानि हो जाती है। देहमान क्रमशः घटते-घटते ५०० धनुष का और आयुष्य एक करोड़ पूर्व का रह जाता है। पसलियाँ सिर्फ ३२ होती हैं। दिन में सिर्फ एक बार भोजन

+ कोई-कोई १९२००० स्त्रियाँ कहते हैं। सो एक राजकन्या के साथ एक प्रधान की और एक पुरोहित की पुत्री आती है, ऐसा कहा जाता है। अतः ६४०००×३= १९२००० हो जाती हैं।

× दस हजार गायों का एक गोकुल कहलाता है।

÷ उपर्युक्त चक्रवर्ती की ऋद्धि सारे भरतक्षेत्र में होती है।

की इच्छा होती है। छहों संहनन* तथा छहों संस्थानों+ वाले और पाँचों गतियों में जाने वाले मनुष्य होते हैं। २३ तीर्थङ्कर, ११ चक्रवर्त्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव, ६ प्रतिवासुदेव भी इसी आरे में होते हैं।

वासुदेव—पूर्वभव में निर्मल तप संयम का पालन करके नियाणा (निदान) करते हैं और आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग या नरक का एक भव करके उत्तम कुल में अवतरित होते हैं। उनकी माता को सात उत्तम स्वप्न आते हैं। जन्म ग्रहण करके, युवावस्था को प्राप्त होकर राजसिंहासन पर स्थित होते हैं। वासुदेव पद की प्राप्ति के समय सात रत्न उत्पन्न होते हैं। यथा—(१) सुदर्शन चक्र (२) अमोघ खड्ग (३) कौमुदी गदा (४) पुष्प-माला (५) धनुष-अमोघबाण (शक्ति) (६) कौस्तुभमणि और (७) महारथ। २०००००० अष्टापदों का बल इनके शरीर में होता है।

वासुदेव से पहले प्रतिवासुदेव उत्पन्न होता है। वह दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र पर राज्य करता है। वासुदेव उसे मार कर उसके राज्य के अधिकारी बन जाते हैं। अर्थात् वासुदेव का तीन खण्डों पर एक छत्र राज्य होता है।

---

* १—हड्डियाँ, हड्डियों की संधियाँ (कील) और ऊपर वेष्टन वज्र का होना (१) वज्र ऋषभनाराच संहनन कहलाता है। हड्डियां और कील वज्र की हों और वेष्टन सामान्य हो वह (२) ऋषभनाराच संहनन है। कील वज्र की हो, हाड़ और वेष्ठन साधारण तो वह (३) नाराच संहनन है। हड्डियों में कील पूरी पार न गई हो, आधी बैठी हो वह (४) अर्धनाराच संहनन कहलाता है। हाड़ों में कील न होना, सिर्फ ऊपर मजबूत वेष्ठन होना (५) कीलक संहनन है। अलग-अलग हाड़ों का नसों से बँधा रहना (६) सेवार्त्त (छेवट्ट) संहनन कहलाता है।

+ सारे शरीर का आकार प्रमाणोपेत सुन्दर होना (१) समचतुरस्र संस्थान। बड़ के वृक्ष की तरह ऊपर से ठीक और नीचे से खराब (हीन) आकार होना (२) न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान। इससे उलटा अर्थात् नीचे के अवयव ठीक और ऊपर के अवयव खराब होना (३) स्वाति संस्थान। शरीर का आकार बौना होना (४) वामन संस्थान। शरीर पर कूबड़ होना (५) कुब्जक संस्थान। सारा शरीर बेडौल होना (६) हुंडक संस्थान कहलाता है।

इस अवसर्पिणीकाल के १२ चक्रवर्ती के नाम ग्रामादि का यन्त्र

नाम चक्रवर्ती का	नगर के नाम	पिता के नाम	माता के नाम	स्त्री का नाम	आयु प्रमाण	देहमान	गति	किस तीर्थङ्कर के वक्त
१ भरत	अयोध्या	ऋषभदेव	सुमङ्गला	सुभद्रा	८४ लक्ष पूर्व	५०० धनुप	मोक्ष	ऋषभदेवजी के
२ सगर	अयोध्या	सुमति	जयवती	भद्रा	७२ लक्ष पूर्व	४५० धनुप	मोक्ष	अजितनाथजी के
३ माधव	श्रावस्ती	विजय	भद्रा	सुनन्दा	५ लक्ष वर्ष	४२ धनुष	मोक्ष	धर्मनाथजी के बाद
४ सनत्कुमार	हस्तिनापुर	समुद्र	शिवा	रत्ना	३ लक्ष वर्ष	४१ धनुष	मोक्ष	धर्मनाथजी के बाद
५ शांतिनाथ	हस्तिनापुर	विश्वसेन	अचिरा	विजया	१ लक्ष वर्ष	४० धनुष	क्ष	शांतिनाथजी खुद
६ कुन्थुनाथ	हस्तिनापुर	सुरराय	श्रीदेवी	कृष्णाश्री	९५००० वर्ष	३५ धनुष	म क्ष	कुन्थुनाथजी खुद
७ अरनाथ	[illegible]	सुदर्शन	देवी	सूरश्री	८४००० वर्ष	३० धनुष	मोक्ष	अरनाथजी खुद
८ संभूम	हस्तिनापुर	परिमिन्त	जाली	पद्मश्री	६०००० वर्ष	८ धनुष	नरक	अरनाथजी के बाद
९ महापद्म	बाणारसी	कीर्त्तिवर्म	तारा	सुन्दरी	३०००० वर्ष	२० धनुष	मोक्ष	मुनिसुव्रतजी के वक्त
१० हरिषेण	कम्पिलपुर	महाहरी	मेरा	देवी	१०००० वर्ष	१५ धनुष	मोक्ष	नेमिनाथजी के वक्त
११ जयसेण	राजग्रही	पद्म	वपरा	लक्ष्मी	३००० वर्ष	१२ धनुष	मोक्ष	नेमिनाथजी के बाद
१२ ब्रह्मदत्त	कम्पिलपुर	ब्रह्म	चुलणी	कुरुमति	७०० वर्ष	७ धनुष	नरक	अरिष्टनेमिजी के बाद

बलदेव (राम) वासुदेव के पहिले और वासुदेव के जैसे ही, अपनी माता को ४ उत्तम स्वप्न देकर अवतरते हैं। दोनों के पिता एक होते हैं और माता अलग-अलग होती हैं। फिर दोनों भाइयों के परस्पर अत्यन्त प्रेम होने से दोनों ही मिल के तीन खण्डों में राज्य करते हैं। १०००००० अष्टापद का इनके शरीर में पराक्रम होता है। वासुदेव की आयु पूर्ण हुए बाद यह संयम धारण कर आयु का अन्त कर स्वर्ग तथा मोक्ष जाते हैं।

इस अवसर्पिणीकाल के बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव का यन्त्र

बलदेव के नाम	अचल	विजय	भद्र	सुप्रभ	सुदर्शन	अनन्द	नन्दन	पद्मरथ	बलभद्र
वासुदेव के नाम	त्रिपृष्ट	द्विपृष्ट	स्वयंभू	पुरुषोत्तम	पुरुषसिंह	पुरुषपुंडरीक	दत्त	लमदण	कृष्ण
दोनों के नगर	पोतनपुर	द्वारावति	द्वारावती	द्वारावती	अश्वपुर	चक्रपुर	बनारसी	राजगृही	मथुरा
दोनों के पिता	प्रजापति	ब्रह्म	रुद्र	सोम	शिव	सहस्र	अग्रेष	दशरथ	वसुदेव
बलदेव की माता	भद्रा	सुभद्रा	सुप्रभा	सुदर्शना	विजया	विजयन्ती	जयन्ती	अपराजिता	रोहिणी
वासुदेव की माता	मृगावती	पद्मावती	पृथ्वी	सीता	अम्मा	लक्ष्मा	सुखवती	सुमित्रा	देवकी
दोनों का देहमान	८० धनुष	७० धनुष्य	६० धनुष	५० धनुष	४५ धनुष	२९ धनुष्य	२६ धनुष्य	१६ धनु०	१० धनु०
बलदेव की आयु	८५लक्ष वर्ष	७५लक्ष वर्ष	६५लक्ष वर्ष	५५लक्ष वर्ष	१७लक्ष वर्ष	८५०००वर्ष	६५ हजार	१५ हजार	१२००० वर्ष
वासुदेव की आयु	८४लक्ष वर्ष	७२लक्ष वर्ष	६०लक्ष वर्ष	३०लक्ष वर्ष	१०लक्ष वर्ष	६५०००वर्ष	५६ हजार	१२ हजार	१००० वर्ष
बलदेव की गति	मोक्ष	मोक्ष	मोक्ष	मोक्ष	मोक्ष	मोक्ष	मोक्ष	मोक्ष	ब्रह्मदेवलोक
वासुदेव की गति	७वीं नर्क	६ नर्क	६ नर्क	६ नर्क	६ नर्क	नर्क	५ नर्क	४ नर्क	३ नर्क
प्रतिवासुदेव के नाम	सुग्रीव	तारक	नेरक	मधु कोट	नसुम्भ	बल	प्रह्लाद	रावण	जरासिंध
प्रतिवासुदेव की आयु	८५लक्ष वर्ष	७५लक्ष वर्ष	६५लक्ष वर्ष	५५लक्ष वर्ष	१७लक्ष वर्ष	८५ हजार	६५ हजार	१५ हजार	१२०० वर्ष
किस के समय में	श्रेयांसजी	वासुपूज्यजी	विमलनाथ	अनंतनाथ	धर्मनाथजी	अरह०बाद	अरह०बाद	मुनिसुव्रत	अरिष्टनेमिजी

वर्त्तमानकालीन कामदेवों, रुद्रों और नारदों के नाम❀

चौवीस कामदेवों के नामः—(१) बाहुबली (२) अमृततेज (३) श्रीधर (४) दशार्णभद्र (५) प्रसन्नचन्द्र (६) चन्द्रवर्ण (७) अग्नियुक्ति (८) सनत्कुमार (९) श्रीवत्स राजा (१०) कनकप्रभ (१२) शान्तिनाथ (१३) कुन्थुनाथ (१४) अरनाथ (१५) विजयनाथ (१६) श्रीचन्द्र (१७) नलराज (१८) हनुमान (१९) बलिराज (२०) वसुराज (२१)प्रद्युम्न (२२) नागकुमार (२३) श्रीकुमार (२४) जम्बूस्वामी।

ग्यारह रुद्रों के नामः—(१) भीम (२) जयतिसत्य (३) रुद्राय (४) विश्वानल (५) सुप्रतिष्ठ (६) अचल (७) पौण्डरीक (८) अजितधर (९) अजितनाभि (१०) पीठा (११) सत्यकी।

नौ नारदों के नाम— (१) भीम (२) महाभीम (३) रुद्र (४) महारुद्र (५) काल (६) महाकाल (७) चतुर्मुख (८) नरकवदन (९) ऊर्ध्वमुख।

चौथा आरा समाप्त होने में जब तीन वर्ष और ८॥ महीने शेष रहते हैं तब चौवीसवें तीर्थङ्कर मोक्ष पधार जाते हैं।

(५) दुखमा आरा—उक्त प्रकार से चौथा आरा जब समाप्त हो जाता है तो २१००० वर्ष का 'दुखमा' नामक पाँचवाँ आरा आरम्भ होता है। चौथे आरे की अपेक्षा वर्ण, रस, गंध, स्पर्श में अर्थात् शुभ पुद्गलों में अनन्तगुनी हीनता हो जाती है। आयु क्रम से घटते-घटते १२५ वर्ष की, शरीर की अवगाहना सात हाथ की जथा पृष्ठकरंड (पसलियाँ) १६ रह जाते हैं। दिन में दो बार आहार करने की इच्छा होती है।

पाँचवें आरे में दस बातों का अभाव हो जाता है—(१) केवलज्ञान+ (२) मनःपर्याय ज्ञान (३) परमावधिज्ञान× (४,५,६) परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-

---

❀ कामदेव आदि के नाम दिगम्बर सम्प्रदाय के सुदृष्टितरंगिणी शास्त्र में हैं।

+ चौथे आरे में जन्मे मनुष्य को पांचवें आरे में केवलज्ञान हो सकता है, पांचवें आरे में जन्म लेने वाले को नहीं होता।

× सम्पूर्ण लोक और लोक जैसे असंख्यात खंड अलोक में हों तो उन्हें जानने की शक्ति जिसमें हो वह परमावधि ज्ञान कहलाता है।

साम्पराय और यथाख्यात नामक तीन चारित्र (७) पुलाकलब्धि (८) आहारक शरीर (९) क्षायिक सम्यक्त्व और (१०) जिनकल्पी मुनि।

निम्नलिखित ३० बोलों में फेरफार हो जाता है:- (१) नगर, ग्राम सरीखे हो जाते हैं (२) ग्राम श्मशान सरीखे हो जाते हैं (३) सुकुलोत्पन्न दास-दासी होते हैं (४) राजा यम की तरह क्रूर दण्ड देने वाले हो जाते हैं (५) कुलीन स्त्रियाँ दुराचारिणी होती हैं (६) पुत्र, पिता की आज्ञा भङ्ग करने वाले होते हैं (७) शिष्य गुरु की निन्दा करने वाला होता है (८) कुशील मनुष्य सुखी होते हैं (९) सुशील मनुष्य दुखी होते हैं (१०) सर्प, बिच्छू, डाँस-मच्छर मत्कुण आदि क्षुद्र जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है (११) दुष्काल बहुत पड़ते हैं (१२) ब्राह्मण लोभी हो जाते हैं (१३) हिंसा को धर्म बतलाने वाले बहुत होते हैं (१४) एक मत के अनेक मतान्तर हो जाते हैं (१५) मिथ्यात्व की वृद्धि होती है (१६) देवदर्शन दुर्लभ हो जाता है (१७) वैताढ्य पर्वत के विद्याधरों की विद्या का प्रभाव मन्द पड़ जाता है (१८) दुग्ध आदि सरस वस्तुओं की स्निग्धता (चिकनाहट) कम हो जाती है (१९) पशु अल्पायु हो जाते हैं (२०) पाखण्डियों की पूजा होती है (२१) चौमासे में साधुओं की स्थिति के योग्य क्षेत्र कम रह जाते हैं (२२) साधु की बारह और श्रावक की एकादश प्रतिमाओं का पालन करने वाला कोई नहीं रहता (२३) गुरु, शिष्य को पढ़ाते नहीं (२४) शिष्य अविनीत हो जाते हैं (२५) अधर्मी, कदाग्रही, धूर्त, दगाबाज और क्लेश करने वाले लोग अधिक होते हैं (२६) धर्मात्मा, सुशील और सरल-स्वभाव वाले लोगों की कमी हो जाती है (२७) उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाले, लोगों को भ्रम में डाल कर फँसाने वाले नाम मात्र के धर्मात्मा ज्यादा होते हैं (२८) आचार्य अलग-अलग सम्प्रदाय स्थापित करके आत्मस्थापी (अपनी जमाने वाले) और पर-उत्थापी (दूसरों की उखाड़ने वाले) होते हैं (२९) म्लेच्छ राजा अधिक होते हैं और (३०) लोगों की धर्म पर प्रीति कम हो जाती है।

यह तीस बातें क्रमशः अधिक-अधिक प्रचण्ड रूप धारण करती चली जाती हैं। पंचम आरे के अन्तिम दिन देवेन्द्र (शक्रेन्द्र) का आसन
मान होता है। तब इन्द्र आकाशवाणी करते हैं—'हे लोको!

आरा लगेगा; सावधान हो जाओ। धर्मकृत्य करना है सो कर लो।' इस प्रकार इन्द्र की वाणी सुनकर उत्तम धर्मात्मा पुरुष ममत्व का त्याग करके अनशन व्रत (संथारा) ग्रहण कर समाधिस्थ हो जाते हैं। फिर संवर्त्तक वायु❀ चलती है। उस भयानक वायु के कारण वैताढ्य पर्वत, ऋषभकूट, लवणोदधि की खाड़ी, गंगा नदी और सिन्धु नदी, इन पाँच के अतिरिक्त समस्त पर्वत, किले, महल और घर टूट-फूट कर भूमिसात (जमीदोज़) हो जाते हैं। पहले प्रहर में जैन-धर्म का विच्छेद, दूसरे प्रहर में अन्य समस्त धर्मों का विच्छेद, तीसरे प्रहर में राजनीति का विच्छेद और चौथे प्रहर में बादर अग्नि का विच्छेद हो जाता है।

(६) दुखमा-दुखमा—उक्त प्रकार पंचम आरे की पूर्णाहुति होते ही २१००० वर्ष का छठा आरा आरम्भ होता है। तब भरतक्षेत्र का अधिष्ठाता देव, पंचम आरे के विनष्ट होते हुए मनुष्यों में से बीज रूप कुछ मनुष्यों को उठा ले जाता है। वैताढ्य पर्वत के दक्षिण और उत्तर भाग में जो गंगा और सिन्धु नदी हैं, उनके आठों किनारों (तटों) में से प्रत्येक किनारे पर नौ-नौ बिल हैं। सब मिलकर ८×९=७२ बिल हैं। प्रत्येक बिल में तीन तीन मंजिल हैं। उक्त देव उन मनुष्यों को इन बिलों में रख देता है।

छठे आरे में पहले की अपेक्षा वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, में शुभ पुद्गलों की पर्याय में अनन्तगुनी हानि हो जाती है। आयु क्रम से घटते-घटते २० वर्ष की और शरीर की उँचाई सिर्फ एक हाथ की रह जाती है। शरीर में आठ पसलियाँ रह जाती हैं। अपरिमित आहार की इच्छा होती है अर्थात् कितना भी खा जाने पर तृप्ति नहीं होती। रात्रि में शीत और दिन में ताप अत्यन्त प्रबल होता है। इस कारण वे मनुष्य बिलों से बाहर नहीं निकल सकते। सिर्फ सूर्योदय के समय और सूर्यास्त के समय एक मुहूर्त्त के लिये बाहर निकल पाते हैं। उस समय गङ्गा और सिन्धु नदियों का पानी साँप के समान बाँकी गति से बहता है। गाड़ी के पहिये के मध्य भाग जितना चौड़ा

❀ दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में अवसर्पिणी काल पलटते समय सात-सात दिनों की वृष्टि के नाम इस प्रकार लिखे हैं:—१ पवन, २ शीत, ३ क्षारजल, ४ जहर, ५ वज्राग्नि ६ बालु-रज और ७ धूम्रवृष्टि।

और आधा पहिया डूबे जितना गहरा प्रवाह रह जाता है। उस पानी में कच्छ मच्छ बहुत होते हैं। वे मनुष्य उन्हें पकड़-पकड़ कर और नदी की रेत में गाड़ कर अपने बिलों में भाग जाते हैं। शीत-ताप आदि के योग से जब वे पक जाते हैं तो दूसरी बार आकर उन्हें निकाल लेते हैं। उस पर सब के सब मनुष्य टूट पड़ते हैं और लूट कर खा जाते हैं। मृतक मनुष्य की खोपड़ी में पानी लाकर पीते हैं। जानवर मच्छों वगैरह की बची हुई हड्डियों को खाकर गुजर करने हैं। उस काल के मनुष्य दीन, हीन, दुर्बल, दुर्गन्धित, रुग्ण, अपवित्र, नग्न, आचार-विचार से हीन और माता भगिनी पुत्री आदि के साथ संगम करने वाले होते हैं। छह वर्ष की स्त्री सन्तान का प्रसव करती है। वे कुतिया और शूकरी के समान बहुत परिवार वाले और महा क्लेश-मय होते हैं। धर्म-पुण्य से हीन वे दुःख ही दुःख में अपनी सम्पूर्ण आयु व्यतीत करके नरक या तिर्यंच गति के अतिथि बन जाते हैं।

(२) उत्सर्पिणीकाल



अवसर्पिणी काल के जिन छह आरों का वर्णन किया गया है वही छह आरे उत्सर्पिणी काल में होते हैं। अन्तर यह है कि उत्सर्पिणी काल में वे उलटे क्रम से होते हैं। उत्सर्पिणी काल दुखमा-दुखमा आरे से आरम्भ होकर सुखमा-सुखमा पर समाप्त होता है। आगे उनका वर्णन किया जाता है:—

(१) दुखमा-दुखमा—उत्सर्पिणी काल का पहला दुखमा-दुखमा आरा २१००० वर्ष का, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन आरम्भ होता है। इसका वर्णन अवसर्पिणी काल के छठे आरे के समान ही समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि इस काल में आयु और अवगाहना आदि क्रमशः बढ़ती जाती है।

(२) दुखमा—इसके अनन्तर दूसरा दुखमा आरा भी २१००० वर्ष का होता है और वह भी श्रावण कृष्णा प्रतिपद् के दिन आरम्भ होता है। इस आरे के आरम्भ होते ही पाँच प्रकार की वृष्टि सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में होती

है। यथा—(१) आकाश, घन-घटाओं से आच्छादित हो जाता है और विद्युत् के साथ सात दिन-रात तक निरन्तर 'पुष्कर' नामक मेघ वृष्टि करते हैं। इससे धरती की उष्णता दूर हो जाती है (२) इसके पश्चात् सात दिन वर्षा बन्द रहती है। फिर सात दिन पर्यन्त निरन्तर दुग्ध के समान 'क्षीर' नामक मेघ बरसते हैं, जिससे सारी दुर्गन्ध दूर हो जाती है। फिर सात दिन तक वर्षा बन्द रहती है।* फिर (३) घृत नामक मेघ सात दिन-रात तक निरन्तर बरसते रहते हैं। इससे पृथ्वी में स्निग्धता आ जाती है (४) फिर लगातार सात दिन-रात तक निरन्तर अमृत के समान अमृत नामक मेघ बरसते हैं। इस वर्षा से २४ प्रकार के धान्यों के तथा अन्यान्य सब वनस्पतियों के अंकुर जमीन में से फूट निकलते हैं। फिर सात दिन खुला रहने के बाद (५) ईख के रस के समान रस नामक मेघ सात दिन-रात+ तक निरन्तर बरसते हैं, जिससे वनस्पति में मधुर, कडक, तीक्ष्ण, कषैले और अम्ल रस की उत्पत्ति होती है।

निसर्ग की यह निराली लीला देख कर बिलों में रहने वाले वे मनुष्य चकित हो जाते हैं और बाहर निकलते हैं। मगर वृक्षों और लताओं के पत्ते हिलते देखकर भयभीत हो जाते हैं और फिर अपने बिलों में घुस जाते हैं। किन्तु बिलों के भीतर की दुर्गन्ध से घबरा कर फिर बाहर निकलते हैं। धीरे-धीरे अभ्यास से उनका भय दूर होता है और फिर निर्भय होकर वृक्षों के पास पहुँचने लगते हैं। फिर फलों का आहार भी करने लगते हैं। फल उन्हें मधुर लगते हैं और तब वे मांसाहार का परित्याग कर देते हैं। मांसाहार से उन्हें इतनी घृणा हो जाती है कि वे जातीय नियम बना लेते हैं कि—'अब जो मांस का आहार करे, उसकी परछाई में भी खड़ा न रहना।' इस प्रकार धीरे-धीरे जाति-विभाग भी हो जाते हैं और पाँचवें आरे

---

* बीच में जो दो सप्ताहों का खुल्ला काल बताया सो ग्रन्थ से मानना।

+ पांच सप्ते वर्षाद के और दो सप्ते खुल्ले रहने के, यों सात सप्तों के ७×७-४६ दिन, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से भाद्रपद शुल्का पंचमी तक होते हैं। व्यवहार में उस ही दिन संवत्सरारंभ होने से ४९—५०वें दिन 'संवत्सरी' महापर्व किया जाता है, इसलिये यह सम्वत्सरी पर्व भी अनादि से है, अनन्त काल तक रहेगा।

सरीखी (वर्त्तमानकाल जैसी) सब व्यवस्था स्थापित हो जाती है। वर्णादि की शुभ पर्यायों में अनन्तगुणी वृद्धि होती है।

(३) दुखमा-सुखमा—नामक आरा ४२००० वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसकी सब रचना अवसर्पिणीकाल के चौथे आरे के समान समझनी चाहिए। इसके तीन वर्ष और ८॥ महीना व्यतीत होने के बाद प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म होता है। पहले कहे अनुसार इस आरे में २३ तीर्थङ्कर, ११ चक्रवर्त्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव आदि होते हैं। पुद्गल की वर्ण आदि शुभ पर्यायों में अनन्तगुणी वृद्धि होती है।

(४) सुखमा-दुखमा—तीसरा आरा समाप्त होने पर चौथा सुखमा-दुखमा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागर का आरम्भ होता है। इसके ८४ लाख पूर्व, ३ वर्ष और ८॥ महीने बाद चौवीसवें तीर्थङ्कर मोक्ष चले जाते हैं; बारहवें चक्रवर्त्ती की आयु पूर्ण हो जाती है। करोड़ पूर्व का समय व्यतीत होने के बाद कल्पवृक्षों की उत्पत्ति होने लगती है। उन्हीं से मनुष्यों और पशुओं की इच्छा पूर्ण हो जाती है। तब असि, मसि, कृषि आदि के काम-धन्धे बन्द हो जाते हैं। युगल उत्पन्न होने लगते हैं। बादर अग्निकाय और धर्म का विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार तीसरे आरे में सब मनुष्य अकर्म-भूमिक बन जाते हैं। वर्ण आदि की शुभ पर्यायों में वृद्धि होती है।

(५) सुखमा—तत्पश्चात् सुखमा नामक तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम का पाँचवाँ आरा आरम्भ होता है। इसका समस्त वृत्तांत अवसर्पिणीकाल के दूसरे आरे के समान ही है। वर्ण आदि की शुभ पर्यायों में क्रमशः वृद्धि होती जाती है।

(६) सुखमा-सुखमा—फिर चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम का छठा आरा लगता है। इसका विवरण अवसर्पिणीकाल के प्रथम आरे के समान है। वर्ण आदि की शुभ पर्यायों में अनन्तगुणी वृद्धि होती है।

इस प्रकार दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का अवसर्पिणीकाल और दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का उत्सर्पिणीकाल होता है। दोनों मिल कर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र कहलाता है। भरत और ऐरावत

क्षेत्र में यह कालचक्र अनादि से घूम रहा है और अनन्तकाल तक घूमता रहेगा।

ऊर्ध्वलोक का वर्णन



शनैश्चर के विमान की ध्वजा से १॥ रज्जु ऊपर १६॥ रज्जु घनाकार विस्तार में घनोदधि (जमे हुए पानी) के आधार पर, लगडाकार, जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिण दिशा में पहला सौधर्म देवलोक (स्वर्ग) है और उत्तर दिशा में दूसरा देवलोक है। इन दोनों देवलोकों में तेरह-तेरह प्रतर हैं।* इन प्रतरों में पाँच-पाँच सौ योजन ऊँचे और सत्ताईस-सत्ताईस योजन की नींव वाले विमान हैं। पहले देवलोक में ३२०००००० विमान हैं और दूसरे देवलोक में २८०००००० विमान हैं। पहले देवलोक के इन्द्र का नाम शक्रेन्द्र है। शक्रेन्द्र की आठ अग्रमहिषियाँ (इन्द्रानियाँ) हैं। दूसरे देवलोक के इन्द्र का नाम ईशानेन्द्र है। इनकी भी आठ अग्रमहिषियाँ (इन्द्रानियाँ) हैं। प्रत्येक इन्द्रानी का सोलह-सोलह हजार देवियों का परिवार है।

पहले देवलोक के देवों की आयु जघन्य एक पल्योपम की और उत्कृष्ट दो सागरोपम की है। उनकी परिगृहीता देवी की आयु जघन्य एक पल्योपम की और उत्कृष्ट सात पल्योपम की है। दूसरे देवलोक के देवों की आयु जघन्य एक पल्योपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट दो सागरोपम से कुछ अधिक है। इनकी परिगृहीता देवियों की आयु जघन्य एक पल्योपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट नौ पल्योपम की है। दूसरे देवलोक से आगे देवियों की उत्पत्ति नहीं होती।

उक्त दोनों देव लोकों की सीमा के ऊपर, १६॥ रज्जु घनाकार विस्तार में, घनवत (जमी हुई हवा) के आधार पर, दक्षिण दिशा में, तीसरा सनत्कुमार नामक देवलोक है और उत्तर दिशा में चौथा महेन्द्र नामक देव-

* *जैसे मकान में मंजिल होते हैं, उसी प्रकार देवलोकों में प्रतर होते हैं। जैसे मंजिल में कमरे होते हैं, उसी प्रकार प्रतरों में विमान होते हैं।*

लोक है। दोनों में बारह बारह प्रतर हैं। इन प्रतरों में छह-छह सौ योजन ऊँचे और छब्बीस-छब्बीस सौ योजन की नींव वाले विमान हैं। तीसरे देवलोक में १२००००० और चौथे देवलोक में ८००००० विमान हैं। तीसरे देवलोक के देवों की जघन्य दो सागरोपम और उत्कृष्ट सात सागरोपम की आयु है। चौथे देवलोक के देवों की जघन्य दो सागरोपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट सात सागरोपम से कुछ अधिक आयु है।

इन दोनों देवलोकों की सीमा से आधा रज्जु ऊपर १८॥ रज्जु घनाकार विस्तार में, मेरुपर्वत पर बराबर मध्य में घनवात के आधार पर पाँचवाँ ब्रह्म नामक देवलोक है। इसमें छह प्रतर हैं, जिनमें सात सौ योजन ऊँचे और २५०० योजन अंगनाई (नींव) वाले ४००००० विमान हैं। वहाँ के देवों की आयु जघन्य सात सागरोपम और उत्कृष्ट दस सागरोपम की है।

पाँचवें देवलोक के तीसरे अरिष्ट नामक प्रतर के पास, दक्षिण दिशा में, त्रसनाड़ी के भीतर, पृथ्वी-परिणाम रूप, कृष्ण वर्ण की, मुर्गे के पींजरे के आकार की, परस्पर मिली हुई आठ कृष्णराजियाँ हैं। चार चारों दिशाओं में हैं और चार चारों विदिशाओं में हैं। इन आठों के आठ अन्तरों में आठ विमान हैं और आठों के मध्य में भी एक विमान है। इस प्रकार कुल नौ विमान हैं इनमें लौकान्तिक जाति के देवों का निवास है। इन विमानों और उनमें रहने वाले देवों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) ईशान कोण में अर्चि नामक विमान है। उसमें 'सारस्वत' देव रहते हैं।

(२) पूर्व दिशा में अर्चिमाली नामक विमान है, उसमें 'आदित्य' देव रहते हैं। इन दोनों प्रकार के देवों का ७०० देवों का परिवार है।

(३) आग्नेय कोण में वैरोचन विमान है और उसमें 'वह्नि' देव रहते हैं।

(४) दक्षिण दिशा में प्रभङ्कर विमान है, जिसमें 'वरुण' देव रहते हैं। इन दोनों का १४००० देवों का परिवार है।

(५) नैऋत्य कोण में चन्द्राभ विमान है, जिसमें 'गर्दतोय' देव रहते हैं।

(६) पश्चिम में सूर्याभ विमान है, जिसमें 'तुषित' देव रहते हैं। इन दोनों का ७००० देवों का परिवार है।

(७) वायुकोण में शक्राभ विमान है। जिसमें 'अव्याबाध' देव रहते हैं।

(८) उत्तर दिशा में सुप्रतिष्ठित विमान है जिसमें 'अग्नि' देव रहते हैं।

(९) सब के मध्य में अरिष्टाभ विमान है। जिसमें 'अरिष्ट' देव रहते हैं। इन तीनों का ६००० देवों का परिवार है।

यह नौ ही प्रकार के देव सम्यग्दृष्टि, तीर्थङ्करों को दीक्षा के अवसर पर चेताने वाले (अपने नियोग के अनुसार तीर्थङ्करों के वैराग्य की प्रशंसा करने वाले) और थोड़े ही भवों में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता वाले होते हैं। लोक (त्रसनाड़ी) के किनारे पर रहने के कारण इन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।

उक्त पाँचवें देवलोक की सीमा से आधा रज्जु १८॥। रज्जु घनाकार विस्तार में, मेरुपर्वत के बराबर मध्य में, घनवात और घनोदधि के आधार पर छठा लान्तक देवलोक है। इसमें पाँच प्रतर हैं, जिनमें ७०० योजन ऊँचे और २५०० योजन की अंगनाई वाले ५०००० विमान हैं। यहाँ के देवों की आयु जघन्य १० सागरोपम की और उत्कृष्ट १४ सागरोपम की है।

उक्त छठे देवलोक की सीमा पर पाव रज्जु ऊपर और ७। रज्जू घनाकार विस्तार में मेरु पर्वत के बराबर मध्य में, घनवात और घनोदधि के आधार पर सातवाँ 'महाशुक्र' देवलोक है। इसमें चार प्रतर हैं, जिनमें

* असंख्यातवें अरुणवर समुद्र से १७२१ योजन ऊँची, भीत के समान और अंधकारमय तमस्काय निकल कर ऊपर चढ़ती हुई चार देवलोकों को लाँघ कर पाँचवे देवलोक के तीसरे प्रतर के पास पहुँची है।

८०० योजन ऊंचे और २४०० योजन की अंगनाई वाले, ४०००० विमान हैं। यहाँ के देवों की आयु जघन्य १४ सागरोपम और उत्कृष्ट १७ सागरोपम की है।

सातवें देवलोक की सीमा से पाव रज्जु ऊपर ७। रज्जु घनाकार विस्तार में मेरु पर्वत के बराबर मध्य में, घनवात और घनोदधि के आधार से, आठवाँ 'सहस्रार' देवलोक है। इसमें चार प्रतर हैं। इन प्रतरों में ८०० योजन ऊँचे और २४०० योजन की अंगनाई वाले ६००० विमान हैं। यहाँ के देवों की आयु जघन्य १७ सागरोपम की और उत्कृष्ट १८ सागरोपम की है।

आठवें देवलोक की सीमा से पाव रज्जु ऊपर, १२॥ रज्जु घनाकार विस्तार में, मेरु से दक्षिण दिशा में नौवाँ 'आनत' देवलोक और उत्तरदिशा में दसवाँ 'प्राणत' देवलोक है। दोनों लगडाकार हैं। दोनों में चार-चार प्रतर हैं। इन प्रतरों में ६०० योजन ऊँचे और २२०० योजन की अंगनाई वाले, दोनों के मिलाकर ४०० विमान हैं। नौवें देवलोक के देवों की आयु जघन्य १८ सागरोपम और उत्कृष्ट १६ सागरोपम की है। दसवें देवलोक के देवों की आयु जघन्य १६ सागरोपम और उत्कृष्ट २० सागरोपम की है।

नौवें और दसवें देवलोक की सीमा से आधा रज्जु ऊपर, १०॥ रज्जु घनाकार विस्तार में, मेरु से दक्षिण दिशा में, ग्यारहवाँ 'आरण' देवलोक है और उत्तर दिशा में बारहवाँ 'अच्युत' देवलोक है। इन दोनों में भी चार चार प्रतर हैं, जिनमें १००० योजन ऊँचे और २२०० योजन की अंगनाई वाले, दोनों देवलोकों के मिलकर ३०० विमान हैं। ग्यारहवें देवलोक के देवों की आयु जघन्य २० सागरोपम और उत्कृष्ट २१ सागरोपम की है। बारहवें देवलोक के देवों की आयु जघन्य २१ सागरोपम और उत्कृष्ट २२ सागरोपम की है।

देवलोकों के नाम	इन्द्र के नाम	सामानिक देव	आत्म रक्षक देव	आभ्यन्तर परिषद् के देव	मध्यम परिषद् के देव	बाह्य परिषद् के देव	चिह्न	देहमान
१ सुधर्मा	शक्रेन्द्र	८४०००	३३६०००	१२०००	१४०००	१६०००	मृग	७ हाथ
२ ईशान	ईशानेन्द्र	८००००	३२००००	१००००	१२०००	१४०००	महिष	७ "
३ सनत्कुमार	सनत्कुमारेन्द्र	७५०००	३०००००	८०००	१००००	१२०००	वराह	६ "
४ माहेन्द्र	महेन्द्रइन्द्र	७००००	२८००००	६०००	८०००	१००००	सिंह	६ "
५ ब्रह्मलोक	ब्रह्मेन्द्र	६००००	२४००००	४०००	६०००	८०००	बकरा	५ "
६ लांतक	लांतकेन्द्र	५००००	२०००००	२०००	४०००	६०००	दादुर	५ "
७ महाशुक्र	महाशुक्रेन्द्र	४००००	१६००००	१०००	२०००	३०००	अश्व	५ "
८ सहस्रार	सहस्रारेन्द्र	३००००	१२००००	५००	१०००	२०००	गज	४ "
९ आनत १० प्राणत	दोनों के एक प्राणतेन्द्र	२००००	८००००	२५०	५००	१०००	सर्प गेंडा	४ "
११ आरण १२ अच्युत	दोनों के एक अच्युतेन्द्र	१००००	४००००	१२५	२५०	५००	वृषभ शाखामृग	३ "

इन एकेक इन्द्रों के ७ प्रकार की अणिका (सेना) हैं यथा—१ गन्धर्व, २ नाटक, ३ हस्ती, ४ घोड़े, ५ रथ ६ पैदल और ७ वृषभ।

पहले सौधर्म देवलोक में अपरिगृहीता (वेश्या जैसी) देवियों के छह लाख विमान हैं। इनमें रहने वाली देवियों की आयु जघन्य एक पल्योपम की और उत्कृष्ट पचास पल्योपम की है। इनमें से एक पल्योपम की आयु वाली ही देवी, पहले देवलोक के देवों के परिभोग में आती है। एक पल्योपम से एक समय अधिक से दस पल्योपम तक की आयु वाली देवियाँ तीसरे देवलोक के देवों के भोग में आती हैं। दस पल्योपम से एक समय अधिक से वीस पल्योपम तक आयु वाली देवियाँ पाँचवें देवलोक के देवों के

भोग में आती हैं। बीस पल्योपम से एक समय अधिक से ३० पल्योपम तक की आयु वाली देवियाँ सातवें देवलोक के देवों के भोग में आती हैं। तीस पल्योपम से एक समय अधिक से चालीस पल्योपम तक की आयु वाली देवियां नौवें देवलोक के देवों के भोग में आती हैं। चालीस पल्योपम से एक समय अधिक से पचास पल्योपम तक की आयु वाली देवियाँ ग्यारहवें देव-लोक के देवों के भोग में आती हैं।

दूसरे देवलोक में अपरिगृहीता देवियों के चार लाख विमान हैं। इनमें रहने वाली देवियों की आयु जघन्य एक पल्योपम से कुछ अधिक है और उत्कृष्ट पचपन पल्योपम की है। इनमें से एक पल्योपम की आयु वाली देवियां ही दूसरे देवलोक के देवों के परिभोग में आती हैं। एक पल्योपम से एक समय से अधिक और पन्द्रह पल्योपम तक की आयु वाली देवियाँ चौथे देवलोक के देवों के भोग में आती हैं। पन्द्रह पल्योपम से समयाधिक और पच्चीस पल्योपम तक की आयु वाली देवियाँ छठे देवलोक के देवों के भोग में आती हैं। पच्चीस पल्योपम से समयाधिक और ३५ पल्योपम तक की आयु वाली देवियाँ आठवें देवलोक के देवों के भोग में आती हैं। ३५ पल्योपम से समयाधिक और ४५ पल्योपम तक की आयु वाली देवियाँ दसवें देवलोक के देवों के भोग में आती हैं और ४५ पल्योपम से समयाधिक तथा ५५ पल्योपम तक की आयु वाली देवियाँ बारहवें देवलोक के देवों के भोग में आती है।

पहले और दूसरे देवलोक के देव मनुष्यों की तरह कामभोग का सेवन करते हैं। तीसरे चौथे देवलोक के देव देवी के स्पर्शमात्र से तृप्त हो जाते हैं। पांचवें छठे देवलोक के देव, देवियों के विषयजनक शब्द सुनने मात्र से तृप्त हो जाते हैं। सातवें आठवें देवलोक के देव, देवी के अंगोपांगों को देखने से ही तृप्त हो जाते हैं। यहां तक के देव पहले और दूसरे देवलोक की अपरिगृ-हीता देवियों को अपने स्थान पर ले जा सकते हैं। नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें देवलोक के देव अपने स्थान पर जब भोग की इच्छा करते हैं, तो प्रथम या दूसरे देवलोक में रही हुई, उनके भोग में आने योग्य देवियों

का मन उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। वे देव उनके विकारयुक्त मन का अवधिज्ञान से अवलोकन करके ही तृप्त* हो जाते हैं। बारहवें देवलोक के ऊपर वाले देवों को भोग की इच्छा ही नहीं होती।

जैसे यहाँ राजा होते हैं वैसे देवलोक में इन्द्र होते है। जैसे यहाँ राजाओं के उमराव होते हैं वैसे ही चौसठ ही देवों के सामानिक देव होते हैं। पुरोहित के समान, इन्द्रों के ३३ त्रायस्त्रिंशक देव होते हैं। राजा के अंगरक्षक के समान इन्द्रों के आत्मरक्षक देव होते हैं। सलाहकार मंत्री के समान इन्द्र की आभ्यन्तर परिषद के (पारिषद्य) देव होते हैं। वे इन्द्र के बुलाने पर ही आते हैं। कामदारों के समान श्रेष्ठ काम करने वाले मध्यम परिषद् के देव होते हैं। यह देव बुलाने से भी आते हैं और विना बुलाये भी आते हैं। किंकरों के समान सब काम करने वाले बाह्य परिषद् के देव होते हैं। ये देव विना बुलाये आते हैं और अपने-अपने काम में तत्पर रहते हैं। द्वारपाल के समान चार लोकपाल देव होते हैं। सेना के समान सात प्रकार के अनीक देव होते हैं, वे अपने अपने पद के अनुसार अश्व, गज, रथ, बैल, पैदल आदि का रूप बना कर, यथोचित रीति से इन्द्र के काम आते हैं। गंधर्वों की अनीक के देव मधुर गान तान करते हैं। नाटक-अनीक के देव बत्तीस प्रकार का मनोरम नाट्य आदि करते हैं। आभियोग्य देव इन्द्र की सवारी के काम आते हैं। प्रकीर्णक देव विमानों में रहने वाले, प्रजा के समान होते हैं। सभी इन्द्रों की आयु उत्कृष्ट ही होती है। इस प्रकार देवगण पूर्वोपार्जित पुण्य के फल भोगते हुए सुख से अपना काल व्यतीत करते हैं।

जैसे मनुष्यजाति में चाण्डाल आदि नीच जाति के मनुष्य होते हैं, वैसे ही सब देवों की घृणा के पात्र, कुरूप, अशुभ विक्रिया करने वाले, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी किल्विषक देव तीन प्रकार के होते हैं:—भवनवासियों

** जैसे नागर बेल के पान हजारों कोस दूर जाने पर भी वहाँ उसकी बेल को कुछ नुकसान पहुँचने से, वहाँ सैकड़ों कोस के अन्तर पर दूर रहा हुआ पान खराब हो जाता है। वैसे ही बारहवें देवलोक के देव, दूर रहते हुये भी, दूसरे देवलोक की देवी के साथ मानसिक भोग विचार मात्र (By Thought Power) से कर सकते हैं।*

से लगाकर पहले-दूसरे देवलोक तक तीन पल्योपम की आयु वाले देव हैं, जिन्हें 'तीन पल्या' कहते हैं। (२) चौथे देवलोक तक तीन सागरोपम की आयु वाले देव हैं, जिन्हें 'तीन सागरया' कहते हैं। (३) छठे देवलोक तक ऐसे देव, जो १३ सागरोपम की आयु वाले हैं ये 'तेरह सागरया' कहलाते हैं। देव गुरु धर्म की निन्दा करने वाले और तप-संयम की चोरी करने वाले मर कर किल्विषी देव होते हैं।

देवों की उत्पत्ति उत्पाद-शय्या में होती है। ऐसी उत्पादशय्याएँ संख्यात योजन वाले देवस्थान में संख्यात हैं और असंख्यात योजन वाले में असंख्यात हैं। उन शय्याओं पर देव-दूष्य वस्त्र ढंका रहता है। धर्मात्मा और पुण्यात्मा जीव जब उसमें उत्पन्न होते हैं तो वह अंगारों पर डाली हुई रोटी के समान फूल जाती है। तब पास में रहे हुए देव उस विमान में घंटानाद करते हैं और उसकी अधीनता वाले सभी विमानों में घंटे का नाद हो जाता है। घंटानाद सुनकर देव और देवियाँ उस उत्पादशय्या के पास इकट्ठे हो जाते हैं और जयजयकार की ध्वनि से विमान गूंज उठता है। अन्तर्मुहूर्त्त के बाद उत्पन्न हुआ देव पांचों पर्याप्तियों से पर्याप्त होकर तरुण वय वाले के समान शरीर को धारण करके, देवदूष्य वस्त्रों से शरीर को आच्छादित कर बैठा हो जाता है। तब पास में खड़े हुए देव उससे प्रश्न करते हैं—आपने क्या करनी की थी जिससे हमारे नाथ बने ? तब वह देवयोनि के स्वभाव से प्राप्त हुए (भवप्रत्यय) अवधिज्ञान से अपने पूर्व जन्म पर विचार करके, यहाँ के स्वजन-मित्रों को सूचना देने के लिए आने को तैयार होता है। तब वे देव कहते हैं—वहाँ जाकर यहाँ का क्या हाल सुनाओगे ? पहले मुहूर्त्त भर नाटक तो देख लो ! तब नृत्यकार-अनीक जाति के देव, अपनी दाहिनी भुजा से १०८ कुमार और बाईं भुजा से १०८ कुमारियाँ निकाल कर ३२ प्रकार का नाटक करते हैं। गंधर्व-अनीक जाति के देव ४९ प्रकार के वाद्यों के साथ छह राग और तीस रागनियां मधुर स्वर से अलापते हैं। इस में यहाँ के २००० वर्ष पूरे हो जाते हैं। वह देव वहां के सुख में लुब्ध हो जाता है और दिव्य भोगोपभोगों में लीन हो जाता है।

ग्यारहवें-बारहवें देवलोक की सीमा से दो रज्जु ऊपर और आठ रज्जु घनाकार विस्तार में, गागर-बेवड़े के आकार, एक दूसरे के ऊपर, आकाश के आधार से नव ग्रैवेयक देवलोक हैं। इनके तीन त्रिक में नौ प्रतर हैं! पहले त्रिक (तीन के समूह) में (१) भद्र (२) सुभद्र और (३) सुजात नामक तीन ग्रैवेयक हैं। इन तीनों में १११ विमान हैं। दूसरे त्रिक में (४) सुमानस (५) सुदर्शन और (६) प्रियदर्शन नामक तीन ग्रैवेयक हैं। इन तीनों में १०७ विमान हैं। तीसरे त्रिक में (७) अमोह (८) सुप्रतिभद्र और यशोधर नामक तीन ग्रैवेयक हैं। इन तीनों में १०० विमान हैं। यह सब एक हजार योजन ऊँचे हैं और २२०० योजन की अंगनाई वाले हैं। ग्रैवेयक के देवों का शरीर दो हाथ की अवगाहना वाला है। आयु इस प्रकार है:—

ग्रैवेयक	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
पहला	२२ सागरोपम	२३ सागरोपम
दूसरा	२३ ,,	२४ ,,
तीसरा	२४ ,,	२५ ,,
चौथा	२५ ,,	२६ ,,
पाँचवाँ	२६ ,,	२७ ,,
छठा	२७ ,,	२८ ,,
सातवाँ	२८ ,,	२९ ,,
आठवाँ	२९ ,,	३० ,,
नौवाँ	३० ,,	३१ ,,

ग्रैवेयक की सीमा से एक रज्जु ऊपर, ६॥ रज्जु घनाकार विस्तार में, चारों दिशाओं में चार विमान है। वे ११०० ऊँचे और २१०० योजन की अँगनाई वाले तथा असंख्यात योजन लम्बे-चौड़े हैं। इन चारों विमानों के मध्य में १००००० योजन लम्बा-चौड़ा और गोलाकार पाँचवाँ विमान है। इन पाँचों विमानों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) पूर्व में विजय (२) दक्षिण में वैजयन्त (३) पश्चिम में जयन्त (४) उत्तर में अपराजित और (५) मध्य में सर्वार्थसिद्ध विमान है।

इन पाँचों विमानों में रहने वाले देवों के शरीर का मान एक हाथ का है। आयु चार विमानों के देवों की जघन्य ३१ सागरोपम और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है। सर्वार्थसिद्ध विमान वासी देवों की आयु ३३ सागरोपम की है। इसमें जघन्य और उत्कृष्ट का भेद नहीं है। सब देवों की आयु बराबर है।

यह पाँचों विमान सब विमानों में उत्कृष्ट और सब से ऊपर होने के कारण अनुत्तरविमान कहलाते हैं। सर्वार्थसिद्ध विमान के मध्य छत में एक चंद्रवा २५६ मोतियों का है। उन सबके बीच का एक मोती ६४ मन का है। उसके चारों तरफ चार मोती ३२–३२ मन के हैं। इनके पास आठ मोती १६—१६ मन के हैं। इनके पास सोलह मोती आठ–आठ मन के हैं। इनके पास बत्तीस मोती चार–चार मन के हैं। इनके पास ६४ मोती दो–दो मन के हैं और इनके पास १२८ मोती एक-एक मन के हैं। यह मोती हवा से आपस में टकराते हैं तो उनमें से छह राग और छत्तीस रागनियाँ निकलती हैं। जैसे मध्याह्न का सूर्य सभी को अपने-अपने सिर पर दिखलाई देता है, उसी प्रकार यह चन्द्रवा भी सर्वार्थसिद्ध–निवासी सभी देवों को अपने-अपने सिर पर मालूम पड़ता है। इन पाँचों विमानों में शुद्ध संयम का पालन करने वाले, चौदह पूर्व के पाठी साधु उत्पन्न होते हैं। वे वहाँ सदैव ज्ञान-ध्यान में निमग्न रहते हैं। जब उन्हें किसी प्रकार का संशय उत्पन्न होता है तब वे शय्या से नीचे उतर कर, यहाँ जो तीर्थङ्कर भगवान् विराजमान होते हैं, उन्हें नमस्कार करके प्रश्न पूछते हैं। भगवान् उस प्रश्न के उत्तर को मनोमय पुद्गलों में परिणत करते हैं। देव अवधिज्ञान से उसे ग्रहण करते हैं और उनका समाधान हो जाता है। पाँचों अनुत्तर विमानवासी देव एकान्त सम्यग्दृष्टि हैं। चार अनुत्तर विमानों के देव संख्यात (कतिपय) भव करके और सर्वार्थसिद्ध विमान के देव एक ही भव करके अर्थात् मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। यहाँ के देव सर्वाधिक सुख के भोक्ता हैं।

बारहवें देवलोक से ऊपर अर्थात् नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, आत्मरक्षक आदि छोटे-बड़े का भेद नहीं है।

सभी देव एक सरीखी ऋद्धि के धारक हैं । इस कारण यह सभी 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं ।

उक्त १२ स्वर्ग, ६ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तरविमान—सब २६ स्वर्गों के सब ६२ प्रतर और ८४६७०२३ विमान हैं। सभी विमान रत्नमय हैं । वे सब अनेक स्तंभों से परिमण्डित, भाँति-भाँतिके चित्रों से चित्रित, अनेक खूँटियों और लीलायुक्त पुतलियों से सुशोभित, सूर्य के समान जगमगाते हुए और सुगंध से मघमघायमान हैं । प्रत्येक विमान के चारों ओर बगीचे हैं, जिनमें रत्नमय बावड़ियाँ रत्नमय निर्मल जल और कमलों से मनोहर प्रतीत होती हैं । रत्नों के सुन्दर वृक्ष, वेलें, गुच्छे, गुल्म और तृण वायु से हिलते हैं । जब वे आपस में टकराते हैं तो उन में से छह राग छत्तीस रागनियाँ निकलती हैं । वहाँ सोने-चाँदी की रेत बिछी है और तरह-तरह के आसन पड़े हैं । अति सुन्दर, सदैव नवयौवन से ललित, दिव्य तेज वाले, समचतुरस्र संस्थान के धारक, अति उत्तम मणि-रत्नों के वस्त्रों के धारक, दिव्य अलंकारों से अलंकृत देव और देवियाँ इच्छित क्रीड़ा करते हुए, इच्छित भोग भोगते हुए पूर्वोपार्जित पुण्य के फल को भोगते हैं ।

जिस देव की जितने सागरोपम की आयु है, वे उतने ही पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं और उतने ही हजार वर्षों में उन्हें आहार करने की इच्छा होती है । जैसे सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों की आयु तेतीस सागरोपम की है, तो वे तेतीस पक्ष में अर्थात् १६॥ महीनों में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं और तेतीस हजार वर्षों के बाद आहार ग्रहण किया करते हैं । देव कवलाहार नहीं करते, किन्तु रोमाहार करते हैं । अर्थात् जब उन्हें आहार की इच्छा होती है तब रत्नों के शुभ पुद्गलों को रोमों द्वारा खींच कर तृप्त हो जाते हैं।

सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर, ११ रज्जु घनाकार* विस्तार

* सर्वलोक के घनाकार ३४३ रज्जु का हिसाब:—

निगोद से सातवें नरक तक घनाकार रज्जु		४६
सातवें नरक से छठे नरक तक	,	४०
छठे नरक से पाँचवें नरक तक	,,	३४
पाँचवें नरक से चौथे नरक तक	,,	२८
चौथे नरक से तीसरे नरक तक	,,	२२

में बाकी सारा लोक है। सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर ४५०००००
योजन की लम्बी-चौड़ी, गोलाकार सिद्धशिला है। वह मध्य में आठ योजन
मोटी और चारों तरफ क्रम से घटती-घटती किनारे पर मक्खी के पंख से भी
अधिक पतली हो गई है। उसकी परिधि (घेरा) १४२३०२४९ योजन की
है। वह अर्जुन (श्वेत सुवर्ण) मय है। छत्र तथा तेल से परिपूर्ण दीपक के
आकार की है। उस सिद्धशिला के बारह नाम हैं—(१) ईषत् (२) ईषत्
प्राग्भार (३) तनु (४) तनुतर (५) सिद्धि (६) सिद्धालय (७) मुक्ति (८)
मुक्तालय (९) लोकाग्र (१०) लोकाग्रस्तूपिका (११) लोकाग्र बुध्यमान
(१२) सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्वसुखावहा। इस सिद्धशिला के एक योजन
ऊपर, अग्रभाग में ४५००००० योजन लम्बे-चौड़े और ३३३ धनुष और ३२
अंगुल जितने ऊँचे क्षेत्र में अनन्त सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। यहीं लोक
का अन्त हो जाता है।

लोक के चारों ओर अनन्त और असीम अलोकाकाश है। अलोका-
काश में आकाश द्रव्य के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं होता। खाली
आकाश ही आकाश है।

तीसरे	नरक से	दूसरे नरक तक	घनाकार	रज्जु	१९
दूसरे	,,	प्रथम ,,	,,	,,	१०
पहले	,,	मध्यलोक तक	,,	,,	१०
पहला दूसरा देवलोक			,,	,,	१९॥
तीसरा चौथा	,,		,,	,,	१६॥
पाँचवां-छठा	,,		,,	,,	३६॥
सातवाँ-आठवाँ	,,		,,	,,	१४॥
नौवाँ-दसवाँ	,,		,,	,,	१२॥
ग्यारवाँ-बारहवाँ	,,		,,	,,	१०॥
नौ ग्रैवेयक	,,		,,	,,	८॥
पाँच अनुत्तरविमान			,,	,,	६॥
सिद्ध क्षेत्र	,,		,,	,,	११
सर्व लोक घनाकार रज्जु					३४३

सिद्ध भगवान् का वर्णन

●

पूर्वोक्त सिद्ध क्षेत्र में पन्द्रह प्रकार के सिद्ध हुए हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) तीर्थङ्करसिद्ध—जो तीर्थङ्कर पदवी भोगकर सिद्ध हुए हैं।

(२) अतीर्थङ्करसिद्ध—सामान्य केवली होकर जो सिद्ध हुए हैं।

(३) तीर्थसिद्ध—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना होने के बाद जो सिद्ध हुए हैं।

(४) अतीर्थसिद्ध—तीर्थ की स्थापना से पहले या तीर्थ का विच्छेद* हो जाने के बाद जो सिद्ध हुए हैं।

(५) स्वयंबुद्धसिद्ध—जातिस्मरण आदि ज्ञान से अपने पूर्वभवों को जानकर गुरु के विना, स्वयं दीक्षा धारण करके जो सिद्ध हुए हैं।

(६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध—वृक्ष, वृषभ, श्मशान, मेघ, वियोग या रोग आदि का निमित्त पाकर अनित्य आदि भावना से प्रेरित होकर, स्वयं दीक्षा लेकर जो सिद्ध हुए हैं।

(७) बुद्धबोधितसिद्ध—आचार्य आदि से बोध प्राप्त करके, दीक्षा धारण करके जो सिद्ध हुए हैं।

(८) स्त्रीलिंगसिद्ध—वेद-विकार को क्षय करके, स्त्री के शरीर से जो सिद्ध हुए हैं।

(९) पुरुषलिंग सिद्ध—जो पुरुष-शरीर से सिद्ध हुए हैं।

(१०) नपुंसकलिंग सिद्ध—जो नपुंसक के शरीर से सिद्ध हुए हैं।

(११) अन्यलिंग सिद्ध—रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि साधु का वेष धारण करके जो सिद्ध हुए हैं।

(१२) अन्यलिंग सिद्ध—किसी अन्यलिंगी को पुष्कर तपश्चरण आदि से विभंग ज्ञान की प्राप्ति हो, जिससे जिनशासन का अवलोकन करके अनुरागी बनने पर अज्ञान मिट जाय और अवधिज्ञानी बन कर परिणाम शुद्ध

* नववें सुविधिनाथजी से सत्तरवें कुन्थुनाथजी तक उनके मोक्ष अन्तर में मोक्ष गये बाद अन्तर में तीर्थ का उच्छेद हुआ। उस वक्त सिद्ध हुए सो अतीर्थ सिद्ध जानना।

हो जाने पर केवल ज्ञान प्राप्त हो जाय। आयु कम होने से लिंग बदले बिना ही सिद्ध हो जाय वह अन्यलिंगसिद्ध कहलाता है।

(१३) गृहिलिंग सिद्ध—गृहस्थ के वेष में धर्माचरण करते करते परिणामविशुद्धि होने पर केवलज्ञान प्राप्त कर ले और स्वल्प आयु होने के कारण लिंग बदले बिना ही सिद्ध हो जाय, वह गृहिलिंग सिद्ध कहलाता है।

(१४) एकसिद्ध—एक समय में अकेला-एक ही सिद्ध होने वाला।

(१५) अनेकसिद्ध—एक समय में दो आदिक १०८ पर्यन्त सिद्ध हों, वे अनेक सिद्ध कहलाते हैं।

चौदह प्रकार से सिद्ध होते हैं। वे इस प्रकार हैं:—(१) तीर्थ की विद्यमानता में एक समय में १०८ तक सिद्ध हों (२) तीर्थ का विच्छेद होने पर एक समय में १० सिद्ध हों (३) एक समय में २० तीर्थङ्कर सिद्ध हों (४) सामान्य केवली एक समय में १०८ सिद्ध हों। (५) एक समय १०८ स्वयंबुद्ध सिद्ध हों (६) प्रत्येक बुद्ध ६ सिद्ध हों (७) बुद्धबोधित १०८ सिद्ध हों (८) स्वलिंग भी १०८ सिद्ध हों (९) अन्यलिंग १० सिद्ध हों (१०) गृह-लिंग ४ सिद्ध हों (११) स्त्रीलिंग २० सिद्ध हों (१२) पुरुषलिंग १०८ सिद्ध हों। यहाँ जो गणना बतलाई है वह सब जगह एक समय से अधिक सिद्ध होने वालों की है।

पूर्वभवाश्रित सिद्ध—पहले, दूसरे और तीसरे नरक से निकल कर आने वाले जीव एक समय में १० सिद्ध होते हैं। चौथे नरक से निकले हुए ४ सिद्ध होते हैं। पृथ्वीकाय और जलकाय से निकले हुए ४ सिद्ध होते हैं। पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यञ्च और तिर्यञ्चनी की पर्याय से तथा मनुष्य की पर्याय से निकल कर मनुष्य हुए १० जीव सिद्ध होते हैं। मनुष्यनी से आये हुए २० सिद्ध होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिषीदेवों से आये हुए २० सिद्ध होते हैं। वैमानिकों से आये १०८ सिद्ध होते हैं और वैमानिक देवियों से आये हुए २० सिद्ध होते हैं।

क्षेत्राश्रित सिद्ध—ऊँचे लोक में ४, नीचे लोक में २० और मध्य-

लोक में १०८ सिद्ध होते हैं। समुद्र में २,* नदी आदि सरोवरों में ३, प्रत्येक विजय में अलग-अलग २० सिद्ध हों (तो भी एक समय में १०८ से ज्यादा जीव एक समय में सिद्ध नहीं हो सकते)। मेरुपर्वत के भद्रशाल वन, नन्दन वन और सौमनस वन में ४, पाण्डुक वन में २, अकर्मभूमि के क्षेत्रों में १०, कर्मभूमि के क्षेत्रों से १०८, पहले, दूसरे और पाँचवें तथा छठे आरे में १० और तीसरे चौथे आरे में १०८ जीव सिद्ध होते हैं। यह संख्या भी सर्वत्र एक समय में अधिक से अधिक सिद्ध होने वालों की है।

अवगाहना-आश्रित सिद्ध—जघन्य दो हाथ की अवगाहना वाले एक समय में ४ सिद्ध होते हैं। मध्यमा अवगाहना वाले १०८ और उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले एक समय में २ जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्ध होने की रीति—मध्यलोक में, अढ़ाई द्वीप में, १५ कर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले, आठों कर्मों को समूल नष्ट करने वाले मनुष्य ही सिद्ध होते हैं। औदारिक, तैजस् और कार्मण शरीर का सर्वथा त्याग करके, अशरीर आत्मा को सिद्धि प्राप्त होती है। आत्मा जब कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होता है तो अपने स्वभाव से ही उसकी ऊर्ध्वगति होती है। जैसे ऐरंड का फल फटने से उसके भीतर का बीज ऊपर की ओर उछलता है, उसी प्रकार जीव शरीर और कर्म का बन्धन हटने पर लोक के अग्रभाग तक पहुँचता है। अथवा जैसे मिट्टी के लेप से लिप्त तूम्बा लेप के हटने से ही जल के अग्रभाग पर आकर ठहरता है, उसी प्रकार कर्म-बन्धन टूटने से जीव ऊर्ध्वगति करके लोक के अग्रभाग तक पहुँचता है। सिद्ध जीव की गति विग्रह रहित होती है और लोकाग्र तक पहुँचने में उसे सिर्फ एक समय लगता है। सिद्ध जीव लोक के अग्रभाग में क्यों ठहर जाता है? आगे अलोक में क्यों नहीं जाता? इसका उत्तर यह है कि आगे धर्मास्तिकाय नहीं है। धर्मास्तिकाय गति में सहायक होता है, अतएव जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जीव की गति होती है। धर्मास्तिकाय के अभाव में आगे—अलोकाकाश में गति नहीं होती।

समुद्र, नदी, अकर्मभूमि के क्षेत्र पर्वत आदि स्थानों में कोई हरण करके ले जाय, वहाँ वह जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं।

संसार-अवस्था में कार्मणवर्गणा के पुद्‌गलों के साथ आत्मा के प्रदेश, क्षीरनीर की तरह मिले रहते हैं। सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर कर्मप्रदेश भिन्न हो जाते हैं और केवल आत्मप्रदेश ही रह जाते हैं और वे सघन हो जाते हैं। इस कारण अन्तिम शरीर से तीसरे भाग कम, आत्मप्रदेशों की अवगाहना सिद्ध दशा में रह जाती है। उदाहरणार्थ—५०० धनुष की अवगाहना वाले शरीर को त्याग कर कोई जीव सिद्ध हुआ है; तो उसकी अवगाहना वहाँ ३३३ धनुष और ३२ अंगुल की होगी। जो जीव सात हाथ के शरीर को त्याग कर सिद्ध हुए हैं, उनकी अवगाहना वहाँ ४ हाथ और १६ अंगुल की है। जो जीव दो हाथ की अवगाहना वाले शरीर को त्याग कर सिद्ध हुए हैं, उनकी एक हाथ और आठ अंगुल की अवगाहना होगी।

सिद्ध भगवान् के आठ गुणः—(१) पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से अनन्त केवलज्ञान गुण प्रकट हुआ, जिससे सिद्ध भगवान् सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानते हैं। (२) नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म का क्षय होने से अनन्त केवलदर्शन गुण प्रकट हुआ, जिससे सब द्रव्य आदि देखने लगे (सामान्य रूप से जानने लगे), (३) दोनों प्रकार का वेदनीय कर्म नष्ट हो जाने से निराबाध (व्याधि-वेदना से रहित) हो गये। (४) दो प्रकार का मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से अगुरुलघु (गुरुता और लघुता से रहित) हुए। (५) चारों प्रकार का आयु कर्म क्षय हो जाने से अजर-अमर हो गये। दोनों प्रकार का नाम कर्म क्षीण हो जाने से अमूर्तिक हुए। (७) दोनों प्रकार का गोत्र कर्म नष्ट हो जाने से अखोड़ (अपलक्षणों से रहित) हुए। और (८) पाँच प्रकार का अन्तराय कर्म क्षीण हो जाने से अनन्त शक्तिमान् हुए।

आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध, पांचवें अध्याय और छठे उद्देशक में सिद्धों का स्वरूप इस प्रकार बतलाया हैः—

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने॥

से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न आइतंसे,

न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किल्ले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्कडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न णिद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिण्णे, सण्णे, उवमा न विज्जति, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं णत्थि ; से न सद्दे, न रूवे, न रसे, न फासे, इच्चेतावंती, ति बेमि ।

अर्थ—शुद्ध आत्मा (सिद्ध) का वर्णन करने में कोई शब्द समर्थ नहीं है, कोई भी कल्पना वहाँ तक पहुँचती नहीं है । मति भी वहाँ प्रवेश नहीं करती । केवल सम्पूर्ण ज्ञानमय आत्मा ही वहाँ है ।

सिद्ध दीर्घ (लम्बे) नहीं, ह्रस्व (छोटे नहीं), वृत्त (गोलाकार) नहीं, त्रिकोण नहीं, चौकोर नहीं, मण्डलाकार (चूड़ी की तरह) नहीं, लम्ब—नहीं, काले नहीं, नीले नहीं, लाल नहीं, पीले नहीं, शुक्ल नहीं, सुगंधवान् नहीं, दुर्गन्धवान् नहीं, तिक्त नहीं, कडुक नहीं, कसैले नहीं, खट्टे नहीं, मीठे नहीं, कठोर नहीं, कोमल नहीं, गुरु (भारी) नहीं, लघु नहीं, शीत नहीं, उष्ण नहीं, चिकने नहीं, रुखे नहीं ।

स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं, केवल परिज्ञान रूप हैं, ज्ञानमय हैं, उनके लिए कोई उपमा नहीं दी जा सकती । वे अरूपी-अलक्ष्य हैं । उनके लिए किसी पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता । वे शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श रूप नहीं हैं । इस प्रकार समस्त पौद्गलिक गुणों और पर्यायों से अतीत, शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय सत्-चित्-आनन्दमय सिद्ध स्वरूप है ।

भक्तामरस्तोत्र में कहा है:—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम्,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥

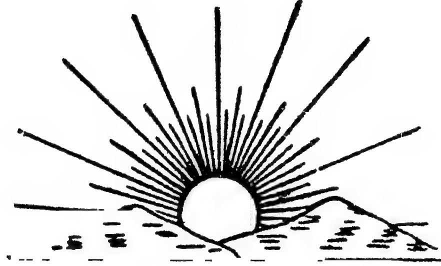
अर्थ—हे प्रभो ! स्थिर एक स्वभाव वाले होने के कारण आपको सन्त पुरुष 'अव्यय' कहते हैं, परमैश्वर्य और ज्ञान स्वरूप से व्यापक होने के

कारण 'विभु' कहते हैं। आप 'अचिन्त्य' हैं क्यों कि आपके स्वरूप की कल्पना नहीं हो सकती, आप गुणों से 'असंख्य' हैं, सर्वश्रेष्ठ हो, सब से बड़े होने के कारण 'ब्रह्मा' हो, सर्व ऐश्वर्य-युक्त होने से 'ईश्वर' हो, अन्तरहित होने से 'अनन्त' हो, कामदेव के नाशक होने के कारण 'अनंगकेतु' हो, ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप योगपथ के निर्माता-ज्ञाता होने के कारण 'विदितयोग' हो, ज्ञानपर्याय से अनेक में व्याप्त होने के कारण 'अनेक' हो। सब का एक ही आत्मस्वरूप होने के कारण 'एक' हो अथवा आपके समान कोई दूसरी वस्तु नहीं है इस कारण आप एक-अद्वितीय हो। आपका इस प्रकार का स्वरूप सन्त पुरुष कह कर दूसरों को समझाते हैं।

चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु॥

अर्थ—चन्द्रमाओं से भी अधिक निर्मल, सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले, समुद्र के समान गंभीर सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें।

ऐसे अनेकानेक शुद्ध आत्मिक गुणों से समृद्ध सिद्ध भगवान् को मेरा त्रिकाल त्रिकरण त्रियोग की शुद्धिपूर्वक नमस्कार हो।



प्रकरण
३

'संजयाणं च भावओ'



इस ग्रंथ की आदि में 'सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ' यह गाथा उद्धृत की गई थी। इस गाथा के प्रथम चरण का विवेचन प्रथम और द्वितीय प्रकरण में किया गया है। यहाँ तीसरे प्रकरण में गाथा के दूसरे चरण का विशद रूप से विवेचन किया जायगा।

'यति' शब्द 'यम्' साधु से बना है, जिसका अर्थ है--काबू में करना (To restrain) 'सम्' उपसर्ग है। इस प्रकार 'संयति' का अर्थ है—स्वेच्छा से अपनी आत्मा को जीतने वाला—पापाचरण से रोकने वाला।

विना इच्छा के, पराधीन होकर अपनी आत्मा पर जो काबू करता है, वह संयति या संयत नहीं कहलाता। पराधीन होकर आत्मा ने अनन्त बार नरक आदि गतियों में जा-जाकर अपने पर काबू किया, मगर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। उदाहरणार्थ—(१) नरक के प्रत्येक भव में जघन्य १०००० वर्ष और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम पर्यन्त अनन्त क्षुधा, अनन्त शीत ताप, रोग, शोक, मार-ताड़न आदि दुःख सहे हैं। (२) तिर्यञ्च गति में पराधीन हो कर वनवास में, तथा निर्दय जनों के वश में पड़ कर, असीम नरक के समान दुःख सहने पड़ते हैं। (३) मनुष्य पर्याय में दरिद्रता, रोग, कारागार, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के दुःख पराधीन होकर भोगने पड़ते हैं। (४) देवभव में भी अनेक दुःख हैं। अगर कोई आभियोग्य देव हो जाता है तो उसे नृत्य-गान आदि करके दूसरे देवों को प्रसन्न करना

पड़ता है, पशुओं के काम करने पड़ते हैं अर्थात् इन्द्र आदि देव उन देवों पर सवारी करते हैं। वज्र के प्रहार सहन करने पड़ते हैं। इन नाना गतियों में घोर अतिघोर कष्ट सहन करके, अपने आपको काबू में रखने पर भी उन्हें संयत नहीं कहा जा सकता। सच्चे संयत अथवा त्यागी का लक्षण श्रीदशवैकालिक सूत्र में बतलाया है कि:—

जे य कंते पिये भोगे, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोगे, से हु चाइत्ति वुच्चई॥

अर्थात्—जो इष्ट, कामना करने योग्य और प्रिय भोगों के प्राप्त होने पर भी उनसे पीठ फेर लेता है—विमुख हो जाता है, उन्हें त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

ऐसे स्वेच्छापूर्वक अपने अन्तःकरण पर काबू रखने वाले संयत तीन प्रकार के होते हैं:—(१) आचार्यजी (२) उपाध्यायजी और (३) साधुजी। आगे अलग-अलग प्रकरणों में इन तीनों के गुणों का कथन किया जायगा।

आचार्य



सत्पुरुषों द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, वह आचार कहलाता है, अथवा जो आचरने-आदरने योग्य वस्तु हो उसे आचार कहते हैं। आचरने-आदरने योग्य वस्तु वही होती है, जिससे सुख की प्राप्ति हो। वह सुख भी ऐसा होना चाहिए कि जिसमें दुःख का मिश्रण न हो, जिस सुख का परिणाम दुःख न हो। अर्थात् एकान्त और नित्य सुख ही वास्तव में सुख कहलाता है। ऐसा सुख प्राप्त कराने वाले पाँच पदार्थ हैं। यथा—(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) चारित्र (४) तप और (५) वीर्य। यह पाँचों पंचाचार कहलाते हैं। पंचाचार का स्वयं पालन करने वाले तथा दूसरों से पालन कराने वाले मुनिराज आचार्य कहलाते हैं। मगर सच्चा आचार्य वही हो सकता है जिसमें निम्नलिखित छत्तीस गुण विद्यमान हों।

आचार्य के ३६ गुण



पंचिंदियसंवरणो, तह नवविहबंभचेरगुत्तिधरो।
चउविहकसाय-मुक्को, इह अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो ॥१॥
पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालण-समत्थो।
पंचसमिओ तिगुत्तो, इइ छत्तीसगुणेहिं गुरू मज्झं ॥२॥

अर्थात्—पाँच इंद्रियों का संवर करना, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्यगुप्तियों (वाड़ों) को धारण करना, चार कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) का त्याग करना, पाँच महाव्रतों से युक्त होना, पाँच प्रकार के आचार का पालन करने में समर्थ होना, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त होना, यह ३६ गुण जिसमें पाये जाते हैं, वह आचार्य कहलाते हैं।

पाँच महाव्रत



(१) पहला महाव्रत—'सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं' अर्थात् सब प्रकार के प्राणातिपात से निवृत्त होना। तात्पर्य यह है कि तीन करण, तीन योग से, त्रस और स्थावर—किसी भी प्राणी की हिंसा न करना पहला महाव्रत है।

प्राण धारण करने वाले को प्राणी कहते हैं। प्राण दस प्रकार के हैं। यथा—(१) श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण (२) चक्षुरिन्द्रियबलप्राण (३) घ्राणेन्द्रियबल-प्राण (नाक), (४) रसेन्द्रियबलप्राण (जीभ) (५) स्पर्शेन्द्रियबलप्राण (त्वचा) (६) मनबलप्राण (७) वचनबलप्राण (८) कायबलप्राण (९) श्वासोच्छ्वासबल-प्राण और (१०) आयुबलप्राण। केवल स्पर्शेन्द्रिय को धारण करने वाले मृत्तिका, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के पाँच प्रकार के जीव स्थावर जीव कहलाते हैं। स्थावर जीवों में चार प्राण पाये जाते हैं—(१) स्पर्शेन्द्रिय (२) कायबलप्राण (३) श्वासोच्छ्वास और (४) आयु।

स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय वाले द्वीन्द्रिय जीवों में छह प्राण होते हैं। पूर्वोक्त चार के अतिरिक्त एक रसनेन्द्रिय और दूसरा वचन बलप्राण* अधिक होता है। शंख और सीप आदि के जीव द्वीन्द्रिय है। खटमल, जूँ, चिउंटी आदि त्रीन्द्रिय जीवों में सात प्राण होते हैं। इनमें एक घ्राणेन्द्रिय प्राण अधिक होता है। भौंरा आदि चौइन्द्रिय जीवों में आठ प्राण पाये जाते हैं। इनमें एक चक्षुरिन्द्रिय प्राण अधिक होता है। मन-रहित (असंज्ञी)+ पंचेन्द्रिय जीवों में नौ प्राण होते हैं। पूर्वोक्त आठ के अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय प्राण अधिक होता है। मन वाले (संज्ञी) पंचेन्द्रिय जीवों में मन बल प्राण अधिक होने के कारण दस प्राण होते हैं। इन समस्त प्राणियों की हिंसा का पूर्ण रूप से आजीवन त्याग करना प्रथम महाव्रत है।

पहले महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। वे इस प्रकारः—(१) जमीन को देखे विना अथवा पूंजे विना न चलना ईर्यासमिति भावना कहलाती है। (२) धर्मनिष्ठ पुरुषों को अच्छा जाने और जो पाप करें, उन पर दया लावे कि—यह बेचारे नासमझी से पाप कर रहे हैं। पाप का बदला कितनी कठिनाई से इन्हें चुकाना पड़ेगा ? इस प्रकार धर्मी अधर्मी पर समभाव रखना 'मनपरिजाणइ' भावना है। (३) हिंसाकारी, दोषयुक्त, असत्य और अयोग्य वचन न बोलना 'वयपरिजाणइ' भावना है। (४) भाण्डोपकरण, वस्त्र—पात्र आदि प्रमाणोपेत–परिमित रखना और उन्हें यतनापूर्वक ग्रहण करना तथा रखना 'आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति' भावना है। (५) वस्त्र, पात्र भोजन—पान आदि किसी भी वस्तु को दृष्टि से देखे विना तथा रजोहरण से प्रमार्जन किये बिना काम में न लाना, सदैव देखकर काम में लाना 'आलोकितपानभोजन× भावना है।

---

*जिसके बल—आधार से किसी कार्य मे प्रवृत्ति कर सके उसे बल प्राण कहते हैं।

× जो जीव माता-पिता के संयोग के विना मन (मनन करने की विशिष्ट शक्ति) से रहित होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं।

+ कोई-कोई वस्त्र पात्र स्थानक आहार आदि निर्दोष वस्तु उपयोग में लाना चौथी 'एषणा समिति' भावना कहते हैं और पाँचवीं निक्षेपणा भावना कहते हैं। किन्तु आचारांग सूत्र के २४वें अध्ययन में उक्त प्रकार ही कहा है।

पहले महाव्रत के ३६ भंगः—

चार प्राणों तक को धारण करने वाले सभी जीव सामान्य रूप से प्राणी कहलाते हैं, किन्तु यहाँ प्राणों से ही जिनकी पहचान हो ऐसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीवों को 'प्राणी' शब्द से गिना गया है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल में जीवत्व की अपेक्षा एक-सा ही रहने के कारण साधारणतया सभी जीव, भूत कहलाते हैं, किन्तु यहाँ भूत के समान वृद्धि पाने वाली तथा एक ही स्थान पर रहने वाली वनस्पति के जीवों को ही 'भूत' कहा है। जो कभी शून्य रूप न हों—सर्वथा मरें नहीं, छिदें-भिदें-गलें नहीं, सदैव जीवित रहें, ऐसे सभी जीव सामान्य रूप से जीव कहलाते हैं, किन्तु यहाँ पाँच इन्द्रियों के धारक को ही सर्वसाधारण लोग जीव मानते हैं। उनका धर्मशाला, पींजरापोल और अस्पताल आदि द्वारा रक्षण करते हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टि से पंचेन्द्रिय प्राणियों को ही जीव गिना है। जगत् के सभी प्राणियों में सत्त्व-सत्ता-अस्तित्व पाया जाता है, अतः सभी जीव 'सत्त्व' हैं, किन्तु यहाँ पृथ्वी आधारभूत, पानी जीवनभूत, अग्नि पाचन आदि में उपयोगी और वायु श्वासोच्छ्वास प्राण रूप होने से तथा भूतवादी चार्वाक* आदि इन्हें तत्त्व मानते हैं, इस कारण इन चारों को ही 'सत्त्व' कहा गया है। इस प्रकार (१) प्राण (२) भूत (३) जीव और (४) सत्त्व की हिंसा नौ कोटि से न करना सो ९×४=३६ भंग हो जाते हैं। कोई-कोई सूक्ष्म,+ बादर,× त्रस और स्थावर इन चारों प्रकार के जीवों की ९ कोटि से हिंसा न करने के कारण ३६ भंग मानते हैं।

पूर्वोक्त ३६ प्रकार की हिंसा (१) दिनमें (२) रात्रि में (३) अकेले में (४) समूह में (५) सोते समय और (६) जागते समय नहीं करनी चाहिए।

चार्वाक (नास्तिक) मतावलंबियों का कथन है कि पृथ्वी आदि भूतों के संमिश्रण से चेतना की उत्पत्ति हो जाती है। आत्मा का अस्तित्व नहीं है। परलोक और पुण्य-पाप भी नहीं हैं।

+ जो आँख से दिखाई न दें, वज्रमय भीत में से भी निकल जाएँ और किसी के मारने से मरें नहीं, अपनी आयु पूर्ण होने पर ही मरें, वे जीव सूक्ष्म कहलाते हैं। ऐसे जीव सम्पूर्ण लोक में ठसाठस भरे हैं।

× जो दिखाई दे सकें, मारने से मर सकें वे जीव बादर कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीव तथा पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर जीव कहलाते हैं।

इस प्रकार छत्तीस का छह से गुणा करने पर २१६ भंग पहले महाव्रत के होते हैं। कोई-कोई (१) पृथ्वी (२) पानी (३) अग्नि (४) वायु (५) वनस्पति (६) द्वीन्द्रिय (७) त्रीन्द्रिय (८) चौइन्द्रिय (९) पंचेन्द्रिय, इन नौ का नौ कोटि से गुणाकार करके ८१ भंग कहते हैं और इस ८१ संख्या में दिन रात आदि पूर्वोक्त का गुणाकार करके ४८८ भंग कहते हैं।

(२) दूसरा महाव्रत—'सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं' अर्थात् क्रोध, लोभ, भय अथवा हास्य आदि के वश में हो कर, तीन करण तीन योग से, किसी भी प्रकार झूठ न बोलना दूसरा महाव्रत मृषावादविरमण कहलाता है।

दूसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ—(१) ऐसे निर्दोष, मधुर, सत्य, पथ्य वचन बोलना जिससे किसी की घात न हो, किसी को दुःख न हो, बुरा न लगे, सो 'अनुवीचिभाषण' भावना है। (२) क्रोध के वश में झूठ बोला जाता है, अतः जब क्रोध का आवेश हो तो भाषण न करना-क्षमा और मौन रखना 'कोहं परिजाणइ' भावना है, [३] लोभ के वश में झूठ बोला जाता है, इसलिए जब लोभ का उदय हो तो बोलना नहीं—सन्तोष धारण करना 'लोहपरिजाणइ' भावना है। [४] भय के कारण अवश्य झूठ बोला जाता है, अतः भय का उद्रेक होने पर बोलना नहीं, धैर्य धारण करना सो 'भयं परिजाणइ' भावना है। [५] हास्य-विनोद में झूठ बोला जाता है, अतः हास्य का उदय होने पर बोलना नहीं—मौन धारण करना सो 'हासं परिजाणइ' भावना है। तात्पर्य यह है कि निर्दोष वचन बोलना और क्रोध, लोभ, भय या हास्य के वशवर्ती हो कर न बोलना चाहिए। क्रोध आदि चार का नौ कोटि से गुणाकार करने पर ९×४=३६ भंग दूसरे महाव्रत के भी होते हैं। पूर्वोक्त दिन, रात आदि छह के साथ गुणा करने से ३६×६=२१६ भंग हो जाते हैं।

(३) तीसरा महाव्रत—'सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं' अर्थात् सब प्रकार के अदत्तादान से निवृत्त होना। तात्पर्य यह है कि ग्राम, नगर या जंगल में [१] अल्प—थोड़ी या थोड़े मूल्य की वस्तु [२] बहु—बहुत और बहुत मूल्य की वस्तु [३] अणु—छोटी वस्तु [४] स्थूल-बड़ी वस्तु [५] मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सजीव-सचित्त वस्तु और [६] वस्त्र, पात्र,

आहार, स्थान आदि निर्जीव-अचित्त वस्तु, स्वामी के द्वारा दिये बिना तीन करण और तीन योग से ग्रहण न करना चाहिए। यही अदत्तादान-विरमणव्रत कहलाता है।

तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ:—(१) निर्दोष स्थानक (मकान) उसके स्वामी या अधिकृत नौकर आदि की आज्ञा से ग्रहण करना 'मिउग्गहंजाती' भावना है। (२) गुरु आदि ज्येष्ठ (बड़े मुनि) की आज्ञा के बिना आहार—वस्त्र आदि का उपभोग न करना 'अणुण्णविययपाणभोयण' भावना है। (३) सदैव द्रव्य, क्षेत्र, काल की मर्यादा के अनुसार गृहस्थ की आज्ञा लेना 'उग्गहंसिउग्गाहिंसंति' भावना है (४) सचित्त (शिष्य आदि), अचित्त (तृण आदि), मिश्र (उपकरण सहित शिष्य आदि) को ग्रहण करने के लिए बारंवार आज्ञा लेना और मर्यादा के अनुसार उन्हें ग्रहण करना उग्गहं वा उग्गहंसिअभिक्खणं भावना है। (५) एक साथ रहने वाले साधर्मी (संभोगी) साधुओं के वस्त्र-पात्र आदि उनकी आज्ञा लेकर ग्रहण करना 'अणुण्णविय मिउग्गहंजाती' भावना है। तथा गुरु, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, ज्ञानी और नवदीक्षित मुनि की वैयावृत्त्य (सेवा) करे पूर्वोक्त अल्प, बहु, छोटी, मोटी, सचित्त और अचित्त—इन छह का नौ (कोटि) से गुणाकार करने पर ६×९=५४ भंग होते हैं। इस ५४ की संख्या का दिन, रात आदि ६ से गुणा करने पर ५४×६=३२४ भंग तीसरे महाव्रत के होते हैं।

और भी अदत्त के चार भेद कहे हैं:—[१] किसी वस्तु को या मकान को उसके मालिक की आज्ञा के बिना ग्रहण करना स्वामी-अदत्त* है [२] कोई भी जीव अपने प्राणों को हरण करने की आज्ञा नहीं देता। अतः किसी जीव के प्राण हरण करना जीव-अदत्त है [३] तीर्थङ्कर भगवान् ने शास्त्र में साधु के वेष का तथा आचार आदि का कथन किया है। उस कथन का उल्लंघन करके वेष धारण करना अथवा आचार की स्थापना करना तीर्थङ्कर-अदत्त है [४] गुरु आदि ज्येष्ठों की आज्ञा भंग करना

* वन आदि निर्जन स्थान में, जब कोई आज्ञा देने वाला न हो तो निर्भ्रमी वस्तु शक्रेन्द्रजी की आज्ञा लेकर ग्रहण कर सकते हैं।

गुरु-अदत्त है। मुनि को यह चारों प्रकार का अदत्त त्यागना चाहिए, तभी वह अदत्तादानविरमणव्रती कहला सकता है।

(४) चौथा महाव्रत—'सव्वाओ मेहुणाओ विरमणं' अर्थात् साधु मानुषी, तिरश्ची (तिर्यञ्च-स्त्री) और देवी के साथ तथा साध्वी, मनुष्य, तिर्यञ्च और देव के साथ, तीन करण, तीन योग से मैथुनसेवन का त्याग करे। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना ब्रह्मचर्यमहाव्रत कहलाता है।

चौथे महाव्रत की पाँच भावनाएँ:—(१) स्त्री के हावभाव, विलास और शृंगार की कथा न करना (२) स्त्री के गुप्त अंगोपांगों को विकार-दृष्टि से न देखना (३) गृहस्थाश्रम में भोगे हुए काम-भोगों का स्मरण न करना (४) मर्यादा से अधिक तथा कामोत्तेजक—सरस आहार सदैव न भोगना (५) जिस मकान में स्त्री, पशु या पंडक (नपुंसक) रहते हों, उसमें न रहना।

स्त्री, पशु और पंडक—इन तीन का नौ कोटि से गुणा करने पर ९×३=२७ भांगे और २७ को दिन, रात आदि ६ से गुणा करने पर २७×६=१६२ भंग चौथे महाव्रत के होते हैं। दशवैकालिकसूत्र (अध्ययन छठा, गाथा १७) में कहा है:—

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥

अर्थात्—मैथुन का सेवन घोर अधर्म का मूल, नौ लाख संज्ञी मनुष्यों और असंख्यात असंज्ञी जीवों की घात रूप महादोष का स्थान है। इसके सेवन से पाँचों महाव्रतों का भंग हो जाता है। ऐसा समझ कर निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन का सर्वथा त्याग कर देते हैं।

(५) पाँचवाँ महाव्रत—सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं अर्थात् सब परिग्रह का (१) अल्प (२) बहुत (३) छोटा (४) बड़ा (५) सचित्त और (६) अचित्त का तीन करण तीन योग से त्याग करना* पाँचवाँ परिग्रह विरमण व्रत कहलाता है।

---

* जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥

पाँचवें महाव्रत की पाँच भावनाएँः—(१) शब्द (२) रूप (३) गंध (४) रस और (५) स्पर्श; यह पाँचों मनोज्ञ प्राप्त हों तो राग न करना, प्रसन्न न होना और अमनोज्ञ प्राप्त हों तो द्वेष न करना, नाराज न होना यही पाँच भावनाएँ हैं।

पूर्वोक्त अल्प, बहुत, छोटा, बड़ा, सचित्त और अचित्त, इन छहों को ६ कोटि से गुणा करने पर ६×६=४४ भङ्ग होते हैं और ५४ को दिन, रात, अकेले, समूह, सोते और जागते, इन छहों से गुणाकार करने पर ५४×६=३२४ भंग पाँचवें महाव्रत के होते हैं।

पंचाचार

●

[१] ज्ञानाचार—ज्ञान शब्द 'ज्ञ' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है—जानना। किसी भी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति करने के लिए सबसे पहले उपाय जानना आवश्यक होता है। अतएव ज्ञान आराधनीय-आचरणीय वस्तु है। ज्ञान की स्वयं आराधना करने वाले अर्थात् ज्ञानसम्पन्न आचार्य होते हैं। वे दूसरों को भी ज्ञानी बनाने का प्रयास करते हैं। तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट और गणधरों द्वारा रचित द्वादशांगी रूप शास्त्रों को आचार्य महाराज आठ दोषों से रहित पठन करते हैं और दूसरों को पढ़ाते हैं।

ज्ञान के आठ आचार

●

गाथा—काले विणये बहुमाणे, उवहाणे तह यऽणिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभये, अट्ठविहो णाणमायारो ॥

अर्थात्—ज्ञान के आठ आचार इस प्रकार हैं:—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ —दश० अ० ६

अर्थः—श्री महावीर स्वामी ने कहा है कि—संयम का पालन करने और लज्जा की रक्षा करने के लिए साधु जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि रखते हैं, वह परिग्रह रूप नहीं है। वह धर्मोपकरण हैं। अगर कोई उन वस्त्र-पात्र आदि पर ममत्व रखे तो वह परिग्रह ही है। उपधि का तो कहना ही क्या है, ममत्व रखने से शरीर भी परिग्रह है।

[१] काल—दिन के और रात्रि के प्रथम और अन्तिम ४ प्रहर में कालिक और अन्य काल में उत्कालिकसूत्र* ३४ असज्झाय+ (अस्वाध्याय

* वर्त्तमान काल में स्था० परम्परा में माने जाने वाले ३२ सूत्रों में से ११ अङ्ग, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और निरयावलिकापंचक यह सात उपांग, ४ छेद सूत्र और उत्तराध्ययन, यह २३ सूत्र कालिक हैं। शेष ५ उपाँग और ३ मूलसूत्र कालिक हैं। आवश्यक सूत्र नो-कालिक और नो-उत्कालिक हैं।

+ ३४ असज्झाय इस प्रकार हैं—(१) उल्कापात—तारा टूटे तो एक मुहूर्त्त तक असज्झाय। (२) दिशादाह—प्रातः और सायंकाल तक जब तक लाल रंग के बादल रहें तब तक असज्झाय। (३) गर्जित—मेंघों की गर्जना हो तो एक मुहूर्त्त तक असज्झाय (४) विद्युत-बिजली चमके तो एक मुहूर्त्त तक असज्झाय। (किन्तु आर्द्रा नक्षत्र से स्वातिनक्षत्र पर्यन्त गर्जना तथा विद्युत् का असज्झाय नहीं माना जाता)। (५) निर्घात—बिजली कड़कने पर आठ प्रहर तक असज्झाय। (६) बाल चन्द्र—शुक्ल पक्ष में १-२-३ तिथि की रात्रि में जब तक चन्द्रमा रहे तब तक। (७) यक्षालय—बादलों में मनुष्य, पशु, पिशाच आदि के चिह्न आकृतियाँ—दिखाई देने पर असज्झाय। (८) धूम्रिका—जब तक काले रंग की धूँवर पड़े तब तक। (९) मिहिका—श्वेत रंग की धूँवर पड़े तब तक। (१०) रजपात—जब तक आकाश में धूल का गोटा चढा हुआ दीखे तब तक। (११) मांस—जब तक मांस दृष्टिगोचर हो तब तक। (१२) शोणित—रक्त जबतक दिखाई दे तब तक (१३) अस्थि—जब तक हड्डी दिखाई दे। (१४) उच्चार—जब तक विष्ठा दिखाई दे (१५) श्मशान के चारों ओर १०००-१००० हाथ तक असज्झाय। (१६) राजमरण-राजा की मृत्यु होने पर जब तक काम-काज बंद रहें तब तक। (१७) राजविग्रह-राजाओं में जब तक युद्ध हो तब तक (१८) चन्द्रोपराग—चन्द्रग्रहण (१९) सूर्यग्रहण-चन्द्र और सूर्य का खग्रास हो तो १२ प्रहर और कम ग्रास हो तो कम समय तक असज्झाय (२०) उपशान्त—पंचेन्द्रिय जीव का मृत कलेवर (मुर्दा) पड़ा हो तो उसके चारों ओर १००-१०० हाथ की दूरी तक असज्झाय। (२१) आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (२२) कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा (२३) कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा (२४) मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा (२५) चैत्र शुक्ला पूर्णिमा (२६) वैसाख कृष्णा प्रतिपदा (२७) आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा (२८) श्रावण कृष्णा प्रतिपदा (२९) भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा (३०) आश्विन कृष्णा प्रतिपदा। (इन आठ तिथियों को रात्रि में देवों का गमनागमन अधिक होता है। देवों की भाषा अर्धमागधी होती है। अशुद्ध उच्चारण होने से कदाचित् विघ्न खड़ा हो जाय, इसलिए शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए)। (३१) प्रातःकाल (३२) मध्याह्नकाल और (३३) सन्ध्याकाल और (३४) अर्धरात्रि। इन चारों समयों में भी देवों का गमनागमन अधिक होता है, अतः असज्झाय गिना है।

इन ३४ में से कोई निमित्त होने पर स्वाध्याय करने से तीर्थङ्कर की आज्ञा के भंग का दोष लगता है, उन्माद या मानसिक विकार होने की भी संभावना रहती है। अतः यह ३४ असज्झाय टाल कर शास्त्र पढ़ना चाहिए।

के निमित्त) दोषों का निवारण करके यथोक्त काल में शास्त्र का पठन करना।

(२) विनय—जिनशासन का मूल विनय ही है। अतः ज्ञानी की आज्ञा में रहकर उन्हें आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि के द्वारा यथोचित साता पहुँचाना, वे जब शास्त्र का व्याख्यान करें तब आदर और एकाग्रता के साथ उनके वचनों को तथ्य कह कर स्वीकार करना, ज्ञानदायक साहित्य पुस्तक आदि को नीचे और अपवित्र स्थान में न रखना। इस प्रकार विनय-पूर्वक ग्रहण किया हुआ ज्ञान सुलभ और चिरस्थायी होता है।

(३) बहुमान—गुरु आदि ज्ञानदाता का बहुत आदर करना और ३३ आसातनाओं* का त्याग करना।

तेतीस आसातनाएँ इस प्रकार टालना चाहिए:—

(१-२-३) गुरु आदि ज्येष्ठों के आगे, पीछे और बराबर न बैठे। (४-५-६) गुरु आदि के आगे, पीछे या बराबरी पर खड़ा न रहे। (७-८-९) गुरु आदि के आगे, पीछे या बराबर न चले। (१०) गुरु से पहले शुचि न करे। (११) गुरु से पहले ईर्यावही का प्रतिक्रमण न करे। (१२) गुरु किसी से वार्तालाप करते हों तो पहले उससे बात न करे। (१३) लेटे हुए शिष्य को गुरु बुलावें और जागता हो तो तत्काल उठ कर उत्तर दे (१४) अतीत का सब वृत्तान्त ज्यों का त्यों गुरु से कह दे। (१५) याचना करके लाई हुई वस्तु पहले गुरु को दिखलावे। (१६) प्रत्येक वस्तु के लिए पहले गुरु को आमंत्रित करे-ग्रहण करने को कहे। (१७) गुरु की आज्ञा लेकर कोई वस्तु दूसरों को दे। (१८) अच्छी २ वस्तु गुरु को दे। (१९) गुरु का वचन सुना अनसुना न करे। (२०) आसन पर बैठा २ उत्तर न दे। (२१) गुरु आदि के लिए तू, आदि तुच्छ शब्दों का प्रयोग न करे। (२२) गुरु आदि के लिए 'आप' 'भगवान्' आदि उच्च शब्दों का प्रयोग करे। (२३) गुरु-शिक्षाओं को हितकर समझे और उन्हें माने। (२४) गुरु की आज्ञा से रोगी, तपस्वी तथा बाल साधु की सेवा-सुश्रूषा करे। (२५) गुरु की भूल-चूक: किसी दूसरे के सामने प्रकट न करे। (२६) गुरु की आज्ञा के विना, गुरु की मौजूदगी में, किसी के प्रश्नों का उत्तर आप स्वयं न दे। (२७) गुरु की महिमा सुन कर प्रसन्न हो। (२८) यह मेरी परिषद् और यह गुरु की परिषद्, इस प्रकार का भेद न डाले। (२९) गुरुजी बहुत देर तक व्याख्यान चलावें तो अन्तराय न डाले। (३०) जिस परिषद् में गुरुजी ने व्याख्यान दिया हो, उसी परिषद् में, उसी विषय पर अपना पाण्डित्य प्रकट करने के लिए विस्तार से व्याख्यान न करे। (३१) गुरु के वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को, उनकी आज्ञा के बिना अपने काम में न ले। (३२) गुरु के उपकरणों को पैर न लगावे। (३३) गुरु के आसन से अपना आसन नीचा रक्खे और नम्रतापूर्वक व्यवहार करे। इन सबका उल्लंघन करना आसातना है।

(४) उपधान—शास्त्रपठन आरम्भ करने से पहले और पीछे आंबिल आदि तप रूप जो उपधान किया जाता है, उसी के अनुसार शास्त्र का पठन करना।

(५) अनिह्नव—विद्या देने वाले (गुरु) अगर छोटे हों या अप्रसिद्ध हों तो भी उनका नाम नहीं छिपाना और उनके बदले किसी दूसरे बड़े या प्रसिद्ध विद्वान् का नाम न लेना। उनके गुण या उपकार को नहीं छिपाना।

(६) व्यंजन—शास्त्र के व्यंजन, स्वर, गाथा, अक्षर, पद, अनुस्वार, विसर्ग, लिंग, काल आदि जानकर-भलीभाँति समझकर न्यून, अधिक या विपरीत न बोलना। व्याकरण का ज्ञाता हो।+

(७) अर्थ—शास्त्र का विपरीत अर्थ न करे और न उसे छिपावे। अपना मनमाना अर्थ भी न करे।

(८) तदुभय—मूल पाठ और अर्थ में विपरीत न करे। पूर्ण शुद्ध और यथार्थ पढ़े, पढ़ावे, सुने और सुनावे।

दर्शन के आठ आचार

●

दर्शन का अर्थ है—देखना, किन्तु यहाँ दर्शन शब्द से श्रद्धा का अर्थ लिया जाता है। दृष्टि, रुचि प्रतीति भी उसे कहते हैं। दर्शन दो

× आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के तीसरे अध्ययन में साधु को १६ प्रकार के वचन का ज्ञाता होना कहा है। यथा—(१) एक वचन—घटः, पटः, मनुष्यः आदि। (२) द्विवचन घटौ, पटौ, मनुष्यौ आदि। (३) बहुवचन-घटाः, पटाः, मनुष्याः, इत्यादि। (४) स्त्रीवचन-नदी, नगरी आदि। (५) पुरुषवचन—देव, नर आदि। (६) नपुंसकवचन—कमल, मुख आदि। (७) अध्यात्मवचन—जो मन में हो वही बोलना। (८) उत्कर्षवचन—गुणानुवाद करना (९) अपकर्षवचन—अवर्णवाद। (१०) उत्कर्ष-अपकर्षवचन—पहले प्रशंसा करके फिर निन्दा करना, जैसे—शक्कर मीठी है पर सर्दी करती है। (११) अपकर्ष-उत्कर्ष-वचन—पहले बुराई करके फिर प्रशंसा करना, जैसे—नीम कटुक है पर आरोग्यकर है। (१२) भूतकाल वचन—किया, दिया, लिया आदि। (१३) वर्त्तमान-कालवचन—करता है, लेता है आदि। (१४) भविष्यत्कालवचन—करूँगा, धरूँगा, आदि (१५) प्रत्यक्षवचन—यह है आदि। (१६) परोक्षवचन—वह है, आदि। इनमें से यथा-योग्य वचन बोलना चाहिए।

प्रकार का होता है—सत्य दर्शन या सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन। जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है, उस पर उसी रूप से श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। जैसे पीलिया रोग के रोगी को श्वेत पदार्थ भी पीला ही दिखाई देता है, उसी प्रकार सत्य को मिथ्या देखना, मिथ्या रुचि, प्रतीति या श्रद्धा करना मिथ्यादर्शन है। आचार्यजी में मिथ्यादर्शन नहीं होता। वे सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होते हैं और सम्यग्दर्शन के आठ अंगों—गुणों—आचारों से स्वयं युक्त होते हैं तथा दूसरों को भी युक्त बनाते हैं। आठ आचार यह हैं:—

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीयं।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥

(१) निःशंकित—अपनी अल्पबुद्धि के कारण शास्त्र की कोई बात समझ में न आवे तो शास्त्र पर शंका न करे। अनन्तज्ञानियों द्वारा प्रणीत, समुद्र के समान गहन वचन, अपनी लोटे जैसी तुच्छ बुद्धि में यदि न समावें तो क्या आश्चर्य है? रत्न की कीमत से अनभिज्ञ होने के कारण लोग जौहरी की बात पर प्रतीति रखते हैं और उसकी बतलाई हुई कीमत के अनुसार ही बर्ताव करते हैं, उसी प्रकार जिन भगवान् के वचनों पर भी भरोसा रखना चाहिए, वीतराग भगवान् कभी भी न्यून—अधिक—असत्य उपदेश नहीं देते हैं। उनके अनन्त केवलज्ञान में जिस प्रकार पदार्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं उसी प्रकार उन्होंने प्रकाशित किये हैं। इस प्रकार का दृढ़ विश्वास रखना निःशंकित आचार कहलाता है।

(२) निःकांक्षित—मिथ्यामतावलंबियों के गान, तान, भोग, विलास, महिमा, पूजा, चमत्कार, आदि आडम्बर देखकर उस मत को स्वीकार करने की अभिलाषा न करना और यह भी न कहना कि ऐसा अपने मत में होता तो अच्छा था। क्योंकि मिथ्यात्व-ढोंग से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मा का उद्धार तो बाह्य और आभ्यन्तर त्याग से तथा इन्द्रियदमन से ही होगा।

(३) निर्विचिकित्सा—'मुझे धर्माचरण करते-करते, तपस्या करते-करते इतना समय हो गया, मगर अभी तक उसका कुछ भी फल दृष्टिगोचर नहीं हुआ तो अब आगे क्या होने वाला है! इतना कष्ट सहने का फल कौन जाने होगा या नहीं?' इस प्रकार धर्मक्रिया के फल में सन्देह न करना निर्विचिकित्सा आचार है। जैसे उर्वर भूमि में डाला हुआ बीज, पानी का संयोग मिलने पर कालान्तर में फल उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी क्षेत्र में, डाला हुआ धर्मक्रिया रूपी बीज, शुभ परिणाम रूप जल का योग पा करके कालान्तर में—यथोचित समय पर अवश्य ही फल देगा। किसी ने कहा है:—

निष्फल होवे भामिनी, पादप निष्फल होय।
करणी के फल जानना, कभी न निष्फल होय॥

अर्थात्—करणी कदापि वन्ध्या नहीं हो सकती। उसका फल कभी न कभी अवश्य मिलता है। इस प्रकार की श्रद्धा रखना चाहिए।

(४) अमूढ़दृष्टि—जैसे मूर्खजन खल और गुड़ को तथा सोने और पीतल को एक-सा समझते हैं, उसी प्रकार बहुत-से भोले लोग सभी मत-मतान्तरों को एक-सा मानते हैं। किन्तु वीतराग द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म की तथा स्याद्वादमय यथार्थ और परिपूर्ण तत्त्वज्ञान की तुलना कोई मत कदापि नहीं कर सकता। यह मत सर्वोत्कृष्ट है। मेरा अहोभाग्य है कि मुझे इस सर्वश्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति हुई! इस प्रकार की शुद्ध दृष्टि रखना अमूढ़-दृष्टि आचार कहलाता है।

(५) उपबृंहन—सम्यग्दृष्टि और साधर्मी के थोड़े से भी सद्गुण की शुद्ध मन से प्रशंसा करना और वैयावृत्य करके उसके उत्साह को बढ़ाना।

(६) स्थिरीकरण—किसी धर्मात्मा का चित्त उपसर्ग आने से अथवा अन्यमतावलम्बियों के संसर्ग के कारण सत्य धर्म से विचलित हो गया हो तो उसे स्वयं उपदेश देकर या दूसरे ज्ञानी-विद्वानों के सम्पर्क में लाकर यथोचित सहायता देकर, साता उपजा कर, उसके परिणामों को पुनः धर्म में स्थिर करना—दृढ़ श्रद्धावान् बनाना स्थिरीकरण आचार है।

(७) वात्सल्य—जैसे गाय अपने बछड़े पर प्रीति रखती है, उसी प्रकार स्वधर्मी जनों पर प्रीति रखना, रोगी को औषधोपचार से तथा वृद्धों को, ज्ञानियों को, बालक को, तपस्वी को आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि आवश्यक वस्तुओं से सहारा देकर, उनके हाथों-पैरों और पीठ आदि का मर्दन करके साता उत्पन्न करना वात्सल्य आचार कहलाता है।

(८) प्रभावना—यद्यपि जैनधर्म अपने गुणों से स्वयं ही प्रभावशील-प्रभाविक है, तथापि दुष्कर क्रिया, व्रताचरण, अभिग्रह, कवित्वशक्ति, पाण्डित्य, और व्याख्यानशक्ति आदि के द्वारा धर्म की प्रभावना करना एवं धर्म सम्बन्धी अज्ञान को दूर करना प्रभावना-आचार कहलाता है। दर्शन सम्बन्धी इन आचारों का आचार्य स्वयं पालन करते हैं और दूसरों से पालन करवाते हैं। इनके पालन से सम्यग्दर्शन पूर्ण और पुष्ट होता है।

चारित्र के आठ आचार



क्रोध आदि चारों कषायों से अथवा नरक आदि चारों गतियों से आत्मा को बचा कर मोक्ष गति में पहुँचावे, वह चारित्राचार कहलाता है। चारित्र के दोषों से यत्नपूर्वक बचकर गुणों को धारण करना चाहिये।

पणिहाय-जोगजुत्तो, पंच समिईहिं तिहिं गुत्तिहिं।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो॥

[१] ईर्यासमिति—अर्थात् यतनापूर्वक चलना, इसके चार प्रकार हैं—(१) आलंबन-ईर्यासमिति वाले साधु को ज्ञान, दर्शन, चारित्र का ही अवलंबन है (२) काल—रात्रि में चलने से सूक्ष्म त्रस और स्थावर जीवों की तथा रात्रि में बरसने वाले सूक्ष्म पानी की रक्षा नहीं हो सकती, अतः साधु सूर्यास्त होने से पहले २ ही अवसर के अनुसार मकान या वृक्ष आदि जो भी आश्रय मिल जाय वहीं रह जावे। रात्रि में लघुशंका आदि करने के लिए गमनागमन करने का प्रसंग आजाय तो वस्त्र से शरीर आच्छादित

करके, रजोहरण से भूमि का प्रमार्जन करता हुआ, दिन में भलीभाँति देखे हुए स्थान में निवृत्ति करके तत्काल स्वस्थान पर आ जाय। (३) मार्ग—उन्मार्ग में तृण, कचरा, उदेई (दीमक) आदि के घर, कीड़ी नगरा और अस्पृश्य भूमि में सचित्तता होने से गमनागमन न करे। ऐसे मार्ग में गमन करने से कंकरों और कंटकों आदि से शरीर को भी बाधा पहुँचती है। (४) यतना—यतना चार प्रकार से होती है:—[१] द्रव्य से-नीची दृष्टि रख कर चलना [२] क्षेत्र से-देह की बराबर आगे मार्ग देखता-देखता हुआ चले। [३] काल से-रात्रि में प्रमार्जन करता हुआ और दिन में देखता चले। [४] भावसे-रास्ता चलते-चलते अन्य कामों को करने से मन दूसरी ओर चला जाता है, जिससे भलीभाँति यतना नहीं होती। अतएव चलते समय दस कार्य न करे—[१]शब्द-वार्तालाप न करे, राग-रागनी न सुनावे,न स्वयं सुने [२] रूप-गृह, तमाशा शृंगार आदि न देखे। [३] गंध-किसी वस्तु को सूँघे नहीं। [४] रस—किसी वस्तु का भक्षण न करे। स्पर्श—कोमल और कठोर स्थानों में तथा शीत-उष्ण आदि का संयोग होने पर परिणाम स्थिर रक्खे। [६] वाचना—पठन न करे। [७] पृच्छना—प्रश्न आदि न करे। [८] परिवर्तना—पढ़े हुए की आवृत्ति न करे। [९] अनुप्रेक्षा—पठन किये हुए का चिन्तन न करे [१०] धर्मकथा—उपदेश न करे।

[२] भाषासमिति—यतनापूर्वक बोलना। भाषासमिति के चार प्रकार हैं:—[१] द्रव्य से-कर्कश, कठोर, छेदक, भेदक, हिंसक, पीड़ाकारी, सावद्य, मिश्र, क्रोधकारक, मानकारक, मायाकारक, लोभकारक, रागकारक, द्वेषकारक, मुखकथा (अप्रतीतिकारक सुनी—सुनाई) और विकथा [स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देश—देशान्तर की फालतू बातें], यह सोलह प्रकार की भाषा न बोलना। [२] क्षेत्र से-रास्ता चलते वार्त्तालाप न करे। [३] काल से-पहर रात्रि बीतने के बाद बुलन्द आवाज से न बोलना; क्यों कि संभव है किसी की निद्रा टूट जाय तो उसे दुःख हो अथवा वह आरंभ या कुकर्म में लग जाय। या छिपकली आदि हिंसक जीव, जीवघात में प्रवृत्त हों। [४] भाव से-देशकाल के अनुकूल सत्य, तथ्य और शुद्ध वचन बोले।

[३] एषणासमिति—शय्या (स्थानक), आहार, वस्त्र और पात्र निर्दोष ग्रहण करे। इस के चार भेदः—[१] द्रव्य से–४२ तथा ९६ दोषों+

* ९६ दोष इस प्रकार हैं:—(१) आधाकर्म—साधारण रूप से किसी भी साधु के निमित्त आहार बनाकर देना। (२) औद्देशिक—अमुक साधु के निमित्त आहार बना कर देना (३) पुरःकर्म—साधु और गृहस्थ दोनों के निमित्त अलग-अलग आहार बनाया हो लेकिन साधु के निमित्त आहार में से एक भी दाना गृहस्थ के निमित्त बने आहार में मिल जाय, और फिर उस मिले आहार को देना। (४) मिश्रजात—साधु और गृहस्थ के निमित्त शामिल बनाया हुआ आहार देना। (५) स्थापना—साधु के निमित्त ही रख छोड़ा हुआ आहार देना (६) प्राभृत—कल साधुजी गोचरी के लिए आएँगे तो कल ही मेहमानों को जिमाऊँगा, इस प्रकार सोचकर बनाया हुआ आहार देना। (७) प्रादुष्करण—दीपक आदि से अंधेरे में प्रकाश करके देना। (८) क्रीतकृत—साधु के निमित्त मोल देकर खरीद कर आहार देना। (९) प्रामित्य—साधु के निमित्त उधार लाकर देना। (१०) परिवर्तना—साधु के निमित्त दूसरे से अदल-बदल कर देना। (११) अभ्याहृत—स्थानक में अथवा रास्ते में साधु के पास लाकर आहार देना। (१२) भिन्न—मिट्टी, लाख, चपड़ी आदि से बर्त्तन का मुँह बंद हो और साधु के निमित्त खोल कर देना। (१३) मालाहृत—ऊपर से नीचे उतारकर देना। (१४) आच्छिद्य—निर्बल से छीन कर देना। (१५) अनिसृष्ट—मालिक या हिस्सेदार की अनुमति लिये बिना देना। (१६) अध्यवपूर—साधु का आगमन सुनकर अपने लिए भोजन पकाते समय कुछ अधिक पकाकर देना। यह १६ उद्गम दोष कहलाते हैं। यह दोष श्रावक के द्वारा लगते हैं। साधु ऐसे आहार को कर्मबंध का कारण समझ कर कहे कि—हे आयुष्मन्! मुझे ऐसा आहार नहीं कल्पता। और ऐसे आहार को ग्रहण न करे।

(१७) धात्री कर्म—गृहस्थ के बालक को धाय की तरह खिलाकर-रमाकर आहार लेना। (१८) दूतीकर्म—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में अथवा एक घर से दूसरे घर में समाचार (संदेश) पहुँचा कर आहार लेना। (१९) निमित्तदोष—भूत, भविष्य की बात सुनाकर, स्वप्न, सामुद्रिक, व्यंजन (तिल, मसा आदि) का फल बतलाकर आहार लेना। (२०) आजीविका—गृहस्थ को अपना सगा-संबंधी बनाकर या बताकर आहार लेना (२१) वनीपक—भिखारी की भाँति दीनता दिखा कर आहार लेना (२२) चिकित्सा—औषधोपचार बतला कर आहार लेना (२३) क्रोध—क्रोध करके—लड़-झगड़ कर आहार लेना (२४) मान—अभिमान करके आहार लेना (२५) माया—दगाबाजी करके लेना (२६) लोभ—लालच करके लेना (२७) पूर्व—पश्चात्संस्तव—दान देने से पहले या पश्चात् दातार की तारीफ करना (२८) विद्या—विद्या के प्रभाव से रूप बदल कर लेना। (२९) मंत्र—व्यन्तर, साँप, बिच्छू, मंत्र, झाड़ा, वशीकरण, उच्चाटन, स्तंभन आदि के मंत्र बतला कर आहार लेना। (३०) चूर्ण—पाचक आदि चूर्ण की विधि बताकर आहार लेना। (३१) योग—तंत्रविद्या या इन्द्रजाल आदि का तमाशा दिखाकर आहार लेना। (३२) मूलकर्म—गर्भपात, स्तंभन, गर्भधारण आदि के प्रयोग दिखला कर आहार लेना। यह सोलह उत्पादन दोष कहलाते है। इन्हें रस के लोलुप साधु लगाते हैं।

से रहित शय्या आदि वस्तु का उपभोग करे (२) क्षेत्र से—आहार-पानी दो कोस से आगे ले जा कर न भोगे (३) काल से—खान-पान आदि पदार्थ प्रथम प्रहर में लाकर चौथे प्रहर में न भोगे (४) भाव से-संयोजना आदि मण्डल के पाँच दोषों को नहीं लगाता हुआ आहार पानी आदि का उप-

(३३) शंकित—आधाकर्म आदि दोषों की शंका होने पर भी ले लेना। (३४) म्रक्षित—हाथ की रेखाओं अथवा पात्र में सचित्त जल थोड़ा-सा लगा हो, फिर भी उससे आहार ले लेना। (३५) निक्षिप्त—सचित्त पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, कीड़ी नगरा आदि पर रक्खा हुआ आहार ले लेना (३६) पिहित—सचित्त वस्तु से ढँकी हुई अचित्त वस्तु ले लेना। (३७) साहरीए—सचित्त वस्तुओं के बीच में रक्खी अचित्त वस्तु लेना। (३८) दायक—अत्यन्त वृद्ध, छोटे बच्चे, नपुसंक, बीमार, खुजली की बीमारी वाले, उन्मत्त, बालक को स्तनपान कराती हुई स्त्री, सात महीने तक की गर्भवती स्त्री आदि अयोग्य दातार के हाथ से आहार लेना (३९) मिश्र—चने के होले, गेहूँ की बाल (उंबी), जवार के पूंख, बाजरी के हुरड़े, मक्की के भुट्टे, इत्यादि मिश्र (अधपके) पदार्थ ले लेना। (४०) अपरिणत—तत्काल का धोवन पानी, तत्काल पीसी हुई चटनी (एक मुहूर्त पहले) जब तक वह पूर्णतया अचित्त न हो, उससे पहले ही ले लेना। (४१) लिप्त—कहीं-कहीं गोबर में मिट्टी मिलाकर जमीन लीपी जाती है, अतः उसके सचित्त होने का संशय रहता है। इसके अतिरिक्त पैर रपटने से कदाचित् पड़ जाय अथवा लीपी हुई जमीन बिगड़ जाय तो फिर आरंभ हो, इस कारण तत्काल की लीपी हुई जमीन पर चलना दोष है। (४२) छर्दित—जमीन पर बिखेरते बिखेरते, ढोलते—ढोलते लाकर देने वाले से लेना। यह दश एषणा के दोष हैं। यह साधु और गृहस्थ-दोनों से लगते हैं।

(४३) संयोजना—भिक्षा लेकर स्थानक में आने के बाद, आहार करते समय स्वाद को बढ़ाने के लिए वस्तु मिला-मिला कर खाना। (४४) अप्रमाण—प्रमाण से अधिक आहार करना। (४५) इंगाल—स्वादिष्ट भोजन की प्रशंसा करते हुए खाना (४६) धूम—नीरस और निस्वाद भोजन की निन्दा करते हुए खाना। (४७) अकारण—आहार के कारणों के बिना आहार करना। आहार के छह कारण बतलाये गये हैं:—(१) क्षुधावेदनीय को उपशान्त करने के लिए (२) गुरु, ज्ञानी, रोगी, तपस्वी, बाल और वृद्ध मुनि की सेवा करने के लिए (३) ईर्यासमिति का पालन करने—आँख के आरोग्य के लिए (४) संयम का निर्वाह करने के लिए (५) प्राणियों की रक्षा करने—प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ करने के लिए और (६) धर्मध्यान, स्वाध्याय आदि करने के लिए। और (१) रोगोत्पत्ति होने पर (२) उपसर्ग होने पर (३) ब्रह्मचर्य रक्षा (४) जीवरक्षा (५) तपस्या तथा (६) अनशन के निमित्त आहार का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार बिना कारण आहार करना दोष है।

(४८) उग्घाड-कवाड-पाहुडिआए—द्वार खुलवा कर आहार लेना (४९) मंडीपाहुडिआए—देवी-देवता को चढ़ाने के लिए बनाया हुआ आहार लेना (५०) बलिपाहुडिआए—बलि-बाकुल

भोग करे, आहार-वस्त्र-पात्र-मकान आदि किसी भी वस्तु पर ममत्व न धारण करे ; वक्त पर जैसा भी निर्दोष आहार मिल जाय, उसी में सन्तोष माने और यथाकाल शास्त्रोक्त क्रियाएँ करे।

(४) आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति—उपकरणों को यतनापूर्वक ग्रहण करे और स्थापित करे। भण्डोपकरण दो प्रकार के होते हैं:—(१) सदा

उछालने के लिए बनाया आहार लेना। (५१) अदिट्ठ—भींत या पर्दे के पीछे रक्खी हुई—दिखाई न देने वाली वस्तु लेना (५२) ठवणा पाहुडिआए—[illegible] के लिए स्थापना कर रक्खी हुई वस्तु लेना। (यह दोष आवश्यक सूत्र में कहे हैं)।

(५३) परिया—पहले नीरस आहार आया हो तो उसे परठ कर फिर सरस आहार लाना। (५४) दाणट्ठ—ब्राह्मण आदि को दान देने के लिए बनाया आहार लेना (५५) पुण्णट्ठ—पुण्य के लिए बनाया हुआ आहार लेना। (५६) समणट्ठ—शाक्य आदि श्रमणों के लिए बनाया हुआ आहार लेना। (५७) वणीमगट्ठ—दानशाला-सदावर्त का आहार लेना (५८) नियाग—सदा एक ही घर से लेना (५९) शय्यातर—जिसकी आज्ञा लेकर मकान में ठहरे उसके घर से लेना। (६०) राजपिण्ड—राजा के लिए बना हुआ पौष्टिक, कामोत्तेजक, विकारवर्धक मांस, मदिरा, मक्खन, शहद आदि आहार लेना। (६१) किमिच्छम्—बिना कारण मनोज्ञ और सरस आहार माँग-माँग कर लाना और खाना (६२) संघट्ट—सचित्त मिट्टी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि का संघटा करके (स्पर्श करके) दिये हुए आहार को लेना (६३) अप्पभोयणो—खाना थोड़ा और डालना ज्यादा पड़े ऐसा आहार लेना (६४) परहड्डी—वेश्या, भील, चाण्डाल आदि लोकनिन्दित-नीच कुल का आहार लेना (६५) मामगं—जिसने अपने यहाँ आने से मना कर दिया हो उसके यहाँ से आहार लाना (६६) पुव्वकम्म—पच्छाकम्म-गृहस्थ को पहले या बाद में आरंभ करना पड़े, ऐसी जगह से आहार लेना (६७) अचियत्त [illegible] या जातिबहिष्कृत के घर से आहार लेना अथवा अप्रीतिजनक घर में से आहार लेना। (यह १५ दोष दशवैकालिक सूत्र में कहे हैं) (६८) सयाणापिण्ड—समुदानी १२ कुल की गोचरी न करके अपनी ही जाति की गोचरी करना (६९) परिवाडी—जातीय भोज में पंगत बैठी हो तो उसे लाँघ कर आहार लेना (यह दो दोष उत्तराध्ययन में कहे हैं)। (७०) पाहुणभत्त—मेहमानों के लिए बनाया आहार उनके जीमने से पहले ही लेना (७१) मंस—मांस लेना (७२) संखडी—सब जातियों के लिए दिये जाने वाले भोज के स्थान पर जाकर आहार लेना (७३) उल्लंघन—द्वार पर भिखारी खड़ा हो और उसे लाँघ कर उसके आगे जाकर आहार लेना (७४) सागारवयंगा—गृहस्थ का कोई काम करने का वायदा करके आहार लेना (७५) कालातिक्रम—सूर्यास्त के बाद या सूर्योदय से पहले आहार लेना। (७६) आज्ञातिक्रमण—तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करके आहार लेना। जैसे प्रथम प्रहर में लिया आहार चौथे प्रहर में भोगना (७७) मार्गातिक्रान्त—मार्ग की मर्यादा (२ कोस) का उल्लंघन करके आहार करना (७८) आउप—जो आमंत्रण करे उसी के घर से

उपयोग में आने वाले, जैसे—रजोहरण और मुखवस्त्रिका आदि। इन्हें 'उग्गहिक' कहते हैं (२) जो कभी-कभी प्रयोजन होने पर काम में आवें जैसे - पाट आदि। इन्हें 'उपग्रहिक' कहते हैं। साधु-शास्त्र के अनुसार अधिक से अधिक इतने उपकरण रख सकते हैं:—(१) काष्ठ (२) तूम्बा और (३) मिट्टी के पात्र, आहार, पानी और औषध आदि ग्रहण करने के लिए तथा जिससे किसी जीव की हिंसा न हो, ऐसे ऊन के, अंबाडी के या सन का रजोहरण भूमि आदि की प्रमार्जना करने के लिए रक्खे। आचारांगसूत्र में कहा है कि जँभाई, छींक और श्वासोच्छ्वास से जीवहिंसा होती है; इस लिए साधु को आठ पुड़ की वस्त्र की मुखपत्ती, डोरा डाल कर रात-दिन लगाये रहना चाहिए। साधु ऊन, सूत, रेशम और सन के, सिर्फ सफेद रंग के प्रमाणोपेत तीन चादर ओढ़ने के लिए रक्खे, पहनने के लिए चोलपट्ट रक्खे, बिछाने के लिए एक वस्त्र रक्खे, वस्त्र, पात्र और शरीर पर रहे हुए जीवों का प्रमार्जन करने के लिए रजोहरण जैसा ही एक गुच्छक रक्खे। मोरी आदि में मूत्र-

---

आहार लेना (७६) कान्तारभक्त—अटवी का उल्लंघन करके आये हुए लोगों के निमित्त बना भोजन लेना (८०) दुर्भिक्षभक्त—दुष्कालपीडित लोगों के लिए बना भोजन लेना (८१) ग्लानभक्त—रोगी के लिए बना आहार उसके खाने से पहले लेना। (८२) बर्दलिकाभक्त—वर्षा में गरीबों को देने के निमित्त बनाया हुआ भोजन लेना। (८३) रजोदोष—बेचने के लिए खुला रक्खा हुआ—सचित्त रज वाला आहार लेना (यह ६ दोष आचारांग सूत्र में कहे हैं।) (८४) रयतदोष—जिसका वर्ण, रस, गंध, स्पर्श बदल गया हो—चलित रस हो, ऐसा आहार लेना (८५) स्वयंग्रह—गृहस्थ के घर से अपने हाथ से उठा कर लेना। (गृहस्थ की आज्ञा से पानी अपने हाथ से लेने की मनाई नहीं है)। बहिर्दोष—घर से बाहर खड़ा रख कर गृहस्थ भीतर से लाकर दे तो ले लेना। (८७) मोरंच—दाता का गुणानुवाद करके लेना (८८) बालट्ठ—बालक के लिए बना आहार उसके खाने से पहले लेना (यह पाँच दोष प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहे हैं)। (८६) गुव्विणी अट्ठ—गर्भवती स्त्री के लिए बनाया हुआ आहार उसके खाने से पहले ही ले लेना। (६१) अडवीभत्त—अटवी पर्वत आदि के नाके पर बनी हुई दानशाला से आहार लेना। (६२) अतित्थभक्त—गृहस्थ भिक्षा मांगकर लाया हो- उससे भिक्षा लेना। (६३) पासत्थ भत्त—आचारभ्रष्ट, वेष मात्र से आजीविका करने वाले साधुवेषी से भिक्षा लेना (६४) दुगंछभत्त—जूठन आदि अयोग्य आहार लेना। (६५) सागारियनिस्सीया—गृहस्थ की सहायता से आहार-पानी लेना। (यह ७ दोष निशीथ सूत्र में कहे हैं) (६६)परियासिय-भिखारियों को दान देने के लिए रक्खा आहार भिखारियों के न आने पर साधुओं को दिया जाने वाला आहार लेना। यह निशीथ और बृहत्कल्प में कहा है।) इन दोषों को टालकर साधु आहार वस्त्र पात्र आदि ग्रहण करे।

त्याग करने से दुर्गन्ध उत्पन्न होती है और उससे रोगों की उत्पत्ति होती है और छूत की बीमारियाँ उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः साधु एक पात्र में लघुनीति करके एकान्त जगह में छितरा-छितरा कर डाल दे। इनके अतिरिक्त भिक्षा लाने के पात्रों को रखने की कपड़े की झोली, पानी छानने का छन्ना, पात्र साफ करने का कपड़ा आदि-आदि उपकरण साधु सदैव अपने पास रखते हैं। विशेष प्रयोजन होने पर छोटी बाजौठ, बड़ा पट्टा, गेहूं-चावल आदि का पयाल, गृहस्थ के घर से माँग लाते हैं और काम हो जाने पर लौटा देते हैं। इन सब उपकरणों को (१) द्रव्य से—यतनापूर्वक ग्रहण करे और यतनापूर्वक रक्खे, वृथा तोड़-फोड़ कर नष्ट न करे (२) क्षेत्र से—गृहस्थ के घर में रखकर ग्रामानुग्राम विहार न करे, क्योंकि ऐसा करने से प्रतिबन्ध होता है, प्रतिलेखना करने में अनियमितता होती है (३) काल से—प्रातःकाल और सायंकाल—दोनों समय वस्त्रों, पात्रों और उपकरणों की प्रतिलेखना* करे। प्रतिलेखना करते समय बातचीत न करे और न इधर-उधर देखे—एकाग्र दृष्टि और एकाग्र मन से प्रतिलेखना करे। जिन वस्त्रों की प्रतिलेखना न की हो, उन्हें प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों के साथ न मिलावे। पहले मुँहपत्ती की, फिर गुच्छक की (पूँजणी की), फिर चोलपट्ट की, चादर की, फिर रजोहरण आदि की क्रम से प्रतिलेखना करे (४) भाव से—उपकरणों को उपयोग-सावधानी के साथ काम में ले। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—'पच्चयत्थं च लोगस्स' अर्थात् साधुवेष से ही लोगों को प्रतीति होती है कि यह साधु है। इसीलिए एक नियत वेष धारण करना आवश्यक है, अभिमान या देह की ममता के कारण नहीं। अतः वस्त्र आदि पर ममता नहीं होनी चाहिए।

** प्रतिलेखना के २५ प्रकार—वस्त्र के तीन विभाग कल्पित करके प्रत्येक विभाग के ऊपर, मध्य में और नीचे—इस तरह तीनों जगह देखे। यह ३×३=९ अखोड़े हुए। इसी प्रकार वस्त्र को दूसरी तरफ देखने से ९ पखोड़े हुए। कुल १८ हुए। उन में जीव होने की शंका हो तो तीन आगे और तीन पीछे के ६ विभागों की पूंजणी से प्रमार्जना करे। यह छह पुरीमा हैं। सब मिलाकर २४ भेद हुए। शुद्ध उपयोग रखना पच्चीसवाँ भेद है।*

(५) परिष्ठापनिका समिति—उच्चार-बड़ी नीति (मल) प्रस्रवण लघुनीति-मूत्र, प्रस्वेद (पसीना), वमन, नाक का मैल, कफ, नाखून, बाल, मृतक शरीर आदि अनुपयोगी वस्तुओं को (१) द्रव्य से—यतना से डाले। ऐसी ऊँची जगह न डाले जहाँ से नीचे गिरे या बहे। ऐसी नीची जगह में भी न डाले जहाँ एकत्र होकर रह जाय। ऐसी अप्रकाशित जगह में भी न डाले जहाँ जीव जन्तु दिखाई न दें। ऐसी जगह भी न डाले जहाँ चीटियाँ के बिल हों, अनाज के दाने हों, चीटियाँ या अन्य प्राणी हों; किन्तु जीव-जन्तुओं से रहित भूमि को अच्छी तरह देखकर यतनापूर्वक त्याग करें। (२) क्षेत्र से-जिसकी वह जगह हो उस स्वामी की आज्ञा लेवे। यदि स्वामी न हो और किसी प्रकार के क्लेश की आशंका न हो तो वहाँ शक्रेन्द्र की आज्ञा लेकर उक्त वस्तुओं को परठ दें। (३) काल से—दिन में अच्छी तरह देख-भाल कर निरवद्य भूमि में परठे और रात्रि के समय, दिन में पहले ही देख रक्खी हुई भूमि में परठे। (४) भाव से—शुद्ध उपयोगपूर्वक यतना से परठे। (मैं आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ इस बात को द्योतित करने के निमित्त) जाते समय 'आवस्सहि' शब्द तीन बार बोले। परठते समय (स्वामी की आज्ञा को सूचित करने के लिए) 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' पद बोले। परठने के बाद (इस वस्तु से अब मुझे कोई प्रयोजन नहीं है, यह सूचित करने के लिए) 'वोसिरामि' पद तीन बार बोले। परठ कर जब अपने स्थान पर वापिस लौटे तब (कार्य से निवृत्त हो गया हूँ, यह प्रकट करने के लिए) 'निस्सही' शब्द तीन बार कहे फिर ईरियावहियं का प्रतिक्रमण करे। (यह पाँच समितियाँ हुईं)

(६) मनगुप्ति—मन, वचन और काय-यह तीनों महान् शस्त्र हैं। किसी-किसी समय घोर पातकमय विचार, उच्चार और आचार करके प्रगाढ़ कर्मों का बन्ध कर लेते हैं। इन तीनों में भी मन प्रधान है। मानसिक विचार के अनुसार ही प्रायः वचन और काय की प्रवृत्ति होती है। अतः सर्वप्रथम मन को काबू में करना चाहिए। संरम्भ-अर्थात् किसी जीव को परिताप पहुँचाने का विचार, समारंभ अर्थात् परिताप पहुँचाने की सामग्री जुटाना और आरम्भ अर्थात् परिताप पहुँचाना, इन तीनों से मन को हटा कर, उसे

धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लगाना मन-गुप्ति है। मन-गुप्ति से कर्मबन्ध रुकता है और आत्मा की निर्मलता बढ़ती है।

(७) वचन-गुप्ति—संरम्भ आदि का प्रतिपादन करने वाले वचन को त्याग कर, प्रयोजन होने पर उचित, सत्य, तथ्य, पथ्य, निर्दोष और परिमित वचनों का उच्चारण करना और प्रयोजन न होने पर मौन धारण करना वचनगुप्ति है। वचनगुप्ति का पालन करने से आत्मा सहज ही अनेक प्रकार के दोषों से बच जाती है। अतः वचनगुप्ति का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

(८) कायगुप्ति—संरंभ, समारम्भ और आरम्भ से काय को निवृत्त करके उसे तप, संयम, ज्ञानोपार्जन आदि संवर और निर्जरा उत्पन्न करने वाले कार्यों में लगाना कायगुप्ति है। इस प्रकार पांच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ मिल कर चारित्र के आठ आचार हैं। आचार्य महाराज इन आठों का निर्दोष रूप से स्वयं पालन करते हैं और दूसरे मुनियों से पालन कराते हैं।

[४] तप के बारह आचार



मिट्टी आदि से मिश्रित स्वर्ण जैसे अग्नि में तपाने से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार कर्म रूपी मैल से मलीन आत्मा, तपश्चर्या रूपी अग्नि में तप कर शुद्ध हो जाता है—अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। कर्म रूपी मैल को गलाने की जैसी तीव्र शक्ति तपस्या में है, वैसी अन्य में नहीं। श्रीउत्तराध्ययन और औपपतिक सूत्र में तप के भेद-प्रभेद इस प्रकार किये हैं :—

सो तवो दुविहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥१॥
अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥२॥
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एस अब्भिन्तरो तवो ॥३॥

कनकावली तप

कनकावली तप की एक परपाटी (लड़) के तपदिन ४३४ पारणा ८८ जिस के महीने १७ और दिन १२ होते हैं. चारों लड़ ४ वर्ष ९ महीने १८ दिन में होती है।

	१				१	
	२				२	
	३				३	
३	३	३		३	३	३
३	*	३		३	*	३
३	३	३		३	३	३
	१				१	
	२				२	
	३				३	
	४				४	
	५				५	
	६				६	
	७				७	
	८				८	
	९				९	
	१०				१०	
	११				११	
	१२				१२	
	१३				१३	
	१४				१४	
	१५		३		१५	
	१६	३		३	१६	
	३	३	३	३ ३	३	
	३	३	३	३ ३	३	
	३	३	३	३ ३	३	
	*	३	३	३ ३	*	
		३		३		
			३			

रत्नावली तप

कनकावली तप की एक परपाटी के तपदिन ३८४ पारणे ८८ जिसके महीने १५ और दिन २२ होते हैं. चार परपाटी ५ वर्ष २ मास २८ दिन में होती है।

	१				१	
	२				२	
	३				३	
२	२	२		२	२	२
२	*	२		२	*	२
२	२	२		२	२	२
	१				१	
	२				२	
	३				३	
	४				४	
	५				५	
	६				६	
	७				७	
	८				८	
	९				९	
	१०				१०	
	११				११	
	१२				१२	
	१३				१३	
	१४				१४	
	१५		२		१५	
	१६	२		२	१६	
	२	२	२	२ २	२	
	२	२	२	२ २	२	
	२	२	२	२ २	२	
	*	२	२	२ २	*	
		२		२		
			२			

एकावली तप

बायाँ	दायाँ
१	१
२	२
३	३
१	१
*	*
१	१
१	१
२	२
३	३
४	४
५	५
६	६
७	७
८	८
९	९
१०	१०
११	११
१२	१२
१३	१३
१४	१४
१५	१५
१६	१६
१	१
१	१
१	१
*	*

एकावली तप की एक परिपाटी के तपदिन ३३४ पारणे ८८ जिस के मास १४ और दिन २ होते हैं. चार परिपाटी के ४ वर्ष ८ मास ८ दिन लगते हैं।

मुक्तावली तप

बायाँ	दायाँ
१	१
२	२
१	१
३	३
१	१
४	४
१	१
५	५
१	१
६	६
१	१
७	७
१	१
८	८
१	१
९	९
१	१
१०	१०
१	१
११	११
१	१
१२	१२
१	१
१३	१३
१	१
१४	१४
१	१
१५	१५
१	१

मुक्तावली तप की एक परिपाटी तपदिन ३०० पारणा दिन ६० जिसका पूरा एक वर्ष होता है. चार परिपाटी ४ वर्ष में पूरी होती है।

बृहत्सिंह क्रीडा

१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ६ ५ ७ ६ ८ ७ ९ ८ १० ९ ११ १० १२ ११ १३ १२ १४ १३ १५ १४ १६

१५

बृहत् (बड़ा) सिंह के क्रीड़ा जैसे तप के दिन ४९७ पारणा ६१ जिसके महीने १८ और दिन १८ होते हैं। चार श्रेणी ६ वर्ष, २ महीने, १२ दिन में होती है।

लघुसिंहक्रीड़ा

१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ६ ५ ७ ६ ८ ७ ९

लघु (छोटे) सिंह के क्रीड़ा जैसे तप के दिन १५४ पारणा ३३, सर्व मास ६ दिन ७ चार श्रेणी के २ वर्ष २८ दिन लगते हैं।

वज्र मध्य प्रतिमा

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास खावे यों एकेक ग्रास की वृद्धि करते २ अमावस्या को १५ ग्रास खाय, फिर प्रतिपदा को १४ ग्रास खाय, यों कमी करते २ पूर्णिमा को उपवास करें सो यवमध्यप्रतिमा

यव मध्य प्रतिमा

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को १५ ग्रास खाय, फिर एकेक ग्रास कमी करते २ अमावस्या को उपवास करे, और फिर प्रतिपद को एक ग्रास खाय, यों बढ़ाते २ पूर्णिमा

सर्वतोभद्र प्रतिमा

५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८

सर्वतोभद्र प्रतिमा तप, तपोदिन ३९२ पारणे ४९ सर्व ४४१ दिनमें होवें जिस के १४ महीने और २१ दिन होते हैं

महाभद्र प्रतिमा

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

महाभद्र प्रतिमा तप, तपोदिन १९६ पारणे ४९ सर्व दिन २४३, जिसके ८ महीने ३ दिन होते है.

भद्र प्रतिमा

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

भद्र प्रतिमा तप, तपोदिन ७५ पारणे २५ सर्व दिन १००, जिस के ३ महीने १० दिन होते हैं.

गुणरत्न संवत्सरतप

तपदिन	तप	पारणा	सर्व दिन
३२	१६ १६	२	३४
३०	१५ १५	२	३२
२८	१४ १४	२	३०
२६	१३ १३	२	२८
२४	१२ १२	२	२६
३३	११ ११ ११	३	३६
३०	१० १० १०	३	३३
२७	९ ९ ९	३	३०
२४	८ ८ ८	३	२७
२१	७ ७ ७	३	२४
२४	६ ६ ६ ६	४	२८
२५	५ ५ ५ ५ ५	५	३०
२४	४ ४ ४ ४ ४ ४	६	३०
२४	३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३	८	३२
२०	२ २ २ २ २ २ २ २ २ २	१०	३०
१६	१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १	१६	३२

यह उपर्युक्त तपों के नाम तो श्री उववाइजी सूत्र में हैं. और इन तपोंमें से कितनेक तप करने वालों के नाम भी अन्तगड जी सूत्र में हैं. उक्त तप की चार परिपाटी की जाती है अर्थात् पूर्ण तप चार वक्त करते हैं. जिसमें पहिले वक्त तप करते सर्व रस युक्त पारणा करते हैं दूसरी वक्त तप करते पारणे में पांचों विगय का परित्याग करते हैं. तीसरी वक्त तप करते पारणे में विगय का लेप मात्र भी लगा हो तो उस वस्तु को ग्रहण नहीं करते हैं चौथी वक्त तप करते पारणे में आयंबिल करते हैं। यों ममत्व परित्याग करते हैं तब ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।



अर्थात्—मूलतः तप दो प्रकार का कहा गया है—(१) बाह्यतप और (२) आभ्यन्तर तप। इनमें से बाह्य तप के छह भेद हैं और आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं।

(१) अनशन, (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचर्या (४) रसपरित्याग (५) कायक्लेश और प्रतिसंलीनता, यह छह बाह्य तप हैं। और (१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (वेयावच्च), (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) कायोत्सर्ग; यह छह आभ्यन्तर तप हैं। बाह्य तप प्रायः प्रत्यक्ष होते हैं और आभ्यन्तर तप प्रायः गुप्त या परोक्ष होते हैं। बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप से कर्मों की अधिक निर्जरा होती है। इन बारह तपों का विस्तारपूर्वक वर्णन क्रमशः आगे किया जाता है।

(१) अनशनतप—अशन अर्थात् अन्न, पान अर्थात् जल आदि पेय वस्तु, खाद्य अर्थात् पकवान मेवा आदि, स्वाद्य अर्थात् मुख को सुवासित करने वाले इलायची, सुपारी, चूर्ण आदि पदार्थ, यह चारों प्रकार के पदार्थ यहाँ 'अशन' शब्द से ग्रहण किये गये हैं। अशन का अर्थात् पूर्वोक्त चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशनतप कहलाता है।

अनशनतप मूलतः दो प्रकार का है—(१) इत्तरिय (इत्वरिक) तप अर्थात् काल की मर्यादा युक्त अनशन और (२) आवकहिय (यावत्कथिक)—जीवन पर्यन्त के लिए किया जाने वाला अनशन। इनमें से इत्वरिक तप भी छह प्रकार का है—(१) श्रेणीतप (२) प्रतरतप (३) घनतप (४) वर्गतप (५) वर्गावर्गतप और (६) प्रकीर्णक तप।

चतुर्थभक्त (एक उपवास), षष्ठभक्त (बेला), अष्टमभक्त (तेला), इस प्रकार क्रम से चढ़ते-चढ़ते पक्षोपवास, मासोपवास, द्विमासोपवास और अन्त में षट्मासोपवास+ करना श्रेणी तप कहलाता है।

+ छह मास से अधिक का उपवास नहीं होता।

प्रतरतप			
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

बगल में दिये हुए कोष्ठक के अनुसार पहले एक, फिर दो, फिर तीन, फिर चार, फिर दो, फिर तीन, फिर चार, फिर एक इत्यादि अङ्कों के क्रम के अनुसार तप करना प्रतर-अनशन तप कहलाता है।

इसी प्रकार ८×८=६४ कोष्ठक में आने वाले अङ्कों के अनुसार तप करना घनतप कहलाता है। इस प्रकार ६४×४=४०९६ कोष्ठकों में आने वाले अङ्कों के अनुसार तप करना वर्गतप है। इसी तरह ४०९६×४०९६=१६७७७२१६ कोष्ठकों में आने वाले अङ्कों के अनुसार तप करना वर्गावर्ग तप कहलाता है और कनकावली, रत्नावली, मुक्तावली, एकावली, बृहत्सिंहक्रीडित, लघुसिंहक्रीडित, गुणरत्न-संवत्सर, वज्रमध्यप्रतिमा, यवमध्यप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, भद्रप्रतिमा, आयंबिलवर्धमान* इत्यादि तप प्रकीर्णक तप कहलाते हैं। (इन तपों का रूप कोष्ठकों में पृथक् दिया गया है।) यह इत्वरिक तप के छह भेद हैं।

मारणान्तिक उपसर्ग आने पर, असाध्य रोग हो जाने पर या बहुत अधिक जराजीर्ण अवस्था हो जाने पर जब आयु का अन्त सन्निकट आया प्रतीत होता हो तब जीवन पर्यन्त के लिए अनशन करना 'आवकहिय तप' कहलाता है।

आवकहिय तप के दो भेद हैं:—(१) भक्तप्रत्याख्यान और (२) पादपोपगमन। सिर्फ चारों प्रकार के आहार का जीवन पर्यन्त त्याग करना भक्तप्रत्याख्यान-तप कहलाता है तथा चारों प्रकार के आहार के त्याग के

---

* पहले एक आंबिल और एक उपवास, फिर दो आंबिल और एक उपवास, इस प्रकार आंबिल की क्रम से वृद्धि करता जाय और बीच-बीच में एक-एक उपवास करता जाय। इस तरह १०० आंबिल तक करे। यह आंबिल वर्धमानतप कहलाता है। इसमें १४ वर्ष लगते हैं।

साथ शरीर का (शरीर की सेवा का) भी त्याग करके, वृक्ष से कटी हुई शाखा के समान हलन-चलन से रहित होकर, एक ही आसन से जीवन पर्यन्त रहना पादपोपगमन तप कहलाता है। इन दोनों तपों को 'संथारा' भी कहते हैं।

(२) ऊनोदरी तप—आहार, उपधि और कषाय को न्यून (कम) करना ऊनोदरी तप है। इसके दो भेद हैं—द्रव्यऊनोदरी और भावऊनोदरी। द्रव्य-ऊनोदरीतप भी तीन प्रकार का है—[१] वस्त्र-पात्र कम रखना उपकरणऊनोदरी तप है। इनसे ममत्व घटने पर ज्ञान-ध्यान की वृद्धि होती है और विहार सुखपूर्वक होता है, [२] पुरुष का आहार बत्तीस कवल का माना जाता है। इनमें से आठ कवल आहार करके सन्तोष मानना पौन ऊनोदरी तप है, सोलह कवल लेकर सन्तोष करना आधा ऊनोदरी तप और चौबीस ग्रास लेकर सन्तोष धारण करना पाव ऊनोदरी तप है। ३१ कवल लेकर संतोष करना किंचित् ऊनोदरी तप है। कम आहार करने से प्रमाद में कमी होती है और शरीर नीरोग रहता है। बुद्धि की वृद्धि आदि और भी अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, चपलता आदि दोषों को कम करना भाव ऊनोदरी है।

(३) भिक्षाचर्या—सम्मुदानी (बहुत घरों से) थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लाकर उससे अपने शरीर को उपष्टम्भ (सहारा) देना भिक्षाचर्यातप कहलाता है। जैसे गौ जंगल में जाकर, ऊपर-ऊपर का थोड़ा-थोड़ा घास खाकर अपना निर्वाह करती है, उसी प्रकार साधु भी बहुत घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर शरीर को संयम-पालन के योग्य बनाये रखते हैं। इस कारण साधु की भिक्षा 'गोचरी' भी कहलाती है। दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन में कहा है:—

वयं च वित्तिं लब्भामो, ण य कोई उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरो जहा ॥

अर्थात्—गृहस्थ अपने सुख-सुभीते के लिए बगीचा लगाता है। उसमें अचिन्तित रूप से भौंरा पहुँच कर, फूलों को तनिक भी कष्ट नहीं

पहुँचाता, बहुत से फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करके अपने को सन्तुष्ट कर लेता है, इसी प्रकार साधु की आजीविका है। गृहस्थ अपने कुटुम्ब-परिवार के निमित्त जो भोजन बनाते हैं, उसमें से थोड़ा-थोड़ा, जिससे गृहस्थों को किसी प्रकार की कठिनाई न हो, आहार लेकर अपने को तृप्त कर लेता है।

भिक्षाचर्या के चार प्रकार हैं:—(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से और (४) भाव से। इनमें से द्रव्य से भिक्षाचर्या के २६ अभिग्रह होते हैं। वे इस प्रकार हैं:—(१) उक्खित्तचरए—वर्त्तन में से वस्तु निकाल कर दे तो ले, अन्यथा नहीं। (२) निक्खित्तचरए—वर्तन में वस्तु डालता हुआ दे तो ले, अन्यथा नहीं। (३) उक्खित्त-निक्खित्तचरए-वर्त्तन में से वस्तु निकाल कर फिर डालता हुआ दे तो लेवे, अन्यथा नहीं। (४) निक्खित्त-उक्खित्तचरए—वर्तन में वस्तु को डाल कर फिर निकाल कर दे तो लेवे अन्यथा नहीं (५) वट्टिज्जमाणचरए—दूसरों के देते २ बीच में दे तो लेना। (६) साहरिज्जमाणचरए—दूसरों से लेता हुआ बीच में दे तो लेना। (७) उवणीअचरए—दूसरों को देने के लिए ले जाता हुआ बीच में दे तो लेना। (८) अवणीअचरए—दूसरों से लेकर आता हुआ दे तो लेना। (९) उवणीअ-अवणीअचरए—किसी को देने जाकर पीछे आता हुआ दे तो लेना। (१०) अवणीअ-उवणीअचरए—किसी से लेकर पीछे देने जाता हुआ दे तो लेना। (११) संसट्ठचरए—भिड़े (भरे) हुए हाथ से दे तो लेना। (१२) असंसट्ठचरए—विना भरे हाथ से दे तो लेना। (१३) तज्जाइसंसट्ठ-चरए—जिस वस्तु से हाथ भरे हों वही वस्तु दे तो लेना। (१४) अन्नाय-चरए—अपरिचित—जहाँ साधु को कोई पहचानता न हो ऐसे कुल से लेना [१५] मोणचरए—बिना बोले—चुपचाप ले [१६] दिट्ठलाभए—दीखती वस्तु लेना। [१७] अदिट्ठचरए—अनदीखती हुई वस्तु लेना। [१८] पुट्ठ-लाभए—'अमुक वस्तु लेंगे ?' इस प्रकार पूछ कर दी गई वस्तु लेना। [१९] अपुट्ठलाभए—विना पूछे जो वस्तु दे उसी को लेना। [२०] भिक्ख-लाभए—जो निन्दा करके दे उसी से लेना। [२१] अभिक्खलाभए—जो स्तुति करके दे उसी से लेना। [२२] अन्नागिलाए—अरुचिकर आहार

लेना । [२३] उवणिहिए--गृहस्थ भोजन करता हो, उसी में से लेना, अन्यथा नहीं । [२४] परिमितपिंडवत्तिए—सरस और अच्छा आहार मिले तो लेना। [२५] सुद्देसणीए—खातिरी करके लेना । [२६] संखादत्तीए—चम्मच और वस्तु की संख्या निर्धारित करके लेना अर्थात् एक, दो या तीन चीजें लूँगा और इतने चम्मच चीज लूँगा, इस प्रकार का निश्चय कर लेना ।

क्षेत्र से भिक्षा के आठ अभिग्रह हैं :—(१) पेटीए-चारों कोनों के चार घरों से आहार लेना । (२) अद्धपेटीए-दो कोनों के दो घरों से आहार लेना । (३) गोमुत्ते—गोमुत्र की तरह टेढ़ा-मेढ़ा घरों का क्रम बना कर आहार लेना, जैसे एक घर पहली कतार में से और दूसरा दूसरी कतार में से , तीसरा फिर पहली कतार में से और चौथा दूसरी कतार में से भिक्षा के लिए चुनना और उन्हीं में से भिक्षा लेना । (४) पतंगिए—पतंग के उड़ने के समान फुटकल घरों से लेना (५) अभ्यन्तर संखावत्त—पहले नीचे के घर से और फिर ऊपर के घर से लेना। (६) बाहिरसंखावत्त—पहले ऊपर के घर से फिर नीचे के घर से लेना । (७) गमणे—जाते समय भिक्षा लेना, लौटते समय न लेना । (८) आगमणे—भिक्षा लिये बिना जाकर सिर्फ लौटते समय लेना ।

काल से भिक्षाचर्या के अनेक प्रकार के अभिग्रह हैं । जैसे—प्रथम प्रहर का लाया आहार तीसरे प्रहर में खाना, दूसरे प्रहर में लाया चौथे प्रहर में खाना या तीसरे प्रहर में खाना, प्रथम प्रहर में लाया आहार दूसरे प्रहर में खाना । इसी तरह घटिका (घड़ी) आदि के अभिग्रह करना ।

भाव से भी भिक्षाचर्या के अनेक भेद हैं । जैसे—सब वस्तुएँ अलग-अलग लावे और सब को मिलाकर खावे । रुचिकर (प्रिय) वस्तु का त्याग करे । आहार करते समय ममत्व न करे । रूक्षवृत्ति (उदासीनभाव) रक्खे । इत्यादि ।

(४) रसपरित्याग— जीभ को स्वादिष्ट लगने वाली और इन्द्रियों को प्रबल तथा उत्तेजित करने वाली वस्तुओं का त्याग करना रसपरित्याग तप कहलाता है । कहावत है--'रसाणी सो रोगाणी' अर्थात् जो रस में

लुब्ध होता है वह रोगी होता है। अतएव लोलुपता का त्याग करना चाहिए। इस तप के चौदह प्रकार हैं:--(१) दूध, दही, घी, तेल और मिठाई—इन पाँचों विगय को त्यागना 'निव्विगए तप' कहलाता है। (२) धार से विगय न लेना और ऊपर से विगय न लेना 'पणीयरसपरिच्चाए' (प्रणीतरस-परित्याग) कहलाता है। (३) ओसमण में के दाने खाना 'आयमसित्थभोए' है। (४) रस और मसाले से रहित भोजन करना 'अरसआहार' है। (५) पुराना धान पका (सीझा) हुआ लेना 'विरस-आहार' है। (६) मटर, चना या उड़द आदि के बाकले (घूघरी) लेना 'अंत-आहार' कहलाता है। (७) ठंडा-बासी आहार लेना 'पंत (प्रान्त) आहार' कहलाता है। (८) रूक्ष (रूखा) आहार लेना 'लुक्ख' आहार कहलाता है। (६) जली हुई खुरचन आदि लेना 'तुच्छ' आहार है। (१०) अरस (११) विरस (१२) अन्त (१३) प्रान्त एवं (१४) रुक्ष आहार लेना। इस प्रकार रूखा-सूखा आदि आहार लेकर संयम का निर्वाह करना रसपरित्याग नामक बाह्य तप है।

(५) कायक्लेश—स्वेच्छापूर्वक, धर्म की आराधना के लिए काया को कष्ट देना कायक्लेशतप कहलाता है। इस तप के अनेक प्रकार हैं:—कायोत्सर्ग करके खड़ा रहना सो 'ठाणाठितिय' है। कायोत्सर्ग किये बिना खड़ा रहना 'ठाणाइय' तप है। दोनों घुटनों के बीच में सिर झुकाकर कायोत्सर्ग करना 'उक्कडासणिए' तप है। साधु की बारह पडिमाओं को धारण करना 'पडिमाठाइए' तप है। साधु की बारह पडिमाएँ इस प्रकार हैं:—

(१) पहली प्रतिमा में एक महीने तक दात+ (दत्ति) आहार की और दात पानी की लेना।

(२) दूसरी प्रतिमा में दो महिने तक दो दात आहार की और दो दात पानी की लेना।

+ आहार लेते समय, एक बार में जितना आहार पात्र में गिरे वह आहार की एक दात या दत्ति कहलाती है। पानी की धारा जब तक खंडित न हो तब तक पानी एक दात गिनी जाती है। इसी प्रकार आगे समझना चाहिए।

(३) तीसरी प्रतिमा में तीन मास तक तीन आहार की और तीन दात पानी की लेना।

(४) चौथी प्रतिमा में चार मास तक चार दात आहार की और चार दात पानी की लेना।

(५) पाँचवीं प्रतिमा में पाँच मास तक पाँच—पाँच दात आहार-पानी की लेना।

[६] छठी प्रतिमा में छह मास तक छह दात आहार की और छह दात पानी की लेना।

[७] सातवीं प्रतिमा में सात मास तक सात दात आहार की और सात दात पानी की लेना।

[८] आठवीं प्रतिमा में सात दिन तक चौविहार एकान्तर तप करना, दिन में सूर्य की आतापना लेना, रात्रि में वस्त्र—रहित रहे, चारों प्रहर रात्रि में सीधा [चित] लेटा रहे या एक करवट से सोता रहे अथवा कायोत्सर्ग में बैठा रहे —इन तीन आसनों में से कोई भी एक आसन करे; देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग आएँ तो शान्ति और धैर्य के साथ सहन करे—चलायमान न हो—क्षोभ को प्राप्त न हो।

(९) नौवीं प्रतिमा आठवीं के समान ही है। विशेषता यह है कि दंडासन, लगुडासन अथवा उत्करासन में से कोई एक आसन करके सारी रात्रि व्यतीत करे। सीधा खड़ा रहना दण्डासन कहलाता है। पैर की एड़ी और मस्तक का शिखास्थान जमीन पर लगाकर, सारा शरीर कमान के समान अधर रखना लगुडासन कहलाता है और दोनों घुटनों के बीच में सिर झुका रखना उत्कटासन कहलाता है। इन तीनों में से कोई एक आसन सारी रात करे।

[१०] दसवीं प्रतिमा— यह भी आठवीं के ही समान है। विशेषता यह है कि गोदुहासन, वीरासन और अम्बकुब्जासन में से कोई एक आसन

करके सारी रात्रि व्यतीत करे। गाय का दूध दुहते समय जो आसन होता है वह गोदुहासन कहलाता है। पाट—कुर्सी पर बैठ कर पैर जमीन पर लगावे और पीछे से पाट—कुर्सी के हटा लेने पर जो आसन होता है वह वीरासन कहलाता है। सिर नीचे और पैर ऊपर रखना अम्बकुब्जासन कहलाता है।

[११] ग्यारहवीं प्रतिमा—षष्ठभक्त [बेला] करे, दूसरे दिन गाँव के बाहर अहोरात्रि [आठ पहर] कायोत्सर्ग करके खड़ा रहे।

[१२] बारहवीं प्रतिमा—अष्टमभक्त [तेला] करे। तीसरे दिन महा-काल [भयंकर] श्मशान में एक वस्तु पर अचल दृष्टि स्थापित करके कायो-त्सर्ग करे। देव, दानव या मानव संबंधी उपसर्ग होने पर अगर चलित हो जाता है तो—[१] उन्माद [विकलता] की प्राप्ति होती है, [२] दीर्घ काल तक रहने वाला रोग उत्पन्न हो जाता है और [३] जिनप्रणीत धर्म से [संयम से] च्युत हो जाता है। इसके विपरीत यदि निश्चल रहता है तो—[१] अवधिज्ञान, (२) मनःपर्ययज्ञान और (३) केवल ज्ञान में से किसी एक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

केशों का लोंच करना, ग्रामानुग्राम विचरना, सर्दी—गर्मी को सहन करना, खुजली आने पर खुजाना नहीं, मैल उतारना नहीं इत्यादि सब कष्ट सहन करना काय-क्लेश तप में ही अन्तर्गत हैं।

(६) प्रतिसंलीनता— कर्म के आस्रव के कारणों का निरोध करना प्रतिसंलीनता तप है। इसके चार भेद हैं— [१] राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाले शब्दों के सुनने से कान को रोकना, रूप से आंखों को रोकना, गन्ध से नाक को, रस से जिह्वा को और स्पर्श से शरीर को रोकना और कदाचित् इन शब्द आदि विषयों की प्राप्ति हो तो मन में विकार उत्पन्न न होने देना— समवृत्ति रखना इन्द्रियप्रतिसंलीनता तप है। [२] क्षमा से क्रोध का, विनय से मान का, सरलता से माया का और संतोष से लोभ का निग्रह

करना कषायप्रतिसंलीनता तप है। [३] असत्य* और मिश्र वचन का त्याग

* जो सच्चा विचार करे वह सत्यमन, जो झूठा विचार करे सो असत्यमन, दोनों का विचार करे सो मिश्रमन और जो व्यवहारसत्य का (जैसे—गांव आया, दीपक जलता है, रास्ता सीधा जाता है इत्यादि का) विचार करे सो व्यवहारमन। सत्य बोलना सत्यभाषा, असत्य बोलना असत्यभाषा, कुछ सत्य और कुछ असत्य बोलना मिश्रभाषा और पूर्वोक्त व्यवहारसत्य बोलना व्यवहारभाषा है।

चारों प्रकार के वचनों के ४२ भेद कहे गये हैं। उनमें से सत्यभाषा के दस भेद हैं। जैसे—(१) जनपदसत्य—विभिन्न देशों में बोली जाने वाली भाषा, जैसे कहीं पानी, कहीं नीलु, कहीं नीर जल को कहते हैं। जिस देश में जिस शब्द का प्रयोग होता है, उस शब्द का प्रयोग करना जनपदसत्य कहलाता है। (२) समन्तसत्य—एक वस्तु के गुण पलटने से अनेक नाम पलटना, जैसे—साधु, श्रमण, मुनि आदि। (३) स्थापनासत्य—पैसा, रुपया, मोहर, टांक, पाव, सेर आदि लोक में जिसकी स्थापना की गई है, उसे उसी नाम से कहना स्थापनासत्य है। (४) नामसत्य—नाम के अनुसार गुण न होने पर भी जिसका जो नाम रक्खा गया है उसे उसी नाम से कहना। जैसे किसी निस्संतान को भी 'कुलवर्धन' नाम से कहना, दरिद्रा को 'लक्ष्मी' नाम से पुकारना आदि। (५) रूपसत्य—गुण न होने पर भी वेष के कारण उसे उसी नाम से कहना, जैसे साधु के गुण न होने पर भी किसी ने साधु वेष बना लिया है, इस कारण उसे साधु कहना। (६) प्रतीत्यसत्य—सापेक्ष कथन। जैसे छोटे की अपेक्षा बड़ा और श्रीमन्त की अपेक्षा गरीब कहना। (७) व्यवहारसत्य—सत्य न होने पर भी लोक में जो सत्य माना जाता है, ऐसा वचन बोलना, जैसे—जलता है तेल मगर कहा जाता है कि दीपक जलता है, चलता है मनुष्य मगर गांव आया कहा जाता है। ऐसा कहना व्यवहारसत्य है। (८) भावसत्य—बहुतायत की अपेक्षा सामान्य रूप से कथन करना, जसे बगुला को सफेद कहना, तोते को हरा कहना, कौए को काला कहना। यद्यपि इनमें सभी रङ्ग पाये जाते हैं किन्तु जो रङ्ग विशेष दृष्टिगोचर होता है उससे व्यवहार करना भावसत्य है। (९) योगसत्य—किसी के लिए उसके कार्य के अनुसार शब्द प्रयोग करना, जैसे—लिखने वाले को लेखक या लेहिया कहना, सोने के आभूषण बनाने वाले को स्वर्णकार कहना, इसी प्रकार लोहार, चर्मकार (चमार) आदि कहना योगसत्य है। (१०) उपमासत्य—नगर को देवलोक के समान, घृत को कपूर के समान कहना। यह दस प्रकार के सत्य हैं। अर्थात् यह दस प्रकार की भाषा सत्य मानी जाती है।

असत्यभाषा भी दस प्रकार की है:—क्रोध असत्य—क्रोध के वश होकर बोलना, जैसे क्रुद्ध होकर पिता अपने पुत्र से कहता है—जा, मुंह मत दिखाना, तू मेरा बेटा नहीं! (२) मान-असत्य—मान के वश होकर झूठ बोलना (३) माया-असत्य—माया के अधीन होकर दगा-कपट के वचन बोलना। (४) लोभ-असत्य—लालच में पड़कर, व्यापार आदि के निमित्त असत्य बोलना। (४) राग-असत्य—राग के फन्दे में फंसकर स्त्री आदि से झूठ बोलना। (६) द्वेष-असत्य—द्वेष के वश होकर किसी को झूठा कलंक लगा देना। (७) भय-असत्य-

करके सत्य और व्यवहार वचन का यथोचित प्रयोग करे। औदारिक,❀ औदारिकमिश्र, वैक्रिययोग, वैक्रियमिश्रयोग, आहारकयोग, आहारकमिश्रयोग

भय के कारण झूठ बोल जाना। (८) हास्य-असत्य—हँसी-दिल्लगी में झूठ बोलना (९) आख्यायिका-असत्य—व्याख्यान आदि में बढ़ा-चढ़ा कर बात कहना—सूई का मूसल कर देना (१०) शका-असत्य—संशय के वश होकर साहूकार को भी चोर कह देना। इन क्रोध आदि दुर्गुणों से प्रेरित होकर जो भाषण किया जाता है उसे असत्य ही समझना चाहिए।

कुछ अंशों में सच्ची और कुछ अंशों में झूठी भाषा मिश्रभाषा कहलाती है। उसके भी दस प्रकार हैं—(१) उत्पन्नमिश्र—आज दस का जन्म हुआ, ऐसा कहना किन्तु कम-ज्यादा भी हो। (२) विगतमिश्र—कम-ज्यादा होने पर भी कहना—आज दस मरे। (३) उभयमिश्र, जैसे आज दस जनमे और दस मरे। (४) जीवमिश्र—जीवों का ढेर देखकर कहना सब जीव हैं, मगर संभव है उसमें कोई निर्जीव भी हो। (५) अजीवमिश्र—अधिकांश को मरा देखकर कहना—सब मर गये। (६) जीवाजीवमिश्र—उक्त दोनो बातें मिली जुली कहना। (७) अनन्तमिश्र—प्रत्येक काय (एक शरीर में एक जीव वाली वनस्पति) को अनन्त काय कहना। (८) परीतमिश्र—अनन्त काय (एक शरीर में अनन्त जीवों वाली वनस्पति को प्रत्येक काय कहना। (९) कालमिश्र—संध्या समय को रात्रि कहना। (१०) अद्धामिश्र—तीन प्रहर को दोपहर कहना।

जो सच्ची भी न हो और झूठी भी न हो; ऐसी व्यवहार भाषा बारह प्रकार की है:—(१) आमंत्रिणी:—हे देवदत्त! इत्यादि नामों से किसी को सम्बोधन करना, वास्तव में जीव का नाम देवदत्त नहीं है। यह तो कल्पित नाम है, लेकिन यह व्यवहार में सत्य है। (२) आज्ञापिनी—तुम यह करो, इत्यादि आज्ञा देना आज्ञापिनी भाषा है। (३) याचनी—मुझे यह दो, इत्यादि याचना करना (४) पृच्छनी—यह कैसे हुआ, इत्यादि पूछना (५) प्रज्ञापनी—जो पाप करेगा सो दुःख भोगेगा, इत्यादि प्ररूपणा करना। (६) प्रत्याख्यानी—यह कार्य मैं नहीं करूंगा, ऐसा कहना। (७) इच्छानुलोमा—जो इच्छा हो सो करो, इत्यादि कहना (८) अनभिगृहीता—अर्थ समझे बिना कहना—जो तुम्हारी इच्छा, इत्यादि (९) अभिगृहीता—अर्थ को समझ कर या घबरा कर कहना—अब क्या करूं? इत्यादि। (१०) संशयकारिणी—किसी ने कहा—'सैन्धव ले आओ'। यह सुनकर सोचे कि पुरुष, घोड़ा, वस्त्र और नमक को सैंधव कहते हैं। ऐसे सोचकर कहे—इनमें से क्या ले आऊँ? (११) व्याकृत—यह इसका पिता ही है, ऐसी स्पष्ट अर्थ वाली भाषा बोलना। (१२) अव्याकृत—बच्चे को डराने के लिए कहना—हौवा पकड़ ले जाएगा! पर हौवा क्या है, सो स्पष्ट नहीं है।

यह भाषा के ४२ भेद हैं। इनमें असत्य और मिश्रभाषा के २० भेद छोड़ कर शेष २२ प्रकार की भाषा बोलने योग्य है।

❀ रक्त मांस हड्डी आदि सात धातुओं का पुतला, मनुष्यों और तिर्यञ्चों का शरीर औदारिक योग कहलाता है। औदारिकशरीर पूरा निष्पन्न होने से पहले-पहले दूसरे शरीर

और कार्मणयोग; इन सातों काययोगों को अशुभ से निवृत्त करके शुभ में प्रवृत्त करना योगप्रतिसंलीनता तप है। [४] वाटिका [जहाँ बेलें आदि-उत्पन्न हों वह स्थान] में, बगीचे [जिसके चारों ओर कोट बना हो ऐसा-उद्यान] में, उद्यान [जिसमें एक ही जाति के वृत्त हों] में, यत्त आदि के देवस्थान में, पानी पिलाने की प्याऊ में, धर्मशाला में, लोहार आदि की हाट में, वणिक् की दुकान में, साहूकार की हवेली में, उपाश्रय—धर्मस्थानक में, श्रावक की पौषधशाला में,. धान्य के खाली कोठार में, जहाँ बहुत से आदमी एकत्र होते हों ऐसे सभास्थान [टाउन हाल] में, पर्वत की गुफा में, राजा की सभा में, छतरियों में, श्मशान में, और वृत्त के नीचे; इन अठारह प्रकार के स्थानकों में, जहाँ स्त्री, पशु और नपुंसक न रहते हों वहाँ एक रात्रि आदि यथोचित काल तक रहना विविक्तशय्यासनप्रतिसंलीनता तप कहलाता है।

यहाँ तक छह प्रकार के बाह्य तप का स्वरूप बतलाया गया है। अब आभ्यन्तर तप के भेद कहते हैं:—

(७) प्रायश्चित्त—पापयुक्त पर्याय का छेदन करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है। पाप दस प्रकार से लगते हैं—[१] कंदर्प (काम) के वश होने से [२] प्रमाद के वश [३] अज्ञानवश [४] क्षुधा के वश से [५] आपदा के कारण [६] शङ्का के कारण [७] उन्माद (बीमारी या भूत लगने) से [८] भय से [९] द्वेष से [१०] परीक्षा करने की भावना से।

इन दस कारणों से लगे हुए दोषों की आलोचना अविनीत (कुशिष्य) दस प्रकार से करता है—[१] क्रोध करके [२] प्रायश्चित्त का भेद पूछ कर

का मिश्रपना रहना औदारिकमिश्र योग है। देवों और नारकों का शरीर वैक्रिययोग कहलाता है। वैक्रिय शरीर के पूरा निष्पन्न होने से पहले-पहले वैक्रियमिश्र योग होता है। चौदह पूर्व के पाठी मुनिराज को संशय उत्पन्न होने पर आहारक समुद्घात करके एक हाथ का पुतला शरीर में से निकालते हैं। उसे तीर्थंकर भगवान् के पास भेजते हैं और उन्हें उत्तर मिल जाता है। वह आहारक योग कहलाता है। आहारकशरीर जब तक पूरा उत्पन्न न हो या पूरा समा न जाय तब तक आहारकमिश्रयोग होता है। एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करते समय साथ जाने वाला कार्मण वर्गणा का समूह कार्मणयोग कहलाता है।

में, [३] जितना दोष दूसरे ने देखा हो उतना ही कह कर और बाकी को छिपा कर [४] निन्दा के डर से छोटे-छोटे दोष कह कर और बड़े दोषों को छिपा कर [५] छोटे दोषों को तुच्छ-नगण्य समझ कर न कह कर और सिर्फ बड़े दोषों को कह कर [६] ऐसी गड़बड़ करके कहे कि आचार्य कुछ सुने और कुछ न सुन पावें [७] प्रशंसा के लिए लोगों को सुना-सुना कर कहना [९] प्रायश्चित्त की विधि से अनजान के सामने कहना [१०] कम प्रायश्चित्त की इच्छा से दोषी के समक्ष अपने दोष कहना।

विनीत शिष्य दस गुणों का धारक होता है, अतः वह शुद्ध आलोचना करता है। उसके दस गुण यह हैं:—[१] पाप से भय रखने वाला [२] उत्तम जातिवान् [३] उत्तम कुलवान् [४] विनयवान् [५] ज्ञानवान् [६] दर्शनवान् [७] चारित्रवान् [८] क्षमावान्, वैराग्यवान् [९] जितेन्द्रिय और [१०] पाप का प्रायश्चित्त करने वाला।

दस गुण के धारक मुनिराज प्रायश्चित्त देने के अधिकारी होते हैं:—(१) शुद्धाचारी (२) शुद्धव्यवहारी (३) प्रायश्चित्तविधि के जानकार (४) शुद्ध श्रद्धावान् (५) लज्जा दूर करके पूछने वाले (६) शुद्धि करने में समर्थ (७) गंभीर—किसी के दोष सुनकर दूसरे से न कहने वाले (८) दोषी के मुख से दोष स्वीकार करा कर प्रायश्चित्त देने वाले (९) दृष्टि से ही वास्तविकता समझ लेने वाले विचक्षण और (१०) जिसे प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति को जानने वाले।

प्रायश्चित्त के दस भेदः—(१) आलोचना अपने लिए अथवा आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान (रोगी), वृद्ध या बालक साधु के लिए आहार, औषध, वस्त्र, पात्र आदि लाने आदि किसी भी कार्य के लिए, उपाश्रय से बाहर जाने और वापिस गुरु के समीप लौटने के बीच जो जो व्यतिक्रम हुआ हो वह सब यथावत् गुरु या बड़े साधु के समक्ष निवेदन कर देने से अनजान में लगे हुए दोषों की शुद्धि हो जाती है। यह आलोचना प्रायश्चित्त कहलाता है।

(२) प्रतिक्रमण—विहार में, आहार में, प्रतिलेखना करने में, बोलने में

चलने में, अनजान से जो दोष लगा हो, उसकी शुद्धि प्रतिक्रमण से हो जाती है। (शुभयोग से च्युत होकर, अशुभयोग में जाकर फिर शुभयोग में आना प्रतिक्रमण कहलाता है।)

(३) तदुभय—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को यहाँ तदुभय कहा है। दूसरे प्रायश्चित्त में कहे हुए कार्य करते समय यदि जानबूझ कर दोष लगा हो तो उसे गुरु आदि के सन्मुख निवेदन करके 'मिच्छा मि दुक्कडं' (अर्थात् मेरा दुष्कृत निष्फल हो) देने से शुद्धि होती है।

(४) विवेकः—अशुद्ध, अकल्पनीय तथा तीन प्रहर से अधिक रहा हुआ आहार परठ देने से शुद्ध होता है। यह विवेक प्रायश्चित्त कहलाता है।

(५) व्युत्सर्ग—दुःस्वप्न आदि से होने वाला पाप कायोत्सर्ग करने से दूर होता है।

(६) तप—पृथ्वीकाय आदि सचित्त के स्पर्श हो जाने के पाप से निवृत्त होने के लिए आंबिल, उपवास आदि करना तप प्रायश्चित्त है।

(७) छेदः—अपवादमार्ग का सेवन करने तथा कारणवश जानबूझकर दोष लगाने पर पाले हुए संयम में से कुछ दिनों या महीनों को कम करना छेद प्रायश्चित्त कहलाता है।

(८) मूल—जानबूझ कर हिंसा करने, असत्य भाषण करने, चोरी करने, मैथुन सेवन करने, धातु पास रखने अथवा रात्रिभोजन करने पर नवीन दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है।

(९) अनवस्थित—क्रूरता पूर्वक अपने या दूसरे के शरीर पर लाठी मुक्का का प्रहार करने पर, गर्भपात करने पर, ऐसा करने वाले को सम्प्रदाय से अलग रखकर ऐसा घोर तप कराया जाय कि वह बैठ-उठ भी न सके और उसके बाद नवीन दीक्षा दी जाय। यह अनवस्थित प्रायश्चित्त कहलाता है।

(१०) पाराश्चित—शास्त्र के वचनों की उत्थापना करने वाले, शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा करने वाले और साध्वी के व्रत को भंग करने वाले का वेष परिवर्तित करा कर, जघन्य छह मास और उत्कृष्ट बारह वर्ष पर्यन्त सम्प्रदाय से बाहर रख कर, अनवस्थित प्रायश्चित्त में कहे अनुसार घोर तप करवा कर, गांव-गांव फिरा कर फिर नवीन दीक्षा देना पाराश्चित प्रायश्चित्त कहलाता है। (अन्तिम दोनों प्रायश्चित्त इस काल में नहीं दिये जाते हैं।)

(८) विनय तपः—गुरु आदि पर्याय-ज्येष्ठ मुनियों का, वयोवृद्धों का गुणवृद्धों का यथोचित सत्कार-सन्मान करना विनयतप कहलाता है। विनयतप के सात भेद हैंः—(१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्र-विनय (४) मनविनय (५) वचनविनय (६) कायविनय और (७) लोक-व्यवहारविनय।

इनमें से ज्ञानविनय के पांच भेद हैंः—(१) औत्पातिकी* आदि निर्मल बुद्धि रूप मतिज्ञान के धारक का विनय करना। (२) निर्मल उपयोगी, शास्त्रज्ञ अर्थात् श्रुतज्ञानी का विनय करना (३) मर्यादापूर्वक, इन्द्रियों और मन की सहायता के विना रूपी पदार्थों के ज्ञाता अवधिज्ञानी का विनय करना (४) अढ़ाई द्वीप में स्थित संज्ञी जीवों के मनोगत भावों के ज्ञाता मनःपर्याय ज्ञानी का विनय करना और (५) सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के ज्ञाता केवलज्ञानी का विनय करना। यह पाँच प्रकार का ज्ञानविनय है।

दर्शनविनय के दो भेद हैं—(१) शुद्ध श्रद्धावान् (सम्यग्दृष्टि) के आने पर खड़े होकर सत्कार करना, आसन के लिए आमन्त्रण करना, ऊँचे स्थान पर बिठलाना, यथोचित वन्दना करके गुणकीर्तन करना, अपने पास जो उत्तम वस्तु हो उसे समर्पित करना, यथाशक्ति, यथोचित सेवा-भक्ति करना सुश्रूषाविनय है। (२) अनासातनाविनय के ४५ प्रकार हैं। वे इस तरहः—

* *तत्काल उपजने वाली बुद्धि औत्पातिकी, विनय से उत्पन्न होने वाली बुद्धि वैनयिकी, कार्य करते-करते उत्पन्न होने वाली बुद्धि कार्मिकी और उम्र के अनुसार होने वाली बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि कहलाती है।*

(१) अमुक अरिहन्त का नाम लेने से दुःख होता है, धन, स्त्री या पुत्र का वियोग होता है अथवा शत्रु का नाश होता है, इत्यादि शब्द कहना अरिहंत आसातना है। (२) जैनधर्म में स्नान तिलक आदि कुछ भी अवलम्बन नहीं है, इस कारण जैनधर्म अच्छा नहीं है, ऐसे शब्द कहना अरिहन्त-प्रणीत धर्म की आसातना है। (३) पंचाचार के पालक और दीक्षा-शिक्षा के दाता आचार्यजी वय या बुद्धि में कम हों तो उनका यथोचित विनय न करना आचार्य की आसातना है। (४) द्वादश अंग आदि शास्त्रों के पाठी अनेक मतमतान्तरों के मर्मज्ञ, शुद्ध संयम से सम्पन्न उपाध्यायजी का अवर्णवाद बोलना और सत्कार-सन्मान न करना उपाध्यायजी की आसातना है। (५) साठ वर्ष की उम्र वाले वयःस्थविर, बीस वर्ष की दीक्षा वाले दीक्षास्थविर और स्थानांग-समवायांग सूत्र अर्थ के ज्ञाता सूत्र-स्थविर इन तीन प्रकार के स्थविरों में से किसी की आसातना करना स्थविरआसातना है। (६) एक गुरु के अनेक शिष्य परस्पर एक दूसरे की जो आसातना करें वह कुल-आसातना। (७) सम्प्रदाय के साधु परस्पर एक दूसरे की आसातना करें सो गण-आसातना। (८) साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारूप संघ की आसातना करना संघ की आसातना है। (९) शास्त्रोक्त शुद्ध क्रिया पालने वाले की आसातना करना सो क्रियावंत की आसातना (१०) एक मण्डल में बैठकर आहार करने वाले साधु की आसातना करना संभोगी-आसातना। (११-१५) मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनः-पर्ययज्ञानी, तथा केवलज्ञानी इन पांचों ज्ञानियों के गुणों को छिपाना पंच ज्ञान की आसातना। इन पूर्वोक्त पन्द्रह प्रकार की आसातनाओं का त्याग करना, पन्द्रह की प्रेमपूर्वक भक्ति करना और पन्द्रह के गुणानुवाद करना, इस प्रकार १५×३=४५ भेद अनासातना विनय के समझने चाहिए।

चारित्रविनय के पांच प्रकार हैं—१ सामायिक, २ छेदोपस्थापना, ३ परिहारविशुद्धि, ४ सूक्ष्मसाम्पराय और ५ यथाख्यात चारित्र वालों का विनय करना पाँच प्रकार का चारित्र विनय है।

(१) सम+आय+इक=सामायिक। समभाव की प्राप्ति जिससे हो अथवा मन, वचन, काय का सावद्य (पापयुक्त) प्रवृत्ति से तीन करण तीन

योग से निरोध करना सामायिक चारित्र है। (२) प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के तीर्थवर्ती साधुओं को जघन्य ७ वें दिन, मध्यम ४ महीनों में और उत्कृष्ट ४ मास में महाव्रतारोपण करना तथा विशेष दोष लगाने वाले को पुनः महाव्रतारोपण करना छेदोपस्थापना चारित्र कहलाता है। (३) नौ वर्ष की उम्र वाले नौ पुरुष दीक्षा लें। वे नौ पूर्व पूर्ण और दसवें पूर्व की आचारवस्तु का अध्ययन करें। वीस वर्ष की दीक्षा हो चुकने के पश्चात् तीर्थङ्कर से या पहले के परिहारविशुद्धि चारित्र वाले से परिहारविशुद्धि चारित्र को ग्रहण करें। उष्णकाल में १–२–३ उपवास और शीतकाल में २–३–४ उपवास तथा वर्षाकाल में ३–४–५ उपवास, इस प्रकार चार पुरुष तपस्या करें, चार उनकी सेवा-भक्ति करें और एवं व्याख्यान सुनावें। इस तरह छह महीना पूर्ण होने के अनन्तर तपस्या करने वाले सेवा-भक्ति करें, सेवाभक्ति करने वाले तपस्या करें और एक व्याख्यान दे। फिर छह महीना पूरे होने के बाद एक व्याख्यान वांचने वाला मुनि तप करे और आठों उसकी सेवाभक्ति करें। इस प्रकार अठारह महीनों में इस चारित्र का पालन किया जाता है। यह परिहारविशुद्धि चारित्र कहलाता है। (४) सूक्ष्म अर्थात् किंचित् और सम्पराय अर्थात् कषाय; तात्पर्य यह है कि दसवें गुणस्थानवर्त्ती जीव को सिर्फ संज्वलन कषाय का यत्किंचित् लोभ ही शेष रहने पर जो चारित्र होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहलाता है। (५) मूलगुणों (महाव्रतों) में और उत्तरगुणों में (समिति—गुप्ति आदि में) तनिक भी दोष न लगाते हुए वीतराग के कथनानुसार, वीतरागभाव से जिस चारित्र का पालन किया जाता है, वह यथाख्यातचारित्र कहलाता है। इस चारित्र वाले को अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

अप्रशस्त (अशुभ), कर्कश, कठोर, छेदक, भेदक, परितापकारी विचार मन में न करते हुए प्रशस्त, कोमल, दयायुक्त, वैराग्यमय विचार करना मनविनय कहलाता है।

कर्कश, कठोर, छेदक, भेदक, परितापकारी और अप्रशस्त वचनों का उच्चारण न करते हुए प्रशस्त वचनों का उच्चारण करना वचनविनय कहलाता है।

गमनागमन करते, बैठते, उठते, शयन करते, उल्लंघन, प्रलंघन करते समय समस्त इन्द्रियों को अप्रशस्त व्यापार से रोक कर प्रशस्त व्यापार (कार्य) में लगाना कायविनय कहलाता है।

सातवें लोक-व्यवहार विनय के सात प्रकार हैं:—(१) गुरु की आज्ञा में चलना (२) गुणाधिक साधर्मियों की आज्ञा में चलना (३) स्वधर्मी का कार्य करना (४) उपकारी का उपकार मानना—कृतज्ञ होना (५) दूसरों की चिन्ता दूर करने का उपाय करना (६) देश-काल के अनुरूप प्रवृत्ति करना और (७) कुशलता एवं निष्कपटता के साथ सब को प्रिय लगने वाला व्यवहार करना।

(८) वैयावृत्यतप—इस तप के दस प्रकार हैं:—(१) *आचार्य (२) उपाध्याय (३) शिष्य (४) ग्लान (रोगी) (५) तपस्वी (६) स्थविर (७) स्वधर्मी (८) कुल (गुरुभ्राता), (९) गण (सम्प्रदाय के साधु) और (१०) संघ (तीर्थ) इन सब को आहार, वस्त्र, पात्र, औषधोपचार आदि आवश्यक वस्तु ला देना, पैरों को दबाना आदि यथायोग्य सेवा करना वैयावृत्य तप है।

(९) स्वाध्यायतप—शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्यायतप के पाँच भेद हैं:—(१) वाचना-पठन करना। (२) पृच्छना सूत्रार्थ में संशय उत्पन्न होने पर किसी प्रकार की लज्जा न रखते हुए, विनय के साथ, जहाँ तक बुद्धि पहुँचे वहाँ तक प्रश्न करके सन्देह का निवारण करना। (३) परिवर्त्तना—निस्सन्देह बनाये हुए ज्ञान की बार-बार आवृत्ति करना—फिराना। (४) अनुप्रेक्षा—आवृत्ति करते समय चित्त को शून्य न रख कर पाठ के अर्थ-परमार्थ की ओर उपयोग रखना अथवा स्वतंत्र रूप से शास्त्र के अर्थ का चिन्तन करना अनुप्रेक्षास्वाध्याय है। (५) धर्मकथा-उक्त चार प्रकार के स्वाध्याय से निश्चल, निस्सन्देह और स्पष्ट बनाये हुए

*आचार्य ५ प्रकार के:—१ प्रव्रजित—दीक्षा देने वाले, २ हेऊ—हित शिक्षा देने वाले, ३ देश—सूत्र पठन कराने वाले, ४ समुद्देसे—खुलासा बताने वाले और ५ वाचनाचार्य।

ज्ञान का दूसरों को भी लाभ देना अर्थात् परिषद् में उपदेश देना धर्मकथा नामक स्वाध्याय है। इससे आत्मकल्याण के साथ ही साथ जिनशासन की उन्नति, धर्म की वृद्धि आदि महा उपकार होता है। यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय तप है।

(१०) ध्यानतप—ध्यानतप के ४८ प्रकार हैं। वे इस भाँति हैं:—ध्यान चार प्रकार का है—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमें पहले के दो ध्यान अशुभ हैं और अन्तिम दो ध्यान शुभ हैं।

आर्त्तध्यान चार प्रकार का है—(१) मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का संयोग चाहना (२) अमनोज्ञ शब्द आदि विषयों का वियोग चाहना (३) ज्वर आदि रोगों का नाश चाहना (४) प्राप्त कामभोगों के बने रहने की इच्छा करना। इन चार का पुनः पुनः चिन्तन करना चार प्रकार का आर्त्तध्यान है।

आर्त्तध्यानी के चार लक्षण हैं:—(१) आक्रन्दन और रुदन करना (२) शोक और चिन्ता करना (३) अश्रुपात करना और (४) विलाप करना।

रौद्रध्यान चार प्रकार का है—(१) हिंसा करने का विचार करना (२) झूठ बोलने का विचार करना (३) चोरी करने का विचार करना और (४) भोगोपभोगों की रक्षा करने का विचार करना।

रौद्रध्यानी के चार लक्षण हैं:—(१) हिंसा आदि कृत्य करना (२) धृष्टता के साथ बार-बार हिंसा आदि करना (३) अज्ञान से हिंसा में धर्म स्थापित करना और कामशास्त्र का अभ्यास करना। (४) मृत्यु-पर्यन्त पाप का प्रायश्चित्त न करना।

धर्मध्यान के चार पाये हैं:—(१) आज्ञाविचय—'हे जीव! वीतराग ने तो आरंभ और परिग्रह को हेय कहा है और तू उसमें लुब्ध हो रहा है। तेरी क्या गति होगी?' इस प्रकार वीतराग की आज्ञा का विचार करना (२) अपायविचय—'रे जीव! तू राग-द्वेष के बन्धन में बंधा और इस कारण

तू ने अनन्त परिताप सहन किया। अब तो चेत! अपाय करने वाले राग-द्वेष से निवृत्त हो। अगर तूने भगवान् की आज्ञा का आराधन न किया तो घोर दुर्गति का अतिथि बनेगा।' इस प्रकार विचार करना। (३) विपाकविचय—'हे जीव! तूने जैसे शुभ या अशुभ कर्म उपार्जन किये हैं, उनके फलस्वरूप ही तुझे सुख और दुःख की प्राप्ति हुई है। इसको भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। अब हर्ष या शोक क्यों करता है?' इस प्रकार कर्मों के शुभ-अशुभ फल का विचार करना। (३) संस्थानविचय—'अरे जीव! वीतराग ने कहा है कि एक दीपक उलटा, उसके ऊपर दूसरा दीपक सीधा और फिर उसके ऊपर तीसरा दीपक उलटा रखने से जैसा आकार बनता है, वैसा ही आकार लोक का है। नीचे के दीपक के स्थान पर सात नरक, पहले और दूसरे दीपक के सन्धिस्थल पर मध्यलोक, बीच के दीपक के स्थान तक पाँचवाँ ब्रह्म देवलोक, ऊपर के दीपक तक अनुत्तर विमान और ऊपर सिद्ध भगवान् हैं। इस प्रकार लोक के आकार का चिन्तन करना। यह चार धर्मध्यान के पाये हैं।

धर्मध्यान के चार लक्षण—(१) वीतरागप्रणीत शास्त्र के अनुसार क्रियाओं को अंगीकार करने की रुचि होना आज्ञारुचि है। (२) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन तत्त्वों का सत्य स्वरूप जानने की रुचि होना निसर्गरुचि है। (३) गुरु आदि के सदुपदेश को श्रवण करने की रुचि होना उपदेशरुचि है। (४) द्वादशांग आदि शास्त्रों को सुनने की रुचि होना सूत्ररुचि है।

धर्मध्यान के चार अवलम्बन हैं:—(१) वाचना (२) पृच्छना (३) परिवर्तना और अनुप्रेक्षा। (इनका अर्थ स्वाध्यायतप के विवरण में दिया जा चुका है)।

धर्मध्यानी की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं:—(१) हे जीव! जगत् के मिलने और बिछुड़ने के स्वभाव वाले पौद्गलिक पदार्थों से तू प्रीति करता है, परन्तु यही प्रीति तेरे दुःख का कारण होगी। ज्यों ही तेरे पुण्य का क्षय हुआ कि देखते-देखते ही सुख के समस्त साधन तिरोहित हो जाएँगे। उस समय भी

तुझे ही दुःख भुगतना पड़ेगा। कदाचित् तेरी आयु पूर्ण होने तक सुख के साधन बने रहे तो मृत्यु के समय तुझे अवश्य ही इनका त्याग करना पड़ेगा। जैसे तेरे बाप-दादा सर्वस्व छोड़ कर चल दिये थे, उसी प्रकार तुझे भी छोड़ कर जाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में भी ममता के कारण तुझे ही दुःख होगा। तू भी मुहम्मद गज़नवी बादशाह की तरह रोता और पछताता हुआ अपना रास्ता नापेगा। आत्मन्! भलीभाँति सोच। जिसे तू सुख मान रहा है, वह वास्तव में सुख नहीं है। जिसे तू सुख की सामग्री समझता है, वह वास्तव में दुःख की सामग्री है। पर पदार्थों से आत्मा को वास्तविक सुख कभी मिल ही नहीं सकता। ऐसा जानकर समस्त पर पदार्थों से ममता त्याग कर सुखी बन। संसार में कोई भी पदार्थ एक-सा नहीं रहता और न जीवन ही सदैव स्थायी रहता है। जल्दी सावचेत हो, कौन जाने कल या अगले क्षण क्या होगा?' इस प्रकार जगत् की अनित्यता का विचार करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

(२) 'चेतन! तू स्वजनों को अपना आधार मानता है, पर वास्तव में कोई किसी को शरण नहीं दे सकता। जब तक तेरे पास धन है और तेरा शरीर सशक्त है, उनके काम में आने योग्य है, तभी तक वे तेरी सहायता करेंगे। जब तू निर्धन और अशक्त हो जायगा, तब वही तेरे प्यारे जन तेरा तिरस्कार करेंगे, तुझे शारीरिक और मानसिक दुःख देकर पीड़ा पहुँचाएँगे, तेरे शत्रु बन जाएँगे। कदाचित् वे ऐसा न करें तो भी तुझे दुःख से बचाने में समर्थ तो नहीं ही हो सकेंगे। रोग आने पर कौन तुझे पीड़ा से मुक्त कर सकता है? तुझे बुढ़ापे और मौत से कौन बचा सकता है? अगर दीर्घ दृष्टि से विचार कर तो प्रतीत होगा कि श्री जिनेश्वरदेव का कहा हुआ धर्म ही भव-भव में सहायक होता है। वही दुःख और शोक से बचाकर शाश्वत शान्ति और सुख प्रदान करने में समर्थ हो सकता है। उसी का शरण ग्रहण कर। ऐसा करने से ही तू सुखी बन सकेगा।' इस प्रकार विचार करना अशरणानुप्रेक्षा है।

(३) 'हे प्राणी! तू अकेला ही आया है और अकेला ही जाएगा। जिस शरीर को तू अत्यन्त प्रेमपात्र समझता है, जिसका पालन-पोषण करने में

सारा जीवन लगा रहा है, जिसके सुख के लिए रात-दिन यत्न करता रहता है, वह शरीर भी अन्त में तेरे साथ नहीं जाएगा, तो फिर धन और कुटुम्ब आदि का तो कहना ही क्या है ? तू सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, अविनाशी है और संसार के समस्त सम्बन्ध विनश्वर हैं, क्षणभंगुर हैं। ऐसी दशा में तेरी और उनकी बन ही कैसे सकती है ? इन क्षणभंगुर पदार्थों के संसर्ग से तूने संसार में अनन्त विडम्बना सहन की है। फिर भी इनके साथ तेरा ममत्व नहीं छूटा ! तू स्वयं इनके साथ ममता का संबंध स्थापित करता है और तू स्वयं ही दुःख उठाता है। मकड़ी के समान आप ही जाल बिछाता है और आप ही उसमें फँस कर कष्ट उठाता है। आत्मन् ! तू स्वभाव से अनन्त ज्ञान-धन का स्वामी होकर भी मूर्खों का शिरोमणि क्यों बना हुआ है ? अब भी अन्तर्नेत्र खोल। आत्मा व पर को पहचान। पर-पदार्थों से प्रीति का नाता तोड़। अपने पदार्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। यह तीन रत्न तेरी अनमोल और असाधारण सम्पदा हैं। इन्हीं से प्रीति जोड़। यही तेरे सुख का मार्ग है। इस प्रकार विचार करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

(४) चिदानन्द ! तू अनादि काल से चतुर्गति रूप संसार में ठोकरें खाता भटकता फिरता है। अनन्त वार तू नरक गति में गया है। वहाँ दुस्सह क्षेत्रवेदना और परमाधामियों की मार सही। तिर्यञ्चगति में छेदन, भेदन, ताड़न, तर्जन तथा पराधीनता आदि के कष्ट मूक होकर सहन किये। मनुष्य गति में दरिद्रता, रोग, शोक आदि की अनेक वेदनाएँ भुगतीं। देवगति में आभियोग्य देव होकर हीन कार्य किये और वज्रों के प्रहार सहन किये। च्यवन के समय घोर मानसिक पीड़ा का अनुभव किया। इस प्रकार चारों गतियों में अनन्त-अनन्त वार अनन्त-अनन्त विडम्बनाएँ सहन करते-करते अनन्तानन्त काल व्यतीत हो गया है। किसी प्रकार कष्ट भोगते-भोगते पापों का कुछ क्षय हुआ और पुण्य की वृद्धि हुई। उसके फलस्वरूप यह मनुष्य-जन्म आदि उत्तम सामग्री प्राप्त हो सकी है। अब इस सामग्री से पूरा लाभ उठा ले। तीन करण तीन योग से आरंभ-परिग्रह का त्याग कर और आन्तरिक क्रोध आदि प्रवृत्तियों का दमन कर, जिससे तू इन विडम्बनाओं से छूटकर मोक्ष रूप परमानन्द परम पद को

ाप्त हो और शाश्वत एवं सम्पूर्ण सुख को प्राप्त कर सके। इस प्रकार वेचार करना संसारानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार धर्मध्यान के ४×४=१६ भेद हुए। चौथे शुक्लध्यान के भी चार पाये हैं:—(१) पृथक्त्ववितर्क सवीचार (२) एकत्ववितर्क-अवीचार (३) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती और (४) समुच्छिन्नक्रियाऽतिपाती।

अनन्तद्रव्यात्मक लोक में से किसी एक द्रव्य का अवलम्बन करके उसके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप अलग-अलग पर्यायों को, अर्थ से शब्द में और शब्द से अर्थ में जाकर चिन्तन करना पृथक्त्ववितर्कसवीचार ध्यान है। (२) एक द्रव्य के एक पर्याय को अवलम्बन करके, अभेदभाव से, किसी एक पदार्थ अथवा पर्याय का स्थिरचित्त होकर चिन्तन करना एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यान है। पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क-दोनों ध्यान में पूर्व-गत श्रुत के अनुसार चिन्तन किया जाता है। किन्तु पृथक्त्ववितर्क में अर्थ, शब्द और योग का संक्रमण (पलटा) होता रहता है, जब कि एकत्ववितर्क में यह संक्रमण नहीं होता। जैसे वायुरहित गृह में स्थित दीपक की लौ स्थिर होती है उसी प्रकार इस ध्यान में चित्त एकदम स्थिर, विक्षेप से रहित हो जाता है। (३) एक समय मात्र ठहरने वाली, अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया जिनके रह जाती है ऐसे तेरहवें गुणस्थान में स्थित केवली भगवान् का ध्यान सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान कहलाता है। (४) क्रिया मात्र का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर, पर्वत के समान स्थिर योगावस्था को प्राप्त हुए, चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती पाँच लघु अक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) उच्चारण करने में जितना काल लगता है उतने काल में मोक्ष प्राप्त कर लेने वाले अयोग केवली भगवान् का ध्यान समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति नामक चौथा शुक्लध्यान कहलाता है। अन्त के दोनों ध्यान केवली भगवान् में ही पाये जाते हैं।

शुक्ल-ध्यानी के चार लक्षण हैं—(१) जैसे धातु में मिली हुई मिट्टी यंत्र आदि के प्रयोग से अलग की जा सकती है और अलग हो जाने पर धातु अपने मूल स्वरूप में आ जाती है, उसी प्रकार शुक्लध्यानी ज्ञानादि

रत्नत्रय एवं क्षायिक भावों की आराधना के द्वारा अपनी आत्मा को कर्म आदि पर पदार्थों को अलग समझते हैं, अलिप्त रहते हैं। यह 'विवेक' नामक लक्षण है। (२) माता-पिता आदि के पूर्व संयोग से, श्वसुर-सासू आदि के पश्चात् संयोग से और कषाय आदि आभ्यन्तर संयोग से शुक्ल-ध्यानी आत्मा को अलग अनुभव करते हैं, यह 'व्युत्सर्ग' नामक लक्षण है। (३) शुक्लध्यानी, स्त्री आदि के हाव-भाव रूप अनुकूल उपसर्गों से तथा देव-दानव आदि द्वारा किये जाने वाले प्रतिकूल उपसर्गों से चलित नहीं होते। इन्द्र की अप्सरा और विकराल दैत्य भी शुक्लध्यानी को विचलित नहीं कर सकते। यह अव्यथ नामक तीसरा लक्षण है। (४) शुक्लध्यानी मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श में कभी राग-द्वेष नहीं करते, उन्हें सूक्ष्म और गहन विषयों में तथा देवादि कृत माया में किसी भी प्रकार का सम्मोह नहीं होता। यह 'असम्मोह' नामक चौथा लक्षण है।

शुक्लध्यानी के चार अवलम्बन हैं—(१) किसी भी कहे, सुने और देखे हुए पदार्थ में से सार तत्त्व ग्रहण करके असार को त्याग दे, कदापि किंचित् मात्र भी क्रोध रूप परिणति न होने दे, यह 'क्षान्ति' नामक अवलम्बन है। (२) किसी भी वस्तु पर लेश मात्र भी ममत्व न करना 'मुक्ति' (निर्लोभता) रूप अवलम्बन है। (३) भीतर-बाहर से सरल होना 'आर्जव' अवलम्बन है। और (४) द्रव्य तथा भाव से कोमल एवं विनम्र रहना 'मार्दव' अवलम्बन है।

शुक्लध्यानी की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—(१) हिंसा आदि पाँचों आस्रवों को दुःख का मूल जानकर जो त्याग देता है वही सुखी होता है। जो हिंसा आदि का सेवन करता है वह जन्म-जन्मान्तर में दुःख का भागी होता है, ऐसा विचार करना अपायानुप्रेक्षा है। (२) जगत् के पौद्गलिक पदार्थ और उनके संयोग से होने वाले भाव सभी अशुभ हैं। उनका त्याग करने वाला ही सुखी होता है। इस प्रकार विचार करना अशुभानुप्रेक्षा है। (३) यह जीव अनादि काल से जगत् में भ्रमण कर रहा है। इसने अनन्त पुद्गलपरावर्तन किये हैं। किन्तु जो भवभ्रमण का अन्त करता है वही सुखी है। ऐसा विचार करना अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा है। (४) सन्ध्याकाल की लालिमा, इन्द्र-

धनुष और ओसबिन्दु मनोहर दिखाई देते हैं किन्तु क्षण भर में विनष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जगत् में स्त्री और पुरुष का जोड़ा, वस्त्राभूषण का चमत्कार, संपत्ति का संयोग देखते-देखते क्षण भर में नष्ट हो जाता है। इनमें आसक्ति का त्याग करने वाला ही सुख-शान्ति प्राप्त करता है। ऐसा विचार करना 'विपरिणामानुप्रेक्षा' है।

यह शुक्लध्यान के १६ प्रकार हुए। इस प्रकार चारों ध्यानों के ८+८+१६+१६=४८ प्रकार पूर्ण हुए। इनमें से आर्त्तध्यान और रौद्र-ध्यान के १६ भेद हेय हैं (त्यागने योग्य हैं) और धर्मध्यान तथा शुक्ल-ध्यान के ३२ भेद उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं। यह तप ध्यानतप का वर्णन हुआ।

(१२) व्युत्सर्ग—छोड़ने योग्य वस्तु को छोड़ना व्युत्सर्गतप कहलाता है। इसके दो भेद हैं—(१) द्रव्यव्युत्सर्ग और [२] भावव्युत्सर्ग। द्रव्य-व्युत्सर्ग चार प्रकार का है—[१] शरीर संबंधी ममता का त्याग करके शरीर की विभूषा (संस्कार—सजावट) और संभाल न करना शरीरव्युत्सर्गतप है। [२] १ ज्ञानवन्त, २ क्षमावन्त, ३ जितेन्द्रिय, ३ अवसर का ज्ञाता, ५ धीर ६ वीर, ७ दृढ़ शरीर वाला, ८ शुद्ध श्रद्धावान्, इन आठ गुणों का धारक मुनि, गुरु की अनुमति प्राप्त करके, विशिष्ट आत्मसाधना के लिए गच्छ का त्याग करके एकलविहारी होता है, वह गणव्युत्सर्गतप कहलाता है। [३] वस्त्र और पात्र का त्याग करना उपधिव्युत्सर्ग तप कहलाता है। [४] नवकारसी पोरसी आदि तप करना तथा खाने-पाने के द्रव्यों का परिमाण करना भक्त-पान व्युत्सर्गतप है।

भावव्युत्सर्गतप के तीन भेद हैं—(१) क्रोध आदि चारों कषायों को न्यून करना कषाय व्युत्सर्ग तप है। (२) चारगति रूप संसार के कारणों का त्याग करना संसारव्युत्सर्गतप है। चारों गतियों के कारण इस प्रकार हैः—

(क) नरकगति के कारण—(१) महारंभ-अर्थात् निरन्तर षट्काय के जीवों के वध की भावना और कार्य करना। (२) महापरिग्रह अर्थात् महा-

इच्छा या तीव्र लोभ होना। (३) मदिरा-मांस का सेवन करना (४) पंचेन्द्रिय जीवों की घात करना।

(ख) तिर्यञ्चगति के कारण—(१) दगाबाजी (२) विश्वासघात (३) झूठ बोलना और (४) नाप-तोल खोटे रखना।

(ग) मनुष्यगति के कारण—(१) विनयवान् होना (२) भद्रपरिणाम होना (३) दयालुता और (४) गुणानुराग।

(घ) देवगति के कारण—(१) सरागसंयम (संयम का पालन तो करना किन्तु शरीर या शिष्य आदि पर राग बना रहना), (२) संयमा-संयम (श्रावक का एक देश संयम), (३) अकामनिर्जरा—पराधीनता से प्राप्त हुए दुःखों को समभाव से सहन करना, (४) बालतप अर्थात् अज्ञानपूर्वक पंचाग्नि आदि तप करना।

चार गतियों के १६ कारणों का त्याग करना और मोक्ष के कारणों को—ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप को—ग्रहण करना संसार-व्युत्सर्गतप कहलाता है।

तीसरा (३) कर्मव्युत्सर्गतप है। [१] ज्ञानावरण [२] दर्शनावरण [३] वेदनीय [४] मोहनीय [५] आयु [६] नाम [७] गोत्र और [८] अन्तराय, इन आठ कर्मों के बंध के कारणों* का त्याग करना कर्मव्युत्सर्गतप है। यह

---

* आचाररत्नाकर ग्रन्थ में कर्मबंध के कारण इस प्रकार बतलाये हैं:—

(१) ज्ञानावरणकर्म के बंध के कारण—(१) शास्त्रों को बेचकर आजीविका करना (२) कुदेव की प्रशंसा करना (३) सज्ज्ञान में संशय करना (४) गीत गान आदि की क्रियाएँ करना, कुशास्त्र की प्रशंसा करना (५) सिद्धान्त के मूलपाठ का उत्थापन करना (६) दूसरों के दोष प्रकाशित करना (७) मिथ्या शास्त्र का उपदेश करना।

(२) दर्शनावरणकर्म के कारण—कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और कुधर्म की प्रशंसा करना, धर्म के निमित्त हिंसा करना, मिथ्याबुद्धि होना, अधिक चिन्ता करना, सम्यक्त्व में दोष लगाना, मिथ्याआचार का सेवन करना और जान-बूझ कर अन्याय की रक्षा करना।

(३) वेदनीयकर्म के कारण—दया करना, दान करना, क्षमा करना, सत्य भाषण करना, शील पालना, इन्द्रियदमन करना, संयम पालना, ज्ञान में मन लगाना, भक्ति करना,

बारह प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर तप का स्वरूप है। यहाँ तपाचार पूर्ण हुआ।

संतजनों को वन्दन करना, शास्त्र के अर्थ का चिन्तन-मनन करना, दूसरे को सद्बोध देना, अनुकम्पा करना और सत्य आचार का पालन करना; इन चौदह कारणों से साता वेदनीय कर्म का बंध होता है। इससे विपरीत पन्द्रह कारणों से असातावेदनीयकर्म का बंध होता है- जीवों की घात करना, छेदन करना, भेदन करना, परिताप देना, चुगली खाना, दुःख देना, त्रास देना, आक्रन्दन करना, द्रोह करना, धरोहर हजम कर जाना, असत्य भाषण करना, वैर-विरोध करना, कलह करना, क्रोध-मान करना, पर-निन्दा करना और स्वयं दुःख एवं शोक करना।

(४) मोहनीयकर्म के कारण—अरिहन्त भगवान् की निन्दा करना, अरिहन्त-प्रणीत शास्त्र की निन्दा करना, जिनधर्म की निन्दा करना, सद्गुरु की निन्दा करना, उत्सूत्रप्ररूपणा करना, कुपंथ चलाना।

(५) आयु-कर्म चार प्रकार का है। चारों के भिन्न २ कारण हैं। वे इस प्रकार :—
देवायु के दस कारण—अल्पकषायी होना निर्मल सम्यक्त्व का पालन करना, श्रावक के शुद्ध व्रतों का पालन करना, गई वस्तु की और मृत सम्बन्धी आदि के लिए चिन्ता-शोक न करना, धर्मात्मा की भक्ति करना, दया और दान की वृद्धि करना, जिनधर्म का अनुरागी होना, बाल तप करना, अकाम निर्जरा करना, साधु के शुद्ध व्रतों का पालन करना।

तिर्यञ्च-आयु के बीस कारण—शील भंग करना, ठगाई करना, मिथ्या कर्मों का आचरण करना, खोटा उपदेश देना, खोटे नाप-तोल रखना, दगाबाजी करना, झूठ बोलना झूठी साक्षी देना, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिलाकर बेचना, वस्तु का रूप बदल कर बेचना, पशु का रूप पलट कर बेचना, खराब वस्तु पर मुलम्मा चढ़ाकर बेचना, क्लेश करना, निन्दा करना, चोरी करना, अयोग्य काम करना, कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से युक्त होना और आर्त्त ध्यान करना।

मनुष्यायु के दस कारण—देवगुरु की भक्ति करना, जीवों पर दया करना, शास्त्र का पठन-पाठन करना, न्याय से लक्ष्मी उपार्जन करना, हर्षयुक्त परिणाम से दान देना, पर की निन्दा न करना, किसी को पीड़ा न पहुँचाना, आरम्भ घटाना, ममता घटाना, सदा सरल भाव रखना।

नरकायु के बीस कारण—अति लोभ करना, अतिमत्सरता करना, अति क्रोध करना, मिथ्या कर्म करना, पंचेन्द्रिय का वध करना, बड़ा असत्य बोलना, बड़ी चोरी करना, व्यभिचार सेवन करना, कामभोगों में आसक्त होना, मर्मस्थान का भेदन करना, पाँच इन्द्रियों के विषयों में तीव्र लुब्धता होना, संघ की घात करना, जिन वचन का उत्थापन करना, तीर्थङ्कर के मार्ग की प्रतिष्ठा कम करना, मदिरापान करना, मांस-भक्षण करना, रात्रि-भोजन करना,

(५) वीर्याचार

श्री भगवतीसूत्र में तथा व्यवहारसूत्र में पांच प्रकार के व्यवहार कहे हैं। यथा-पंचविहववहारे पएणत्ते, तंजहा—आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए।

कन्द-मूल आदि अभक्ष्य खाना, रौद्र ध्यान करना, कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं के परिणाम में मृत्यु होना।

(६) नाम कर्म के कारण—जैनधर्म में तल्लीन होना, दयावान् और दानशील होना और मुक्ति का अभिलाषी होना, इन तीन कारणों से शुभ नाम कर्म बंधता है। मिथ्या उपदेश देना, कुमार्ग को ग्रहण करना, स्वयं दान न देना एवं दूसरे को भी दान न देने देना, कठोर असत्य वचन बोलना, महा आरंभ करना, पर निन्दा करना, सब जीवों का द्रोह करना और मत्सरता युक्त परिणाम रखना, इन आठ कारणों से अशुभ नाम कर्म का बंध होता है।

तीर्थङ्कर नाम कर्म के बंध के कारण—तीर्थङ्कर नाम कर्म निम्न लिखित सोलह कारणों से बंधता है—निर्मल सम्यक्त्व पालना, विनयवान् होना, शीलादिव्रत निर्मल पालना, ज्ञान में बार-बार उपयोग लगाना, वैराग्य में वृद्धि करना, यथाशक्ति दान देना, निर्मल तप करना, साधु आदि चारों तीर्थों को समाधि उपजाने के लिए वैयावृत्य करना, अरिहन्त की भक्ति करना, आचार्य की भक्ति करना, बहुश्रुत की भक्ति करना, शास्त्र की भक्ति करना, प्रातःकाल और संध्याकाल प्रतिक्रमण करना, अखण्ड क्षमाभाव रखना, जैन धर्म की प्रभावना करना, स्वधर्मियों के प्रति वत्सल-भाव रखना, इन सोलह कारणों से तीर्थङ्कर नाम कर्म का बंध होता है।

(७) गोत्र कर्म के कारण—तीव्र क्रोध आदि कषाय करना, दूसरों के गुणों को छिपाना, निन्दा करना, चुगली करना, झूठी साक्षी देना, जीव हिंसा आदि पापारंभ करना, इन पाँच कारणों से नीच गोत्र का बंध होता है और इनसे विपरीत पाँच कारणों से उच्च गोत्र का बंध होता है।

(८) अंतराय कर्म के १८ कारण—दया-करुणा से रहित होना, दीन जीवों को अन्तराय लगाना, असमर्थ पर कोप करना, गुरु को वंदना करने का निषेध करना, जिन धर्म की उत्थापना करना, सिद्धान्त के अर्थ की उत्थापना करना, जैन धर्म को धारण करने से रोकना, ज्ञानीजनों-गुणीजनों की निन्दा-आसातना करना, सूत्रार्थ को पढने वालों को बाधा पहुँचाना, स्वयं दान न देते हुए दूसरों को देने से रोकना, धर्म कार्य में विघ्न करना, धर्म कथा की हंसी करना, विपरीत उपदेश देना, असत्य बोलना, अदत्त लेना, दान लाभ भोग उपभोग में अन्तराय डालना, गुणी के गुण छिपाना, अन्य के दोष प्रकट करना।

अर्थात्—(१) तीर्थंकर भगवान्, केवलज्ञानी महाराज तथा चौदह पूर्व से दस पूर्व तक सूत्र के पाठक मुनिराजों की विद्यमानता में, उनकी आज्ञा के अनुसार चलना आगम व्यवहार कहलाता है। (२) इनके अभाव में तीर्थंकर प्रणीत गणधररचित आचारांग आदि शास्त्र, जिस काल में जितने उपलब्ध हो, उनमें कथित आचार के अनुसार प्रवृत्ति करना सूत्र-व्यवहार है। (३) इनके अभाव में जिस काल में जो आचार्य हों उनकी आज्ञा के अनुसार चलना, अगर वे देशान्तर में हों तो पत्र आदि द्वारा जो आज्ञा दें, तदनुसार प्रवृत्ति करना आज्ञा व्यवहार कहलाता है। (४) इसके अभाव में आचार्य आदि से अपने गुरु आदि ने जैसी धारणा की हो और परम्परा से जैसी धारणा चली आती हो उसके अनुसार प्रवृत्ति करना धारणा व्यवहार है और (५) इसके अभाव में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में परिवर्तन हुआ देखकर, संहनन आदि की हीनता का विचार करके, चतुर्विध संघ मिलकर जो निरवद्य मर्यादा कायम करे उसके अनुसार चलना जीत व्यवहार कहलाता है।

आचार्यजी इन पांचों व्यवहारों के ज्ञाता * होते हैं और इसी तरह प्रवृत्ति कराते हैं। वे निरन्तर ज्ञान में, ध्यान में, तप में, संयम में और सदुपदेश आदि धर्म वृद्धि के प्रत्येक काम में उद्यत रह कर, बल, वीर्य, पुरुषकार,

---

अन्तराय कर्म का बंध करने वाला इष्ट वस्तु प्राप्त नहीं कर पाता, कदाचित् प्राप्त कर लेता है तो उसका भोग नहीं कर पाता और दुःखी दरिद्री होता है। ऐसा जानकर कर्म बंधन से अपनी आत्मा की रक्षा करना कर्म-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

** उक्त पाँच प्रकार के व्यवहारानुसार वर्त्तमान काल के चतुर्विध संघ यदि मातान्तर में विरोधोपस्थित करने वाले विधि विधानादि को तथा धर्माचार में मतभेद जो है उसे प्रवर्त्तक की इच्छा पर छोड़ दे और परस्पर भिन्नता दर्शक तथा क्लेश उत्पादक जाहिर प्ररूपना करने का जो त्याग देने की प्रवृत्ति करेंगे तो सहज कुसम्प का नाश हो जायगा, सद्गुणों का प्रसार हो जायगा, और बौद्ध धर्म के समान ही यह प्राचीन परमोत्तम परम पवित्र जैन धर्म जगत् व्यापी सर्वमान्य बने इसमें किंचित् भी संशय नहीं है। ऐसा मैं निश्चयात्मक हो कहता हूँ। पंच व्यवहार में जो 'इसके अभाव से' ऐसा शब्द रक्खा है, वह वस्तु का अभाव नहीं समझना, किन्तु क्षेत्र, काल, भाव का अभाव समझना चाहिए! क्योंकि सूत्र तथा आचार्यादि तो पंचम आरे के अन्त तक कायम बने रहेंगे।*

पराक्रम फोड़ते हैं और दूसरों को बोध देते हैं कि—'हे भव्यो ! इस संसारी जीव ने, अनादिकाल से भवभ्रमण करते हुए, पराधीनतापूर्वक क्षुधा, तृषा शीत, ताप, मारकाट आदि की अनेक वेदनाएँ अनेकों बार सहन की हैं, किन्तु उससे इस जीव का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। सकाम निर्जरा कुछ भी नहीं हुई, उल्टा नया कर्म-बंध हुआ, जिससे अधिकाधिक दुःख की प्राप्ति हुई। भव्य जीवो ! पराधीन होकर, विवश होकर, लाचारी से जो कष्ट सहन किये हैं, उनका अनन्तवाँ भाग भी अगर स्ववश होकर, स्वेच्छा से धर्मार्थ कष्ट-सहन करो अर्थात् प्राप्त काम भोगों का, सुख और ऐश्वर्य का त्याग करके, संयम का आचरण करके, ग्रामानुग्राम विहार करके, आर्य और अनार्य लोगों की तरफ से होने वाले अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहन करो, तथा कषाय, मद, मात्सर्य, अहंता, ममता आदि आन्तरिक शत्रुओं का दमन करो, निरन्तर धर्माराम में रमण करो तो थोड़े ही समय में आत्मा का परम कल्याण हो जाय, भवभ्रमण का अन्त हो जाय और समस्त प्रकार की आधियाँ, व्याधियाँ और उपाधियाँ नष्ट हो जाएँ। सब दुःखों का आत्यन्तिक क्षय हो जाय और मुक्ति का असीम, अनिर्वचनीय, अनन्त और अगाध आनन्द प्राप्त हो सके। इसलिए चेतो, जल्दी चेतो। तुम्हें इस समय जो अवसर मिला है वही सब से उत्तम है। भविष्य की प्रतीक्षा मत करो। भविष्य तुम्हारे हाथ में नहीं है। वर्त्तमान का सदुपयोग कर लो। इसे वृथा मत गँवाओ। मनुष्य-जन्म के यह अनमोल क्षण चिन्तामणि से भी अधिक उपयोगी हैं। इनसे पूरा लाभ उठा लो। इस प्रकार का बोध देकर आचार्य, भव्य जीवों को धर्म के पथ पर अग्रसर करते हैं, मोह-निद्रा में मस्त मनुष्यों को सावधान और जागृत करते हैं। तथा चारों संघों को यथायोग्य धर्म-सहाय देकर और दूसरों से दिलाकर धर्म और संघ का अभ्युदय करते हैं। धर्म-कार्य में स्वयं प्रवृत्त होते हैं और दूसरों को प्रवृत्त करते हैं। यही वीर्याचार कहलाता है।

पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का कथन चारित्राचार का निरूपण करते समय किया जा चुका है।

पाँच इन्द्रियनिग्रह



(१) श्रोत्रेन्द्रियः—जिसके द्वारा शब्द सुना जाता है उसे श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय अर्थात् शब्द तीन प्रकार का है-(१) जीवशब्द (२) अजीव शब्द और (३) मिश्र शब्द। मनुष्य, पक्षी आदि जीवों के शब्द को जीव शब्द कहते हैं। दीवाल आदि के गिरने से जो शब्द होता है वह अजीव शब्द कहलाता है। तथा वाद्य बजाने वाले जीव का और वाद्य का—दोनों का मिला हुआ शब्द मिश्र शब्द कहलाता है।

श्रोत्रेन्द्रिय के १२ विकार हैं। यथा-पुण्यात्मा प्राणी बोलता है तो अच्छा लगता है और पापात्मा बोलता है तो बुरा लगता है। यह जीवशब्द के दो प्रकार हैं। चांदी-सोने के पड़ने का शब्द अच्छा लगता है और भींत पड़ने का शब्द बुरा लगता है। यह अजीवशब्द के दो प्रकार हैं। उत्सव का बाजा अच्छा लगता है और मृत्यु पर बजने वाला बाजा खराब लगता है। यह मिश्र शब्द के दो प्रकार हैं। इस प्रकार उक्त तीनों शब्दों को शुभ और अशुभ के भेद से दुगुने करने पर छह भेद होते हैं। यह छह प्रकार के शब्द कभी खराब भी अच्छे लगते हैं, जैसे सुसराल में गालियाँ। और कभी अच्छे भी खराब लगते हैं, जैसे लग्नोत्सव के अवसर पर 'राम नाम सत्य है' कहना। इस प्रकार उक्त छह भेदों को राग और द्वेष से गुणा करने पर श्रोत्रेन्द्रिय के १२ विकार होते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय के विषय की आसक्ति के कारण मृग अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है और सर्प को बन्धन में फँसना पड़ता है। तो फिर मनुष्यों की क्या दुर्गति न होगी? ऐसा जान कर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। जो श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा कर्मबंध करता है वह भविष्य में बहरा और कान के अनेक रोगों वाला होता है अथवा श्रोत्रेन्द्रिय से हीन चौइन्द्रिय होता है। इसके विपरीत जो श्रोत्रेन्द्रिय को अपने काबू में रखता है, वह कान की नीरोगता को प्राप्त होकर अच्छे शब्द सुनने वाला होता है। फिर वह श्रोत्रेन्द्रिय को जीत कर क्रम से मोक्ष प्राप्त करता है।

[२] चक्षुरिन्द्रियः—जिसके द्वारा रूप (वर्ण) देखा जाता है उसे चक्षुरिन्द्रिय अथवा आँख कहते हैं। आँख के विषय अर्थात् वर्ण पाँच प्रकार के हैं—(१) कृष्ण वर्ण (२) हरित वर्ण (३) रक्त वर्ण (४) पीत वर्ण और (५) श्वेत वर्ण। पाँचों वर्ण वाली कोई वस्तु सजीव होती है, कोई अजीव (अचित्त) होती है और कोई मिश्र होती है। अतः आँख के विषय ५×३=१५ हुए। यह वर्ण कभी शुभ और कभी अशुभ होते हैं, इस लिए १५×२=३० भेद होते हैं। इन तीनों भेदों को राग और द्वेष से गुणित करने पर ३०×२=६० विकार चक्षुरिन्द्रिय के हो जाते हैं।

चक्षु-इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर पतंग दीपक पर गिर कर मर जाता है। तो मनुष्य का क्या हाल होगा? ऐसा समझ कर राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले रूप का अवलोकन करना नहीं और कदाचित् दृष्टिगोचर हो जाएँ तो उन पर राग-द्वेष न होने देना चाहिए। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा कर्मबंध करने वाले जीव भविष्य में अन्धे होते हैं अथवा चक्षुहीन तेइन्द्रिय जीवों की योनि में उत्पन्न होते हैं। इससे विपरीत जो चक्षु-इन्द्रिय को वश में रखकर कर्म नहीं बाँधते हैं, वे दिव्य नीरोग नेत्र प्राप्त करते हैं; अच्छे रूप को अवलोकन करने वाले होते हैं और फिर इन्द्रियनिग्रह करके क्रमशः मुक्तिलाभ करते हैं।

[३] घ्राणेन्द्रियः—जिसके द्वारा गंध का ग्रहण किया जाता है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं। घ्राणेन्द्रिय का विषय अर्थात् गंध दो प्रकार की है—[१] सुरभिगंध और [२] दुरभिगंध। इन दोनों के सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से छह भेद हैं और छह को राग-द्वेष से गुणित करने पर घ्राणेन्द्रिय के १२ विकार होते हैं।

घ्राणेन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर भ्रमर फूल में फंस कर मृत्यु को प्राप्त होता है, तो मनुष्य का क्या हाल होगा? इस प्रकार विचार कर राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले गंध को सूँघने से बचना चाहिए। कदाचित् अनायास गंध आ जाय तो उसमें राग या द्वेष नहीं करना चाहिए। जो घ्राणेन्द्रिय के द्वारा कर्मबंध करते हैं उन्हें भविष्य में घ्राण के अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, वे नकटे होते हैं अथवा नासिकाहीन द्वीन्द्रिय जीवों की योनि में उत्पन्न

होते हैं। इसके विपरीत जो घ्राणेन्द्रिय को वश में करते हैं, वे नाक की नीरोगता को प्राप्त करते हैं और सुरभिगंध के भोगी होते हैं। तत्पश्चात् उन भोगों का त्याग करके मुक्ति प्राप्त करते हैं।

[४] रसेन्द्रिय को रसना इन्द्रिय भी कहते हैं। इसका विषय अर्थात् रस पाँच प्रकार का है:—[१] कटु [२] मिष्ट [३] तीखा [४] खारा [५] कसैला। इन पाँच रसों वाले सचित्त, अचित्त और मिश्र-तीनों प्रकार के पदार्थ होते हैं। अतः ५×३=१५ भेद हुए। यह पन्द्रह शुभ भी होते हैं और अशुभ भी होते हैं। इस प्रकार १५×२=३० भेद हुए। इन्हें राग और द्वेष से गुणित करने पर रसेन्द्रिय के ६० विकार होते हैं।

रसना-इन्द्रिय में आसक्त होकर मछली अकालमृत्यु को प्राप्त होती है, तो मनुष्य की क्या गति होगी? ऐसा समझ कर राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले रसों के आस्वादन से बचना चाहिए। कदाचित् ऐसे रस भोगने पड़े तो उनमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिए, समभाव से आस्वादन करना चाहिए। विवेकशील पुरुष को समझना चाहिए कि रस-जन्य सुख क्षणिक होता है। कहावत प्रसिद्ध है—'उतरा घाटी हुआ माटी।' परन्तु उसके निमित्त से जो कर्मबंध होता है, उसका फल दीर्घ काल तक भुगतना पड़ता है। जीव को गूंगा और कुबड़ा होना पड़ता है और अनेक रोगों से पीड़ित होकर तड़फना पड़ता है। रसों में गृद्धि रखने वाले रसनाहीन एकेन्द्रिय जीवों की योनि में उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत रसना को वश में करने वाला सुस्पष्ट मधुरभाषी, मुख की नीरोगता वाला, इच्छानुसार रसोपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करने वाला होता है। किन्तु रसों में आसक्ति न रखता हुआ क्रमशः सिद्धि प्राप्त करता है। लोक में कहावत है—'एक धापी तो चार भूखी और एक भूखी तो चार धापी।' इसका अर्थ यही है कि यदि एक रसनेन्द्रिय तृप्त (धापी हुई) होगी तो सुनने को कान, देखने को आँख, सुगंध सूंघने को नाक और स्पर्शसुख भोगने के लिए शरीर—यह चारों इन्द्रियाँ तृषातुर [भूखी] रहेंगी। और यदि रसना भूखी रही तो पूर्वोक्त चारों इन्द्रियाँ अपने विषय भोगने के लिए आतुर [भूखी] न होंगी। क्योंकि जब पेट खाली होता

है तो सभी इन्द्रियाँ शान्त रहती हैं। इसलिए इन्द्रियों को काबू में रखने का परमोत्तम, सच्चा और सीधा उपाय यही है कि एक रसना को काबू में कर लिया जाय अर्थात् रसलोलुपता का त्याग करके नियमित और परिमित भोजन किया जाय।

[५] स्पर्शनेन्द्रियः— जिससे स्पर्श की प्रतीति होती है वह इन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय कहलाती है। स्पर्शेन्द्रिय के विषय अर्थात् स्पर्श आठ हैं :— [१] गुरु [भारी], [२] लघु [हलका], [३] शीत [ठंडा], [४] उष्ण [गर्म], [५] रूक्ष[रूखा], [६] स्निग्ध [चिकना], [७] कोमल और [८] कठोर। इन आठ स्पर्शों वाले पदार्थ सचित्त, अचित्त और मिश्र होते हैं, अतः ८×३=२४ भेद हुए। शुभ और अशुभ के भेद से इन के ४८ भेद होते हैं और राग-द्वेष से गुणित करने पर कुल ९६ विकार स्पर्शनेन्द्रिय के होते हैं।

स्पर्शेन्द्रिय के वश में पड़कर हाथी खाडे में पड़कर वध-बंधन मृत्यु आदि के कष्ट पाता है। अतः राग-द्वेष उत्पन्न करने वाला स्पर्श भोगना उचित नहीं है। स्पर्श की प्राप्ति होने पर राग-द्वेष का भाव नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए, क्योंकि राग-द्वेष कर्मबंध के कारण हैं। इससे भविष्य में गंड, गूमड़, कुष्ठ आदि अनेक रोग और अपंगता आदि दुःख प्राप्त होते हैं। स्पर्शेन्द्रिय को वश में करने से आरोग्य सशक्त शरीर और भोगोपभोग की प्राप्ति होती है और उसका त्याग करके जीव क्रमशः मोक्ष प्राप्त करता है।

ब्रह्मचर्य की नौ वाड़



जैसे किसान खेत की रक्षा के लिए, खेत के चारों तरफ काँटों की वाड़ लगाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष ब्रह्मचर्यकी रक्षा के लिए नौ वाड़ों का पालन करते हैं। कहा भी है:—

आलओ थीजणाइएणो, थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, तेसिं इंदियदरिसणं ॥

कूइयं रुइयं गीअं, हसियं भुत्तासणाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥
गायभूसण-मिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥

(१) स्त्रीजन से युक्त मकान—जिस मकान में बिल्ली रहती हो, उसी में अगर चूहा रहा तो उसकी खैर नहीं है । किसी भी क्षण उसके प्राणों का अन्त आ सकता है, उसी प्रकार जिस मकान में देव की, मनुष्य की अथवा तिर्यंच की स्त्री या नपुंसक का निवास हो, वहाँ ब्रह्मचारी पुरुष रहे तो उसके ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है । श्रीदशवैकालिकसूत्र में कहा है:—

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं ।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥

अर्थात्—जिसके हाथ और पैर कटे हों, जिसके कान और नाक भी कटी हो, और जो सौ वर्ष की बुढ़िया हो, उससे भी ब्रह्मचारी को दूर ही रहना चाहिए । जिस मकान में ऐसी स्त्री रहती हो, उसमें भी ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए ।

(२) मनोरम स्त्रीकथा—जैसे नीबू, इमली आदि खट्टे पदार्थों का नाम लेने से मुँह में से पानी छूटता है, उसी प्रकार स्त्री के सौन्दर्य, शृंगार, लावण्य, हावभाव और चातुर्य का वर्णन करने से विकार उत्पन्न होता है ।

(३) स्त्रियों का परिचय—जैसे गेहूं के आटे में भूरा कोला (पेठा) रखने से उसका बंध नहीं होता है और चावलों के पास नारियल रहने से उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष अगर एक आसन पर बैठें तो उनका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है ।

(४) स्त्रियों के अंगोपांग देखना—जैसे सूर्य की ओर टकटकी लगाकर देखने से आंखों को हानि पहुँचती है, उसी प्रकार स्त्री के अंगोपांगों को निरखने से ब्रह्मचर्य का नाश होता है ।

(५) स्त्रियों के शब्द-गीत आदि सुनना—जैसे मेघ की गर्जना सुनने से मोर को हर्ष होता है, उसी प्रकार पर्दा, दीवाल आदि के दूसरी ओर क्रीड़ा करने वाले दम्पती की कुचेष्टाएँ, शब्द, गायन और हँसी-मजाक की बातें सुनने से विकार की उत्पत्ति होती है।

(६) भोगे भोगों का स्मरण—एक वृद्धा के घर की छाछ पीकर कुछ मुसाफिर छह महीने बाद वापिस लौटे। तब बुढ़िया ने कहा-मैं तुम्हें जीवित देखकर बहुत प्रसन्न हुई हूँ, क्योंकि तुम्हारे जाने के बाद छाछ में सर्प निकला था। यह शब्द सुनते ही वे मुसाफिर मृत्यु को प्राप्त हो गए। इसी प्रकार पूर्वावस्था में स्त्री के साथ किये हुए भोजन और भोग आदि का स्मरण करने से ब्रह्मचर्य का विनाश होता है।

(७) कामवर्द्धक भोजन-पान —जैसे सन्निपात के रोगी को दूध-शक्कर मिला कर देना रोगवर्धक होता है, उसी प्रकार सदैव, सरस कामोत्तेजक भोजन भी ब्रह्मचारी के लिए हानिकारक होता है।

(८) अधिक भोजन-पान—जैसे सेर की हँडिया में सवासेर खिचड़ी पकाने से हँड़िया फूट जाती है, उसी प्रकार मर्यादा से अधिक आहार करने से अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न होते हैं और विकार की वृद्धि होने से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है।

(९) शरीर का शृंगार—जैसे दरिद्र के पास चिन्तामणि नहीं रहता है, उसी प्रकार स्नान, मर्दन, शृंगार आदि करके शरीर को आकर्षक बनाने वाले का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है।

ब्रह्मचारी पुरुष को चाहिए कि वह उल्लिखित नौ बातों को, जो ब्रह्मचारी के लिए तालपुट नामक विष के समान हैं, त्याग कर दे। ब्रह्मचारिणी नारी को यही सब बातें पुरुष के विषय में समझ लेनी चाहिए। इनका परित्याग कर नव वाड़ से विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए अन्य मत में भी कहा है:—

सुखं शय्या सूक्ष्मवस्त्रं, ताम्बूलं स्नानमञ्जनं।
दन्तकाष्ठं सुगन्धं च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणम् ॥

अर्थात्—कोमल बिछौने पर सोना, बारीक वस्त्र पहनना, पान खाना, स्नान करना, आँखों में अंजन लगाना, दातौन करना और सुगंधित पदार्थों का लेपन करना, यह ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाली बातें हैं।

और भी कहा है:—

विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसार-सायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ दश अ० ६

अर्थात्—जो साधु स्नान-शृंगार आदि से शरीर की विभूषा करता है, वह चिकने (कठिन) कर्मों का बंध करता है और संसार-सागर में ऐसा डूबता है कि पीछे निकलना कठिन हो जाता है।

इस प्रकार अनेक शास्त्रीय प्रमाणों से प्रतीत होता है कि ब्रह्मचारी को स्नान, शृंगार आदि नहीं करना चाहिए। जो स्नान करेगा वह शरीर की सुन्दरता का अवलोकन करने के लिए दर्पण देखेगा, बालों में तेल लगाएगा, बालों को साफ करने के लिए कंघा रक्खेगा और शरीर को दुर्बल देखकर पुष्ट बनाने के लिए सरस भोजन का लोलुपी बनेगा, फिर वस्त्रादि का शृंगार सजेगा। इस प्रकार इच्छा और आसक्ति बढ़ती जाएगी और वह ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाएगा। इस प्रकार अनेक दोषों की परम्परा से उत्पत्ति जानकर ब्रह्मचारी को कदापि स्नान नहीं करना चाहिए।

जो लोग स्नान से शुद्धि होने की बात कहते हैं उन्हें जानना चाहिए कि जिसमें कई एक मुर्दे गाड़े जा चुके हैं ऐसी मिट्टी के बने घाट में, ऐसे पानी से, जिसमें कि अनेकानेक जलचर जीवों की उत्पत्ति और मृत्यु सदैव होती रहती है, और जिसमें दुनिया भर का मल-मूत्र मिला होता है, स्नान करने से आत्मा की शुद्धि किस प्रकार हो सकती है? रही शरीर की शुद्धि, सो शरीर रक्त, मांस आदि का पिण्ड है। उसे हजार बार धोने पर भी वह शुद्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त पानी में अनेक त्रस और असंख्य

स्थावर जीव होते हैं। उन जीवों के शरीर को अपने शरीर से रगड़ने से शरीर शुद्ध नहीं हो सकता। भला विचार तो कीजिए कि इस शरीर की उत्पत्ति शुक्र और शोणित से होती है। हड्डी, मांस, रक्त, चर्बी आदि का थैला है। चमड़ी से ढंका हुआ है। मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है। इस प्रकार सदैव अपवित्र रहने वाला यह शरीर पानी ढोलने से किस प्रकार पवित्र हो सकता है? जो लोग पानी से शरीर का पवित्र होना मानते हैं, उनसे यह प्रश्न पूछना चाहिए कि—मान लीजिए, एक आदमी ने सौ बार कुल्ला करके अपने मुख को पवित्र कर लिया। उसके बाद उसने कुल्ला का पानी आपके ऊपर थूक दिया। तो आप घृणा करेंगे या नहीं? अगर आप घृणा करते हैं तो आपको मानना पड़ेगा कि सौ बार कुल्ला करने पर भी उस आदमी का मुख अशुद्ध-अपवित्र ही रहा था। पवित्र हो गया होता तो आपको घृणा क्यों होती? इस व्यावहारिक उदाहरण से ही सिद्ध हो जाता है कि पानी से शरीर की शुद्धि नहीं होती। काशीखण्डपुराण में कहा है—

मृदो भारसहस्रेण, जलकुम्भशतेन च।
न शुद्धयति दुराचारी, स्नानं तीर्थशतैरपि॥

अर्थात्—कोई दुराचारी हजारों भार (परिमाण-विशेष) मिट्टी, शरीर को मल-मल कर लगावे और सैंकड़ों घड़े पानी से प्रक्षालन करे तो भी शुद्ध नहीं हो सकता है।

फिर भी यदि स्नान से शुद्धि मानते हो तो जाति भेद को क्यों पकड़ रक्खा है? फिर तो भंगी, भील, चमार आदि भी स्नान करके ब्राह्मण क्यों न बन जाएं? मगर स्नान करने मात्र से नीच जाति वाला उच्च नहीं बन सकता। इन सब बातों से निश्चित समझिए कि सिर्फ स्नान ही शुद्धि का कारण नहीं है। स्नान करने से शरीर पर लगा हुआ मैल ही साफ हो सकता है, अन्तःकरण को पवित्र बनाने वाला स्नान नहीं, सदाचार ही है। अतएव सुज्ञ पुरुषो! 'शील-स्नानं सदा शुचिः' बिना पानी से स्नान किये ही ब्रह्मचारी पुरुष शील रूप स्नान से सदैव पवित्र हैं। जैसे मकान में कोई बच्चा मलत्याग कर देता है तो उतनी ही जगह साफ की जाती है, उसी

प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष का जितना शरीर मल आदि से मलीन हो जाता है, उतना ही शरीर धोकर के साफ कर लेते हैं। उन्हें सारा शरीर धोने की आवश्यकता नहीं रहती।

उक्त नौ वाड़ों में से किसी एक वाड़ को भंग करने वाले ब्रह्मचारी को शंका उत्पन्न हो जाती है। मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूं या न करूं, इस प्रकार का संदेह उसके चित्त में उत्पन्न हो जाता है। उसके हृदय में कांक्षा अर्थात् भोगोपभोग भोगने की इच्छा भी जागृत हो उठती है। यही नहीं, वह विचिकित्सा से भी ग्रस्त हो जाता है। सोचने लगता है कि इतने दिन ब्रह्मचर्य पालने से कुछ ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त नहीं हुई तो आगे भी क्या फल होगा! इन दोषों के फल-स्वरूप वह भेद को भी प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्मचर्य को नष्ट कर डालता है। उसके मन में और तन में उन्माद (मस्ती) उत्पन्न हो जाता है और फिर लम्बे समय तक रहने वाले सुजाक प्रमेह, शूल आदि रोग उसे घेर लेते हैं। इसका अन्तिम फल यह होता है कि ऐसा पुरुष केवली-प्ररूपित धर्म (संयम) से भ्रष्ट होकर अनन्त काल तक संसार भ्रमण करता है।

ऐसा जानकर आचार्य महाराज स्वयं तो नव वाड़ युक्त ब्रह्मचर्य का पालन करते ही हैं, दूसरों से भी इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन कराते हैं।

४ कषायविजय



जिसके परिणाम से संसार की वृद्धि होती है और जो कर्मबंध का प्रधान कारण है, वह आत्मा का विभाव परिणाम 'कषाय' कहलाता है। कषाय आत्मा का सबसे प्रबल वैरी है। जैसे पीतल के पात्र में रक्खा हुआ दूध-दही कसैला और विषाक्त होकर फैंक देने योग्य हो जाता है, इसी प्रकार कषाय रूपी दुर्गुण से आत्मा के संयम आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण उसे 'कषाय' कहते हैं। कषाय के चार भेद हैं:—(१) क्रोध (२) मान (३) माया और (४) लोभ। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) क्रोध—क्रोध का निवास कपाल में है। यह प्रकृति को क्रूर बना देता है। क्रोध के आवेश में आकर प्राणी अपने माता-पिता, भाई-भगिनी, पुत्र-पुत्री, स्वामी-सेवक, पत्नी-पति, गुरु-शिष्य आदि आत्मीय जनों की घात करने में भी विलम्ब नहीं करता है। अधिक क्या, कदाचित् अत्यन्त कुपित हो जाय तो आत्मघात भी कर बैठता है। इस कारण क्रोध को चाण्डाल की उपमा दी गई है। श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २३ वें अध्याय में श्रीकेशी स्वामी ने कहा है:—

संपज्जलिया घोरा अग्गी चिट्ठइ गोयमा !

अर्थात्—हे गौतम ! जलती हुई और भयंकर अग्नि हृदय में स्थित है। यह अग्नि और कोई नहीं, क्रोध की ही अग्नि है। जब यह आग भड़क उठती है तो क्षमा, दया, शील, सन्तोष, तप, संयम, ज्ञान आदि उत्तमोत्तम गुणों को जला कर भस्म कर देती है। चेतना पर मिथ्यात्व की कालिमा चढ़ा देती है।

क्रोधी व्यक्ति स्वयं भी जलता है और अनेकों दूसरों को भी जला देता है। क्रोधी, मदोन्मत्त (नशाबाज) के समान बेभान होकर प्रिय वस्तु को भी तोड़फोड़ देता है और फिर पश्चात्ताप करता है। क्रोधी आदमी अंधे के समान होता है क्योंकि उसे भला-बुरा नहीं सूझता। क्रोधी कृतघ्न भी होता है, क्योंकि वह उपकारी के उपकार को क्षण भर में भूल जाता है।

'कोहो पीइं पणासेइ' अर्थात् क्रोध प्रीति को नष्ट कर देता है। वास्तव में क्रोधी के साथ प्रीति का निर्वाह नहीं होता। क्रोधी जमी हुई और बनी हुई बात को क्षण भर में बिगाड़ देता है। क्रोध के फलस्वरूप जीव कुरूप, सत्त्वहीन, अपयश का भागी और अनन्त जन्म-मरण करने वाला बन जाता है। इसलिए क्रोध हलाहल विष के समान है। ऐसा जानकर आचार्य महाराज कदापि क्रोध से सन्तप्त नहीं होते हैं। वे सदैव शान्त-शीतल रहते हैं और दूसरों को भी शान्त-शीतल बनाते हैं।

(२) मान—मान कषाय का निवासस्थान गर्दन है। मान से प्रकृति कठोर बनती है। शास्त्र में कहा है—'माणो विणयनासणो' अर्थात् मान से

विनय का गुण नष्ट हो जाता है। विनय के बिना ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता और ज्ञान के बिना जीव-अजीव की पहिचान नहीं होती। जीव-अजीव की पहिचान के विना दया नहीं, दया बिना धर्म नहीं, धर्म विना कर्मों का नाश नहीं और कर्मों के नाश के बिना मुक्ति का अखण्ड सुख नहीं। इस प्रकार अभिमान मोक्षप्राप्ति में बाधा डालने वाला है। बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और संयमी, मान से प्रेरित होकर पाप को छिपा रखते हैं और इस कारण विराधक (जिनाज्ञा के भंग करने वाले) बन कर अपनी गति बिगाड़ लेते हैं। मान से महा अंधा बना हुआ जीव धन-कुटुम्ब और अपने शरीर को भी तृणवत् तुच्छ गिन कर इन्हें नष्ट करते विलम्ब नहीं करता और भयानक दुःखों का पात्र हो जाता है। मानी का स्वभाव सदैव अवगुणग्राही होता है। वह सदैव दूसरों के छिद्र ताकता रहता है। मानी सदैव दुर्ध्यान में लीन रहता है और इसलिए निरन्तर कर्मबंध करता रहता है। जहाँ मान होता है वहाँ क्रोध अवश्य पाया जाता है।

मान की उत्पत्ति आठ प्रकार से होती है। यथा—'१ जाति २-लाभ ३-कुल ४-ऐश्वर्य ५-बल ६-रूप ७-तपः ८-श्रुतिः। (१) मातृपक्ष को जाति कहते हैं। मेरा नाना, मामा ऐसे उत्तम हैं, मेरी माता ऐसी है, वैसी है, इस प्रकार माता के पक्ष का अभिमान करना जातिमद कहलाता है। (२) मेरे दादा पिता आदि ऐसे ऊंचे हैं, मैं ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, क्षत्रिय या साहूकार के घराने में जनमा हूँ, इस प्रकार पिता के पक्ष का अभिमान करना कुलमद कहलाता है। (३) मैंने ऐसे-ऐसे पराक्रम के काम किये हैं, किसी की हिम्मत है जो मेरे सामने आवे, इत्यादि रूप से बल का अभिमान करना बलमद कहलाता है। (४) मैं ऐसी कमाई करता हूँ या मुझे गोचरी में उत्तम या इच्छित वस्तु मिलती है, इस तरह लाभ का अभिमान करना लाभमद कहलाता है। (५) मेरे समान सुन्दर सुरूप तेजस्वी कौन है? इस प्रकार रूप का अभिमान करना रूपमद कहलाता है। (६) मैं कितना बड़ा तपस्वी हूँ, एक दो उपवास कर लेना तो मेरे लिए किसी गिनती में ही नहीं है, इस तरह तपस्या का अभिमान करना तपोमद है। (७) मैं सब शास्त्रों का ज्ञाता हूँ, मैंने पचासों ग्रंथ रच डाले हैं, मेरे सामने कोई वादी नहीं ठहर

सकता, इस प्रकार का अभिमान श्रुतमद कहलाता है। (८) मेरा इतना बड़ा परिवार है, मैं सम्प्रदाय का स्वामी हूँ (पूज्य हूँ)। सब मेरी आज्ञा का पालन करते हैं, इस तरह का अभिमान करना ऐश्वर्यमद कहलाता है।

जो जिसका अभिमान करता है वह आगामी काल में उसे उसी की हीनता प्राप्त होती है अर्थात् जाति का अभिमान करने वाला नीच जाति में उत्पन्न होता है, कुल का अभिमानी नीच कुल में उत्पन्न होता है, बलाभिमानी निर्बल होता है, लाभाभिमानी दरिद्र होता है, तप का अभिमानी तपोहीन होता है, श्रुताभिमानी मूर्ख-निर्बुद्धि होता है और ऐश्वर्य का अभिमानी अनाथ एवं निराधार होता है। कितने खेद की बात है कि जो उत्तम वस्तु भविष्य में अधिक उत्तमता प्राप्त करने के लिए है, उसी के निमित्त से अज्ञानी लोग हीनता एवं नीचता प्राप्त कर लेते हैं! ऐसा जानकर आचार्य महाराज सदैव निरभिमान, अत्यन्त विनीत और नम्र होते हैं।

माया—माया-कषाय का स्थान पेट है। माया प्रकृति को वक्र बनाती है। शास्त्र में स्थान-स्थान पर 'मायामिथ्यात्व' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् प्रायः माया के साथ 'मिथ्यात्व' शब्द का भी प्रयोग किया देखा जाता है। जो पुरुष मायाचार करता है वह मर कर स्त्रीपर्याय पाता है और जो स्त्री मायाचार का सेवन करती है वह मर कर नपुंसक होती है। अगर नपुंसक माया का सेवन करता है तो मर कर तिर्यञ्च की गति पाता है। मायाचारी तिर्यञ्च एकेन्द्रिय की योनि प्राप्त करता है। इस प्रकार माया से नीचतर पर्याय की प्राप्ति होती है। माया के साथ अगर तप और संयम का भी आचरण किया जाय तो वह भी यथोचित फलदायी नहीं होता।

शास्त्र में माया को तीन शल्यों में से एक शल्य माना है और सच्चा व्रती वही कहलाता है जो शल्य से रहित हो। जैसे शरीर में चुभा हुआ काँटा निरन्तर व्यथा पहुँचाता है, उसी प्रकार यह भाव-शल्य माया आत्मा को घोर पीड़ा का कारण है। समवायांग सूत्र में महामोहनीय कर्म के बंध के कारणभूत ३० काम बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) त्रस जीव को पानी में डुबा कर मारना।

(२) श्वासोच्छ्वास में रूकावट डालकर मारना।

(३) धूम्र का प्रयोग करके मारना।

(४) मस्तक में घाव करके मारना।

(५) मस्तक पर चमड़े को बाँध कर मारना

(६) मूर्ख, अपंग और पागल का उपहास करना।

(७-८) स्वयं अनाचार करना और दूसरे के माथे मढ़ देना।

(९) सभा में मिश्रभाषा बोलना, जिसका अर्थ दोतरफा निकल सकता है।

(१०) बलात्कार से भोगी का भोग छुड़वाना।

(११) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी कहलाना।

(१२) बालब्रह्मचारी न होते हुए भी बालब्रह्मचारी कहलाना।

(१३-१४) सब ने मिल कर जिसे बड़ा बनाया हो वह सब को दुःख पहुँचावें अथवा सब मिल कर उसे दुःख पहुँचावें।

(१५) पति और पत्नी परस्पर विश्वासघात करें।

(१६-१७) एक देश के राजा की अथवा अनेक देशों के राजा की घात करने की इच्छा करना।

(१८) साधु को संयम से भ्रष्ट करना।

(१९-२०-२१) तीर्थङ्कर की, तीर्थङ्कर-प्रणीत धर्म की और आचार्य-उपाध्याय की निन्दा-अवहेलना करना।

(२२) आचार्य-उपाध्याय की भक्ति न करना।

(२३) बहुसूत्री (पंडित) न होकर भी पण्डित कहलाना।

(२४) तपस्वी न होते हुए भी तपस्वी कहलाना।

(२५) ज्ञानी, वृद्ध, रोगी, तपस्वी और नवदीक्षित मुनि की यथायोग्य सेवा-भक्ति न करना।

(२६) संघ में फूट डालना, झगड़ा कराना।

(२७) ज्योतिष—मंत्र आदि पाप-सूत्रों की रचना करना।

(२८) देव और मनुष्य संबंधी अप्राप्त सुख-भोग की इच्छा करना।

(२९) धर्म करके जो देवता हुए हैं, उनकी निन्दा करना।

(३०) अपने पास देवता न आते हों तो भी यह प्रकट करना कि मेरे पास देव आते हैं।

इन तीस कामों में से किसी भी एक काम को करने वाला महामोहनीय कर्म का बंध करता है, जिससे उस जीव को ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक बोधिबीज सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

श्री दशवैकालिक सूत्र के पाँचवे अध्याय में कहा है:—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वई देवकिव्विसं ॥४६॥

अर्थ—दुर्बल देह देखकर कोई पूछे—आप क्या तपस्वी हैं? तब तपस्वी न होते हुए भी गोलमोल उत्तर दे देना, जैसे कि—'साधु तो तपस्वी होते ही हैं!' ऐसा उत्तर देने वाला तप का चोर कहलाता है।

(२) किसी साधु के श्वेत केश देखकर किसी ने पूछा—आप स्थविर हैं? तब स्थविर न होने पर भी कह देना—'साधु तो स्थविर ही होते हैं।' ऐसा उत्तर देने वाला वय का चोर कहलाता है।

(३) किसी को रूपवान्-तेजस्वी देखकर किसी ने पूछा—अमुक राजा ने दीक्षा ली थी, सो क्या आप ही हैं? तब राजा न होने पर भी कहना—'साधु तो ऋद्धि छोड़ कर ही दीक्षा लेते हैं।' इसे रूप का चोर समझना चाहिए।

(४) अन्दर अनाचार का सेवन करे और ऊपर से मलीन वस्त्र आदि धारण करके शुद्धाचारी होने का ढ़ोंग करे, ऐसा पुरुष आचार का चोर है।

(५) चोर होकर भी ऊपर से साहूकारी बतलाने वाला, ठग होकर भी भक्तिभाव प्रकट करने वाला भाव का चोर कहलाता है।

यह पाँचों प्रकार के चोर मर कर देवगति प्राप्त करें तो भी चाण्डाल के समान नीच जाति वाले मिथ्यादृष्टि, अस्वच्छ, घृणास्पद और निन्दा के पात्र किल्बिषी जाति के देव होते हैं। वहाँ से मर कर आगे बकरा आदि मूक (गूंगे) होते हैं और फिर नरक-तिर्यञ्च आदि नीच-नीच जातियों में अनन्त काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं। उन्हें बोधिबीज सम्यक्त्व की प्राप्ति बहुत दुर्लभ हो जाती है। मायाचार (दगाबाजी) का फल इतना भयानक है ! ऐसा जानकर आचार्य महाराज कदापि माया का सेवन नहीं करते हैं। वे भीतर और बाहर विशुद्ध, निर्मल तथा सदैव सरल स्वभावी होते हैं।

लोभ— लोभ कषाय का स्थान रोम-रोम है। शास्त्र में कहा है— 'लोहो सव्वविणासणो' अर्थात् लोभ सभी सद्गुणों का नाश करने वाला है। इसके पास में फंसे हुए प्राणी क्षुधा, तृषा, शीत, ताप, मारकाट, अपमान आदि अनेक दुःखों को भोगते हैं। दूसरों की गुलामी करते हैं। गरीबों को अपने चंगुल में फंसाते हैं। कुटम्बीजनों को भी धोखा देते हैं। जाति से विरुद्ध और धर्म से प्रतिकूल कृत्य करते हैं। पंचेन्द्रिय प्राणियों की घात करने से भी नहीं चूकते हैं। ऐसे-ऐसे अनेक कुकर्म करके धनोपार्जन करते-करते अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। फिर भी उन्हें कभी तृप्ति नहीं हो पाती। कपिल केवली ने कहा है:—

'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो विवड्ढई।'

अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ में वृद्धि हो जाती है त्यों-त्यों लोभ में भी वृद्धि होती जाती है, बल्कि लाभ से ही लोभ की वृद्धि होती है। इस प्रकार तृष्णा का गड़हा कभी भर ही नहीं पाता। लोग इस लोभ के वशीभूत होकर, घोर कष्ट से उपार्जन किये हुए द्रव्य का भी उपभोग नहीं करते। उसे यों ही छोड़-

कर चले जाते हैं। सिर्फ द्रव्य का उपार्जन करते हैं। जो पाप किये हैं उनकी गठरी अपने सिर पर लाद कर नरक-तिर्यञ्च आदि अधोगति को प्राप्त होते हैं। लोभ को ऐसा दुष्ट जानकर आचार्य महाराज लोभ का त्याग करके सदैव सन्तोष में मग्न रहते हैं।

उक्त क्रोध आदि कषायों में से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। जैसे—अनन्तानुबंधी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध। इसी प्रकार मान, माया और लोभ के भी चार-चार, भेद हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

जिस कषाय की मौजूदगी में संसार का अन्त नहीं आता—संसार-परीत नहीं होता, उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। अनन्तानुबंधी का क्रोध पत्थर में पड़ी हुई दरार के समान है। इसके होने पर फटा हुआ कभी नहीं मिलता। अनन्तानुबंधी का मान पत्थर के खंभे के समान है जो कभी नहीं झुकता। माया बांस की जड़ के समान बड़ी गांठ-गठीली होती है। लोभ किरमिची रंग के समान है, जो एक बार चढ़ने पर फिर नहीं छूटता। अनन्तानुबन्धी कषाय की स्थिति यावज्जीवन की है। यह सम्यक्त्व को रोकती है। जब तक अनन्तानुबंधी कषाय रहता है जब तक सम्यक्त्व नहीं होता। इस कषाय में मरने वाला जीव नरकगति पाता है।

(२) जो कषाय लेश मात्र भी प्रत्याख्यान नहीं होने देता उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। इसका क्रोध जमीन में पड़ी हुई दरार के समान होता है जो वर्षा होने पर मिट जाती है। मान काष्ठ के खंभे के समान होता है जो श्रम करने से नम जाता है। माया मेष (मेढ़े) के सींग के सदृश है, जिसकी वक्रता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। लोभ खंजन (औंगन) के समान है, जो कठिनाई से छूटता है। इस कषाय की स्थिति एक वर्ष की है। यह श्रावक के व्रत देशविरति और सकामनिर्जरा नहीं होने देता। इस कषाय में मरने वाला जीव तिर्यञ्चगति पाता है।

(३) जिस कषाय के होने पर सर्वविरति संयम न हो सके उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। इसका क्रोध धूल में खींची हुई लकीर के समान होता है, जो हवा से मिट जाती है। मान बेंत के स्तम्भ के समान होता है जो थोड़े से कष्ट से ही नम जाता है। माया चलते हुए बैल के द्वारा की हुई पेशाब की लकीर के समान होती है, जो अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देती है लोभ कीचड़ के रंग के समान है जो सूखने से झड़ जाता है। कषाय की स्थिति चार महीने की है। यह सकल संयम का घात करता है। इस कषाय में मरने वाला जीव मनुष्य गति पाता है।

(४) जो सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र को रोके उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। इसका क्रोध पानी में खींची हुई लकीर के समान है जो शीघ्र ही मिट जाती है। मान तृण के समान है जो अनायास ही मुड़ जाता है। माया बांस के मुड़े छिलके के समान है जो सहज ही सीधा हो जाता है। लोभ पतंग के रंग के समान है जो धूप लगते ही उड़ जाता है। इस कषाय की स्थिति १५ दिन की * है। यह कषाय केवलज्ञान नहीं होने देता। इस कषाय में आयु पूर्ण करने वाला देवगति का अधिकारी होता है। इस प्रकार कषाय के कुल सोलह भेद होते हैं।

कितनेक लोग जानते हैं कि कषाय करना अच्छा नहीं है, फिर भी कषाय करते हैं। (२) कितनेक लोग अज्ञान के कारण कषाय के फल को न जानते हुए कषाय करते हैं। (३) कितनेक कुछ जानबूझ कर और कुछ अनजान में कषाय करते हैं। (४) कितनेक कषाय का कारण तो समझते नहीं फिर भी दूसरों की देखादेखी कषाय करने लगते हैं। (५) कितनेक अपने लिए कषाय करते हैं। (६) कितनेक दूसरे के लिए कषाय करते हैं। (७) कितनेक अपने और दूसरे के लिए-शामिल कषाय करते हैं। (८) कितनेक बिना ही कारण (स्वभाव पड़ जाने से) कषाय करते हैं।(९) कितनेक उपयोगसहित

** संज्वलनके क्रोध की स्थिति २ महीने की, मान की स्थिति १ महिने की, माया की स्थिति १५ दिन की और लोभ की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। इस प्रकार का कथन बहुअर्थी पन्नवणा सूत्र में है।*

कषाय करते हैं। (१०) कितनेक उपयोगरहित होकर कषाय करते हैं। (११) कितनेक कुछ अंशों में उपयोग सहित और कुछ अंशों में उपयोग रहित होकर कषाय करते हैं। (१२) कितनेक लोग ओघ संज्ञा (भोलेपन) से कषाय करते हैं। इन बारह भेदों को चार कषाय से गुणित करने पर १२×४=४८ भेद हुए। इन ४८ भेदों को १६ के साथ जोड़ने से कषाय के ६४ भेद होते हैं। इन ६४ को २४ दंडक * और पच्चीसवाँ समुच्चय जीव, इस प्रकार २५ से गुणा करने पर ६४×२५=१६०० भंग चारों कषायों के होते हैं।

जीव इन कषाय के पुद्गलों का (१) चय करता है–एकत्र करता है (२) उपचय करता है–जमाता है, (३) बन्ध करता है; (४) बंधे पुद्गलों को आत्म-प्रदेशों द्वारा वेदन करता है (५) ज्यों-ज्यों वेदन करता जाता है त्यों-त्यों उनकी उदीरणा होती जाती है। (६) कितनेक भव्य जीव पश्चात्ताप करके और कितनेक तपश्चर्या करके निर्जीर्ण करके क्षय कर देते हैं। इन छह के भूत, वर्त्तमान और भविष्य काल की अपेक्षा १८ भेद होते हैं। स्व और पर की अपेक्षा इनके ३६ भेद हो जाते है। इन ३६ भेदों को २४ दंडक और २५ वें समुच्चय जीव की अपेक्षा २५ गुना किया जाय तो ३६+२५=९०० भेद हो जाते हैं। इन्हें चार कषाय से चौगुना कर दिया जाय तो ३६०० भेद होते हैं। इनमें पूर्वोक्त १६०० भेद मिला देने से ५२०० भेद कुल होते हैं। चार कषायों के इतने भंग होते हैं। इतना जबर्दस्त परिवार इन कषायों का है। अतः कषाय को प्रबल वैरी समझना चाहिए।

गाथा—कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥

—दशवैकालिक, अ. ८, ३८।

** २४ दंडक—७ नर्क का १ दंडक, १० जाति के भुवनपति देवों के १० दंडक, पांच स्थावरों के ५ दडक, ३ विकलेन्द्रियों के ३ दंडक, यह १९ हुए। २० वाँ तिर्यंच पंचेन्द्रिय का, २१ वाँ मनुष्य का, २२ वाँ वाणव्यंतर देवों का, २३ वां ज्योतिषी देवों का और २४ वां वैमानिक देवों का, इनका सविस्तार वर्णन दूसरे प्रकरण में हो गया है।*

अर्थ—क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सब सद्गुणों का नाश करता है। अतएव इनका निम्नलिखित रूप से प्रतीकार (इलाज) करना चाहिए।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायामज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥ —दशवैकालिक सूत्र

क्रोध को उपशम से जीतना चाहिए, मान को मार्दव (मृदुता-कोमलता) से जीतना चाहिए, माया को आर्जव (सरलता) से जीतना चाहिए और लोभ को संतोष से जीतना चाहिए।

यह ५ महाव्रत, ५ आचार, ५ इन्द्रियनिग्रह, ५ समिति, ३ गुप्ति, ९ वाड़ ब्रह्मचर्य की और ४ कषायनिग्रह, सब मिलकर आचार्य भगवान् के ३६ गुण होते हैं।

●

३६ गुणों के धारक आचार्य

●

जिनमें निम्नलिखित छत्तीस गुण विद्यमान हों, वही मुनिराज आचार्य पदवी के योग्य हो सकते हैं और उन्हीं के द्वारा संघ का अभ्युदय और शासन का प्रचार होता है:—(१) जातिसम्पन्न—जिनका जातिपक्ष (मातृपक्ष) निर्मल हो। (२) कुलसम्पन्न—जिनका कुल अर्थात् पितृपक्ष निर्मल हो। (३) बलसम्पन्न—काल के अनुसार उत्तम संहनन (पराक्रम) से युक्त हों। (४) रूपसम्पन्न—समचतुरस्र संस्थान आदि शरीर का आकार उत्तम हो (५) विनयसम्पन्न—नम्र-कोमल स्वभाव के धारक हों। (६) ज्ञानसम्पन्न—मति-श्रुत आदि निर्मल ज्ञानों के धारक और अनेक मत-मतान्तर के ज्ञाता हो। (७) शुद्ध श्रद्धासम्पन्न—दृढ़ सम्यक्त्वी हों। (८) निर्मल चारित्रवान् हों। (९) लज्जाशील—अपवाद (निन्दा) से संकोच करने वाले। (१०) लाघवसम्पन्न—द्रव्य से उपधि अर्थात् भाण्डोपकरण

और भाव से कषाय जिनका थोड़ा और हल्का हो। (११) ओजस्वी-परीषह और उपसर्ग आने पर धैर्य धारण करने वाले। (१२) तेजस्वी-प्रतापवान् (१३) वचस्वी-चतुरतापूर्वक बोलने वाले, प्रभावजनक वाणी बोलने वाले। (१४) यशस्वी (१५) जितक्रोध-क्षमा से क्रोध को जीतने वाले (१६) जितमान-विनय के द्वारा मान को पराजित करने वाले (१७) जितमाय-सरलता गुण के द्वारा माया को जीतने वाले (१८) जितलोभ-सन्तोषशीलता से लोभ को जीतने वाले (१९) जितेन्द्रिय-इन्द्रियों संबंधी भोगोपभोगों की लोलुपता से रहित; इन्द्रियों पर काबू रखने वाले (२०) जितनिन्दा-पाप की निंदा करते हुए भी पापी की निन्दा न करने वाले और निन्दकों की परवाह न करने वाले (२१) जितपरीषह-क्षुधा तृषा आदि २२ परीषहों को जीतने वाले। (२२) जीविताशा-मरणभयमुक्त-दीर्घायु की आशा और मृत्यु का भय न करने वाले (२३) व्रतप्रधान-महाव्रत आदि व्रतों में प्रधान (श्रेष्ठ) होने के कारण (२४) गुण-प्रधान अर्थात् क्षमा आदि गुणों को धारण करने वालों में श्रेष्ठ अथवा क्षमा आदि गुण ही जिसके लिए प्रधान हैं। (२५) करण-प्रधान-यथोचित कालोकाल की जाने वाली क्रिया के ७० गुणों से युक्त (२६) चरणप्रधान-निरन्तर पालन किये जाने वाले चारित्र के ७० गुणों से युक्त अर्थात् चरणसत्तरी के धारक (२७) निग्रहप्रधान-अनाचीर्णों का निषेध करने में प्रधान अर्थात् अस्खलित आज्ञा के प्रवर्त्तक (२८) निश्चयप्रधान-इन्द्र या राजा आदि भी जिन्हें क्षोभ न पहुँचा सके और जो द्रव्य, नय, प्रमाण आदि के सूक्ष्म ज्ञान के धारक। (२९) विद्याप्रधान-रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं के धारक मन्त्रप्रधान-विषापहरण, व्याधिनिवारण और व्यन्तरोपसर्गनाशक आदि मन्त्रों के ज्ञाता। * (३१) वेदप्रधान-ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि वेदों के ज्ञाता (३२) ब्रह्मप्रधान-ब्रह्मचर्य में सुदृढ़ रहने वाले, तथा 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' इत्यादि आगम के अनुसार आत्मा-परमात्मा का रहस्य भली-भाँति समझने वाले (३३) नयप्रधान-नैगम आदि सातों नयों की स्थापना करने वाले और उनका यथातथ्य स्वरूप जानने वाले (३४) नियमप्रधान-अभिग्रह आदि नियमों के धारक और प्रायश्चित्तविधि के ज्ञाता (३५) सत्य-

* आचार्य विद्याओं और मंत्रों के ज्ञाता होते हैं किन्तु उनका प्रयोग नहीं करते।

प्रधान-अटल वचनों का उच्चारण करने वाले। (३६) शौचप्रधान—द्रव्यतः लोक में अपवाद करने वाले मलीन वस्त्र आदि न धारण करने वाले और भावतः पाप रूप मैल से मलीन न होने वाले।

इन छत्तीस गुणों में से प्रथम से लेकर दसवें तक दस गुणों का होना आवश्यक है। आगे के (११-१४ तक) गुण स्वाभाविक होते हैं।

आचार्य की आठ सम्पदा



जैसे गृहस्थ धन, कुटुम्ब आदि की सम्पदा से शोभा पाता है, उसी प्रकार आचार्यजी आठ सम्पदा से शोभा पाते हैं। प्रत्येक सम्पदा के चार-चार प्रकार हैं। सबके मिलकर ३२ भेद होते हैं और विनय के ४ गुण उनमें मिला देने से ३६ गुण हो जाते हैं। आठ सम्पदाओं का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) जो ज्ञानादि पूर्वोक्त पाँच आचार आदरने योग्य हैं, उनका आचरण करना आचार सम्पदा है। इसके चार भेद हैं:—[१] पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र के गुणों में ध्रुव-निश्चल-स्थिर अडोल वृत्ति सदैव रखना चरण-गुणध्रुवयोगयुक्तता है। [२] जातिमद आदि आठों मदों को त्यागकर सदा निरभिमान—नम्र रहना मार्दवगुण-सम्पन्नता है। [३] शीत उष्णकाल में ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक बिना कारण नहीं रहते और चातुर्मास में चार महीने तक एक ही स्थान में रहते हैं। इस प्रकार नवकल्पी* विहार करना अनियतवृत्ति है। और [४] कामिनियों के मन को हरण करने वाले लोकोत्तर रूप-सम्पत्ति के धारक होने पर भी सर्वथा निर्विकार और सौम्य मुद्रा वाले होकर रहना 'अचंचल' गुण कहलाता है।

* इतवार से इतवार पर्यन्त रहने को एक रात्रि और पाँच इतवारों तक रहना पाँच रात्रि निवास कहलाता है। एक मास में पाँच दफा ही एक वार आता है। अर्थात् जहाँ एक दिन का आहार मिले वहाँ एक रात्रि से अधिक न रहना और बड़ा नगर हो तो पाँच रात्रि से (एक मास से) अधिक न रहना। ज्ञानाभ्यास, रुग्णता या वृद्धावस्था के कारण अधिक काल तक रहना अलग बात है।

(२) शास्त्र के अर्थ-परमार्थ का ज्ञाता होना आचार्य की सूत्र सम्पदा है। इसके भी चार भेद हैं:—[१] जिस काल में जितने शास्त्र उपलब्ध हों, उन सब के ज्ञाता होने से विद्वानों में श्रेष्ठ होना युग-प्रधानता है। [२] शास्त्रीय ज्ञान की बार-बार परावर्त्तना कर के गंभीर और निश्चल ज्ञानी बनना आगमपरिचितता है। [३] कदापि किंचित् भी दोष न लगने देना उत्सर्ग मार्ग है और अनिवार्य कारण उपस्थित होने पर, पश्चात्ताप के साथ किंचित् दोष लगने पर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाना अपवादमार्ग है। इन दोनों मार्गों की विधि के यथातथ्य ज्ञाता होना उत्सर्ग-अपवाद-कुशलता है। [४] स्वसमय (जैनसिद्धान्त) और परसमय (अन्यमत) के ज्ञाता होना स्वसमय-परसमयदक्षता गुण है।

(३) सुन्दर आकृति और तेजस्वी शरीर के धारक होना तीसरी शरीरसम्पदा है। इसके भी चार भेद हैं:—[१] अपने माप से आपका शरीर एक धनुष लम्बा होना प्रमाणोपेत शरीर कहलाता है। यह गुण पाया जाना आचार्य का प्रमाणोपेत गुण है। [२] लँगड़े, लूले, काने होना अथवा १९ या २१ उंगलियाँ होना अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य अपंगता के दोषों से रहित होना 'अकुटड़' गुण है। [३] बधिरता, अन्धता आदि दोषों से रहित होना पूर्णेन्द्रियता गुण है। [४] तप में, विहार में, संयम एवं उपकार के कार्य में थकावट न आवे, ऐसा स्थिर, दृढ़ और सबल संहनन होना दृढ़संहननी गुण है।

(४) वाक्चातुर्य अर्थात् भाषण करने की चतुरता होना आचार्य की चौथी वचनसम्पदा है। इसके भी चार प्रकार हैं:—जिनका कोई खण्डन न कर सके ऐसे निर्दोष और उत्तम वचन बोलना, किसी को रे तू आदि हल्के शब्दों से संबोधित न करना और जिन्हें सुनकर प्रतिवादी भी चकित रह जाएँ, ऐसे प्रभावशाली वचन बोलना प्रशस्त वचनसम्पदा है। [२] कोमल मधुर, गंभीर वचन मिठास के साथ बोलना मधुरवचनसम्पदा है। [३] राग, द्वेष, पक्ष-पात और कलुषता आदि दोषों से रहित वचन बोलना अनाश्रितवचनसम्पदा है। [४] मणमणादि दोषों से रहित सुस्पष्ट और सार्थक वचन बोलना, जिससे बालक भी समझ जाय, स्फुटवचनसम्पदा है।

(५) शास्त्र एवं ग्रन्थ वांचने की कुशलता होना पाँचवीं वाचनासम्पदा कहलाती है। इस के भी चार भेद हैं:—(१) शिष्य की योग्यता को जान कर, सुपात्र शिष्य को उतना ही ज्ञान देना, जितना वह ग्रहण और धारण कर सके, तथा जैसे सर्प को दूध पिलाया जाय तो वह विष रूप परिणत होता है, उसी प्रकार कुपात्र को दिया हुआ ज्ञान मिथ्यात्व आदि दुर्गुणों को बढ़ाता है; अतः कुपात्र को ज्ञान न देना 'जोगो' गुण है। (२) बिना समझा और बिना रुचा ज्ञान सम्यक् प्रकार से परिणत नहीं होता और न अधिक समय तक टिकता ही है। ऐसा समझकर पहले दी हुई वाचना को शिष्य की बुद्धि के अनुसार उसे समझा कर रुचावे-जँचावे और फिर आगे वाचना दे। यह परिणत गुण है। [३] जो शिष्य अधिक बुद्धिमान् हो, सम्प्रदाय का निर्वाह करने में, धर्म को दिपाने में समर्थ हो, उसे अन्य कार्यों में अधिक न लगा कर, आहार-वस्त्र आदि की साता उपजा कर, यथायोग्य प्रशंसा आदि द्वारा उत्साह बढ़ा कर, शीघ्रता के साथ सूत्र आदि का अभ्यास पूर्ण कराना निरपायिता गुण है। [४] जैसे पानी में तेल की बूंद खूब फैलती है, उसी प्रकार ऐसे शब्दों में वाचना देना कि शब्द थोड़े होने पर भी अर्थ गंभीर और व्यापक हो तथा दूसरा सरलता से समझ भी जाय, सो निर्वाहणा गुण है।

(६) स्वयं की बुद्धि प्रबल-तीक्ष्ण होना मतिसम्पदा है। इसके भी चार प्रकार हैं:—[१] शतावधानी के समान सुनी, देखी, सूंघी, चखी और स्पर्श की हुई वस्तु के गुणों को एकदम ग्रहण कर लेना अवग्रह गुण कहलाता है। [२] उक्त पाँचों का तत्काल निर्णय कर लेना ईहा गुण कहलाता है। [३] उक्त प्रकार से निर्णय करके तत्काल निश्चयात्मक बना लेना अवाय गुण है। और [४] निश्चित की हुई वस्तु को ऐसी दृढ़ता के साथ धारण करना कि जिससे दीर्घ काल तक विस्मरण न हो, समय पर तत्काल स्मरण आ जाय सो धारणा नामक गुण है।

(७) परवादियों को पराजित करने की कुशलता को सातवीं प्रयोग-सम्पदा कहते हैं। यह भी चार प्रकार की है:—[१] 'मैं इससे वाक्चातुर्य

में या प्रश्नोत्तर में जीत सकूँगा अथवा नहीं' इस तरह प्रतिवादी की और अपनी शक्ति का विचार करके वाद-विवाद करना शक्तिज्ञानगुण है। प्रतिवादी जिस मत का अनुयायी हो, उसी मत के शास्त्र से उसे समझाना सो पुरुषज्ञानगुण है। [३] 'इस जगह के लोग मर्यादाहीन और उद्धत तो नहीं हैं कि किसी प्रकार का अपमान करें, अभी तो मीठे-मीठे बोलते हैं, फिर कहीं बदल न जाएँ, प्रतिवादी से मिल न जाएँ, कपटी और मिथ्यात्वी का आडम्बर देख कर विचलित हो जाएँ ऐसे अस्थिर तो नहीं है, इत्यादि क्षेत्र का विचार करके वाद करना क्षेत्रज्ञान गुण कहलाता है। [४] विवाद के समय कदाचित् राजा आदि का आगमन हो तो विचार करना कि यह राजा न्यायी है या अन्यायी है, नम्र है या कठोर है, सरल है या कपटी है, यह आगे किसी प्रकार का पक्षपात या अपमान तो नहीं करेगा ? इस प्रकार विचार करके वाद-विवाद करना वस्तुज्ञानगुण है।

(८) साधुओं के उपयोग में आने वाली आवश्यक वस्तुओं का विचार करके पहले से ही संग्रह कर रखना संग्रहसम्पदा है। इसके भी चार प्रकार हैं:—(१) बालक, दुर्बल, गीतार्थ, तपस्वी, रोगी तथा नवदीक्षित साधुओं के निर्वाह के योग्य क्षेत्र को ध्यान में रखना 'गणयोग' सम्पदा कहलाती है। (२) अपने साधु या बाहर से आये हुए साधु के उपयोग में आने योग्य आवश्यक मकान, पाट, पाटला, पराल आदि का संग्रह कर लेना संसक्त-सम्पदा है। (३) जिस-जिस काल में जो जो क्रिया करनी हो, उस-उस काल में उस क्रिया के योग्य सामग्री का संग्रह कर रखना क्रिया-विधिसम्पदा है। (४) व्याख्याता, वादविजयी, भिक्षाकुशल वैयावच्ची आदि शिष्यों का संग्रह कर रखना शिष्योपसंग्रह सम्पदा है।

चार विनय



(१) आचारविनय—साधु के द्वारा आचरणीय (आदरणीय) गुणों का आचरण करना आचारविनय है। इसके चार भेद हैं:—(१) स्वयं संयम का

पालन करना, दूसरे से पालन कराना, संयम में अस्थिर हुए को स्थिर करना, यह संयम-समाचारी-विनय है। (२) पाक्षिक आदि पर्व-तप स्वयं करना, दूसरे से कराना, आप स्वयं भिक्षा के लिए जाना तथा दूसरे मुनियों को भेजना, यह तप-समाचारी है। (३) तपस्वी, ज्ञानी, नवदीक्षित आदि का प्रतिलेखन आप करना या अन्य मुनियों से कराना गणसमाचारी है। (४) उचित अवसर आने पर आप अकेले विहार करना और सुयोग देखकर दूसरे को अकेले विहार कराना सो एकाकी-विहार समाचारी है।

(२) श्रुतविनयः—सूत्र आदि का अभ्यास करना श्रुतविनय है। श्रुतविनय के भी चार भेद हैं:—(१) स्वयं श्रुत का अभ्यास करना और दूसरे को कराना (२) अर्थ का यथातथ्य धारण करना और कराना (३) शिष्य जिस प्रकार के ज्ञान का पात्र हो, उसे उसी प्रकार का ज्ञान देना और (४) जो सूत्र-ग्रन्थ पढ़ाना आरम्भ किया हो उसे पूर्ण करके दूसरा पढ़ाना।

(३) विक्षेपविनय—अन्तःकरण में धर्म की स्थापना करना विक्षेप-विनय है। इसके भी चार भेद हैं :—(१) मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि बनाना (२) सम्यग्दृष्टि को चारित्री बनाना (३) सम्यक्त्व या चारित्र से भ्रष्ट हुए को स्थिर करना और (४) नवीन सम्यग्दृष्टि तथा नवीन चारित्री बना कर ऐसा व्यवहार करना जिससे कि धर्म की वृद्धि हो।

(४) दोषपरिघात विनय—कषाय आदि दोषों का परिघात (नाश) करना दोषपरिघात विनय है। इसके भी चार प्रकार हैं—(१) क्रोधी को क्रोध से होने वाली हानियाँ और क्षमा से होने वाले लाभ बतला कर शान्त स्वभावी बनाना क्रोधपरिघात विनय है। (२) विषयों की आसक्ति से उन्मत्त बने हुए को विषयों के दुर्गुण और शील के गुण बतलाकर निर्विकारी बनाना विषयपरिघातविनय है। (३) जो रसलोलुप हो उसे लोलुपता की हानियाँ और तप के लाभ बतलाकर तपस्वी बनाना अन्नपरिघात विनय है। (४) दुर्गुणों से दुःख की और सद्गुणों से सुख की प्राप्ति बतला कर दोषी को निर्दोष बनाना आत्मदोष परिघात विनय है।

इस प्रकार आठ सम्पदा के ३२ भेद और ४ विनय मिलाकर आचार्य के कुल ३६ गुण हैं। ऐसे ज्ञानप्रधान, दर्शनप्रधान, चारित्रप्रधान, तपप्रधान, शूर, वीर, धीर, साहसिक, शम-दम-उपशमवान्, चारों तीर्थों के श्रद्धास्पद, जिनेश्वर देव के पाट के अधिकारी, जैनशासन के निर्वाहक और प्रवर्त्तक, ऐसे अनेकानेक गुण-गण के धारक आचार्य महाराज को मेरा त्रिविध-त्रिविध वन्दन-नमस्कार हो!


प्रकरण
४

उपाध्याय



जो गुरु वगैरह गीतार्थ महात्माओं के पास सदैव रहते हैं, जो शुभ-योग तथा उपधान (तपश्चरण) धारण करके मधुर वचनों से संपूर्ण शास्त्रों का अभ्यास करके पारंगत हुए हैं और जो अनेक साधुओं एवं गृहस्थों को पात्र-अपात्र की परीक्षा करके यथायोग्य ज्ञान का अभ्यास कराते हैं, ऐसे साधु उपाध्याय कहलाते हैं।

ज्ञान ग्रहण करने के अयोग्य मनुष्य के संबंध में उत्तराध्ययन सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में कहा है:—

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ ।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥

अर्थात्—जिन पाँच कारणों से शिक्षा की प्राप्ति नहीं होती है, वे पाँच कारण यह हैं:—(१) अहंकार (२) क्रोध (३) प्रमाद (४) रोग और (५) आलस्य ।

शिक्षा के योग्य पात्र के लक्षण



जो शिष्य निम्नलिखित आठ गुणों का धारक होता है, वह हितशिक्षा ग्रहण कर सकता है:—

[१] जो अल्प हँसने वाला हो [२] सदैव आत्मा को दमन करने वाला हो (३) निरभिमान हो (४) परमार्थ की गवेषणा करने वाला हो (५) पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से भी अपने संयम में दोष न लगाने वाला हो (६) जिह्वालोलुप न हो (७) क्षमाशील हो और (८) सत्यवादी हो।

अविनीत के लक्षण



जो शिष्य नीचे लिखे १४ दुर्गुणों में से सभी का या कुछ का धारक होता है, उसको यथातथ्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। कदाचित् ज्ञान प्राप्त हो जाय तो वह यथातथ्य रूप में परिणत नहीं होता, बल्कि अपाय करने वाला हो जाता है। वे १४ दुर्गुण यह हैं:—

(१) बारम्बार क्रोध करना अथवा दीर्घ कषायी होना (२) निरर्थक कथा (निकम्मी बातें) करना। (३) सन्मित्र से द्वेष करना (४) अपने मित्र की भी रहस्यमय (गुप्त) बात प्रकट कर देना (५) बुद्धि का अभिमान करना (६) स्वयं अपराध करके दूसरे के मत्थे मढ़ देना (७) मित्र—हितैषी पर भी कुपित होना (८) असंबद्ध भाषा बोलना (९) द्रोह (वैर-विरोध) करना (१०) अहंकारी होना (११) जितेन्द्रिय न होना—इन्द्रियों को वश में न रखना (१२) जो वस्तु प्राप्त हुई हो उसका संविभाग (बराबर-बराबर पांती) न करना (१३) अप्रतीतिजनक कार्य करना और (१४) अज्ञानी होना।

विनीत के लक्षण



जो शिष्य निम्नलिखित १५ गुणों का धारक होता है, उसे सम्यग्ज्ञान आदि सद्गुणों की सहज रूप से प्राप्ति होती है। वह भविष्य में अपना और पर का उपकार करने वाला होता है। वे १५ गुण इस प्रकार हैं:—

(१) गति का चपल न हो अर्थात् विना प्रयोजन भटकता न फिरे। स्थान का चपल न हो अर्थात् स्थिर आसन से बैठे। भाषा का चपल न हो

अर्थात् बिना मतलब न बोले। भाव-चपल न हो अर्थात् क्षणिक तरंग वाला—कभी कुछ, कभी कुछ सोचने वाला, न हो। चपलता से रहित अर्थात् स्थिर स्वभाव वाला हो (२) निष्कपट हो। (३) हँसी-मज़ाक आदि कुतूहल से रहित हो, (४) किसी का अपमान और तिरस्कार न करे (५) अधिक काल तक क्रोध न रक्खे (६) मित्रों से हिल-मिल कर रहे (७) विशेषज्ञ (विद्वान्) होकर भी अभिमान न करे (८) अपने द्वारा किये हुए अपराध को स्वीकार करले और दूसरों पर न डाले (९) स्वधर्मियों पर कुपित न हो (१०) अप्रियकारी अर्थात् अपना बुरा करने वाले के भी गुणानुवाद करे (११) किसी की भी गुप्त बात प्रकट न करे (१२) मिथ्या आडम्बर न करे (१३) तत्त्व का ज्ञाता हो (१४) जातिमान हो (१५) लज्जावान् हो तथा जितेन्द्रिय हो।

उपाध्यायजी के २५ गुण



बारसंगविऊ बुद्धा, करण-चरणजुओ।
पभावणा जोगनिग्गो, उवज्झायगुणं वन्दे ॥

अर्थात्:—१२ अंग के पाठक, १३-१४ करणसत्तरि और चरण-सत्तरि के गुणों से युक्त, १५-२२ आठ प्रकार की प्रभावना से जैनधर्म का प्रभाव बढ़ाने वाले, २३-२५ तीनों योगों को वश में करने वाले, इन पच्चीस गुणों के धारक मुनि उपाध्याय कहलाते हैं।

द्वादशांग सूत्र



जगत् में जीव जैसे शरीर के आधार पर टिका हुआ है, उसी प्रकार विश्व में धर्म ज्ञान के आधार पर रहा हुआ है। और ज्ञान भी निराधार नहीं है। उसके लिए शास्त्रों के आलम्बन की आवश्यकता है। साधारणतया केवली भगवान् की वाणी के अनुकूल जितने भी ग्रन्थ हैं, सभी शास्त्र कहलाते हैं;

किन्तु इन सब में मौलिक बारह अंग शास्त्र ही हैं, जिनकी रचना साक्षात् गणधरों द्वारा हुई है। इन बारह अंगों के नाम और उनका संक्षिप्त परिचय क्रम से दिया जाता है:—

(१) आचारांग—इस सूत्र के दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन हैं। (१) प्रथम शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन है। इस अध्ययन में सात उद्देशक हैं, जिनमें क्रम से दिशा का, पृथ्वीकाय का, जलकाय का, अग्निकाय का, वनस्पतिकाय का, त्रसकाय का, और वायुकाय का कथन है। (२) दूसरे लोकविजय अध्ययन के छह उद्देशक हैं। इनमें क्रम से विषयत्याग का, मदत्याग का, स्वजन संबंधी ममत्व के त्याग का, द्रव्य संबंधी ममत्व के त्याग का हितशिक्षण का कथन है। (३) तीसरे शीतोष्णीय अध्ययन के चार उद्देशक हैं। इनमें क्रम से सुप्त तथा जागृत का, तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ का, प्रमाद के त्याग का और जो एक को जानता है सो सब को जानता है, इस तथ्य का वर्णन है। (४) सम्यक्त्व अध्ययन के भी चार उद्देशक हैं। इनमें क्रम से धर्म का मूल दया, सज्ञान-अज्ञान, सुख प्राप्ति का उपाय और साधु के लक्षण निरूपित किये गये हैं। (५) पाँचवें लोकसार (आयावंति) नामक अध्ययन के छह उद्देशक हैं, जिनमें क्रम से यह वर्णन है कि जो विषयासक्त है वह साधु नहीं हो सकता, साधु वही है जो सावद्यानुष्ठान का त्यागी हो, कनक और कामिनी का त्यागी हो, तथा अव्यक्त साधु अकेला न रहे, ज्ञानी और अज्ञानी में क्या भेद है, प्रमादी और अप्रमादी में क्या अन्तर है? (६) छठे धूताख्यान नामक अध्ययन में पाँच उद्देशक हैं। इनमें क्रम से कामासक्त के दुःख का, रागी-विरागी के दुःख-सुख का, ज्ञानी साधु की दिशा का, सुस्थित तथा भ्रष्ट के लक्षण का और उत्तम साधु के लक्षणों का कथन है। (७) सातवाँ महाप्रज्ञा नामक अध्ययन विच्छिन्न हो गया है। (८) आठवाँ विमोक्ष अध्ययन है। इसके आठ उद्देशकों में क्रम से मतान्तरों का, साधु का, अकल्पनीय के परित्याग का, शंका के निवारण का, वस्त्र के त्याग का, भक्तप्रत्याख्यान और इंगित मरण का, पादपोपगमन मरण का अर्थात् इन तीनों पण्डित-मरणों की विधि का वर्णन है।

(९) नौवें उपधान श्रुत के चार उद्देशक हैं, जिनमें महावीर स्वामी के वस्त्र का, स्थानों का, परिषदों का और उनके आचार एवं तप का वर्णन है।

आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं। इनमें निम्नलिखित वर्णन है—(१) पिण्डैषणाध्ययन में आहार ग्रहण करने की विधि का। (२) शय्याख्याध्ययन में स्थानक ग्रहण करने की विधि का। (३) ईर्याध्ययन में ईर्यासमिति का। (४) भाषाजात-अध्ययन में भाषासमिति का (५) वस्त्रैषणाध्ययन में वस्त्र ग्रहण करने की विधि का (६) पात्रैषणाध्ययन में पात्र ग्रहण करने की विधि का (७) अवग्रहप्रतिमाध्ययन में आज्ञा ग्रहण करने की विधि का (८) चेष्टिका अध्ययन में खड़े रहने की विधि का (९) निषिधिकाध्ययन में बैठने की विधि का (१०) उच्चार—प्रस्रवण-अध्ययन में लघुनीति-बड़ी नीति परठने की विधि का (११) शब्द—अध्ययन में शब्द श्रवण करने की विधि का (१२) रूपाध्ययन में रूप को देखने की विधि का (१३) प्रक्रियाध्ययन में गृहस्थ से काम कराने की विधि का (१४) अन्योन्यक्रियाध्ययन में परस्पर क्रिया करने की विधि का, (१५) भावनाध्ययन में महावीर स्वामी के चरित का तथा पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का और (१६) विमुक्त-अध्ययन में साधु की उपमाओं का वर्णन है।

मूलतः आचारांग सूत्र के १८००० पद* थे किन्तु अब २५०० श्लोक ही शेष रहे हैं। बाकी का भाग विच्छिन्न हो गया है।

[२] सूत्रकृतांगसूत्र—इस अंग के भी द श्रुतस्कन्धो । हैं पहले श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं। वे अध्ययन और उनमें प्रतिपादन किये गये विषय इस प्रकार हैं:—

[१] स्वसमय-परसमय-अध्ययन—इसमें भूतवादी, सर्वगतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, अक्रियावादी, आत्मवादी, अफलवादी, नियतिवादी, अज्ञानवादी, क्रियावादी, ईश्वरवादी, देववादी, अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानने वाले आदि मतों का वर्णन है। साधु के आचार का भी किंचित् वर्णन है।

* ३२ अक्षरों का एक श्लोक होता है और १५०८८६८४० श्लोकों का एक पद गिना जाता है, ऐसा कथन दिगम्बर आम्नाय के भगवती-आराधना शास्त्र में है।

[२] वैतालीय-अध्ययन—इसमें ऋषभदेवजी के ६८ पुत्रों को दिये हुए उपदेश का वर्णन है। विषय-त्याग की युक्ति का और धर्म के माहात्म्य का वर्णन है।

[३] उपसर्ग-परिज्ञा- अध्ययन—कृष्णजी और शिशुपाल के दृष्टान्त से वीरता और कायरता का कथन किया है और स्वजन संबंधी परिषह का कथन है।

[४] स्त्रीपरिज्ञा-अध्ययन—इसमें स्त्रीचरित का और स्त्री के संसर्ग से होने वाले दुःखों का वर्णन है।

[५] नरक विभक्ति—इसमें नरक में होने वाले घोर दुःखों का वर्णन किया गया है।

[६] वीरस्तव-अध्ययन—इसमें अनेक उपमाओं के साथ भगवान् महावीर की स्तुति की गई है।

[७] कुशील-परिभाषा-अध्ययन—इसमें परमत के कुशील का और स्वमत के सुशील का वर्णन है। हिंसा का निषेध किया गया है।

[८] वीर्याध्ययन—में बालवीर्य और पण्डितवीर्य का कथन है।

[९] धर्माध्ययन—इसमें दयाधर्म का और साधु के आचार का वर्णन है।

[१०] समाधि-अध्ययन—समाधिभाव धर्म का आधार है। उसी समाधि का इसमें वर्णन है।

[११] मोक्षमार्ग-अध्ययन—इसमें साधु के आचार के मिश्र प्रश्नोत्तर हैं।

[१२] समवसरण अध्ययन—में क्रियावादी आदि चारों वादियों के मतों का खण्डन किया गया है।

[१३] यथातथ्य अध्ययन—में स्वच्छन्दाचारी और अविनीत के लक्षण तथा सदाचारी धर्मोपदेशक के लक्षण बतलाए हैं।

[१४] ग्रंथाख्य-अध्ययन—इसमें एकलविहारी साधु के दोष बतलाकर उसे हितशिक्षा दी गई है।

[१५] आदानीयाख्य-अध्ययन—में श्रद्धा, दया, वीरता, दृढ़ता आदि मोक्ष के साधनों का वर्णन है।

[१६] गाथा-अध्ययन—इसमें श्रमण, माहन आदि का सच्चा स्वरूप बतलाया गया है।

श्रीसूत्रकृतांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में सात अध्ययन हैं। उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन इस प्रकार है:—

[१] पुंडरीकाध्ययन—इसमें पुण्डरीक कमल का दृष्टान्त देकर चारों वादियों का स्वरूप समझाया गया है और पाँचवें मध्यस्थ ने उद्धार किया, यह वर्णन है।

[२] क्रियास्थान-अध्ययन—इसमें १३ क्रियाओं का वर्णन है।

[३] आहारप्रज्ञा-अध्ययन—इसमें जीवों के आहार ग्रहण करने की रीति का और उनकी उत्पत्ति का वर्णन है।

[४] प्रत्याख्यान-अध्ययन—में दुष्प्रत्याख्यान और सुप्रत्याख्यान का स्वरूप है और यह बतलाया गया है कि अविरति से दुःख होता है।

[५] अनाचारश्रुत-अध्ययन—में अनाचार के दोषों का वर्णन तथा शून्यवादी के मत का खण्डन है।

[६] आर्द्रकुमार-अध्ययन—मुनि आर्द्रकुमार ने अन्य मतावलम्बियों के साथ जो धर्मचर्चा की थी, उसका विवरण है।

[७] उदक पेढालपुत्र—नामक अध्ययन में गौतम स्वामी के साथ उदक पेढालपुत्र ने जो चर्चा की थी, उसका वर्णन है।

सूत्रकृतांगसूत्र के पहले ३६००० पद थे, अब २१०० श्लोक हैं।

[३] स्थानांग (ठाणांग) सूत्र—इस सूत्र में एक ही श्रुतस्कंध है और दस ठाणे (स्थानक अध्ययन) हैं। पहले में एक-एक संख्या वाले बोल हैं। दूसरे ठाणों में दो-दो संख्या वाले, तीसरे ठाणे में तीन-तीन संख्या वाले, इसी प्रकार क्रम से बढ़ते-बढ़ते दसवें ठाणे में दस-दस संख्या वाले बोल हैं। इसमें अनेक द्विभंगियाँ, त्रिभंगियाँ, चौभंगियाँ और सप्तभंगियाँ बतलाई गई हैं। सूक्ष्म और बादर अनेक विषयों का वर्णन है। साधु-श्रावक के आचार-गोचर का कथन है। यह शास्त्र विद्वानों के लिए बड़ा ही चमत्कारजनक है। रसोत्पादक वर्णन से परिपूर्ण है। इसके पहले ४२००० पद थे, अब ३७७० मूलश्लोक परिमित है।

[४] समवायांगसूत्र—इस सूत्र का भी एक ही श्रुतस्कंध है। इसमें अलग-अलग अध्ययन नहीं हैं। इसमें एक से लेकर सौ, हजार, लाख और करोड़ों की संख्या वाले बोलों का निर्देश है। द्वादशांगी की संक्षिप्त हुंडी भी इसमें उल्लिखित है। ज्योतिषचक्र, दण्डक, शरीर, अवधिज्ञान, वेदना, आहार, आयुबंध, संहनन, संस्थान, तीनों कालों के कुलकर, वर्त्तमान चौबीसी, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि के नाम, इनके माता-पिता के पूर्वभव के नाम, तीर्थङ्करों के पूर्वभवों के नाम तथा ऐरावत क्षेत्र की चौबीसी आदि के नाम भी बतलाए गए हैं। यह शास्त्र जैनसिद्धान्तों का और जैन इतिहास का महत्त्वपूर्ण आधार है और गहन ज्ञान का खजाना है। इस शास्त्र के पहले १६४००० पद थे किन्तु आजकल १६६७ श्लोक ही उपलब्ध होते हैं।

[५] व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र—इस पंचम अंग में एक श्रुतस्कंध है, ४१ शतक हैं और १००० उद्देशक हैं। इसमें ३६००० प्रश्नोत्तर तो सिर्फ गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रश्नोत्तर हैं। इसका शतकक्रम से संक्षेप में इस प्रकार परिचय है:—

(१) पहला शतक—प्रथम शतक के पहले उद्देशक में णमोकारमंत्र, ब्राह्मीलिपि, नमोत्थुणं, गौतम स्वामी के गुण, नौ प्रश्नोत्तर, आहार के ६३ भंग, भवनपति आदि, आत्मारंभी आदि तथा संवृत-असंवृत आदि का वर्णन

है। दूसरे उद्देशक में नरक का, लेश्या का संचिट्ठन-काल तथा १४ प्रकार के जीवों के देवलोक में जाने का वर्णन है। तीसरे उद्देशक में कांक्षामोहनीय कर्म, आराधक के लक्षण आदि हैं। चौथे उद्देशक में कर्मप्रकृति, अपक्रमण, पुद्गल, जीव, छद्मस्थ तथा केवली का वर्णन है। पाँचवें में नरक, भवनपति, पृथ्वी, ज्योतिषी तथा वैमानिक का वर्णन, कषाय के भंग और दंडक बतलाये हैं। छठे में रोह अनगार के प्रश्नोत्तर, लोक की स्थिति तथा आधार तथा जीव पुद्गल का संबंध बतलाया है। सातवें उद्देशक में नारकजीव की उत्पत्ति, विग्रह गति, देव की जुगुप्सा, गर्भोत्पत्ति, सन्तान में आने वाले माता-पिता के अंग और गर्भस्थ जीव के स्वर्ग-नरक में जाने का वर्णन है। आठवें उद्देशक में एकान्त बाल और पण्डित का आयुष्य, मृगवधक की क्रिया, सवीर्य अवीर्य वगैरह का वर्णन है। नौवें में गुरु-लघु संबंधी प्रश्नोत्तर सुसाधु और आयुबंध का वर्णन है।

(२) दूसरा शतकः—इसके प्रथम उद्देशक में खंधक संन्यासी, सान्त अनन्त जीव, सिद्ध, बाल-पण्डित मरण, भिक्षु की प्रतिमा तथा गुणरत्न-संवत्सर तप आदि का वर्णन है। दूसरे उद्देशक में समुद्घात का वर्णन है। तीसरे में आठ पृथिवियों का और चौथे में इन्द्रियों का वर्णन है। पाँचवें में गर्भ स्थिति, मनुष्य का बीज, एक जीव पिता और पुत्र, मैथुन में हिंसा, तुंगिया नगरी के श्रावक, द्रह का गरम पानी आदि का वर्णन है। छठे में भाषा का, सातवें में देवों का, आठवें में असुरेन्द्र की सभा का, नौवें में अढ़ाई द्वीपों का और दसवें में उत्थान आदि का वर्णन है।

(३) तीसरा शतकः—प्रथम उद्देशक में इन्द्रों की ऋद्धि का, तिष्यगुप्त अनगार का, गुरुदत्त अनगार का तथा तामली तापस आदि का वर्णन है। दूसरे उद्देशक में असुरकुमार, वैमानिक देव की चोरी, असुरकुमार का सौधर्म देवलोक में गमन, पूरण तापस आदि का वर्णन है। तीसरे में मंडिपुत्र गणधर के प्रश्नोत्तर, अंतक्रिया, समुद्र का ज्वार आदि विषयों का निरूपण है। चौथे में साधु तथा देव के ज्ञान के भंग तथा लेश्या आदि का वर्णन है। पाँचवें में साधु की वैक्रिय शक्ति का, छठे में विभंग ज्ञान का,

सातवें में चार लोकपालों का, आठवें में १० प्रकार के देवों का, नौवें में पाँच इन्द्रियों के विषयों का, दसवें में इन्द्रों की परिषद् का वर्णन है।

(४) चौथा शतकः—चौथे शतक में ईशानेन्द्र के चार लोकपालों का, उनकी राजधानियों का तथा लेश्या आदि का वर्णन है।

(५) पाँचवाँ शतकः—सूर्योदय दिन-रात तथा ऋतु का परिमाण, आयुष्य का कथन, हास्य और निद्रा से होने वाला कर्म बंधन, हरिणगमेषी देव और गर्भापहरण, ऐवंताकुमार, पूर्वधर साधुओं की शक्ति, १५ कुलकरों के नाम, नारदपुत्र निर्ग्रन्थ की चर्चा आदि अनेक विषयों का वर्णन है।

(६) छठे शतक—में महावेदना और महानिर्जरा की चौभंगी, तमस्काय, कृष्णराजि, लौकान्तिक देव, धान्य की योनि का कालप्रमाण आदि अनेक विषय हैं।

(७) सातवें शतक—में आहारक-अनाहारक, लोकसंस्थान, श्रावक की सामायिक, सुप्रत्याख्यान, जीव की शाश्वतता-अशाश्वतता आदि विविध विषयों का वर्णन है।

(८) आठवें शतक—में प्रयोगसा, मिश्रसा और विस्रसा पुद्गलों का, साँप, बिच्छू और मनुष्य के विष का तथा पाँच क्रियाओं आदि का वर्णन है।

(९) नौवें शतक—में जम्बूद्वीप का वर्णन है। अढाई द्वीप में ज्योतिषी देवों की संख्या, सोचा-असोचा केवली, गांगेय अनगार के भंग, ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी एवं जमाली का निरूपण है। तथा स्थावर जीवों के श्वासोच्छ्वास आदि अनेक विषयों का वर्णन है।

(१०) दशवें शतक—में पाँच शरीरों का संवृत्त साधु का, योनि का, वेदना का, आलोचना से आराधना का, आत्मऋद्धि का, अल्पऋद्धि और महाऋद्धि वाले देवों का, त्रायस्त्रिंशक देवों का तथा सुधर्मा सभा आदि का वर्णन है।

(११) ग्यारहवें शतक—में उत्पल, सालु, पलास आदि का तथा शिवराज ऋषि, सुदर्शन सेठ, महाबल कुमार और आलंभिया नगरी के श्रावकों वगैरह का वर्णन है।

(१२) बारहवें शतक—में शंख और पोखली श्रावक का, जयंतीबाई के प्रश्नोत्तरों का, पुद्गलपरावर्तन का तथा आठ आत्माओं के पारस्परिक सम्बन्ध आदि विषयों का वर्णन है।

(१३) तेरहवें शतक—में नारकावास में जीवों की उत्पत्ति, लेश्या के स्थान, देवस्थान, देवता की परिचारणा का अधिकार, चमरचंचा राजधानी का परिचय, उदायी राजा का वर्णन, कर्मप्रकृति का स्वरूप, गगनगामी साधु का कथन और छद्मस्थ के समुद्घात का वर्णन है।

(१४) चौदहवें शतक—में साधु का मरण, परभवगति, अनन्तर परम्पर का कथन, यक्ष के उन्माद से मोह के उन्माद की प्रबलता, काल से और इन्द्र द्वारा वर्षा बरसना, नरक में पुद्गल-परिणाम, चरमाचरम का कथन, आहार परिणाम, महावीर प्रभु के प्रति गौतम का अनुराग, अंबड़ संन्यासी के ७०० शिष्यों का आचार, देव की हजारों रूप बनाकर हजारों भाषा बोलने की शक्ति आदि विषयों का वर्णन है।

(१५) पन्द्रहवें शतक—में गोशाला ने निमित्तज्ञान सीखा, तेजोलेश्या प्राप्त की, जिन कहलाया, भगवान् महावीर से मिला, दो साधुओं को भस्म किया, भगवान् को जलाने का प्रयत्न करने पर आप स्वयं जल मरा, मरते समय सम्यक्त्व प्राप्त किया, रेवती गाथापत्नी द्वारा बनाये हुए कोलापाक का आहार करके भगवान् को साता उपजी, अगले भव में गोशालक का जीव सुमंगल साधु को जलाएगा, गोशालक का जीव अनन्त संसार भ्रमण करके अन्त में मोक्ष पाएगा, आदि विषयों का कथन है।

(१६) सोलहवें शतक—में अग्नि और वायु का संबंध, शक्रेन्द्र उघाड़े मुँह बोले तो पाप, शक्रेन्द्र की अपेक्षा ऊपर के देवलोकों के देव कान्तिमान् हैं, तथा स्वप्न आदि का वर्णन है।

(१७) सत्तरहवें शतक—में उदायन और भूतानन्द हाथी का, धर्मी-अधर्मी, पंडित-बाल, व्रती-अव्रती, ईशानेन्द्र की सभा तथा भवनवासी देवों का वर्णन है।

(१८) अठारहवें शतक—में चरमाचरम, कार्तिक सेठ का अधिकार, गौतम स्वामी की अन्यतीर्थिकों के साथ चर्चा, सोमिल ब्राह्मण के प्रश्नोत्तर आदि अनेक विषय वर्णित हैं।

(१९) उन्नीसवें शतक—में लेश्याधिकार, पृथ्वी आदिक के १२ द्वार, सूक्ष्म-बादर का अल्पबहुत्व द्वार आदि विषय हैं।

(२०) बीसवें शतक—में त्रस-तिर्यंच का आहार, लोकालोक में आकाश, कर्म-अकर्मभूमि में मनुष्य, महाविदेह क्षेत्र में धर्म की विशेषता, २४ तीर्थंकरों का अन्तरकाल, भरतक्षेत्र में १००० वर्ष तक पूर्वज्ञान की विद्यमानता, २१ हजार वर्ष तक जैनधर्म का अस्तित्व, विद्याचारण और जंघाचारण मुनि की गति, सोपक्रम और निरुपक्रम आयु आदि विषयों का वर्णन है।

(२१) इक्कीसवें शतक—में धान्यों और तृणों का कथन है।

(२२) बाईसवें शतक—में ताड़ आदि वृक्षों और वल्लियों का वर्णन है।

(२३) तेईसवें शतक—में साधारण वनस्पति का वर्णन है।

(२४) चौबीसवें शतक—में दंडकों का वर्णन है।

[२५] पच्चीसवें शतक—में १४ प्रकार के जीव, जीव-अजीव द्रव्यों का उपभोग, ५ संस्थान, आकाशश्रेणी, द्वादशांग, ६ प्रकार के निर्ग्रन्थ आदि अनेक विषय हैं।

[२६] छब्बीसवें शतक—में कर्मबंध के १० द्वार आदि का वर्णन है।

[२७] सत्ताईसवें शतक—में पापकर्म आश्रित छब्बीसवें शतक के समान ही वर्णन है।

[२८] अट्ठाईसवें शतक—में भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन है।

[२९] उनतीसवें शतक—में पापकर्म के वेदन का अधिकार है।

[३०] तीसवें शतक—में क्रियावादी आदि चार वादियों का समवसरण बतलाया गया है।

[३१] इकतीसवें शतक—में खुडागकृत युग्म-वर्णन है।

[३२] बत्तीसवें शतक—में खुडागकृत युग्म नैरयिक की उत्पत्ति।

[३३] तेतीसवें शतक—में एकेन्द्रिय का कथन है।

[३४] चौतीसवें शतक—में एकेन्द्रिय का श्रेणीस्वरूप है।

[३५] पैंतीसवें शतक—में महाकृत युग्म का कथन है।

[३६] छत्तीसवें शतक—में एकेन्द्रिय के कृतयुग्म का कथन है।

[३७] सैंतीसवें शतक—में त्रीन्द्रिय के कृतयुग्म का कथन है।

[३८] अड़तीसवें शतक—में चौइन्द्रिय के कृतयुग्म का वर्णन है।

[३९] उनचालीसवें शतक—में असंज्ञी पंचेन्द्रिय के युग्म का वर्णन है।

[४०] चालीसवें शतक—में संज्ञी पंचेन्द्रिय के युग्म का कथन है।

[४१] इकतालीसवें शतक—में राशिकृत युग्म, नारक आदि चौवीसों दण्डकों का निरूपण है।

वर्त्तमान काल में भगवतीसूत्र सब से बड़ा है और चमत्कारपूर्ण अधिकारों से परिपूर्ण है। पहले इस सूत्र के २२८८००० पद थे। आजकल १५७५२ श्लोक-परिमित ही उपलब्ध होता है।

(६) ज्ञाताधर्मकथांग—इसके दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध में १९ अध्ययन हैं:—(१) मेघकुमार (२) धन सार्थवाह (३) मयूर के अंडे (श्रद्धा-अश्रद्धा), (४) दो कछुए (इन्द्रियगोपन), (५) थावच्चापुत्र (६) तूंबा, (७) रोहिणी, (८) मल्लिनाथ भगवान् (९) जिनरक्ष-जिनपाल (१०) चन्द्रमा (११) वृक्ष (१२) सुबुद्धिप्रधान (१३) नंदन मणियार (१४) तेतली प्रधान (१५) नंदीफल [१६] द्रौपदी [१७] अकीर्ण देश का घोड़ा [१८] सुसीमा पुत्री और [१९] पुंडरीक कुंडरीक। इस शास्त्र में कथाओं के द्वारा दया, सत्य, शील आदि उत्तम भावों पर खूब प्रकाश डाला गया है। दूसरे श्रुतस्कंध में २०६ अध्ययन हैं। उनमें श्रीपार्श्वनाथजी की २०६ आर्याएँ संयम में शिथिल होकर देवियाँ हुईं, इस विषय का संक्षेप में वर्णन है। पहले इस सूत्र में ५५५६००० पद थे और उनमें साढ़े तीन करोड़ धर्म कथाएँ थीं। इस समय सिर्फ ५५०० श्लोक ही उपलब्ध हैं।

[७] उपासकदशांग—इस अंग में एक श्रुतस्कंध है और उसमें दस अध्ययन हैं। इन अध्ययनों में भगवान् महावीर के १० उत्तम श्रावकों का अधिकार है। इन श्रावकों ने २०-२० वर्ष तक श्रावक-व्रतों का पालन किया। इन वीस वर्षों में से १४॥ वर्ष तक घर में रहे और ५॥ वर्ष गृहकार्य

त्याग कर पौषधशाला में रह कर श्रावक की ११ पडिमाओं का आराधन किया। उपसर्ग आने पर भी वे धर्म से विचलित नहीं हुए। सभी श्रावक एक-एक मास का संथारा करके पहले देवलोक में उत्पन्न हुए। सबने चार-चार पल्योपम की आयु पाई। सब पहले देवलोक से चयकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे और मुक्ति प्राप्त करेंगे।

इस सूत्र में श्रावकों की दिनचर्या का भी सुन्दर रूप से दिग्दर्शन कराया गया है। आदर्श गृहस्थ और उत्तम श्रावक होने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इस सूत्र का अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिए। इससे उनका जीवन धर्ममय बनेगा, धर्म में उत्साह और दृढ़ता प्राप्त होगी। इस सूत्र में श्रावक के १२ व्रतों का तथा ११ पडिमाओं का ब्यौरेवार वर्णन है। श्रावक शब्द साधारणतया अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत-दोनों गुण-स्थान वालों के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु 'श्रमणोपासक' शब्द केवल देशविरत गृहस्थ के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। पहले इस सूत्र के ११७०००० पद थे किन्तु आजकल ८१२ श्लोक ही बचे हैं।

दस श्रावकों का परिचय



श्रावकों के नाम नाम	नगर-नाम	पत्नी-नाम	गौ संख्या	धनपरिमाण	उपसर्ग	विमान
१ आनन्द	वाणिज्य ग्राम	शिवानन्दा	४००००	१२ क.सोनैया	अवधिज्ञानका	अरुण
२ कामदेव	चम्पा	भद्रा	४००००	१८ करोड़	पिशाचआदि	अरुणनाभ
३ चुलणी पिया	बाणारसी	श्यामा	६००००	२४ ,,	भद्रा माता का	अरुणप्रभ
४ सुरादेव	,,	धन्ना	,,	१८ ,,	१६ रोग का	अरुणकांत
५ चुलशतक	आलम्भिका	बहुला	,,	१८ ,,	स्त्री का	अरुणारिष्ट
६ कुण्डकोलिक	कम्पिलपुर	पूषा	,,	१८ ,,	धर्मचर्चा का	अरुणज
७ शकडाल पुत्र	पोलासपुर	अग्निमित्रा	१००.०	३ ,,	स्त्रीघात का	अरुणभूत
८ महाशतक	राजगृह	रेवती आदि	८००००	२४ ,,	रेवतीपत्नी का	अरुणावतंसक
९ नन्दिनि पिता	श्रावस्ती	अश्विनी	४००००	१२ ,,	०	अरुणगर्व
१० सालनी पिता	,,	फाल्गुनी	,,	१२ ,,	०	अरुणकील

(८) अन्तगडदशांग—इस सूत्र में एक श्रुतस्कंध है, जिसके नौ वर्गों के ९० अध्ययन हैं। पहले वर्ग के १० अध्ययनों में अन्धकवृष्णि के १० पुत्रों का अधिकार है। दूसरे वर्ग के ८ अध्ययनों में अक्षोभ, सागर वगैरह अन्धकवृष्णि के ८ पुत्रों का अधिकार है। तीसरे वर्ग में १३ अध्ययन हैं। उनमें वसुदेवजी के पुत्र गजसुकुमार आदि का अधिकार है। चौथे वर्ग के दस अध्ययन हैं। उनमें जालीकुमार, मयालीकुमार, सांब, प्रद्युम्न आदि यादवकुमारों का वर्णन है। पाँचवें वर्ग के दस अध्ययनों में श्रीकृष्ण की गौरी, गांधारी, सत्यभामा, रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों का और जम्बूकुमार की मूलश्री तथा मूलदत्ता रानियों का वर्णन है। छठे वर्ग के १६ अध्ययनों में मकाई आदि १३ गाथापतियों का तथा अर्जुनमाली ऐवन्ताकुमार का, जिन्होंने गुणरत्न संवत्सर तप किया था तथा अलख राजा का वर्णन है। सातवें वर्ग के तेरह अध्ययन हैं। उनमें श्रेणिक राजा की नन्दा, नन्दवती आदि रानियों का वर्णन है। आठवें वर्ग में १० अध्ययन हैं। उनमें श्रेणिक की काली रानी ने रत्नावली तप किया, सुकाली रानी ने कनकावली तप किया, महाकाली रानी ने लघुसिंहक्रीड तप किया, कृष्णा रानी ने बृहत्सिंहक्रीड तप किया, इत्यादि दस रानियों द्वारा की हुई तपस्या का वर्णन है। अन्तगड सूत्र में कुल ९० मोक्षगामी जीवों का वर्णन है। पहले इस सूत्र में २३२८००० पद थे, उनमें से आजकल सिर्फ ९०० श्लोक शेष रहे हैं।

(९) अनुत्तरोववाई—इस सूत्र में ३ वर्ग हैं। पहले वर्ग के दस अध्ययनों में तथा दूसरे वर्ग के १३ अध्ययनों में श्रेणिक राजा के २३ पुत्रों का अधिकार है। तीसरे वर्ग में १० अध्ययन हैं। उनमें काकंदी नगरी के धन्ना सेठ का अधिकार है। धन्ना सेठ ने अपनी ३३ पत्नियों का तथा ३२ करोड़ सोनैयों का त्याग करके दीक्षा ग्रहण की और अत्यन्त कठिन तपस्या करके शरीर का दमन किया। अन्त में ३३ ही जीव काल करके अनुत्तरविमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से एक भव करके मोक्ष जाएँगे। इस सूत्र में पहले ९४०४००० पद थे, जिनमें से अब सिर्फ २९२ श्लोक ही उपलब्ध हैं।

[१०] प्रश्नव्याकरण—इस सूत्र के दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतकंध

के पाँच आस्रवद्वारों के पाँच अध्ययन हैं। उनमें हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का वर्णन है। दूसरे श्रुतस्कंध में संवरद्वार के पाँच अध्ययन हैं। इन में दया के ६० नाम बतलाये गये हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यह पाँच संवर के भेद और गुण बतलाये गये हैं। पहले इस सूत्र के ९३११६००० पद थे। आजकल १२५० श्लोक ही उपलब्ध हैं।

[११] विपाकसूत्र—इसके दो श्रुतस्कंध हैं। पहला दुःखविपाक और दूसरा सुखविपाक। पहले श्रुतस्कंध में मृगा लोढ़ीया आदि पापी जीवों का वर्णन है और बतलाया गया है कि पापकर्म का फल कितना भयानक होता है! दूसरे सुखविपाक श्रुतस्कंध में सुबाहुकुमार वगैरह दस पुण्यशाली पुरुषों का वर्णन है, जिन्होंने दान पुण्य तप संयम का सेवन करके सुख प्राप्त किया है। इस विपाकसूत्र के पहले १२४००००० पद और ११० अध्ययन थे। आजकल सिर्फ १२१६ श्लोक हैं। इस प्रकार ११ अंग थोड़े-बहुत अंशों में विद्यमान हैं।

[१२] दृष्टिवाद—इस बारहवें अंग में पाँच वत्थु [वस्तु] थी। पहली वत्थु के ८८००,००० पद थे। दूसरी वत्थु के ८१०५००० पद, तीसरी वत्थु में चौदह पूर्वों का समावेश था। इन चौदह पूर्वों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

[१] उत्पादपूर्व—में छह द्रव्यों का वर्णन था। इस पूर्व में छह वत्थु थीं; ११०००००० पद थे।

[२] अग्रायणीय पूर्व—में द्रव्य, गुण, पर्याय का वर्णन था। इस पूर्व में १४ वत्थु थीं और २२०००००० पद थे।

(३) वीर्यप्रवाद पूर्व—में सब जीवों के बल, वीय, पुरुषाकार, पराक्रम संबंधी वर्णन था। इस पूर्व में ८ वत्थु थीं और ४४०००००० पद थे।

(४) अस्ति-नास्तिप्रवाद पूर्व—में शाश्वती और अशाश्वती वस्तुओं का स्वरूप निरूपित किया था। इसमें १६ वत्थु और ८८०००००० पद थे।

(५) ज्ञानप्रवादपूर्व—में पांच ज्ञानों का वर्णन था। इसमें बारह वत्थु और १७६०००००० पद थे।

(६) सत्यप्रवाद पूर्व—में दस प्रकार के सत्य की प्ररूपणा थी। इनमें दो वत्थु और २५२०००००० पद थे।

(७) आत्मप्रवाद पूर्व—इसमें आत्मा संबंधी विवेचन था। इसमें १६ वत्थु और ३०४०००००० पद थे।

(८) कर्मप्रवाद पूर्व—में आठ कर्मों का वर्णन था। इस पूर्व में आठ वस्तु और ६०८०००००० पद थे।

(९) प्रत्याख्यानपूर्व—में दस प्रत्याख्यान के ९ करोड़ भेदों का विवरण था। इस में २० वस्तु और १२१६०००००० पद थे।

(१०) विद्याप्रवाद पूर्व—में रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ थीं, विधि-युक्त मंत्र आदि थे। इस पूर्व में १५ वस्तु और २५२०००००० पद थे।

(११) कल्याणप्रवाद पूर्व—में तप और संयम आदि से आत्मा का किस प्रकार कल्याण हो सकता है, इस विषय का वर्णन था। इस पूर्व में १२ वत्थु और ४८६४०००००० पद थे।

(१२) प्राणप्रवाद पूर्व—में चार प्राण से लेकर दस प्राण वाले जीवों का वर्णन था। इसमें १३ वत्थु और ९७२७०००००० पद थे।

(१३) क्रियाविशाल पूर्व—में साधु और श्रावक के आचारगोचर का, तथा क्रियाओं का वर्णन था। इसमें ३० वत्थु और एक कोड़ाकोड़ी और एक करोड़ पद थे।

(१४) लोकबिन्दुसार पूर्व—में सब अक्षरों के सन्निपात (उत्पत्तिसंयोग) का और सर्व लोक के सार-सार पदार्थों का निरूपण था। इसमें २५ वत्थु और कोड़ाकोड़ी तीन करोड़ तथा दस लाख पद थे।

कहते हैं पहले पूर्व को लिखने में इतनी स्याही की आवश्यकता पड़ती थी कि उसमें एक हाथी डूब जाय। दूसरे पूर्व को लिखने में दो हाथी डूबने

जितनी स्याही, तीसरे पूर्व को लिखने में चार हाथी डूबने जितनी स्याही; इस प्रकार द्विगुणित करते-करते चौदहवें पूर्व को लिखने में ८१९२ हाथी डूब जाएँ, इतनी स्याही की आवश्यकता थी। इस हिसाब से चौदह पूर्व लिखने में इतनी स्याही अपेक्षित थी कि उसमें १६३८३ हाथी डूब जाएँ।

बारहवें दृष्टिवाद अंग की पाँच वस्तुओं में से तीसरी वस्तु में पूर्वोक्त १४ अंगों का समावेश होता था। चौथी वस्तु में छह विषयों का समावेश था—पहले विषय के पाँच हजार पद थे। दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे विषय के पृथक्-पृथक् बीस करोड़, अठानवे लाख, नौ हजार, दो सौ पद थे। दृष्टिवाद अंग की पाँचवीं वस्तु चूलिका कहलाती है। इसमें दस करोड़, उनसठ लाख, सैंतालीस हजार पद थे। इतने विशाल और महान् दृष्टिवाद अंग का विच्छेद होने के कारण जैनधर्म की और जैनसाहित्य की अतीव हानि हुई है। यह अंग धर्मज्ञान का अक्षय भंडार था। खेद है कि इस अंग का कोई भी भाग अब उपलब्ध नहीं है।

जिस समय यह बारह अंग पूर्ण रूप से विद्यमान थे, उस समय उपाध्यायजी इन सब में पारंगत होते थे। आजकल ग्यारह अंगों का जितना—जितना भाग अवशेष रहा है, उसके ज्ञाता और पाठक को उपाध्याय कहते हैं।

द्वादश उपांग



जैसे शरीर के उपांग हाथ-पैर आदि होते हैं, उसी प्रकार ग्यारह अङ्गों के बारह उपांग हैं। जिस अङ्ग में जिस विषय का वर्णन किया गया है, उस विषय का आवश्यकतानुसार विशेष कथन उसके उपांग में है। उपांग एक प्रकार से अङ्गों के स्पष्टीकरण रूप परिशिष्ट भाग हैं। बारह उपांगों का संक्षिप्त दिग्दर्शन इस भाँति है:—

(१) उववाई—यह आचारांगसूत्र का उपांग है। इसमें चम्पानगरी, कोणिक राजा, श्री महावीर प्रभु, साधुजी के गुण, तप के १२ प्रकार,

तीर्थङ्कर भगवान् के समवसरण की रचना, चार गतियों में जाने के कारण, दस हजार वर्ष की आयु से लेकर मुक्ति प्राप्त होने तक की क्रिया, समुद्घात, मोक्ष-सुख आदि-आदि वि यों का खूब विस्तार के साथ निरूपण किया या है। इस उपांग के मूल श्लोक ११६७ हैं।

(२) रायपसेणी—यह सूत्रकृतांगसूत्र का उपांग है। इसमें श्री पार्श्वनाथ भगवान् की परम्परा के साधु श्रीकेशी स्वामी के साथ श्वेतांबिकानगरी के नास्तिक राजा परदेशी (प्रदेशी) का संवाद❀ है। इसके मूल श्लोक २०७८ हैं।

❀ केशी स्वामी और प्रदेशी राजा का संवाद अत्यन्त बोधप्रद और उपयोगी है। अतएव उसका संक्षेप में सार दिया जाता है:—

श्वेतांबिका नगरी के राजा प्रदेशी के प्रधान का नाम चित्त था। एक वार चित्त प्रधान भेट लेकर श्रावस्ती के राजा जितशत्रु के समीप गया। चित्त ने श्रावस्ती में केशी स्वामी का धर्मोपदेश सुना और उससे प्रभावित होकर श्रावक के व्रत अंगीकार कर लिए। चित्त प्रधान ने केशी स्वामी से श्वेतांबिका नगरी में पधारने की प्रार्थना की जिससे वहाँ के नास्तिक राजा प्रदेशी को धर्मबोध प्राप्त हो सके और दया मार्ग का प्रभाव बढ़े। उपकार होने की संभावना देखकर यथासमय केशी स्वामी श्वेताम्बिका नगरी पधारे। चित्त प्रधान को जब यह समाचार मिला तो वह नास्तिक राजा को घोड़ा फिराने के बहाने केशी स्वामी के पास लाया। साधु को देखकर, राजा ने चित्त प्रधान से पूछा—'यह कौन है ?' प्रधान ने उत्तर दिया—'वह जीव और शरीर को अलग-अलग मानने वाले साधु हैं। यह अत्यन्त गूढ़ ज्ञानी हैं और उत्तम उपदेश करते हैं, ऐसा मैंने सुना है।'

प्रधान का उत्तर सुन कर प्रदेशी राजा को कुतूहल हुआ। वह उसी समय केशी स्वामी के पास आया और प्रश्नोत्तर करने लगा। वह प्रश्नोत्तर सार रूप में इस प्रकार हैं:—

राजा—क्या आप जीव और शरीर को अलग-अलग मानते हैं ?

मुनि—राजन् ! तुम मेरे चोर हो।

राजा—(चौंक कर) क्या मैं, और चोर हूँ ? मैंने तो कभी किसी की चोरी नहीं की है !

मुनि—क्या तुम अपने राज्य में चुंगी न चुकाने वाले को चोर नहीं मानते हो ?

[चतुर राजा तत्काल समझ गया कि मैंने मुनि को वंदना नहीं की है। मेरा यह व्यवहार चुंगी न चुकाने के ही समान है, यही मुनिजी का आशय है। यह समझ कर राजा ने मुनि को यथोचित वन्दना की और फिर कहा]

राजा—महाराज, यहाँ बैठूं ?

मुनि—यह पृथ्वी तुम्हारे अधिकार में है ?

[यह विचित्र और प्रभावशाली उत्तर सुनकर राजा को विश्वास हो गया कि यह

(३) जीवाभिगम—यह श्री ठाणांगसूत्र का उपांग है, जिसमें अढ़ाई द्वीप, चौबीस दंडक, विजय पोलिया वगैरह का वर्णन है। इसके मूल श्लोक ४७०० हैं।

(४) श्रीपन्नवणा—यह श्री समवायांग सूत्र का उपांग है। इसके छत्तीस पदों में, समस्त लोक के जीव-अजीवमय जो पदार्थ हैं, उनका

साधु कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। इनसे मेरी शंका का समाधान अवश्य होगा।]

राजा—क्या आप जीव और शरीर को अलग-अलग मानते हैं?

मुनि—हाँ, मृत्यु होने पर शरीर के भीतर रहने वाला जीव अन्यत्र जाकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है और पहले के पुण्य-पाप का फल भोगता है।

राजा—मेरे दादा बहुत पापी थे। आपके कथनानुसार तो वे नरक में गये होंगे और वहाँ बहुत दुःख भोगते होंगे! अगर वे यहाँ आकर मुझे चेताएँ कि—'बेटा! पाप न कर, पाप न कर। पाप करेगा तो तुझे भी मेरी ही तरह नरक के दुःख भुगतने पड़ेंगे' तो मैं मानूँ कि जीव और शरीर अलग-अलग हैं।

मुनि—तुम अपनी सूर्यकान्ता रानी के साथ किसी पापी मनुष्य को व्यभिचार करते देखो तो उस समय क्या करो?

राजा—उसी समय और उसी जगह उसकी जान ले लूं।

मुनि—कदाचित् वह मनुष्य हाथ जोड़ कर प्रार्थना करे कि—'राजन्! मुझे थोड़ी देर के लिए छुट्टी दीजिए। मैं अपने लड़के को उपदेश देकर आता हूँ कि वह व्यभिचार का सेवन न करे और करेगा तो दुखी होगा' इस प्रकार कह कर लौट आऊँगा और सजा भुगत लूँगा। तो क्या तुम उस पापी को थोड़ी देर के लिए छोड़ दोगे?

राजा—ऐसा कौन मूर्ख होगा जो अपराधी के कहने का भरोसा कर ले!

मुनि—जब तुम एक पाप करने वाले को, अपनी ही राज्यसीमा के भीतर, जाकर आने की, थोड़ी-सी देर की भी छुट्टी नहीं दे सकते, तो अनेक पाप करने वाले तुम्हारे दादा को इतनी दूर आने की छुट्टी कैसे मिल सकती है?

राजा—ठीक है, पर मेरी दादी ने बहुत धर्म किया था। उन्हें धर्म का बहुत उत्तम फल मिला है, यह बताने के लिए स्वर्ग छोड़कर क्यों नहीं आतीं?

मुनि—अगर कोई भंगी तुम्हें अपनी दुर्गन्धमय गंदी झोपड़ी में बुलाना चाहे तो क्या तुम जाना पसंद करोगे?

राजा—आपका यह प्रश्न बड़ा विचित्र है! मैं राजा होकर दुर्गंध के भंडार रूप अपवित्र झोपड़ी में पैर कैसे दे सकता हूँ?

मुनि—तो तुम्हारी दादी स्वर्ग के अनुपम सुखों में मग्न हैं। दुर्गंध वाले इस मनुष्य

स्वरूप, बासठिया, अल्प-बहुत्व, भांगे आदि नाना प्रकार से बतलाये गये हैं। इस सूत्र में से सैकड़ों थोकड़े निकलते हैं। इसके मूल श्लोक ७७८७ हैं।

लोक की दुर्गंध ६०० योजन ऊपर तक असर करती है।

राजा—ठीक, इस बात को जाने दीजिए। मैं दूसरा प्रश्न पूछता हूँ। एक बार मैंने एक अपराधी को लोहे की कोठी में बंद कर दिया। कोठी चारों ओर से मजबूती के साथ बंद कर दी गई थी। थोड़ी देर के बाद कोठी खोल कर देखी गई तो अपराधी की मृत्यु हो चुकी थी। मगर उसके शरीर में से जीव को निकलता मैंने कहीं नहीं देखा। अगर जीव अलग होता तो कोठी में से कहाँ से और कैसे निकल गया होता?

मुनि—किसी गुफा का दरवाजा मजबूती के साथ बंद करके कोई आदमी जोर से ढोल बजावे तो ढोल की आवाज बाहर आती है या नहीं?

राजा—आती है।

मुनि—इसी प्रकार देह रूपी गुफा में से जीव निकल जाता है, पर वह दृष्टिगोचर नहीं होता। परमज्ञानी महात्मा ही अपने दिव्य ज्ञान से उसे जान—देख सकते हैं।

राजा—एक चोर को मैंने कोठी में बंद करवाया था। कोठी चारों ओर से अच्छी तरह बंद कर दी थी। बहुत दिन बीत जाने पर मैंने उस चोर को बाहर निकलवाया। देखा, उसके शरीर में असंख्य कीड़े पड़ गये थे। बतलाइए, बंद कोठी में कीड़े कैसे घुस गये?

मुनि—लोहे के ठोस गोले को आग में तपाया जाय तो उसमें चारों ओर से जिस प्रकार अग्नि प्रवेश करती है, उसी प्रकार बंद कोठी में, चोर के शरीर में कीड़े उत्पन्न हो गये अर्थात् बाहर से आकर जीव कीड़े के रूप में उत्पन्न हो गये।

राजा—जीवात्मा सदा एक सरीखा रहता है या छोटा-बड़ा, कम-ज्यादा भी होता है?

मुनि—जीवात्मा स्वयं सदैव एक समान ही रहता है।

राजा—ऐसा है तो जवान आदमी के हाथ से जिस प्रकार बाण छूटता है, उसी प्रकार बूढ़े आदमी के हाथ से—उसके बूढ़े हो जाने पर—क्यों नहीं छूटता?

मुनि—जैसे नवीन धनुष पर बाण चढ़ाकर फेंका जाय तो वह जितनी दूर जाता है, उतनी दूर पुराने धनुष पर चढ़ाया बाण नहीं जाता, यही बात जवान और बूढ़े आदमी के संबंध में समझना चाहिए।

राजा—जवान आदमी जितना बोझ उठा सकता है, उतना बूढ़ा नहीं उठा सकता इसका क्या कारण है?

मुनि—नवीन छींका जितना वजन सहार सकता है, उतना पुराना नहीं। यही बात जवान और बूढ़े के बोझ उठाने के संबंध में समझना चाहिए।

राजा—मैंने एक जीवित चोर को तुलवाया। फिर उसके गले में फाँसी लगाई गई और उसके मर जाने पर उसे फिर तुलवाया। उसका वजन पहले जितना ही था। जीव

(५) श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—यह भगवतीसूत्र का उपांग है। इसमें जम्बूद्वीप के क्षेत्र, पर्वत, द्रह, नदी-आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन है।

और शरीर को अलग-अलग मानें तो शरीर में से जीव निकल जाने के पश्चात् वजन कम हो जाना चाहिए।

मुनि—चमड़े की मशक को पहले हवा भर कर तोला जाय और फिर हवा निकाल कर तोला जाय, तो दोनों बार का तोल बराबर रहता है। यही बात जीव के संबंध में समझनी चाहिए।

राजा—एक चोर को टुकड़े-टुकड़े करके मैंने देखा तो कहीं भी जीव दिखाई नहीं दिया। फिर शरीर में जीव कहाँ रहता है?

मुनि—राजन्! तुम एक लकड़हारे के समान मालूम होते हो। एक बार कितनेक लकड़हारे लकड़ियाँ काटने के लिए जंगल में गये। उन्होंने अपने में से एक लकड़हारे को एक जगह बैठाकर कहा—भाई, तू यहाँ बैठना। अरणि की इस लकड़ी में से अग्नि सुलगा कर भोजन तैयार करना। हम सब लकड़ियाँ काट कर आएँगे तो अपनी लकड़ियों में से तुझे हिस्सा देंगे। यह कह कर सभी लकड़हारे चले गये। उनके चले जाने पर वहाँ रहे हुए लकड़हारे ने अग्नि जलाने के लिए अरणि-काष्ठ के टुकटे-टुकड़े कर डाले, मगर उसे उसमें कहीं आग नजर नहीं आई। आखिर दूसरे लकड़हारे लौट कर आये। उस मूर्ख लकड़हारे को अरणि के टुकड़े करते और उसमें आग खोजते देखकर हँस पड़े। इसके बाद उन्होंने अरणि की लकड़ियों को आपस में रगड़ कर आग उत्पन्न की और रसोई बनाई। राजन्, तुम भी उस मूर्ख लकड़हारे सरीखे जान पड़ते हो।

राजा—मुनिराज! मेरी समझ में तो कुछ आता नहीं है। कोई प्रत्यक्ष उदाहरण देकर मुझे समझाइए कि शरीर में जीव है और वह शरीर से भिन्न है!

मुनि—ठीक, सामने खड़े हुए इस वृक्ष के पत्ते किसकी प्रेरणा से हिल रहे हैं?

राजा—हवा से।

मुनि—वह हवा कितनी बड़ी है और उसका रंग कैसा है?

राजा—हवा दिखाई तो देती नहीं है, फिर आपके प्रश्न का उत्तर कैसे दिया जा सकता है?

मुनि—जब हवा दिखाई नहीं देती, तब कैसे जाना कि हवा है?

राजा—पत्तों के हिलने से।

मुनि—तो बस, शरीर के हिलने-डुलने आदि क्रियाओं से जीव का अस्तित्व भी स्वीकार कर लेना चाहिए।

राजा—महाराज! आप कहते हैं कि सब जीव सरीखे हैं तो चींटी छोटी और

इसके अतिरिक्त छह आरा, जुगलिया मनुष्य, श्री ऋषभदेव भगवान्, भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड साधने की रीति, नव निधान, चौदह रत्न, ज्योतिष-चक्र आदि का खूब विस्तृत वर्णन है। इसके मूलश्लोक ४१४६ हैं। पहले इस उपांग के ३०५००० पद थे।

हाथी बड़ा कैसे हो सकता है ?

मुनि—एक दीपक को कटोरे से ढँक दिया जाय तो वह कटोरे जितनी जगह में ही प्रकाश करता है; उसी दीपक को महल में रख दिया जाय तो महल जितने क्षेत्र में प्रकाश फैलाता है। उस समय दीपक की जोत कुछ कम-बढ़ नहीं जाती। वह एक सरीखी ही बनी रहती है। इसी प्रकार जीव जितने छोटे-बड़े शरीर में प्रवेश करता है, उतने में ही समा जाता है।

राजा—मुनिवर! आपका कथन न्याययुक्त है, लेकिन मेरे बाप-दादाओं से जो धर्म मेरे परिवार में चला आया है, उसे मैं कैसे छोड़ दूं ?

मुनि—अगर नहीं छोड़ सकते तो तुम्हारी भी वही दशा होगी जो लोह-वणिक् की हुई थी।

राजा—लोह-वणिक कौन ? उसकी दशा क्या हुई थी ?

मुनि—सुनिये। एक बार चार वणिक् धन कमाने के लिए परदेश चले। रास्ते में एक जगह लोहे की खान मिली। चारों ने उसमें से लोहे की गठड़ियां बांध लीं, कुछ आगे चलें,तो तांबे की खान मिली। उस खान को देख कर तीन वणिकों ने लोहा फैंक दिया और तांबे की गठड़ी बाँध ली। चौथा बोला—अपने राम ने तो जो बाँध लिया सो बाँध लिया। इस प्रकार वह लोहे की गठड़ी ही बाँधे रहा। कुछ और आगे जाने पर चांदी की और फिर सोने की खान मिली। उस समय तीनों ने तांबे की जगह चांदी की और फिर चाँदी छोड़कर सोने की गठड़ियाँ बाँध लीं। अन्त में जब हीरा-माणिक की खान मिली तो सोने की गठड़ी त्याग कर हीरा-माणिक की गठड़ी बाँध ली। यह कमाई करके वे बहुत सुखी हुए। मगर उस लोहवणिक् ने अन्त तक लोहे की गठड़ी नहीं छोड़ी। वह लोहे का भार लाद कर वृथा ही दुखी हुआ और गरीब ही बना रहा। इसी प्रकार राजन्, अगर तुम कदाग्रह रख कर अपने बाप-दादा का धर्म नहीं छोड़ोगे तो दुःखी होओगे।

मुनि श्री केशी श्रमण का कथन सुन कर राजा प्रदेशी ने जैनधर्म अंगीकार किया। फिर उसने अपनी लक्ष्मी के चार विभाग किये और उनमें से एक भाग धर्मदान के लिए रख लिया। उसने बेले-बेले की तपस्या आरम्भ की। महाराज केशी श्रमण वहाँ से विहार कर चले गए। रानी सूर्यकान्ता ने अपने स्वामी को धर्म में दृढ़ समझ कर और संसार के भोग-विलासों से विरक्त देखकर सोचा कि अब हमारे लिए यह निरुपयोगी है। यह सोचकर उस पापिनी ने अपने पति को तेरहवें बेले के पारणे के समय विष खिला दिया। राजा को विष

(६) श्रीचन्द्रप्रज्ञप्ति—यह ज्ञाता सूत्र का उपांग है। इसमें चन्द्रमा के विमानों, मांडलों, गति, नक्षत्र, योग, ग्रहण, राहु, चन्द्र के पांच संवत्सर आदि विषयों का वर्णन है। इसके मूल श्लोक २२०० हैं। पहले इसके ५५०००० पद थे।

(७) श्रीसूर्यप्रज्ञप्ति—यह भी ज्ञातासूत्र का ही दूसरा उपांग है। इसमें सूर्य के विमान, १८४ मांडलों का दक्षिणायन, उत्तरायण, पर्वराहु, गणितांक (१९४ संख्या के नामों की गिनती), दिनमान, सूर्य संवत्सर आदि का वर्णन है। इसके मूल श्लोक २२०० हैं। पहले ३५०००० पद थे।

(८) निरयावलिका—यह श्री उपासकदशांग का उपांग है। इसके दस अध्ययन हैं। इनमें श्रेणिक राजा के काल, सुकाल आदि दस कुमारों का वर्णन है। श्रेणिक का पुत्र कोणिक अपने पिता को मार कर राजा बना। उसके बाद अपने छोटे भाई विहल्लकुमार के पास से हार और सिंचानक हाथी बलात्कार पूर्वक छीन लेने को तैयार हुआ। विहल्लकुमार अपने नाना राजा चेटक की शरण में गया। दोनों भाइयों के बीच घोर संग्राम हुआ। चेटक राजा ने अपने धर्ममित्र ९ मल्ली और ९ लच्छी इस प्रकार १८ राजाओं के ५७ हजार हाथी, घोड़ा, रथ और ५७ करोड़ पैदल सैनिकों के साथ और कोणिक ने अपने १० भाइयों तथा ३३ हजार हाथी, घोड़ा, रथ और ३३ करोड़ पैदल सैनिकों के साथ आमने-सामने युद्ध किया। राजा चेटक ने कोणिक के दसों भाइयों को मार डाला। इसके बाद कोणिक ने चमरेन्द्र और शक्रेन्द्र की सहायता से रथ-मूसल और महाशिलाकंटक संग्राम किया, जिसमें एक करोड़, अस्सी लाख मनुष्यों के प्राण गये। इन मृतक मनुष्यों में से एक देवगति में; एक मनुष्यगति में और शेष सब नरक या तिर्यञ्च गति में उत्पन्न हुए। हार देवता ले गये और सिंचानक हाथी आग की खाई में पड़कर मर गया। चेटक राजा को भवनपति देव ले गये

दिये जाने की बात विदित हो गई, फिर भी उसने समभाव नहीं त्यागा। समाधिभाव में शरीर त्याग करके वह पहले देवलोक के सुर्याभ नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ से चल कर वह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होगा और संयम धारण करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

और विहल्लकुमार ने दीक्षा अंगीकार करके आत्मकल्याण किया । इत्यादि वर्णन इस सूत्र में है।

(९) कप्पवडिंसिया—यह श्री अन्तगड़सूत्र का उपांग है। इसमें दस अध्ययन हैं । इन अध्ययनों में राजा श्रेणिक के पौत्र कालिक आदि दस कुमारों के पुत्र पद्म, महापद्म आदि ने दीक्षा ली और काल करके देव-लोक में उत्पन्न हुए, इत्यादि वर्णन है ।

(१०) पुष्फिया—यह अनुत्तरोववाई सूत्र का उपांग है। दस अध्ययन हैं। इनमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र, मानभद्र आदि की पूर्वभव की करणी का तथा सोमल ब्राह्मण और श्रीपार्श्वनाथ स्वामी का संवाद एवं बहुपुत्रिया देवी का अधिकार है।

(११) पुप्फचूलिया—यह प्रश्नव्याकरण सूत्र का उपांग है । इसमें १२ अध्ययन हैं। उनमें श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रसा और गंधा देवी का—जो पार्श्वनाथ भगवान् की साध्वियां थीं और जो संयम की विराधना करके देवियां हुईं—वर्णन है।

(१२) वह्निदशा—यह विपाक सूत्र का उपांग है। इसके दस अध्ययन हैं। इसमें बलभद्रजी के निषढ कुमार आदि का वर्णन है । वे संयम धारण करके अनुत्तर विमान में देव हुए।

(निरयावलिया, कप्पवडिंसिया, पुष्फिया और वह्निदशा-इन उपांगों का एक यूथ है। यह यूथ 'निरयावलिका' नाम से प्रसिद्ध है । इसके मूल श्लोक ११०९ हैं।

चार छेदसूत्र



(१) व्यवहारसूत्र—इसमें साधु के आचार-व्यवहार का वर्णन है। ६०० श्लोकपरिमित है।

(२) बृहत्कल्पसूत्र—इसमें साधु के लिए वस्त्र, पात्र और मकान का परिमाण बतलाया है। मूल श्लोक ४३७ हैं।

(३) निशीथसूत्र—इसमें साधु को प्रायश्चित्त देने की विधि है। मूल श्लोक ८१५ हैं।

(४) दशाश्रुतस्कन्ध—इसमें असमाधि, शबल दोष, सात निदान (नियाणा) आदि का अधिकार है। मूल श्लोक १८३० हैं।

यह चार सूत्र छेदसूत्र कहलाते हैं। कोई-कोई पंचकल्प और जीतकल्प नामक दो सूत्रों को इसमें मिलाकर छह छेदसूत्र कहते हैं। किन्तु पंचकल्प और जीतकल्प के नाम नंदीसूत्र में नहीं पाये जाते हैं।

चार मूलसूत्र



जैसे वृक्ष का मूल दृढ़ हो तो वह चिरकाल तक टिका रहता है और अच्छे फल देता है, उसी प्रकार नीचे बतलाये हुए चार सूत्रों के पठन-श्रवण से सम्यक्त्व-वृक्ष का मूल दृढ़ होता है। इसी अभिप्राय से इन्हें मूल सूत्र कहते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) दशवैकालिक—इस सूत्र के दस अध्ययन हैं। पहले अध्ययन में धर्म की महिमा और धर्माचरण करने वाले का कर्त्तव्य बतलाया गया है। दूसरे अध्ययन में ब्रह्मचर्य की महिमा और साधु का मन स्थिर करने का उपाय बतलाया है। तीसरे अध्ययन में ५२ अनाचरण, चौथे अध्ययन में छह कायों का, पांच महाव्रतों का, ज्ञान से दया और दया से क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह वर्णन है। पाँचवें अध्ययन में साधु के आहार ग्रहण करने के नियमों का वर्णन है। छठे अध्ययन में साधु को १८ स्थान अनाचरणीय बतलाये हैं। सातवें अध्ययन में भाषा समिति की विधि है। आठवें अध्ययन में आत्मा को तारने का विविध प्रकार का उपदेश है। नौवें अध्ययन में विनय और अविनय का फल, दृष्टान्त, तथा विनीत के

लक्षण बतलाये हैं। दसवें अध्ययन में साधु का कर्त्तव्य समझाया है। दशवैकालिक सूत्र के ७०० श्लोक हैं।

(२) उत्तराध्ययनसूत्र—इसके ३६ अध्ययन हैं। पहले अध्ययन में विनीत के लक्षण, विनय की विधि और फल बतलाया है। दूसरे में २२ परीषह सहन करने की विधि उपदेश सहित बतलाई है। तीसरे में मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में बल-पराक्रम इन चार अंगों की दुर्लभता का प्ररूपण है। चौथे में प्रमाद के परित्याग की प्ररूपणा है। वैराग्य-रस से यह अध्ययन भरपूर है। पाँचवें में सकाम-अकाम मरण, छठे में विद्यावान् और अविद्यावान् का लक्षण, सातवें में बकरे का उदाहरण देकर रसलोलुप न बनने का उपदेश है। आठवें अध्ययन में कपिल के आख्यान द्वारा तृष्णा के त्याग का सुन्दर उपदेश है। नौवें में नमि राजर्षि और शक्रेन्द्र का संवाद है। दसवें में आयु की अस्थिरता का चित्र खींचा गया है। ग्यारहवें में विनीत-अविनीत के लक्षण और बहुश्रुत के लिए १६ उपमाएँ दी गई हैं। बारहवें में चाण्डाल जाति में उत्पन्न हरिकेशी अनगार के तप की महिमा, उनका ब्राह्मणों के साथ संवाद और जाति के बदले गुण-कर्म की महत्ता का प्रतिपादन है। ब्राह्मण संस्कृति और जैन संस्कृति का अन्तर समझने के लिए यह अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। तेरहवें अध्ययन में चित्तमुनि और ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती के छह भवों के सम्बन्ध का और चित्तमुनि द्वारा किये हुए उपदेश का वर्णन किया है। चौदहवें में इषुकार राजा, कमलावती रानी, भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी और दो पुत्र—इन छह जीवों का अधिकार है। पन्द्रहवें में साधु का कर्त्तव्य, सोलहवें में ब्रह्मचर्य की नौ वाड़ और दसवें कोट का स्वरूप है। सत्तरहवें में पापश्रमण—कुसाधु के लक्षण हैं। अठारहवें में संयति राजा का वर्णन है। संयति राजा जब शिकार के लिए गया तो गर्धभाली मुनि से उनकी भेंट हुई। मुनि के उपदेश से राजा को बोध की प्राप्ति हुई। वह दीक्षित हुआ। इसमें चक्रवर्त्ती बलदेव आदि राजाओं का गुण-कथन भी है। उन्नीसवें अध्ययन में मृगापुत्र का माता-पिता के साथ संवाद है। उसमें संयम की दुष्करता और दुर्गति के दुःखों का हृदयद्रावक निरूपण है। बीसवें में अनाथी मुनि और श्रेणिक राजा का संवाद वर्णित

है। इक्कीसवें में पालित श्रावक के पुत्र समुद्रपाल के वैराग्य का और आचार का वर्णन है। बाईसवें में नेमिनाथ भगवान् द्वारा प्राणियों की रक्षा के लिए राजीमती के परित्याग का वर्णन है। राजीमती ने किस प्रकार रथनेमि को संयम में दृढ़ किया, यह भी वर्णन किया है। तेईसवें अध्ययन में पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रीकेशी श्रमण और गौतम गणधर के संवाद का वर्णन है। चौबीसवें में पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों का वर्णन है। पच्चीसवें अध्ययन में जयघोष ऋषि, विजयघोष ब्राह्मण को यज्ञ की हिंसा से बचाते हैं, यह वर्णन है। छब्बीसवें में साधु की दस समाचारी और प्रतिक्रमण की विधि बतलाई गई है। सत्ताईसवें में गर्गाचार्य द्वारा दुष्ट शिष्यों के परित्याग का वृत्तान्त है। अट्ठाईसवें में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप और सम्यग्ज्ञान, दर्शन चारित्र तथा तप मोक्ष के मार्ग हैं, यह निरूपण किया गया है। उनतीसवें अध्ययन में ७३ प्रश्नोत्तरों द्वारा धर्मकृत्य के फल का वर्णन है। तीसवें में १२ प्रकार के तप का वर्णन है। इकतीसवें में चारित्र के गुण बतलाये गये हैं। बत्तीसवें में प्रमादस्थान—पाँच इन्द्रियों को जितने का उपदेश है। तेतीसवें में कर्मप्रकृति, कर्मस्थिति, अनुभाग और प्रदेश का कथन है। चौतीसवें में छह लेश्याओं के ११ द्वार वर्णित हैं। पैंतीसवें में साधु के गुणों का निरूपण है। छत्तीसवें अध्ययन में जीव के ५६३ भेदों का, अजीव के ५६० भेदों का और सिद्ध भगवान् के स्वरूप का वर्णन है।

भगवान् महावीर ने मोक्ष पधारते समय १८ देशों के राजा आदि परिषद् के समक्ष विपाक के ११० और उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों का १६ प्रहर पर्यन्त व्याख्यान किया था। उत्तराध्ययन २१०० श्लोकपरिमित है।

(३) नन्दीसूत्र—इसमें सर्वप्रथम स्थविरावली का वर्णन है। भ० महावीर के पश्चात् होने वाले—उनके पट्टधर २७ आचार्यों का वर्णन है। योग्य-अयोग्य श्रोताओं का कथन है। पाँच ज्ञानों का, चार बुद्धियों का वर्णन है। शास्त्रों की नामावली भी इसमें दी गई है।

(४) अनुयोगद्वार—इसमें ४ योग, ४ प्रमाण, ७ नय और ४ निक्षेप आदि का तात्त्विक विवेचन है। इसके मूल श्लोक १८९९ हैं।

इस प्रकार ११ अंग, १२ उपांग, ४ छेद ४ मूल सूत्र मिलकर ३१ और एक आवश्यकसूत्र (जिसमें मूल श्लोक १०० हैं) मिलकर कुल ३२ सूत्र प्रमाणभूत गिने जाते हैं।

श्रीनन्दीसूत्र में, ७२ सूत्रों के नामों का उल्लेख है। उनमें ४१ सूत्र कालिक हैं। उनके नाम यह हैं:—(१) श्रीआचारांग (२) श्रीसूयगडांग (३) श्रीठाणांग (४) श्रीसमवायांग (५) श्रीभगवती (६) श्रीज्ञाता (७) श्रीउपासकदशांग (८) श्रीअन्तगडदशांग (९) श्रीअनुत्तरोववाई (१०) श्रीप्रश्नव्याकरण (११) श्रीविपाक (१२) श्रीउत्तराध्ययन (१३) श्रीदशाकल्प (१४) श्रीव्यवहार (१५) श्रीनिशीथ (१६) श्रीमहानिशीथ (१७) श्रीऋषिभाषित (१८) श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (१९) श्रीद्वीपसागरप्रज्ञप्ति (२०) श्रीचन्द्रप्रज्ञप्ति (२१) श्री खुड्डियाविमानविभक्ति (२२) महल्लियाविमानविभक्ति (२३) श्रीअंगचूलिया (२४) श्रीबंगचूलिया (२५) श्रीविवाहचूलिया (२६) श्रीअरुणोववाय (२७) श्रीवरुणोववाय (२८)श्रीगरुडोववाय (२९) श्रीधरणोववाय (३०) वेसमणोववाय (३१) वेलंधरोववाय (३२) देविंदोववाय (३३) उट्ठानसुए (३४) समुट्ठाणसुए (३५) नागपरियावलियाओ (३६) निरियावलियाओ (३७) कप्पियाओ (३८) कप्पवडंसियाओ (३९) पुप्फियाओ (४०) पुप्फचूलियाओ (४१) वण्हिदसाओ यह ४१ सूत्र कालिक होने के कारण दिन और रात के पहले और चौथे पहर में पढ़े जाते हैं; शेष समय में नहीं पढ़े जाते।

३० सूत्र उत्कालिक हैं। उनके नाम यह हैं:—(१) दशवैकालिक (२) कप्पियाकप्पियं (३) चुल्लकप्पसुयं (४) महाकप्पसुयं (५) उववाई (६) रायपसेणी (७) जीवाभिगम (८) पन्नवणा (९) महापन्नवणा (१०) पमायापमाय (११) नंदी (१२) अनुयोगद्वार (१३) देवेन्द्रस्तव (१४) तन्दुलवेयालिय (१५) चंदाविज्झाय (१६) सूरपण्णत्ति (१७) पोरसीमंडल (१८) मंडलप्रवेश (१९) विद्याचरणविणिच्छओ (२०) गणिविद्या (२१) ध्यानविभक्ति (२२) मरणविभक्ति (२३) आत्मविशोधि (२४) वीतरागश्रुत (२५) संलेखनाश्रुत (२६) विहारकल्प (२७) चरणविधि (२८) आउरपच्चक्खाण (२९) महापच्चक्खाण (३०) दृष्टिवाद। यह ३० सूत्र उत्कालिक होने के कारण बत्तीस प्रकार का असज्झाय टालकर किसी भी समय पढ़े जा सकते हैं।

ऊपर लिखे ४१ कालिक सूत्र और ३० उत्कालिकसूत्र मिलकर ७१ हैं। इनमें आवश्यकसूत्र को मिला देने से ७२ हो जाते हैं। आवश्यक में असज्झाय दोष टालने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

इस प्रकार शास्त्रानुसार ७२ सूत्रों का ऊपर उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ आजकल उपलब्ध ही नहीं हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण 'पक्षीसूत्र' की वृत्ति में निम्न लिखित दिया गया है:—

इस काल में (१) खुड्डियाविमानविभक्ति (२) महल्लियाविमान विभक्ति (३) अंगचूलिया (४) बंगचूलिया (५) विवाहचूलिया (६) अरुणोववाई (७) वरुणोववाई (८) गरुडोववाई (९) धरणोववाई (१०) वेसमणोववाई (११) वेलंधरोववाई (१२) देविंदोववाई (१३) उट्ठाणसुए (१४) समुट्ठाणसुए (१५) नागपरियावलियाओ (१६) कप्पियाकप्पियाणं (१७) असिविसभावणाणं (१८) दिट्ठिविसभावणाणं (१९) चरणभावणाणं (२०) महासुमिणभावणाणं (२१) तेयग्गिनिसग्गाणं, यह २१ कालिक सूत्र आज प्राप्त नहीं हैं। इसके अतिरिक्त (१) कप्पियाकप्पियं (२) चूलकप्पसुयं (३) महाकप्पसुयं (४) महापन्नवणा (५) पमायापमायं (६) पोरसीमंडल (७) मंडलप्रवेश (८) विद्याचरणविणिच्छओ (९) झाणविभक्ति (१०) मरणविभक्ति (११) आयविसोहि (१२) संलेहणासुयं (१३) वीयरागसुयं (१४) विहारकप्पो (१५) चरणविसोहि, यह पन्द्रह उत्कालिक सूत्र भी आजकल उपलब्ध नहीं हैं। मगर इनके नाम से मिलते-जुलते दूसरे सूत्र देखे जाते हैं। जान पड़ता है कि उनकी रचना अर्वाचीन काल के आचार्यों ने की होगी।

कहते हैं, महानिशीथ सूत्र आठ आचार्यों द्वारा रचा गया है। उन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) हरिभद्र (२) सिद्धसेन (३) वृद्धवादी (४) यक्षसेन (५) देवगुप्त (६) यशोधर (७) रविगुप्त (८) स्कंदिलाचार्य।

कितने ही सूत्र बारह वर्ष के भयानक दुर्भिक्ष के समय विच्छिन्न हो गये। दुर्भिक्ष के समय सूत्र भंडारों में यों ही पड़े रहे। कोई सँभालने वाला नहीं मिला। अतः वे दीमक के आहार बन गये। दुर्भिक्ष ने हमारी अपार शास्त्रसम्पत्ति को सदा के लिए विनष्ट कर दिया! अलबत्ता, कतिपय

तत्कालीन आचार्यों ने आगे-पीछे का संबंध जोड़ कर, बीच में जो उन्हें ठीक जँचा वह लिख दिया। कितने ही शास्त्रों को शंकराचार्य के अनुयायियों ने नष्ट किया और कितनेक को यवनों ने नष्ट कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वर्तमान काल में जैन धर्म का सूत्र-आगम बहुत ही थोड़ा शेष रहा है। प्रत्येक काल में और विशेषतया इस काल में शास्त्रज्ञान के जीर्णोद्धार करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

करणसत्तरी



जिस गाथा में उपाध्यायजी के गुणों का निरूपण किया है, उसमें एक पद है—'करणचरणजुओ।' अर्थात् उपाध्यायजी करण के ७० और चरण के ७० बोलों से युक्त होते हैं। चरण का अर्थ है—चारित्र और करण का अर्थ है जिस अवसर पर जो क्रिया करने योग्य हो उसे करना। एक प्रकार से चरण को नित्यक्रिया और करण को नैमित्तिक क्रिया कहा जा सकता है। करण के ७० बोल इस प्रकार हैं—

पिण्डविसोही समिई, भावणा पडिमा इंदियनिग्गहो।
पडिलेहणं गुत्तीओ, अभिग्गहं चेव करणं तु ॥

अर्थात्—४ पिण्डविशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ पडिमा, ५ इन्द्रियनिग्रह, २५ प्रतिलेखना, ३ गुप्ति और ४ अभिग्रह-इस प्रकार करणसत्तरी के ७० बोल हैं। इनमें से १ आहार, २ वस्त्र, ३ पात्र और ४ स्थान निर्दोष ही भोगना चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि है। इसका कथन एषणासमिति में हो चुका है। साधु की बारह प्रतिमाओं का कथन कायक्लेश तप में किया जा चुका है। इन्द्रियनिग्रह का वर्णन प्रतिसंलीनता तप में आ गया है। प्रतिलेखना का कथन चौथी समिति में हो गया और तीन गुप्तियों का कथन चारित्राचार में आगया है। शेष १२ भावनाओं का और चार अभिग्रहों का स्वरूप यहाँ दिया जाता है।

बारह भावना

●

(१) अनित्य भावना

संसार के पदार्थों की और जीवन की अनित्यता-अस्थिरता-क्षण-भंगुरता का विचार करना अनित्य भावना है। जैसे-जगत् के महल, गढ़, बाग-बगीचा, कुआ, तालाब, दुकान, पशु-पक्षी, आभूषण आदि-आदि समस्त पदार्थ अनित्य हैं। किन्तु हे जीव ! तू अज्ञान में फँसकर मूढ़ बन कर इन सब पदार्थों को शाश्वत-सदा काल रहने वाले माने बैठा है। दूसरे जड़ पदार्थों से सजाकर शरीर को और घर को सुन्दर समझ कर तू खुशी से फूला नहीं समाता। मगर पर-पदार्थों के द्वारा उत्पन्न की हुई शोभा सदा स्थिर नहीं रह सकती। जिन पौद्गलिक भोगोपभोग के साधनों का तू अभिमान करता है और जिन्हें जुटाने में सदा संलग्न रहता है, वे किसी भी क्षण तुझे छोड़ देंगे अथवा तू स्वयं उन्हें छोड़ देने के लिए बाधित होगा। ऐसी अनित्य भावना भरत चक्रवर्त्ती ने भाई थी।

श्रीऋषभदेवजी के पुत्र और सुमंगला रानी के आत्मज श्रीभरत चक्री राजा थे। उनकी राजधानी विनीता नगरी थी। एक दिन महाराज भरतजी सोलहों शृंगार सजकर अपने काच के महल में, अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देख रहे थे। उसी समय हाथ की अंगुली में से अंगूठी निकलकर नीचे गिर पड़ी। अंगूठी के गिर जाने से अंगुली की शोभा बिगड़ गई। अंगुली खराब दिखाई देने लगी। इस घटना पर विचार करते-करते भरतजी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने वास्तविकता को पहचानने के लिए शरीर का एक-एक आभूषण उतारना प्रारंभ किया और फिर वस्त्र भी हटा दिये। अन्त में वे सर्वथा नग्न होकर खड़े हो गये और अपने मन से कहने लगे—देख, तेरा असली स्वरूप तो यह है ! सिर्फ पर-पदार्थों के संयोग से वह शोभा थी। मगर वह पर-पदार्थ अर्थात् पुद्गल तो तेरे हैं नहीं। पुद्गल विनाशशील हैं और आत्मा अविनाशी है। दोनों की प्रकृति निराली है। ऐसी स्थिति में तेरी उनके साथ प्रीति

किस प्रकार टिक सकती है ? आत्मन् ! देख, सोच, विचार कर। अगर तू उन पर-पदार्थों के साथ प्रीति करेगा तो अन्त में अवश्य पछताना पड़ेगा। तेरे देखते-देखते उन पदार्थों का नाश हो जायगा और तू पश्चात्ताप करता रह जायगा कि हाय! मेरी अमुक-अमुक प्यारी वस्तुएँ कहाँ चली गईं? अगर इन पदार्थों के नष्ट होने से पहले तू इन्हें छोड़कर चल दिया तो भी तुझे रोना पड़ेगा। उस स्थिति में तू सोचेगा—अरे रे! कष्ट से उपार्जन की गई इन सब वस्तुओं को छोड़कर मैं अकेला जा रहा हूँ।' इस प्रकार यह मामला बड़ा विचित्र है। भलाई इसी में है कि जब तक तेरा विवेक जागृत है और शरीर में शक्ति विद्यमान है तब तक इन सब नश्वर पदार्थों का, जिनका तू अपने को स्वामी समझता है, जिन्हें अपना समझ रहा है, त्याग कर स्वेच्छा से निकल जा और सच्ची निराकुलता की खोज में लग। भरत चक्रवर्ती के हृदय में इस प्रकार की विचार-तरंगें उत्पन्न हुईं और वह विचार इतने ऊँचे और इतने गहरे बन गये कि उसी समय उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। उसी समय जैनशासन-रक्षक देवों ने आकर उन्हें साधु का वेष रजोहरण, मुँहपत्ति अर्पित किया। साधु-वेष अंगीकार करके वे सभा में आये और उनका उपदेश सुन कर दस हजार बड़े-बड़े राजा दीक्षा लेने को तैयार हुए। उन सबको दीक्षा प्रदान करके, देश-देश में विहार करके अन्त में समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष पधारे।

(२) अशरण भावना



इस प्रकार विचार करना कि—'हे जीव! इस संसार में तेरे लिए कोई शरण नहीं है। जितने भी सगे-सम्बन्धी हैं, सब स्वार्थ के साथी हैं। जब उनका स्वार्थ नहीं सधता तो कोई भी सगा नहीं रहता। कर्म का उदय आने पर जब तू दुःख से घिर जायगा तो सहायता करने के लिए कोई भी सम्बन्धी नहीं फटकेगा। कदाचित् कोई सहायता करना चाहेगा तो भी वह उस दुःख में हिस्सा नहीं बँटा सकेगा। तेरी व्याकुलता को, तेरे रोग को,

तेरी विपदा को कोई भी ग्रहण नहीं कर सकेगा। यह अशरण भावना है। इस प्रकार की अशरण भावना का श्रीअनाथी मुनि ने चिन्तन किया था।

एक बार राजगृही नगरी के श्रेणिक राजा वायु-सेवन करने के लिए अपने मंडिकुक्ष नामक उद्यान में गये। उद्यान में एक वृक्ष के नीचे एक मुनि विराजमान थे। अत्यन्त सुन्दर और मनोहर उनका रूप था। वे शांत, दान्त और ध्यानस्थ थे। मुनि का सौम्य और तेजस्वी रूप देखकर श्रेणिक चकित रह गये। मुनिराज के पास जाकर श्रेणिक ने उन्हें सादर वन्दना की और उत्कंठा के साथ प्रश्न किया—महात्मन्! आप इस भर यौवन में साधु क्यों हुए? मुनिराज ने उत्तर दिया—'राजन्! मैं अनाथ हूँ।'

मुनि का उत्तर सुनकर मगधाधिपति श्रेणिक के हृदय में दया उत्पन्न हुई। उसने कहा—आप अनाथ हैं तो मैं आपका नाथ बनूँगा। आप मेरे दरबार में चलिए। मैं अपनी प्यारी कन्या आपको ब्याह दूंगा और राज्य देकर सुखी बना दूंगा।

मुनि ने शांत और गंभीर स्वर में कहा—राजन्! आप स्वयं अनाथ हैं तो दूसरे के नाथ किस प्रकार बन सकते हैं?

मुनि का यह उत्तर सुनकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—जिसकी अधीनता में तेतीस हजार हाथी, इतने ही घोड़े और इतने ही रथ हैं, तेतीस करोड़ पैदल सैनिक जिसकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं, जिसकी पाँच सौ रानियाँ हैं, एक करोड़ इकहत्तर लाख ग्रामों पर जिसका शासन चलता है, उस मगध के स्वामी श्रेणिक को आप अनाथ कहते हैं! क्या इससे आपको मृषावाद का दोष नहीं लगा?

मुनि ने मधुर ध्वनि में कहा—राजन्! आप अनाथ और सनाथ का वास्तविक भेद नहीं समझते। सुनो, मैं अपना वृत्तान्त बतलाता हूँ।

मैं कौशाम्बी नगरी के प्रभूतधन नामक सेठ का पुत्र हूँ। एक बार मेरे शरीर में ऐसी घोर वेदना उत्पन्न हुई, मानो इन्द्र ने वज्र का प्रहार

किया हो ! अनेक उपाय करने पर भी वह वेदना शान्त नहीं हुई। अपने-अपने शास्त्र में निपुण वैद्य, मंत्र-तंत्रवादी मेरी वेदना मिटाने के लिए आये और औषध, उपचार, पथ्य तथा यत्न करके हार गये, पर रोग नहीं मिटा। मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करने वाले सब स्वजन मौजूद थे। वे सब तन, मन और धन से परिश्रम करके थक गये, पर कोई दुःख को मिटा नहीं सका। मेरी इच्छा के अनुसार चलने वाली और सदैव मुझे प्रसन्न रखने वाली मेरी पतिव्रता पत्नी ने मेरी वेदना से दुखी होकर भोजन और स्नान का त्याग कर दिया और दिन-रात चिन्तातुर रहने लगी। वह बहुत चाहती थी कि मैं किसी प्रकार निरोग हो जाऊँ, पर वह भी मेरा दुःख दूर करने में समर्थ न हो सकी। सभी को थका देखकर मैंने मन ही मन विचार किया कि अगर मैं इस वेदना से छुटकारा पा सकूं और मेरा दुःख दूर हो जाय तो तुरंत ही मैं आरंभ-परिग्रह के त्यागी, शान्त, दान्त मुनिपद को स्वीकार कर लूँगा। इस प्रकार का विचार निश्चित करते ही मेरी समस्त वेदना अदृश्य हो गई। तब कुटुम्बी जनों की आज्ञा लेकर मैं ने दीक्षा ग्रहण की और भ्रमण करता-करता यहाँ आया हूँ। यह वृत्तान्त सुनकर राजा श्रेणिक सनाथ-अनाथ का रहस्य समझ गये।

(३) संसार भावना



संसार के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना संसार-भावना है। यथा-हे जीव ! अनन्त जन्म-मरण करके तू सारे संसार में भटका है। संसार में बाल के अग्र भाग के बराबर भी ऐसी कोई जगह शेष नहीं बची है, जहाँ तू ने अनन्त बार जन्म और मरण न किया हो। आत्मन् ! तू जगत् के समस्त जीवों के साथ सब प्रकार के संबंध कर चुका है। पहले तू जिसकी माता था, मर कर उसकी स्त्री बना फिर स्त्री के रूप से मर कर फिर माता बना। इसी प्रकार एक बार जिसका पिता बना था, दूसरी बार उसका पुत्र बना। पुत्र मर कर पिता हुआ। इस तरह सभी जीवों के साथ सभी प्रकार

के संबंध तू ने अनन्त-अनन्त वार किये हैं। इस तथ्य का भली भाँति विचार किया जाय तो विदित होगा कि जगत् के सभी जीव सभी के स्वजन हैं।

इस भावना का भ० मल्लिनाथ के छह मंत्रियों ने चिन्तन किया था। मिथिला नगरी में, कुंभ राजा की प्रभावती नामक रानी के उदर से मल्लि कुंवरी नामक पुत्री का जन्म हुआ। मल्लिकुमारी तीन ज्ञानों से युक्त थी। मल्लिकुमारी ने एक मोहनघर (मनोहर बंगला) बनवाया। उसके मध्य भाग में सोने की एक पोली पुतली, अपने शरीर के बराबर और बहुत मनोहर बनवाई। जब मल्लिकुमारी भोजन करती तो पुतली के ऊपर का ढक्कन हटा कर भोजन का एक कौर उसमें डाल देती और फिर ढक्कन बंद कर देती। एक बार छह देशों के राजा मल्लिकुमारी की सुन्दरता की प्रशंसा सुनकर, अपनी-अपनी फौजों के साथ मिथिला नगरी में आ धमके। सब ने मल्लि-कुमारी का अपने-अपने साथ विवाह कर देने की माँग की।

कुंभ राजा पशोपेश में पड़ गये। किसके साथ मल्लिकुमारी का व्याह करूँ और किस की मांग को अस्वीकार करूँ? पिता को इस संकट में पड़ा देख मल्लिकुमारी ने कहा-पिताजी, आप चिन्ता न करें। मैं छहों राजाओं को समझा लूँगी।

इसके अनन्तर मल्लिकुमारी ने छहों राजाओं को अलग-अलग बुलवाया और भोजनगृह की छह कोठरियों में अलग-अलग ही बिठलाया। कोठरियों के द्वार बंद करवा दिये। कोठरियों की जालियों से छहों राजा मध्य भाग में स्थित स्वर्णमय पुतली का रूप देखकर बहुत मोहित हुए। उसी समय मल्लिकुमारी ने पुतली का ढक्कन खोल दिया। ढक्कन खोलते ही बहुत दिनों का पका हुआ और सड़ा हुआ भोजन दुर्गंध मारने लगा। दुर्गंध इतनी तीव्र थी कि उससे छहों राजा घबरा उठे। तब मल्लिकुमारी ने वहाँ पहुँच कर कहा-नरेन्द्रो! जिस पुतली को देख कर आप सब मुग्ध हो रहे थे, उसे देखते ही अब घबरा क्यों रहे हैं? सोने की पुतली में प्रतिदिन एक कौर भोजन डालते रहने से ऐसी बदबू निकली तो मेरे इस शरीर रूपी हाड़, मांस और

त्वचारूप पुतली में तो प्रतिदिन अनेक कौर अनाज के पड़ते हैं। फिर उसमें कितनी बदबू न होगी ? फिर दुर्गंध की भंडार रूप यह थैली देखकर क्यों मोहित होते हो ? अपने पिछले भवों को याद करो । पिछले तीसरे भव में मैं राजा थी और आप छहों मेरे मंत्री थे । हम सातों ने एक साथ दीक्षा धारण की थी। दीक्षा के समय में मैंने धर्म के कार्य में कपट किया था। उसी कपट के कारण मुझे स्त्री रूप में जन्म लेना पड़ा है । बन्धुओ ! जरा संसार के स्वरूप का विचार करो। धिक्कार है इस संसार को !

मल्लिकुमारी का यह कथन सुन कर छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। छहों को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। छहों ने मल्लिकुमारी के साथ दीक्षा अंगीकार की और केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया।

(४) एकत्व भावना



आत्मा की एकता का, पृथक्ता का, एकाकीपन का चिन्तन करना एकत्व भावना है । यथाः—हे आत्मन् ! यथार्थ दृष्टि से विचार कर तो प्रतीत होगा कि इस जगत् में कोई किसी का साथी नहीं है। तू अकेला ही आया है और अकेला ही जायगा। पापों का सेवन करके तू ने जो धनोपार्जन किया है, ऐश्वर्य की सामग्री जुटाई है, उसका एक छोटा सा अंश भी तेरे साथ नहीं जायगा । पूर्व-कर्म के उदय से तुझे जो परिवार मिला है उसमें से भी परलोक-प्रयाण के समय कोई साथ नहीं देगा । धन धरती में या धरती पर, जहाँ होगा वहीं रह जायगा। पशु-पक्षी घर में रह जाएँगे। प्राणप्यारी पत्नी दरवाजे तक और भाईबंद श्मशान तक ही साथ जाएँगे। औरों की तो बात ही क्या है, जिस शरीर को अपना मान कर तूने बड़े प्रेम से पाला है, वह शरीर भी चिता में भस्म हो जायगा। परलोक में वह भी साथ नहीं जा सकता। निसर्ग का यह अमिट नियम है। इसका उल्लंघन करने की क्षमता किसी में नहीं है। हे जीव ! ऐसा समझ कर एकान्त भाव धारण कर। जैसे शरीर और परिवार की सेवा में दत्तचित्त रहता है, वैसे ही

आत्मा की ओर भी कुछ ध्यान दे। आखिर तो अकेला आत्मा ही अन्त में रहने वाला है।

इस प्रकार की एकत्वभावना का मृगापुत्र ने चिन्तन किया था। सुग्रीव नगर में बलभद्र राजा था। उसकी रानी का नाम मृगावती था और उसके पुत्र का नाम मृगापुत्र था। मृगापुत्र एक बार अपनी सुन्दर और मनोहर स्त्रियों के बीच, अपने रत्नजटित महल में बैठा हुआ बाजार का ठाठ देख रहा था। संयोगवश उधर से मार्ग में जाते हुए कृशकाय किन्तु तेजस्वी और तपोधन मुनि पर उसकी दृष्टि पड़ी। मुनिराज को देखते ही मृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसे स्मरण आया कि पूर्वभव में मैं ने भी इसी प्रकार का संयम पाला था। यह स्मरण आते ही उसे संयमी बनने की इच्छा हुई। आखिर संयम ग्रहण करके, जंगल के मृग की भाँति अकेले वनवासी रह कर संयम की आराधना करके उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

(५) अन्यत्व भावना



जगत् के समस्त पदार्थों से आत्मा को भिन्न समझकर उस भिन्नता का बार-बार चिन्तन करना अन्यत्व-भावना है। जैसे—हे जीव! जगत् में सब स्वार्थी हैं। जब तक उनका मतलब होता है तभी तक सब अपना आदर-सत्कार करते हैं; अपनी आज्ञा में रहते हैं और 'जी हाँ, जी हाँ' करते हैं। मतलब पूरा हो जाने पर कोई किसी को नहीं पूछता।

इस प्रकार की भावना राजर्षि नमि ने भाई थी। नमिराज मिथिला-नगरी के राजा थे। उनके शरीर में एक बार दाहज्वर का रोग उत्पन्न हो गया। इस रोग की शांति के लिए उनकी १००८ रानियाँ बावन चन्दन घिस कर अपने प्रिय पति के शरीर को चुपड़ रही थीं। रानियों के हाथ में कंकण पहने हुए थे। चन्दन घिसते समय कंकणों के घर्षण से खन-खन की जो आवाज़ हुई उससे नमिराज को और अधिक वेदना मालूम पड़ने लगी। विचक्षण

रानियों ने दर्द का कारण समझ लिया और अपने हाथों के कंकण उतार कर रख दिये। सिर्फ सौभाग्य के चिह्न रूप एक कंकण को हाथों में रहने दिया और चन्दन घिसने लगीं। कंकणों की आवाज़ बंद होने से नमिराज ने पूछा—पहले बहुत आवाज़ हो रही थी, अब शान्ति कैसे मालूम हो रही है? रानियों ने शान्ति का सच्चा कारण बतला दिया। नमिराज ने विचार किया—जहाँ अनेक हैं वहाँ गड़बड़ होती है, अशान्ति होती है, कोलाहल होता है। एकत्व में शान्ति है। इस प्रकार विचार करते-करते उनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न होगया। उन्होंने निश्चय किया— मैं इन सब के संयोग में हूँ, बस इसी कारण दुखी हूँ। संयोग से मुक्त होना ही दुःख से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है। इस रोग के शान्त होते ही मैं संसार के समस्त संयोगों का परित्याग करके एकत्व का अवलम्बन लूँगा और शान्ति की खोज करूँगा।

इस प्रकार का निश्चय करते ही नमिराज का रोग शान्त हो गया। निद्रा आ गई। निद्रा में नमिराज को स्वप्न आया। स्वप्न में उन्होंने सातवाँ देवलोक देखा। देवलोक देखने के साथ ही उनकी आंख खुल गई। जागने पर चित्त में फिर वही विचार उत्पन्न हुआ। उसी समय जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तत्पश्चात् पुत्र को राज्य देकर, चारित्र अंगीकार करके उन्होंने वनवास स्वीकार किया।

श्री नमिराज जैसे उत्तम राजा का वियोग होने के कारण प्रजा बहुत दुखी हुई। सम्पूर्ण नगर में विलाप का कोलाहल मच गया। उस कोलाहल को सुन कर इन्द्र को दया आई और नमिराज की दृढ़ता की परीक्षा लेने का भी विचार हुआ। शक्रेन्द्र ने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण किया और उनके पास आया। उसने कहा-राजर्षि! यह सब नगर-निवासी क्यों विलाप कर रहे हैं? तब राजर्षि ने उत्तर दिया-मिथिला नगरी में एक सुन्दर वृक्ष था। वह फलों, फूलों, पत्तों और डालियों से समृद्ध था। बहुत से पक्षी इधर-उधर से आकर उस वृक्ष का आश्रय लेते थे और उसके सहारे रात-बसेरा करते थे। एक दिन आँधी आई और वह वृक्ष गिर पड़ा। उसका सिर्फ

ठूंठ रह गया। उस समय सब पक्षियों ने अपने-अपने स्वार्थ की बातें स्मरण करके विलाप करना आरंभ किया। इसी प्रकार इस नगरी के सब लोग अपने-अपने मतलब का वियोग (मेरा वियोग नहीं) देख कर रो रहे हैं। इसी तरह के ग्यारह प्रश्न इन्द्र ने पूछे और कुछ समय पर्यन्त गृहस्थी में रहने के लिये प्रेरणा भी की। पर राजर्षि नमिराज ने सब का सुन्दर समाधान किया। समाधान पाकर इन्द्र ने राजर्षि की स्तुति की, वन्दना की और तदनन्तर वह स्वर्ग में चला गया। श्री नमिराज संयम का पालन करके मोक्ष पधारे।

(६) अशुचि भावना

●

शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचि भावना है। यथा—हे जीव! तू अपने शरीर को स्नान-मंजन-लेपन आदि से शुद्ध-पवित्र करने की इच्छा रखता है; मगर वह कदापि शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वभाव से ही गंदा है, अशुचि है। शरीर की उत्पत्ति पर विचार कर। यह भी देख कि शरीर के भीतर क्या भरा पड़ा है! प्रथम तो शरीर माता के रक्त और पिता के शुक्र (वीर्य) से बना है। फिर माता के उदर में, उस अशुचि स्थान में, जहाँ पर मल-मूत्र भरा रहता है, इस शरीर की वृद्धि हुई है। फिर अशुचि स्थान से यह बाहर निकलता है। बाहर निकलने के बाद माता का दूध पीकर बड़ा हुआ। माता का दूध भी, जैसे शरीर में रक्त-मांस रहता है वैसे ही रहता है। अब जिस अनाज पर शरीर अवलंबित है, वह भी अपवित्र खेत में उत्पन्न होता है। भला कोई कभी खेत में चौका लगाने जाता है?

अब जरा शरीर की भीतरी हालत का भी विचार कर। शरीर में सात धातु हैं:—(१) रस (२) रक्त (३) मांस (४) मेद (५) हाड़ (६) मज्जा और (७) शुक्र। जो आहार खाया जाता है वह पित्त के तेज से पक कर पहले चार दिनों में रस बनता है। उसके बाद के चार दिनों में रस से रक्त बनता है। इस प्रकार चार-चार दिनों में एक-एक धातु बनते-बनते अन्त में एक महीने में अन्तिम धातु वीर्य बनता है। यह सभी धातु अपवित्र हैं।

फिर शरीर में जीभ का मैल, नेत्र का मैल, गले का मैल, कान का मैल आदि मैल भरे हुए हैं। शरीर में सात प्रकार की चमड़ी होती है (१) भामनी अर्थात् ऊपर की चमड़ी। वह चिकनी होती है और शरीर को शोभित करने वाली है। (२) लाल रंग की चमड़ी, जिसमें तिल आदि उत्पन्न होते हैं। (३) श्वेत अर्थात् सफेद चमड़ी, जिसमें चर्म-दल उत्पन्न होता है। (४) तांबे के रंग जैसी चमड़ी, जिसमें कोढ़ आदि रोग उत्पन्न होते हैं। (५) छेदनी चमड़ी, जिसमें अठारह प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। (६) रोहिणी नामक चमड़ी, जिसमें फोड़े, गंडमाल आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। (७) स्थूलत्वचा—जिसमें विद्रधि रहता है। इनके अतिरिक्त यह शरीर तीन प्रकार के विकारों का घर है। तीन विकार यह हैं—वात, पित्त और कफ। इन तीन को कोई-कोई तीन दोष कहते हैं और कोई तीन मैल भी कहते हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है:—

(१) वायु—शरीर में सब जगह वस्तुओं का विभाग करना वायु का काम है। यह वायु सूक्ष्म, शीतल, हलका और चंचल है। खाई हुई वस्तु को नालियों के द्वारा योग्य स्थान पर पहुँचा देना वायु का ही काम है। इस वायु के पांच स्थान हैं—(१) मल का स्थान (२) कोठा अर्थात् पेट (३) अग्निस्थान (४) हृदय और (५) कंठ। इन पाँच स्थानों में वायु का निवास है। वायु के स्थान-भेद से पाँच भेद हैं:—(१) गुदा (मलद्वार) में रहने वाली वायु अपानवायु कहलाती है। (२) नाभि में रहने वाली वायु समान वायु कहलाती है। (३) हृदय में रहने वाली वायु प्राणवायु कहलाती है। (४) कंठ में रहने वाली वायु उदानवायु कहलाती है। (५) शरीर में सर्वत्र रमी हुई वायु व्यान वायु कहलाती है।

वायुप्रकृति वाले के लक्षण यह हैं:—इसके बाल छोटे होते हैं; रूक्षता के कारण शरीर का दुखना, मन का चंचल रहना और बोलने में वाचाल होना। वायु प्रकृति वाले को आकाश में उड़ने के स्वप्न आते हैं। वायु-प्रकृति वाला रजोगुणी कहलाता है।

(२) पित्त:—गरम, पतला, पीला, कड़क, तीखा और दग्ध होने के

कारण खट्टा हो जाता है। पित्त शरीर में पाँच जगह रह कर पाँच प्रकार के गुण उत्पन्न करता है। (१) आशय में तिल के बराबर अग्नि रूप रहता है। यह अग्नि पाँच प्रकार का असर उत्पन्न करती है—(१) मन्दाग्नि से कफ होता है (२) तीक्ष्ण अग्नि से पित्त पैदा होता है (३) विषम अग्नि से वात की उत्पत्ति होती है (४) सम अग्नि श्रेष्ठ है (५) विषमाग्नि अनिष्ट है।

पित्त त्वचा में रह कर सुन्दरता उत्पन्न करता है। नेत्रों में रह कर देखने की शक्ति उत्पन्न करता है। प्रकृति में रह कर खाई हुई वस्तुओं को पचाकर उनमें से रस और रक्त बनाता है। पित्त हृदय में रहकर बुद्धि उत्पन्न करता है।

पित्तप्रकृति वाले के लक्षण यह हैं:—पित्त प्रकृति के कारण युवावस्था में ही बाल सफेद हो जाते हैं; वह बुद्धिमान् होता है; उसे पसीना अधिक आता है, क्रोधी होता है और स्वप्न में तेज अधिक देखता है। पित्त प्रकृति वाला तमोगुणी कहलाता है।

(३) कफ:—चिकना, भारी, ठंडा और मीठा होता है। दग्ध होने पर खारा हो जाता है। इसके रहने के पाँच स्थान हैं—(१) आशय (२) मस्तक (३) कंठ (४) हृदय (५) संधि। कफ इन पाँच स्थानों में रह कर स्थिरता तथा कोमलता उत्पन्न करता है। इसके पाँच नाम हैं:—(१) क्लेदन (२) स्नेहन (३) एषण (४) अवलंबन (५) गुरुत्व।

कफ प्रकृति वाला गंभीर और मंदबुद्धि होता है। उसका शरीर चिकना और केश बलवान् होते हैं। स्वप्न में प्रायः पानी देखता है। कफ प्रकृति वाला सतोगुणी कहलाता है।

इस शरीर में मांस, मेद और हाड़ों को बाँधने वाली जो नसें होती हैं उन्हें स्नायु कहते हैं। शरीर हाड़ों के आधार पर खड़ा हुआ है और उन हाड़ों का आधार स्नायु है। शरीर में सोलह बड़ी-बड़ी नसें हैं। वे करंड कहलाती हैं। शरीर को सिकोड़ने और प्रसारित करने में इनकी सहायता की आवश्यकता होती है।

शरीर में नौ द्वार हैं, जिनसे अशुचि पदार्थ निकलते रहते हैं-दो कानों के छेद, दो नाक के छेद, दो आँखों के छिद्र, मल-मूत्र त्यागने के छिद्र और मुख द्वार। स्त्रियों के शरीर में इन नौ के अतिरिक्त गर्भाशय का छिद्र और दो स्तनों के छिद्र अधिक होते हैं। इनके अतिरिक्त बारीक-बारीक छिद्र अनेक होते हैं।

शरीर में कलेजे का वजन २५ पल, आँख का दो पल, शुक्र का ३० टांक, रक्त का एक अढक, चर्बी का आधा अढक, माथे का एक पाथा, मूत्र का एक अढक, विष्ठा का एक पाथा, पित्त का एक कलव और कफ का एक कलव है। इस वजन से अधिक हो जाने पर रोग की उत्पत्ति होती है और घटने पर मृत्यु होती है।

शरीर में १६० नाड़ियाँ नाभि से ऊपर रस को धारण करने वाली हैं। और १६० ही नाभि से नीचे हैं। १६० तिरछी हाथ आदि को लपेटे हुए हैं। १६० नाड़ियां नाभि के नीचे गुदा को घेरे हुए हैं। २५ नाड़ियां श्लेष्म अर्थात् कफ स्थान को, २५ पित्तस्थान को और १० शुक्र को धारण करने वाली हैं। इस प्रकार कुल ७०० नाड़ियाँ शरीर में हैं।

शरीर में दो हाथ, दो पैर-इस प्रकार चार शाखाएँ हैं। प्रत्येक शाखा में ३०-३० हड्डियाँ होने से १२० हड्डियाँ हैं। इनके अतिरिक्त पांच दाहिनी कमर में, पांच बाईं कमर में, चार योनि में, चार गुदा में, एक त्रिकन में, बहत्तर दोनों पसवाड़ों में, तीस पीठ में, आठ हृदय में, दो आँखों में, नौ ग्रीवा में, चार गले में, दो दाढ़ी में, ३२ (दांत) मुंह में, एक नाक में, एक तालु में, इस प्रकार सब मिलकर ३०० हड्डियाँ हैं।

इस शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हैं। उनमें से दो करोड़ और इक्यावन लाख रोम गले के नीचे हैं और ९९ लाख गले के ऊपर हैं। इस तरह देखा जाय तो यह शरीर विविध प्रकार की अशुचि और अपवित्रता से, आधि, व्याधि और उपाधि से परिपूर्ण है। जब तक पुण्य का पूरा उदय रहता है तब तक यह सारी अपवित्रता छिपी रहती है और ऊपर से चमड़ी का चादर ढँका रहता है। पर पाप का उदय आने पर अर्थात् पाप के फल

प्रकट होने पर शरीर के बिगड़ने में जरा भी देर नहीं लगती। विवेकशील पुरुषों को शरीर के भीतरी स्वरूप का विचार करना चाहिए।

इस अशुचि-भावना का चिन्तन श्रीसनत्कुमार चक्रवर्ती ने किया था। अयोध्यानगरी में अत्यन्त रूपवान् सनत्कुमार नामक चक्रवर्ती थे। एक बार पहले देवलोक के इन्द्र ने उनके रूप की प्रशंसा देवसभा में की। एक देव को प्रशंसा पर विश्वास न आया। देव ने वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके परीक्षा करने का विचार किया और वह चक्रवर्ती के पास आया। सनत्कुमार चक्रवर्ती का रूप-सौन्दर्य देख कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उस समय चक्रवर्ती स्नान कर रहे थे। उन्होंने ब्राह्मण से कहा—विप्र! कहाँ से आरहे हो? देव ने कहा—बिलकुल बचपन में मैंने आपके रूप की प्रशंसा सुनी थी। उसी समय चलना आरंभ किया। चलते-चलते मैं इतना बूढ़ा हो गया हूँ, तब कहीं आज आपका दर्शन कर सका हूँ। आज मेरा मनोरथ पूरा हुआ है। ब्राह्मण रूपधारी देव का यह उत्तर सुनकर चक्रवर्ती को अभिमान हुआ। मन में अत्यन्त गर्व धारण करके उसने कहा—'इस समय मेरा रूप क्या देखते हो! सोलहों शृंगार सजकर जब मैं राजसभा में अपने समस्त परिवार के साथ बैठूँ तब मेरा रूप देखना। उस समय तुम्हारे आश्चर्य का पार नहीं रहेगा।' इस प्रकार की गर्वयुक्त वाणी कहते ही चक्रवर्त्ती के रूप में विकार उत्पन्न हो गया-रूप बिगड़ गया। उसके शरीर में कीड़े पड़ गये। अपनी सुन्दर शरीर की अचानक यह अवस्था देखकर चक्रवर्ती को उसी समय वैराग्य हो आया। उन्होंने विचार किया—जिस शरीर को मैं ने अत्युत्तम माल खिलाये, नाना प्रकार के शृंगारों से सजाया, अनेक प्रकार के सुख दिये; उसी शरीर ने आज धोखा दिया! जब शरीर की ही यह दशा है तो कुडम्ब-परिवार एवं नौकरों आदि का तो कहना ही क्या है! मैं समझता था—मेरा शरीर अन्त तक ऐसा ही बना रहेगा। धिक्कार! धिक्कार है इस संसार को! इस प्रकार विचार कर समस्त राज्य-ऋद्धि का परित्याग कर चक्रवर्ती सनत्कुमार ने साधुपद ग्रहण किया। साधु बनने के बाद ७०० वर्ष तक वह रोग शरीर में बना रहा। तदनन्तर वे नीरोग हुए और केवलज्ञानी होकर मोक्ष पधारे।

(७) आस्रव भावना



कर्मों के आगमन के कारणों पर और उसके फल पर बार-बार विचार करना आस्रव भावना है। यथा—हे जीव! तू अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इसका मूल कारण आस्रव ही है। जीव ने पाप का त्याग तो अनन्त बार किया है किन्तु आस्रव के द्वारों को बंद किये बिना धर्म का पूर्ण फल नहीं प्राप्त हो सकता। आस्रव के यों तो बीस भेद हैं, परन्तु उनमें अव्रत प्रधान है। उसमें भी उपभोग (जो वस्तु एक ही बार भोगी जाय, जैसे आहार आदि), परिभोग (जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके जैसे वस्त्र-आभूषण आदि), धन, भूमि आदि की मर्यादा न करना, आशा-तृष्णा का निरोध न करना, यह आस्रव ही इस भव में महातृष्णा रूप सागर में गोते खिलाता है। इसी के प्रताप से जीव दुर्गति में जाकर अनन्त काल तक विडम्बनाएँ भोगता है। ऐसा जानकर हे जीव! अब आस्रव का त्याग कर। व्रत-प्रत्याख्यान को ग्रहण कर। जितना भी शक्य हो, आरंभ-परिग्रह का त्याग कर।

इस प्रकार की आस्रव भावना श्रीसमुद्रपाल ने भायी थी। चम्पा नगरी में पालित नामक श्रावक का समुद्रपाल नामक एक पुत्र था। वह एक बार अपनी पत्नी के साथ हवेली के झरोखे में बैठा-बैठा नीचे बाजार की शोभा देख रहा था। उस समय मज़बूती के साथ बांधा हुआ एक चोर वधस्थान की ओर ले जाया जा रहा था। समुद्रपाल की दृष्टि उस पर पड़ी। उसे देखकर समुद्रपाल विचार करने लगा—देखो, अशुभ कर्मों का उदय! यह बेचारा चोर भी मेरे जैसा मनुष्य ही है; किन्तु कर्मों के वश होकर इस समय पराधीन हो गया है। जब किसी समय मेरे अशुभ कर्मों का उदय आएगा तो मुझे कौन छोड़ेगा? यह कर्मोदय आस्रव पर भी निर्भर है। आस्रव को रोक दिया जाय तो बंध न हो और कर्मबंध न हो तो कर्म का उदय भी न हो! अतः मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि कर्म का उदय होने से पहले ही आस्रव का क्षय करके सुखी बन जाऊँ। इस प्रकार की विचार-श्रेणी पर

चढ़ते-चढ़ते समुद्रपाल को वैराग्य हो आया और उन्होंने अन्त में दीक्षा धारण कर ली। घोर तप और संयम का आचरण करके अत्यन्त दुष्कर क्रिया करके कर्मों का समूल क्षय करके मुक्ति प्राप्त की।

(८) संवर भावना



आस्रव का रुकना संवर कहलाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से आस्रव होता है और इन कारणों का परित्याग करके तप, समिति, गुप्ति, चारित्र आदि का अनुष्ठान करने से संवर होता है। संवर के स्वरूप और कारण आदि का चिन्तन करना संवरभावना है। इसका चिन्तन इस प्रकार किया जाता है:—आस्रव ही संसारभ्रमण का प्रधान कारण है और उस आस्रव को रोकने का उपाय सिर्फ संवर है। इसलिए मैं समस्त इच्छाओं को रोक कर एकान्त समतारूप धर्म में ही स्थिर होऊँ। इस प्रकार की भावना का श्रीहरिकेशी मुनि ने चिन्तन किया था।

हरिकेशी मुनि ने पूर्व भव में जाति का मद किया था। इस मद के प्रभाव से, चाण्डाल कुल में उनका जन्म हुआ। उनका बेडौल चेहरा देख कर 'हरिकेशी' नाम रक्खा गया। हरिकेशी जहाँ कहीं जाते, अपने कुबड़े और बेडौल रूप के कारण सर्वत्र तिरस्कार और उपहास के पात्र बनते। इससे उकता कर वह आत्मघात करने के लिए तैयार हुए। इसी समय उन्हें एक मुनिराज मिल गये। उन्होंने उपदेश दिया-भाई! मनुष्यभव चिन्तामणि रत्न के समान अनमोल है। आत्मघात करके क्यों इसे वृथा गँवाते हो? इस दुर्लभ जीवन का सदुपयोग क्यों नहीं करते? आत्मघात कर लेने के पश्चात् भी सुखी नहीं हो सकोगे, वरन् दुःखों की वृद्धि ही करोगे। इस प्रकार मुनिराज का उपदेश सुनने से हरिकेशी के चित्त में वैराग्य-भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने उन्हीं मुनिराज से दीक्षा ग्रहण की और गुरु को नमस्कार करके मास-मास के मासखमण करने लगे।

हरिकेशी मुनि विहार करते-करते एक बार बनारस नगरी पहुँचे। वहां नगरी से बाहर यक्ष के मंदिर में ध्यान धारण करके खड़े हो रहे। राजा की पुत्री ने यक्ष के मंदिर में ऐसे कुरूप साधु को देख कर उन पर थूक दिया। थूकते ही राजकुमारी का मुँह टेढ़ा हो गया। जब राजा को इस घटना का पता चला तो ऋषि के शाप से डर कर राजा ने अपनी वह कन्या ध्यानस्थ मुनि को अर्पण कर दी। हरिकेशी मुनि ध्यान समाप्त करके राजा से कहने लगे—'राजन्! हम ब्रह्मचारी साधु मन से भी स्त्री की इच्छा नहीं करते।' यह सुनकर राजा बहुत घबराया। वह सोच-विचार में पड़ गया कि अब इस कन्या का क्या किया जाय? आखिर राजा ने पुरोहित को बुलाकर उसकी सम्मति माँगी। पुरोहित ने कहा—तुम्हारी कन्या ऋषिपत्नी है, इसलिए किसी ब्राह्मण को दे दो। भोले राजा ने वह कन्या उसी पुरोहित को ब्याह दी। पाणिग्रहण के समय एक यज्ञ का आरंभ किया गया। संयोगवश इसी यज्ञस्थान में हरिकेशी मुनि भिक्षा लेने पधारे। बहुत-से बालक बेडौल आकृति वाले मुनि को देखकर यज्ञस्थान से बाहर निकले और मुनि को लाठियों और पत्थरों से मारने लगे। तब वह राजकुमारी कहने लगी—मूर्ख बालको! क्या मौत तुम्हारे सिर पर मंडरा रही है? राजकुमारी ने इतना ही कहा था कि समस्त बालक अचेत होकर जमीन पर गिर पड़े। सब ब्राह्मण घबरा कर दौड़े। उन्होंने बालकों के अपराध के लिए मुनि से क्षमायाचना की। मुनि ने शान्त भाव से कहा—भाइयो! हम साधुओं पर कितना ही दुःख क्यों न आ पड़े, कोई कितना ही क्यों न सतावे, हम मन से भी किसी का बुरा नहीं सोचते। बालकों को अचेत करने का काम तिन्दुक यक्ष ने किया हो तो ज्ञानी जाने। तत्पश्चात् ब्राह्मणों ने पूर्ण सद्भावना के साथ मुनि को पारणा कराया। फिर मुनि ने ब्राह्मणों को उपदेश दिया-विप्रो! यह आत्मा अनादि काल से हिंसामय कृत्यों में लगा है। मगर हिंसामय कृत्यों से आत्मा का निस्तार नहीं हो सकता। आप लोगों ने यह जन्म भी इसी प्रकार गँवा दिया! अब हिंसा का त्याग करके सच्चे धर्म के मार्ग पर आओ। विवेक-शक्ति का सदुपयोग करो। अधर्ममय—हिंसामय यज्ञ का त्याग करके सच्चे यज्ञ का स्वरूप समझो। जीव रूप कुंड में, अशुभ कर्म रूपी ईंधन को तप

रूपी अग्नि के द्वारा भस्म करो और पवित्र बनो। तुम इस समय जो यज्ञ कर रहे हो वह तो आस्रव-यज्ञ है, पापबंध का कारण है। अतः आस्रव-यज्ञ का त्याग करके संवर रूप पवित्र दयामय यज्ञ का अनुष्ठान करो। यही यज्ञ आत्मा को तारने वाला और शरणरूप है।' मुनि का यह उपदेश ब्राह्मणों को रुचिकर हुआ और वे हिंसा का त्याग करके धर्मात्मा बने। मुनि विहार करके अन्यत्र चले गये। उन्होंने कर्मों का नाश करके मुक्ति प्राप्त की।

(६) निर्जरा भावना



कर्मों का आंशिक रूप से क्षय होना निर्जरा है। निर्जरा का प्रधान कारण तप है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप, कारण आदि का चिन्तन करना निर्जरा-भावना है। उसका चिन्तन इस प्रकार किया जाता है:—

हे जीव! तूने संवर की करणी करके नये आने वाले पापों को रोक दिया; परन्तु पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय करने वाली तो अकेली निर्जरा ही है। निर्जरा की कारण रूप तपस्या बारह प्रकार की है। बारह प्रकार की तपस्या को इस लोक और परलोक के किसी भी सुख या कीर्ति की कामना से रहित होकर केवल मुक्ति की इच्छा से करना चाहिए। ऐसा करने वाले का कल्याण अवश्य होता है। इस निर्जरा भावना का अर्जुन माली ने चिन्तन किया था।

राजगृह नगर के निवासी अर्जुन नामक माली की स्त्री बंधुमती अत्यन्त रूपवती थी। बंधुमती का रूप-सौन्दर्य देखकर छह लम्पट पुरुष उस पर मोहित हो गये। एक बार जब अर्जुन माली उस बगीचे के यक्ष मुद्-गरपाणि को नमस्कार कर रहा था, तब उन लम्पट पुरुषों ने आक्रमण करके अर्जुन माली को बाँध दिया और उसकी पत्नी बन्धुमती के साथ व्यभिचार सेवन किया। इस घोरतर अन्याय को देखकर यक्षदेवता ने अर्जुन माली के शरीर में प्रवेश किया और उन छहों लम्पट पुरुषों को तथा बंधुमती को मार

डाला। उसके बाद यक्ष ने अर्जुन माली के शरीर में रह कर प्रतिदिन छह पुरुषों और सातवीं स्त्री को मारना आरंभ कर दिया। इस प्रकार पाँच मास और तेरह दिन में उसने ११४१ मनुष्यों के प्राण ले लिये। राजगृही के निवासियों में बड़ी घबराहट फैल गई और उस तरफ के रास्ते बंद हो गये। इसी समय सौभाग्य से भगवान् महावीर स्वामी अपने शिष्यों के साथ वहाँ पधारे और उसी बगीचे में विराजमान हुए। प्रभु के दर्शन के लिए दृढ़धर्मा सुदर्शन सेठ निडर बनकर निकले। सुदर्शन सेठ नगरी के बाहर निकले ही थे कि अर्जुन अपने हाथ का मुद्गर उछालता-उछालता सामने आया। पर सुदर्शन सेठ का धर्म-तेज देखते ही यक्ष अर्जुन माली के शरीर में से निकल कर भाग गया। अर्जुन माली बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। सुदर्शन सेठ अर्जुन माली को उठा कर भगवान् के पास लाये। प्रभु का उपदेश सुन कर अर्जुन माली ने दीक्षा धारण की और छठ-छठ के उपवास शुरु किये। पारणे के दिन जब अर्जुन मुनि राजगृही नगरी में भिक्षा के लिए जाते तो पूर्व-अवस्था में जिन-जिन के कुटुम्बीजनों को मारा था, वे सब उन्हें देखकर घर में घुसेड़ कर खूब मारते-पीटते थे। फिर भी अर्जुन मुनि समभाव धारण करके सभी वेदनाएँ सहन करते और कहते—'मैंने तुम्हारे कुटुम्बी को प्राणहीन कर दिया था, फिर भी तुम मुझे मार-पीट कर ही छोड़ देते हो, मेरे प्राण नहीं लेते, यह तुम्हारा मेरे ऊपर महान् उपकार है।' इस प्रकार की महा-क्षमा धारण करके मुनि ने घोर तपश्चर्या की और छह मास में ही कर्मों की सेना का दलन करके निर्वाण प्राप्त किया।

(१०) लोक भावना



लोक और लोक के संस्थान (आकार) का चिन्तन करना लोकभावना अथवा लोकसंस्थानभावना कहलाती है। इसका चिन्तन इस प्रकार किया जाता है:—आकाश के जिस भाग में छहों द्रव्य रहते हैं वह भाग लोक कहलाता है। उसका आकार एक दूसरे के ऊपर रक्खे हुए तीन दीपकों के

समान है। (लोक का आकार विस्तृत रूप से दूसरे प्रकरण में बतलाया जा चुका है।) शिवराजर्षि ने इस लोकभावना का चिन्तन किया था।

बनारस नगरी के बाहर बहुत-से तापस थे। उनमें से जबर्दस्त तपस्या करने वाले शिवराज नामक एक तापस को विभंगज्ञान उत्पन्न हुआ। विभंगज्ञान से उसने सात द्वीप और सात समुद्र पर्यन्त पृथ्वी देखी। वह लोगों से कहने लगा—मुझे ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मज्ञान के बल से मैं सात द्वीप-समुद्र पर्यन्त पृथ्वी देखता हूँ। बस, इतनी ही बड़ी पृथ्वी है। उसके आगे अन्धकार ही अन्धकार है। एक बार वह नगरी में भिक्षा लेने गया। तब नगर के लोगों ने कहा—श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं कि असंख्यात द्वीप असंख्यात समुद्र हैं और शिवराज ऋषि सिर्फ सात द्वीप और सात समुद्र ही बतलाते हैं। इन दोनों कथनों की संगति किस प्रकार हो सकती है? यह बात सुन कर शिवराज ऋषि ने सोचा—मैं श्री महावीर स्वामी के समीप जाकर चर्चा करूँ कि मेरी आँखों देखी (प्रत्यक्ष) बात मिथ्या कैसे हो सकती है? मैं जितनी पृथ्वी देखता हूँ, उससे आगे हो तो वे मुझे बतलावें! इस प्रकार विचार कर ऋषि, भगवान् महावीर के पास पहुँचे। श्री महावीर भगवान् के पास पहुँचते ही ऋषि का विभंगज्ञान, अवधिज्ञान के रूप में परिणत हो गया—ऋषि को सम्यक्त्व प्राप्त हो गया। अब ऋषि सात द्वीप-समुद्र से आगे की कुछ पृथ्वी देखने लगे। उत्तरोत्तर अवधिज्ञान की वृद्धि होने पर उन्होंने असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र देखे। तत्काल प्रभु महावीर को नमस्कार करके शिवराज ऋषि भगवान् के शिष्य बन गये। अन्त में कर्म-क्षय करके उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।*

(११) बोधिबीज भावना



बोधि अर्थात् सम्यक्त्व के स्वरूप पर, उसके कारणों पर, उसकी महिमा पर और उसके फल पर पुनः पुनः विचार करना बोधिबीज भावना

* संभवतः इसी घटना के कारण वैष्णव लोग अब तक भी सात द्वीप-मानते हैं।

है। उसका चिन्तन इस प्रकार किया जाता है—हे जीव! तेरा निस्तार (मोक्ष) किस करनी से होगा? मोक्ष प्राप्त करने का प्रधान साधन सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के अभाव में जीव ऊँची से ऊँची श्रेणी की करनी करके नव-ग्रैवेयक तक पहुँच चुका; मगर उससे कोई भी परिणाम नहीं निकला। आत्मा का तनिक भी कल्याण नहीं हुआ। किन्तु अब सम्यक्त्व प्राप्त करने का अवसर आया है। इसलिए कषाय आदि सम्यक्त्वविरोधी प्रकृतियों का उपशम या क्षय कर के सम्यक्त्व रूपी रत्न को प्राप्त कर। सम्यक्त्व डोरा पिरोई हुई सुई के समान है। डोरा सहित सुई कचरे में गुमती नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहता हुआ भी दुःख नहीं पाता और अवश्य निर्वाण प्राप्त करता है। इस प्रकार की बोधिबीज भावना श्रीऋषभदेव के ९८ पुत्रों ने भायी थी।

भ० ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र श्रीभरत चक्रवर्त्ती भरतक्षेत्र के छहों खण्डों पर विजय प्राप्त करके वापिस लौटे। फिर भी चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया। राजपुरोहित से जब इसका कारण पूछा गया तो उसने कहा—छह खण्डों पर विजय प्राप्त करने से चहुं ओर आपकी आन फिरी है, किन्तु आपके ९९ भाई आपकी आज्ञा और अधीनता स्वीकार नहीं करते। श्रीभरतेश्वर ने तुरन्त दूत भेज कर अपने भाइयों से कहलाया—तुम सब सुखपूर्वक राज्य करो, पर मेरी आज्ञा स्वीकार करो। ९९ में से ९८ भाई बोले—'पिताजी हमें राज्य दे गये हैं, अतएव उन्हीं के पास जाकर हम लोग पूछेंगे। वे जैसा कहेंगे, वैसा ही हम करेंगे।' ऐसा कह कर ९८ पुत्र श्रीऋषभदेव भगवान् के पास पहुँचे। उन्होंने भगवान् से निवेदन किया—भरत अपनी विशाल ऋद्धि के गर्व में आकर हम लोगों को सता रहा है। अब हमें क्या करना चाहिए? भगवान् ऋषभदेव ने कहा—राजपुत्रो!—

संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच दुल्लहा।

समझो, प्रतिबोध प्राप्त करो। समझते क्यों नहीं हो? ऐसा राज्य तुम्हें अतीतकाल में अनन्त वार प्राप्त हो चुका है। पर बोधिबीज सम्यक्त्व

की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। इसलिए मेरी आज्ञा तो यही है कि तुम लोग सम्यक्त्व और चारित्र को स्वीकार करके मोक्ष-नगरी का महान् और अक्षय राज्य प्राप्त करो। उस राज्य पर भरत चक्रवर्त्ती का भी जोर नहीं चलेगा। श्रीऋषभदेव भगवान् की ऐसी उत्तम बोधदायक और हितकर वाणी सुनकर ९८ भाइयों ने एक ही साथ प्रतिबोध पाया। दीक्षा लेकर, उत्तम संयम का पालन करके, समस्त कर्मों का सम्पूर्ण विनाश करके अन्त में सिद्धि का असीम, अनन्त और अक्षय साम्राज्य प्राप्त किया।

(१२) धर्म भावना



धर्म के स्वरूप और माहात्म्य आदि का चिन्तन करना धर्मभावना है। यथा—हे जीव! मनुष्यजन्म की सार्थकता सिर्फ निर्वाण प्राप्त करने में ही है। मनुष्यभव के अतिरिक्त किसी अन्य भव से मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव पूर्वकृत पुण्य के उदय से जिसे मनुष्यभव आदि उत्तम सामग्री उपलब्ध हुई है, उसे धर्म का आचरण करके उसे सफल बनाना चाहिए। कहा भी है:—

धर्मो विशेषः खलु मानवानाम्,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।

पशुओं और मनुष्यों में धर्म का ही अन्तर है। जो प्राणी धर्म से हीन हैं वह पशुओं के समान हैं। अतएव मनुष्य की मनुष्यता धर्माचरण करने में ही है।

जिनेन्द्र भगवान् ने धर्म का मूल दया है, ऐसा फरमाया है। कहा भी है:—

दया धर्म का मूल है।

अतएव दयामूलक धर्म का आचरण करके अपने जीवन को सफल बनाना ही मनुष्य का सर्वोत्तम कर्त्तव्य है।

इस धर्मभावना का चिन्तन श्रीधर्मरुचि अनगार ने किया था। चम्पा नगरी में श्रीधर्मरुचि अनगार मासखमण का पारणा करने के निमित्त नागश्री ब्राह्मणी के घर पहुँचे। उस दिन नागश्री ने भूल से कडुए तूँबे का शाक बनाया था। ब्राह्मणी ने जान-बूझकर वही शाक मुनि को बहरा दिया। मुनि वह शाक ले गये। उपाश्रय में जाकर अपने गुरुजी को दिखलाया। गुरुजी ने कहा—कठोर तपश्चरण करने से तुम्हारा कोठा निर्बल हो गया है। अगर यह विषैला आहार खाओगे तो तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। इसलिए इसे ले जाओ और निरवद्य भूमि देखकर परठ दो।

धर्मरुचि अनगार ने ईंटों को पकाने की जगह परीक्षा के लिए उस शाक का एक बूँद पृथ्वी पर डाला। उसी समय अनेक चीटियाँ उस बूँद के पास आ गईं और शाक खाकर मर गईं। मुनि ने यह देखकर विचार किया—गुरुजी ने फ़रमाया है कि निरवद्य जगह (जहाँ डालने से कोई जीव मरे नहीं) में इस शाक को परठ दो, मगर यहाँ सिर्फ एक बूँद डालने से इतनी चीटियाँ मर गईं और बड़ा अनर्थ हो गया। तो फिर सारा शाक परठने से कितना अनर्थ होगा! इस प्रकार सोचते-सोचते उन्हें विचार आया—ठीक निरवद्य जगह तो मेरा ही पेट है। शरीर तो नाशवान् है ही। यह नाशवान् शरीर अगर जीवरक्षा का निमित्त बन सकता हो तो उत्तम है—महान् लाभ का कारण है। इस प्रकार विचार करके उस विषमय शाक को ले स्वयं खा गये। थोड़ी ही देर में सारे शरीर में दाह उत्पन्न हो गया। फिर भी मुनि-राज अखण्ड समभाव में स्थिर रहे। आयु पूर्ण करके सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। अगले भव में कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इन बारह भावनाओं में से जिसने एक-एक भावना का ही चिन्तन किया, उसका भी परम कल्याण हुआ। तो जो जीव बारहों भावनाओं का चिन्तन करेगा, उसके मोक्ष प्राप्त करने में क्या सन्देह है? ऐसा जान कर श्रीउपाध्याय परमेष्ठी सदैव भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

चार अभिग्रह



अभिग्रह के चार भेद हैं—(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से और (४) भाव से। इन चारों अभिग्रहों का स्वरूप श्रीमहावीर स्वामी के दृष्टान्त से दिखलाया जाता है।

एक बार चण्डप्रद्योतन राजा ने चम्पा नगरी लूटी। उस समय चण्ड-प्रद्योतन का एक सारथी चम्पा नरेश की रानी धारिणी और पुत्री चन्दन-बाला को ले भागा। जब वह एकान्त जंगल में पहुँचा तो उसने अपनी कुत्सित कामना रानी के सामने प्रकट की। रानी ने अपने शील की रक्षा के लिए प्राण दे दिये। सारथी राजकुमारी चन्दनबाला को कौशाम्बी नगरी ले गया और बेचने के लिए बाजार में खड़ा किया। एक वेश्या खरीदने आई। चन्दनबाला ने उसका आचार पूछा। तब वेश्या ने कहा—'सदा सुहागिन रहना, नित्य नये शृंगार सजना, मधुर और स्वादिष्ट भोजन करना और सदैव युवकों के साथ भोग भोगना। यह सब आनन्द हमारे कुल के सिवाय और कहीं नहीं मिल सकता। हमारा ऐसा उत्तम सुखकर आचार है।' वेश्या का यह उत्तर सुनकर चन्दनबाला भयभीत हुई और उसने नमस्कारमंत्र का स्मरण किया। नमस्कारमंत्र के प्रभाव से तत्काल वहाँ बंदरों के रूप में देव आये और चन्दन बाला को खींच कर ले जाने वाली वेश्या को नौंचने लगे। बन्दरों ने वेश्या की नाक नौंच ली और कान काट दिये। वेश्या अपनी जान बचा कर भागी। उसके बाद श्रावक धर्म का पालन करने वाले धन्ना सेठ वहाँ आये और चन्दन बाला को खरीद कर ले गये। कुछ समय व्यतीत होते ही सेठ की पत्नी मूलाबाई चन्दनबाला से द्वेष करने लगी। एक बार जब सेठजी दूसरे गाँव चले गये तो सेठानी ने चन्दनबाला के सिर के बाल कतर लिये। कपड़े छीन लिये, सिर्फ एक कछोटा बाँधने को दे दिया। हाथ में हथकड़ी और पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं। फिर भौंयरे में बंद करके अपने मायके (पिता के घर) चल दी।

तीन दिनों के बाद सेठजी लौट कर आये। उन्होंने चन्दनबाला को भौंयरे से निकाला। उस समय खाने की और वस्तु तैयार नहीं थी, सिर्फ भैंस के लिए उड़द के बाकले एक सूप में रक्खे थे। वह बाकले चन्दनबाला को देकर सेठ बेड़ियाँ तुड़वाने के लिए लोहार को बुलाने चले गए।

इसी बीच श्रमण भगवान् महावीर ने तेरह बातों का अभिग्रह धारण किया था। वे तेरह बातें इस प्रकार हैं—(१) द्रव्य से—उड़द के [१]बाकले [२]सूप में रक्खे हों (२) क्षेत्र से—[३]दान देने वाली स्त्री घर के दरवाजे में बैठी हो, [४]एक पैर दरवाजे के भीतर हो और एक पैर बाहर हो, (३) काल से—[५]दिवस का तीसरा पहर हो (४) भावसे—[६]दान देने वाली राजा की कन्या हो, [७]उसके पैर में बेड़ी हो, [८]हाथ में हथकड़ी हो, [९]माथा मुंडा हो, [१०]कछोटा लगाये हो, [११]आँख में आँसू हों, [१२]अष्टमभक्त की तपश्चर्या वाली हो, और [१३]वह मुझे आहार दे, तो ही मैं आहार लूँगा। भगवान् इस प्रकार का कठोर अभिग्रह धारण करके विचरते थे। पाँच महीना और पच्चीस दिन आहार ग्रहण किये बिना बीत चुके थे। संयोगवश भगवान् उधर आ निकले। भगवान् के दर्शन करके चन्दनबाला के हर्ष की सीमा न रही। तेला के पारणा के अवसर पर ऐसे परमोत्तम पात्र का योग मिलता देख चन्दनबाला के नेत्रों से हर्ष के आँसू गिरने लगे। उसने भगवान् को उड़द के वही बाकले बहराये। तत्काल आकाश में देव छा गये। देवदुंदुभी बजने लगी। सुगंधित अचित्त जल की, सोनैयों, वस्त्रों और आभूषणों की वर्षा होने लगी। 'अहो दानम् अहो दानम्' ! के नाद से समस्त आकाश गूँजने लगा।

यह समाचार सुन कर सेठानी मूलाबाई धन को बटोरने के लिए पिता के घर से भागी आई। तब देववाणी हुई—'यह धन चन्दनबाला का है और दीक्षा के समय काम आएगा।' राजा को यह समाचार मिला। वह भी वहाँ आया और अपनी साली की पुत्री चन्दनबाला को पहचान कर विस्मित हुआ। चन्दनबाला की बेड़ियाँ टूट पड़ीं, हथकड़ियाँ खिर गईं, मस्तक पर पहले सरीखे बाल आ गये और वह उत्तम वस्त्राभूषणों से सज्जित बन गई।

जब भगवान् को केवलज्ञान हुआ तो चन्दनबाला ने दीक्षा ग्रहण की। वह ३६००० साध्वियों की नेत्री बनी।

जिस प्रकार भगवान ने द्रव्य से अमुक वस्तु लेना, क्षेत्र से अमुक जगह लेना, काल से अमुक समय पर लेना और भाव से अमुक प्रकार से लेना, यों अभिग्रह धारण किया, इसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी भी अभिग्रह धारण करते हैं।

चरणसत्तरी

जिस क्रिया का निरन्तर पालन किया जाता है उसे चरणगुण कहते हैं उसके ७० भेद इस प्रकार हैं:—

वय-समणधम्म-संजम-वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइ तवो कोह-निग्गहाइं चरणमेयं ॥

अर्थ—५ महाव्रत, १० प्रकार का श्रमण धर्म, १७ प्रकार का संयम, १० प्रकार का वैयावृत्य, ९ वाड़ ब्रह्मचर्य, ३ ज्ञानादि रत्न, १२ प्रकार का तप और ४ क्रोधादिनिग्रह, यह सब मिल कर ७० प्रकार चरणसत्तरी के हैं। इनमें से आचार्य के गुणों में पाँच महाव्रतों का वर्णन किया जा चुका है, दस प्रकार के वैयावृत्य का वर्णन तप के प्रकरण में हो चुका है। ९ वाड़ों का उल्लेख आचार्यजी के गुणों में हो गया है। १२ तपों का निरूपण तपाचार में कर चुके हैं और चार प्रकार के कषायनिग्रह का निरूपण भी आचार्य के प्रकरण में किया जा चुका है। दस श्रमण धर्मों का, १७ प्रकार के संयम का और तीन रत्नों का दिग्दर्शन यहाँ कराया जायगा।

दस श्रमणधर्म

खंती-मुत्ती य अज्जव-मद्दव-लाघव सच्चं।
संजम-तव-चियाए बंभचेरगुत्तीओ ॥

अर्थ—(१) क्षमा (२) निर्लोभता (३) सरलता (४) निरभिमानिता (५) लघुत्व (६) सत्य (७) संयम (८) तप (९) त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य, यह दस श्रमणधर्म या यतिधर्म कहलाते हैं।*

(१) क्षमा—क्रोध रूपी शत्रु का निग्रह करना क्षमाधर्म है। 'क्षमायां स्थाप्यते धर्मः' अर्थात् धर्म के रहने का स्थान क्षमा ही है। क्षमा के अभाव में कोई धर्म नहीं टिक सकता। इस कारण धर्म के दस लक्षणों में सबसे पहले क्षमा को स्थान दिया गया है। क्षमाशील पुरुष किसी के द्वारा कहे हुए कटुक वचन सुनकर ऐसा विचार करते हैं:—मैंने इसका कुछ अपराध किया है या नहीं किया है? अगर अपराध किया है तो उसके बदले मुझे कटुक शब्दों को सहन करना ही चाहिए। विना बदला चुकाये छुटकारा मिल नहीं सकता। अगर इस समय बदला नहीं चुकाऊँगा तो आगे ब्याज सहित चुकाना पड़ेगा। अच्छा ही हुआ कि यह यहीं चुकौता कर रहा है। अगर मैं ने अपराध नहीं किया है और यह कटुक वचन कह रहा है तो इससे मेरी क्या हानि है? यह अपने अपराधी से कह रहा है। मैं निरपराध हूँ। इसलिए इसकी गालियाँ मुझे लगती ही नहीं हैं। बेचारा अज्ञानी बोलते-बोलते स्वयं थक जायगा, तब चुप हो जायगा।'× इसके अतिरिक्त क्षमावान् पुरुष यह भी सोचते हैं—'यह मनुष्य मुझे चोर, जार, दुराचारी, ठग, कपटी, चाण्डाल, कुत्ता आदि कहता है सो ठीक ही कहता है। क्यों कि अभी नहीं तो पहले, इस भव में नहीं तो पूर्वभवों में यह कृत्य मैंने किये हैं और कुत्ता एवं चाण्डाल आदि की अवस्थाएँ भी मैं ने धारण की हैं। यह सत्य ही कह

---

* *धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय-शौचमिन्द्रियनिग्रहः।*
धैर्यं विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम्॥

—मनुस्मृति ६-२३।

मनुजी ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं:—(१) धृति, (२) क्षमा, (३) दम, (४) अस्तेय, (५) शौच, (६) इन्द्रियनिग्रह, (७) धैर्य, (८) विद्या, (९) सत्य, (१०) अक्रोध।

× *देते गाली एक हैं, पलटत होत अनेक।*
जो गाली देवे नहीं, रहे एक की एक॥

रहा है और सत्यवादी पर क्रोध करना योग्य नहीं है। इसके सिवाय यह जो वाक्य कह रहा है, वह तो बड़े शिक्षाप्रद हैं। यथाः—कोई 'मूर्ख' कहे तो सोचना चाहिए कि कहने वाला यह शिक्षा दे रहा है कि मैं ने अनन्त जन्म धारण करके अनन्त संसार में जन्ममरण करके अनेक दुःख उठाये हैं। फिर भी मेरी अक्ल ठिकाने नहीं आई। इसलिए यह कहता है कि अब तो तू ज्ञानी बना है, जरा समझ। इन कार्यों को छोड़ दे।

अगर कोई 'कर्महीन' अथवा 'अकर्मी' कहे या कहे कि 'तेरा खोज मिट जाय' तो यह वचन सुन कर क्षमाशील पुरुष को सोचना चाहिए यह तो मुझे मोक्ष प्राप्त करने का आशीर्वाद देता है, क्यों कि जो कर्महीन अथवा अकर्मी होता है, वही मोक्ष पाता है और उसी का खोज मिटता है।

अगर कोई 'साला' कहे तो सोचना चाहिए कि यह मुझे ब्रह्मचारी बनाता है; क्योंकि उत्तम पुरुष समस्त परस्त्रियों पर भगिनीभाव रखते हैं। अतः इसकी पत्नी भी जब मेरी बहिन है तो यह मुझे 'साला' कहे तो क्या अनुचित है?

इस प्रकार प्रत्येक बात को सीधी तरह समझी जाय तो वह सुखरूप बन जाती है। औषध की कडुता की ओर न देख कर उसके गुणों पर ही विचार करना चाहिए।

क्षमाशील को यह भी सोचना चाहिए कि जिसके पास जैसी वस्तु है वह वैसी ही दे सकता है। वह दूसरी वस्तु कहाँ से लाएगा? हलवाई की दुकान पर मिठाई मिलती है और चमार की दुकान पर जूते मिलते हैं। इसी प्रकार उत्तम जनों से अच्छे वचन प्राप्त होते हैं और अधम जनों से खराब वचन सुनने को मिलते हैं। अगर तुझे गाली बुरी लगती है तो उसे तू ग्रहण ही क्यों करता है? उसे तू अस्वीकार कर दे और अपने हृदय की पवित्रता को कलुषित मत होने दे। कोई विवेकी पुरुष अपने सुवर्ण-पात्र में विष्ठा नहीं भरता।

गाली देने वाला अपने सुकृत रूपी खजाने को नष्ट करता है, लुटाता है और मेरे कर्मों की निर्जरा करता है। अतः यह मेरा बड़ा उपकारी है।

कर्म-निर्जरा का ऐसा सुअवसर बार-बार प्राप्त होना कठिन है। आज मुझे अनायास ही यह प्राप्त हो गया है। इसे गँवा देना योग्य नहीं है। श्री हुक्म मुनि द्वारा रचित 'अध्यात्मप्रकरण' में लिखा है कि 'समभाव से एक ही गाली सहने वाले को ६६ करोड़ उपवासों का फल होता है। अगर तू गाली देने वाले को बदले में गाली देगा और उसकी बराबरी करेगा तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर ही क्या रह जायगा ? तू ने घोर परिश्रम करके जो ज्ञान प्राप्त किया है उसका फल ही क्या हुआ ?

अगर कोई अपशब्द कहता है तो उसके क्रोध की ओर ध्यान न देकर शब्दों की ओर ध्यान देना चाहिए। कहने वाला जो दुर्गुण बतलाता है, उनके विषय में विचार करना चाहिए। अगर वे दुर्गुण अपने भीतर मौजूद हैं तो सोचना चाहिए कि भीतरी रोग की परीक्षा के लिए वैद्य-डाक्टर को फीस देनी पड़ती है, फिर भी उनका एहसान मानना पड़ता है और रोग को दूर करने के लिए चिकित्सा करानी पड़ती है। लेकिन इस निन्दक ने मेरी नाड़ी आदि की परीक्षा किये बिना ही, कोई फीस लिये बिना ही भीतर का भयंकर रोग बतला दिया है। अगर मैं बदले में इसका अपकार करूँ तो कितनी नीचता होगी ? इस प्रकार विचार कर क्षमा धारण करनी चाहिए।

अगर निन्दक द्वारा कहे हुए दोष अपने भीतर विद्यमान न हों तो विचारना चाहिए कि--हीरा को काच कह देने से हीरा, काच नहीं बन जाता है। इसी प्रकार जब वास्तव में मैं बुरा नहीं हूँ तो इसके कहने से कैसे बुरा हो जाऊँगा ?

अगर कोई क्रोध के अधीन होकर अपशब्द कहने के बदले प्रहार करे-मारे तो क्षमाशील पुरुष विचार करते हैं कि—इसके और मेरे भवान्तर का कोई बदला होगा; सो यह ले रहा है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है:—

'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।'

अर्थात् किये कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। यहाँ नहीं चुकाऊँगा तो किसी अगले जन्म में ब्याज समेत चुकाना पड़ेगा। अतएव यह कष्ट समभाव से सहन करके अभी ऊरिन हो जाना अच्छा है।

गरीब कर्जदार को सौ रुपये ऋण चुकाना हो और वह साहूकार के सामने नम्रता प्रकट करके ७५ रुपये देकर क्षमा याचना करे तो साहूकार सन्तुष्ट होकर ले लेता है। इसी प्रकार शत्रु के समक्ष नम्रतापूर्वक अपराध की क्षमा माँग ली जाय तो क्षमा मिल सकती है और थोड़े में बात निवट जाती है। पानी से महाज्वाला भी शान्त हो जाती है तो नम्रता से शत्रु अपनी शत्रुता का त्याग कर दे, इसमें क्या आश्चर्य है? नम्रता से अवश्य ही वैर-विरोध मिट जाता है। अगर शत्रु का अपराध हो तो उसके शान्त हो जाने के बाद समझाने से वह सुधर जाता है, पश्चात्ताप करता है।

क्रोधावेश में अगर कोई मारता है तो मार खाने वाले विवेकशील पुरुष को सोचना चाहिए:—यह मारता है सो मुझे नहीं मारता है; मुझे (आत्मा को) कोई मार ही नहीं सकता। आत्मा के विषय में कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

अर्थात्—आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते; अग्नि जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और वायु सोख नहीं सकती।

आत्मा अजर है, अमर है, अविनाशी है, संसार की कोई भी भौतिक वस्तु उसका स्पर्श भी नहीं कर सकती। शरीर आत्मा से भिन्न है, पुद्गल का पिण्ड है! इसका नाश अवश्यंभावी है। तो फिर इस विनाशशील शरीर के लिए मैं अपने क्षमाधर्म को क्यों नष्ट करूँ?

यह भी सोचना चाहिए—जैसे प्रवीण बने हुए शिष्य की परीक्षा ली जाती है, इसी प्रकार यह मारने वाला मेरी धर्मनिष्ठा की परीक्षा ले रहा है। परीक्षा के समय में मुझे असफल नहीं होना चाहिए। अगर यह परीक्षक न मिलता तो कैसे समझ पाता कि मैं क्षमाधर्म को प्राणों के समान पालने की भगवान् की जो पहली आज्ञा है, उसका ठीक तरह पालन कर सका हूँ या नहीं कर सका हूँ? अतएव ऐसे अवसर पर क्षमाभाव धारण करके, अटल रह कर परीक्षा में उत्तीर्ण होकर मुझे मुक्ति का प्रमाणपत्र लेना चाहिए।

क्षमाशील पुरुष यह भी विचार करते हैं—अरे जीव ! तू ने नरक में यमों की यातना सहन की है और तिर्यञ्च अवस्था में चाबुक आदि की मार खाई है। यह मारने वाला उतनी कठोरता से वैसी मार नहीं मार रहा है। फिर क्यों घबराता है ? अगर समभाव से इस मार को सह लेगा तो सदा के लिए नरक-तिर्यञ्च गति के दुःखों से छुटकारा मिल जायगा। अतएव क्रोधी की इस मार को शान्ति पूर्वक सहन कर लेने में ही मेरा कल्याण है।

और भी सोचना चाहिए:—रात्रि के बिना दिन का ज्ञान नहीं होता। अमावस्या के घोर अन्धकार को देखकर ही लोग सूर्य के प्रकाश की महिमा समझते हैं। इसी प्रकार अगर यह क्रोधी न होता तो कैसे मालूम पड़ता कि तू क्षमावान् है ? वास्तव में यह क्रोधी ही तेरी प्रख्याति का कारण है। देख तो सही, जो दृष्टि मात्र से ही दूसरे को भस्म करने में समर्थ थे उन परम-श्रमण भगवान् महावीर ने गुवालों की मार सहन की। तेजोलेश्या फेंक कर भस्म करने की इच्छा रखने वाले गोशालक पर शीतल लेश्या फेंक कर उसके प्राणों की रक्षा की। डँसने वाले चण्डकोशिक सर्प को धर्मबोध देकर आठवें स्वर्ग में पहुँचा दिया। और इन्द्रजालिया कहने वाले गौतम को अपना सर्वश्रेष्ठ शिष्य बनाया। परमपिता प्रभु महावीर का हमें भी अनुकरण करना चाहिए। अपकार करने वालों पर भी उपकार करना चाहिए। निर्बल तो वैर ले ही नहीं सकता। जो बलवान् होने के साथ क्षमावान् होता है, उसकी बलहारी है ! ऐसे समर्थ क्षमाशील पुरुष निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। सरोवर, पृथ्वी और पुष्प दुःख देने वाले को भी सुख ही देते हैं, क्षमाशील पुरुष को भी ऐसा ही होना चाहिए। उसे दूसरे के सुख में ही अपना सुख मानना चाहिए। सच्चा क्षमावान् किसी का बुरा नहीं चाहेगा, तो दूसरा उसका बुरा क्यों चाहेगा ? फिर भी जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायगा।

क्षमा का सुन्दर फल प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। क्षमा से दोनों लोकों में सुख की प्राप्ति होती है। क्षमा के होने पर ही ज्ञानादि सद्गुण ठहरते हैं और पनपते हैं। उससे अनेक नवीन गुणों की प्राप्ति भी होती है। क्षमा संसार-सागर से तारने वाली नौका है। वह चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामकुम्भ

और कामधेनु आदि द्रव्य वस्तुओं से भी अधिक सुख देने वाली है। मन को पवित्र करने वाली है। वह माता के समान शरीर की रक्षा करने वाली है। ऐसा जानकर अखंड क्षमाभाव का आचरण करके उपाध्यायजी परमसुख प्राप्त करते हैं।

(२) निर्लोभता:—लोभ रूपी शत्रु का निग्रह करना निर्लोभता या सन्तोष धर्म है। 'सन्तोषः परमं सुखम्' अर्थात् सन्तोष से ही उत्कृष्ट धर्म की प्राप्ति होती है। सन्तोषशील जन विचार करते हैं कि—जितनी जितनी वस्तु प्राप्त होने का अनुबंध होता है, उतनी उतनी ही प्राप्त होती है। उसमें कोई भी न्यूनाधिकता नहीं कर सकता। तृष्णा रखने से कोई लाभ तो होता नहीं, उलटा कर्म का बंध होता है। कहावत है—'कुटुम्ब जितनी विटम्ब और सम्पत्ति जितनी विपत्ति' यह सच ही है। क्योंकि परिग्रह जितना ज्यादा होगा, उसे सँभालने की उतनी ही अधिक चिन्ता करनी पड़ेगी। इस पर विशेषता तो यह है कि काम में सिर्फ चार हाथ ज़मीन, आधा सेर अनाज और २५ हाथ कपड़ा ही आता है। बाकी की चिन्ता और सार-सँभाल मुफ्त में ही करनी पड़ती है।

फिर कितनी ही ऋद्धि क्यों न प्राप्त हो जाय, तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। चक्रवर्ती की सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि पा करके भी संभूम चक्रवर्त्ती को सन्तोष नहीं हुआ। उसने सातवें खण्ड पर भी विजय प्राप्त करने की इच्छा की। परिणाम क्या निकला? उसे समुद्र में डूब कर मरना पड़ा और सातवें खण्ड के बदले सातवें नरक का साधन किया। ऐसी दशा में मिट्टी के झौंपड़े से और तुच्छ सम्पत्ति या संतति से इच्छा की तृप्ति कैसे हो सकती है? तृष्णा आग के समान है। ज्यों-ज्यों ईंधन डाला जाय, आग त्यों-त्यों बढ़ती जाती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों भोगसामग्री जुटाते जाओ त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ती ही चली जाती है। अतएव सुखार्थी के लिए सन्तोष का अवलम्बन लेना ही उचित है।

आश्चर्य तो उन पर होता है जो तृष्णा की आग को बुझाने के लिए प्राप्त ऋद्धि-कुटुम्ब आदि का त्याग करके साधु बनते हैं; लेकिन फिर भी जो

तृष्णा के चंगुल में फँस जाते हैं, वे दासों के भी दास बन कौड़ी-कौड़ी के लिए मोहताज़ बन जाते हैं। जो साधु उपकरणों का अधिक संग्रह करते हैं, वे विहार के समय भारभूत हो जाते हैं। उन्हें प्रतिलेखना आदि में अधिक समय लगाना पड़ता है, जिससे ज्ञान-ध्यान में व्याघात होता है। जो साधु अपने उपकरण गृहस्थ के घर में रखते हैं, उनका प्रतिबन्ध होता है और आरंभ-समारंभ भी उन्हें अधिक करना पड़ता है। ऐसे लोभी-लालची साधु का आदर-सत्कार भी कम हो जाता है। इसके विपरीत जो सन्तोषी हैं, जिन्हें अपने शरीर की रक्षा की भी परवाह नहीं है, जो प्राप्त होती इच्छित वस्तु का भी परित्याग कर देते हैं, उन्हें कभी आकुलता-व्याकुलता नहीं होती; वे सन्तुष्ट और सुखी रहते हैं, उनके संकेत मात्र से लाखों का द्रव्य सुकृत में लगता है। मुक्ति-धर्म के धारक साधु का कर्त्तव्य है कि वह अपने पास की वस्त्र, पात्र आदि किसी भी उत्तम उपधि पर ममत्व धारण न करे। जब उत्तम साधु का योग मिले तो उनसे कहे—'कृपासिन्धो! मुझ पर दया करके इसे ग्रहण कीजिए और मुझे तारिए।' यदि वे उसे ग्रहण कर लें तो समझना चाहिए कि सचमुच आज कृतार्थ हो गया। मेरे नेश्राय की यह वस्तु ठिकाने लगी—सार्थक हुई। ऐसा विचार कर हर्षित होना चाहिए। इस प्रकार मुक्ति (निर्लोभता) धर्म की आराधना करके उपाध्यायजी सुखी होते हैं।

(३) आर्जव—कपट का त्याग करना आर्जव धर्म है। 'अज्जु धम्म-गई तच्चं' अर्थात् जिसमें सरलता होगी वह धर्म को धारण सकता है। ऐसा समझकर भीतर और बाहर एक-सा रहना चाहिए। अर्थात् जो बात मन में हो वही वचन से कहना चाहिए और जैसा वचन कहे वैसा ही कर्म करना चाहिए। यथाशक्ति क्रिया का पालन करे और यदि कसर रह जाय तो उसे छिपावे नहीं। दूसरे को उलटा समझाकर अपने दुर्गुणों को सद्गुणों के रूप में परिणत करना उचित नहीं है। कोई पूछे तो अपनी दुर्बलता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए। कहना चाहिए कि वीतराग भगवान् की आज्ञा तो ऐसी है, पर मैं उसे पूरी तरह पालन करने में असमर्थ हूँ। मैं जिस दिन भगवान् की आज्ञा को यथातथ्य पालन करूँगा, वह दिन धन्य होगा, परम कल्याणकारी होगा। इस प्रकार कहकर अपनी शुद्धता की

वृद्धि में उद्योगशील रहना चाहिए। केवल साधु का वेश धारण कर लेने से ही कल्याण नहीं हो सकता। वेश तो मात्र इतना अन्तर बतलाता है कि यह गृहस्थ है और यह साधु है। 'लोगे लिंगपओयणं'। जो साधु-वेश में रह कर गृहस्थ जैसे कार्य करता है वह किल्विषी जाति की नीच देव-योनि में जन्म ग्रहण करता है। उसके बाद बकरा, मुर्गा आदि होकर अपूर्ण आयु में मारा जाता है और अनन्त संसार-भ्रमण करता है। इस तथ्य को समझ कर साधु होने से पहले ही सोच लेना उचित है कि साधु की क्या-क्या जवाबदारी है? साधु का क्या कर्त्तव्य है? जब अन्तरात्मा साधुता का पालन करने के लिए उत्साहित हो तो साधु बनना चाहिए और साधु बनने के बाद शुद्धाचार का पालन करके अपनी आत्मा का तथा सदुपदेश आदि के द्वारा अन्य भव्य जीवों का उद्धार करके जैनशासन को खूब प्रदीप्त करना चाहिए। सरलतापूर्वक की हुई स्वल्प क्रिया भी भवभ्रमण मिटाने वाली होती है। ऐसा जान कर उपाध्यायजी कपट का सर्वथा त्याग करके पूर्ण सरलता धारण करते हैं। उनके मन, वचन और कर्म में लेशमात्र भी अन्यथा-पन नहीं होता।

(४) मार्दवधर्म:—अभिमानरूपी शत्रु का निग्रह करके विनम्रता, विनयशीलता को धारण करना मार्दवधर्म है। विनय महान् गुण है। जिन-शासन का मूल विनय ही है। विनय होने पर क्रमशः ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है।* अतएव कभी भी, किसी भी बात का अभिमान नहीं करना चाहिए। अगर संस्कारवश कभी अभिमान का भाव उत्पन्न हो तो इस प्रकार विचार करना चाहिए:—

---

* *विणयो जिणसासणमूलं, विणओ निव्वाणसाहगो।*
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कुओ धम्मो कुओ तवो?॥

अर्थात्—विनय ही जिनशासन का मूल है और विनय ही मुक्तिपथ में सहायक है। जो विनय से रहित है उसमें न संयम रहता है, न तप रहता है।

सूत्र—विणयाओ नाणं, नाणाओ दंसणं, दंसणाओ चरणं, चरणाओ होई मोक्खो।

अर्थात्—विनय से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, सम्यक्त्व से चारित्र प्राप्त होता है और चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार विनय से क्रमशः उत्तमोत्तम गुण प्राप्त होकर अन्त में मोक्ष मिलता है।

१—कदाचित् जाति का मद प्राप्त हो तो सोचना चाहिए कि—अरे प्राणी ! अनन्त संसार में अनादिकाल से भ्रमण करते हुए तू ने अनन्त बार चाण्डाल आदि के भव धारण किये हैं। विष्ठा के टोकरे ढोये हैं। सब की घृणा का पात्र बना है। अब क्यों जाति का मद करता है ?

२—कभी कुल-मद का भाव उत्पन्न हो जाय तो विचारना चाहिए—हे आत्मन् ! तू ने अनेक बार वर्णसंकर कुल में जन्म धारण किया है ! अनाचार का सेवन करके, नीच कृत्य करके तू निन्दनीय बना है। कुल का मद करने का तुझे क्या अधिकार है ?

३—सबल होने पर बल का गर्व अन्तःकरण में उत्पन्न हो तो सोचना चाहिए—रे जीव ! तीर्थङ्कर और चक्रवर्त्ती आदि महान् पुरुषों के सामने तेरा यह तुच्छ बल किस गिनती में है ?

४—लाभ का अभिमान होने पर विचार करना चाहिए—'लब्धि-धारी मुनिवरों के लाभ की तुलना में तेरा लाभ तिनके के बराबर है। नादान ! क्यों इस तुच्छ लाभ का अभिमान करता है ?

५—रूप का मद उत्पन्न होने पर समझना चाहिए कि—एक हजार आठ परमोत्तम लक्षणों के धारक तीर्थङ्कर भगवान् के रूप के सामने इन्द्रों का तेज भी उसी प्रकार फीका दिखाई देता है, जैसे सूर्य के आगे दीपक लगता है। तो फिर तेरा रूप किस गिनती में है ? दुर्गन्ध से भरी हुई अशुचि देह का रूप नष्ट होते क्या देर लगती है ?

६—तपस्या का अभिमान जागृत होने पर सोचना चाहिए—इस भूतल पर बड़े-बड़े वीर तपस्वी हो चुके हैं। महाप्रभु महावीर ने साढ़े बारह वर्ष और पन्द्रह दिन जितने लम्बे समय में सिर्फ ग्यारह महीने और उन्नीस दिन आहार किया था ! भगवान् ने छह मास का एक बार, पाँच दिन कम छह मास का एक बार, चार-चार महीने का नौ बार, तीन-तीन महीने का दो बार, दो-दो महीने का छह बार, अढ़ाई-अढ़ाई महीने का दो बार, पन्द्रह-पन्द्रह दिन का बहत्तर बार, १५ दिन का भद्रप्रतिमा व्रत, १६ दिन

का महाभद्रप्रतिमा व्रत, १६ दिन का शिवभद्रप्रतिमा व्रत, १२ बार भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा और २२९ बेलों का तप किया था ! यह सारी तपस्या चौविहार ही की थी। इस तप के समय में भगवान् ने पानी भी ग्रहण नहीं किया। भगवान् के इस घोर तप के सामने तेरी तपस्या कितनी है ?

७—श्रुत का मद प्राप्त हो तो सोचना चाहिए कि जगत् में एक से एक बुद्धिशाली पुरुष हुए हैं और आज भी विद्यमान हैं। गणधर महाराज की बुद्धि का क्या कहना है ? भगवान् के मुख से निकले हुए 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, विनष्ट होते हैं और ध्रुव भी रहते हैं; इन तीन शब्दों को सुन कर इतना श्रुतज्ञान प्राप्त कर लेते थे कि जिस श्रुत को लिखने के लिए इतनी स्याही की दरकार होती है कि जिसमें १६३८३ हाथी डूब जाएँ। इन अपूर्व और अद्भुत बुद्धि से सम्पन्न महापुरुषों के समक्ष तेरी बुद्धि की क्या गणना है ?

८—जब ऐश्वर्य-मद का विष हृदय में व्याप्त होने लगे तो विचार करना चाहिए—अरे नर ! तीर्थङ्करों के परिवार की तुलना में तेरा परिवार किसी गिनती में नहीं है।

इस प्रकार के विचार करके मद को उत्पन्न होते ही गला देना चाहिए। महान् कष्ट से, महान् पुण्य के योग से जो उत्तमता प्राप्त हुई है, उसे अभिमान की ज्वाला में भस्म नहीं कर देना चाहिए, वरन् उस उत्तमता का सदुपयोग करके अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहिए।

(५) लाघवधर्मः—ममत्व रूप रिपु को दलन करके समभाव की स्थिति को प्राप्त करना लाघवधर्म है। छोटी-सी नदी को पार करने वाले भी जब लंगोट के सिवाय और कुछ नहीं रखते तो संसार रूपी महादुस्तर सागर को पार करने के लिए तो और भी अधिक हलकापन अर्थात् लाघव चाहिए। पानी में तैरने के स्वभाव वाले तूँबे पर सन के और मिट्टी के आठ लेप चढ़ा दिये जाएँ और उसे पानी में डाला जाय तो वह डूब जाता है। फिर ज्यों-ज्यों वह मिट्टी गलती जाती है, लेप हटता जाता है, त्यों-त्यों तूँबा ऊपर उठता जाता है और पूरी तरह लेप रहित होने पर बिलकुल ऊपर आ

जाता है। जीव भी स्वभाव से निर्लेप और हलका है। किन्तु आठ कर्मों के लेप के कारण वह भारी हो रहा है और संसार-सागर में डूब रहा है। जीव में ज्यों-ज्यों ममत्व की कमी होगी—उसमें लाघव आएगा, त्यों-त्यों वह ऊपर उठता जायगा। अन्त में वह पूरी तरह ऊपर आ जायगा—मुक्ति प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर ममत्व का समूल नाश होते ही संसार के अन्त-मोक्षस्थान को आत्मा प्राप्त कर लेता है।

संसार में जितने भी दुःख हैं, उन सब का मूल कारण ममत्व ही है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये। जब कोई आदमी नदी में डूबता है तो उसके सिर पर बेशुमार पानी रहता है, किन्तु उसे तनिक भी बोझ नहीं मालूम होता। यदि वही मनुष्य उस जल में से निकल कर एक घड़ा ही पानी भर कर सिर पर रख लेता है तो उसे बोझ लगता है। इसका कारण यह क्यों न समझ लिया जाय कि जलाशय के पानी पर किसी का ममत्व नहीं होता और इसी कारण वह भारभूत भी नहीं होता। इसके विपरीत घड़े के पानी में ममत्व उत्पन्न हो जाता है और इस कारण वह भारभूत बन जाता है। संसार में प्रतिक्षण अनेकों की धनादि की हानि होती रहती है। उससे आपको दुःख क्यों नहीं होता? और जिसे आप अपना समझते हैं, उस धन या जन की हानि से आपको दुःख होता है। यहाँ तक कि एक पाई गुम हो जाने पर भी आपका चेहरा मलीन हो जाता है। इसका कारण कभी आप सोचते हैं? इसका एक मात्र कारण ममत्व× है। अतएव स्पष्ट है कि ममता ही वास्तव में दुःख का कारण है।

विवेकशील मनुष्य को विचार करना चाहिए कि—हे जीव! जिस पर तू ममता करता है, जिसे तू 'मेरा, मेरा' करके ग्रहण करता है, वे क्या वास्तवमें तेरे हैं? तनिक आन्तरिक नेत्र खोलकर देख। अगर वे तेरे होते तो तेरे हुक्म में चलते। तेरे दुःख के कारण न बनते। मगर कहीं ऐसा देखने में नहीं आता, बल्कि उलटा ही दिखाई देता है। दूसरे पदार्थों की बात जाने

× *आपा जहाँ है आपदा, चिन्ता जहाँ है शोक।*
ज्ञान बिना यह नहिं मिटे, जालिम मोटा रोग॥

दें और अपने शरीर का ही विचार कर। जिस शरीर को तुम अपना मानते हो और प्राणों से भी अधिक प्यारा समझते हो, स्नान, भोजन, वस्त्र आदि के द्वारा जिसका रक्षण-पोषण करते हो, जिसके लिए पाप-पुण्य का भी विचार नहीं करते हो, वह शरीर भी क्या तुम्हारी आज्ञा मानता है ? तुम्हारी इच्छा की परवाह करता है ? वही शरीर नाना प्रकार की व्याधियों का घर बन कर तुम्हें परेशान करता है। तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध जराजीर्ण, रुग्ण और अन्त में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। ऐसी दशा में अन्य जनों का तो कहना ही क्या है ?

और भी सोचो—तुम कहते हो—यह शरीर मेरा है, माता-पिता कहते हैं—यह मेरा पुत्र है। भाई-भगिनी कहते हैं—यह मेरा भाई है। स्त्री कहती है—यह मेरा भरतार है। पुत्र-पुत्री कहते हैं— यह मेरा पिता है। काका-काकी कहते हैं—यह मेरा भतीजा है। मामा-मामी कहते हैं—यह मेरा भानजा है। इस प्रकार अनेक नर-नारी इस शरीर को अपना-अपना बतलाते हैं। अब सोचो—यह शरीर किस का है ? तुम्हारा है या तुम्हारे स्वजनों का है ? अगर इस पर किसी की मालिकी हो तो वह इसे रख ले ! आज्ञा में चलावे ! कोई रोग न आने दे, बुढ़ापा न आने दे, तब समझा जाय कि शरीर पर उसका स्वामित्व है। मगर यहाँ तो यह उक्ति चरितार्थ होती है:—

ना घर तेरा, ना घर मेरा,
चिड़िया–रैन–बसेरा ॥

इस प्रकार सम्यक् विचार करके ममत्व-भाव त्याग कर सच्चा सुख प्राप्त करना ही उचित है। मनुष्य को सोचना चाहिए कि जड़ के संसर्ग से मैं ने इस संसार में असीम विडम्बना भुगती है। यह मेरी बड़ी भारी भूल हुई, क्योंकि जड़ का और मेरा कोई संबंध नहीं है। जड़ निराला है और मैं चेतन निराला हूँ।❀ जड़ अशाश्वत है, चेतन शाश्वत है। जड़ विनश्वर है, मैं अविनश्वर

❀ *गाथा—एगोऽहं नत्थि मे कोइ। नाहमन्नस्स कस्सइ॥*
अर्थात्—मैं अकेला हूँ, मेरा कोई भी नहीं है और न मैं किसी का हूँ। ऐसी वृत्ति से सदैव विचरे।

हूँ। जड़ में भेद और संघात होता रहता है, मैं अवस्थित हूँ। जड़ की ममता छूटने पर ही मैं निज स्वरूप को प्राप्त कर सकूँगा और उसके छोड़ने का यही शुभ अवसर है। ऐसा विचार कर शरीर संबंधी ममत्व को घटाना एवं हटाना चाहिए। इस तरह द्रव्य से वस्त्र-पात्र आदि सामग्री को कम करे और भाव से कषायों की न्यूनता करे तो धीरे-धीरे पूरी तरह उपाधि और कषायों का त्याग करके परम सुख का पात्र बन जाता है।

(६) सत्यधर्म—असत्य रूप शत्रु को निर्मूल करने वाला सत्यधर्म जगत्-विख्यात है। 'सत्यान्नास्ति परो धर्मः' सत्य के बराबर दूसरा धर्म नहीं है। परमोत्कृष्ट धर्म सत्य ही है। इसी कारण वह सबको प्रिय है। आप किसी को सच्चा कहेंगे तो वह प्रसन्न हो जायगा और झूठा कहेंगे तो बुरा मानेगा। इसी से उसकी सुरक्षा का बड़ा प्रबंध किया गया है:—

वचन-रत्न मुख-कोठरी, होठ कपाट जड़ाय।
पहरायत बत्तीस हैं, रखे परवश पड़ जाय॥

अर्थात्—जैसे उत्तम रत्न को तिजोरी में बंद करके मजबूत किवाड़ लगा कर ऊपर से पहरेदारों की व्यवस्था की जाती है, ताकि कोई चोर आदि उसे हरण न करले; उसी प्रकार वचन रूपी अनमोल रत्न की रक्षा के लिए भी मुख रूप तिजोरी के होठ रूप मजबूत किवाड़ लगा कर दांत रूप ३२ पहरेदार खड़े किये गये हैं।

जो खाते-खाते बचा हो, वह झूठा (जूठन) कहलाता है। उसे कोई भी भला आदमी अंगीकार नहीं करता। तो फिर सत्पुरुष साक्षात् झूठे को किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं? अर्थात् सज्जन पुरुष प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी, किंचित् भी असत्य का आश्रय नहीं लेते। वे विचार, उच्चार और आचार में सत्य ही सत्य रक्खेंगे।

काने को काना कहना, चोर को चोर कहना, कोढ़ी को कोढ़ी कहना, व्यभिचारी को व्यभिचारी कहना, इत्यादि कथन यों तो सच्चा मालूम होता है किन्तु दुःखप्रद होने से वे वचन भी मिथ्या ही गिने जाते हैं। अतएव निरर्थक बातें करके समय न गँवाते हुए, प्रयोजन होने पर सत्य, तथ्य, पथ्य,

प्रिय अवसर के अनुकूल निर्दोष वचन ही बोलना चाहिए ।※ सत्य ही धर्म का मूल है । सत्य ही मनुष्य का उत्तम आभूषण है । सत्यवादी को संसार में किसी का भय नहीं होता । वह लोक में अपनी उज्ज्वल कीर्ति का प्रसार करता है और स्वर्ग तथा मोक्ष का अधिकारी बनता है ।

(७) संयमधर्म—स्वच्छंदाचार को रोक कर अपनी इन्द्रियों को, और अपने अन्तःकरण को काबू में रखना संयमधर्म कहलाता है । यह संयम ही मोक्ष प्रदान करने वाला है । संयम के अभाव में कभी किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । सच्चे संयमी को इस लोक में लाभ-अलाभ का, सुख-दुःख का और संयोग-वियोग का हर्ष या शोक नहीं होता । वे सदैव आनन्द में रहते है । तुच्छ समझा जाने वाला प्राणी भी संयम को ग्रहण करके इसी लोक में नरेन्द्रों और सुरेन्द्रों का पूज्य बन जाता है । जिनेन्द्रप्ररूपित संयम की तुलना कुमार्गगामियों के संयम से नहीं की जा सकती । नमि राजर्षि ने शक्रेन्द्र से कहा था—

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥

अर्थात्—जो अज्ञानी-हिंसाधर्मी करोड़ों पूर्व वर्ष तक महीने-महीने का उपवास करता हो, पारणे में कुशाग्र पर आ जावे इतना अन्न खाता हो और अंजलि भर पानी पीता हो, और सम्यग्दृष्टि सिर्फ एक नवकारसी का तप करे, तो भी वह अज्ञानी का हिंसामूलक कठोर तप सु-आख्यात धर्म की सोलहवीं कला (भाग) की बराबरी नहीं कर सकता । ऐसे महान् लाभदायक

+ श्लोक—सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् । ब्रूयात् सत्यम् प्रियम् ॥ प्रियं च नानृतं ब्रूयात् ह्येष धर्मः सनातनः ॥१३४॥

अर्थ—मनुजी अपनी स्मृति के चतुर्थ अध्याय में कहते हैं कि—सत्य बोलो, प्रिय कर बोलो, सत्य भी प्रियकर बोलो, किन्तु सत्य होकर भी जो अप्रिय हो वह मत बोलो, किसी को प्रसन्न (खुश) करने को भी झूठ मत बोलो, किन्तु सदैव हितकारी पथ्यकारी बोलो, यही सनातनधर्म है ।

संयम की प्राप्ति होना बहुत कठिन है। क्योंकि ३६ तरह के मनुष्य संयम के अयोग्य कहे हैं। यथा-(१-२) आठ वर्ष से कम और सत्तर वर्ष से ऊपर वय वाला (३) स्त्री को देखते ही कामातुर हो जाने वाला (४) अधिक पुरुषवेद के उदय वाला (५) देहजड़ (बहुत मोटे शरीर वाला), स्वभावजड़ (हठी), और वचनजड़ (पूरी तरह बोल न सकने वाला), (६) कोढ़, भगंदर, जलोदर आदि राजरोगों वाला (७) राजा का अपराधी (८) देवयोग से अथवा शीत आदि के योग से विकल (९) चोर (१०) अंधा (११) दासीपुत्र (गोला), (१२) महाक्रोधी (१३) मूर्ख (१४) हीनांग-नकटा, काणा-लँगड़ा आदि (१५) कर्जदार (१६) मतलबी (मतलब सिद्ध होते ही संयम छोड़कर भाग जाने का इच्छुक), (१७) पूर्व—पश्चात् डर वाला (१८) जिसे स्वजन की आज्ञा न प्राप्त हुई हो। यह अठारह प्रकार के पुरुष संयम ग्रहण करने के पात्र नहीं हैं। तथा १८ इसी प्रकार की स्त्रियाँ और (१९) गर्भवती (२०) बालक को स्तन का दूध पिलाने वाली, यह बीस प्रकार की स्त्रियाँ संयम की पात्र नहीं हैं। यह ३८ और एक नपुंसक*। इस कथन से विचार कीजिए कि मनुष्य जन्म आदि सामग्री मिल जाने पर भी संयम की प्राप्ति होना कितना कठिन है ? और जिसे यह अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ हो, उसकी कितनी बड़ी पुण्याई समझनी चाहिए ? ऐसे चिन्तामणि के समान संयम को प्राप्त करके जो कंकर की तरह उसे फैंक देते हैं वे बड़े ही अज्ञान और अभागे हैं। इसके विपरीत जो सम्यक् प्रकार से, त्रिकरण की विशुद्धता के साथ संयम की आराधना, पालना और स्पर्शना करते हैं, वे महाभाग्यशाली उत्तम प्राणी हैं। वे ही मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

(८) तपधर्म—जैसे मृत्तिकामिश्रित स्वर्ण को आग में तपाने से वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जिसके द्वारा आत्मा में अनादि काल से लगे हुए विकार भस्म हो जाते हैं, वह तप कहलाता है। काम क्रोध आदि षड्

---

* ६ प्रकार से नपुंसक—१ राजा ने अन्तःपुर के रक्षणार्थ लिंग छेदन कर नाजर बनाया, २ नुकशान लगते अङ्ग शीनत्व पड़ा, ३ मन्त्र से ४ औषध से ५ ऋषि के शाप से और ६ देवयोग से, इन ६ कारणों से नपुंसक बने जिनको दीक्षा देने में हरकत नहीं, किन्तु जो जन्म से नपुंसक होवे उसको दीक्षा प्राप्त नहीं होती है।

रिपुओं के दमन करने का सबसे उत्तम और असंदिग्ध उपाय तप ही है। करोड़ों मन साबुन लगाकर अथाह पानी से धोने पर भी कोयले में उज्ज्वलता नहीं आ सकती, किन्तु जब उस कोयले को आग में झौंक दिया जाता है तब उसकी कालिमा विलीन हो जाती है और वह राख के रूप में स्वच्छ हो जाता है। तो फिर भाव ताप (तपश्चर्या) आत्मा को पवित्र बनावे, यह कौन-से आश्चर्य की बात है ?

(१) जो लोग पुद्गलानन्दी हैं, रस के लोलुप हैं, उनसे तप नहीं होता। वे कहते हैं—आत्मा सो परमात्मा है। इसे क्षुधा तृषा आदि से पीड़ित करके आत्मद्रोही क्यों बना जाय ? तब तप-धर्मावलम्बी कहते हैं—बड़े बड़े महापुरुषों ने तप का मार्ग ग्रहण किया है। उन्होंने शरीर को तपस्या से सुखा कर काष्ठ के समान बना दिया। बड़े-बड़े ऋषियों ने और औलियों ने तप किया। क्या उन सबको आत्मद्रोही कहा जा सकता है ? कदापि नहीं।

शरीर का पोषण करने से केवल रक्त, मांस आदि सात धातुओं की वृद्धि होती है और धातुओं की वृद्धि होने से काम-क्रोध आदि विकारों की वृद्धि होती है। इससे आत्मा विषय-भोग आदि में फँस कर अनेक प्रकार के साध्य और असाध्य रोगों का तथा शोकों का पात्र बनता है। वह यहाँ भी दुःखी होता है और वहाँ (परलोक में) भी दुःखी होता है। उसे नरक-निगोद के दुःखों का पात्र बनना पड़ता है। यह शरीर के पोषण करने का फल है! अतएव शरीर का पोषण करने के बदले आत्मा का पोषण करना चाहिए और आत्मा का पोषण धर्म से ही होता है। धर्म दोनों लोकों में परम सुखदाता है।

(२) कितनेक लोग कहते हैं:—तुम दयाधर्मी चींटी को भी नहीं सताते हो तो तप करके अपने देह को क्यों कष्ट देते हो ? उन्हें समझना चाहिए कि जैसे रोग-निवारणार्थ कटुक औषध ग्रहण की जाती है, पथ्य का पालन किया जाता है, उस समय कुछ कष्ट तो होता है, फिर भी वह कष्ट नहीं माना जाता। उसी प्रकार कर्म-रोग के निवारण के लिए तप रूप

औषध और संयम रूप पथ्य यद्यपि दुःखप्रद मालूम पड़ता है फिर भी उसका परिणाम तो अत्यन्त सुखदायी होता है।

खणमित्तदुक्खा बहुकालसुक्खा।

अर्थात्—थोड़ी देर दुःख सहन करके कर्मक्षय होने पर मोक्ष का अक्षय सुख देने वाला तप दुःखरूप नहीं वरन् सुखरूप ही है। दुःख सहन किये बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती है। कोई भी सुख, दुःख सहन किये बिना नहीं प्राप्त हो सकता।

(३) कोई-कोई कहते हैं:—पापकर्त्ता तो शरीर है, फिर आत्मा को क्यों सताते हो? ऐसा कहने वालों से पूछना चाहिए कि छाछ-मिले घृत को शुद्ध करने के लिए बेचारे बर्त्तन को क्यों सताते हो? भाई, जैसे बर्त्तन को तपाये बिना घी शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार शरीर बिना तपाये आत्मा की शुद्धि नहीं होती। अतएव मोक्षार्थी महात्माओं के लिए तप करना परमावश्यक है। तपस्वी पुरुष विचार करते हैं कि—जगत् के समस्त खाद्य पदार्थों को अनन्त बार खा चुके, पेय पदार्थों का अनन्त बार पान कर चुके, अधिक क्या, स्वयंभूरमण समुद्र से भी अनन्तगुणा अधिक माता का दूध पी चुके और अनन्त सुमेरु पर्वतों के बराबर मिश्री का भक्षण किया; फिर भी तृप्ति नहीं हुई! तो इन तुच्छ पदार्थों के भोग से क्या तृप्ति होने वाली है! ऐसा जानकर पुद्गलों की ममता का त्याग करके जो तपश्चर्या करते हैं, वे इस लोक में अनेक लब्धियाँ प्राप्त करते हैं और देवेन्द्र आदि के द्वारा भी पूजनीय होते हैं और आगे सिद्ध पदवी प्राप्त करते हैं। तप कर्म-वन को भस्म करने के लिए दावानल के समान है। तप काम-शत्रु का विध्वंस करने में वासुदेव के समान है। तृष्णा रूपी बेल को छेदने में हथियार के समान है। तप के द्वारा आत्मा निविड कर्मबंधन से छुटकारा पाकर अक्षय सुख प्राप्त करता है।

(६) त्यागधर्म—एक प्रकार से त्यागधर्म सब धर्मों में प्रधान है। त्याग के बिना कोई भी धर्म नहीं टिक सकता। अतएव त्याग धर्म की नींव है। त्याग का अर्थ है-ममत्व भाव का त्याग करना। ममत्व का सर्वप्रथम आधार

शरीर है। फिर संसार के अन्य पदार्थ, जिन्हें जीव ने अपना मान रक्खा है। किन्तु विवेकवान् पुरुष को समझना चाहिए कि ममता दुःखों का मूल है। आख़िर तो जितने भी आत्मा से भिन्न पर पदार्थ हैं, सब अलग होने वाले हैं। न किसी का संयोग सदा रहा है, न सदा रहेगा। जब उनका संयोग छूटने ही वाला है तो फिर उन पर ममता क्यों की जाय ? ममता करने से उन पदार्थों का वियोग होने पर आत्मा में अशान्ति होती है, शोक होता है और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान होता है। इन से आत्मा अत्यन्त कलुषित हो जाती है।

त्यागधर्म को धारण करने से लोकोत्तर लाभ तो होता ही है, लेकिन लौकिक दृष्टि से भी त्याग का बहुत महत्त्व है। संसार की विभूति त्यागी के चरणोंमें लोटती है। फिर भी त्यागी जन उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। जो कूप पानी को ग्रहण करता रहता है पर उसका त्याग नहीं करता उसके पानी में दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है, वह बेकाम हो जाता है। इसी प्रकार जो सम्पत्ति आदि को ग्रहण करता है परन्तु उसका त्याग नहीं करता उसकी सम्पत्ति व्यर्थ हो जाती है ! त्याग से जगत् वशीभूत हो जाता है। अतएव सदैव त्याग धर्म की आराधना करनी चाहिए।

(१०) ब्रह्मचर्यधर्मः—कामशत्रु को निर्दलन करने वाला ब्रह्मचर्य कहलाता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य को भगवान् कहा है तथा गौतम ऋषि ने कहा है:—

आयुस्तेजो बलंवीर्यं, प्रज्ञा श्रीश्च महाशयः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च, हन्यतेऽब्रह्मचर्यया ॥

अर्थात्—जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते हैं, उनकी आयु, उनका तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, शोभा, लक्ष्मी, यश और पुण्य नष्ट हो जाता है। वह परमात्मा का प्रिय नहीं रहता।

इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की गई है और अब्रह्मचर्य से होने वाली हानियों को प्रकट किया गया है। ऐसा जान कर अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। कदाचित् मन चंचल हो जाय तो विचार

करना चाहिए कि:—(१) घृणोत्पादक और अशुचि के भण्डार इस शरीर में तेरे जैसे विवेकशील और पवित्र आत्मा का मोहित होना योग्य नहीं है। (२) अरे मूढ़! जिस स्थान में नौ महीने रह कर महान् कष्ट सहन किया, घोर मुसीबत उठा कर छुटकारा पाया, फिर वहीं जाने की इच्छा करते हुए तुझे लज्जा नहीं आती! (३) जैसा तेरी माता और भगिनी का आकार है, वैसा ही सब स्त्रियों का है। अतएव मूढ़ता को त्याग कर सब स्त्रियों को माता के समान ही मानना चाहिए। (४) अनादि-काल से जन्म-मरण करते हुए संसार के सब प्राणियों के साथ सब प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर चुका है। जरा उस पर भी विचार कर। (५) विष्ठा को देख थू-थू करता है, रक्त का दाग लग जाय तो उसे धोये बिना तुझे चैन नहीं पड़ता, जूठन को देख कर तेरा जी मचलाता है, फिर विष्ठा के भण्डार, रक्त के मथन और अधर-रस (थूक) के चाटने में घृणा क्यों नहीं आती? उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है:—

जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई॥

—उ० अ० १–४

अर्थात्—भूख का मारा कुत्ता सूखी हड्डी के टुकड़े को चाटता है। हड्डी की तीखी नौंक से तालु में घाव पड़ जाता है और उसमें से खून आने लगता है। उस खून का आस्वादन करके वह और अधिक चाटता है। इससे उसकी तालु में घाव पड़ जाता है। उसमें कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं और अन्त में उसका सारा भेजा सड़ जाता है। कान भी सड़ने लगते हैं। वह सड़े कान वाला कुत्ता कीड़ों से, मक्खियों से, दुर्गन्ध से लोगों की दुत्कार से घोर दुःखी होकर, सिर पटक-पटक कर मर जाता है। इसी प्रकार कामासक्त पुरुष, स्त्री के संयोग में मुग्ध होकर, अपने वीर्य के नाश से सुख मानता हुआ सुजाक, प्रमेह आदि अनेक भयानक बीमारियों से सड़ता है और रो-रो कर मृत्यु का ग्रास बन कर नरक में जाता है। नरक में यमदेवता उसे फौलाद की तपी हुई पुतली के साथ आलिंगन करने के लिए विवश करते हैं। उस समय उसकी वेदना का पार नहीं रहता।

(६) आराम होने पर गूमड़े में मीठी-मीठी खुजली चलती है। जो मनुष्य उसे खुजला लेता है, उसके विकार की वृद्धि होती और वह फिर दुःखी होता है। जो अपने मन को वश में रख कर खुजलाता नहीं है, उसका दर्द शीघ्र ही मिट जाता है और वह सुखी हो जाता है। इसी प्रकार इस मनुष्य-जन्म में, कर्म रूप रोग के आराम होने का समय आने पर विषयों की अभिलाषा अधिक होती है। ऐसे अवसर पर जो अपने अन्तःकरण को काबू में कर लेते हैं, वे जन्म-जरा-मरण के दुःखों से छुटकारा पा लेते हैं और मोक्ष के अनन्त सुख के भोक्ता बन जाते हैं।

इस प्रकार के विचार करके विषयाभिलाषा को नष्ट करके ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्यस्य ये गुणाः। शृणु त्वं वसुधाधिपः!
आजन्म मरणाद्यस्तु. ब्रह्मचारी भवेदिह॥
न तस्य किञ्चिदप्राप्य-मिति विद्धि नराधिप!
बहवः कोटयस्त्वृषीणां ब्रह्मलोके वसन्त्युत॥
सत्वे रतानां सततं, दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं वहेद् राजन्! सर्वं पापनुयसितम् (?)॥

भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहतेः—हे राजन्! ब्रह्मचर्य के गुण सुनो। जिसने जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन किया है, उसे किसी भी गुण की कमी नहीं रहती। स्वयं परमात्मा और तथा सब ऋषि-मुनि उसके गुण गाते हैं। वह इस जन्म में अनेक सुख भोग कर अन्त में परम पदवी प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी निरन्तर सत्यवादी, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, नीरोग, सद्भाव सहित, पराक्रमी, शास्त्रज्ञ, प्रभु का भक्त और उत्तम आराधक होकर सभी पापों का क्षय करके सिद्धगति प्राप्त करता है।

१७ प्रकार का संयम

●

(१) पृथ्वीकाय संयम :—जवार के दाने के बराबर पृथ्वीकाय के खण्ड में असंख्य जीव हैं। यदि उनमें से एक-एक जीव निकल कर कबूतर

के बराबर शरीर धारण करे तो उनका एक लाख योजन के जम्बूद्वीप में भी समावेश न हो।* इतने अधिक जीवों का पिण्ड जानकर साधु पृथ्वीकाय का स्पर्श भी नहीं करते हैं। फिर मकान बँधवाने, ज़मीन खुदवाने आदि पृथ्वीकाय की घात करने वाले कार्य तो कर ही कैसे सकते हैं? साधुगण पृथ्वीकाय की घात का उपदेश भी नहीं देते।

(२) अप्कायसंयम—पानी के एक बूँद में असंख्यात जीव हैं। उस बूँद के सभी जीव निकल कर यदि भ्रमर के बराबर शरीर बनावें तो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में भी उनका समावेश नहीं हो सकता। ऐसा जानकर साधु सचित जल के स्पर्श से दूर रहते हैं। पानी के विरल बूँद पड़ते हों तो भिक्षा के लिए भी बाहर नहीं निकलते। ऐसी स्थिति में स्नान आदि के लिए जलकाय की हिंसा का उपदेश कैसे कर सकते हैं?

(३) तेजःकायसंयमः—अग्नि की एक चिनगारी में असंख्यात जीव हैं। सब जीव निकल कर अगर राई के बराबर-बराबर शरीर बनावें तो उनका जम्बूद्वीप में समावेश नहीं हो सकता। ऐसा जानकर साधु अग्नि का स्पर्श वाला आहार भी ग्रहण नहीं करते हैं। तो फिर धूपदीप आदि करने का अथवा पचन-पाचन आदि क्रियाएँ करने का उपदेश किस प्रकार दे सकते हैं?

(४) वायुकायसंयमः—हवा के एक झपट्टे में असंख्यात जीव हैं। अगर वे सब जीव बड़ के बीज के बराबर शरीर धारण कर लें तो उनका जम्बूद्वीप में समावेश नहीं हो सकता। ऐसा जानकर साधु सदैव मुख-वस्त्रिका धारण किये रहते हैं। फिर वे वाद्य बजाने या पंखा करने आदि वायुकाय की हिंसा का जनक उपदेश किस प्रकार दे सकते हैं?

(५) वनस्पतिकायसंयमः—धान्य के प्रत्येक दाने में, एक-एक जीव है। हरितकाय भाजी आदि में असंख्यात जीव हैं और जमींकन्द आदि में अनन्त जीव हैं। ऐसा समझ कर मुनिजन वनस्पति का स्पर्श तक नहीं

*जम्बुद्वीप संख्यात योजन का है, जिसमें कबूतर जैसे संख्यात अंगुल की काया वाले जीव संख्यात ही समा सकते हैं और पृथ्वी काय के कण में तो असंख्यात जीव हैं, इसलिए जम्बूद्वीप में थोड़े जीव समाये और बाकी बहुत जीव बचे।

करते। फिर उसके फल, फूल पत्र आदि के छेदन-भेदन का उपदेश तो दे ही कैसे सकते हैं?

किसी-किसी कहना है कि पाँच स्थावर कायों में जीव ठीक तरह दिखाई नहीं देता। अतएव उनमें जीव के अस्तित्व की श्रद्धा कैसे की जाय? उन्हें जानना चाहिए कि—(१) जैसे शरीर के भीतर की हड्डी सजीव होती है उसी प्रकार पृथ्वी के भीतर के पाषाण, मृत्तिका आदि भी सजीव ही होते हैं। बाहर निकालने के बाद, शस्त्रप्रयोग से वे निर्जीव हो जाते हैं। (२) रेल के एंजिन में पानी बदलना पड़ता है, सो इसी कारण कि वह गर्मी से निर्जीव हो जाता है। (३) प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि अपना भक्ष्य मिलने से जिन्दी रहती है; अन्यथा मर जाती है। (४) वायु में प्रत्यक्ष ही गमन करने की शक्ति है। (५) हरितकाय, मनुष्य के समान पृथ्वी और पानी के संयोग से उत्पन्न होती है। वनस्पति अपनी बाल्यावस्था में कोमल होती है, तरुणावस्था में बहारदार होती है और वृद्धावस्था में दीन-हीन तथा दुर्बल हो जाती है। वनस्पति में रुग्णता, नीरोगता आदि जीव के अनेक विकार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। अब भारतवर्ष के प्रसिद्ध डाक्टर जगदीशचन्द्र ने यंत्रों के द्वारा भी दिखला दिया है कि वनस्पति निर्जीव नहीं, सजीव है।

आचारांगसूत्र में कहा है कि—जैसे जन्म के अन्धे, बहिरे, गूँगे और अपंग मनुष्य को तीखे शस्त्र से, मस्तक से लेकर पैरों तक छेदे-भेदे तो उसे दुःख होता है, किन्तु वह उस दुःख को प्रकाशित नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्थावर जीवों के छूने मात्र से उन्हें दुःख होता है, मगर बेचारे कर्माधीन होकर, परवश में पड़े हुए हैं। वे अपने दुःख को प्रकट नहीं कर सकते। ऐसे अनाथ निराधार जीवों की रक्षा पूर्ण संयमी ही कर सकते हैं।

(६-९) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—इन चार प्रकार के जीवों की भी रक्षा करना संयम का प्रधान अङ्ग है। साधुगण इनकी रक्षा के लिए सदैव प्रमार्जना और प्रतिलेखना आदि में तत्पर रहते हैं। वे किसी भी त्रस जीव की हिंसा मन से भी नहीं चाहते तो वचन से उपदेश कैसे दे सकते हैं?

श्री आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में कहा है—कितनेक अज्ञानी जीव शरीर की रक्षा करके आयु का निर्वाह करने के लिए, उत्सव आदि प्रसंगों पर यश प्राप्त करने के लिए, पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए मान से प्रेरित होकर, जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए और शारीरिक या मानसिक दुःख से छूटने के लिए स्वयं हिंसा करते हैं। यह हिंसा करते समय तो आनन्ददायक प्रतीत होती है किन्तु आगे दुःखप्रद हो जाती है। संसार सम्बन्धी कार्यों के लिए की हुई हिंसा अहित करने वाली है और धर्मार्थ की जाने वाली हिंसा अबोधि (सम्यक्त्व के नाश) का कारण है। ऐसा जान कर संयमी पुरुष किसी भी प्रकार के जीव की हिंसा नहीं करते हैं।

(१०) अजीवकायसंयमः—संयमी साधु वस्त्र, पात्र, पुस्तक, रजोहरण, पाट, बाजौठ आदि प्रत्येक वस्तु को यतनापूर्वक ही ग्रहण करे, यतनापूर्वक ही उठावे और यतनापूर्वक ही काम में लावे। मुद्दत पूरी होने से पहले उसे बेकाम न करे। क्योंकि बिना आरम्भ के कोई वस्तु बनती नहीं है और दातार को बिना मूल्य चुकाये मिलती नहीं है। उसने अपनी प्राण-प्यारी वस्तु साधु को दे दी है, सो केवल धर्मबुद्धि से ही दी है। जो साधु दूसरी नवीन वस्तु के लालच से या बिना कारण ही पास की वस्तु को बिना मुद्दत पूरी हुए फैंक देता है या नष्ट कर देता है, वह दोष का पात्र होता है। इस प्रकार अजीव वस्तु की रक्षा करना और उसे यतनापूर्वक काम में लाना अजीवकायसंयम है।

(११) पेहा (प्रेक्षा) संयमः—किसी भी वस्तु को प्रथम अच्छी तरह देखे बिना, परीक्षा किये बिना उपयोग में नहीं लाना चाहिए। इस दृष्टि से रात्रि में चारों ही प्रकार के आहार को न अपने पास रक्खे और न भोगे। इससे प्राणियों की भी रक्षा होती है और विषैले प्राणियों से अपनी भी रक्षा होती है।

(१२) उपेहा (उपेक्षा) संयमः—उपदेश द्वारा मिथ्यादृष्टियों को सम्यग्दृष्टि बनाना तथा मार्गानुसारी को श्रावक अथवा साधु बनाना, जो धर्म से या संयम से चलायमान हो उसे स्थिर करना, जो धर्मभ्रष्ट हो उसको

परिचय-संसर्ग न करना उपेहासंयम है। क्योंकि आगम में कहा है—'सद्धा परम दुल्लहा' अर्थात् श्रद्धा की प्राप्ति होना बहुत कठिन है। इसी प्रकार गुरु, ज्ञानी, रोगी, तपस्वी तथा नवदीक्षित मुनि की यथायोग्य सेवा-भक्ति भी करनी चाहिए।

(१३) प्रमार्जनासंयमः—अप्रकाशित स्थान में तथा रात्रि के समय रजोहरण से भूमि को प्रमार्जन करके प्रयोजन होने पर आवागमन करे। वस्त्र, पात्र या शरीर पर किसी जीव के होने की आशंका हो तो पूँजणी से प्रमार्जन करके उठाए।

(१४) परिठावणियासंयमः—मल, मूत्र, श्लेष्म, नख, केश, अशुद्ध आहार, मृतक शरीर आदि अनुपयोगी वस्तुओं को इस प्रकार परिठावे (डाले) जिससे हरितकाय, दाने और चीटी आदि जीवों की हिंसा न हो।

(१५-१७) मन-वचन-कायसंयमः—इन तीनों योगों को अप्रशस्त एवं अशुभ विचार, उच्चार और आचार से बचाकर प्रशस्त और शुद्ध विचार, उच्चार और आचार में प्रवृत्त करना।

सत्तरह प्रकार का संयम दूसरी तरह से भी गिना जाता है। वह इस प्रकार—पाँच आस्रवों का त्याग करना, पाँच इन्द्रियों का दमन करना, चार कषायों का निग्रह करना और तीन योगों को वश में करना।

रत्नत्रय



सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाय, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और संसार की कारणभूत क्रियाओं का परित्याग करके आत्मस्वरूप में रमण करना सम्यक्चारित्र है। इन तीन रत्नों का आराधन, पालन और स्पर्शन करना मोक्ष का मार्ग है। इन तीनों का विस्तारपूर्वक कथन तीसरे प्रकरण में तीनों आचारों द्वारा किया जा चुका है।

आठ प्रभावना

प्रभावना सम्यग्दर्शन का एक अंग है। जिनशासन की महिमा का विस्तार करना प्रभावना है। प्रभावना प्रधानतया आठ प्रकार से होती है; अतएव उसके आठ प्रकार हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) प्रवचनप्रभावना—सब प्रकार के जैनागमों का, जैनग्रन्थों का तथा षट्दर्शन के अनेक शास्त्रों का पठन, मनन, निदिध्यासन कर, उनके तात्पर्य अर्थ परमार्थ को संक्षिप्त शब्दों में ग्रहण करके कंठस्थ करना, बार-बार अनुप्रेक्षा के साथ आवृत्ति करना जिससे कि आवश्यकता के समय स्मरण हो जाय और जो जिस मत का अनुयायी हो उसे उसके मत के अनुसार उत्तर दिया जा सके और धर्म की प्रभावना की जा सके।

(२) धर्मकथाप्रभावना—धर्मोपदेश के द्वारा धर्म को दिपाना। श्रीस्थानांगसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध में चार प्रकार की धर्मकथा बतलाई है:—(१) आक्षेपिणी (२) विक्षेपिणी (३) संवेगिनी और (४) निर्वेगिनी।

(क) श्रोता के हृदय पर हूबहू चित्र-सा अंकित कर देना, अर्थात् किसी विषय का ऐसा सुन्दर वर्णन करना जिससे श्रोता का चित्त उसके रस में डूब जाय, सो आक्षेपिणी कथा है। इस कथा के चार भेद हैं—(१) पंचाचार का तथा साधु-श्रावक के आचार का उपदेश देना (२) व्यवहार में प्रवृत्ति करने की विधि तथा उपदेशक बनने की विधि तथा प्रायश्चित्त आदि आदि आत्मशुद्धि करने की विधि प्रकाशित करना (३) अपने कौशल से श्रोता के मन में उत्पन्न हुए संशय को समझकर उसके पूछे बिना ही समाधान करना अथवा प्रश्न पूछने पर पूछने वाले को संक्षिप्त शब्दों में ऐसा समाधान करना जिससे उसके हृदय में बात ठँस जाय। (४) परस्पर विरोधरहित—स्याद्वाद शैली से सातों नयों के पक्ष का समर्थन करते हुए, श्रोता की रुचि के अनुसार किसी भी मत के लिए अपवादजनक शब्दों का प्रयोग न करते हुए, अपने सिद्धान्त का प्रकाश करते हुए, अन्य के अनाचीर्ण को दिखलाते हुए सत्य पथ की उत्कृष्टता सिद्ध करना।

(ख) जो पुरुष सन्मार्ग को छोड़कर उन्मार्ग की ओर जा रहा है अथवा चला गया है, उसे फिर सन्मार्ग में स्थापित करने के लिए जो उपदेश दिया जाता है, वह विक्षेपिणी कथा है। इस कथा के भी चार प्रकार हैं—(१) अपने मत का प्रकाश करता हुआ बीच-बीच में अन्य मत के भी चुटकले कहता जाय, जिससे श्रोता को विश्वास हो जाय कि इनका मत भी हमारे मत से मिलता-जुलता है। (२) परिषद् में अन्यमतावलम्बी जब अधिक हों तब उनके मत पर प्रकाश डालता हुआ, बीच-बीच में मिथ्यात्व का भी जिक्र करता जाय, जिससे श्रोता मिथ्यात्व को त्यागने की इच्छा करे। (४) मिथ्यात्व का रूप बतलाते-बतलाते, बीच-बीच में सम्यक्त्व का भी कथन करता जाय जिससे सम्यक्त्व ग्रहण करने की इच्छा करे।

(ग) जिस कथा से श्रोता के अन्तःकरण में वैराग्य भाव उमड़े, वह संवेगिनी कथा कहलाती है। इस कथा के भी चार प्रकार हैं:—(१) इस लोक में प्राप्त सम्पत्ति की अनित्यता प्रकट करना और मनुष्य जन्म, शास्त्रश्रवण और जिनभक्ति की दुर्लभता बतलाना, जिससे श्रोता सांसारिक पदार्थों से अनुराग हटावे और धर्म में अनुराग बढ़ावे। (२) परलोक सम्बन्धी नरक आदि के दुःखों का और स्वर्ग-मोक्ष के सुखों का वर्णन करे, जिससे श्रोता नरक आदि के दुःखों से डरे और स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करने के लिए उत्सुक बने। (३) स्वजन मित्र आदि सांसारिक सम्बन्धियों की स्वार्थपरायणता और धर्मात्माओं की परोपकारपरता का वर्णन करे, जिससे श्रोताओं का चित्त कुटुम्बियों की ओर से हट कर सत्संगति करने के लिए उत्सुक बने और (४) पर पदार्थों से सम्पर्क करने वाले, विभाव परिणति में रमण करने वाले विडम्बनाओं के पात्र बनते हैं और मुक्ति अर्थात् ज्ञान-ध्यान की आराधना करने वाले समस्त दुःखों से छुटकारा पाते हैं, इस प्रकार समझाना जिससे श्रोता पुद्गलों का परिचय त्याग कर ज्ञानादि रत्नत्रय की आराधना में उत्सुक बने।

(घ) जिस कथा को सुन कर श्रोता की चित्तवृत्ति संसार से निवृत्ति धारण करे, उसे निर्वेगिनी कथा कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं:—(१) चोरी, जारी आदि कितने ही कुकर्म ऐसे हैं जिनसे इसी लोक में राजदण्ड, कारावास, गर्मी, सुजाक आदि रोगों से पीड़ित होकर लोग अकालमृत्यु के

ग्रास बनते हैं। इस प्रकार का कथन ऐसे प्रभावशाली ढंग से करना जिससे श्रोताओं के चित्त में कुकर्मों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाय। (२) तप, संयम, ब्रह्मचर्य, दान, क्षमा आदि कितनेक ऐसे कर्म हैं, जिनसे इसी लोक में मनुष्य इष्ट वस्तु को प्राप्त करने वाला, जगत्पूज्य, निराकुल और सुखी बन सकता है। इस प्रकार का कथन करे जिससे कि श्रोता सद्गुणों के लिए उत्सुक हो। (३) प्रबल पुण्य के उदय से कदाचित् खोटे कामों का, अशुभ कर्मों का फल इस लोक में न मिला तो आगामी भव में—नरक-तिर्यञ्च आदि गतियों में अवश्य भोगना पड़ेगा। इस प्रकार परलोक का भय बतला कर श्रोता को पाप से बचाना। (४) कदाचित् पहले के प्रबल पाप-कर्म के उदय से धर्मक्रिया का फल इस लोक में न मिला तो आगे के भव में अवश्य मिलेगा। करनी कभी निष्फल नहीं हो सकती। श्रोता के हृदय में यह भाव ठँसा कर परलोक के सुखों के लिए उत्सुक बनाना।

इस प्रकार चार कथाओं के सोलह प्रकारों द्वारा धर्मकथा कह कर धर्म का प्रभाव फैलाना धर्मकथाप्रभावना है।

(३) किसी जगह जिनमत में स्थित धर्मात्मा पुरुष को, पाखण्डी लोग समझाकर धर्मभ्रष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हों अथवा साधुओं की अवहेलना-निन्दा करके महिमा घटा रहे हों तो वहाँ पहुँच कर अपने शुद्ध आचार द्वारा, महाजनों की सहायता द्वारा या चर्चा द्वारा सत्य-असत्य का भेद समझाकर सत्य पक्ष की स्थापना करके और मिथ्यापक्ष का खंडन करके धर्म को दीप्त करना।

(४) त्रिकालज्ञप्रभावना—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों में कथित भूगोल का ज्ञाता बनना, खगोल, निमित्त, ज्योतिष आदि विद्याओं में पारंगत होना, जिससे तीनों कालों सम्बंधी अच्छी—बुरी बातों का ज्ञान हो सके; लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि जानकर उपकारक और कल्याणकारी जगह में निस्वार्थ भाव से उनको प्रकाशित करना। किन्तु निमित्त नहीं बतलाना। आपत्ति के समय सावधान रहना, जिससे जिनशासन की प्रभावना बढ़े।

(५) तपःप्रभावना—यथाशक्ति दुष्कर तपस्या करना, जिसे देखकर लोगों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न हो। अन्यमतावलम्बियों की तपस्या तो नाम मात्र की है। वे एक उपवास में भी फलाहार खाते हैं, मिठाई खाते हैं और कहते हैं कि हम तपस्या—उपवास कर रहे हैं! किन्तु जैनों की तपस्या दुष्कर होती है। उससे लोगों के चित्त प्रभावित होते हैं।

(६) व्रतप्रभावना—घी, दूध, दही, आदि विगयों (विकृतियों) का त्याग, अल्प उपधि, मौन, कठिन अभिग्रह, कायोत्सर्ग, भर जवानी में इन्द्रिय निग्रह, दुष्कर क्रिया आदि का आचरण करके धर्म को दिपाना।

(७) विद्याप्रभावना—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, परशरीरप्रवेशनी, गगनगामिनी आदि विद्याओं में तथा मंत्र शक्ति, अंजनसिद्धि, गुटिका, रससिद्धि आदि अनेक विद्याओं में प्रवीण हो, फिर भी इनका प्रयोग न करे। जिन धर्म की प्रभावना का कोई विशेष अवसर आ पड़े तो लोगों में चमत्कार उपजावे और फिर प्रायश्चित्त कर ले।

(८) कविप्रभावना—अनेक प्रकार के छंद, कविता, ढाल, जोड़, स्तवन आदि उत्तम काव्य रच कर तथा काव्य के अनुभव द्वारा गूढ़ अर्थ के रस को समझ कर आत्म ज्ञान की शक्ति प्राप्त करना और जैनधर्म को दिपाना।

उपर्युक्त आठ प्रभावनाओं में से यथाशक्ति किसी भी प्रभावना के द्वारा जैनधर्म की महिमा को बढ़ाना और फैलाना उचित है। अर्थात् लोगों का चित्त जैनधर्म की ओर आकर्षित करके उन्हें धर्मप्रेमी बनाना चाहिए। प्रभावना के द्वारा यदि चमत्कार उत्पन्न हो और उससे महिमा, प्रतिष्ठा हो तो उसका गर्व न करे। अभिमान करने से गुणों में मन्दता आ जाती है। जैसे दृष्टिदोष (नज़र) लगने से अच्छी वस्तु नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अभिमान करने से भी अच्छाई नष्ट हो जाने का भय बना रहता है। अतएव अनेक गुणों का सागर होकर तथा सभी कुछ करने में समर्थ होकर भी सदैव निरभिमान—नम्र बना रहना चाहिए।

इस प्रकार बारह अंगों के पाठी होना, करणसत्तरी और चरणसत्तरी के गुणों को धारण करना, आठ प्रभावनाएँ करना और तीन योगों का निग्रह करना, यह उपाध्याय जी के २५ गुण हैं।

उपाध्यायजी की १६ उपमाएँ

●

किसी भी श्रेष्ठ या निकृष्ट वस्तु के स्वरूप को समझने-समझाने के लिए विशेषज्ञ पुरुष उपमाओं का प्रयोग करते आये हैं। प्रसिद्ध वस्तु के साथ जब किसी वस्तु की तुलना की जाती है तो उसके गुण-धर्म का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। यह पद्धति सदा से चली आ रही है। तदनुसार उपाध्यायजी के लिए उत्तराध्ययनसूत्र में १६ उपमाएँ दी गई हैं। उपाध्यायजी में बहुत-सी विशेषताएँ होती हैं। उन सब विशेषताओं को किसी एक पदार्थ की उपमा द्वारा प्रकट करना सम्भव नहीं है। अतएव उन विशेषताओं को प्रकाशित करने के लिए १६ उपमाएँ दी गई हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) जैसे शङ्ख में भरा हुआ दूध खराब भी नहीं होता और विशेष शोभा देता है तथा वासुदेव के पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि का श्रवण करने मात्र से ही शत्रु की सेना भाग जाती है; उसी प्रकार उपाध्यायजी द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान नष्ट भी नहीं होता है और अधिक शोभा देता है। तथा उपाध्यायजी के उपदेश की ध्वनि के श्रवण से पाखण्ड और पाखण्डी पलायन कर जाते हैं।

(२) जैसे सब प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित, कम्बोज देश में उत्पन्न अश्व दोनों ओर वादित्रों द्वारा सुशोभित होता है, उसी प्रकार उपाध्यायजी साधु के सुहावने वेष में सज्जित बने हुए और स्वाध्याय की मधुर ध्वनि रूप वादित्र के निर्घोष से शोभा देते हैं।

(३) जैसे भाट, चारण और वन्दी जनों की विरुदावली से उत्साहित हुआ शूरवीर सुभट शत्रु को पराजित करता है, उसी प्रकार उपाध्यायजी चतुर्विध संघ की गुणकीर्त्तन रूप विरुदावली से उत्साहित होकर मिथ्यात्व का पराजय करते हुए शोभा देते हैं।

(४) जैसे साठ वर्ष की अवस्था वाला और अनेक हथनियों के वृन्द से परिवृत हस्ती शोभा पाता है, उसी प्रकार उपाध्यायजी श्रुत-सिद्धांत के

ज्ञान की प्रौढ़ता को प्राप्त होकर अनेक ज्ञानियों-ध्यानियों से परिवृत होकर वितण्डावादियों को हटाते हुए शोभा पाते हैं।

(५) जैसे अनेक गायों के समूह से युक्त और दोनों तीखे सींगों वाला धौरेय बैल शोभा पाता है, उसी प्रकार उपाध्यायजी निश्चयनय और व्यवहारनय रूप दोनों तीखे सींगों युक्त और मुनियों के वृन्द से युक्त शोभायमान होते हैं।

(६) जैसे तीक्ष्ण दाढ़ों वाला केसरी सिंह वनचरों को क्षुब्ध करता शोभा पाता है, उसी प्रकार उपाध्यायजी सात नय रूप तीखी दाढ़ों से पर-वादियों को पराजित करते हुए शोभित होते हैं।

(७) जैसे तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव सात रत्नों से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानादि रत्नत्रय के नायक तथा सात नय रूपी सात रत्नों के धारक और कर्म-शत्रुओं का पराजय करने वाले उपाध्यायजी सुशोभित होते हैं।

(८) जैसे छह खण्डों के अधिपति और चौदह रत्नों के धारक चक्र-वर्त्ती शोभा पाते हैं उसी प्रकार षट् द्रव्य के ज्ञाता तथा चौदह पूर्व रूप चौदह रत्नों के धारक उपाध्यायजी शोभा पाते हैं।

(९) जैसे एक सहस्र नेत्रों का धारक* और असंख्य देवों का अधि-पति शक्रेन्द्र वज्रायुध से शोभा पाता है, उसी प्रकार सहस्रों तर्क-वितर्क वाले तथा अनेकान्त-स्याद्वाद रूप वज्र के धारक असंख्य भव्य प्राणियों के अधिपति उपाध्यायजी शोभित होते हैं।

(१०) जैसे सहस्र किरणों से जाज्वल्यमान, अप्रतिम प्रभा से अंधकार को नष्ट करने वाला सूर्य गगनमण्डल में शोभा पाता है, उसी प्रकार निर्मल ज्ञान रूपी किरणों से मिथ्यात्व और अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करने वाले उपाध्यायजी जैनसंघ रूप गगन में सुशोभित होते हैं।

* कार्तिक शेठ १००८ गुमास्ते के साथ दीक्षा ले करणी कर आयुष्य पूर्ण कर प्रथम देव लोक में शक्रेन्द्रजी हुये और ५०० गुमास्ते सामानिक देव हुये थे, वे देव सदैव शक्र इन्द्रजी के साथ रहने से उनकी आँखें मिला कर सहस्र नेत्री इन्द्र कहलाते हैं।

(११) जैसे ग्रहों, नक्षत्रों और तारागण से घिरा हुआ, शरद्पूर्णिमा की रात्रि को निर्मल और मनोहर बनाने वाला चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से शोभित होता है, उसी प्रकार साधुगण रूप ग्रहों से, साध्वीगण रूप नक्षत्रों से, श्रावक-श्राविका रूप तारामण्डल से घिरे हुए, भूमण्डल को मनोहर बनाते हुए ज्ञान रूप कलाओं से उपाध्यायजी शोभा पाते हैं।

(१२) जैसे मूषिक आदि के उपद्रव से रहित और सुदृढ़ द्वारों से अवरुद्ध तथा विविध प्रकार के धान्यों से भरपूर कोठा शोभा देता है, उसी प्रकार निश्चय-व्यवहार रूप दृढ़ किवाड़ों से तथा १२ अङ्ग तथा १२ उपांग के ज्ञान रूप धान्यों से परिपूर्ण उपाध्यायजी शोभा पाते हैं।

(१३) जैसे उत्तरकुरुक्षेत्र में जम्बूद्वीप के अधिष्ठाता अणाढिय देव का निवासस्थान जम्बूसुदर्शन वृक्ष पत्र, पुष्प, फल आदि से शोभा पाता है, उसी प्रकार उपाध्यायजी आर्य क्षेत्र में, ज्ञान रूपी वृक्ष बनकर अनेक गुण रूपी पत्तों, फलो और फूलों से शोभा पाते हैं।

(१४) जैसे महाविदेह क्षेत्र की सीता नामक महानदी, पांच लाख बत्तीस हजार नदियों के परिवार से शोभित होती है, उसी प्रकार उपाध्यायजी हजारों श्रोताजनों के परिवार से शोभायमान होते हैं।

(१५) जैसे समस्त पर्वतों का राजा सुमेरु पर्वत अनेक उत्तम औषधियों से तथा चार वनों से शोभित होता है, उसी प्रकार उपाध्यायजी महाराज अनेक लब्धियों से तथा चतुर्विध संघ से शोभा पाते हैं।

(१६) सबसे विशाल स्वयंभूरमण समुद्र अक्षय और सुस्वादु जल से शोभित होता है, उसी प्रकार उपाध्यायजी अक्षय ज्ञान को, भव्य जीवों को रुचिकर शैली से प्रकाशित करते हुए शोभा पाते हैं।

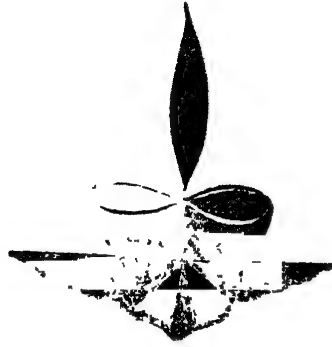
इत्यादि अनेक उपमाओं से युक्त श्री उपाध्याय परमेष्ठी विराजमान हैं। उपाध्यायजी महाराज का भक्तिमान्, अचपल (शांत), कौतुकरहित (गंभीर), छल-प्रपंच से रहित, किसी का भी तिरस्कार न करने वाले, सब पर मैत्रीभावना रखने वाले, ज्ञान के भण्डार होने पर भी अभिमान से हीन,

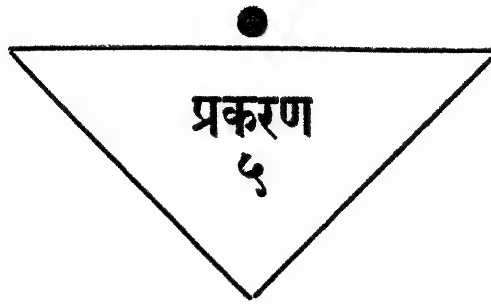
पराये दोष न देखने वाले, शत्रु की भी निन्दा न करने वाले, क्लेशहीन, इन्द्रियों का दमन करने वाले, लज्जाशील आदि अनेक विशेषणों से बखान किया जाता है। ऐसी महिमा से मण्डित 'अजिणा जिणसंकासा' अर्थात् जिन नहीं फिर भी जिन के समान, साक्षात् ज्ञान का प्रकाश करने वाले श्री उपाध्याय महाराज को त्रिकाल वन्दना-नमस्कार हो!

गाथाः—समुद्दगंभीरसमा दुरासया, अचक्किया केणइ दुप्पधंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया॥

—उत्तरा० ११, ३१

अर्थात्—समुद्र के समान गम्भीर—कभी नहीं छलकने वाले, जिनका कोई पराभव नहीं कर सकता, श्रुतज्ञान से परिपूर्ण, छह काय के जीवों के रक्षक, श्री उपाध्याय महाराज कर्म का क्षय करके मोक्ष पधारेंगे।




प्रकरण
५

साधु



जैसे मंत्रवादी अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि करने के लिए उसी ओर सम्पूर्ण लक्ष्य देकर, आने वाले विविध उपसर्गों को पूर्ण दृढ़ता के साथ सहन करता है, इसी प्रकार जो पुरुष अपने आत्मा की विशुद्धि करने के लिए उसी ओर ध्यान एकाग्र करके अर्थात् एक मात्र मोक्ष के लिए ही आत्मा का साधन करता है, उसे साधु कहते हैं।

श्री सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के १६वें अध्ययन में साधु के चार नामों का वर्णन किया गया है। सूत्र इस प्रकार है—अहाह भगवं एवं से दंते दविए, वोसट्ठकाए त्ति वच्चे (१) माहणेत्ति वा (२) समणेत्ति वा (३) भिक्खु त्ति वा (४) निग्गंथे त्ति वा, तं नो बूहि महामुणी।

अर्थ—श्री तीर्थङ्कर भगवान्, इन्द्रियों का दमन करने वाले मुक्ति के योग्य और अशुभ योग के त्यागी साधु का चार नामों से वर्णन करते हैं—(१) माहन (२) श्रमण (३) भिक्षु (४) निर्ग्रन्थ।

सूत्र—'पडिआह—भंते! कहं नु दंते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा, भिक्खू त्ति वा, निग्गंथे त्ति वा? तं नो बूहि महामुणी?'

अर्थ—तब शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन्! दमितेन्द्रिय, मुक्ति के योग्य और कायोत्सर्ग करने वाले को श्रमण, माहन, भिक्षु और निर्ग्रन्थ क्यों कहते हैं? हे महामुनि! कृपा कर हमें बतलाइए।

सूत्र—विरए सव्वपावकम्मेहिं, पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाय-अरति-रति-मायामोस-मिच्छादंसणसल्ल-विरए, समिए, सहिए, सया जए, णो कुज्झे, णो माणी, माहणे त्ति वच्चे।

अर्थ—जो समस्त पापों से विरत हो चुका है, किसी से राग-द्वेष नहीं करता, कलह नहीं करता, किसी को झूठा दोष नहीं लगाता, किसी की चुगली नहीं करता, निन्दा नहीं करता, संयम में अप्रीति तथा असंयम में प्रीति नहीं करता, कपट नहीं करता, झूठ नहीं बोलता और मिथ्यादर्शन शल्य से अलग रहता है, जो पाँच समितियों से युक्त है, ज्ञानादि गुणों से युक्त है, सदा जितेन्द्रिय है, किसी पर क्रोध नहीं करता और मान नहीं करता वह माहन कहलाता है।

सूत्र—एत्थ वि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पिज्जं च दोसं च, इच्चेव जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइ-वाया सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे॥

अर्थ—जो साधु पूर्वोक्त गुणों से युक्त है उसे श्रमण भी कहना चाहिए। साथ ही श्रमण कहलाने के लिए गुण भी होने चाहिए—शरीर में आसक्त न हो, किसी भी सांसारिक फल की कामना न करे, हिंसा, मृषावाद मैथुन और परिग्रह न करे; क्रोध, मान, माया और लोभ तथा राग-द्वेष न करे, इसी प्रकार जिन-जिन बातों से इस लोक और परलोक में हानि दीखती है तथा जो आत्मा के द्वेष के कारण हैं, उन सब कर्मबंधन के कारणों से जो पहले ही निवृत्त है तथा जो इन्द्रियजयी, मुक्ति जाने योग्य और शरीर की आसक्ति से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए।

सूत्र—एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खुत्ति वच्चे॥

अर्थात्—श्रमण के जो गुण कहे हैं वे सब भिक्षु में होने चाहिए। उनके अतिरिक्त जो अभिमानी नहीं है, विनीत है, नम्र है, इन्द्रियों को और

मन को वश में रखता है, मुक्तिगमन के योग्य गुणों से युक्त है, शरीर ममता का त्यागी है, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को सहन करता है, अध्यात्मयोग से शुद्ध चारित्र वाला है, उस साधु को भिक्षु कहना चाहिए।

सूत्र—एत्थ वि निग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिन्नसोए सुसंजते, सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते विऊ दुहओ वि सोयपलिच्छिन्ने णो पूया-सक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथे त्ति वच्चे ॥

अर्थ—भिक्षु में निर्ग्रन्थ के गुण भी होने चाहिए। साथ ही जो राग-द्वेष से रहित होकर रहता है, आत्मा के एकत्व को जानता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है, जिसने आस्रवद्वारों को रोक दिया है, जो बिना प्रयोजन अपने शरीर की क्रिया नहीं करता, समितियों से युक्त है, शत्रु-मित्र पर समभाव रखता है, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता है, जो समस्त पदार्थों के स्वरूप को जानता है, जिसने संसार के स्रोत को छेद डाला है, जो पूजा सत्कार और लाभ की इच्छा नहीं करता, जो धर्म का अर्थी है, धर्मज्ञ है, जितेन्द्रिय, मुक्ति-योग्य और शरीरममता का त्यागी है, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

साधु के सत्ताईस गुण



पंच महव्वयजुत्तो, पंचेंदियसंवरणो।
चउविहकसायमुक्को, तओ समाधारणीया ॥१॥
तिसच्चसम्पन्न तिओ खंतिसंवेगरओ।
वेयणमच्चु भयगयं, साहु गुण सत्तवीसं ॥२॥

अर्थ—(१-५) पच्चीस भावनाओं के साथ पाँच महाव्रतों का पालन करना (६-१०) पाँच इन्द्रियों का संवर करना—विषयों से निवृत्ति करना (११-१४) चार कषायों से निवृत्त होना; इन चौदह गुणों का विस्तृत कथन आचार्य के तीसरे प्रकरण में किया जा चुका है। (१५) मनसमाधारणीया

अर्थात् मन को वश में करके धर्म मार्ग में लगाना (१६) वचःसमाधारणीया अर्थात् प्रयोजन होने पर परिमित और सत्य वाणी बोलना (१७) कायसमाधारणीया—शरीर की चपलता को रोकना। (१८) भावसत्य—अन्तःकरण के भावों को निर्मल करके धर्मध्यान और शुक्लध्यान में जोड़ना (१९) करणसच्चे—करणसत्तरी के सत्तर बोलों से युक्त हो तथा साधु के लिए जिस-जिस समय जो-जो क्रियाएँ करने का विधान शास्त्र में किया गया है, उन्हें उसी समय करना। जैसे—पिछली रात का एक पहर शेष रहने पर जागृत होकर आकाश की तरफ दृष्टि दौड़ानी चाहिए कि किसी प्रकार असज्झाय का कारण तो नहीं है ? अगर दिशाएँ निर्मल हों तो सज्झाय करे। फिर असज्झाय की दिशा (लाल दिशा) हो तब प्रतिक्रमण करे। सूर्योदय होने पर प्रतिलेखना करे अर्थात् वस्त्र आदि सब उपकरणों का अवलोकन करे। फिर इरियावहिया का काउस्सग्ग करे, गुरु आदि बड़े साधु को वन्दना करके पूछे—मैं स्वध्याय करूँ ? वैयावृत्य करूँ ? अथवा औषध आदि लाना हो तो लाऊँ ? फिर गुरु आदि की जैसी आज्ञा हो वैसा करे। तत्पश्चात् एक पहर तक फिर स्वाध्याय करे। श्रोताओं का योग्य समुदाय हो तो धर्मोपदेश (व्याख्यान) देवे। उसके पश्चात् ध्यान और शास्त्रों के अर्थ का चिन्तन करे। फिर भिक्षा का समय होने पर गोचरी के लिए जाय और शास्त्रीय विधि से शुद्ध आहार लाकर शरीर का भाड़ा चुकावे। (चौथे आरे में, एक घर में २८ पुरुष और ३२ स्त्रियाँ हों तो वह घर गिना जाता था और ६० मनुष्यों की रसोई तैयार करने में सहज ही दो पहर दिन बीत जाता था। इसके अतिरिक्त उस काल के मनुष्य एक ही बार आहार करते थे❀।

❀ पहिले आरे में तीन दिन बाद, दूसरे आरे में दो दिन बाद, तीसरे आरे में एक दिनान्तर, चौथे आरे में दिन में एक वक्त, पाँचवें आरे में दिन में दो वक्त और छठे आरे में वेमाया [अप्रमाण] आहार की इच्छा होती है, इस कारण से चौथे आरे में साधु तीसरे पहर में (१२ बजे बाद) भिक्षार्थ जाते थे, तथा चौथे आरे मे जिनके घर में ३२ स्त्री और २८ पुरुष, यों ६० मनुष्य होते, उनका घर गिना जाता था, ६० मनुष्य का भोजन बनाते भी दो पहर दिन सहज आने का संभव है इसलिए चौथे आरे में साधु दो प्रहर बाद एक ही वक्त भिक्षार्थ जाते थे, यह नियम सदैव के लिए नहीं है, सदैव के लिए तो 'काले कालं समायरे' अर्थात्—ग्राम में धूम्र निकलता बन्द पड़ा देख, पनघट पर, पनिहारिनें कम

इन सब कारणों से चौथे आरे में साधु भिक्षा लेने के लिए तीसरे पहर में जाया करते थे। शास्त्र में कहा है—'काले कालं समायरे' अर्थात् जिस जगह भिक्षा के लिए जो उचित हो, वहाँ उसी समय भिक्षा के लिए जाना चाहिए। भिक्षा के काल का विचार न करके पहले या बाद में जाने से भिक्षा के लिए बहुत फिरना पड़ता है, इच्छित आहार नहीं मिलता, शरीर को किलामना होती है। लोग भी सोचते हैं कि समय-असमय का विचार न करके यह साधु क्यों भटकते फिरते है! इससे स्वाध्याय और ध्यान का समय भी टल जाने की संभावना रहती है। इत्यादि बातों पर विचार करके साधु को समुचित समय पर ही भिक्षा के लिए जाना चाहिए।) शास्त्रोक्त विधि से आहार करे। इसके अनन्तर फिर ध्यान और शास्त्रचिन्तन करे। दिन के चौथे पहर में फिर प्रतिलेखना करे स्वाध्याय करे और असज्झाय के समय—संध्याकाल में—प्रतिक्रमण करे*। अस्वाध्यायकाल पूर्ण हो चुकने पर रात्रि के पहले प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे पहर में ध्यान और शास्त्र चिन्तन करे और तीसरे पहर के अन्त में निद्रा का त्याग करे। साधु की रात-दिन की चर्या श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कही है। इसके अतिरिक्त क्रिया के छोटे-मोटे बहुत—से भेद हैं। उन्हें गुरु महाराज से समझकर धारण करना चाहिए। (२०) जोगसच्चे अर्थात् मन वचन और काय के योगों की सरलता और सत्यता रक्खे। योगाभ्यास, आत्मसाधन, शम, दम, उपशम आदि की प्रतिदिन वृद्धि करे। (२१) सम्पन्नतिउ अर्थात् साधु तीन वस्तुओं से सम्पन्न हो। यथाज्ञानसम्पन्न हो अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अंग, उपांग पूर्व आदि जिस काल में जितना श्रुत विद्यमान हो उसका उत्साह के साथ अध्ययन करे। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना आदि करके ज्ञान को दृढ़ करे और यथायोग्य दूसरों को ज्ञान

आती देख, आहार के याचक भिक्षुकों को परिभ्रमण करते देख, इत्यादि चिह्नों से समझे कि अब भिक्षा का पर्याप्त काल हो गया है, तब साधु भिक्षा लेने के लिए जावे, जो भिक्षा के काल में भिक्षार्थ न जाते, जल्दी या देर से जावेगा तो फिरना बहुत पड़ेगा, इच्छित आहार व्यंजन नहीं मिलेगा, शरीर को दुःख होगा, तथा बे वक्त साधु क्यों फिरता है यों लोग निन्दा करेंगे और स्वाध्याय ध्यानादि में अन्तराय पड़ेगी। ऐसी दशवैकालिक शास्त्र की आज्ञा को जान जिस ग्राम में जिस वक्त भिक्षा का काल हो उस ही वक्त गोचरी जावे।

* *प्रतिक्रमण करने के लिए किसी भी प्रकार की अस्वाध्याय नहीं मानी जाती है।*

देकर ज्ञान की वृद्धि करे। साधु सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हो अर्थात् देव आदि का भयानक उपसर्ग आने पर भी सम्यक्त्व से चलित न हो और शंका, कांक्षा आदि दोषों को टालकर निर्मल सम्यक्त्व का पालन करे। साधु चारित्रसम्पन्न भी हो अर्थात् सामायिक, छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात चारित्र में से यथासंभव चारित्रों को धारण करे। (इस काल में पहले के दो चारित्र ही पाले जा सकते हैं।) चारित्र का वर्णन तीसरे प्रकरण में, विनय तप के सात भेदों में विस्तृत रूप से आ चुका है। (२४) खंती—क्षमायुक्त हो। (२५) संवेग—सदा वैराग्यवान् हो। संसार शारीरिक और मानसिक वेदनाओं से पीड़ित है। इन वेदनाओं को देखकर और संसार के समस्त संयोगों को इन्द्रजाल के समान कल्पित और स्वप्न के समान क्षणिक समझ कर संसार से भयभीत रहना संवेग कहलाता है। (२६) वेयणसमहिआसणिया—क्षुधा तृषा आदि २२ परीषह उत्पन्न हों तो समभाव से उन्हें सहन करना (२७) मरणंतियसमहिआसणिया अर्थात् मारणान्तिक कष्ट आने पर भी और मृत्यु के अवसर पर तनिक भी भयभीत न होना। किन्तु समाधिमरण से आयु पूर्ण करना। यह साधु के २७ गुण हैं।

बाईस परीषह-विजय



(१) क्षुधापरीषह—मुनिराज को भूख लगे तब शास्त्राज्ञा के अनुसार, भिक्षा माँगकर अपनी क्षुधा को शांत करें और शरीर का निर्वाह करें। कदाचित् शास्त्र अनुसार आहार की प्राप्ति न हो तो मरणांत कष्ट सहने पर भी शास्त्राज्ञा के विरुद्ध सचित्त अन्न, वनस्पति आदि का सेवन न करे। वचन से कहकर भोजन बनवाने की इच्छा तक न करे। सदैव उदयभाव में रहने वाले क्षुधावेदनीय कर्म को जीतना बड़ा दुर्लभ है।

(२) पिपासापरीषह—प्यास की वेदना होने पर अचित्त जल या धोवण आदि से प्यास शान्त करनी चाहिए। अचित्त जल की प्राप्ति न हो तो सचित्त जल की कभी इच्छा नहीं करना चाहिए।

(३) शीतपरीषह—ठंड से बचने के लिए सिगड़ी जलाना, मर्यादा से अधिक वस्त्र रखना और मर्यादा के भीतर भी सदोष एवं अकल्पनीय वस्त्र ग्रहण करना आदि वस्त्रविरोधी बातों की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए।

(४) उष्णपरीषह—उष्णता—गर्मी से आकुल-व्याकुल होने पर भी स्नान आदि न करे।

(५) दंशमशकपरीषह—डांस, मच्छर, खटमल आदि जन्तु साधु को कष्ट पहुँचावें तो उसे समभाव से सहन करना चाहिए।

(६) अचेलपरीषह—वस्त्र फट गये हों या अत्यन्त जीर्ण हो गये हों चोर उठा ले गया हो तो भी दीनता प्रकट करके वस्त्रों की याचना न करे। तथा जिस प्रकार दोष लगे उस प्रकार वस्त्रों का उपयोग करने की इच्छा न करे।

(७) अरतिपरीषह—अन्न, वस्त्र आदि का योग न मिले तो भी मन में अरति (ग्लानि या चिन्ता) न करे। नरगति और तिर्यञ्च गति में परवश होकर जो दुःख सहन किये हैं, उनका स्मरण करके अरतिपरीषह को समभाव से सहन करे।

(८) स्त्रीपरीषह—कोई पापिनी स्त्री विषयभोग भोगने के लिए कहे या हाव-भाव कटाक्ष आदि करके मन को आकर्षित करने की कलाएँ दिखलावे तो भी अपने मन को मज़बूत रक्खे। श्रीदशवैकालिकासूत्र में कहा है कि:—

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरइ बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे,
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥

अर्थात्—स्त्री वगैरह को देखकर कदाचित् साधु का मन चंचल हो जाय—संयम से दूर हटने लगे तो साधु को उस समय विचार करना चाहिए कि यह मेरी नहीं है और मैं इसका नहीं हूँ। इस प्रकार विचार करके उस पर से अपना राग हटा ले। फिर भी मन में अगर शान्ति प्राप्त न हो तो—

आयावयाही चय सोगमल्लं,
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं,
एवं सुही होहिसि संपराए ॥

अर्थात्—हे मुनि ! आतापना ले, शरीर की सुकुमारता का त्याग कर। कामनाओं पर विजय प्राप्त कर। ऐसा करने से तू दुःखों पर विजय प्राप्त कर सकेगा। और द्वेष को छेद तथा राग को हटा दे। इससे आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी।

(९) चर्यापरीषह—एक जगह स्थायी रूप से निवास करने पर प्रेम के बंधन में पड़ जाने की संभावना रहती है। अतएव साधु को ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए। आठ महीने में आठ और चौमासा संबंधी एक इस प्रकार नौकल्पी विहार तो कम से कम करना ही चाहिए। कोई वृद्ध, रोगी या तपस्वी हो तो उसे तथा उसकी सेवा करने वालों को और ज्ञान का अभ्यास करने वालों को रहने में कोई हानि नहीं है।

(१०) निषद्यापरीषह—चलते-चलते साधु को विश्राम लेने के लिए बैठना पड़े और बैठने की जगह ऊबड़-खाबड़ या कँकरीली मिले तो भी समभाव धारण करे।

(११) शय्यापरीषह—किसी जगह एक रात रहना पड़े या अधिक समय रहना पड़े और वहाँ रुचि के अनुकूल शय्या-स्थानक आदि न मिले वरन् खण्डहर सरीखा, सर्दी-गर्मी का उपद्रव उत्पन्न करने वाला मिले तो ऐसे मकान आदि को पाकर मन में तनिक भी उद्वेग न होने दे।

(१२) आक्रोशपरीषह—ग्राम में रहे हुए साधु की क्रिया या वेष आदि देखकर कोई ईर्षालु या परधर्म का आग्रही मनुष्य कठोर वचन कहे, निन्दा करे, झूठा आरोप लगावे, ठग, पाखण्डी आदि शब्दों का प्रयोग करे तो समभाव धारण करके सहन करना।

(१३) वधपरीषह—कोई मनुष्य क्रोध में आकर मारे तो भी मुनि शान्ति से उसे सहन करे। मन में भी मारने वाले के प्रति रोष न आने दे।

(१४) याचनापरीषह—आहार, औषध आदि वस्तुओं की याचना करने के लिए जाना पड़े तो ऐसा न समझे कि—'मैं ऊँचे कुल का होकर कैसे करूँ ?' इस प्रकार का अभिमान, लज्जा या ग्लानि न आने दे किन्तु ऐसा विचार करे कि साधु का आचार तो प्रत्येक वस्तु को याचना करके ही प्राप्त करने का है।

(१५) अलाभपरीषह—याचना करने पर भी अगर इच्छित वस्तु की प्राप्ति न हो तो लेश मात्र भी खेद न होने दे।

(१६) रोगपरीषह—शरीर में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाय तो हाए-हाय न करे। दीनतापूर्ण शब्द बोलकर दुःख प्रकट न करे और न मन को मलीन करे।

(१७) तृणस्पर्शपरीषह—रोग से दुर्बल हुए शरीर से पृथ्वी का कठिन स्पर्श सहन न हो सके, चलते समय काँटे आदि पैर में चुभें तो उसे समभाव से सहन करे।

(१८) जल्लमलपरीषह—मैल या पसीने से घबरा कर साधु स्नान करने की इच्छा तक न करे। मन में ग्लानि न लावे !

(१९) सत्कारपरीषह—कोई वंदना न करे या नमस्कार न करे तो भी साधु को बुरा नहीं मानना चाहिए। मुनि अपने सन्मान एवं अपमान को भी समान भाव से सहन करे।

(२०) प्रज्ञापरीषह—कोई साधु विशेष ज्ञानी हो, बहुत लोग उससे वाचना लेने आवें, प्रश्न पूछने आवें, उस प्रसंग पर साधु उकता करके ऐसा विचार न करे कि मैं मूर्ख रहा होता तो अच्छा था। कम से कम ऐसी परेशानी तो न भोगनी पड़ती।

(२१) अज्ञानपरीषह—बहुत परिश्रम करने पर भी ज्ञान न चढ़े, घोखा हुआ याद न रहे या समझ में न आवे तो खेद न करे। अथवा कोई मूर्ख पुरुष मूर्ख, बुद्धू आदि कटुक शब्द कहे तो ऐसा विचार न करे कि मैं निरन्तर ज्ञानप्राप्ति में संलग्न रहता हूँ, यथायोग्य तपस्या भी करता हूँ, फिर भी मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं होता ! मेरा जन्म व्यर्थ है। वरन् ऐसा विचार करे

कि मैं दूसरों को नहीं तार सकूँगा! भगवान् ने तो आठ प्रवचनमाता (५ समिति ३ गुप्ति) के ज्ञाता जघन्य ज्ञानी को भी आराधक कहा है।

(२२) दर्शनपरीग्रह—इतने वर्ष संयम पालते हो गये फिर भी कोई लब्धि प्राप्त नहीं हुई! किसी देव के भी दर्शन नहीं हुए! तो करनी का फल फल मिलेगा या नहीं? स्वर्ग होगा या न होगा? ऐसा तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। क्यों कि—

माली सींचे सौ घड़े, ऋतु आये फल होय।

अर्थात् काल का परिपाक होने पर ही क्रिया के फल की प्राप्ति होती है। नरक, स्वर्ग मोक्ष आदि जो-जो भाव केवलज्ञानी भगवान् ने अपने ज्ञान में देखकर बतलाये हैं, वे अन्यथा नहीं हो सकते। उनके विषय में लेश मात्र भी शंका नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार दृढ़ श्रद्धाशील होकर रहना।

इन बाईस परीषहों को जो समभाव से सहन करते हैं, वही सच्चे साधु होते हैं। इन परीषहों का वर्णन श्रीउत्तराध्ययन सूत्र के द्वितीय अध्ययन में किया गया है।

अनाचीर्ण



जिन क्रियाओं का पूर्वकालीन महापुरुषों ने सेवन नहीं किया है, अतएव जो सेवन करने योग्य नहीं हैं, उन्हें अनाचीर्ण कहते हैं। अनाचीर्ण ५२ हैं। संयमी जनों को अपना संयम शुद्ध रखने के लिए अनाचीर्णों से सदैव बचना चाहिए। अनाचीर्ण का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) औद्देशिक—जो आहार, वस्त्र, पात्र, स्थानक आदि साधु के निमित्त बनाया गया हो, उसका उपभोग करना औद्देशिक अनाचीर्ण है।

(२) क्रीतकृत—साधु के निमित्त खरीद करके दी जाने वाली वस्तु अगर साधु ग्रहण करे तो क्रीतकृत अनाचीर्ण होता है।

(३) नियागपिंड—पहले से आमंत्रण स्वीकार करके आहार लेना।

(४) अभ्याहृत—उपाश्रय में या अन्यत्र साधु के सामने आहार आदि वस्तु लाकर देना।

(५) रात्रिभक्त—रात्रि में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, खाना, यहाँ तक कि सूँघने की तमाखू आदि भी भोगना रात्रिभक्त अनाचीर्ण है।

(६) स्नान—हाथ-पाँव धोना देशस्नान है और समस्त शरीर का प्रचालन करना सर्वस्नान है। किसी भी प्रकार का स्नान करना अनाचीर्ण है।

(७) गंध—बिना कारण चन्दन, अतर आदि सुगंधित पदार्थों का सेवन करना।

(८) माल्य—पुष्पों की या मणि मोती आदि की माला पहनना।

(९) वीजन—पङ्खा, पुट्ठा, कपड़ा आदि से हवा करना।

(१०) स्निग्ध—घृत, तेल, गुड़, शक्कर आदि वस्तुएँ रात्रि में अपने पास रखना।

(११) गृहिपात्र—गृहस्थ के थाली, कटोरी आदि पात्रों में भोजन करना।

(१२) राजपिण्ड—राजा के लिए बना हुआ (बलवर्धक) आहार लेना या मदिरा-मांस आदि का सेवन करना।

(१३) किमिच्छिक—जहाँ सदावर्त्त बँटता है ऐसी दानशालाओं में जाकर आहार लेना।

(१४) संवाहन—हड्डी, माँस, त्वचा बालों आदि को सुखदायक तेल बिना कारण शरीर पर मलना। (रोग निवारण के लिए वातहर तेल आदि की मालिश करने में यह दोष नहीं लगता।

(१५) दन्तप्रधावन—दाँतों की सुन्दरता बढ़ाने के उद्देश्य से दंत-मंजन, राख या मिस्सी आदि रगड़ना। (दाँतों में रोग होने पर औषध लगाने या घिसने से यह दोष नहीं लगता है।)

(१६) संप्रश्न—गृहस्थ या असंयति से कुशलप्रश्न पूछना।

(१७) देहप्रलोकन—काच में अथवा पानी या तेल में अपने मुँह की परछाई देखना।

(१८) अष्टापद—अष्टापा, जुआ आदि खेलना।

(१९) नालिक—चौपड़, सतरंज आदि खेलना।

(२०) छत्र—सिर पर छतरी या छत्र धारण करना।

(२१) चिकित्सा—बिना कारण बलवृद्धि आदि के लिए औषध लेना या वैद्य की तरह दूसरों की चिकित्सा करना।

(२२) उपानह—जूते, खड़ाऊँ, मोजे आदि पैरों में पहनना।

(२३) जोतिःआरम्भ—दीपक, चूल्हा आदि जलाकर या अन्य किसी प्रकार से अग्नि का आरम्भ करना।

(२४) शय्यातरपिण्ड—जिसकी आज्ञा लेकर मकान में उतरे उसके घर का आहार-पानी आदि ग्रहण करना।

(२५) आसंदी—खाट, पलंग, कुर्सी आदि किसी भी बुने हुए आसन पर बैठना।

(२६) गृहान्तरनिषद्या—रोग, तपश्चर्या और वृद्धावस्था रूप कारणों के बिना ही गृहस्थ के घर में बैठना।

(२७) गात्रमर्दन—शरीर पर पीठी आदि लगाना।

(२८) गृहिवैयावृत्य—स्वयं गृहस्थ की सेवा करना तथा गृहस्थ से सेवा कराना।

(२९) जात्याजीविका—जातीय संबंध जोड़कर, सगा-संबंधी बनकर आहार आदि प्राप्त करना।

(३०) तप्तनिवृत्त—जिस बर्तन में पानी गर्म किया जाय वह ऊपर, नीचे और बीच में, इस तरह तीनों स्थानों से गर्म न हुआ हो, फिर भी उस पानी को ग्रहण कर लेना।

(३१) आतुर-स्मरण—रोगों से या अन्य दुःखों से घबराकर, परीषह और उपसर्ग आने पर दुःखी होकर गृहस्थावस्था का या कुटुम्बीजनों का स्मरण करना।

(३२) मूलक (३३) अदरख (३४) इक्षुखण्ड* (साठे के टुकड़े) (३५)

* बिना गाँठ का अचित्त हुआ टुकड़ा लेने में यह दोष नहीं है।

सूरण आदि कन्द (३६) मूल-जड़ी (३७) फल (३८) बीज (३९) संचल नमक (४०) सैंधा (४१) सादा (४२) रोम देश का नमक (४३) समुद्री नमक (४४) पांशुक्षार (४५) काला नमक यह सब सचित्त होने पर भी ग्रहण करना अनाचीर्ण है।

(४६) धूपन—शरीर को या वस्त्र को धूप देना।

(४७) वमन—उँगलियाँ मुँह में डाल कर अथवा औषध लेकर बिना कारण वमन करना।

(४८) वस्तीकर्म—गुदा द्वारा उदर में वस्तु डाल कर दस्त लेना अथवा गुह्यस्थान की शोभा करना*।

(४९) विरेचन—बिना कारण जुलाब लेना।

(५०) अंजन—आँखों की शोभा बढ़ाने के लिए काजल या सुरमा लगाना।

(५१) दन्तवर्ण—दाँतों को सुन्दर बनाने के प्रयोजन से रँगना।

(५२) गात्राभ्यंग—व्यायाम-कसरत करना।

उक्त ५२ अनाचीर्णों को भलीभाँति समझने से विदित होता है कि साधु का जीवन सर्वथा सीधा-सादा होना चाहिए। हिंसा, आरंभ-समारंभ से बचना, शारीरिक आसक्ति के कारण शरीर की सजावट करने की जो अभिरुचि होती है उससे बचना और कृत्रिमता से दूर रहना, यह इन अनाचीर्णों का प्रयोजन है। मुनि का जीवन सर्वथा प्राकृतिक होना चाहिए। अतएव इन ५२ अनाचीर्णों का त्याग करके जो शुद्ध संयम का पालन करते हैं, वही सच्चे साधु हैं। श्रीदशवैकालिकसूत्र के तीसरे अध्ययन में इन अनाचीर्णों का वर्णन है।

२० असमाधि दोष

●

समाधि को भंग करने वाले या असमाधि को उत्पन्न करने वाले बीस

* दाढ़ी, मूछ और मस्तक—इन तीन स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थान के बालों का लोच नहीं करना चाहिए।

दोषों से साधु को सदैव बचना चाहिए। यह दोष निम्न प्रकार हैं:—

(१) शीघ्रता से गमन करना।

(२) प्रकाशमय स्थान में दृष्टि से देखे बिना और प्रकाशहीन स्थान में रजोहरण से पूँजे बिना चलना।

(३) देखे और प्रमार्जन करे दूसरे स्थान को तथा भाण्डोपकरण रक्खे या गमन करे, बैठे या शयन करे अन्य स्थान पर।

(४) शयन करने के पाट या बैठने के छोटे पाट आवश्यकता से अधिक रखना।

(५) आचार्य, उपाध्याय, वयोवृद्ध, गुरु आदि ज्येष्ठ जनों के लिए पराभवकारी (शिष्टता के प्रतिकूल) वचनों का प्रयोग करना।

(६) वयःस्थविर, दीक्षास्थविर या सूत्रस्थविर आदि ज्येष्ठ मुनियों की मृत्यु की इच्छा करना।

(७) अन्य प्राणियों के—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के, भूत-वनस्पति के, जीव—पंचेन्द्रिय के तथा सत्त्व अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय और वायुकाय के मरण की इच्छा करना।

(८) सदैव सन्तापयुक्त रहना तथा क्षण-क्षण में क्रोध करना।

(९) पीठ पीछे किसी की निन्दा करना—अवर्णवाद बोलना।

(१०) अमुक काम करूँगा, वहाँ जाऊँगा, आऊँगा इत्यादि निश्चय की भाषा बारम्बार बोलना।

(११) नया झगड़ा खड़ा करना।

(१२) खमत-खामणा करने पर भी मिटे हुए झगड़े को फिर छेड़ना।

(१३) कालिक और उत्कालिक सूत्रों के पढ़ने के समय का खयाल न रखना, अकाल में तथा ३४ असज्झाय में सज्झाय करना।

(१४) सचित्त रज—रास्ते की धूल से भरे पाँवों का रजोहरण आदि से प्रमार्जन किये बिना ही आसन पर बैठना तथा गृहस्थ के हाथ और वर्त्तन सचित्त पानी से युक्त हों या सचित्त रज से लिप्त हों तो भी उनसे आहार आदि ले लेना।

(१५) एक प्रहर रात्रि व्यतीत होने के बाद और सूर्योदय होने से पहले तक बुलन्द आवाज से बोलना तथा परस्पर में अशांति पैदा करना।

(१६) ऐसा क्लेश उत्पन्न कर देना जिससे आत्मघात का अवसर उपस्थित हो जाय तथा संघ में फूट उत्पन्न करना।

(१७) किसी के दिल को दुःख पहुँचाने वाले कड़क वचन बोलना और झुंझला कर तिरस्कारयुक्त वचन कहना।

(१८) स्वयं चिन्ता-फिक्र करना और दूसरे के हृदय में चिन्ता उत्पन्न करना।

(१९) नवकारसी आदि तप न करते हुए प्रातःकाल से संध्या समय तक भिक्षा ला-लाकर खाना।

(२०) एषण (जाँच) बिना ही आहार-पानी आदि वस्तु ग्रहण कर लेना।

इन उपर्युक्त बीस कामों से साधु को असमाधि दोष लगता है। जैसे बीमारी के कारण शरीर निर्बल बन जाता है, उसी प्रकार इन बीस दोषों के सेवन से संयम निर्बल हो जाता है।

सबल दोष



जिन बड़े-बड़े दोषों से संयम कलंकित होता है, उन्हें सबल या शबल दोष कहते हैं। ये दोष इस प्रकार हैं:—

(१) हस्तकर्म—हस्तमैथुन करना।

(२) मैथुन-सेवन करना।

(३) रात्रि में अशन, पान आदि चारों आहार करना।

(४) साधु के लिए बनाया हुआ आधाकर्मी आहार ग्रहण करना।

(५) राजपिण्ड (बल-वीर्यवर्द्धक—मांस-मदिरा आदि) लेना।

(६) साधु के निमित्त मोल लिया हुआ आहार लेना (क्रीतकृत) दोष, साधु के लिए उधार लेकर दिया हुआ आहार लेना (प्रामित्य) दोष, निर्बल

से छीनकर दिया हुआ आहार लेना (अच्छिज्जे-आच्छिद्य) दोष, स्वामी की आज्ञा बिना दिया हुआ आहार लेना (अनिसृष्ट) दोष, सामने लाया हुआ आहार लेना (अभ्याहृत) दोष; इन पाँच दोषों वाला आहार लेना।

(७) ग्रहण किये हुए नियम-प्रत्याख्यान को बार-बार भंग करना।

(८) दीक्षा लेने के बाद छह महीने से पहले-पहले, बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय में जाना।

(९) नदी-नाले के पानी में एक महीने में तीन वक्त या अधिक बार उतरना।

(१०) एक महीने में तीन बार या अधिक बार कपट करना।

(११) जिसके मकान में ठहरा हो, उस शय्यातर के घर का आहार लेना।

(१२–१४) हिंसा, असत्यभाषण और चोरी—इन तीनों दोषों को जानबूझ कर सेवन करना।

(१५) सचित्त पृथ्वीकाय पर बैठना।

(१६) नमक आदि की सजीव धूल से भरी पृथ्वी पर तथा सचित्त पानी से भींजी हुई पृथ्वी पर बैठे या स्वाध्याय करे।

(१७) सचित्त शिला पर, सचित्त रेत पर, सड़े काष्ठ (पाट आदि) पर बैठे तथा जीवों से व्याप्त, चिंउटी के अण्डे से युक्त, बीज-धान्य-हरी वनस्पति, ओस के पानी, कीड़ी नगरा, फूलन, कच्चा पानी, कीचड़, दीमक मकड़ी के जाले इत्यादि सजीव-काय से युक्त स्थानक में रहना, स्वाध्याय ध्यान आदि करना।

(१८) कन्द[1]-जड़[2]-स्कंध[3]-शाखा (डाली)-प्रतिशाखा[4] [टहनी]-त्वचा[5] [छाल]-प्रवाल[6] [कोंपल]-पत्ते[7]-फूल[8]-फल[9]-बीज[10], इस दस प्रकार की कच्ची वनस्पति का उपभोग करना।

[१९] नदी-नाले के पानी में एक वर्ष में दस बार या इससे अधिक बार उतरना।

[२०] एक वर्ष में दस बार कपट करना।

(२१) सचित्त मिट्टी, सचित्त पानी या वनस्पति आदि किसी भी सजीव वस्तु से भरे हुए बर्तन से आहार-पानी आदि ग्रहण करना।

यह इक्कीस काम करने से सबल दोष लगते हैं। जैसे निर्बल मनुष्य पर पहाड़ टूट पड़ने पर उसकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार इन इक्कीस कार्यों से संयम की घात हो जाती है। बीस असमाधि दोषों का तथा इक्कीस सबल दोषों का कथन श्रीदशाश्रुतस्कंध में और श्रीसमवायांगसूत्र में किया गया है।

योगसंग्रह



योगसंग्रह के बत्तीस भेद हैं। जिस कार्य के करने से मन वचन काय के योगों का निग्रह होता है, जिसके कारण योगाभ्यास भलीभाँति हो सकता है, उसे योगसंग्रह कहते हैं। योगी जनों को यह हृदय रूपी कोष में संग्रह करके रखने योग्य हैं, इस कारण इनका योगसंग्रह नाम पड़ा है। वे इस प्रकार हैं—

(१) शिष्य को अनजान में या जान-बूझ कर जो भी दोष लगे हों, वे सब उसी प्रकार गुरु के समक्ष निवेदन कर दे।

(२) गुरु, शिष्य के मुख से सुने हुए दोषों को किसी के आगे न कहे।

(३) कष्ट आ पड़ने पर भी धर्म का त्याग न करे किन्तु दृढ़ रहे।

(४) इस लोक में महिमा-पूजा की कामना से और परलोक में इन्द्र आदि की ऋद्धि प्राप्त करने की कामना से तपश्चर्या न करे।

(५) ज्ञान के लाभ की शिक्षा आसेविनी शिक्षा कहलाती है और आचार के लाभ की शिक्षा ग्रहणी शिक्षा कहलाती है। कोई दोनों प्रकार की या कोई एक प्रकार की शिक्षा दे तो उसे हितकारी समझकर अंगीकार करना।

(६) शृंगार आदि करके शरीर की सजावट न करना।

(७) गृहस्थों को पता न चले, ऐसी गुप्त तपस्या करना और किसी वस्तु के लिए लालच न करना।

(८) भगवान् ने जिन-जिन कुलों से गोचरी ग्रहण करने की आज्ञा दी है, उन-उन कुलों में भिक्षा ग्रहण करने के लिए जावे, किसी भी एक जाति का प्रतिबंध न रक्खे।

(९) उत्साह के साथ परीषहों को सहन करे, किन्तु क्रोध न आने दे।

(१०) सदैव निष्कपट वृत्ति रक्खे।

(११) सदैव आत्मदमन के लिए प्रयत्न करता रहे।

(१२) शुद्ध-निर्मल-निरतिचार सम्यक्त्व का पालन करे।

(१३) चित्त को स्थिर रक्खे।

(१४) ज्ञान आदि पाँच आचारों की यथाशक्ति वृद्धि करता रहे।

(१५) सदैव विनय और नम्रता से युक्त प्रवृत्ति करना।

(१६) जप तप आदि क्रिया के अनुष्ठान में शक्ति का प्रयोग करे।

(१७) सदैव वैराग्यवृद्धि और मुक्ति प्राप्ति की उत्कण्ठा रक्खे।

(१८) आत्मा के ज्ञान आदि गुणों को निधान (खजाने) की तरह सँभाले।

(१९) आचार में शिथिलता धारण न करे।

(२०) उपदेश और प्रवृत्ति द्वारा संवरधर्म की पुष्टि करता रहे।

(२१) सदा अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता रहे।

(२२) कामों (शब्द और रूप) तथा भोगों (गंध, रस, स्पर्श) का संयोग मिलने पर उनमें आसक्त न हो।

(२३) नियम, अभिग्रह, त्याग इत्यादि की यथाशक्ति वृद्धि करता रहे।

(२४) वस्त्र, पात्र, शास्त्र, शिष्य इत्यादि उपधि का अभिमान न करे।

(२५) जाति आदि के आठ प्रकार के मद का, इन्द्रियों के विषयों का क्रोध आदि कषायों का, निद्रा और विकथा का—अर्थात् इन पाँच प्रकार के प्रमादों का त्याग करे।

(२६) थोड़ा बोले और जिस काल में जो क्रिया करने योग्य हो, करता रहे।

(२७) आर्त्त और रौद्रध्यान का त्याग करे, धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यान ध्यावे।

(२८) मन आदि के तीनों योगों को सदा शुभ कार्य में प्रवृत्त रक्खे।

(२९) मारणान्तिक कष्ट आ पड़ने पर भी परिणामों को स्थिर रक्खे।

(३०) कर्मबंध की कारणभूत क्रियाओं का तथा बाह्य एवं आभ्यन्तर संयोगों का प्रचार करे।

(३१) आयु का अन्त सन्निकट आया जानकर सावधान रहे। गुरु के समक्ष समस्त पापों को प्रकाशित कर दे और किये हुए कुकर्मों की निन्दा करके उनके लिए हृदय से पश्चात्ताप करे।

(३२) पापों के लिए पश्चात्ताप आदि (आलोचना-प्रतिक्रमण) करके जीवन पर्यन्त के लिए चारों प्रकार के आहार का और शरीर की ममता का त्याग करके संथारा करे। अन्त में समाधि के साथ देहोत्सर्ग करे।

इन बत्तीसों शिक्षाओं को योगीजन अपने हृदय-कोष में संग्रह कर रक्खे और यथासमय, यथाशक्ति इनके अनुसार प्रवृत्ति करता रहे।

उक्त सब गुणों के अतिरिक्त शास्त्रों में साधु के अन्य अनेक गुणों का उल्लेख किया गया है। उन सबको उद्धृत करने से ग्रन्थ का विस्तार बहुत बढ़ जायगा। इस भय से यहाँ इतना ही लिखा गया है। इन गुणों में सामान्य रूप से सभी अन्य गुणों का समावेश हो जाता है। जो मुनि शास्त्रोक्त सभी गुणों का पालन करते हैं, वे यथाख्यात चारित्र पालने वाले कहलाते हैं। यह चारित्र इस पंचम काल में नहीं पाला जा सकता। इस समय सामायिक और छेदोपस्थापनीय, यह दो ही चारित्र पाले जाते हैं। अतएव समस्त गुणों का असद्भाव देखकर यह खयाल नहीं करना चाहिए कि इस काल में कोई साधु है ही नहीं। पंचम काल के अन्त तक चारों ही तीर्थ कायम रहेंगे, ऐसा भगवान् का कथन है। श्रद्धा को शुद्ध और निश्चल

रखने के लिए भगवतीसूत्र में कथित पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों के गुणों की ओर दृष्टि रखनी चाहिए।

पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ



जिन्होंने रागद्वेष की गाँठ का अथवा ममता की ग्रंथि का (परिग्रह का) छेदन कर दिया हो, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। सभी मुनियों में यह साधारण लक्षण समान रूप से होना चाहिए, किन्तु चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में भेद होने से वे अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ उनके पाँच प्रकारों का उल्लेख किया जाता है:—

(१) पुलाकः—जैसे खेत में गोधूम, शालि आदि के पौधों को काट कर पूले बाँधकर ढेर लगाया जाता है। उसमें धान्य तो थोड़ा होता है मगर कचरा (धान्य के सिवाय का भाग) बहुत होता है। इसी प्रकार जिस साधु में गुण थोड़े और दुर्गुण अधिक हों वह पुलाक-निर्ग्रन्थ कहलाता है। पुलाक-निर्ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं:—(१) लब्धिपुलाक और (२) आसेवनापुलाक। तेजोलेश्या की लब्धि के धारक जो साधु संघ की घात करने और धर्म का लोप करने जैसे महान् अपराधों को करने वाले होते हैं, जो कुपित होकर किसी को सपरिवार जला देते हैं, वे लब्धिपुलाक* कहलाते हैं और जिनके मूल गुणों अर्थात् पाँच महाव्रतों में तथा उत्तर गुणों में अर्थात् दस प्रकार के प्रत्याख्यान में दोष लगते हैं तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विराधना करते हैं, वे आसेवनापुलाक कहलाते हैं।

(२) बकुशः—जैसे पूर्वोक्त पूलों में से घास दूर कर दिया जाय और ऊंबियों (बालों] का ढेर किया जाय तो उसमें यद्यपि पहले की अपेक्षा कचरा बहुत कम हो गया है, फिर भी धान्य की अपेक्षा कचरा अधिक है, इसी प्रकार जो मुनि गुण-अवगुण दोनों के धारक हों वे बकुश निर्ग्रन्थ कह-

---

* तेजो लेश्या के प्रभाव से उत्कृष्ट १६॥ देशों को और चक्रवर्ती की सेना को भी जलाकर भस्म कर डालते हैं प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होते हैं।

लाते हैं। बकुश भी दो प्रकार के होते हैं:—[१] उपकरण बकुश और [२] शरीरबकुश। मर्यादा से अधिक वस्त्र-पात्र रखने वाले और उन्हें चार आदि से धोने वाले उपकरण बकुश कहलाते हैं। अपने हाथ-पैर धोने वाले, शरीर की विभूषा करने वाले शरीरबकुश कहलाते हैं। इन निर्ग्रन्थों को जान में तथा अनजान में, गुप्त तथा प्रकट रूप से, सूक्ष्म तथा बादर दोष लगते हैं। इनका चारित्र सातिचार और निरतिचार दोनों प्रकार का होता है—मिला-जुला-सा रहता है। किन्तु यह कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यत बने रहते हैं।

[३] कुशीलः—गोधूम [गेहूँ] और शालि की ऊंबियों के उस ढेर में से घास अलग कर दिया—मिट्टी आदि अलग कर दी, खलिहान में बैलों के पैरों से कुचलवा कर [दांय करके] दाने अलग कर लिये, तो उस समय दाने और कचरा लगभग समान होता है, उसी प्रकार कुशील निर्ग्रन्थ प्रायः गुण-अवगुण की समानता के धारक होते हैं। यह भी दो प्रकार के होते हैं:—[१] जो निर्दोष संयम का पालन करते हैं, यथाशक्ति जप-तप आदि भी करते है, किन्तु कभी इन्द्रियों के अधीन होकर सर्वज्ञ की आज्ञा से न्यूनाधिक प्रवृत्ति करते हैं और जिनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अतिचार लग जाते हैं और उन अतिचारों का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि भी कर लेते हैं, इस तरह जो गड़बड़ में पड़े रहते हैं, वे प्रतिसेवनाकुशील कहलाते हैं। [२] जो मुनि संज्वलन कषाय का उदय होने से कटुक वचन श्रवण करके क्रोधित हो जाते हैं, क्रिया में और वादियों का पराजय करने में माया का भी सेवन कर लेते हैं और जिनमें शिष्य तथा सूत्रादि विषयक लोभ भी विद्यमान रहता है, दोष लगाने के परिणाम जिनमें विद्यमान रहते हैं किन्तु सहज में जो दोष नहीं लगाते और कषायोदय के लिए जो पश्चात्ताप करके कषाय को उपशांत कर डालते हैं, ऐसे संज्वलन कषाय के उदय वाले मुनि कषायकुशील कहलाते हैं।

(४) जैसे उस धान्य की राशि को हवा में उफानने से उसमें का कचरा-मिट्टी आदि अलग हो जाता है, अत्यल्प कंकर रहजाते हैं, इसी प्रकार जिनकी पूर्ण आत्मशुद्धि में किंचिन्मात्र त्रुटि रह जाती है, वे साधु निर्ग्रन्थ-

कहलाते हैं। निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थ भी दो प्रकार के होते हैं—(१) उपशान्त कषाय और (२) क्षीणकषाय। जो मुनि अपने मूल और उत्तर गुणों में किंचित् भी दोष नहीं लगाते, जिन्होंने क्रोध आदि कषायों का क्षय कर दिया है किन्तु किंचित् लोभोदय शेष रह गया है, उसे भी राख से ढँकी हुई अग्नि के समान जो उपशान्त कर देते हैं, वे उपशान्तकषाय कहलाते हैं। जो मुनि समस्त कषायों को सर्वथा नष्ट कर देते हैं, जैसे पानी में डुबाया अंगार बिलकुल शांत हो जाता है, वे क्षीणकषाय कहलाते हैं। ऐसे मुनि मोहनीय कर्म से पूरी तरह निवृत्त हो जाते हैं, अतएव वे सर्वथा ग्रन्थ-रहित होते हैं और अपने वीतराग स्वभाव में रमण करते हैं।

(५) जैसे उस धान्य के समस्त कंकर चुन-चुन कर निकाल फैंके जाएँ और धान्य को जल से धोकर स्वच्छ कर लिया जाय; उसी प्रकार जो मुनि पूर्ण विशुद्ध हो जाते हैं, वे स्नातकनिर्ग्रन्थ कहलाते हैं। स्नातक मुनि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। इसके भी दो भेद हैं:—(१) सयोगकेवली और (२) अयोगकेवली। जो केवली मन वचन काय के योगों से युक्त होते हैं और शुक्लध्यान के तीसरे भेद—सूक्ष्मक्रियातिपाति का अवलम्बन करते हैं वे सयोगकेवली कहलाते हैं। जो तीनों योगों से रहित होते हैं, शुक्लध्यान के चौथे पाये—समुच्छिन्नक्रिय—का अवलम्बन करते हैं वे अयोगकेवली कहलाते हैं। यह अयोगकेवली निर्ग्रन्थ अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय तक अयोगकेवली अवस्था में अर्थात् चौहदवें गुणस्थान में रहकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

पूर्वोक्त पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों में से पाँचवें आरे में सिर्फ दूसरे और तीसरे प्रकार के निर्ग्रन्थ ही पाये जाते हैं, शेष तीन नहीं होते। शास्त्र के इस कथन को ध्यान में रखते हुए साधु की क्रिया में कदाचित् हीनता दिखलाई दे तो उत्तेजित नहीं होना चाहिए, राग-द्वेष की वृद्धि नहीं करना चाहिए। जैसे कोई हीरा कम मूल्य का होता है और कोई बहुत मूल्य का होता है—दोनों हीरा कहलाते हैं, उसी प्रकार कोई साधु उच्चश्रेणी का होता है और कोई

उतरती श्रेणी का। कोई ज्ञान गुण में बड़ा होता है, कोई क्रियागुण में, कोई तप में और कोई वैयावृत्य में; फिर भी साधु सभी कहलाते हैं। अलबत्ता काच के समान वे हैं जिनमें संयम के किंचित् भी गुण मौजूद न हों। ऐसे साधु भी पाँच प्रकार के हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जाता है।

पांच प्रकार के अवन्दनीय साधु



जिनागम में पाँच प्रकार के साधु अवन्दनीय कहे हैं। वे इस प्रकारः—(१) पासत्था (२) उसन्ना (३) कुसीलिया (४) संसत्ता और (५) अपछंदा। इनका संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है:—

(१) पासत्था—दो प्रकार के होते हैं—(१) सर्वव्रत पासत्था, जो ज्ञान दर्शन और चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट होते हैं और सिर्फ बहुरूपिया या अभिनेता की भाँति साधु का भेष ही धारण किये रहते हैं। (२) दूसरा देशव्रत-पासत्था—जो केशलोच नहीं करते और सदोष आहार लेते हैं।

(२) उसन्ना—भी दो प्रकार के होते हैं—(१) सर्व उसन्ना, जो साधु के निमित्त से बनाये हुए पाट, स्थानक आदि का उपयोग करते हैं। (२) देश-उसन्ना—जो दिन में दो बार प्रतिलेखना, प्रतिक्रमण आदि नहीं करते, स्थानक छोड़कर घर-घर भटकते फिरते हैं और अयोग्य स्थल में गृहस्थ के घर बिना कारण ही बैठते हैं।

(३) कुशील के तीन भेद हैं:—(१) ज्ञानकुशील—जो ज्ञान के आठ अतिचारों का सेवन करते हैं। (२) दर्शनकुशील—जो दर्शन के आठ अतिचारों का सेवन करते हैं। (३) चारित्रकुशील—जो चारित्र के आठ अतिचारों का सेवन करते हैं। (इन चौबीस अतिचारों का वर्णन तीसरे प्रकरण में, पंचाचार के निरूपण में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।) इनके अतिरिक्त यह कुशील साधु सात कार्य करते हैं—(१) कौतुक कर्म-औषध आदि उपचार करना, अखण्ड सौभाग्य के लिए स्त्रियों को स्नान आदि क्रियाएँ बत-

लाना। (२) भूतकर्म—भूत प्रेत तथा वायु आदि के मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि बताना और देना। (३) प्रश्नकर्म—रमल विद्या, शकुन विद्या आदि के योग बतला कर प्रश्नों के उत्तर देना और लाभ-हानि बतलाना। (४) निमित्तकर्म—ज्योतिषशास्त्र के आधार से निमित्त बतलाना और भूत, भविष्य तथा वर्तमान का वृत्तांत बतलाना। (५) आजीविकाकर्म—अपनी जाति बतला कर, कुल बताकर, शिल्पकला दिखा कर, धन्धा बता कर, व्यापार बतला कर, गुण प्रकट करके तथा ज्ञान प्रकट करके आहार लेना। (६) कल्ककुरुककर्म—माया-कपट करना, दंभ करना, ढोंग करना और लोगों को डराना। (७) लक्षणकर्म—सामुद्रिक विद्या के आधार से स्त्री-पुरुषों के हाथ-पैर आदि के चिह्नों का फल बतलाना, तिल, मसा आदि का फल बतलाना। इन सात कर्मों में से किसी भी कर्म को करने वाला साधु कुशील कहलाता है।

(४) संसत्ता—जैसे गाय-भैंस के बाँटे में अच्छी-बुरी सभी वस्तुओं का सम्मिश्रण होता है, उसी प्रकार जिनकी आत्मा में गुण और अवगुण मिले-जुले हों, जिन्हें अपने गुण-दोषों का खयाल न हो, जो देखादेखी साधु का वेष धारण करके पेट भरते हों, तथा चाहे जिस मत वाले के साथ और पासत्था आदि के साथ मिल कर रहते हों, जो भेदभाव को न समझते हों, वह 'संसत्ता' साधु कहलाते हैं। यह क्लिष्ट अर्थात् क्लेशयुक्त और असंक्लिष्ट अर्थात् क्लेशरहित के भेद दो प्रकार के होते हैं।

(५) अपछंदा—गुरु की, तीर्थङ्कर की और शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करके अपनी मर्जी के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला, ऋद्धि का, रस का और साता का अभिमान करने वाला, इच्छानुसार उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाला।*

*इस वक्त इतनी फाट फूट होने का—संवत्सरी जैसे महापर्व में भङ्ग पड़ने का अपने धर्म को लज्जास्पद काम करने का कारण मुझे तो मुख्य यही मालूम पड़ता है कि जराक ज्ञान का, क्रिया का, वाचालता का—मिथ्याडम्बर अवलोकन कर, जो गुरु आदि की आज्ञा का भङ्ग कर अपछन्द—स्वच्छन्दाचारी बने हैं, उनको मानना पूजना, यही देखाता है, यदि ऐसे निन्हवों को जो सत्कार सन्मान नहीं देवे तो जो वे हलु कर्मी हो तो तत्काल

यह पाँच प्रकार के साधु सत्कार-सन्मान के योग्य नहीं है। सत्य सनातन जैनधर्म में गुणों की पूजा, श्लाघा, वन्दना, सत्कार और सन्मान करने का विधान है। अतएव गुरु की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए।

दोहा—ईर्या भाषा एषणा, ओलखजो आचार।
सुगुणी साधु देखकर, वन्दो बारम्बार॥

साधु की ८४ उपमाएँ



उरग-गिरि-जलण-सागर, नहतल-तरुगणसमो हि जो होइ।
भमर-मिय-धारिणी-जलरुह-रवि-पवणसमो य सो समणो॥

अर्थात्—(१) उरग (सर्प), (२) गिरि (पर्वत), (३) ज्वलन (अग्नि), (४) सागर, (५) नभस्तल (आकाश), (६) तरुगण (वृक्षसमूह), (७) भ्रमर, (८) मृग (हिरन), (९) धारिणी (पृथ्वी), (१०) जलरुह (कमल), (११) रवि (सूर्य), और (१२) पवन के समान श्रमण होता है।

यहाँ श्रमण के लिए जो बारह उपमाएँ दी गई हैं, उनमें से प्रत्येक उपमा के सात-सात गुण गिनने से १२×७=८४ उपमाएँ हो जाती हैं। इन उपमाओं का विवरण इस प्रकार है:—

[१] उरग—श्रमण सर्प के समान होता है। [१] जैसे साँप दूसरे के लिए बने हुए स्थान में रहता है, उसी प्रकार साधु, गृहस्थ द्वारा अपने खुद के लिए बनाये स्थान में रहता है। [२] जैसे अगंधन जाति के सर्प वमन किये विष को फिर नहीं चूसता, उसी प्रकार साधु त्यागे हुए भोगोपभोग भोगने की कभी इच्छा नहीं करता। [३] जैसे साँप सीधा चलता है उसी प्रकार साधु सरलता से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता है। [४] जैसे साँप

स्वस्थान आ जावे। कदाचित् वे नहीं सुधरें तो उनकी आत्मा से डूबे। किन्तु धर्म में फूट फजीती और निन्दनीय कार्य होने का प्रसंग तो न आवे। पाठक इस कथन को जरूर ध्यान में लेंगे।

बिल में सीधा प्रवेश करता है उसी प्रकार साधु आहार के ग्रास को, स्वाद के लिए इधर-उधर न फिराता हुआ सीधा गले में उतारता है। [५] जैसे साँप केंचुली त्याग कर तुरन्त चल देता है, फिर उस तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता, उसी प्रकार साधु संसार त्याग करके लेश मात्र भी संसार की इच्छा नहीं करता। [६] जैसे साँप कंटक, कंकर आदि से डर कर सावधानी से चलता है, उसी प्रकार साधु भी हिंसा आदि से डर कर यतनापूर्वक चलता है। [७] जैसे साँप से सब डरते हैं उसी प्रकार लब्धिधारी साधु से राजा, देव, इन्द्र आदि भी डरते हैं।

(२) गिरि—[१] जैसे पर्वत पर नाना प्रकार की जड़ी-बूटियाँ एवं औषधियाँ होती हैं, उसी प्रकार साधु भी अक्षीण आदि अनेक लब्धियों के धारक होते हैं। [२] जैसे पर्वत को वायु चलायमान नहीं करती, उसी प्रकार साधु को उपसर्ग और परीषह विचलित नहीं कर सकते। [३] जैसे पर्वत प्राणियों का आधारभूत है, घास, मिट्टी, फल आदि के द्वारा आजीविका का साधन बनता है, उसी प्रकार साधु छह काय के जीवों के लिए आधारभूत है। [४] जैसे पर्वत में से नदियाँ वगैरह निकलती हैं, उसी प्रकार साधु से ज्ञान आदि अनेक गुणों का विकास होता है। [५] जैसे मेरुपर्वत सब पर्वतों में ऊँचा है, उसी प्रकार साधु का भेष सब भेषों में उत्तम और मान्य है। [६] जैसे कितने ही पर्वत रत्नमय हैं, उसी प्रकार साधु रत्नत्रयमय (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त) है। [७] जैसे पर्वत मेखला से शोभायमान होता है, उसी प्रकार साधु, शिष्यों तथा श्रावकों से शोभित होते हैं।

(३) ज्वलन—[१] जैसे अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार साधु ज्ञान आदि गुणों का ग्रहण करते-करते कभी तृप्त नहीं होता। [२] जैसे अग्नि अपने तेज से देदीप्यमान होती है, उसी प्रकार साधु, तप, संयम आदि ऋद्धि से दीप्त होते हैं। [३] जैसे अग्नि कचरे को भस्म कर देती है, उसी प्रकार साधु कर्म रूपी कचरे को तप के द्वारा जला देता है। [४] जैसे अग्नि अन्धकार का नाश करके प्रकाश करती है, उसी प्रकार साधु

मिथ्यात्व रूपी अन्धकार का नाश करके धर्म का उद्योत करता है। [५] जैसे अग्नि सुवर्ण, चांदी आदि धातुओं को शोध कर निर्मल बना देती है, उसी प्रकार साधु भव्य जीवों को व्याख्यान-वाणी द्वारा मिथ्यात्व के मल से रहित बनाते हैं। [६] जैसे अग्नि धातु और मैल को अलग-अलग कर देती है, उसी प्रकार साधु आत्मा और कर्म को अलग-अलग कर देते हैं। [७] जैसे अग्नि मिट्टी के कच्चे बर्तन को पका कर पक्का करती है, उसी प्रकार साधु अपने शिष्यों और श्रावकों को उपदेश देकर पक्का—धर्म में दृढ़ बनाता है।

(४) सागर—[१] साधु समुद्र की तरह सदा गंभीर रहे। [२] जैसे समुद्र मोती, मूँगा आदि रत्नों की खान है, उसी प्रकार साधु गुणरत्नों की खान है। [३] जैसे समुद्र मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार श्रमण जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा की मर्यादा को भङ्ग नहीं करता। [४] जैसे समुद्र में समस्त नदियों का संगम होता है, उसी प्रकार साधु में औत्पत्ति की आदि बुद्धियों का संगम होता है। [५] जैसे समुद्र मगरमच्छ आदि से क्षुब्ध नहीं होता, उसी प्रकार साधु पाखण्डियों से तथा परिग्रह से क्षोभ को प्राप्त नहीं होता। [६] जैसे समुद्र कभी छलकता नहीं है, उसी प्रकार साधु कभी नहीं छलकता। [७] समुद्र के जल के समान साधु का अन्तःकरण सदा निर्मल रहता है।

(५) नभस्थल—(१) साधु का मन आकाश की तरह निर्मल होता है। (२) जैसे आकाश को किसी के आधार की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार साधु को गृहस्थ आदि के आश्रय की आवश्यकता नहीं रहती। (३) जैसे समस्त पदार्थ आकाश में समा जाते हैं, इसलिए वह सभी का आधार है इसी प्रकार साधु ज्ञान आदि सभी गुणों का पात्र है। (४) जैसे आकाश पर सर्दी-गर्मी का असर नहीं होता, उसी प्रकार साधु निन्दा एव अपमान से उदास नहीं होता। (५) जैसे आकाश वर्षा आदि के कारण प्रफुल्लित नहीं होता, उसी प्रकार साधु सत्कार वंदना तथा सन्मान पाकर प्रसन्न नहीं होता, (६) जैसे आकाश का शस्त्रों से छेदन-भेदन नहीं हो सकता उसी प्रकार साधु के चारित्र आदि गुणों का कोई नाश नहीं कर सकता। (७) जैसे आकाश अनन्त है, उसी प्रकार साधु के गुण अनन्त हैं।

(६) तरुगण—(१) जैसे वृक्ष गर्मी-सर्दी आदि के दुःख सहन करके मनुष्यों, पशु-पक्षियों आदि को शीतल छाया प्रदान करते हैं, उसी प्रकार साधु भी अनेक परीषहों और उपसर्गों को सहन करके जीवों को उपदेश देकर आश्रयभूत और सुखदाता बनता है। (२) जैसे वृक्षों की सेवा करने से फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार साधु की सेवा करने से दस गुणों की प्राप्ति होती है। (३) जैसे वृक्ष पथिकों को तथा लूटेरों को आश्रयदाता है उसी प्रकार साधु भी चारों गतियों के जीवों को आश्रयदाता है। (४) जैसे वृक्ष कुल्हाड़े से काटने पर भी क्रोध नहीं करते, उसी प्रकार साधु उपसर्ग देने वाले और निन्दा करने वाले पर भी क्रोध नहीं करता। (५) वृक्षों को कोई कुंकुम, केसर आदि लगाकर पूजे तो वृक्ष खुशी का अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार साधु सत्कार-सन्मान मिलने से प्रसन्न नहीं होता। (६) जैसे वृक्ष अपने फल, फूल और पत्ते दूसरों को देकर उसका बदला लेने की इच्छा नहीं करते, उसी प्रकार साधु ज्ञान आदि गुण देकर या उपदेश देकर किसी भी प्रकार का बदला नहीं चाहता। (७) जैसे वृक्ष सर्दी-गर्मी, पवन आदि से भले सूख जाएँ, मगर अपना स्थान नहीं त्यागते इसी प्रकार साधु प्राणान्तक कष्ट आ पड़ने पर भी अपने चारित्र आदि धर्म को नहीं छोड़ते, किन्तु अडिग बने रहते हैं।

(७) भ्रमर—(१) जैसे भ्रमर फूलों का रस ग्रहण करता है किन्तु फूलों को पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसी प्रकार साधु आहार—पानी ग्रहण करते हुए भी दाता को जरा भी कष्ट नहीं देते। (२) जैसे भ्रमर फूल का मकरंद (रस) ग्रहण करता है किन्तु दूसरों को नहीं रोकता, उसी प्रकार साधु गृहस्थ के घर से आहार आदि लेता है किन्तु किसी को अन्तराय नहीं लगाता। (३) भ्रमर अनेक फूलों से अपना निर्वाह करता है, उसी प्रकारसाधु अनेक ग्रामों में परिभ्रमण करके, अनेक घरों में फिर कर, आहार आदि प्राप्त करके अपने शरीर का पोषण करता है। (४) जैसे भ्रमर बहुत-सा रस मिलने पर भी उस का संग्रह नहीं करता, उसी प्रकार साधु आहार आदि का संग्रह नहीं करता। (५) जैसे भ्रमर बिना बुलाये, अकस्मात ही फूलों के पास चला जाता है, उसी प्रकार साधु भी बिना निमंत्रण ही भिक्षा के लिए गृहस्थों के घर जाता है।

(६) जैसे भ्रमर का प्रेम केतकी (केवड़ा) के फूल पर अधिक होता है, उसी प्रकार साधु का चारित्रधर्म पर अधिक प्रेम होता है। (७) जैसे भ्रमर के लिए बाग-बगीचे नहीं बनाये जाते, उसी प्रकार जो आहार गृहस्थ ने साधु के निमित्त न बनाया हो वही आहार साधु के काम आता है।

(८) मृग—(१) जैसे मृग सिंह से डरता है, उसी प्रकार साधु हिंसा आदि पापों से डरता है। [२] जिस घास के ऊपर से सिंह निकलता है, उस घास को मृग नहीं खाता, उसी प्रकार जो आहार दूषित होता है, उसे साधु कभी नहीं लेता है। [३] जैसे मृग, सिंह के भय से एक स्थान पर नहीं रहता, उसी प्रकार साधु प्रतिबंध से डरता है और शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करके एक स्थान पर निवास नहीं करता। [४] मृग रोग हो जाने पर भी औषध का सेवन नहीं करता उसी प्रकार साधु पापकारी औषध का सेवन नहीं करता। [५] जैसे रोग आदि विशेष कारण से मृग एक स्थान पर रहता है, उसी प्रकार साधु रोग, वृद्धावस्था आदि विशेष कारण उपस्थित होने पर एक स्थान पर रहता है। [६] जैसे मृग रुग्णता आदि अवस्थाओं में स्वजनों की सहायता की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार साधु भी रोग, परीषह या उपसर्ग आने पर गृहस्थों की अथवा स्वजनों की शरण की अपेक्षा नहीं करता। [७] जैसे मृग निरोग होते ही वह स्थान छोड़ देता है, उसी प्रकार साधु भी कारणमुक्त होते ही ग्रामानुग्राम विहार करता है।

[९] धरिणी—के समान साधु होते हैं। [१] जैसे पृथ्वी समभाव से गर्मी-सर्दी, छेदन भेदन आदि दुःखों को सहन करती है, उसी प्रकार साधु परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहन करता है। [२] जैसे पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण होती है, उसी प्रकार साधु भी संवेग, वैराग्य शम, दम आदि सद्गुणों से परिपूर्ण होता है। [३] जैसे पृथ्वी समस्त बीजों की उत्पत्ति का कारण है, उसी प्रकार साधु सर्वसुखदाता और धर्म-बीज की उत्पत्ति का कारण है। [४] जैसे पृथ्वी अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करती, उसी प्रकार साधु ममत्वभाव से अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करता। [५] जैसे पृथ्वी का कोई छेदन-भेदन करता है तो भी वह किसी से फरियाद नहीं करती, उसी प्रकार साधु को अगर कोई मारे, पीटे, उसका

अपमान करे तो भी वह गृहस्थ से नहीं कहता। (६) जैसे पृथ्वी अन्य संयोगों से उत्पन्न होने वाले कीचड़ का नाश करती है, उसी प्रकार साधु राग-द्वेष क्लेश रूपी कीचड़ का अन्त कर देता है। (७) जैसे पृथ्वी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का आधार है, उसी प्रकार साधु भी आचार्य, उपाध्याय, शिष्य श्रावक आदि का आधार है।

(१०) कमल—साधु कमल के फूल के समान होता है। (१) जैसे कमल का फूल कीचड़ से उत्पन्न हुआ, पानी के संयोग से बढ़ा, फिर भी पानी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार साधु, गृहस्थ के घर जनमा, गृहस्थी में भोग भोग कर बड़ा हुआ, फिर भी वह कामभोगों से लिप्त नहीं होता—किन्तु न्यारा ही रहता है। (२) कमल का फूल अपनी सुगन्ध और शीतलता से पथिकों को सुख उपजाता है, उसी प्रकार साधु उपदेश देकर भव्य जीवों को सुख उपजाता है। (३) जैसे पुण्डरीक कमल का सौरभ चारों ओर फैलता है, उसी प्रकार साधु के शील, सत्य, तप, ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की सुगन्ध चहुँ ओर फैलती है। (४) जैसे चन्द्रविकासी (कुमुद) और सूर्यविकासी कमल क्रमशः चन्द्रमा और सूर्य के दर्शन से खिल उठते हैं, उसी प्रकार गुणी जनों के सम्पर्क से महामुनियों के हृदय-कमल खिल उठते हैं। (५) जैसे कमल सदा प्रफुल्लित रहता है, उसी प्रकार साधु सदा प्रसन्न रहता है। (६) जैसे कमल सदा सूर्य और चन्द्र के सन्मुख रहता है, उसी प्रकार साधु सदा तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के सन्मुख रहता है। अर्थात् आज्ञानुसार ही व्यवहार करता है। (७) जैसे पुण्डरीक कमल उज्ज्वल और धवल होता है, उसी प्रकार साधु का हृदय धर्मध्यान और शुक्लध्यान से उज्ज्वल बना रहता है।

(११) रवि—साधु सूर्य के समान होता है। जैसे सूर्य अपने तेज से अंधकार का नाश करके जगत् के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार साधु जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों का वास्तविक स्वरूप भव्य जीवों के लिए प्रकाशित करता है। (२) जैसे सूर्य के उदय से कमलों का वन प्रफुल्लित होता है, उसी प्रकार साधु के आगमन से भव्य जीवों के मन प्रफुल्लित होते हैं। (३) जैसे सूर्य रात्रि के चार पहर में एकत्र हुए अंधकार

को क्षण मात्र में नष्ट कर देता है, उसी प्रकार साधु अनादि काल के मिथ्यात्व को नष्ट कर देता है। (४) जैसे सूर्य तेज प्रताप से दीपता है, उसी प्रकार साधु तप के तेज से दीप्त होता है। (५) जैसे सूर्य का प्रकाश होने पर ग्रहों, नक्षत्रों और तारागण का प्रकाश फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार साधु के आगमन से मिथ्यात्वियों और पाखंडियों का तेज मंद हो जाता है। (६) जैसे सूर्य का प्रकाश होने पर अग्नि का तेज फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार साधु का ज्ञान रूप प्रकाश क्रोध रूप अग्नि को मंद बना देता है। (७) जैसे सूर्य अपनी हजार किरणों से शोभित होता है, उसी प्रकार साधु ज्ञानादि सहस्रों गुणों से तथा चार तीर्थ के परिवार से शोभित होता है।

(१२) साधु पवन के समान होता है। (१) जैसे पवन सर्वत्र गमन करता है, उसी प्रकार साधु सर्वत्र स्वेच्छा अनुसार विचरता है। (२) जैसे पवन अप्रतिबंध विहारी है, उसी प्रकार साधु, गृहस्थ आदि के प्रतिबंध से रहित होकर विचरता है। (३) जैसे पवन हलका होता है, उसी प्रकार साधु द्रव्य से और भाव से (चार कषाय पतले पड़ने से) हल्का होता है। (४) जैसे पवन चलते-चलते कहीं का कहीं पहुँच जाता है, उसी प्रकार साधु भी अनेक देशों में विहार करता है। (५) जैसे पवन सुगंध और दुर्गंध का प्रसार करता है, उसी प्रकार साधु धर्म-अधर्म तथा पुण्य-पाप आदि का स्वरूप प्रकट करता है। (६) जैसे पवन किसी के रोके रुकता नहीं है उसी प्रकार साधु मर्यादा के उपरान्त किसी के रोके नहीं रुकता। (७) जैसे वायु उष्णता को मिटाता है, उसी प्रकार साधु संवेग, वैराग्य और सद्बोध रूपी पवन से आधि, व्याधि और उपाधि रूप उष्णता का निवारण करके शान्ति का प्रसार करता है।

साधु की अन्य ३२ उपमाएँ



(१) कांस्यपात्र—जैसे कांसे की कटोरी पानी के द्वारा भेदी नहीं जा सकती, उसी प्रकार मुनि मोह-माया से नहीं भेदा जा सकता।

(२) शंख—जैसे शंख पर रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार मुनि पर राग-स्नेह का रंग नहीं चढ़ता।

(३) जीवगति—परभव में जाने वाले जीव की गति (विग्रहगति) को जैसे कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार मुनि अप्रतिबन्ध विहारी होकर विचरते हैं।

(४) सुवर्ण—जैसे सुवर्ण पर काठ (जंग) नहीं चढ़ता, उसी प्रकार साधु को पाप रूपी काठ नहीं लगता।

(५) दर्पण—जैसे दर्पण में रूप दिखाई देता है, उसी प्रकार साधु ज्ञान से अपनी आत्मा के स्वरूप को देखता है।

(६) कूर्म—किसी वन में एक सरोवर था। उसमें बहुत कछुए रहते थे। वे आहार की खोज में पानी से बाहर निकला करते थे। उस मौके पर वन में रहने वाले अनेक शृगाल उन्हें खाने के लिए आ जाते थे। अतएव जो कछुए समझदार होते वे शृगाल को देखते ही, रात भर अपने पाँचों अंगों को (चारों पैरों और मस्तक को) ढाल के नीचे छिपा कर स्थिर पड़े रहते थे। जब सूर्योदय होता और शृगाल चले जाते तब वे कछुए अपने ठिकाने जाते और सुखपूर्वक रहते थे। पर कुछ कछुए ऐसे भी थे जो लगातार स्थिर नहीं रह सकते थे। 'शृगाल अभी गये हैं या नहीं गये' यह देखने के लिए वे अपना मस्तक बाहर की ओर निकालते थे कि उसी समय छिप कर बैठे हुए शृगाल उन पर झपटते और उन्हें मार कर खा जाते थे। साधु उन स्थिरता वाले कूर्मों की तरह पाँचों इन्द्रियों को, ज्ञान एवं संयम की ढाल के नीचे जीवन-पर्यन्त दबा रखते हैं। वे स्त्री, आहार आदि भोगोपभोग रूपी शृगालों के शिकार नहीं होते। अन्त में वे शांतिपूर्वक आयु पूर्ण करके मोक्ष रूपी सरोवर में अवगाहन करके सुख के पात्र बनते हैं।

(७) पद्म—जैसे पद्म-कमल जल में उत्पन्न होता है और जल में ही वृद्धि को प्राप्त होता है, फिर भी जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार साधु संसार में रहता हुआ भी संसार में लिप्त नहीं होता—सांसारिक कामभोगों से सर्वथा विरत रहता है।

(८) गगन—जैसे आकाश को सहारा देने के लिए कोई स्तम्भ नहीं है, वह निराधार होने पर भी टिका हुआ है, उसी प्रकार साधु बिना किसी का आश्रय लिये ही आनन्दपूर्वक संयम-जीवन व्यतीत करता है।

(९) वायु—जैसे वायु एक जगह नहीं ठहरता, उसी प्रकार साधु भी एक जगह स्थायी रूप से नहीं ठहरता, वरन् देश-देशान्तर में विचरता रहता है।

(१०) चन्द्र—मुनि चन्द्रमा की भाँति निर्मल और उज्ज्वल अन्तः-करण वाला और शीतल स्वभाव वाला होता है।

(११) आदित्य—जैसे सूर्य अन्धकार का विनाश करता है, उसी प्रकार श्रमण मिथ्यात्व रूपी भाव-अन्धकार को नष्ट करता है।

(१२) समुद्र—समुद्र में अनेक नदियों का पानी आता है, फिर भी समुद्र कभी छलकता नहीं है, इसी प्रकार साधु सब के शुभ और अशुभ वचनों को सहन करता है, कोप नहीं करता है।

(१३) भारण्डपक्षी—भारण्डपक्षी के दो मुख और तीन पैर होते हैं। वह सदा आकाश में रहता है, सिर्फ आहार के लिए पृथ्वी पर आता है। पृथ्वी पर आकर वह अपने पङ्खों को फैला कर बैठता है। वह एक मुख से इधर-उधर देखता रहता है कि किसी तरफ कोई खतरा तो नहीं है और दूसरे मुख से आहार करता है। जरा-सी आहट होते ही वह आकाश में उड़ जाता है। इसी प्रकार साधु सदा संयम में सावधान रहता है। सिर्फ आहार आदि विशेष प्रयोजन से गृहस्थ के घर जाता है। उस समय द्रव्यदृष्टि (चर्मचक्षु) आहार की ओर रखता है और अन्तर्दृष्टि से यह देखता रहता है कि मुझे किसी प्रकार का दोष तो नहीं लग रहा है! दोष लगने की सम्भावना हो या दोष की आशंका हो तो तत्काल वहाँ से चल देता है।

(१४) मन्दरपर्वत—जैसे सुमेरु पवन से कम्पित नहीं होता, उसी प्रकार साधु परिषह और उपसर्ग आने पर संयम से चलायमान नहीं होता।

(१५) तोय—जैसे शरद्-ऋतु का पानी बिलकुल स्वच्छ रहता है, उसी प्रकार साधु का हृदय सदैव निर्मल रहता है।

(१६) गेंड़ा—जैसे गेंड़ा नामक पशु एक दाँत वाला होता है और एक ही दाँत से वह सबको पराजित कर सकता है, उसी प्रकार मुनि एक निश्चय पर स्थिर रह कर समस्त कर्म-शत्रुओं को पराजित करता है।

(१७) गन्धहस्ती—गन्धहस्ती को संग्राम में ज्यों-ज्यों भाले के घाव लगते हैं, त्यों-त्यों वह और अधिक पराक्रम करके शत्रुसेना का संहार करता है, इसी प्रकार साधु पर ज्यों-ज्यों उपसर्ग-परिषह आते हैं, त्यों-त्यों वह और अधिक बल-वीर्य प्रकट करके, शूरवीरता धारण करके कर्मशत्रुओं का पराजय करता है।

(१८) वृषभ—जैसे मारवाड़ का धोरी बैल उठाये हुए बोझ को, प्राण भले ही चले जाएँ किन्तु बीच में नहीं छोड़ता, यथास्थान पहुँचाता है उसी प्रकार साधु पाँच महाव्रत रूपी महान् भार को प्राणान्त कष्ट सहन करके भी बीच में नहीं त्यागता, वरन् सम्यक् प्रकार से उनका निर्वाह करता है।

[१९] सिंह—केसरी सिंह किसी भी पशु के डराये डरता नहीं, उसी प्रकार साधु किसी भी पाखण्डी से डर कर धर्म से विचलित नहीं होता।

[२०] पृथ्वी—जैसे पृथ्वी सर्दी-गर्मी, गङ्गाजल-मूत्र, मलीन-निर्मल सब वस्तुओं को समभाव से सहन करती है और धरतीमाता समझ कर पूजा करने वाले पर एवं जूठन, गन्दगी आदि डालने वाले पर तथा खोदने वाले पर समभाव रखती है, उसी प्रकार साधु शत्रु-मित्र पर समभाव रखता है; निन्दक और वन्दक को समान भाव से उपदेश देता है और उन्हें संसार-सागर से तारता है।

[२१] वह्नि—घी डालने से अग्नि जैसे देदीप्यमान होती है, उसी प्रकार साधु ज्ञान आदि गुणों से देदीप्यमान होता है।

[२२] गोशीर्ष चन्दन—चन्दन ज्यों-ज्यों घिसा जाता या जलाया जाता है त्यों-त्यों सुगन्ध का प्रसार करता है, उसी प्रकार साधु परीषह देने वाले को, कर्मक्षय में उपकारी जान कर समभाव से उपदेश देकर तारता है।

[२३] द्रह—द्रह चार प्रकार के होते हैं—[१] केसरी वगैरह वर्षधर पर्वत के द्रह में से पानी बाहर निकलता है किन्तु बाहर का पानी उसमें प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार कोई-कोई साधु दूसरों को कुछ सिखाते हैं किन्तु स्वयं कुछ नहीं सीखते। [२] समुद्र के समान पानी भीतर आता है किन्तु भीतर का पानी बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार साधु दूसरों से ज्ञान सीखता है किन्तु स्वयं किसी को नहीं सिखाता। (३) गंगाप्रपात कुंड में जैसे पानी आता भी है और बाहर निकलता भी है, इसी प्रकार कतिपय साधु ज्ञान आदि दूसरे से सीखते भी हैं और दूसरों को भी सिखाते हैं। (४) अढ़ाई द्वीप के बाहर के समुद्रों में पानी न बाहर से आता है और न भीतर से बाहर निकलता है, इसी प्रकार कतिपय साधु न ज्ञान आदि गुण दूसरों से सीखते हैं, न दूसरों को सिखाते ही हैं। इसके अतिरिक्त जैसे द्रह का पानी अखूट होता है, उसी प्रकार साधु के ज्ञान आदि गुणों का भंडार अक्षय होता है।

(२४) कील—जैसे कील पर हथौड़ा मारने पर वह एक ही दिशा में प्रवेश करती है, उसी प्रकार साधु सदैव मोक्ष की ही दिशा में प्रवृत्ति करता है।

(२५) शून्यगृह—जैसे गृहस्थ खंडहर सरीखे सूने घरों की सार-संभाल नहीं करता, उसी प्रकार साधु शरीर रूपी घर की सार-संभाल नहीं करता।

(२६) द्वीप—जैसे समुद्र में गोते खाने वाले प्राणियों के लिए द्वीप आधारभूत है उसी प्रकार संसार-सागर में बहने वाले त्रस-स्थावर जीवों के लिए श्रमण आश्रय रूप हैं—अनाथों के नाथ हैं।

(२७) शस्त्रधार—जैसे करवत आदि शस्त्रों की धार एक ही ओर काष्ठ चीरती-चीरती आगे बढ़ती है, उसी प्रकार साधु कर्मशत्रुओं का निकंदन करता हुआ एक मात्र आत्मकल्याण के मार्ग में चलता रहता है।

(२८) शकुनि—जैसे पक्षी किसी प्रकार का आहार दूसरे दिन के लिए संग्रह करके नहीं रखता, उसी प्रकार साधु भी रात-वासी आहार नहीं रखता।

(३०) मृग—जैसे हिरन नित्य नये स्थानों में विचरता है और शंका की जगह नहीं ठहरता, उसी प्रकार साधु उग्रविहारी होता है और शंका या दोष की जगह तनिक भी नहीं ठहरता।

(३१) काष्ठ—जैसे काष्ठ काटने वाले और पूजने वाले पर विषम भाव नहीं करता, उसी प्रकार साधु शत्रु और मित्र को समान समझता है।

(३२) स्फटिकरत्न—जैसे स्फटिक मणि भीतर और बाहर से एक-सी निर्मल होती है, उसी प्रकार साधु भीतर-बाहर एक-सी वृत्ति वाला होता है और लेश मात्र भी कपटक्रिया नहीं करता।

मुनि को इन पूर्वोक्त अनेक उपमाओं के अतिरिक्त और भी अनेक उपमाएँ दी जाती हैं। जैसे—पारस मणि, चिन्तामणि, कामकुंभ, कल्पवृक्ष, चित्रवेलि आदि। इन सब उपमाओं का सादृश्य यह है कि जैसे पारसमणि चिन्तामणि आदि से मनुष्य के सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, उसी प्रकार मुनि भव्य जीवों को ज्ञान आदि उत्तम गुण प्रदान करके उनके सभी मनोरथों को सिद्ध कर देते हैं। जैसे विना छेद का जहाज स्वयं भी तरता है और दूसरों को भी तारता है, उसी प्रकार साधु अखंडित चारित्र वाला होकर स्वयं भवसागर से तिरता है और भव्य जीवों को भी तारता है। जैसे फल वाला वृक्ष मारने वाले को फल देता है, उसी प्रकार साधु अपकार करने वाले पर उपकार की वर्षा करता है। ऐसी-ऐसी अनेक उपमाएँ साधु को दी जाती हैं। ऐसी अनेक शुभ उपमाओं वाले, आत्मार्थी, रूक्षवृत्ति (उदासीन भाव वाले या निष्काम वृत्ति वाले), महापंडित, धर्मपंडित, महामहिमामंडित, शूर, वीर, धीर, शम दम यम नियम, उपशम वाले, अनेक प्रकार के तप करने वाले, अनेक आसनों को सिद्ध करने वाले, संसार से विमुख होकर मुक्ति-मार्ग की ओर ही दृष्टि रखने वाले, प्राणी मात्र के हितैषी, अनेक उत्तम गुणों के धारक मुनि महाराज को मेरी त्रिकरण त्रियोग से त्रिकाल वन्दना हो!

णमोकार मन्त्र



नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं॥

ऊपर पाँच परमेष्ठियों का जो विस्तृत विवेचन दिया जा चुका है, इस महामंत्र में उन्हीं को नमस्कार किया गया है। यह महामंत्र समस्त मंत्रों में उत्तम और महामंगलकारी है। यह अनादिनिधन मंत्र है और जैनमात्र को मान्य है। इसका प्रभाव अलौकिक है और इसके स्मरण मात्र से समस्त विघ्नबाधाओं का विघात हो जाता है। इस महामंत्र का अर्थ इस प्रकार है:—

१२ गुणों के धारक और चार घनघातिया कर्मों के विदारक श्रीअरिहन्त भगवान को नमस्कार हो। ८ गुणों के धारक, सकलार्थसिद्धि-कारक, सिद्ध भगवान को नमस्कार हो। ३६ गुणों के धारक और धर्मप्रचारक श्री आचार्य महाराज को नमस्कार हो। २५ गुणों के धारक और ज्ञानप्रचारक श्रीउपाध्याय महाराज को नमस्कार हो। २७ गुणों के धारक और आत्मोद्धारक साधु महाराज को नमस्कार हो।

इस प्रकार पाँचों परमेष्ठी के १२+८+३६+२५+२७= १०८ स्थूल गुण हैं। इसी कारण माला के मनके भी १०८ ही होते हैं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की आराधना की शिक्षा देने के लिए और यह प्रकट करने के लिए कि इन तीन रत्नों की आराधना करने से ही परमेष्ठी का परमोत्तम पद प्राप्त होता है, माला के शिखर पर तीन मनके रक्खे गये हैं।

पूर्वार्ध का अन्तिम मंगलाचरण



अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः।
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः॥
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः।
पंचैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम्॥

पूर्वार्ध समाप्त



द्वितीय खण्ड

द्वितीय खण्ड विषय प्रवेश

●

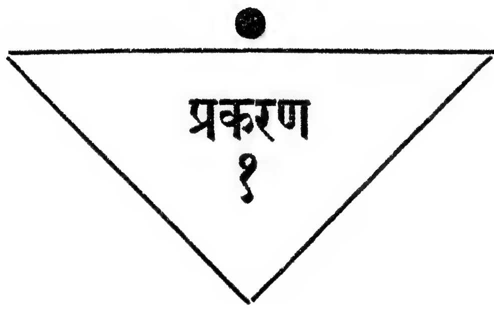
(उत्तरार्ध गाथा)

अत्थधम्मगइं अणुसट्ठिं सुणेह मे ।

इस ग्रंथ की आदि में जो गाथा लिखी है, उसके पूर्वार्ध की विस्तृत व्याख्यान में प्रथम खण्ड समाप्त हुआ। इस प्रथम खण्ड में अनेक विषयों की विवेचना के साथ श्री अरिहन्त भगवान्, सिद्ध भगवान्, आचार्यजी, उपाध्यायजी और साधु जी के गुणों का भी कथन किया जा चुका है। अब उस गाथा के उत्तरार्ध-भाग का निरूपण करने के लिए यह द्वितीय खण्ड आरंभ किया जाता है।

धर्म महान् और कल्याणकारी है। आत्मा का इच्छित अर्थ सिद्ध करने वाला अर्थात् जरा-मरण के दुःखों का अन्त करके, अनन्त अक्षय अव्याबाध मोक्ष-सुख की प्राप्ति कराने वाला है, अतः मुमुक्षु पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य है। ऐसे यथातथ्य श्रुत—चारित्र रूप जिस धर्म को मैंने अपने गुरुदेव की कृपा से यत्किंचित् समझ पाया है। भव्य जीवों को उस धर्म का उपदेश करना मेरा कर्त्तव्य है। अतएव दूसरे खण्ड में (१) धर्म की प्राप्ति (२) सूत्रधर्म (३) मिथ्यात्व (४) सम्यक्त्व (५) गृहस्थधर्म और (६) अन्तिम शुद्धि, इन छह प्रकरणों में उसका वर्णन किया जायगा। हे भव्य जीवो! इस उत्तम धर्म को निज आत्मा का स्वरूप और हितकारी समझकर, समीचीन रूप से, मन वचन काय के योगों को स्थिर करके श्रवण करना। ऐसा करने से आपको अनिर्वचनीय आत्मिक सुख की प्राप्ति होगी। आपके हृदय का संताप दूर हो जायगा और शान्ति का अनुभव होगा।

छद्मस्थ होने के कारण कदाचित् मुझसे कहीं कोई भूल हो जाय तो ज्ञानी जनों के समक्ष मैं क्षमाप्रार्थी हूँ विनती करता हूँ कि हंस की भाँति पानी रूप दोषों को त्याग कर दूध रूप गुणों के ग्राहक बनकर पठन-पाठन करेंगे तो अकथनीय आत्मिक सुख प्राप्त करके स्व-परहित साध सकेंगे।


प्रकरण
१

धर्म की प्राप्ति



गाथा—लब्भन्ति विउले भोए, लब्भन्ति सुरसंपया।
लब्भन्ति पुत्तमित्तं च, एगो धम्मो सुदुल्लहो॥

संसार के समस्त प्राणी एकान्त सुख के अभिलाषी हैं। सुख की कामना से प्रेरित होकर ही जीव निरन्तर नाना प्रकार के व्यापारों में लगे रहते हैं किन्तु सुख-प्राप्ति की अभिलाषा को पूर्ण करने वाला, इस विश्व में अगर कोई पदार्थ है तो वह एक मात्र धर्म ही है। दूसरे किसी पदार्थ में सुख देने की शक्ति होती तो जीव आज तक दुखी न बना रहता। वर्त्तमान काल में जो भव है, इससे पहले जीव ने अनन्त भव किये हैं। अनन्त वार मनुष्य भव धारण किया है और अनन्त वार ही देवों का भव धारण किया है। देवों के रत्नजटित महल और दिव्य वस्त्राभूषण आदि सम्पत्ति अनन्त वार मिली है। पुत्र, मित्र, कलत्र आदि स्वजनों से अगर सुख की प्राप्ति होती हो तो वह भी अनन्त वार मिले हैं। फिर भी संसारी जीव को एकान्त सुख की प्राप्ति नहीं हुई। जो सुख सदा सुख ही रहता है—कभी दुःख के रूप में नहीं पलटता ऐसे एकान्त सुख की प्राप्ति केवल धर्म का ही शरण ग्रहण करने से होती है। ऐसे उत्तम धर्म का मिलना बड़ा ही कठिन होता है। शास्त्र में कहा है:—

न सा जाई न सा जोणी, न तं कुलं न तं ठाणं।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो॥

अर्थात् इस जगत् में ऐसी कोई जाति, योनि कुल या स्थान नहीं है जहाँ यह जीव जन्मा और मरा न हो। सारांश यह है कि सभी जातियों में सभी योनियों में, सभी कुलों में और सभी स्थानों में जीव अनन्तवार उत्पन्न हुआ है और मरा है। इस जगत् में जितने भी जीव हैं, उन सब के साथ, सभी जीवों के माता-पिता-भाई-बहन-स्त्री-पुत्र आदि-आदि सभी प्रकार के संबंध अनन्त-अनन्त वार हो चुके हैं। किसी भी जीव के साथ एक भी प्रकार का संबंध जोड़ना शेष नहीं रहा है। फिर भी इसे सच्चा सुख प्राप्त नहीं हुआ, वरन् इन संबंधों के कारण इसे और अधिक दुःख की प्राप्ति हुई। अनेक वार इन संबंधों की बदौलत घोर व्यथा भोगनी पड़ती है, शोक विलाप और हाहाकार करना पड़ता है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इन सांसारिक संबंधों के कारण अगर अखंड सुख की प्राप्ति संभव होती तो रुदन करके दुखी होने का प्रसंग ही क्यों आता ? उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है:—

माया पिया एहुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते तव ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥

अर्थात्—माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, भार्या (पत्नी) और सगे पुत्र आदि संबंधी तेरे लिए त्राणकारी नहीं हैं। जब तू अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से दुख का भागी बनेगा तब ये तेरी सहायता करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। ऐसा जानकर, हे भव्य प्राणियो ! एक मात्र धर्म का ही आश्रय लो। इस संपूर्ण विश्व में अगर कोई हितकारी है तो धर्म ही है। इस एक मात्र शरणभूत और कल्याणकारी धर्म की प्राप्ति होना बहुत कठिन है। इस लिये कहा गया है—'एगो धम्मो सुदुल्लहो।' जगत् में उत्तम गिनी जाने वाली सुवर्ण रत्न आदि वस्तुएँ भी बहुत थोड़ी और दुर्लभ हैं तो इनसे अनन्त गुना अधिक कीमत वाला धर्म सुलभ कैसे हो सकता है ?* कितनी-कितनी कठिनाइयाँ

---

* Religion what treasures untold,
Reside in that heavenly world.
More precious than silver and gold,
Or all this earth can afford.

अर्थात्—'धर्म' इस शब्द में कैसा अकथनीय खजाना भरा हुआ है ! सोना, चाँदी, रत्न, मोती और पृथ्वी की समस्त मूल्यवान् वस्तुओं से भी धर्म अतिशय मूल्यवान् है।

झेलने के बाद धर्म की प्राप्ति होती है, इस संबंध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य है।

'अदुवा अणंतखुत्तो'+ अर्थात् अनन्त वार सभी जीव संसार में परिभ्रमण कर चुके हैं। इस वाक्य में जो 'अदुवा' (अथवा) पद रखा गया है, उससे यह निश्चित होता है कि यह जीव पहले इतरनिगोद अर्थात् अव्यहारराशि (वह जीवराशि, जिसमें से अनन्त जीव अभी तक अपना एकेन्द्रियपन त्याग कर द्वीन्द्रिय अवस्था को भी नहीं प्राप्त कर सके हैं) में था। उस अव्यवहार राशि में उसका अनन्त काल व्यतीत हुआ। इस प्रकार काल व्यतीत होते-होते, अकाम निर्जरा के प्रभाव से (बिना मन सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के कष्ट सहने से) कर्म कुछ पतले पड़े। तब जीव व्यवहार-

---

+ यह पाठ श्री भगवतीसूत्र में तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अंतिम भाग में है। स्याद्वादमञ्जरी नामक न्याय ग्रंथ में भी यह उद्धृत किया गया है:—

गाथा—गोला इ असंखिज्जा असंख णिग्गोयगोलओ भणिओ।
इक्किक्कम्मि निगोए अणन्तजीवा मुणेयव्वा ॥१॥

अर्थात्—एक निगोद में असंख्यात गोला है, एक-एक गोले में असंख्यात निगोद-शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव हैं।

सिज्झन्ति जत्तिया खलु, इह संववहाररासीदो।
एन्ति अणाइ वणस्सइ-रासिदो तत्तिया तम्हि ॥२॥

अर्थात्—व्यवहार राशि में से जितने जीव सिद्ध गति में जाते हैं, उतने जीव अनादि निगोद वनस्पतिराशि में से निकल कर व्यवहारराशि में आ जाते हैं।

अतएव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम्।
ब्रह्माण्ड लोकजीवानामनन्तत्वाद शून्यता।

अर्थात्—इस कारण ज्ञानी पुरुष निरन्तर संसार में से निकल कर मोक्ष में जाते रहते हैं, फिर भी संसारी जीव-राशि का अनन्त होने के कारण कभी क्षय नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जीव संसार से मोक्ष में जाते रहते हैं किन्तु मोक्ष से लौट कर फिर संसार में नहीं आते। ऐसी स्थिति में यह संशय किया जा सकता है कि कभी न कभी सभी जीव मोक्ष को चले जायेंगे तो संसार खाली हो जायगा। इस संशय का निवारण किया गया है। बतलाया गया है कि संसार में जो जीव-राशि है, वह अनन्तानन्त है। उसमें से भी जितने जीव मोक्ष में जाते हैं उतने ही जीव अव्यवहारराशि में से व्यवहारराशि में आ जाते हैं, अतः व्यवहारराशि में जीव कम नहीं होते। रह गई अव्यवहारराशि, सो वह अनन्तानन्त होने के कारण अक्षय है। इस कारण संसार कभी जीवशून्य नहीं होता। यह बात आगे के श्लोक में और स्पष्ट की गई है:—

राशि में आया और तब उसने अनन्त पुद्गलपरावर्त्तन किये। पुद्गलपरावर्त्तन अति सूक्ष्म है। उसका यहाँ वर्णन किया जाता है।

पुद्गलपरावर्त्तन

जीव आठ प्रकार से पुद्गलपरावर्त्तन करता है:—[१] द्रव्य से [२] क्षेत्र से [३] काल से [४] भाव से; और इन चारों के सूक्ष्म तथा बादर के भेद से दो-दो प्रकार होते हैं। सब मिल कर आठ प्रकार से पुद्गलपरावर्त्तन होते हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्त्तन—[१] औदारिक शरीर (मनुष्यों और तिर्यञ्चों को प्राप्त होने वाला हाड़ मांस और चमड़ी का पुतला रूप शरीर), [२] वैक्रिय शरीर (एक-अनेक, छोटे-बड़े आदि नाना रूप धारण कर सकने वाला देवों और नारकों का शरीर), [३] तैजसशरीर* (अन्दर रह कर आहार को पचाने वाला और सब संसारी जीवों को सदैव प्राप्त रहने वाला शरीर), [४] कार्मणशरीर (कर्मों का समुदाय रूप शरीर, जो सब

न्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत्।
वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसम्भवः॥

अर्थात्—जिस वस्तु का परिमाण होता है—जो परिमित होती है, उसी का कभी अन्त आ सकता है, उसी में न्यूनता या अधिकता का व्यवहार किया जा सकता है। इसके विपरीत जो वस्तु अपरिमित—अनन्त होती है, उसमें न्यूनता अधिकता आदि का होना सम्भव नहीं है। न वह घटती है, न बढ़ती है, न समाप्त होती है।

तात्पर्य यह है कि जब जीवराशि अपरिमित है तो उसका क्षय कदापि नहीं हो सकता और इसी कारण संसार जीवों से कभी सूना भी नहीं हो सकता।

** यहाँ तीसरा आहारक शरीर नहीं गिना गया है। इसका कारण यह है कि आहारक शरीर चौदह पूर्वों के धारक लब्धिवान् मुनि को प्राप्त होता है। जब चौदह पूर्वधारी मुनि को किसी गहन विषय में सन्देह उत्पन्न होता है और सर्वज्ञ का सन्निधान नहीं होता और जब औदारिक शरीर से अन्य क्षेत्रवर्त्ती सर्वज्ञ भगवान् के पास जाना सम्भव नहीं होता, तब वह मुनि अपनी आहारकलब्धि का प्रयोग करते हैं और उस लब्धि से एक हाथ का छोटा-सा विशिष्ट शरीर बनाते हैं। वह शरीर शुभ पुद्गलों का बना होने से सुन्दर होता*

संसारी जीवों के होता है), यह चार शरीर तथा [५] मनोयोग [६] वचनयोग [७] श्वासोच्छ्वास, इन सात वर्गणाओं के जितने पुद्गल लोक में हैं, उन सबको जब स्पर्श कर चुके तब द्रव्य से 'बादर पुद्गलपरावर्त्तन' हुआ कहलाता है।

(२) सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्त्तन—ऊपर कही हुई सातों वर्गणाओं का अनुक्रम से स्पर्श करे। जैसे—लोक में जितने भी औदारिक वर्गणा के पुद्गल हैं, उन सबका पहले स्पर्श कर ले, फिर अनुक्रम से वैक्रियवर्गणा के पुद्गलों का स्पर्श करे, फिर इसी प्रकार क्रम से तैजस वर्गणा के पुद्गलों का, कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का और फिर मनयोग, वचनयोग और श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों का स्पर्श करे। इसमें यह बात ध्यान रखने योग्य है कि औदारिक वर्गणा के पुद्गलों को फरसते-फरसते, पूरा फरसने से पहले, बीच में अगर वैक्रिय वर्गणा के जो पुद्गलों को फरस लिया तो औदारिक वर्गणा के जो पुद्गल पहले फरसे थे, उनकी गिनती नहीं की जाती। औदारिक वर्गणा के पुद्गलों को फरसना आरम्भ करने पर उन्हीं को फरसता जाय—बीच में किसी भी दूसरी वर्गणा के पुद्गलों को न फरसे तब उनकी गिनती होती है। इसी प्रकार पूर्वोक्त सातों वर्गणाओं के समस्त पुद्गलों का स्पर्श करके पूर्ण करने पर सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्त्तन कहलाता है।

(३) बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त्तन—मेरुपर्वत से आरम्भ करके समस्त दिशाओं में और विदिशाओं में आकाशप्रदेशों की असंख्यात श्रेणियाँ ठेठ अलोक तक बनी हुई हैं। इन सब आकाशप्रदेशों को जन्म से और मृत्यु से स्पर्श करे। बाल के एक अग्रभाग (नौंक) बराबर भी जमीन खाली न छोड़े, तब बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त्तन होता है।

(४) सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त्तन—मेरुपर्वत से जो पूर्वोक्त श्रेणियाँ

है, प्रशस्त उद्देश्य से बनाया जाने के कारण निरवद्य होता है और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्याघाती होता है। अर्थात् न किसी को रोकता है, न किसी से रुकता ही है। इस शरीर से वे मुनि सर्वज्ञ के पास जाकर अपना सन्देह-निवारण करते हैं। तदनन्तर वह शरीर बिखर जाता है। यह सब कार्य अन्तर्मुहूर्त्त में ही हो जाता है। अन्त में लब्धि का प्रयोग करने के लिए मुनि प्रायश्चित लेते हैं। ऐसे मुनि अर्धपुद्गलपरावर्त्तन से ज्यादा संसार-परिभ्रमण नहीं करते। इस कारण पुद्गलपरावर्त्तन में आहारक शरीर नहीं गिना गया है।

निकली हैं, उनमें की एक श्रेणी पर अनुक्रम से जन्म-मरण करते-करते ठेट अलोक तक, बीच के एक भी प्रदेश को छोड़े बिना सब प्रदेशों का स्पर्श करे; तदनन्तर उससे लगी हुई दूसरी श्रेणी पर मेरु से आरम्भ करके जन्म-मरण करते-करते समस्त प्रदेशों का स्पर्श करे। तत्पश्चात् तीसरी श्रेणी पर और फिर चौथी श्रेणी पर, इस प्रकार असंख्यात आकाशश्रेणियों में अनुक्रम से जन्म-मरण करके स्पर्श करे। तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त्तन होता है। यहाँ भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि एक श्रेणी का स्पर्श करते-करते और अनुक्रम से उसे पूरा करने से पहले अगर दूसरी श्रेणी का स्पर्श कर ले या उसी श्रेणी के आगे-पीछे का प्रदेश स्पर्श कर ले तो वह श्रेणी गिनती में नहीं ली जाती। उस श्रेणी का स्पर्श करना व्यर्थ समझना चाहिए। श्रेणी का स्पर्श करना तभी गिना जाता है जब मेरु से आरम्भ करके अनुक्रम से सब आकाशप्रदेशों को लोक के अन्त तक स्पर्श करे बीच में दूसरी श्रेणी का स्पर्श न करे और उसी श्रेणी के आगे-पीछे के प्रदेशों का भी स्पर्श न करे। फिर उस श्रेणी से लगी हुई दूसरी, तीसरी, चौथी आदि श्रेणियों को भी अनुक्रम से स्पर्श करे। अगर क्रम का भङ्ग हो गया तो पहले का स्पर्श करना गिनती में नहीं आता। यह सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त्तन है।

(५) बादर काल पुद्गलपरावर्त्तन—[१] समय [२] आवलिका—उंगली पर जल्दी-जल्दी डोरा लपेटते समय एक आँटे में जितना काल लगता है उतने काल अर्थात् असंख्यात समय की एक आवलिका होती है। [३] श्वासोच्छ्वास [४] स्तोक (सात श्वासोच्छ्वास का एक स्तोक होता है), [५] लव (तेजी के साथ घास काटते समय एक पूला घास काटने में जितना समय लगता है, उसे लव कहते हैं), [६] मुहूर्त्त (दो घड़ी), [७] अहोरात्रि (दिन-रात), [८] पक्ष (पखवाड़ा), [९] मास [१०] ऋतु (बसंत आदि दो-दो मास का काल), [११] अयन (छह मास), [१२] संवत्सर (एक वर्ष), [१३] युग (पाँच वर्ष), [१४] पूर्व (७० लाख ५६ हजार वर्ष), [१५] पल्य (सौ-सौ योजन लम्बा, चौड़ा और गहरा कुंआ बालाग्रों से ठसाठस भरा जाय; फिर सौ-सौ वर्ष में एक-एक बालाग्र निकाला जाय।

इसमें जितना काल व्यतीत हो वह एक पल्य कहलाता है), [१६] सागर [१७] अवसर्पिणीकाल (उतरता काल, दस कोड़ाकोड़ी सागर का), [१८] उत्सर्पिणीकाल (वृद्धि का समय, इसके भी छह आरों के दस कोड़ाकोड़ी सागर होते हैं), [१९] कालचक्र (अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी—दोनों मिल कर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का), इस सब काल को जन्म-मरण के द्वारा फरसने पर बादर काल पुद्गलपरावर्त्तन होता है।

(६) सूक्ष्म कालपुद्गलपरवर्त्तन—समय से लेकर कालचक्र पर्यन्त अनुक्रम से जन्म-मरण करके स्पर्श करे। जैसे—पहले अवसर्पिणी काल के पहले समय में जन्म लेकर मरे, फिर दूसरी बार जब अवसर्पिणी काल लगे तो उसके दूसरे समय में जन्म लेकर मरे। इस प्रकार करते-करते जब तक आवलिका का काल पूरा हो तब तक ऐसा ही करे। उसके बाद जो अवसर्पिणी काल आवे तब उसकी पहली आवलिका में जन्म लेकर मरे, इस तरह समय के अनुसार स्तोक पूरा होने तक आवलिका में अनुक्रम से जन्म ले और मरे। इसी प्रकार स्तोक, लव, आदि सब कालों में अनुक्रम से जन्म-मरण करके स्पर्श करे तब काल से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त्तन हुआ कहलाता है।

(७) बादर भावपुद्गलपरावर्त्तन—पाँच वर्ण—काला, नीला, लाल, पीला और सफेद, दो गंध—सुगंध और दुर्गंध; पाँच रस—खट्टा, मीठा, तीखा, कड़क और कसैला; आठ स्पर्श—हल्का, भारी, शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कोमल और कठोर; इन बीस बोल वाले समस्त पुद्गलों का जन्म-मरण करके स्पर्श करे तो भाव से बादर पुद्गलपरावर्त्तन हुआ कहलाता है।

(८) सूक्ष्म भावपुद्गलपरावर्त्तन—लोक में जितने भी काले वर्ण के पुद्गल हैं, उन सब का अनुक्रम से जन्म-मरण करके स्पर्श करे; जैसे पहले एक गुण काले पुद्गल का स्पर्श करे, फिर दो गुण काले पुद्गल का स्पर्श करे, इस प्रकार अनन्त गुण काले का स्पर्श करते-करते, यदि बीच में दूसरे वर्ण वाले या गंध वाले पुद्गल का स्पर्श कर ले तो पहले की सारी स्पर्शना गिनती में नहीं गिनी जाती—फिर शुरू से स्पर्शना करने पर वह गिनती में आती है। इस प्रकार अनुक्रम से बीसों बोलों के आरंभ से अन्त तक फरसने पर भाव से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त्तन कहलाता है।

यह आठ प्रकार का का परावर्त्तन करने पर एक पुद्गलपरावर्त्तन हुआ। इस संसार में ऐसे-ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्त्तन इस जीव ने पूरे किये हैं।

पुद्गलपरावर्त्त संबंधी गहरा विचार करने वाला सोचेगा—हे जीव! जनम-जनम कर और मर-मर कर यह संसार अनन्त बार तू ने पूरा किया है! इस प्रकार सुदीर्घ काल तक परिभ्रमण करते-करते, अनन्त पुण्य का उदय होने पर यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। यह मनुष्य मन्म अनन्त परिभ्रमण का अन्त करने के लिए एक उत्तम साधन है। बड़ी कठिनाई से इस की प्राप्ति होती है।*

---

* द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सूक्ष्मता और बादरता का विवेचन इस प्रकार है—(१) काल सब से बादर द्रव्य है। जैसे कोई महापराक्रमी पुरुष अपना समस्त बल लगाकर पत्तों की राशि में सुई घुसेड़े। उस सुई को उक्त पत्ता छेदकर दूसरे पत्ते तक पहुँचने में असंख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं। (२) समय की अपेक्षा आकाश-क्षेत्र असंख्यातवाँ भाग सूक्ष्म है; क्योंकि एक अंगुल जितने आकाश में असंख्यात आकाशप्रदेश और उसकी असंख्यात श्रेणियाँ हैं। इन श्रेणियों में से एक अंगुल लम्बी और एक आकाश प्रदेश जितनी चौड़ी एक श्रेणी लें। उसमें से प्रत्येक समय, एक-एक आकाशप्रदेश निकाले तो असंख्यात कालचक्र व्यतीत हो जाने पर भी वे सब प्रदेश नहीं निकल सकते। इसलिए क्षेत्र, काल से भी असंख्यातगुना सूक्ष्म है।

(३) द्रव्य, क्षेत्र से भी अधिक सूक्ष्म है; क्योंकि उक्त एक ही आकाशप्रदेश में अनन्त परमाणु-द्रव्य समाये हुए हैं। प्रत्येक समय में एक-एक परमाणु निकाला जाय तो अनन्त कालचक्र के समय व्यतीत हो जाने पर भी आकाश के एक प्रदेश में स्थित परमाणु-द्रव्य समाप्त नहीं होंगे। अतः क्षेत्र से द्रव्य अनन्तगुना सूक्ष्म है।

(४) भाव, द्रव्य से भी अधिक सूक्ष्म है। एक आकाशप्रदेश में स्थित अनन्त द्रव्यों में से एक द्रव्य को लें। उस एक द्रव्य के अनन्त पर्याय हैं। एक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श पाये जाते हैं। उसमें से एक वर्ण के अनन्त भेद होते हैं। यथा—एक गुण (एक डिग्री-अंश काला), दो गुण काला, यावत् अनन्तगुण काला वर्ण। इसी प्रकार रस, स्पर्श और गन्ध के भी भेद समझने चाहिए। ऐसे ही द्विप्रदेशी स्कन्ध के पुद्गलों में दो वर्ण, दो गन्ध, दो रस और चार स्पर्श, यों दस बोल पाये जाते हैं। इनके भी प्रत्येक के अनन्त-अनन्त भेद होते हैं। इस प्रकार सब द्रव्यों के अनन्त पर्याय हो जाते हैं। उनमें से यदि एक-एक पर्याय को, एक-एक समय में अगर अलग किया जाय (यह मात्र कल्पना है, ऐसा हो नहीं हो सकता) तो अनन्त कालचक्र बीत जाने पर एक पर्याय पूरा अलग हो। इसी तरह द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के अनन्त पर्याय हैं। अतएव भाव, द्रव्य से भी अनन्तगुना सूक्ष्म है।

यह एक प्रदेश की व्याख्या बतलाई गई है। इसी प्रकार सर्वलोकव्यापी आकाश-

१—मनुष्यभव



मानव भव कितना दुर्लभ है, इस विषय का थोड़ा—सा प्रतिपादन और किया जाता है, जिससे पाठक अपने जीवन का वास्तविक मूल्य समझ सकें और महामूल्यवान् जीवन का सदुपयोग करके अपने कल्याण में प्रवृत्त हों। पहले आत्मा अवकाही निगोद में अर्थात् अव्यवहार राशि में अनन्त काल तक रहा। वहाँ एक-एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करने का घोर दुःख सहन करता रहा। अकाम कष्ट सहन करने (अकाम निर्जरा होने पर) अनन्त पुण्य की जब वृद्धि हुई नित्यनिगोद से निकल कर इतर-निगोद—व्यवहार राशि में उत्पन्न हुआ। बहुत-सा काल व्यवहार राशि में बिताने के पश्चात् जब फिर अनन्त पुण्य का उदय हुआ तब बादर अवस्था प्राप्त हुई। अर्थात् स्थावर हुआ। स्थावर जीवों की अनेक जातियों में अनेक कुलों में और अनेक योनियों में भटकता रहा। वह इस प्रकार—

(१) पृथ्वीकाय (मिट्टी)—इस की सात लाख जातियाँ हैं* और बारह लाख करोड़ कुल हैं पृथ्वीकाय के जीवों की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की है।

प्रदेश के वर्ण आदि की व्याख्या समझ लेनी चाहिए। काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव की स्थूलता और सूक्ष्मता के लिए एक स्थूल दृष्टान्त इस प्रकार दिया जा सकता है:—काल चने जितना, क्षेत्र जवार जितना, द्रव्य बाजरे जितना और भाव सरसों जितना है।

** जातियों का हिसाब इस प्रकार है:—पृथ्वीकाय के मूल भेद ३५० हैं। इनको पाँच वर्ण, दो गंध पाँच रस, आठ स्पर्श और पाँच संस्थान से अनुक्रम से गुणाकार करने पर ३५०×५×२×५×८×५=७००००० जातियाँ पृथ्वीकाय की होती हैं। इसी प्रकार अप्काक, तेजस्काय और वायुकाय के विषय में समझ लेना चाहिए। जिसकी जितनी लाख जातियाँ हों, उसका मूल आधा सैकड़ा ग्रहण करके पूर्वोक्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और और संस्थान से गुणा करने पर निश्चित जाति की संख्या निकल आती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसका वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान—जहाँ पाँचों एक-से हों उसकी एक सी जाति कहलाती है और किसी भी एक में अन्तर पड़ जाय तो जातियाँ भिन्न हो जाती है। माता के पक्ष को जाति कहते हैं। सब जीवों की जातियों ८४ लाख हैं। यथा—भ्रमर की मूल जाति तो एक है, मगर कोई भ्रमर पुष्प का, कोई लक्कड़ का कोई गोबर का होता है।*

अप्काय (पानी)—इसकी सात लाख जातियाँ हैं। सात लाख करोड़ कुल हैं। इसकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष की है।

(३) तेउकाय (अग्नि)—की सात लाख जातियाँ हैं और तीस लाख करोड़ कुल हैं। इनकी उत्कृष्ट आयु तीन अहोरात्रि की।

(४) वायुकाय—की सात लाख जातियाँ हैं और सात लाख करोड़ कुल हैं। उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष की है। इन चार स्थावर कायों में अपने आत्मा ने असंख्यात काल व्यतीत किया है।

(५) वनस्पतिकाय—की चौवीस लाख* जातियाँ हैं। अठाईस करोड़ कुल हैं। उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की है। इसमें निगोद के आश्रित अनन्त काल व्यतीत किया है। अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर एकेन्द्रिय अवस्था त्याग कर द्वीन्द्रिय अवस्था प्राप्त की।

(६) द्वीन्द्रियादि त्रस-काय—इनमें द्वीन्द्रिय जीवों की दो लाख जातियाँ हैं सात करोड कुल हैं उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष की है। फिर अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर बड़ी कठिनाई से त्रीन्द्रिय पर्याय की प्राप्ति हुई। इसकी दो लाख जातियाँ हैं, आठ लाख करोड़ कुल हैं और ४९ दिन की उत्कृष्ट आयु है। वहाँ से अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर चौ-इन्द्रिय पर्याय पाई। इसकी दो लाख जातियाँ हैं, नौ लाख करोड़ कुल हैं और छह महीने की आयु है। यह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीव विकलत्रय कहलाते हैं। इन्हें विकलेन्द्रिय भी कहते हैं। इन तीन विकलेन्द्रिय जीवों में जन्म-मरण करके संख्यात काल व्यतीत किया है।।

× विकलेन्द्रिय जीवों की नाना पर्यायों में परिभ्रमण करते-करते अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर असंज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त हुई।

इस तरह तीन प्रकार के भ्रमर गिने जाते हैं। ऐसे ही सब के कुल भी भिन्न-भिन्न हैं। पितृपक्ष को कुल कहते हैं। कुलों की संख्या एक करोड़ साढे सत्तानवे लाख करोड़ है। यह संख्या पन्नवणासूत्र में कही है। तत्त्व केवलीगम्य।

** वनस्पतिकाय की चौवीस लाख योनियाँ (जातियाँ) हैं। इनमें दस लाख प्रत्येक वनस्पति की और चौदह लाख साधारण वनस्पति की हैं।*

× निगोद से लेकर असंज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तक की अवस्थाओं में जीव पराधीन रहकर भूख, प्यास, शीत, उष्ण, छेदन, भेदन आदि की विविध वेदनाएँ सहन करता रहा।

फिर अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय हुआ। इन संज्ञी और असंज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय हुआ। इन संज्ञी और असंज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों की चार लाख जातियाँ हैं और पाँच भेद हैं। पाँचों भेदों का विवरण इस प्रकार है:—(१) जलचर (पानी में रहने वाले मच्छ, कछुवा आदि जीव) के साढ़े बारह करोड़ कुल हैं। असंज्ञी और संज्ञी दोनों प्रकार के जलचर जीवों की उत्कृष्ट आयु करोड़ पूर्व की है। (२) थलचरों (पृथ्वी पर चलाने वाले गाय, घोड़ा, आदि प्राणियों) के दस लाख करोड़ कुल हैं। असंज्ञी जलचर की उत्कृष्ट आयु चौरासी हजार वर्ष की है और संज्ञी की तीन पल्योपम की है। (३) खेचरों (आकाश) में उड़ने वाले कबूतर, तोता आदि पक्षियों) के बारह लाख करोड़ कुल हैं। असंज्ञी खेचर की उत्कृष्ट आयु पल्य के असंख्यातवें भाग है। (४) उरपरिसर्पों (रेंगकर चलने वाले साँप, अजगर आदि प्राणियों) के नौ लाख करोड़ कुल हैं। असंज्ञी उरपरिसर्प की उ० आयु ५३ हजार वर्ष की करोड़ पूर्व की है। (५) भुजपरिसर्प (भुजाओं के बल से चलने वाले चूहे आदि प्राणियों) के नौ लाख कुल हैं। असंज्ञी भुजपरिसर्प की उत्कृष्ट आयु बयालीस हजार वर्ष की है और संज्ञी भुजपरिसर्प की करोड़ पूर्व की है। इन पाँचों में जीव लगातार आठ भव करता है। इन आठ में से सात भव संख्यात आयु वाले एक भव असंख्यात वर्ष की आयु वाला होता है।

इस प्रकार विविध प्रकार की अवस्थाओं में भीषण दुःख भोगता-भोगता जीव कभी नरक में चला जाता है। नरक के जीवों की चार लाख जातियाँ हैं और पचीस लाख करोड़ कुल हैं। नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु ३३ सागर की है। नरक में एक साथ एक ही भव होता है। लगातार दूसरा भव नहीं होता। अर्थात् नरक जीव नरक से निकल कर फिर अगले भव में नरक में उत्पन्न नहीं होता।* परिभ्रमण करते-करते जीव पुण्ययोग

इन वेदनाओं को सहन करने से भी अकामनिर्जरा होती है। यह भी पुण्यवृद्धि का कारण है।

** नरक और देवगति का एक-एक ही भव होता है। नरक जीव मर कर नरक में नहीं उत्पन्न होता और देव मर कर देव नहीं होता। इसके अतिरिक्त नरक का जीव मरकर देव नहीं होता और देव मर कर नारक नहीं होता। इसका कारण यह है कि अशुभ कर्म करने का विशेष स्थल मर्त्यलोक (मध्यलोक) है। यहाँ किये हुए शुभ कर्मों का फल देवगति*

से कदाचित् देवगति में उत्पन्न हो तो देवों की चार लाख जातियाँ हैं और छब्बीस करोड़ कुल हैं। वहाँ उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम की है। देवगति में भी जीव का एक ही भव होता है।

इस प्रकार मनुष्यगति में आने से पहले जीव को दूसरी तीन गतियों में लम्बा परिभ्रमण करना पड़ता है। यह परिभ्रमण करते-करते अनन्त पुण्य का उदय होने पर महामूल्यवान् मनुष्य-पर्याय प्राप्त होती है। इस मनुष्य-गति में चौदह लाख जातियाँ हैं, बारह लाख करोड़ कुल हैं, तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु है।

मनुष्यगति में भी अगर जुगलिया मनुष्य के रूप में उपजे तो एक ही भव होता है। अगर कर्मभूमि में भद्रपरिणामी मनुष्य के रूप में जनमे तो लगातार सात भव मनुष्य के होते हैं। इस प्रकार अनेकानेक कठिनाइयाँ भोगने बाद मनुष्य गति प्राप्त होती है। सब मिलकर चौरासी लाख जीव-योनियाँ हैं और एक करोड़, साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ कुल हैं। मनुष्य के अतिरिक्त सत्तर लाख जीवयोनियों से बचकर मनुष्य योनि को पा लेना कितना कठिन है!

श्रीप्रज्ञापनासूत्र में जीवों की ६८ प्रकार की गिनती की है। उनमें सब से थोड़े गर्भज बतलाये गये हैं। गर्भज मनुष्य के उत्पन्न होने का स्थल भी बहुत परिमित है। तिर्छे लोक में अढ़ाई द्वीप के भीतर ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण लोक का घनाकार परिमाण ३४३ राजू है। उसमें से अढ़ाई द्वीप ४५ लाख योजन में ही है। इस ४५ लाख योजन में भी दो लाख योजन विस्तार में समुद्र फैले हुए हैं। इनके अतिरिक्त द्वीप की भूमि में भी नदियाँ हैं, पहाड़ हैं, वन आदि हैं, जहाँ मनुष्यों की आबादी नहीं होती।

में आने पर मिलता है और अशुभ कर्मों का फल नरकगति में जाने पर मिलता है। जैसे—कोई मनुष्य, मौज-शौक छोड़कर, प्रमादरहित होकर कमाई करता है तो वह अपने घर जाकर सुख से आराम करता है। पर जो आदमी दुकान पर आराम करता है और प्रमाद में डूबा रहता है तथा धन का अपव्यय करता है, उसे घर जाकर भूखों मरना पड़ता है, गरीबी आदि के कष्ट सहन करने पडते हैं। दुकान को मध्य लोक समझना चाहिए और घर को नरक-स्वर्ग समझना चाहिए।

इस तरह विचार करने पर भी यही प्रतीत होता है कि मनुष्यभव मिलना बहुत कठिन है ।

२—आर्यक्षेत्र



केवल मनुष्य जन्म की प्राप्ति से ही मुमुक्षुजनों के इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो जाती । मनुष्यजन्म के साथ दूसरा साधन आर्य क्षेत्र भी मिलना आवश्यक है । जो जीव मनुष्य होकर भी अनार्य क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं उनका मनुष्य होना व्यर्थ हो जाता है, बल्कि और अधिक अनर्थ का भी कारण बन जाता है । मनुष्य को आर्यक्षेत्र की प्राप्ति होना कितना दुर्लभ है, अब इस बात पर विचार करते हैं ।

सब ओर अनन्तानन्त अलोक के मध्य में ३४३ रज्जु घनाकार लोक है, जिसमें १९६ घनाकार रज्जु का अधोलोक है । इस अधो (नीचे) लोक में नारकी जीव तथा भवनपति और वाणव्यन्तर देव रहते हैं । इस क्षेत्र में धर्माराधन की सुविधा नहीं होती है । क्योंकि नारकी जीव अपने उपार्जन किये हुए पापों का फल भोगते हुए दुःख ही दुःख में अपना काल व्यतीत करते हैं और देव अपने शुभ कर्मों का फल भोगते हुए सुख में अपना काल अतिक्रमण करते हैं । लोक के मध्य में सिर्फ दस रज्जु जितनी जगह में तिर्छा लोक है और उसमें असंख्यात समुद्र और द्वीप हैं । इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों में सिर्फ अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्यों की बस्ती है और फिर इन अढ़ाई द्वीपों में भी दो महासमुद्रों, पर्वतों, नदियों वगैरह को छोड़कर केवल १५ कर्मभूमियाँ, ३० अकर्मभूमियाँ और ५६ अन्तर्द्वीप—इस तरह १०१ मनुष्यों के रहने के क्षेत्र हैं । इनमें से अकर्मभूमियों और अन्तर्द्वीपों में जुगलिया मनुष्य ही रहते हैं । वे देवों सरीखे पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों के पुण्य रूप फल भोगते हैं, धर्म की तनिक भी आराधना नहीं कर सकते । धर्माराधना के योग्य केवल कर्मभूमि के पन्द्रह ही क्षेत्र हैं । इन क्षेत्रों में से पाँच महाविदेह क्षेत्रों में तो सदैव धर्म की प्रवृत्ति रहती है, किन्तु पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में दस-दस कोड़ाकोड़ी सागर के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी

काल में से नौ कौड़ाकोड़ी सागरोपम जितने काल में युगलिया मनुष्य ही रहते हैं। वे भी धर्माराधना नहीं कर सकते। सिर्फ एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ अधिक काल ही धर्म की प्रवृत्ति का रहता है। इन दस क्षेत्रों में, प्रत्येक क्षेत्र में बत्तीस-बत्तीस हजार देश हैं। इन में से ३१९७४॥ अनार्य देश हैं और सिर्फ २५॥ देश आर्यदेश हैं,

आर्य देशों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) मगध देश—इसकी राजधानी राजगृही नगरी है और इस देश में एक करोड़ छयासठ लाख ग्राम हैं। (२) अंगदेश—राजधानी चम्पा नगरी और पचास लाख ग्राम (३) वंगदेश—ताम्रलिप्ता नगरी और अस्सी हजार ग्राम। (४) कलिंग देश—कंचनपुर नगर और अठारह हजार ग्राम। (५) काशी देश—वाराणसी नगरी और एक लाख पंचानवे हजार ग्राम। (६) कौशलदेश—साकेतपुर नगर और नौ हजार ग्राम। (७) कुरुदेश—गजपुर नगर, पंचावन हजार ग्राम। (८) कुशावर्त देश—सौरीपुर नगर और छयासठ हजार ग्राम। (९) पांचालदेश—कंपिलपुर नगर और तीन लाख, तेरासी हजार ग्राम। (१०) जांगलदेश—आइछत्ती नगरी और अट्ठाईस हजार ग्राम। (११) विदेह देश—मथुरा नगरी, आठ हजार ग्राम। (१२) सोरठ देश—द्वारिका नगरी, छह लाख अस्सी हजार तीन सौ तेईस ग्राम। (१३) वत्सदेश—कौशाम्बी नगरी, अट्ठाईस हजार ग्राम। (१४) सांडिल देश—आनंदपुर नगर, इक्कीस हजार ग्राम। (१५) मलय देश—भद्दिलपुर नगर, सात हजार ग्राम। (१६) वराड—वहुलपुर नगर, अट्ठाईस हजार ग्राम। (१७) वरणदेश—अछा नगरी, बयालीस हजार ग्राम। (१८) दशार्ण देश—मृतिकावली नगरी, तेतालीस हजार ग्राम। (१९) बेदका देश—सोक्किकतावती नगरी, तेतालीस हजार ग्राम। (२०) सिंधुदेश—वीतभय पट्टन, छह लाख पचासी हजार ग्राम। (२२) सौवीर देश—मथुरा नगरी, आठ हजार ग्राम। (२२) सूरसेन देश—पावापुर नगर, छत्तीस हजार ग्राम। (२३)भंगदेश—मिश्रपुर नगर, एक हजार चार सौ बीस ग्राम। (२४) कुणाल देश—श्रावस्ती नगरी, तेतीस हजार ग्राम। (२५) लाट देश—कोटिपर्व नगरी, दो लाख बयालीस हजार ग्राम। (२५॥) केकय देश—श्वेताम्बिका नगरी, दो हजार पाँच सौ ग्राम। यह २५॥ देश धर्म कर्म वाले हैं, इसलिए

आर्यदेश कहलाते हैं। इन आर्यदेशों में मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना महा कठिन है।

३—उत्तम कुल

आर्यदेश में मनुष्यजन्म होने पर भी उत्तम कुल का योग मिलना अत्यन्त कठिन है। जो महापुण्यशाली होता है, उसी का उत्तम कुल में जन्म होता है। कितनेक कुलीन मनुष्य पुत्र न होने के कारण बहुत संतप्त रहते हैं, किन्तु पूर्वोपार्जित प्रबल पुण्य के बिना पुत्र की प्राप्ति नहीं होती। संसार में पुण्यशाली जीव थोड़े ही होते हैं। नीच कुलों में देखा जाय तो पापी जनों की उत्पत्ति अधिक दिखाई देती है। इसका कारण यही है कि संसार में पापी जीव बहुत देखे जाते हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि जाति मात्र से ही किसी को उच्च या नीच नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शरीर की आकृति, अवयव, शरीर के भीतर के विभाग सभी मनुष्यों के समान होते हैं। अतएव मूलतः मनुष्य जाति एक कहलाती है। कहा भी है—मनुष्यजातिरेकैवजातिकर्मोदयोद्भवा। वास्तव में उच्चता और नीचता गुण-कर्मों से आती है। उत्तम गुणों वाले और सत्कर्म करने वाले मनुष्य उच्च गिने जाते हैं और नीच कर्म करने वाले मनुष्य नीच गिने जाते हैं। श्रीउत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय २५वें में श्रीजयघोष मुनि कहते हैं:—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

अर्थात्—कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाते हैं। 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' अर्थात् जो ब्रह्म या आत्मा को जानता है—आत्मज्ञान प्राप्त करता है वही ब्राह्मण कहलाता है। 'क्षतात् त्रायते यः सः क्षत्रियः' अर्थात् जो निर्बलों की रक्षा करता है वही क्षत्रिय कहलाता है। तथा वाणिज्य (नीतिपूर्वक व्यापार) करने वाला वैश्य कहलाता है और सेवा करने वाला शूद्र कहलाता है। दूसरे ग्रंथों में भी कहा है:—

न विशेष इति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममयं जगत् ।
ब्राह्मणपूर्वं श्रेष्ठं हि, कर्मणा वर्णतां गतम् ॥

—महाभारत, शांतिपर्व.

अर्थात्—वर्ण की कोई विशेषता नहीं है। यह समस्त जगत् ब्रह्ममय है। पहले सब ब्राह्मण ही थे, फिर जिसने जैसा कर्म किया, वह उसी वर्ण वाला कहलाने लगा।

'अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तो।'

अर्थात्—उत्तम वर्ण वाला भी अधर्म का आचरण करने से नीचता को प्राप्त हो जाता है।

'धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वपूर्ववर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तो।'

अर्थात्—नीच वर्ण वाला भी धर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण प्राप्त करता जाता है। यह आपस्तंब धर्मसूत्र के प्रश्न २, पटल ४ में लिखा है।

विश्वामित्रो वसिष्ठश्च, मतंगो नारदोऽपि च।
तपोविशेषात्सम्प्राप्ता, उत्तमत्वं न जातितः॥

—शुक्रनीति, अध्याय ४, प्रकरण ४.

अर्थात्—विश्वामित्र, वसिष्ठ और नारद ऋषि नीच जाति में उत्पन्न होकर भी तप की विशेषता के कारण उत्तमता को प्राप्त हुए। अतः जाति की कोई विशेषता नहीं है। जैनशास्त्र भी यही कहते हैं—'न दीसई जाइविसेस कोइ।'

जपो नास्ति तपो नास्ति, नास्ति चेन्द्रियनिग्रहः।
दया दानं दमो नास्ति, इति चाण्डाललक्षणम्॥

अर्थात्—परमात्मा का जप, स्मरण, भजन, कीर्त्तन, ध्यान, स्तवन आदि न करना, रात-दिन अपने घर-धन्धे में ही रचा-पचा रहना, व्रत-नियम उपवास आदि न करना, सदा खा-पीकर शरीर को हृष्टपुष्ट बनाना और उसी में आनन्द मानना, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न करना, अग्नि की तरह

सभी वस्तुओं को हड़प जाना, इन्द्रियों पर तनिक भी काबू न रखना, सदा मजा-मौज में तथा परस्त्रियों के साथ विषयभोग में आनन्द मानना, किसी भी प्राणी को दुःखी देखकर दिल में अनुकम्पा न आना, सदा षट्काय के जीवों की हिंसा किया करना, मद्य-मांस का भक्षण करना, किसी को किंचित् भी दान न देना, महापरीग्रही कंजूस एवं तृष्णावान् होना, कोई उदार दान देता हो तो उसे भी रोक कर अन्तराय डालना, आत्मदमन, नियम, व्रत-प्रत्याख्यान करना, यह सब चांडाल के लक्षण हैं। जिसमें यह बातें पाई जाती हैं उसे नीच जाति का समझना चाहिए। इसके विपरीत जिसमें यह पूर्वोक्त लक्षण न पाये जाते हों, बल्कि जो यथाशक्ति जप, तप, इन्द्रियदमन, दया दानादि सत्कार्य करे उसे उच्चजातीय—उत्तम कुल का कहना चाहिए। ऐसा उत्तम कुल जैन कुल है और उसमें जन्म मिलना तीव्र पुण्य का फल समझना चाहिए।

४—दीर्घ आयु



उत्तम कुल मिल जाने पर भी यदि आयु अल्प मिली तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतएव दीर्घायु का मिलना भी आवश्यक है। जिसने पहले महान् और उग्र पुण्य का उपार्जन किया है, उसी को पूर्वोक्त समस्त सामग्री के साथ दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है। तीसरे और चौथे आरे के मनुष्यों की आयु पूर्व-परिमित थी। उनकी आयु के जितने सैंकड़े होते हैं, आजकल उतने श्वासोच्छ्वास की भी आयु नहीं होती। सौ वर्ष के कुल श्वासोच्छ्वास चार अरब, सात करोड़, अड़तालीस लाख और चालीस हजार होते हैं! इसमें भी सुखपूर्वक सौ वर्ष पूरा करने वाला तो कोई बिरला ही भाग्यशाली होता है। कहा भी है:—

> आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतम्,
> तस्यार्धस्य परार्धचार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
> शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते,
> जीवे वारितरंगचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥

सारांश—आजकल मनुष्य की उत्कृष्ट आयु करीब सौ वर्ष की होती है। इस सौ वर्ष की जिन्दगी में मनुष्य को कितना सुख मिलता है, इस बात का बनिये की तरह हिसाब करके देखें। एक वर्ष के ३६० दिन होते हैं और सौ वर्ष के ३६००० दिन हुए। इनमें से आधे अर्थात् अठारह हजार दिन तो निद्रा में चले गये। कहा है—'निद्रा गुरुजी बिन मौत मूवा' अर्थात् हे गुरुजी! निद्रा बिना मौत की मौत है! निद्रा में सुख-दुःख का स्पष्ट भाव नहीं रहता। शेष अठारह हजार दिन रहे। उनके तीन भाग कर लें। एक भाग अर्थात् छह हजार दिन बाल्यावस्था में व्यतीत हो गये। यह दिन भी अज्ञान अवस्था में ही व्यतीत किये समझने चाहिए, क्योंकि बालक को सत्य-असत्य का भान नहीं होता। दूसरे छह हजार दिन वृद्धावस्था में व्यतीत होते हैं। वृद्धावस्था महादुःख का कारण है। शास्त्र में जगह-जगह कहा है—'जन्मदुःखं जरादुःखं।' इस अवस्था में मन मौज-शौक भोगने की इच्छा करता है, किन्तु इन्द्रियाँ बहुत निर्बल हो जाती हैं। उत्तम खान-पान आदि का सेवन किया जाय तो उलटा दुःख बढ़ जाता है।❀ बुढ़ापे में आँखों से ठीक तरह दिखाई नहीं देता, कानों से सुनाई नहीं देता, दाँत गिर जाने से खाने में मजा नहीं आता और खुराक पूरी तरह चबाया न जाने के कारण पचता नहीं है। अपच अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। बूढ़े आदमी का शरीर अशक्त, निकम्मा और अप्रिय हो जाता है। उसकी ऐसी हालत देखकर स्वजन भी उसका अपमान करते हैं। इस प्रकार वृद्धावस्था में अनेक

❀ वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते, तृष्णैका तरुणायते॥

अर्थात्—बुढ़ापे में चमड़ी में सिकुड़न पड़ गई है, मस्तक के बाल सफेद हो गये हैं, और सब अङ्गोपांग ढीले पड़ गये हैं; सिर्फ एक मात्र तृष्णा हरी-भरी है!

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः, तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

अर्थात्—हमने भोग नहीं भोगे, बल्कि भोगों ने ही हमें भोग लिया है। हमने तप तो तपा नहीं, फिर भी दुःख रूपी ताप से मन संतप्त हो गया—शरीर दुर्बल हो गया। लोग कहते हैं, समय बीत गया, पर समय नहीं बीता हम स्वयं बीत गये! हम जीर्ण हो गये, पर तृष्णा जीर्ण नहीं हुई।

दुःख हैं। इस प्रकार बालक और वृद्ध अवस्था के बारह हजार दिन बेकार गये! अब छह हजार दिन युवावस्था के रहे। उनमें भी कभी-कभी अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और रोगजन्य वेदना आकुल-व्याकुल बना देती है। कदाचित् रोग से छुटकारा मिला तो किसी स्वजन के वियोग का दुःख आ पड़ता है और विलाप ही विलाप में बहुत-से दिन निकल जाते हैं। कदाचित् इससे शांति मिली तो लेन-देन, लाभ-हानि, इज्जत-आबरू, तेजी-मन्दी, रगड़ा-झगड़ा, सगाई-विवाह आदि अनेक उपाधियाँ लग जाती हैं! प्रतिदिन हिसाब रखने वाले भाइयो! अब जरा विचार करके देखो कि अगर आपकी आयु पूरे सौ वर्ष की हो तो भी आप कितने दिनों तक सुख भोग सकते हैं? और भी कहा है:—

गब्भाइ मज्जंति बुयाबुयाणं, नरा परा पंचसिहा कुमारा।
जोवणगा मज्झिमा थेरगायं, चयंति आउक्खय पलीणा॥

संभोग के समय नौ लाख संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य स्त्री के गर्भाशय में उत्पन्न होते हैं। इनमें से एक, दो या चार जीवित रहते हैं, शेष सब पुरुष के वीर्य के स्पर्श से मर जाते हैं। कुछ गर्भाशय में तत्काल, कुछ गर्भाशय में कुछ महीना बीतने पर और कुछ असह्य संयोग मिलने से मर जाते हैं। कई मनुष्य जनमते समय आड़े आ जाते हैं तब उन्हें काट-काट कर निकालना पड़ता है। जन्म होने के अनन्तर कितने ही मनुष्य अज्ञान के कारण बचपन में ही मर जाते हैं और कितने ही भर जवानी में काल के ग्रास बन जाते हैं। बहुत थोड़े मनुष्य विविध प्रकार के विघ्नों से बच कर वृद्धावस्था तक जीवित रह पाते हैं, फिर भी आखिर एक न एक दिन उन्हें भी शरीर त्याग कर दूसरी पर्याय धारण करनी पड़ती है। चक्की के दो पाटों के बीच जो दाना आ गया है, वह साबित नहीं रह सकता। चक्की के कुछ ही चक्कर फिरने पर वह पिसे बिना नहीं रहता। इसी प्रकार जगत् में काल रूपी घंटी है। उसके दो पाट हैं—भूतकाल और भविष्यकाल।* इन दोनों पाटों के

* आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्,
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।

बीच समस्त संसारी जीव फँसे हुए हैं। ऐसी स्थिति में इन जीवों की काया का क्या भरोसा है? कौन कह सकता है कि मेरा शरीर कल तक भी कायम रह सकेगा! अगले क्षण का भी तो विश्वास नहीं किया जा सकता! तात्पर्य यह है कि इस जीवन का किसी समय अवश्य ही अन्त आना है, पर वह समय कौन-सा होगा, यह नहीं कहा जा सकता। करोड़ों उपाय करने पर भी मृत्यु से कोई बच नहीं सकता। अनादिकाल से लेकर आज तक एक भी मनुष्य मौत के चंगुल से नहीं बच सका और किसी का बच सकना सम्भव भी नहीं है। काल अच्छे, बुरे, राजा, रंक, बालक, वृद्ध, जवान आदि किसी का भी विचार नहीं करता।

इस प्रकार शांतचित्त होकर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि लम्बी आयु प्राप्त होना बहुत कठिन है। जिसे लम्बी आयु मिली है वह प्रबल पुण्य का भागी है। हे मनुष्य! तनिक विचार कर कि असीम अनन्त पुण्य का व्यय करके तूने जो दीर्घ आयु प्राप्त की है, उसके बदले में तू क्या ले रहा है? कहीं पुण्य की अनमोल पूँजी गँवा कर तू पाप तो उसके बदले नहीं खरीद रहा है? बन्धु! धर्म-कार्य कर, प्रमाद न कर। इससे तेरी पुण्य की पूँजी बढ़ेगी।

५—अविकल इन्द्रियाँ



लम्बी आयु भी कदाचित् पुण्यभोग से मिल गई तो भी उससे आत्मा का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अगर इन्द्रियाँ यथायोग्य कार्य न करती हों तो जीवन प्रायः व्यर्थ हो जाता है। कोई जन्म से अन्धा होता है, कोई बहिरा

दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

अर्थात्—सूर्य का उदय और अस्त होने से दिनोंदिन आयु घटती जाती है। फिर भी अनेक कामकाज और उपाधियों में फँसे हुए जीव को काल का खयाल नहीं आता। खुद जन्म जरा मरण के दुःख भोगते देखता है, फिर भी त्रास नहीं उत्पन्न होता कि मेरी भी यही अवस्था होने वाली है—मेरी भी मृत्यु होने वाली है, इसलिए थोड़ा-बहुत धर्मकार्य कर लूँ! सारा संसार मानो मोह की मदिरा में छका हुआ बेभान हो रहा है!

होता है, कोई गूँगा होता है। ऐसे पुरुषों के लिए जीवन भारभूत हो जाता है और वे आत्मार्थ की साधना नहीं कर सकते। आत्म-साधना के लिए परिपूर्ण और नीरोग इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। शास्त्र में कहा है:—

जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे।

अर्थात् जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती तब तक धर्म का आचरण कर ले। कान से बहिरा धर्मश्रवण नहीं कर सकता और धर्मश्रवण के लिए मोक्ष की प्राप्ति होना कठिन है। अन्धा आदमी धर्मश्रवण करके भी जीवों की दया नहीं पाल सकता। अतएव पाँचों इन्द्रियों का नीरोग होना बहुत आवश्यक है। इन्द्रियों की सफलता और नीरोगता होना प्रबल पुण्य का उदय समझना चाहिए। सौभाग्य से जिन्हें ऐसी इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं उन्हें धर्म का आचरण करके इन्द्रियों को सार्थक बनाना चाहिए। विषयों में लगाकर महान् पुण्य से प्राप्त हुई सामग्री के बदले पापोर्जन नहीं करना चाहिए। जो लोग परिपूर्ण इन्द्रियाँ पाकर उन्हें भोगों में लगाते हैं, वे चिन्तामणि को कौवा उड़ाने के लिए फेंक देने वाले मूर्ख पुरुष के समान हैं।

६—नीरोग शरीर



परिपूर्ण इन्द्रियाँ प्राप्त हो जाने पर जब तक शरीर नीरोग न हो तब तक धर्म की आराधना नहीं होती। रोगी मनुष्य सदा व्याकुल बना रहता है और निरन्तर आर्त्तध्यान किया करता है। ऐसी स्थिति में स्वस्थ चित्त से निराकुलतापूर्वक आध्यात्मिक साधना संभव नहीं है। अतएव शारीरिक स्वस्थता रूप छठे साधन का मिलना भी बहुत कठिन है। शास्त्र में कहा है—'वाही जाव न वड्ढई, ताव धम्मं समायरे' अर्थात् जब तक शरीर में व्याधि का जोर नहीं बढ़ा है, तब तक धर्म कर ले! अपने शरीर में पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निन्न्यानवे हजार, पाँच सौ, चौरासी (५६८९९५८४) रोग गुप्त या प्रकट रूप में रहते हैं। जब तक पुण्य कर्म की प्रबलता है तबतक वे सब रोग भीतर दबे रहते हैं; पर जब पाप का उदय होता है तब वे प्रकट हो

जाते हैं और शरीर का विनाश कर डालते हैं ! ज्वर, सिर की पीड़ा, पेट में वायु का दर्द आदि रोग सदा लगे रहते हैं तो धर्मक्रिया किस प्रकार हो सकती है ? कहावत है—पहला सुख निरोगी काया। शरीर तन्दुरुस्त हुआ तो सब बातें अच्छी लगती हैं और दान, जप, तप, ध्यान, संवर आदि मोक्ष की करनी होती है। मगर इस नीरोग शरीर का मिलना बड़ा कठिन है। जिन्हें पुण्ययोग से नीरोग शरीर मिला है, उनका कर्त्तव्य है कि वे उसको सफल करके आत्महित साध लें।

किसी-किसी जगह छठा साधन 'धन का सुयोग' गिनाया है। मराठी भाषा में कहते हैं—'पहिले पोटोबा, मग विठोबा' अर्थात् पहले पेटपूर्ति का साधन मिले तो फिर परमेश्वर का नाम याद आता है। लक्ष्मी का संयोग हो और साथ ही संतोषगुण की प्राप्ति हो जाय तो निश्चिन्तता से धर्मध्यान किया जा सकता है। अतएव लक्ष्मी का संयोग मिलना भी कठिन है। जिन्हें लक्ष्मी का सुयोग मिला है, वे अगर उसके द्वारा आत्मकल्याण करते हैं तो लक्ष्मी सार्थक है। अन्यथा वही लक्ष्मी उन्हें डुबाने वाली सिद्ध होती है। अतः हे लक्ष्मी-पति ! पुण्य से मिली लक्ष्मी को पाप का साधन मत बना। उसे धर्मकार्य में लगा कर पुण्य की वृद्धि कर और आत्महित में लग जा।

सद्गुरु का समागम



पूर्वोक्त छह बातें जीव को अनन्त बार मिली हैं, फिर भी कार्यसिद्धि नहीं हुई; क्योंकि जब तक सातवें साधन 'सद्गुरु की संगति' न मिल जाय तब तक वह सब वृथा हैं। सद्गुरु का समागम मिलना बड़ा कठिन है। इस जगत् में पाखण्डी, दुराचारी, स्वार्थी, ढोंगी गुरु तो गलियों-गलियों में मारे-मारे फिरते हैं। मगर वे पत्थर की नौका के समान हैं; जो आप डूबते और अपने आश्रितों को भी डुबाते हैं। ऐसे कुगुरुओं की संगति करने से तो बिना गुरु का रहना ही क्या बुरा है ? जीवन-शुद्धि और आत्मकल्याण के लिए संयमी गुरुओं के समागम की आवश्यकता है। ऐसे कनक-कामिनी

के त्यागी, पथप्रदर्शक विद्वान् गुरुओं का समागम होना कठिन है। किसी ने कहा है:—

पाखण्डी पूजाय छे, पण्डित पर नहीं ध्यान।
गोरस लो घर-घर कहे, दारू मिले दुकान॥

दूध जैसे उत्तम पदार्थ को बेचने वाली गुवालिन घर-घर फिरती है और कहती है—दूध लो, दूध लो। फिर भी दूध के ग्राहक बहुत कम होते हैं। किन्तु शराब जैसी अपवित्र और निन्दनीय वस्तु दुकान पर ही बिकती है फिर भी वहाँ लेने वालों की भीड़ लगी रहती है। इसी प्रकार गाँव-गाँव विचरने वाले उत्तम ज्ञानी गुरु को मानने वाले जगत् में थोड़े होते हैं और ज्ञानहीन तथा पाखण्डियों का सत्कार-सन्मान और पूजा-भक्ति करने वाले बहुत होते हैं! यहाँ तक कि कई धर्मान्ध तो अपनी प्यारी पत्नी को भी सेविका के रूप में उन्हें समर्पित कर देते हैं। इससे अधिक मूढ़ता और क्या हो सकती है? कहा भी है:—

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेले दाव।
दोनों बूड़े बापड़े, बैठ पत्थर की नाव॥

लोभी गुरुओं को चेले भी लालची मिलते हैं। दोनों अपने-अपने स्वार्थ के दाव खेलते हैं और एक दूसरे को तथा दुनिया को भरमा कर तरह-तरह की कुचालें सिखाते हैं। मगर ऐसे गुरु और चेले आखिर संसार-सागर के कीचड़ में फँस कर अनेक दुःख उठाते हैं। ऐसे पाखंडी आत्मा का कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं? जो अपने नीच स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए ही सगा बना है और जिसका चित्त स्वार्थसाधना में ही निरन्तर संलग्न रहता है, वह कैसे स्वयं तिरेगा और कैसे दूसरों को तारेगा?

कानिया मानता कर, तू चेलो मैं गुर।
रुपया नारियल धर, भावे डूब के तर।

पाखंडी गुरु अपने भोले चेले से कहता है—हे कानिया! मेरी मान्यता कर। तू मेरा चेला है और मैं तेरा गुरु हूँ। तू रूपया और नारियल मेरे चरणों रख दे; फिर चाहे तू डूब या तर; इसकी मुझे चिन्ता नहीं है।

इस प्रकार जो इन्द्रियों के गुलाम हैं, जिनका मन नियंत्रण में नहीं है, जो कनक और कान्ता के कामी हैं, जिन्हें इहलोक और परलोक की तनिक भी चिन्ता नहीं है, जो षट्काय का आरंभ करने वाले हैं, गृहस्थों से भी अधिक जीवघात करते हैं, जो लोभी और लम्पट हैं वे अपने चेलों को भी डुबोते हैं और आप भी डूबते हैं। जो गुरु लोभी होगा वह दूसरों का रुख देखकर ही बात करेगा। वह सच्चा उपदेश और ज्ञान नहीं दे सकता। वह सोचेगा-अगर भक्त को कोई अप्रिय बात कह देंगे तो उसे बुरा लगेगा और उससे मुझे द्रव्य की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसा सोचकर वे श्रोताओं का मन प्रसन्न करने के लिए मीठी-मीठी बातें कहते और अपना मतलब गांठ लेते हैं। श्रोता डूबे या तरे, इससे उन्हें कोई वास्ता नहीं। उन्हें तो नकद नारायण की प्राप्ति से सरोकार है। ऐसे पाखंडी गुरुओं के विषय में ठीक ही कहा है:—

छोड़िके संसार छार छार से विहार करे,
माया को निवारी, फिर माया दिलधारी है।
पिछला तो धोया कीच, फिर कीच बीच रहे,
दोनों पंथ खोये, बात बनी सो बिगारी है।
साधु कहलाय नारी निरखै लोभाय और,
कंचल की करै चाह प्रभुता प्रसारी है।
लीनी है फिकीरी, फिर अमीरी की आश करे,
काहे को धिक्कार सिर की पगड़ी उतारी है॥

जो सुज्ञ जन कल्याणकारी सत्यधर्म की प्राप्ति की इच्छा रखते हों, उन्हें कनक और कान्ता के त्यागी, निर्लोभ, ज्ञानवान् गुरु की खोज करके उन्हें स्वीकार करना चाहिए। ऐसे सद्गुरु ही मंगलकारी हो सकते हैं। उनके उपदेश-प्रकाश से ही मिथ्यात्व रूपी अंधकार का विनाश होगा। ऐसे सद्गुरु की पहचान करने के लिए शास्त्रों में पच्चीस गुण बतलाये गये हैं। जिसमें यह गुण हों वही सच्चा उपदेशक गुरु है।

सद्वक्ता के २५ गुण

(१) दृढ़ श्रद्धा—जब उपदेशक स्वयं पक्की श्रद्धा वाला होता है, तभी वह श्रोताओं की शंका का निवारण करके उन्हें श्रद्धावान् बना सकता है।

(२) वाचनाकलाकुशल—वांचने और सुनाने की कला में कुशल हो। कोई भी शास्त्र वांचते समय अटके नहीं, शुद्धता और सरलता से शास्त्र सुनावे। कठिन और रूखे विषय को भी सुगम और सरस करके कहे।

(३) निश्चय-व्यवहारज्ञाता—निश्चयनय और व्यवहारनय के स्वरूप को समझने वाला हो। शास्त्र का कौन-सा कथन किस नय से है, इस बात को भलीभाँति नहीं समझने वाला वक्ता अपने श्रोताओं को भ्रम में डाल देता है और स्वयं भी भ्रम में पड़ जाता है। इससे कई प्रकार के अनर्थ हो जाते हैं।

(४) जिनाज्ञा के भंग से डरना—वक्ता अपनी जान में सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कोई बात न कहे। एक देश के राजा की आज्ञा भंग करने से भी दण्ड का भागी होना पड़ता है तो तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का लोप करने वाले की क्या दुर्गति न होगी ? ऐसा जानकर वीतराग भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध प्ररूपणा न करे।

(५) क्षमा—जो क्रोधी होगा वह अपने दुर्गुण से डर कर क्षमा आदि धर्मों की यथातथ्य प्ररूपणा करने में भी संकोच करेगा। इसके अतिरिक्त कभी क्रोध के आवेश में आकर अनुचित बात भी कह देगा—रंग में भंग कर देगा। अतएव वक्ता को अपना विवेक सदा जागृत रखने के लिए क्षमावान् अवश्य होना चाहिए।

(६) निरभिमानता—विनयवान् की बुद्धि बड़ी प्रबल रहती है और इस कारण वह यथातथ्य उपदेश कर सकता है। अभिमानी पुरुष सत्य-असत्य का विचार नहीं करता। अपनी असत्य बात को अनेक कुहेतु लगा

कर सिद्ध करने की चेष्टा करता है और दूसरे की सत्य बात को भी मिथ्या सिद्ध करना चाहता है।

(७) निष्कपटता—जो सरल होता है वही यथावत् उपदेश कर सकता है। कपटी पुरुष अपने दुर्गुण को छिपाने के लिए सच्ची बात को उलट देता है।

(८) निर्लोभता—निर्लोभ उपदेशक सदा बेपरवाह होता है—किसी से दबता नहीं है, किसी की ठकुरसुहाती नहीं कहता। वह राजा और रंक—सबको एक सरीखा सत्य उपदेश कर सकता है।* लोभी और खुशामदी वक्ता श्रोताओं को प्रसन्न करने की नीयत से सत्य बात को भी बदल देता है।

(९) अभिप्रायज्ञता—जो-जो प्रश्न श्रोताओं के मन में उत्पन्न हों, उन्हें उनकी मुखमुद्रा से समझ कर स्वयमेव समाधान कर दे।

(१०) धैर्य—प्रत्येक विषय को धैर्य के साथ ऐसी स्पष्टता से प्रतिपादन करे जिससे वह श्रोताओं के दिल में बैठ जाय। प्रश्नों से क्षुब्ध न हो। मधुरता से समाधान करे।

(११) हठी नहीं—यदि किसी प्रश्न का उत्तर न जानता हो या तत्काल न सूझे तो हठ पकड़ कर भिन्न प्रकार की स्थापना न करे। नम्रता पूर्वक स्पष्ट कह दे कि मुझे इस प्रश्न का उत्तर ज्ञात नहीं है। अतः किसी ज्ञानी से पूछ कर उत्तर दूंगा।

(१२) निन्द्यकर्म से रहित—सच्चा वक्ता वही है जो चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात आदि निन्दनीय कर्मों से दूर रहता है। जो सद्गुणी होगा वही दूसरों से नहीं दबेगा।

(१३) कुलीनता—कुलहीन वक्ता होगा तो श्रोता उसकी मर्यादा नहीं रक्खेंगे और उसके वचनों का प्रभाव नहीं पड़ेगा।

---

* *गुकारस्त्वन्धकारः स्याद्, रुकारस्तन्निरोधकः।*
अन्धकार विनाशित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥

अर्थात्—'गुरु' पद में 'गु' का अर्थ अन्धकार है और 'रु' का अर्थ उसे रोकने वाला है। इस प्रकार अन्धकार को रोकने वाला होने से 'गुरु' कहलाता है।

(१४) परिपूर्णाङ्गता—वक्ता के सभी अङ्ग परिपूर्ण होने चाहिए। अङ्गहीन वक्ता शोभा नहीं देता।

(१५) स्वरमाधुर्य—खराब स्वर वाले वक्ता के वचन श्रोताओं को प्रिय नहीं होते।

(१६) बुद्धिमत्ता—वक्ता बुद्धिशाली होना चाहिए।

(१७) मधुरवचन—जिस वक्ता की भाषा में मिठास नहीं होती, उसके वचन श्रोताओं की प्रीति उत्पन्न नहीं करते। प्रीति उत्पन्न हुए बिना श्रोता मनोयोग से श्रवण नहीं करते। कटुक और कठोर भाषा के प्रयोग से श्रोताओं के चित्त में क्षोभ पैदा होता है।

(१८) वक्ता प्रभावशाली होना चाहिए। जिसका व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है उसके वचन भी प्रभावशाली होते हैं।

(१९) सामर्थ्य—वक्ता समर्थ होना चाहिए अर्थात् उपदेश देते-देते थक नहीं जाना चाहिए।

(२०) विशाल अध्ययन—अनेक ग्रन्थों का अवलोकन, अध्ययन, मनन, चिन्तन होना चाहिए।

(२१) अध्यात्मवेत्ता—वक्ता आत्मज्ञानी होना चाहिए। आत्मा को जाने विना समस्त ज्ञान निस्सार है; निष्प्रयोजन है।

(२२) शब्दों के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिए। जो शब्दों के गहरे मर्म को नहीं समझता और अपने आन्तरिक भावों को प्रकट करने के लिए उपयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकता, वह उपदेश देने योग्य नहीं है। उसका उपदेश कभी भ्रान्ति उत्पन्न कर सकता है और प्रभावजनक नहीं होता।

(२३) अर्थ का संकोच और विस्तार करने की योग्यता होनी चाहिए। समय पड़ने पर किसी बात को विस्तृत रूप से समझा सके और कभी विस्तार से कहने की बात को संक्षेप में कह सके।

(२४) तर्कज्ञ—वक्ता को युक्ति तथा तर्क का ज्ञाता होना चाहिए। शास्त्र में मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है। प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक

प्रश्न का उत्तर शास्त्र में स्पष्ट रूप से नहीं लिखा रहता। उन मूल सिद्धान्तों के आधार पर प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए युक्ति तथा तर्क की आवश्यता होती है।

(२५) गुणयुक्तता—वक्ता को प्रतिष्ठित, प्रामाणिक, प्रभावशाली और विश्वासपात्र बनाने वाले सभी गुण उसमें होने चाहिए। गुणों के अभाव में उसके वचन मान्य नहीं होते।

यह पच्चीस गुण जिसमें पाये जाते हैं वहीं असरकारक और यथार्थ उपदेश दे सकता है। ऐसे ज्ञानी सद्वक्ता संयमी का योग मिलना बहुत कठिन है। सद्गुरु की संगित से १० गुणों की प्राप्ति होती है। श्रीभगवतीसूत्र में कहा है:—

सवणे नाणे विरणाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणएहए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥

अर्थात्—(१) ज्ञानी मुनि का समागम करने से सर्वप्रथम धर्म-श्रवण करने का अवसर मिलता है। (२) जो श्रवण करता है उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। (३) ज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) का होना स्वभाविक है। (४) विज्ञान होने पर अर्थात् विवेकदृष्टि जागृत होने पर दुष्कृत्य का प्रत्याख्यान हाता है। (५) प्रत्याख्यान के फलस्वरूप संवर की प्राप्ति होती है, क्योंकि प्रत्याख्यानी जीव आस्रव को रोक देता है। (६) आस्रव का निरोध करने से तीर्थङ्कर की आज्ञा का आराधक हुआ। (७) आराधक होने से तप की प्राति होती है। (८) तप के प्रभाव से कर्म कटते हैं। (९) कर्म कटने से अक्रियावान् अर्थात् स्थिर योगी और सब पापों से रहित होता है। (१०) सब पापों से रहित होने पर सिद्धि अर्थात् मुक्ति मिलती है। इस प्रकार सन्तों के समागम से महान् लाभ की प्राप्ति होती है।

८—शास्त्रश्रवण



सदुपदेशक अर्थात् सद्वक्ता का योग प्राप्त होने पर भी शास्त्र श्रवण करने का योग मिलना बहुत ही मुश्किल है; क्यों कि इस संसार में धर्मशास्त्र

सुनने की रुचि रखने वाले लोग बहुत थोड़े ही होते हैं। कोई कहता है—'साधु महाराज पधारे हैं, उपदेश दे रहे हैं, चलो सुन आवें।' तो सामने वाला इसके उत्तर में कहता है—साधु तो निकम्मे हैं। इन्हें और काम ही क्या है ? अपने पीछे तो बाल-बच्चे हैं, घर-द्वार है, धंधा वगैरह अनेक उपाधियाँ लगी हैं। अपने को संसार छोड़कर बाबा नहीं बनना है कि व्याख्यान सुना करें। इसी समय अगर दूसरा कोई आदमी आकर कहे कि आज एक नया नाटक आया है, चलो देख आवें। तो वही आदमी पैसे खर्च करके नाटक देखने को तैयार हो जायगा। माता-पिता की आज्ञा की परवाह किये बिना, बाल-बच्चों को रोता छोड़कर, भूख-प्यास सर्दी गर्मी आदि का ख़याल न करके समय से पहले ही वहाँ पहुँच जायगा, महापाप से कमाया हुआ पैसा खर्च करके टिकट खरीदेगा, नीच लोगों के धक्के खाता हुआ अन्दर जायगा, बैठने की जगह न मिली तो खड़ा रहेगा। पेशाब करने की इच्छा होगी तब भी पेशाब रोक रक्खेगा, नींद आयगी तो आखें मसल कर, पानी छिड़क कर जबर्दस्ती प्रयत्न करके जागने की कोशिश करता है। पेशाब रोकने से और समयानुसार नींद नहीं लेने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त नाटक में कृष्ण, रूक्मिणी आदि उत्तम पुरूषों तथा सतियों की ओर कुदृष्टि से देखता है, कुचेष्टाएँ करता है! अगर कोई मनुष्य प्रेक्षक की माँ-बहन का रूप बना कर नाटकशाला में नाचै तो प्रेक्षक को कितना बुरा लगेगा ?

अरे अज्ञानियो ! जरा विचार तो करो कि जिसे तुम परमेश्वर के रूप में, संत के रूप में या सती के रूप में मानते हो उसी के नाटक को नाच-कूद कर बड़ी प्रसन्नता से देखते हो ! कितनी लज्जा की बात है ! अधर्मयुक्त और पापकारी नाटक-तमाशे में दौड़े-दौड़े जाते हो और धर्मशास्त्र श्रवण करने में शरमाते हो ? सच है, महापापी के भाग्य में उत्तम धर्म कहाँ ?

धर्म श्रवण करने के विषय में कुछ लोग कहते हैं—हमसे धर्म क्रिया तो होती नहीं है, फिर सुनने से लाभ ही क्या है ? ऐसे लोगों के लिए यह उत्तर है कि जो सुनेगा वह कभी न कभी उसे अमल में लाने का भी प्रयत्न करेगा। किसी ने सुना कि फलां मकान में भूत है। तो फिर जहाँ तक संभव

होता है, वह आदमी उस मकान में नहीं जाता है। कदाचित् जाना अनिवार्य हो तो डरता-डरता जाता है कि भूत कहीं सतावे नहीं! मकान में एक पहर का काम होगा तो एक घड़ी में झटपट उसे निवटा कर बाहर निकल आयगा। और जब तक अन्दर रहेगा, डरता ही रहेगा। इसी प्रकार शास्त्र श्रवण करने के लिए आने वाला पुरुष जब यह सुनता है कि अमुक कार्य करने से पाप होता है तो जहाँ तक हो सकेगा, उस कार्य को वह नहीं करेगा। करना अनिवार्य होगा तो भी करते-करते झिझकेगा, थोड़ा करेगा और पाप से डरता रहेगा। इस प्रकार करते-करते कभी पाप को बिलकुल ही त्याग देगा।

कुछ लोग कहते हैं—धर्मशास्त्र हमारी समझ में तो आता नहीं है, फिर सुनने से क्या लाभ है? इसका उत्तर यह है—जब किसी को साँप या बिच्छू काट खाता है तो मंत्रवादी उसके सामने बैठकर मंत्र पढ़ता है। विष से पीड़ित पुरुष को मंत्र समझ में नहीं आता; फिर भी विष तो उतर ही जाता है। इसी प्रकार धर्मश्रवण करने से पाप कम हो जाते हैं, सुनते-सुनते शास्त्र समझ में आने लगते हैं। इस तरह शास्त्र-श्रवण करने से अवश्य ही लाभ होता है। दशवैकालिक में कहा है:—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

अर्थात्—शास्त्रों का श्रवण करने से पुण्य और पाप तथा उभय का ज्ञान होता है; इस काम को करने से पुण्य होता है और इस कार्य को करने से पाप होता है, यह बात शास्त्र से ही ज्ञात होती है। शास्त्र ही से यह भी पता चलता है कि पुण्य और पाप का फल सुख और दुःख है। दोनों का फल जान कर जो श्रेयस्कर हो उसे स्वीकार करेगा। अतः सद्गुरु का उपदेश अवश्य सुनना चाहिए।

श्रोता के गुण



(१) धर्म की परीक्षा करे। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु को ग्रहण करना चाहता है तो अनेक प्रकार से उसकी परीक्षा करता है। एक पैसे की

हँडिया खरीदते समय उसे ठोक-बजाकर लेता है। कपड़े का पोत देख-भाल कर फिर खरीदा जाता है। ऐसी नाशवान् वस्तुएँ भी परीक्षा कर के ली जाती हैं और लेने बाद बड़ी सावधानी से सँभाल कर रक्खी जाती हैं। फि भी वह सदा नहीं रहतीं। वे एकान्त सुख देने वाली भी नहीं होती हैं। कभी-कभी उनके निमित्त से सुख के बदले दुःख की प्राप्ति हो जाती है। तो धर्म को क्या परीक्षा किये बिना ही ग्रहण कर लेना चाहिए? धर्म अनमोल वस्तु है और एकान्त सुखदायक है। उसका कभी विनाश नहीं होता। ऐसी स्थिति में उसकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। जिस धर्म पर मनुष्य का अनन्त भविष्य निर्भर है, उसकी परीक्षा किये बिना ही उसे ग्रहण कर लेना चरम सीमा की मूर्खता है। फिर भी धर्म की परीक्षा करने वाले मनुष्य बहुत कम दिखाई देते हैं। किसी कवि ने कहा है:—

एक एक के पीछे चले, रस्ता न कोइ बूझता,
अंधे फँसे सब घोर में, कहाँ तक पुकारे सूझता।
बड़ा ऊँट आगे हुआ, पीछे हुई कतार।
सब ही डूबे बापड़े, बड़े ऊँट के लार॥

संसार में इस प्रकार की अंधाधुंधी चल रही है। अनादि काल से यह भेड़-चाल चली आती है।

कुछ लोग कहते हैं—हमारे बाप-दादा जिस धर्म का पालन करते आये हैं, उस धर्म का परित्याग किस प्रकार किया जाय? उनसे पूछना चाहिए—तुम्हारे बाप-दादा तो गरीब थे, फिर तुम धनवान् होने का प्रयत्न क्यों कर रहे हो? उस गरीबी को ही अपने गले का हार क्यों नहीं बनाते? तुम्हारे पास जो धन है उसे फैंक क्यों नहीं देते? तुम्हारे पिता या दादा अंधे, लँगड़े, काने या बहरे थे तो तुम भी वैसे ही क्यों नहीं बनते? ऐसा कहा जाय तो उन्हें अच्छा नहीं लगेगा। वे ऐसा करने को तैयार नहीं होंगे। तब धर्म के विषय में ही बाप-दादा को क्यों बीच में लाया जाता है? अगर कोई उत्तम धर्म को स्वीकार करने लगे तो क्या पुरखा मना करने आएँगे? या उनका कोई अहित हो जायगा? सच तो यह है कि श्रोताओं

को धर्म के विषय में जरा भी पक्षपात न करते हुए परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा करने पर जो धर्म हितकारी प्रतीत हो, जिससे यह जन्म और भविष्य उज्जवल एवं मंगलमय बने उसी धर्म का ग्रहण-पालन करना चाहिए।

(२) दुःख से भयभीत हो—जो नरक-निगोद आदि के दुःख से डरेगा वही धर्मकथा श्रवण करके पापकर्म से निवृत्त होगा। जो पाप-कर्म करने में निडर होगा, जिसे परलोक का भय नहीं होगा, उसे धर्मोपदेश कैसे लगेगा ?❀

(३) सुख का अभिलाषी हो। जो स्वर्ग और मोक्ष के सुख को मानता होगा और उसकी इच्छा करता होगा वह धर्मकथा श्रवण करेगा और धर्ममार्ग में अपनी शक्ति लगाएगा।

(४) बुद्धिमान् हो। जो बुद्धिमान् होगा वही धर्म के रहस्यों को समझेगा और बुद्धिमत्ता के साथ प्रवृत्ति करके, तोल कर सत्य धर्म को अंगीकार करेगा।

(५) मनन करने वाला हो। उपदेश सुनकर वहीं का वहीं पल्ला झटक दे, एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल दे तो कोई लाभ नहीं होता। श्रोता का कर्त्तव्य है कि धर्म की बात सुन कर उसे हृदय में धारण करे, उस पर मनन करे, सत्य-असत्य का निर्णय करे और फिर उसे ग्रहण करे या त्यागे।

(६) धारण करने वाला हो। धर्म की जो बात श्रवण करे उसे हृदय में धारण कर रक्खे। ऐसा करने से ही श्रोता विशेषज्ञ बन सकता है।

(७) हेय उपादेय ज्ञेय का ज्ञाता हो। सुनी हुई सभी बातें एक-सी नहीं होती। इस लिए विद्वान् श्रोता उन्हें तीन विभागों में विभक्त करते हैं।

❀ दृष्टान्त—कन्दमूल खाने वाले एक जैन से किसी साधु ने कहा कि बहुत पाप करोगे तो नरक में जाना पड़ेगा। जैन ने पूछा—महाराज! नरक के स्थान कितने हैं? साधु ने कहा—नरक सात हैं। जैन बोला—अरे महाराज! मैं तो पन्द्रहवें नरक में जाने के लिए कमर कसे बैठा था, आपने तो आधे भी नहीं बतलाये? अब चिन्ता नहीं!

ऐसे निडर श्रोता पर धर्मोपदेश का क्या प्रभाव पड़ेगा?

यथा—जो हेय (छोड़ने योग्य) हो उस वस्तु को त्याग करे। जो उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हो उसे ग्रहण करे और जो ज्ञेय (सिर्फ जानने योग्य अर्थात् उपेक्षा करने योग्य) हो उसे जान ले।

(८) निश्चय-व्यवहारज्ञाता हो। निश्चय और व्यवहार का जोड़ा दोनों के समान हैं। चलते समय जिस पैर को आगे बढ़ाना होता है, वही पैर आगे बढ़ाया जाता है! इसी प्रकार शास्त्र में दोनों नयों की अपेक्षा से कथन किया जाता है। उदाहरणार्थ—'कालमासे कालं किच्चा' यह शास्त्र का पाठ है। इसका आशय है—आयुष्काल पूर्ण होने पर मृत्यु होती है। यह निश्चयनय का अभिप्राय है। ठाणांगसूत्र में बतलाया गया है कि सात कारणों से, असमय में आयु टूट जाती है। यह व्यवहार नय की प्ररूपणा है। निश्चयनय से कहा जाता है कि आत्मा ही देव है, ज्ञान ही गुरु है। अगर कोई पुरुष एकान्त निश्चय नय को पकड़ कर बैठ जाय और परमात्मा का भजन करना छोड़ दे और अपने आपको ही गुरु मानने लगे तो वह भवसागर में ही डूबेगा। अतएव निश्चय-व्यवहार दोनों को सम्यक् प्रकार से समझना चाहिए। कौन-सी प्ररूपणा नय की अपेक्षा से की जा रही है, इस प्रकार का विवेक न रखने से अनेक अनर्थ हुए हैं और हो रहे हैं।

(९) विनयवान् हो। विनीत श्रोता को ही यथोचित ज्ञान पचता है। श्रवण करते समय जो-जो संशय उत्पन्न हों उनका वे विनयपूर्वक निर्णय कर लेते हैं।

(१०) दृढ़ श्रद्धालु हो। अनेकान्तमय शास्त्रों के सूक्ष्म भावों को सुन कर चित्त को डाँवाडोल करता हुआ उनपर श्रद्धा रक्खे। जो वचन बुद्धि में न आवे, उसके लिए अपनी बुद्धि की कसर समझे। इस प्रकार की श्रद्धा रखने वाला ही आत्मकल्याण कर सकता है।

(११) अवसर-कुशल हो। जिस समय जैसा उपदेश देना उचित हो, उस समय वैसा ही प्रश्न करो। द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को देखे बिना प्रवृत्ति करने से विपरीत प्रभाव होता है।

(१२) निर्विचिकित्सी हो। व्याख्यान-श्रवण करने से मुझे अवश्य लाभ होगा, इस प्रकार का विश्वास श्रोता को अवश्य होना चाहिए।

(१३) जिज्ञासु हो। जैसे भूखे को भोजन की, प्यासे को पानी की, रोगी को औषध की, लोभी को लाभ की, पंथ भूले को पथप्रदर्शक की उत्कंठा रहती है, उसी प्रकार श्रोता को ज्ञान आदि गुणों के लिए उत्सुकता होनी चाहिए।

(१४) रस-ग्राही हो। जैसे पूर्वोक्त भूखा-प्यासा भोजन-पानी को पाकर प्रसन्न होता है और रुचिपूर्वक उसका उपयोग करता है, उसी प्रकार श्रोता को भी व्याख्यान-श्रवण का योग मिलने पर रुचि के साथ श्रवण करने का लाभ उठाना चाहिए।

(१५) इहलौकिक सुखों की इच्छा न करे। श्रोता धन, पुत्र, यश, कीर्ति आदि इस लोक के सुखों की इच्छा न करे। अर्थात् ज्ञान के महान् लाभ को इस लोक संबंधी क्षणिक सुखों के लिए न गँवा दे।

(१६) पारलौकिक सुखों की इच्छा न करे। यथा-आगामी भव में राजपद स्वर्ग-सुख आदि की अभिलाषा न करे। सिर्फ मोक्ष की एक मात्र कामना से शास्त्रश्रवण और धर्माचरण करे।

(१७) सुखदाता हो। अपने हित का उपदेश देने वाले वक्ता को यथायोग्य वस्त्र, स्थान, धन, आहार आदि की सहायता देकर तथा उसकी उचित सेवाभक्ति करके उसके उत्साह की वृद्धि करे।

(१८) प्रसन्नकारी हो। वक्ता के चित्त को हर तरह से प्रसन्न रक्खे।

(१९) निर्णयकारी हो। सुनी हुई बातों में अगर संशय हो जाय तो पूछताछ करके उसका निर्णय करे संशय न हो तो भी उस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए सरल भाव से प्रश्नोत्तर करे।

(२०) प्रकाशक हो। व्याख्यान में सुना कथन अपने मित्रों एवं हितैषियों के सामने प्रकाशित करे और उनके चित्त को व्याख्यान सुनने के लिए प्रेरित करे।

(२१) गुणग्राहक हो। गुणों को ही ग्रहण करे। कदाचित् वक्ता में कोई दोष दृष्टिगोचर हो तो उसे त्याग दे।

उक्त इक्कीस गुणों के धारक श्रोताओं की सभा में ही पण्डित पुरुषों के ज्ञान की खूबियाँ प्रकट होती हैं। पण्डित तो दुकानदार के समान सूक्ष्म, बादर, व्यावहारिक, नैश्चयिक, शास्त्रीय, स्वसमय, परसमय आदि अनेक प्रकार के कथनों के ज्ञाता होते हैं। जैसे हल्दी के ग्राहक के सामने केसर का डिब्बा खोलना वृथा है और टाट के ग्राहक के समक्ष रेशम पेश करना व्यर्थ है, उसी प्रकार अल्पज्ञ या अज्ञ श्रोताओं के समक्ष शास्त्र की गूढ़तर बातें कहना भी वृथा हो जाती है। अतएव पण्डित जैसी परिषद् देखते हैं, वैसा ही व्याख्यान कर देते हैं। मगर ज्ञान की गहन बातों को पूर्वोक्त प्रकार के श्रोता ही समझ पाते हैं। ऐसा श्रोता भी संसार में दुर्लभ है।

शुद्ध श्रद्धान



'सद्धा परम दुल्लहा।' श्री जिनेश्वर भगवान् ने कहा है कि आत्मा को श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति होना बहुत कठिन है। शास्त्रों के श्रवण करने का अवसर अनेक बार मिल जाता है, मगर उस पर श्रद्धा करने वाले कोई विरले ही होते हैं। (१) कितनेक समझते हैं कि हमारे बाप-दादा सुनने आये हैं, तो हमें भी सुनना चाहिए। ये लोग कुल की रूढ़ि के अनुसार सुनते हैं। (२) कुछ लोग समझते हैं कि हम जैन कुल में जनमे हैं तो व्याख्यान भी सुन लेना चाहिए। (३) कोई-कोई यह खयाल करते हैं कि हम बड़े नामांकित हैं, आगे बैठने वाले हैं, हमें सब धर्मात्मा समझते हैं, इसलिए हमें व्याख्यान जरूर सुनना चाहिए। इससे हमारा मान-महात्म्य बना रहेगा। (४) किसी-किसी का विचार होता है कि अपने गाँव में साधु आये हैं—उपदेशक आये हैं, अगर ५-१० मनुष्य भी व्याख्यान सुनने नहीं जाएँगे तो अपने गाँव की बदनामी होगी। (५) कुछ लोग सोचते हैं—व्याख्यान सुनेंगे तो साधुजी खुश हो जाएँगे। कदाचित्

कभी कोई चुटकुला बता दिया तो निहाल हो जाएँगे। इस प्रकार लालच से प्रेरित होकर व्याख्यान सुनते हैं। (६) कई लोग विचार करते हैं कि अमुक साहब व्याख्यान सुनने जाते हैं तो चलो हम भी सुन लें। ऐसे लोग दोस्ती निभाने के लिए जाते हैं। (७) कुछ लोग बड़े आदमी के दबाव में आकर शर्म के मारे व्याख्यान सुनते हैं। (८) कोई-कोई स्त्री-पुरुषों का रूप-श्रृङ्गार देखकर अपनी दुष्ट वासना का पोषण करने के लिए भी व्याख्यान-श्रवण करने चले जाते हैं।

इस प्रकार अनेक प्रयोजनों से जो शास्त्रश्रवण करने के लिए चले जाते हैं, किन्तु जिनके अन्तःकरण में शुद्ध श्रद्धा नहीं होती, उन्हें गुणों की प्राप्ति नहीं होती। कहा भी है:—

दीनी पण लागी नहीं, रीते चूले फूँक।
गुरु बेचारा क्या करे, चेले में है चूक॥

जिस चूल्हे में आग नहीं है और राख भरी है, उसमें फूँक मारने से लाभ तो कुछ होता नहीं, प्रत्युत राख से मुँह भर जाता है। इसी प्रकार उक्त श्रेणी के श्रोताओं को व्याख्यान सुनाने से वक्ता को परिश्रम तो होता है पर उपकार कुछ नहीं होता है। क्यों कि—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्?
नोलू केन विलोक्यते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्?
वर्षा नैव पतंति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्?
यद्भाग्ये विधिना ललाटलिखितं कर्मस्य किं दूषणम्?

—भर्तृहरि।

अर्थात्—वसन्त ऋतु प्राप्त होने पर भी अगर करीर (कैर) के पेड़ में कौंपलें नहीं फूटतीं तो वसन्त ऋतु का क्या दोष है? जाज्वल्यमान सूर्य की विद्यमानता में भी अगर उल्लू दिन में नहीं देखता तो इसमें सूर्य का क्या अपराध है? अतिवृष्टि होने पर भी अगर चातक के मुख में बूँद नहीं पड़ते तो वर्षा का क्या दोष है? अगर किसी का भाग्य ही खराब है तो पुरुषार्थ का

क्या दोष है ? इसी प्रकार अगर पण्डितों का उपदेश मूढ़ पुरुषों पर असर नहीं करता तो उपदेशक का क्या कसूर है ? कोरडू मूँग को हजारों मन आग-पानी से पकाया जाय तो भी वह नहीं पकता है, इसी प्रकार अभव्य, दुर्भव्य और दुर्लभबोधि जीवों के कठिन हृदय में तीर्थंकरों का कथन असर नहीं करता तो साधारण उपदेशक का तो कहना ही क्या ?

चार कोस का मांडला, वे वाणी के धोरे ।
भारी कर्मे जीवड़ा, वहाँ भी रह गये कोरे ॥

मराठी के एक जैन कवि ने भी कहा है:—

अभंग—असतां गोरस एक त्वचा आड ।
सांडूनी गोचीड रक्त सेवी ॥
काय कावल्या सी रुचै मुक्ता चारा ।
सन्मति दातारा दास म्हणे ॥

अर्थात्—जैसे गाय के थन से लगी हुई जौंक दूध को छोड़कर रक्त पीती है, उसी प्रकार अपात्र श्रोता, वक्ता के उपदेश में रहे हुए गुणों को छोड़कर दुर्गुण को ही ग्रहण करते हैं। जैसे मुक्ताफल का आहार हंस को ही रुचता-पचता है, उसी प्रकार योग्य श्रोता गुण ही ग्रहण करता है। इसके विपरीत जैसे कौवा श्रेष्ठ फलों को छोड़कर भिष्ठा में ही मज़ा मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव गुणों को छोड़कर अवगुण ही ग्रहण करता है ।*

---

* श्रीनन्दीयसूत्र में चौदह प्रकार के श्रोता कहे हैं । वे इस प्रकार हैं:—

(१) चलनी के समान—जैसे चलनी अच्छे-अच्छे अनाज को छोड़कर भीतर असार (छिलका, तिनका, कंकर आदि) पदार्थों को धारण कर रखती है, उसी प्रकार कोई-कोई श्रोता सद्बोध सुन कर उसमें सार वस्तु—गुण छोड़ कर असार वस्तु को ही ग्रहण करते है ।

(२) मार्जार के समान—जैसे बिल्ली पात्र में रक्खे दूध को पहले ज़मीन पर बिखेर देती है और फिर बिखेरे हुए दूध को चाट-चाट कर पीती है, उसी प्रकार कितनेक श्रोता पहले वक्ता का चित्त दुखी करके फिर उपदेश श्रवण करते हैं ।

(३) बगुला के समान—जैसे बगुला ऊपर से निर्मल धवल दिखाई देता है किन्तु भीतर कपट रखता है कि कब मछली को पकड़ लूं उसी प्रकार कोई-कोई श्रोता ऊपर से वक्ता की भक्ति करते हैं, पर भीतर ही भीतर कपट रखते हैं ।

कुछ लोग कहते हैं कि क्या व्याख्यान सुनने जाएँ! वे तो अपना ही अपना गाते हैं। जो कहते हैं, उसके अनुसार चलने वाला कौन है? ऐसे निन्दक को जानना चाहिए कि:—

पादे पादे निधानानि, योजने रस कुप्पिका।
भाग्यहीना न पश्यन्ति, बहुरत्ना वसुन्धरा॥

अर्थात्—पग-पग पर धन का खजाना है और योजन-योजन पर रस की कूपिका है। यह वसुन्धरा रत्नों ने भरी हुई है; मगर भाग्यहीन जन उन्हें देख नहीं सकते।

इसी प्रकार प्राप्त ऋद्धि-सम्पदा के त्यागी, महावैरागी, पण्डित-प्रवर, शुद्धाचारी, आत्मार्थी, आत्मानन्दी, तपस्वी, वैयावच्ची साधु-साध्वी मौजूद हैं और दयावान, दानवीर, दृढ़धर्मी, संघभक्त, सातादाता, अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही, गृहस्थावस्था में रहते हुए भी आत्मा का कल्याण करने वाले, विद्वान्,

(४) पाषाण के समान—पत्थर के ऊपर वर्षा होती है तो वह भीग जाता है किन्तु उसके भीतर जरा भी पानी का प्रवेश नहीं होता। इसी प्रकार कई श्रोता ऐसे होते हैं जो उपदेश सुनते समय बड़ा वैराग्य दिखलाते हैं किन्तु दुष्कृत्य करते तनिक भी नहीं डरते। इससे जान पड़ता है कि उनका अन्तःकरण पत्थर के समान कठोर है।

(५) सर्प के समान—साँप दूध पीकर भी उसे विष के रूप में परिणत करता है, इसी प्रकार कितनेक श्रोता उपदेशक और उपदेश के विरोधी बन जाते हैं—धर्म का ही उत्थापने लगते हैं।

(६) भैंसा के समान—कितनेक श्रोता सभा रूपी सरोवर में विकथा-कदाग्रह रूप गोबर और मूत्र त्याग कर उपदेश-जल का पान करते हैं।

(७) फूटे घड़े के समान—जैसे फूटे घड़े में पानी टिकता नहीं है, उसी प्रकार कितनेक श्रोताओं के मन में सुना हुआ उपदेश नहीं ठहरता है। वे वहीं का वहीं पल्ला झाड़ कर चल देते हैं।

(८) डाँस के समान—जैसे डाँस दंश करके लोहू पीता है, उसी तरह कितनेक श्रोता सद्बोध को, सद्बोध देने वाले को और सद्गुण को छोड़कर दुर्गुण और दुर्गुणी को ग्रहण करते हैं।

(९) जौंक के समान—जैसे जौंक गाय के स्तन में लग कर भी दूध नहीं पीती किन्तु रक्त पीती है, उसी प्रकार कितनेक श्रोता गुणों को छोड़कर अवगुण ही ग्रहण करते हैं।

यह नौ प्रकार के श्रोता अधम और उपदेश के लिए अपात्र हैं।

शास्त्रज्ञ पण्डित आदि श्रावक-श्राविका मौजूद हैं। पंचम आरे के अन्त तक एक भव करके मोक्ष जाने वाले चारों संघ बने रहेंगे। किन्तु अच्छे पदार्थ बहुत थोड़े होते हैं। श्रद्धाहीन लोग उन्हें देख नहीं पाते।

तात्पर्य यह है कि कई लोग धर्म का उपदेश तो सुन लेते हैं, परन्तु उन्हें उस धर्म पर श्रद्धा नहीं होती। श्रद्धा के अभाव में उनका धर्मश्रवण यथातथ्य फलदायक नहीं होता। अतएव धर्म में श्रद्धा का होना बड़ा कठिन है। जिन्हें धर्मश्रद्धा प्राप्त है, वे भाग्यशाली हैं, पुण्यात्मा हैं।

धर्मस्पर्शना



पूर्वोक्त नौ साधनों की सार्थकता इस दसवें साधन से अर्थात् धर्म की स्पर्शना में है। किन्तु धर्मस्पर्शना की प्राप्ति होना सबसे कठिन है। धर्म पर श्रद्धा रखने वाले सम्यक्त्वी जीव चारों गतियों में असंख्यात पाये जाते हैं, किन्तु पूर्ण रूप से धर्म की स्पर्शना करने वाले सिर्फ मनुष्यगति में ही पाये जाते हैं। मनुष्यों में अधिकांश मनुष्य तो उक्त साधनों को प्राप्त करके भी धर्मस्पर्शना से वंचित रह जाते हैं। इसके प्रधान कारण दो हैं—जिनके प्रत्याख्यानावरण कषाय आदि चारित्रमोहनीयकर्म की प्रकृतियों का प्रबल

---

(१०) पृथ्वी के समान—पृथ्वी को जितनी ज्यादा खोदें, उतनी ही कोमल निकलती है और उतनी ही उपज ज्यादा देती है, उसी प्रकार कोई-कोई श्रोता बहुत तकलीफ देकर ज्ञान ग्रहण करता है, किन्तु बादमें अपने ज्ञान आदि गुणों का खूब विस्तार करता है।

(११) इत्र के समान—इत्र ज्यों-ज्यों ज्यादा मसला जाता है, त्यों-त्यों अधिक सुगन्ध देता है, उसी प्रकार कितनेक श्रोता गुरु की प्रेरणा पाकर कुशल बनते हैं और अपने सद्गुण सौरभ का प्रसार करते हैं। (यह दो मध्यम श्रोता हैं)

(१२) बकरी के समान—जैसे बकरी बड़ी सावधानी से स्वच्छ पानी पीती है, पानी को लेश मात्र भी गँदला नहीं करती, उसी प्रकार कितनेक श्रोता, वक्ता को तनिक भी कष्ट नहीं पहुंचाते, वे वक्ता की अल्पज्ञता आदि का विचार नहीं करते, किन्तु सद्गुण ही ग्रहण करते हैं।

(१३) गाय के समान—जैसे गाय जूठन और सूखा घास खाकर भी उत्तम और मधुर दूध देती है, उसी प्रकार कितनेक श्रोता साधारण उपदेश सुनकर भी उसे असाधारण रूप में परिणत कर लेते हैं।

उदय होता है, ऐसे श्रेणिक और श्रीकृष्ण महाराज आदि के समान मनुष्य धर्म का स्वरूप समझते हुए भी और धर्म का आचरण करने की उत्कंठा रखते हुए भी व्रतसमाचरण रूप धर्म की स्पर्शना नहीं कर सकते। इस प्रकार के मनुष्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे यदि स्वयं संयम का आचरण नहीं कर सकते तो जैसे उल्लिखित दोनों नरेश्वरों ने धर्म के लिए तन, मन, धन अर्पित किया, अपने स्त्री-पुत्र आदि प्रिय स्वजनों को दीक्षा दिलाई, दूसरे दीक्षा लेने वालों का महोत्सव किया, दीक्षा लेने वालों के कुटुम्बी जनों का अपने कुटुम्ब के समान ही पालन-पोषण किया, अनाथों की सहायता की, किसी पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा न करने की राज-घोषणा की, इसी प्रकार वे भी यथाशक्ति धर्म का उद्योत करें, धर्मात्माओं की वैयावृत्य करें और धर्मप्रभावना में अपनी शक्ति लगावें।

जिन मनुष्यों को संयम रूप धर्माचरण करने की योग्यता प्राप्त हुई है, उन्हें प्रमाद का त्याग करके, जहाँ तक संभव हो, मुनिधर्म का ही आचरण करना चाहिए। अगर मुनिधर्म को अंगीकार करने की शक्ति न हो तो कम से कम श्रावकधर्म का पालन करना चाहिए। श्रावकधर्म का पालन करने से संसार संबंधी कोई काम भी नहीं रुकता है और धर्म की आराधना भी अंशतः हो जाती है। धर्म की आराधना के लिए (१) उत्थान (सावधान होना), (२) कर्म (प्रवृत्ति होना), (३) बल (स्वीकार करना), (४) वीर्य (पालन करना), और (५) पुरुषकार पराक्रम (स्वीकृत कार्य को पार लगाना-सम्पन्न करना) इन पाँच साधनों की आवश्यकता होती है। इन पाँचों का प्रयोग करने वाला पुरुष ही अपने ध्येय को पूरी तरह सफल कर सकता है।

अपने इच्छित प्रयोजन को जो पूर्ण करना चाहते हैं, उनके लिए यह दसवाँ बोल—धर्मस्पर्शना—ही सबसे अधिक उपयोगी है। जो इसे प्राप्त करते

---

(१४) हंस के समान—जैसे हंस मिले हुए दूध और पानी में से पानी त्याग कर दूध ही दूध ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार कोई-कोई वक्ता व्याख्यान के दोषों का त्याग कर गुण ही गुण ग्रहण करता है। (यह अन्तिम तीन प्रकार के श्रोता उत्तम हैं)

इस प्रकार चौदह तरह के श्रोताओं का स्वरूप समझ कर, श्रोता के गुणों को जान कर अधमता त्यागनी चाहिए और यथाशक्ति उत्तमता या मध्यमता धारण करनी चाहिए।

हैं या करना चाहते हैं, उन्हें कपिल केवली की यह उक्ति सदा ध्यान में रखनी चाहिए:—

अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्खयउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ॥

अर्थात्—संसार के समस्त पदार्थ अध्रुव हैं और अशाश्वत हैं। प्रथम तो कोई भी पदार्थ सदा एक-सा नहीं रहता, दूसरे कब किस वस्तु का कैसा परिणमन हो जायगा, यह निश्चित नहीं है। समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। संसार परिवर्त्तनशील ही होता तो भी कोई विशेष भय की बात नहीं थी, मगर वह दुःखप्रचुर भी है। विवेकदृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि संसार में सुख राई भर है तो दुःख पर्वत के बराबर है। फिर वह राई भर सुख भी सच्चा सुख नहीं है—सुख का विकार है—सुखाभास है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को चाहिए कि वह विचार करे कि वह कौन-सा कार्य है, जिससे मैं दुर्गति से बच सकूँ।

सच्चा सुख क्या है? सच्चे सुख का भागी कौन हो सकता है? इस संबंध में शास्त्र का कथन है:—

न वि सुही देवता देवलोए, न वि सुही पुढवीवई राया।
न वि सुही सेठ सेनावइए, एगंतसुही मुणी वीयरागी।
—श्रीउत्तराध्ययन

अर्थात्—रत्नों के विमान में निवास करने वाले, देवांगना के हजारों रूपों के साथ, अपने हजारों रूप बनाकर विलास करने वाले, कई सागरोपम की आयु धारक देवता भी सुखी नहीं हैं। छह खण्ड पृथ्वी का राज भोगने वाले, हजारों स्त्रियों के साथ विषय-विलास करने वाले, देवताओं द्वारा सेवित चक्रवर्ती राजा भी सुखी नहीं है। असीम सम्पदा के स्वामी, विशाल कुटुम्ब वाले श्रीमान् राजमान्य सेठ-साहूकार भी सुखी नहीं हैं। लाखों हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकों के स्वामी—सेनापति—भी सुखी नहीं हैं। अर्थात् इस संसार से उत्कृष्ट के उत्कृष्ट सम्पदा के अधिपति भी सच्चे सुख के पात्र नहीं हैं। अगर कोई सुखी है तो केवल वीतराग मुनि ही सुखी हैं।

यह शास्त्र की वाणी सच्चे सुख की झाँकी दिखलाती है। जहाँ आशा है, तृष्णा है, राग-द्वेष है, वहाँ सुख नहीं है। पर-पदार्थों के संयोग से सुख की आशा करना बालू में से तेल निकालने की आशा करने के समान है। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों पर-पदार्थों से सम्बन्ध हटता जाता है त्यों-त्यों सुख की प्राप्ति होती है। जब मनुष्य संसार के समस्त पदार्थों के साथ संयोग का त्याग कर देता है; पूर्ण निष्पृह हो जाता है, तब उसे निराकुलता का अनिर्वचनीय सुख प्राप्त होता है। यही धर्म की स्पर्शना है। जो धर्म की स्पर्शना करता है अर्थात् सम्पूर्ण चारित्र को ग्रहण करता है, उसी का मनुष्य भव, आर्यक्षेत्र आदि पूर्वोक्त सब सामग्री का पाना सार्थक होता है।

मोक्षप्राप्ति के लिए क्रम से पूर्वोक्त दस साधनों की आवश्यकता होती है। इन साधनों के अभाव में मुमुक्षु जनों के अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती। किन्तु इन साधनों की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। आप अपनी स्थिति पर विचार कीजिए। अनन्तानन्त पुण्योदय से इस समय आपको यह साधन प्राप्त हुए हैं। यथोचित लाभ उठा लेना और परम सुखी बन जाना अब आपके हाथ में है। अगर आप यह अवसर चूक जाते हैं तो फिर ऐसा स्वर्ण अवसर मिलना दुर्लभ होगा।




प्रकरण
२

सूत्रधर्म



पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अण्णाणी किं काही, किं वा नाहीइ सेयपावगं॥

—दशवैकालिक, अ० ४

अर्थात्—पहले ज्ञान प्राप्त हो तो फिर दया-संयम का पालन किया जाता है। संसार में जितने भी संयत हैं, वे सभी इसी प्रकार संस्थित हैं। जो बेचारे अज्ञानी हैं वे क्या कर सकते हैं! वे अपने कल्याण और अकल्याण को कैसे समझ सकते हैं? उन बेचारों को यह समझ नहीं होती कि मेरी आत्मा के कल्याण का उपाय क्या है और किस उपाय से हम दुःख से बच सकेंगे?* अतएव सुखार्थियों को सबसे पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। कहा है:—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥

—श्रीउत्तराध्ययनसूत्र, अ० ३

---

* *अन्यत्र भी कहा है:—*

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते, कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदं।
लक्ष्मीस्तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं, किं किन्न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

विद्या से क्या-क्या लाभ नहीं होता? वह माता की भाँति रक्षा करती है, पिता की तरह हित में प्रवृत्त करती है, स्त्री के समान खेद को हरण करके आनन्द देती है, लक्ष्मी की प्राप्ति कराती है, संसार में कीर्ति फैलाती है। इस प्रकार सद्विद्या कल्पलता के समान है।

अर्थात्—विश्व के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही है। ज्ञान के द्वारा ही जीव और अजीव रूप वस्तुओं का स्वरूप समझा जाता है। जब आत्मा में ज्ञान का दिव्य प्रकाश उदित होता है तो अज्ञान और मोह का नाश हो जाता है। इससे राग और द्वेष का क्षय होता है और राग-द्वेष का क्षय होने पर एकान्त सुख-स्वरूप मुक्तदशा प्राप्त होती है।

अक्षय और शाश्वत सुख के इच्छुक मुमुक्षु जनों को, जब तक सर्वज्ञता (केवलज्ञान) प्राप्त न हो तब तक सर्वज्ञता प्राप्त कराने वाले श्रुतज्ञान का यथाशक्ति अवश्य ही अभ्यास करना चाहिए, जिससे इच्छित अर्थ की प्राप्ति हो सके।

श्रुतज्ञान भी अपार और अनन्त है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकना आज सम्भव नहीं है। अतएव मुमुक्षु पुरुषों के लिए जिस श्रुतज्ञान की खास आवश्यकता है, उसका स्वरूप संक्षेप में दिखलाया जाता है।

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव॥
तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥

अर्थात्—जीव, अजीव, बंध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, यह नौ तत्त्व हैं। इन नौ तत्त्वों को जो स्वभाव से अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से, जातिस्मरण आदि ज्ञान प्राप्त करके गुरु आदि के उपदेश के बिना ही जानता है अथवा गुरु आदि के उपदेश से जो जानता है, उसी को सम्यक्त्वी समझना चाहिए। अर्थात् जो इन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानता है वही सम्यग्दृष्टि हो सकता है। सम्यक्त्व, मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है। समकित के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव मुमुक्षु जनों को सर्वप्रथम नौ तत्त्वों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। इसलिए यहाँ नौ तत्त्वों का स्वरूप नय-निक्षेप आदि से दिखलाया गया है।

जीव तत्त्व



जीव का स्वरूप

जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञान और दर्शन गुण पाया जाय उसे जीव कहते हैं। जीव अनादि अनन्त शाश्वत पदार्थ है। न कभी किसी ने उसे बनाया है और न कभी उसका विनाश होता है। अर्थात् जीव स्वयंसिद्ध है। सदा काल जीवित रहने से वह 'जीव' कहलाता है। जिस प्रकार अग्नि का गुण प्रकाश या उष्णता अग्नि से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जीव का गुण चेतना जीव से पृथक् नहीं है। सभी जीव केवलज्ञान और केवल-दर्शन की योग्यता के धारक हैं; किन्तु जैसे मेघों से आच्छादित सूर्य का प्रकाश ढँक जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि के कर्मपुद्गलों से संसारी जीव के ज्ञान-दर्शन गुण ढँके हुए हैं। फिर भी सघन से सघन मेघों द्वारा आच्छादित सूर्य रात और दिन का विभाग दिखलाता है, उसी प्रकार निविडतर कर्मों से आच्छादित आत्मा भी अपने ज्ञानादि गुणों को किसी न किसी अंश में अवश्य प्रकाशित करता है। अर्थात् जीव को चेतना का सदैव-निरन्तर प्रतिभास बना रहता है। मेघों को चीर कर जैसे सूर्य की किरणें प्रकट होती हैं, उसी प्रकार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञान हैं और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा अवधिदर्शन हैं। ऐसा कोई संसारी जीव नहीं है जो मति-श्रुत ज्ञान और अचक्षुदर्शन से रहित हो। जैसे रंगीन काच में से सूर्य की किरण का प्रकाश स्वच्छता-रहित, काच के रंग जैसा ही लाल या हरा आदि पड़ता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान का विपरीत प्रकाश पड़ता है।

जीव ज्ञान-दर्शन का धारक होने से ही चेतन कहलाता है। अपने चेतना गुण के कारण ही वह सुख-दुःख का वेदन करता है। इस वेदना के कारण कर्म से बँधता भी है और छूटता भी है। इस तरह क्रम-क्रम से कोई जीव कर्म रूपी सब बादलों को दूर करके अपने सम्पूर्ण निज गुणों को प्रकट

करके केवलज्ञान और केवलदर्शनमय परमात्मा बन जाता है। इस कारण आत्मा अनन्त शक्तिमान् कहलाता है।

जैसे जड़ परमाणुओं के संयोग से स्कंध बनता है, उसी प्रकार असंख्यात प्रदेशों का समूह जीव है। परमाणुओं का संयोग-वियोग होता है किन्तु आत्मा के प्रदेशों का संयोग-वियोग नहीं होता। आत्मा अपने स्वभाव से ही, अनादिकाल से असंख्यात प्रदेशी है और अनन्तकाल तक रहेगा। वह असंख्यात प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड है।

जीव के भेद



श्री ठाणांगसूत्र में, द्वितीय ठाणे में, दो प्रकार के जीव कहे हैं—'रूवी जीवा चेव, अरूवी जीवा चेव।' अर्थात् जो कर्मरहित शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप सिद्ध परमात्मा हैं वे अरूपी हैं। अरूपी होने के कारण रूपी कर्म उनका स्पर्श नहीं कर सकते हैं। इस कारण उनके स्वभाव में कभी विकार नहीं होता। वे सदा काल अपने शुद्ध स्वरूप में ही स्थित रहेंगे। संसारी जीव कथंचित् रूपी हैं। जैसे खदान का सोना अनादि काल से मिट्टी के सम्बन्ध का धारक है, उसी प्रकार संसारी जीव भी अनादि काल से कर्म-पुद्गलों से स्पृष्ट और बद्ध है। पहले के बँधे हुए कर्मों के कारण ही नवीन कर्मों का आकर्षण होता है और पुद्गलों की न्यूनाधिकता के ही कारण जीव में गुरुत्व-लघुत्व आता है। इस गुरुता और लघुता के प्रभाव से जीव को उच्च और नीच योनियाँ प्राप्त होती हैं। उसे नाना प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं और शरीरों के कारण उसका रूपान्तर होता है। यह रूपान्तर ही जीव की पर्याय कहलाती है। तात्पर्य यह है कि कर्मयुक्त (संसारी) जीव अनेक प्रकार के रूप धारण करते हैं। यों तो जीवों के अनन्त भेद हैं, किन्तु मुमुक्षु जीव सरलता से समझ सकें, इस प्रयोजन से शास्त्र में परिमित संख्या में उनका समावेश किया गया है। विभिन्न अपेक्षाओं से जीवों के भेद अनेक प्रकार के होते हैं। यथाः—

(१) एक भेद—सब जीवों का चेतना लक्षण एक होने से जीव एक प्रकार का है।

(२) दो भेद—जीवों के दो भेद हैं—सिद्ध और संसारी।

(३) तीन भेद—सिद्ध, त्रस और स्थावर।

(४) चार भेद—स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी और अवेदी।

(५) पाँच भेद—सिद्ध, मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारकी।

(६) छह भेद—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय।

(७) सात भेद—पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और अकाय।

(८) आठ भेद—नारक, तिर्यन्च, तिर्यन्चनी, मनुष्य, मनुष्यनी, देव, देवांगना और सिद्ध।

(९) नौ भेद—नारक, तिर्यन्च, मनुष्य, देव इनके पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से ८ भेद और ९ में सिद्ध जीव।

(१०) दस भेद—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, सिद्ध।

(११) ग्यारह भेद—एकेन्द्रिय, द्वीद्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रीय, पंचेन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से दस और ग्यारहवें सिद्ध जीव।

(१२) बारह भेद—पाँच स्थावरों के सूक्ष्म और बादर के भेद से दस भेद, ग्यारहवें त्रस और बारहवें सिद्ध।

(१३) तेरह भेद—षट्काय के पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से बारह और १३वें सिद्ध जीव।

(१४) चौदह भेद—नारक, तिर्यञ्च, तिर्यञ्चनी, मनुष्य, मनुष्यनी, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक यह चारों देव और इनकी चार देवांगना मिलकर १३ और चौदहवें सिद्ध जीव।

(१५) पन्द्रह भेद—सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी* पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन सात के अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से चौदह और पन्द्रहवें सिद्ध। संसारी जीवों के एक अपेक्षा से ५६३ भेद होते हैं। वे नीचे लिखे जाते हैं।

नारकों के चौदह भेद



(१) घम्मा (२) वंशा (३) सीला (४) अंजना (५) रिष्टा (६) मघा और (७) माघवती, इन सात नरकों में रहने वाले नारक जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से नारक जीव चौदह प्रकार के हैं।

तिर्यंच के ४८ भेद



(१) इंदी थावरकाय (पृथ्वीकाय) के चार भेद—(१) सूक्ष्मपृथ्वीकाय, जो समस्त लोक में काजल की कुप्पी के समान ठसाठस भरे हुए हैं, किन्तु अपनी दृष्टि के गोचर नहीं होते। (२) बादर पृथ्वीकाय, जो लोक के देश-विभाग में रहते हैं, जिनमें से हम किसी-किसी को देख सकते हैं और किसी-किसी को नहीं देख सकते। इन दोनों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त के भेद से पृथ्वीकाय जीवों के चार भेद होते हैं। इनमें से बादर पृथ्वीकाय के विशेष भेद इस प्रकार हैं:—(१) काली मिट्टी (२) नीली मिट्टी (३) लाल मिट्टी (४) पीली मिट्टी (५) सफेद मिट्टी (६) पाण्डु और (७) गोपीचन्दन; इस तरह कोमल मिट्टी के सात प्रकार हैं। और (१) खान की मिट्टी (२) मुरड़ (३) रेत-बालू (४) पाषाण (५) शिला (६) नमक (७) समुद्री खार (८) लोहे की मिट्टी (९) तांबे की मिट्टी (१०) तरुआ की मिट्टी (११) शीशे

---

* *जिसमें हिताहित सोचने की विशेष संज्ञा नहीं होती वे असंज्ञी और जिनमें वह संज्ञा होती है वे संज्ञी कहलाते हैं। सब देव, सब नारकी, गर्भज मनुष्य एवं तिर्यञ्च संज्ञी होते हैं। इनके सिवाय अन्य सब जीव असंज्ञी होते हैं।*

की मिट्टी (१२) चांदी की मिट्टी (१३) सोने की मिट्टी (१४) वज्र-हीरा (१५) हड़ताल (१६) हिंगलु (१७) मैनसिल (१८) रत्न (१६) सुरमा (२०) प्रवालमूँगा (२१) अभ्रक (भोडल) और (२२) पारा। यह २२ भेद कठिन पृथ्वी के हैं।

इनमें से रत्न अठारह प्रकार के कहे हैं—[१] गोमेद [२] रुचक [३] अंक [४] स्फटिक [५] लोहिताक्ष [६] मरकत [७] मसलग [८] भुज-मोचक [६] इन्द्रनील [१०] चन्द्रनील [११] गेरुक [१२] हंसगर्भ [१३] पोलक [१४] चन्द्रप्रभ [१५] वैडूर्य [१६] जलकान्त [१७] सूर्यकान्त [१८] सुगन्धी रत्न। इस प्रकार पृथ्वीकाय के अनेक भेद जानने चाहिए।

(२) बंभी थावरकाय (अप्काय) के चार भेद हैं—[१] समस्त लोक में व्याप्त सूक्ष्म अप्काय [२] लोक के देशविभाग में दृष्टिगोचर होने वाला बादर अप्काय; इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार भेद होते हैं। बादर अप्काय के विशेष भेद यह हैं—[१] वर्षा का पानी [२] सदा रात्रि को बरसने वाला ठार का पानी [३] बारीक-बारीक बूँद बरसने वाला (मेघरवे का) पानी [४] धूमर (शबनम) का पानी [५] ओले [६] ओस [७] गर्म पानी (पृथ्वी से कई जगह गन्धक की खान आदि के प्रभाव से कुदरती गर्म पानी निकलता है, वह भी सचित्त होता है), [६] लवणसमुद्र का तथा कुँआ आदि का खारा पानी [१०] खट्टा पानी [११] दूध जैसा (क्षीर समुद्र का) पानी [१२] वारुणी का मदिरा के समान पानी [१३] घी जैसा (घृतवर समुद्र का) पानी [१४] मीठा पानी (कालोदधि समुद्र का), [१५] इक्षु सरीखा पानी (असंख्यात समुद्रों का पानी ऐसा होता है), इत्यादि अनेक प्रकार का पानी है।

(३) सप्पि थावरकाय (तेजस्काय)—इसका पहला भेद सूक्ष्म तेजस्काय है। इस काय के जीव सारे लोकाकाश में ठसाठस भरे हैं। सूक्ष्म तेजस्काय के दो भेद हैं—अपर्याप्त और पर्याप्त। दूसरा भेद बादर तेजस्काय है। बादर तेजस्काय लोक के देशविभाग (अमुक भाग) में रहता है। इसके भी अपर्याप्त और पर्याप्त—यह दो भाग हैं। बादर तेजस्काय के १४

प्रकार प्रधान हैं—[१] भोभर की अग्नि [२] कुंभार के अलाव (अवा) की अग्नि [३] टूटती ज्वाला [४] अखण्ड ज्वाला [५] चकमक की अग्नि [६] बिजली की अग्नि [८] खिरने वाले तारे की अग्नि [८] आरणि की लकड़ी से पैदा होने वाली अग्नि [९] बाँस की अग्नि [१०] काठ की अग्नि [११] सूर्यकान्त काच की अग्नि [१२] दावानल की अग्नि [१३] उल्कापात (आकाश से गिरने वाली) अग्नि [१४] वडवानल-समुद्र के पानी का शोषण करने वाली अग्नि। इस प्रकार अग्निकाय के मुख्य चार भाग हैं।

(४) सुमति थावरकाय (वायुकाय) के मुख्य चार भेद हैं—सूक्ष्म और बादर के पर्याप्त और अपर्याप्त। अर्थात् सूक्ष्म वायुकाय पर्याप्त, सूक्ष्म वायुकाय अपर्याप्त, बादर वायुकाय अपर्याप्त, बादर वायुकाय पर्याप्त, बादर वायुकाय अपर्याप्त। सूक्ष्म वायु समस्त लोक में ठसाठस भरा है। बादर वायुकाय लोक के देशविभाग में होता है। बादर वायुकाय सोलह प्रकार का है—[१] पूर्व का वायु [२] पश्चिम का वायु [३] उत्तर का वायु [४] दक्षिण का वायु [५] ऊँची दिशा का वायु [६] नीची दिशा का वायु [७] तिर्छी दिशा का वायु [८] विदिशा का वायु [९] भ्रमर वायु (चक्कर खाने वाला वायु), [१०] चारों कोनों फिरने वाला मण्डलवायु [११] गुंडल वायु—ऊँचा चढ़ने वाला [१२] गुंजन करने वाला वायु [१३] झाड़ आदि को उखाड़ देने वाला झंझावायु [१४] शुद्ध वायु (धीमा-धीमा चलने वाला), [१५] घन वायु [१६] तनुवायु (यह दो प्रकार के वायु नरक और स्वर्ग के नीचे हैं। इत्यादि अनेक प्रकार का वायु है।

(५) पयावच्च थावरकाय (वनस्पतिकाय) के मुख्य छह भेद हैं—[१] सर्वलोक में व्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय [२] लोक के देशविभाग में रहने वाला बादर वनस्पतिकाय। बादर वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—प्रत्येक शरीर (जिस वनस्पति से एक शरीर में एक ही जीव हो) और साधारण शरीर (जिसके एक शरीर में अनन्त जीव हों)। इस प्रकार सूक्ष्म, प्रत्येक और साधारण के अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से छह भेद हो जाते हैं।

वनस्पतिकाय के विशेष भेद इस प्रकार हैं:—प्रत्येक वनस्पति के

बारह भेद हैं—[१] वृक्ष [२] गुच्छ [३] गुल्म [४] लता [५] वल्ली [६] तृण [७] वल्लया [८] पव्वया [९] कुहण [१०] जलवृक्ष [११] औषधि और [१२] हरितकाय। इनमें से वृक्ष के दो भेद हैं—एक बीज वाले और बहुत बीजों वाले। हरड़, बहेड़ा, आँवला, अरीठा, भिलावा, आसापालव, आम, जामुन, बेर, महुवा, खिरनी आदि के वृक्ष एक बीज वाले (गुठली वाले) होते हैं। जायफल, सीताफल, अनार, बिल्वफल, कपित्थ (कविठ-कैथ), केर, नींबू, तेंदू (टीमरू) आदि बहुबीज वाले है। रिंगनी, जवासा, तुलसी, पुंवाड़ा आदि पौधे गुच्छ कहलाते है। सोजाई, जुही, केतकी, केवड़ा, गुलाब आदि अनेक प्रकार के फूलों के झाड़ गुल्म कहलाते हैं। नागलता, अशोकलता, पद्म-लता, आदि अनेक प्रकार के जमीन पर फैल कर ऊँचे जाने वाले झाड़ लता कहलाते हैं। तोरई, ककड़ी, करेला, किंकोड़ा, तूँबा, खरबूजा आदि अनेक प्रकार की बेलें वल्ली कहलाती हैं। घास, दूब, डाभ आदि घास को तृण कहते हैं। सुपारी, खजूर, दालचीनी, तमाल, नारियल, इलायची, लौंग, ताड़, केले आदि अनेक प्रकार के वृक्ष, जो ऊपर जाकर गोलाकार बनते हैं, वल्लया कहलाते हैं। ईख, एरंड, बेत, बांस आदि जिनके मध्य में गाँठें हों, पव्वया कहलाते हैं। वेल्ली के वेले, कुत्ते के टोप आदि, जमीन फोड़ कर निकलने वाले 'कुहाण' कहलाते हैं। कमल, सिंघोड़ा, सेवार आदि पानी में उत्पन्न होने वाली वनस्पति को जलवृक्ष कहते हैं। [१] गोधूम (गेहूं), [२] जौ [३] जवार [४] बाजरी [५] शालि [६] वरटी [७] राल [८] कांगनी [९] कोद्रव [१०] वरी [११] मणची [१२] मकई [१३] कुरी [१४] अलसी। इनकी दाल न होने से यह १४ प्रकार के लहा धान्य कहलाते हैं और [१] तुअर [२] मौंठ [३] उड़द [४] मूँग [५] चँवला [६] वटरा [७] तेवड़ा [८] कुलथी [९] मसूर और [१०] चना; यह दस प्रकार के धान्य कठोल कहलाते हैं, क्योंकि इनकी दाल होती है। यह सब २४ प्रकार के धान्य औषधि कहलाते हैं। तथा मूला की भाजी, मैथी की भाजी, बथुवे की भाजी, चंदलाई की भाजी, सुवा की भाजी आदि अनेक प्रकार की भाजी रूप वनस्पति हरितकाय कहलाती हैं।

यह सब प्रत्येक वनस्पति के भेद हैं। प्रत्येक वनस्पति में उत्पत्ति के

समय अनन्त जीव पाये जाते हैं, जब तक वह हरी रहे तब तक असंख्यात जीव पाये जाते हैं और पकने के बाद जितने बीज होते हैं उतने ही जीव या संख्यात जीव रहते हैं।

साधारण वनस्पतिकाय का वर्णन इस प्रकार है:—मूली, अदरख, आलू, पिण्डालु, कांदे, लहसुन, गाजर, शकरकन्द, सूरणकन्द, वज्रकन्द, मूसली, खुरसाणी, अमरवेल, थूहर, हल्दी आदि साधारण वनस्पति हैं। सुई की नौंक पर समा जाने वाले साधारण वनस्पति के छोटे से टुकड़े में, निगोदिया जीवों के रहने की असंख्यात श्रेणियाँ (बड़े शहर में होने वाली मकानों की कतार के समान) हैं। प्रत्येक श्रेणी में घरों की मंजिलों के समान असंख्यात प्रतर हैं। जिस प्रकार मंजिलों में कमरे होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक प्रतर में असंख्यात गोले हैं। और जैसे कमरे में कोठरियाँ होती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक गोले में असंख्यात शरीर हैं और जैसे कोठरियों में मनुष्य रहते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक जीव में अनन्तानन्त जीव हैं।*

इस प्रकार निगोदिया जीवों के पाँच अण्डर कहे जाते हैं। निगोदिया जीव मनुष्य के एक श्वासोच्छ्वास-काल जितने स्वल्प काल में १७॥ बार जन्म लेकर मरते हैं और एक मुहूर्त्त में (४८ मिनिट में) ६५५३६ बार जन्म-मरण के कष्ट भोगते हैं।× पृथ्वी के भीतर रहा हुआ कन्द कभी पकता नहीं है। जैसे विशेष प्रसंग पर सगर्भा स्त्री का पेट चीर कर बच्चा निकाला जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी को विदारण करके कन्द निकाला जाता है। इसलिए जैन और

---

* सुई के अग्रभाग जितनी थोड़ी सी जगह में इतने जीवों का समावेश किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यह है—मान लीजिए एक करोड़ औषधियाँ एकत्र करके उसका चूर्ण बनाया हो या अर्क निकाल कर तेल बनाया हो और उसे सुई के अग्रभाग पर रक्खा जाय; तो जैसे सुई के अग्रभाग पर करोड़ औषधियाँ समा जाती हैं, उसी प्रकार अनन्तानन्त जीवों का भी समावेश हो सकता है।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मुद्रिका में लगाये हुए बाजरे के दाने जितने काच में कई मनुष्यों के फोटो प्रतिबिम्बित होते हैं। जब स्थूल वस्तुओं में स्थूल वस्तुओं का इस प्रकार समावेश हो जाता है तो सूक्ष्म जीवों के समावेश होने में क्या आश्चर्य है?

× पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के जीव १२८२४ जन्म-मरण करते हैं; प्रत्येक वनस्पतिकाय के ३२०००, द्वीन्द्रिय के ८०, त्रीन्द्रिय के ६०, चौइन्द्रिय के ४०, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के २४ और संज्ञी पंचेन्द्रिय का जीव एक जन्म-मरण करते हैं।

वैष्णव धर्म के शास्त्रों में इसे अभक्ष्य अर्थात् खाने के अयोग्य कहा है। यह स्थावर तिर्यंच के २२ भेद हैं।

(६) जंगमकाय (त्रसजीव)—त्रस जीवों की उत्पत्ति के आठ स्थान हैं। उन स्थानों के कारण त्रस जीवों के भी आठ भेद हैं। वे इस प्रकारः—(१) अण्डज—अंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी आदि। (२) पोतज—जनमते ही चलने भागने वाले हाथी आदि प्राणी। (३) जरायुज—जर (जेर) से उत्पन्न होने वाले गौ, मनुष्य आदि प्राणी। (४) रसज—रस में उत्पन्न होने वाले कीड़े। (५) संस्वेदज—पसीने में उत्पन्न होने वाले जूं आदि प्राणी। (६) सम्मूर्च्छिम—बिना माता पिता के संयोग के, इधर-उधर के पुद्गलों के मिलने से उत्पन्न हो जाने वाले मक्खी आदि प्राणी। (७) उद्भिज—ज़मीन फोड़ कर निकलने वाले पतंगे आदि। (८) औपपातिक—उपपात शय्या में तथा नारकीय बिलों में उत्पन्न होने वाले देव और नारकी।

त्रसजीवों का लक्षण इस प्रकार है—(१) अभिक्कंतं—सामने आना (२) पडिकंतं—पीछे लौटना (३) संकुचियं—शरीर को सिकोड़ना (४) पसारियं—शरीर को फैलाना (५) रुयं—बोलना या रोना, (६) भंतं—भयभीत होना (७) तसियं—त्रास पाना (८) पलाइयं—भागना (६) आगइगइ—आवागमन करना। इन लक्षणों से त्रसजीव की पहचान होती है।

त्रस तिर्यंच के २६ भेद इस प्रकार हैं:—(१) द्वीन्द्रिय—शंख, सीप, कौड़ी, गिंडोला, लट, अलसिया, जलोक, पोरे, कृमि आदि स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों के धारक जीव द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। यह अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। (२) त्रीन्द्रिय—जूँ, लीख, कीड़ी, खटमल, कुंथवा, धनेरा, इल्ली, उदेई (दीमक), मकोड़े, गधइये आदि काया, मुख और नाक—इन तीन इन्द्रियों के धारक जीव त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। यह भी दो प्रकार के हैं—अपर्याप्त और पर्याप्त। (३) चतुरिन्द्रिय—डाँस, मच्छर, मक्खी, टिड्डी, पतंग, भ्रमर, बिच्छू, कंकड़ा, मकड़ी, बघई, कंसारी आदि कान, मुख, नाक और आँख, इन चार इन्द्रियों के धारक जीव

चौइन्द्रिय हैं। यह भी दो प्रकार हैं—अपर्याप्त और पर्याप्त। यह तीनों प्रकार के त्रस जीव विकलेन्द्रिय या विकलत्रस कहलाते हैं। विकलेन्द्रिय पूर्वोक्त छह भेद हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के बीस भेद हैं—(१) जलचर अर्थात् पानी में रहने वाले मतय आदि जीव। इनके चार भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी के पर्याप्त तथा अपर्याप्त। जलचर जीवों के कुछ विशेष यह हैं—मच्छ, कच्छ, मगर, सुंसुमार, कछुवा, मेंढक आदि।

(२) स्थलचर—पृथ्वी पर चलते-रहने वाले जीव। इनके भी जलचर के समान संज्ञी, असंज्ञी के पर्याप्त, अपर्याप्त यह चार भेद हैं। स्थलचरों के कुछ विशेष नाम यह हैं—एक खुर वाले, घोड़े, गधे, खच्चर आदि। दो खुर (फटे खुर) वाले—गाय, भैंस, बकरा, हिरन आदि। (क) गंडीपद—सुनार के एरन के समान गोल पैरों वाले हाथी, गेंडा आदि। (ख) सणपद—पंचे वाले सिंह, चीता, कुत्ता, बिल्ली, बन्दर आदि।

(३) खेचर—आकाश में उड़ने वाले। इनके भी चार भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी के पर्याप्त तथा अपर्याप्त। खेचर के विशेष नाम यह हैं—(क) रोमपत्ती अर्थात् बालों के पङ्ख वाले, जैसे—तोता, मैना, कौआ, चिड़िया, कमेडी, कबूतर, चील, बगुला, बाज, हौल, चण्डूल, जलकुक्कुर आदि। (१) चर्मपत्ती अर्थात् चमड़े के पंख वाले, जैसे—चमगादड़, वटवगुला आदि। (ग) सामन्तपत्ती अर्थात् डिब्बे के समान, भिड़े हुए गोल पंखों वाले, (घ) विततपत्ती—विचित्र प्रकार के पंखों वाले। यह अन्तिम दो प्रकार के पत्ती अढ़ाई द्वीप के बाहर होते हैं।

(४) उरःपरिसर्प—हृदय के बल से चलने वाले सर्प आदि प्राणी। इनके भी चार भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी तथा इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त। उरःपरिसर्प के कुछ विशेष नाम यह हैं:—(१) अहि (सर्प), इनमें कोई फन वाले होते हैं और कोई बिना फन के होते हैं। यह सर्प पाँचों ही वर्णों के होते हैं। (२) अजगर—जो मनुष्य आदि को भी निगल जाते हैं।

(३) अलसिया—जो बड़ी सेना* के नीचे उत्पन्न हो। (४) महोरग—लम्बी अवगाहना वाला, जिसकी लम्बी से लम्बी एक हजार योजन की अवगाहना होती है।

(५) भुजपरिसर्प—भुजाओं के बल से चलने वाले जीव; जैसे—चूहा, नेवला, घूँस, काकीड़ा, बिस्मरा, गिरोली, गोह, गुहेरा आदि। इनके भी दो भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो भेद होते हैं।

इस प्रकार ५×४=२० भेद तिर्यन्च पंचेन्द्रिय के समझने चाहिए। सब मिल कर २२+६+२०=४८ भेद तिर्यन्चों के हुए।

मनुष्यों के ३०३ भेद

●

मनुष्यों के मुख्य दो भेद हैं—गर्भज और सम्मूर्च्छिम। इनमें से गर्भज मनुष्य १०१ प्रकार के हैं—१५ कर्मभूमिज, ३० अकर्मभूमिज और ५६ अन्तर्द्वीपज। इन १०१ मनुष्यों के पर्याप्त तथा अपर्याप्त के भेद से २०२ भेद हो जाते हैं। इन १०१ प्रकार के गर्भज मनुष्यों के मल-मूत्र आदि १४ प्रकार के मलों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं। यह अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं, अतएव उनके १०१ भेद ही होते हैं। इस प्रकार २०२ गर्भज और १०१ सम्मूर्च्छिम मिलकर ३०३ भेद मनुष्यों के होते हैं। इनका कुछ विस्तार इस प्रकार है:—

गर्भज मनुष्यों के भेद में १५ भेद कर्मभूमिज के बताये जाते हैं, अतः कर्मभूमि का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। जहाँ असि (हथियार) मषि (लेखन-व्यापार आदि) और कसि (कृषि-खेतीबाड़ी) कर्म करके मनुष्य अपना

* चक्रवर्ती तथा वासुदेव के पुण्य का क्षय होने पर उनके घोड़े की लीद में १२ योजन (४८ कोस) लम्बे शरीर वाला अलसिया उत्पन्न होता है। उसके तड़फड़ाने से पृथ्वी में बड़ा-सा गड़हा हो जाता है। उस गड़हे में सारी सेना, कुटुम्ब एवं ग्राम दफ कर नष्ट हो जाता है।

जीवननिर्वाह करते हैं, वह कर्मभूमि कहलाती है। ऐसी कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं—पाँच भरत (एक जम्बूद्वीप का, दो धातकीखण्डद्वीप के और दो पुष्करार्ध द्वीप के), पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह।

जहाँ असि, मसि, कृषि रूप कर्म नहीं हैं, किन्तु दस प्रकार के कल्पवृक्षों* से मनुष्यों का निर्वाह होता है, वह भूमि अकर्मभूमि कहलाती है। ऐसी अकर्मभूमियाँ ३० हैं:—पाँच देवकुरु, पाँच उत्तर कुरु, पाँच हरिवास, पाँच रम्यकवास, पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत। यहाँ पाँच-पाँच जो क्षेत्र गिनाये हैं वे पहले की भाँति एक-एक जम्बूद्वीप में, दो-दो धातकीखंड में और दो-दो पुष्करार्धद्वीप में हैं।

हिमवान पर्वत की तथा शिखरिपर्वत की लवणसमुद्र में पूर्व और पश्चिम दिशा में चार-चार दाढ़ाएँ हैं। इन दाढ़ाओं पर सात-सात के हिसाब से सब मिल कर छप्पन अन्तर्द्वीप हैं। इनमें रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज मनुष्य कहलाते हैं। अन्तर्द्वीपज मनुष्य भी अकर्मभूमि के मनुष्यों की तरह दस प्रकार के कल्पवृक्षों के द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करके निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार १५ अकर्मभूमियों के, ३० अकर्मभूमियों के और ५६ अन्तर्द्वीपों के मिलकर गर्भज मनुष्य १०१ प्रकार के हैं। पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से वे २०२ प्रकार के होते हैं और पूर्वोक्त १०१ सम्मूर्छिम+ मनुष्यों को इनमें मिला देने पर कुल मनुष्य ३०३ प्रकार के हैं।

---

*कल्पवृक्षों सम्बन्धी कथन प्रथम खण्ड में, छह आरा का स्वरूप बताते समय विचारपूर्वक किया गया है। वहाँ देख लेना चाहिए।

+ संमूर्छित जीवों की उत्पत्ति के १४ स्थान यह हैं—(१) विष्ठा (२) मूत्र (३) कफ (४) सेड़ा—नाक का मैल (५) वमन (६) पित्त (७) रसी—पूयपीव (८) शोणित (९) शुक्र (१०) सूखे हुए वीर्य आदि के फिर गीले हुए पुद्गल (११) मृतक का कलेवर—मुर्दा शरीर (१२) स्त्री-पुरुष का संयोग (१३) नगर की मोरियाँ-नालियाँ (१४) अन्य सब अशुचि के स्थान। यह चौदह वस्तुएँ जब मनुष्य के शरीर से अलग होती हैं तो अन्तमुहूर्त्त जितने समय में उनमें असंख्यात संमूर्छित मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं और मर जाते हैं। उनका स्पर्श करने से भी असंख्यात संमूर्छित मनुष्यों की घात होती है। अतः अशुचि के स्थानक की यतना की जाय तो द्रव्य और भाव से बहुत लाभ होगा।

देवों के १६८ भेद



१० भवनपति देव, १५ परमधामी देव, १६ वाणव्यन्तर देव, १० जृम्भक देव, १० ज्योतिष्क देव, ३ किल्विषी देव, १२ कल्पोपपन्न वैमानिक देव, ९ ग्रैवेयक-देव और ५ अनुत्तरविमान के देव, यह सब मिलकर ९९ प्रकार के देव हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो भेद होते हैं। सब ९९×२=१९८ देवों के भेद हुए।*

नारकों के १४, तिर्यन्चों के ४८, मनुष्यों के ३०३ और देवों के १९८ भेद मिल कर ५६३ भेद जीवतत्त्व के हुए। यों देखा जाय तो जीव के उत्कृष्ट भेद अनन्त हैं, किन्तु मध्यम रूप से ५६३ भेद कहे हैं। यह जीव तत्त्व ज्ञेय है।

२—अजीव तत्त्व



अजीव तत्त्व का स्वरूप—जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व अजीव है। वह जड़ अर्थात् चेतना से हीन, अकर्त्ता, अभोक्ता, अनादि, अनन्त सदा शाश्वत है। वह सदा काल निर्जीव रहने से अजीव कहलाता है।

अजीव तत्त्व के भेद—अजीव तत्त्व मूलतः दो प्रकार का है—(१) अरूपी और (२) रूपी। अरूपी के चार भेद हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल। रूपी एक मात्र आकाशास्तिकाय है। वर्ण, रस, गंध और स्पर्श, यह रूपी पुद्गल के गुण हैं। यह गुण पुद्गल से कभी अलग नहीं होते। एक परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श पाये जाते हैं। द्विप्रदेशी स्कंध (द्व्यणुक) में दो वर्ण, दो रस, दो गंध और चार स्पर्श होते हैं। जब परमाणुओं का संयोग होता है और

* समस्त देवों के विशेष विवरण के लिए देखिए प्रथम खण्ड का, द्वितीय प्रकरण।

उनका स्कंध बनता है तो उसमें ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान होते हैं।

जिस पुद्गल के छोटे से छोटे भाग के दो विभागों की कल्पना भी न हो सके ऐसा सूक्ष्मतम अजीव परमाणु कहलाता है। दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी स्कंध, तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी स्कंध, यावत् संख्यात परमाणु मिलने से संख्यातप्रदेशी स्कंध, असंख्यात परमाणु मिलने से असंख्यात प्रदेशी स्कंध और अनन्त परमाणुओं के मिलने से अनन्तप्रदेशी स्कंध कहलाता है। इन स्कंधों में भेद होने से न्यूनता होती है और संयोग होने से वृद्धि होती है। इस तरह पुद्गलों में भेद और संघात होते रहते हैं; मगर परमाणु का कभी नाश नहीं होता और किसी नवीन परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जो परमाणु सत् है वह कभी असत् नहीं होता और असत् परमाणु बन कर सत् नहीं होता; भले ही कभी परमाणु, परमाणु रूप में रहे अथवा स्कंध रूप में परिणत हो जाय; मगर उसका सर्वथा विनाश नहीं होगा। अनादि काल से जितने परमाणु हैं, उतने ही अनन्त काल तक रहेंगे।

अभव्य जीवों की राशि से अनन्त गुण अधिक और सिद्धराशि से अनन्तवें भाग कम परमाणुओं का जो स्कंध बनता है, वही आत्मा के ग्रहण करने योग्य होता है। ऐसे अनन्त पुद्गलस्कंन्धों से कर्मवर्गणा बनती है और अनन्त कर्मवर्गणाओं से कर्मप्रकृति बनती है। इस प्रकार जितने पुद्गल आत्मसंयोगी हैं, वे 'मिश्रसा' पुद्गल कहलाते हैं; और आत्मा से सम्बद्ध होकर जो पुद्गल अलग हो गये हैं, वे 'प्रयोगसा' पुद्गल कहलाते हैं; और जिन पुद्गलों का आत्मा के साथ संबंध नहीं हुआ है वे 'विस्रसा' पुद्गल कहलाते हैं। यह तीनों प्रकार के पुद्गल द्विप्रदेशी आदि स्कंध और परमाणु सम्पूर्ण लोक में अनन्तानन्त हैं; इस कारण पुद्गलों के भेद भी अनन्तानन्त हैं। परन्तु भव्यात्माओं को सरलता से बोध कराने के लिए अजीय के संक्षेप में १४ भेद कहे हैं और विस्तार से ५६० भेद कहे हैं।

अजीव तत्त्व के १४ भेदः—१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, इन तीनों के तीन-तीन भेद हैं। (१) स्कंध (धर्मास्तिकाय

और अधर्मास्तिकाय लोकव्यापक होने से इन दोनों के स्कंध लोकप्रमाण हैं और आकाशास्तिकाय लोकालोकव्यापी होने से उसका स्कंध लोकालोक-व्यापी है।), (२) देश (स्कंध का एक भाग), (३) प्रदेश (जिसके दो भाग न हो सकें)। इस प्रकार तीनों द्रव्यों के नौ और काल द्रव्य मिलकर अरूपी अजीव के दस भेद होते हैं। इनमें रूपी अजीव के चार भेद मिला देने से चौदह भेद हो जाते हैं। चार भेद यह हैं—(१) पुद्गलास्तिकाय का स्कंध, (२) पुद्गलास्तिकाय का देश, (३) पुद्गलास्तिकाय का प्रदेश और (४) पुद्गल-परमाणु। (स्कंध के साथ मिला हुआ परमाणु प्रदेश कहलाता है और जब वह अलग हो जाता है तो परमाणु कहलाता है।)

अजीव तत्त्व के विस्तार से ५६० भेद हैं। इन में अरूपी अजीव के ३० भेद और रूपी अजीव के ५३० भेद हैं।

अरूपी अजीव के भेद—दस भेद पहले कहे जा चुके हैं। उनके अतिरिक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण, यह पाँच बोल चारों के साथ लगाने से बीस भेद हो जाते हैं। और जैसे—धर्मास्तिकाय के पाँच भेद हैं। धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, काल से अनादि अनन्त है, भाव से अरूपी, अगंध अरस, और अस्पर्श है अर्थात् रूप आदि से रहित है; गुण से जीवों और पुद्गलों के गमन में सहायक है। अधर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, काल से अनादि-अनन्त है, भाव से रूप रस गंध स्पर्श से रहित है और गुण से जीवों तथा पुद्गलों की स्थिति में सहायक है। आकाशास्तिकाय के ५ भेद हैं—द्रव्य से आकाश एक ही है, क्षेत्र से लोक और अलोक में सर्वत्र व्याप्त है, काल से आदि-अन्त रहित है, भाव से अरूपी, अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है, गुण से अवगाहना-स्वभाव है अर्थात् अन्य सब द्रव्यों को अवकाश देता है। काल के पाँच भेद हैं—द्रव्य से अनेक हैं, क्षेत्र से व्यवहार काल अढ़ाई द्वीप के चन्द्र-सूर्य की गति के कारण समय, घड़ी, पहर, रात, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि सागरोपम तक गिना जाता है। अढ़ाई द्वीप से बाहर चन्द्र-सूर्य के स्थिर होने के कारण वहाँ रात्रि-दिन आदि का कोई

भेद नहीं है। नरक और स्वर्ग में भी रात-दिन आदि का विभाग नहीं है। फिर भी अढ़ाई द्वीप के काल की गणना के अनुसार वहाँ के जीवों की आयु आदि की गणना की जाती है। काल से काल द्रव्य आदि-अंत से रहित या अनादि अनन्त है—सदा से है और सदा ही रहेगा। भाव से अरूपी, अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है। गुण से पर्यायों का परिवर्त्तन कराने वाला, नये को पुराना करने वाला, और पुराने को खपाने वाला है; वर्त्तना लक्षण वाला है। इस तरह एक-एक अजीव के पाँच-पाँच भेद होने से ४×५=२० भेद हुए। पहले बतलाये हुए १० भेद इनमें शामिल कर देने से विस्तार से ३० भेद होते हैं। यह चारों अजीव द्रव्य सदा शाश्वत हैं। रूपी अजीव के ५३० भेद आगे बतलाये जाते हैं।

रूपी अजीव के भेद—रूपी अजीव ५३० प्रकार के हैं। पहले कहा जा चुका है कि रूपी अजीव सिर्फ पुद्गल है और उसमें पाँच वर्ण, दो गंध पाँच रस, पाँच संस्थान और आठ स्पर्श होते हैं।

काला, हरा, लाल, पीला और श्वेत, इन पाँचों वर्ण वाले पदार्थों में २ गंध, पाँच रस, ८ स्पर्श और पाँच संस्थान, यह बीस बोल पाये जाते हैं। अतः २०×५=१००भेद वर्णाश्रित हुए। सुरभिगंध और दुरभिगंध में ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श और पाँच संस्थान, यह २३ बोल पाये जाते हैं; अतः २३×२=४६ भेद गंधाश्रित हुए। मधुर, कड़क, तीखा, क्षार, और कषायला—इन पाँच रसों में ५ वर्ण, २ गंध, ८ स्पर्श और पाँच संस्थान, यह २० बोल पाये जाते हैं। अतः २०×५=१०० भेद रसाश्रित हुए। गुरु और लघु स्पर्श में ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस और (गुरु-लघु को छोड़ कर) ६ स्पर्श तथा ५ संस्थान यह २३ बोल पाये जाते हैं। अतः दोनों के ४६ भेद हुए। शीत और उष्ण स्पर्श में भी इसी प्रकार ४६ बोल पाये जाते हैं (भेद यह है कि यहाँ आठ स्पर्शों में से शीत और उष्ण स्पर्शों को छोड़ कर छह स्पर्श समझना चाहिए।) स्निग्ध और रूक्ष, कोमल तथा कठोर-इन में भी पूर्वोक्त प्रकार से छह-छह स्पर्श लेकर २३-२३ बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार २३×८=१८४ भेद स्पर्शाश्रित होते हैं।

पाँच संस्थान यह हैं—(१) वृत्त अर्थात् लड्डू जैसा गोल (२) त्र्यस्र अर्थात् सिंघाड़े की तरह तिकोना (३) चतुरस्र अर्थात् चौकी जैसा चौकोर (४) परिमंडल अर्थात् चूड़ी जैसा गोल और (५) आयत अर्थात् लकड़ी के समान लम्बा। इन पाँचों संस्थानों में ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस और ८ स्पर्श, यह बीस-बीस बोल पाये जाते हैं। अतः २०×५=१०० भेद संस्थान-आश्रित हुए। इस प्रकार १०० वर्ण के, ४६ गंध के, १०० रस के, १८४ स्पर्श के और १०० संस्थान के मिलकर ५३० भेद रूपी अजीव के होते हैं। अरूपी अजीव के ३० भेद इनमें मिला देने पर अजीव के कुल ५६० भेद हो जाते हैं।

३—पुण्य तत्त्व



जिन कर्मप्रकृतियों का फल सुख रूप परिणमता है उन्हें पुण्यप्रकृति कहते हैं। पुण्यप्रकृतिों के उदय से इष्ट सामग्री और धर्म की सामग्री प्राप्त होती है। अतः 'पुण्य' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—'पुनातीति पुण्यम्' अर्थात् परम्परा से जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य है। जैसे सांसारिक सुख के साधनभूत स्थान, वस्त्र, भोजन आदि पदार्थों को प्राप्त करने में प्रथम कुछ कष्ट पड़ता है, किन्तु बाद में लम्बे समय तक उनसे सुख मिलता है, इसी प्रकार पुण्य उपार्जन करने में प्रथम तो कष्ट सहन करना पड़ता है, किन्तु फिर दीर्घकाल के लिए सुख की प्राप्ति होती है। पुण्य उपार्जन करना सरल नहीं है। पुद्गलों की ममता त्यागे बिना, गुणज्ञ हुए बिना, आत्मा को वश में करके योगों को शुभ कार्य में लगाये बिना, दूसरों के दुःख को अपना दुःख मान कर उसे दूर करने की भावना और प्रवृत्ति किये बिना पुण्य का उपार्जन नहीं होता।

पुण्य का बंध नौ प्रकार से होता है—(१) अन्नपुण्णे—अन्न का दान करने से (२) पानपुण्णे—पानी का दान करने से (३) लयणपुण्णे—पात्र आदि देने से (४) सयणपुण्णे—मकान-स्थान देने से (५) वत्थपुण्णे—

वस्त्र दान करने से (६) मनपुण्णे—मन से दूसरों की भलाई चाहने से (७) वचनपुण्णे—वचन से गुणीजनों का कीर्तन करने से और सुखदाता वचन बोलने से (८) कायपुण्णे—शरीर से दूसरों की वेयावच्च करने से, पराया दुःख दूर करने से, जीवों को साता उपजाने से (९) नमस्कारपुण्णे—योग्य पात्र को नमस्कार करने से और सबके साथ विनम्र व्यवहार करने से।

यह नौ प्रकार के पुण्य करते समय पुद्‌गलों पर से ममता उतारनी पड़ती है, मिहनत भी करनी पड़ती है, किन्तु पुण्य का फल भोगते समय आराम और सुख की प्राप्ति होती है। नौ प्रकार से बांधे हुए पुण्य के फल बयालीस प्रकार से भोगे जाते हैं। वे बयालीस प्रकार यह हैं:—

१. सातावेदनीय २. उच्चगोत्र ३. मनुष्यगति ४. मनुष्यानुपूर्वी* ५. देवगति ६. देवानुपूर्वी ७. पंचेन्द्रिय जाति ८. औदारिक शरीर ९. वैक्रिय शरीर १०. आहारक शरीर ११. तैजस शरीर १२. कार्मण शरीर १३. औदारिक शरीर के अंगोपांग १४. वैक्रिय शरीर के अंगोपांग १५. आहारक शरीर के अंगोपांग १६. वज्रऋषभनाराचसंहनन १७. समचतुरस्र संस्थान १८. शुभ वर्ण १९. शुभ गंध २०. शुभ रस २१. शुभ स्पर्श २२. अगुरुलघुत्व (शीशे के गोले के समान भारी और रुई के समान एकदम हल्का शरीर न होना), २३. पराघात नाम (दूसरों से पराजित न होना), २४. उच्छ्वास नाम (पूरा उसांस लेना), २५. आतप नाम (प्रतापवान् होना), २६. उद्योत नाम (तेजस्वी होना), २७. चलने की शुभ गति २८. शुभ निर्माण नाम (अंगोपांग यथास्थान व्यवस्थित होना), २९. त्रस नाम ३०. बादर नाम ३१. पर्याप्त नाम ३२. प्रत्येक नाम (एक शरीर में एक जीव होना), ३३. स्थिर नाम ३४. शुभ नाम ३५. सुभग नाम ३६. सुस्वर नाम ३७. आदेय नाम (जिससे सर्वमान्य वचन हों), ३८. यशोकीर्ति नाम ३९. देवायु ४०. मनुष्यायु ४१. तिर्यञ्च की आयु ४२. तीर्थंकर नाम कर्म।

पुण्य तत्त्व को खूब गहराई से समझना चाहिए। पुण्य ऐसा तत्त्व है जो आदरने योग्य भी है और त्यागने योग्य भी है। जैसे समुद्र के एक पार

* जीव को एक भव से दूसरे भव में ले जाने वाली प्रकृति आनुपूर्वी कहलाती है।

से दूसरी पार जाने के लिए जहाज पर सवार होना आवश्यक है और किनारे के निकट पहुँच कर उसका त्याग करना भी आवश्यक है; दोनों किये बिना परले पार पहुँचना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार प्राथमिक भूमिका में पुण्य तत्त्व को ग्रहण करना आवश्यक है और आत्मविकास की चरम सीमा के निकट पहुँच कर त्याग देना भी आवश्यक है। जो पहले से ही पुण्य को त्याज्य समझ कर त्याग देता है, उसकी वही दशा होती है जो किनारे के निकट पहुँचने से पहले ही जहाज का भी त्याग कर देता है। बीच में जहाज त्याग देने वाला समुद्र में डूबता है और पुण्य को त्याग देने वाला संसार-समुद्र से डूबता है।

पुण्य के ऊपर जो बयालीस फल बतलाये हैं, उनसे स्पष्ट है कि पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्य शरीर, वज्रऋषभनाराच संहनन आदि मोक्ष की सामग्री पुण्य से ही प्राप्त होती है। पुण्य के बिना यह सामग्री नहीं मिल सकती और इस सामग्री के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव विवेक के साथ पुण्य तत्त्व का स्वरूप समझ कर उसको यथोचित रूप से ग्रहण करना चाहिए।

पुण्य के विषय में एकान्त पक्ष ग्रहण करना उचित नहीं है। पुण्य एकान्ततः त्याग करने योग्य ही है, ऐसा कहा जाय तो उसका फल जो तीर्थङ्कर गोत्र बतलाया है सो वह भी त्याज्य ठहरेगा। इसी प्रकार पुण्य एकान्त आदरने योग्य है, ऐसी खींच भी नहीं करनी चाहिए। अगर अन्तिम स्थिति तक पुण्य आदरा जायगा तो उसका फल भी भोगना पड़ेगा और जब तक कर्मों के फल को भोगा जायगा तब तक मोक्ष का सुख प्राप्त नहीं हो सकता। आखिर मोक्ष प्राप्त करने के लिए पुण्य का भी क्षय करना पड़ता है। अतएव सार यही है कि जब तक मोक्ष सन्निकट नहीं है तब तक पुण्य कर्म आदरने योग्य है। शास्त्र में जगह-जगह पुण्य की महिमा प्रकट की है। ठेठ तेरहवें गुणस्थान तक पुण्य प्रकृति रहती है।

४—पाप तत्त्व

●

पाप का फल कटुक होता है। पाप करना तो सरल है मगर उसका

फल भोगना बड़ा कठिन होता है। अठारह प्रकार से पाप का बंध होता है। वह इस प्रकार है:—

१. प्राणातियात (हिंसा), २. मृषावाद (झूठ बोलना), ३. अदत्तादान (चोरी), ४. मैथुन (स्त्रीसंसर्ग), ५. परिग्रह (धन आदि का संग्रह और ममत्व), ६. क्रोध ७. मान ८. माया ९. लोभ १०. राग ११. द्वेष १२. कलह १३. अभ्याख्यान–दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करना १४. पैशुन्य–चुगली खाना १५. परपरिवाद—निन्दा १६. रति-अरति (भोगों में प्रीति और संयम में अप्रीति), १७. मायामृषाकपट सहित झूठ बोलना १८. मिथ्यादर्शन शल्य (असत्य मत की श्रद्धा होना)।

इन अठारह दोषों का सेवन करने से पाप का बंध होता है। इन अठारह पापों के अशुभ बंध का फल ८२ प्रकार से भोगना पड़ता है:—

१. मतिज्ञानावरणीय २. श्रुतज्ञानावरणीय ३. अवधिज्ञानावरणीय ४. मनःपर्ययज्ञानावरणीय ५. केवलज्ञानावरणीय ६. दानान्तराय (दान नहीं दे सकना) ७. लाभान्तराय (कमाई का लाभ नहीं प्राप्त कर सकना), ८. भोगान्तराय (खानपान आदि योग्य वस्तुओं की प्राप्ति में विघ्न होना), ९. उपभोगान्तराय (वस्त्र, आभूषण आदि बार-बार भोगने योग्य वस्तुओं की प्राप्ति में विघ्न होना), १०. वीर्यान्तराय (तप, संयम आदि में बाधा होना), ११. निद्रा (जो नींद सुख से आवे और सरलता से भङ्ग हो जाय), १२. निद्रानिद्रा (जो नींद कठिनाई से आवे और कठिनाई से भङ्ग हो), १३. प्रचला (बैठे-बैठे नींद आना), १४. प्रचलाप्रचला (चलते-चलते आने वाली निद्रा), १५. स्त्यानगृद्धि (जिस निद्रा के समय दिन में सोचा हुआ काम रात को सोते-सोते ही कर लिया जाय और जिस निद्रा में बलदेव का आधा बल नींद लेने वाले में आ जाय), १६. चक्षुदर्शनावरणीय (अन्धा होना), १७. अचक्षुदर्शनावरणीय (आँख के सिवाय अन्य इन्द्रियों की हीनता होना), १८. अवधिदर्शनावरणीय १९. केवलदर्शनावरणीय २०. असाता वेदनीय २१. नीच गोत्र २२. मिथ्यात्वमोहनीय २३. स्थावरपन २४. सूक्ष्मपन २५. अपर्याप्तपन २६. साधारणपन (एक शरीर में अनन्त जीव होना),

२७. अस्थिर नाम (शरीर की शिथिल बनावट), २८. अशुभ नाम २९. दुर्भग नाम ३०. दुस्वर नाम ३१. अनादेय नाम ३२. अयशोकीर्तिनाम ३३. नरकगति ३४. नरक की आयु ३५. नरकानुपूर्वी ३६. अनन्तानुबन्धी क्रोध ३७. अनन्तानुबन्धी मान ३८. अनन्तानुबन्धी माया ३९. अनन्तानुबन्धी लोभ ४०. अप्रत्याख्यानी क्रोध ४१. अप्रत्याख्यानी मान ४२. अप्रत्याख्यानी माया ४३. अप्रत्याख्यानी लोभ ४४. प्रत्याख्यानी क्रोध ४५. प्रत्याख्यानी मान ४६. प्रत्याख्यानी माया ४७. प्रत्याख्यानी लोभ ४८. संज्वलन क्रोध ४९. संज्वलन मान ५०. संज्वलन माया ५१. संज्वलन लोभ* ५२. हास्य ५३. रति ५४. अरति ५५. भय ५६. शोक ५७. दुगुंछा-जुगुप्सा ५८. स्त्रीवेद ५९. पुरुषवेद ६०. नपुंसक वेद ६१. तिर्यन्चगति ६२. तिर्यन्चानुपूर्वी ६३. ऐकेन्द्रियपन ६४. द्वीन्द्रियपन ६५. त्रीन्द्रियपन ६६. चौइन्द्रियपन ६७. अशुभ चलने की गति—विहायोगति ६८. उपघात नाम कर्म (अपने शरीर का आप ही घात करना), ६९. अशुभ वर्ण ७०. अशुभ गंध ७१ अशुभ रस ७२. अशुभ स्पर्श ७३. ऋषभनाराचसंहनन ७४. नाराचसंहनन ७५. अर्ध-नाराचसंहनन ७६. कीलक संहनन ७७. छेवट्ठ संहनन ७८. न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान ७८. सादि संस्थान ८०. वामन संस्थान ८१. कुब्जक संस्थान ८२. हुंडसंस्थान। इन बयासी प्रकारों से पाप को भोगना पड़ता है। पाप हेय है, आत्मा को कलुषित करने वाला है।

५—आस्रव तत्त्व

●

आस्रव की व्याख्या—जैसे नौका में, छिद्र के द्वारा पानी आता है, उसी प्रकार आत्मा में, योग और कषाय के द्वारा, कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का आना आस्रव कहलाता है। जैसे पानी आने से नौका भारी हो जाती है, उसी प्रकार कर्मों के आगमन से आत्मा भारी हो जाती है और संसार-सागर में डूबती है।

*नं० ३६ से ५१ तक कषाय कहलाते हैं। इनके अर्थ के लिए देखो पहला खण्ड, तीसरा प्रकरण।

आस्रव के द्वार—आस्रव के २० द्वार हैं— (१) मिथ्यात्व (कुगुरु, कुदेव तथा कुधर्म पर श्रद्धा करना और पचीस प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन करना), (२) अव्रत (पाँच इन्द्रियों को तथा मन को वश में न रखना और षट्काय के जीवों की हिंसा से विरत न होना—यह बारह प्रकार का अव्रत है) ,(३) प्रमाद (मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा), (४) कषाय—१६ कषाय और ९ नोकषाय, (५) योग (मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति), (६) प्राणातिपात, (७) मृषावाद (८) अदत्तादान (९) मैथुन (१०) परिग्रह (११-१५) श्रोत्रेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय को अशुभ काम में लगाना), (१६-१८) मन, वचन, काय के योग को अशुभ काम में प्रवृत्त करना (१९) वस्त्र पात्र आदि उपकरण बिना यतना के ग्रहण करना (२०) शुचि कुसग्ग करना (तिनका भी अयतना से लेना या रखना)।

आस्रवद्वार के विशेष भेद ४२ हैं—१ मिथ्यात्व २ अव्रत ३ प्रमाद ४ कषाय ५ योग ६ प्राणातिपात ७ मृषावाद ८ अदत्तादान ८ मैथुन १० परिग्रह ११ क्रोध १२ मान १३ माया १४ लोभ १५ अशुभ मनोयोग १६ अशुभ वचनयोग १७ अशुभ काययोग, तथा २५ क्रियाएँ, मिलकर कुल ४२ भेद होते हैं।

क्रियाएँ

●

जिससे कर्म का आस्रव होता है, ऐसी प्रवृत्ति को क्रिया कहते हैं। यह क्रिया दो प्रकार की है—जीव के निमित्त से लगने वाली जीवक्रिया और अजीव के निमित्त से लगने वाली अजीवक्रिया। इन दोनों प्रकार की क्रियाएँ भी दो-दो प्रकार की हैं।

जीवक्रिया के दो भेद—(१) सम्यक्त्वी जीव को लगने वाली क्रिया और (२) मिथ्यत्वी जीव को लगने वाली क्रिया। अजीव क्रिया के दो भेद—(१) साम्परायिक क्रिया और (२) ईर्यापथिक क्रिया। कषाय वाले जीवों को योग की प्रवृत्ति होने पर जो क्रिया लगती है वह साम्परायिक

क्रिया कहलाती है और उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय तथा संयोग केवली नामक ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानकों में केवल योग की प्रवृत्ति से जो क्रिया लगती है वह ईर्यापथिक क्रिया कहलाती है। इनमें से ईर्यापथिक क्रिया एक ही प्रकार की है और साम्परायिक क्रिया के २४ प्रकार हैं:—

(१) कायिकी क्रिया—दुष्ट भाव से युक्त होकर प्रयत्न करना, अयतनापूर्वक काय की प्रवृत्ति होना, मेरा शरीर दुर्बल हो जायगा, इत्यादि विचार से व्रत-नियम आदि का पालन या धर्माचरण न करके आरंभजनक कामों में लगना कायिकी क्रिया कहलाती है। यह दो प्रकार की है—(१) अनुपरतकायिकी क्रिया और (२) दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया। इस भव में व्रत-प्रत्याख्यान द्वारा आस्रव का निरोध नहीं करने से संसार के समस्त आरंभ-समारंभ के कामों की निरन्तर अव्रत की क्रिया लगती रहती है, वह अनुपरत कायिकी क्रिया कहलाती है। और जो साधु या श्रावक व्रत-प्रत्याख्यान करने के बाद भी अयतना से शरीर की प्रवृत्ति करते हैं, उन्हें लगने वाली क्रिया दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया कहलाती है।

(२) आधिकरणिकी क्रिया—चाकू, छुरी, सुई, कैंची, तलवार, भाला वर्छी, धनुषबाण, बंदूक, तोप, कुदाली, फावड़ा, हल, चक्की, मूसल, आदि शस्त्रों का संग्रह या प्रयोग करने से तथा कठोर, दुखजनक वचनों को उच्चारण करने से आधिकरणिकी क्रिया लगती है। इसके भी दो भेद हैं—(१) संयोजनाधिकरणिकी—जो शस्त्र अधूरे हों उन्हें पूरा करना, जैसे तलवार में मूठ, चक्की में खीला आदि बैठाना, भौंटी धार को तीखी करना, जिससे शस्त्र उपयोग में आवे और आरंभ के काम चालू हो जाएँ। पुराने पड़े हुए झगड़े को फिर चेताने से वचन शस्त्र की क्रिया लगती है। (२) निर्वर्तनाधिकरणिकी—शस्त्र नये बनाकर इकट्ठा करना, या बेचना। इन शस्त्रों द्वारा जगत् में जितने-जितने पाप होते हैं, उनकी क्रिया बनाने वाले को भी लगती है। वचन रूपी शस्त्र से नवीन झगड़ा चेताने से भी निर्वर्तनाधिकरणिकी क्रिया लगती है।

(३) प्राद्वेषिकी—ईर्षा-द्वेष के विचार से यह क्रिया लगती है। दूसरे

को धनवान्, बलवान्, सुखी, सत्ताधीश या विद्वान् देखकर द्वेष करना, जलना, ईर्षा करना और सोचना कि यह कब बर्बाद या दुखी हो ! तथा लोभी, या चोर झूठा आदमी दुख पाता हो या हानि उठा रहा हो तो प्रसन्न होना और कहना कि बहुत अच्छा हुआ ! यह पापी इसी के योग्य था। दुष्टों पर तो दुःख पड़ना ही चाहिए आदि। प्राद्वेषिकी क्रिया के भी दो भेद हैं:—(१) जीव पर द्वेष भाव धारण करना—मनुष्य, पशु आदि जीवों को दुखी देखकर आनन्द मानना और (२) अजीव पर द्वेषभाव लाना—वस्त्र, आभूषण, मकान आदि अजीव वस्तुओं का विनाश कब होगा, ऐसा सोचना। दोनों प्रकार की क्रियाओं से कर्म बंध होता है।

(४) पारितापनिकी—हाथ की मुट्ठी या लकड़ी आदि से किसी के शरीर केअवय वों का छेदन करने से या ताड़न-तर्जन करके परिताप उपजाने से लगती है। यह दो प्रकार की है—(१) स्वहस्तिकी—अपने हाथ या वचन से किसी दूसरे को या अपने आपको दुःख देना, (२) परहस्तिकी-दूसरे के हाथ से या वचन से दूसरे को या अपने को दुःख पहुँचाना।

(५) प्राणातिपातिकी—विष या शस्त्र आदि से जीवों की घात करने से प्राणातिपातिकी क्रिया लगती है। इसके भी दो भेद हैं—(१) स्वहस्तिकी और परहस्तिकी। अपने हाथ से जीवों को मारना, शिकार खेलना आदि स्वहस्तिकी क्रिया है और दूसरे के हाथों जीवघात करना, शिकारी कुत्ता, चीता आदि छोड़कर जीवहिंसा कराना अथवा मारने के लिए उद्यत हुए को 'मार, मार, देखता क्या है 'आदि शब्द कहना, इनाम देना, शाबाशी देना आदि परहस्तिकी प्राणातियातिकी क्रिया कहलाती है।

(६) आरंभिकी—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय के जीवों की हिंसा का जब तक त्याग नहीं किया है, तब तक इनका जितना आरंभ होता है, उस सब पाप की क्रिया लगती है। यह भी दो प्रकार की है—(१) जीवों का आरंभ करने से लगने वाली क्रिया और अजीव वस्तु के आरंभ से लगने वाली क्रिया।

(७) परिग्रहिकी—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि परिग्रह का

त्याग न किया हो या मर्यादा न की हो तो लोक में जितना भी परिग्रह है, उस सब की क्रिया लगती है। इसके भी दो भेद हैं—(१) जीवपारिग्रहकी क्रिया—दास, दासी, पशु, पक्षी, अनाज आदि की ममता से लगने वाली क्रिया और (२) अजीवपारिग्रहिकी क्रिया—वस्त्र, पात्र, आभूषण, धन, मकान आदि की ममता करने से लगने वाली क्रिया।

(८) मायाप्रत्यया—कपट करने से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं:—(१) आत्मभाववक्रता—दगाबाजी करना, जगत् में धर्मात्मा कहलाना किन्तु अन्तर में धर्म के प्रति श्रद्धा न होना, व्यापार आदि में कपट करना। (२) परभाववक्रता—झूठे नाप-तोल रखना, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिलाना, जैसे घी में तेल, दूध में पानी आदि मिला कर बेचना, दूसरों को ठग-विद्या सिखलाना तथा इन्द्रजाल, मंत्रशास्त्र आदि दूसरों को सिखलाना।

(९) अप्रत्याख्यानप्रत्यया—उपभोग (भोजन, पान आदि एक ही बार भोगी जाने वाली वस्तु) और परिभोग (वस्त्र, पात्र, मकान आदि बार-बार भोगी जाने वाली वस्तु) इन दोनों प्रकार की वस्तुओं को चाहे उपभोग किया जाय या न किया जाय, किन्तु जब तक उनका त्याग नहीं किया है तब तक उनकी क्रिया लगती है। इसके भी दो भेद हैं—(१) मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सजीव वस्तुओं का प्रत्याख्यान न करने से लगने वाली क्रिया और (२) सोना, चांदी आदि अजीव वस्तुओं का त्याग न करने से लगने वाली क्रिया।

शंका—जिस वस्तु को हम जानते ही नहीं, जिसके विषय में कान से सुना नहीं, जिसे ग्रहण करने का मन भी नहीं होता, उसके निमित्त से हमें क्रिया किस प्रकार लग सकती है?

समाधान—अपने मकान में कचरा भरने की किसी की इच्छा नहीं होती, फिर भी जब तक द्वार खुले रहेंगे, घर में कचरा आएगा ही। हाँ, अगर द्वार बन्द कर दिया जाय तो कचरा आने से रुक सकता है। इसी प्रकार जो वस्तु आपने देखी नहीं है, सुनी नहीं है, जिसकी इच्छा भी की

नहीं है, किन्तु उसका प्रत्याख्यान नहीं किया है—आस्रवद्वार बन्द नहीं है, तब तक आत्मा रूपी घर में पाप रूपी कचरा आये बिना नहीं रुक सकता। जब प्रत्याख्यान करके आस्रवद्वार बन्द कर दिया जाता है, तब पापक्रिया का आगमन रुक जाता है।

इसके अतिरिक्त जिस वस्तु का नियमपूर्वक त्याग नहीं किया है, वह कदाचित् सामने आ जाय तो उसका उपभोग किया जा सकता है। जिस वस्तु के विषय में सुना है, पर जो देखी नहीं है, उसे देखने का कदाचित् मन हो सकता है; क्योंकि मन अत्यन्त चपल है और वीतराग की साक्षी से अभी तक उस वस्तु का त्याग नहीं किया है। त्याग न करने का कारण यही है कि अभी उस वस्तु के प्रति पूरी विरक्ति नहीं उत्पन्न हुई है; अब भी उसे भोगने की अव्यक्त इच्छा बनी है। भीतर रही हुई अव्यक्त इच्छा अवसर पाकर व्यक्त (प्रकट) रूप धारण कर लेती है और फिर मनुष्य इन्द्रियों का दास बन जाता है। अतएव जिस वस्तु को भोगने की लेशमात्र भी इच्छा न रही हो, उसका वीतराग की साक्षी से त्याग कर देना ही उचित है। इस प्रकार के त्याग से मन में दृढ़ता उत्पन्न होती है और अप्रत्याख्यान-प्रत्यया क्रिया से बचाव होता है।

(१०) मिथ्यादर्शनप्रत्यया—कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की श्रद्धा रखने से लगने वाली क्रिया। यह भी दो प्रकार की है—(१) न्यूनाधिक मिथ्यादर्शनप्रत्यया और (२) विपरीतमिथ्यादर्शनप्रत्यया। श्रीजिनेश्वरदेव के कथन से कम या अधिक श्रद्धा करना तथा प्ररूपणा करना न्यूनाधिक मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया कहलाती है। जैसे—जीव (आत्मा) अणुमात्र है, तिलमात्र है, तंदुलमात्र है, यह न्यून प्ररूपणा है, क्योंकि जिनेश्वरदेव ने शरीर परिमित आत्मा कही है। तथा जीव को सर्वव्यापक अर्थात् समस्त लोक में आकाश की भाँति व्यापक मानना और प्ररूपणा करना अधिक प्ररूपणा है। जिनेन्द्र भगवान् के कथन से विपरीत श्रद्धा-प्ररूपणा करना विपरीतमिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया है। जैसे—मिथ्यात्व के उदय से नास्तिक लोग कहते हैं कि आत्मा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है; पाँच भूतों के समुदाय से चेतना उत्पन्न हो जाती है।

शरीर का अन्त होने पर वह पंच भूतों में मिल जाती हैं; फिर कुछ भी शेष नहीं रहता। इस प्रकार मानने वाले नास्तिक के मत से परलोक और पूर्व-जन्म आदि कुछ भी नहीं ठहरता। अगर परलोक नहीं है तो इस जन्म में किये हुए पुण्य-पाप का फल आत्मा कहाँ और कैसे भोगेगा? अगर पूर्व-जन्म नहीं है तो इस जन्म में कोई सुखी, कोई दुःखी क्यों दिखाई देता है? अगर सब के आत्मा पाँच महाभूतों से उत्पन्न हुए हैं तो सब सरीखे क्यों नहीं हैं? संसार में, जीवों में जो विषमता देखी जाती है वह बिना कारण के नहीं है। उसका कारण पूर्वजन्म में किये हुए शुभ या अशुभ कर्म ही हैं।

कहा जा सकता है कि यदि पूर्वजन्म है तो हमें उसका स्मरण क्यों नहीं होता? अनेक वर्षों तक आत्मा पूर्वभवों में रहा हो तो उसे याद क्यों नहीं आती? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूर्वभव की बात तो दूर रही; इसी भव में आप माता के उदर में रहे हैं, यह बात तो आप भी सत्य मानते हैं। तो फिर उसकी याद क्यों नहीं आती? माता के उदर की कैसी रचना है और किस प्रकार वहाँ नौ मास से कुछ अधिक समय तक निवास किया? इन बातों का स्मरण न होने के कारण यह भी कहने लगोगे कि जीव गर्भ में निवास नहीं करता? गर्भवास की बातें स्मरण न होने पर भी पूर्वजन्म क्यों नहीं स्वीकार करते?

मनुष्य जब जागृत दशा में से स्वप्न-दशा में आता है तब उसे जागृत दशा की स्थिति का और शरीर का भी भान नहीं रहता। इसी प्रकार जब वह स्वप्न-दशा से जागृत-दशा में आता है तो वह स्वप्न-दशा की बातें भूल जाता है। फिर भी जागृतदशा और स्वप्नदशा को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। फिर पूर्व जन्म की बात तो दूर की है। उसका स्मरण न होने मात्र से पूर्वजन्म को स्वीकार न करना विवेकशीलता नहीं है।

इसके अतिरिक्त विशेष क्षयोपशम वाले जीवों को पूर्वजन्म की बातें याद भी आ जाती हैं और वे अपने पूर्वभवों को जैसा का तैसा देखते भी हैं। अतः कर्मों के क्षयोपशम के लिए प्रयत्नशील बनो। अपनी स्मृति और बुद्धि पर ही भरोसा करके मत बैठे रहो। महापुरुषों ने आध्यात्मिक साधना करके

विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया है और उस ज्ञान में उन्होंने पूर्वजन्मों को देखा है। उनके कथन पर श्रद्धा रक्खो। वे जगत् को धोखा देने वाले नहीं थे। वीतराग पुरुष किसी को गलत मार्ग नहीं बतलाते।

(११) दृष्टिका क्रिया—किसी वस्तु को देखने से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं—(१) जीवदृष्टिका—स्त्री, पुरुष, हाथी, घोड़ा, बाग, बगीचा नाटक आदि देखने से लगने वाली और (२) अजीवदृष्टिका—वस्त्र, आभूषण आदि को देखने से लगने वाली क्रिया।

(१२) स्पृष्टिका क्रिया—किसी का स्पर्श करने से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद—(१) जीव जीवस्पृष्टिका अर्थात् स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि के अंगोपांगों का तथा पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति वगैरह का स्पर्श करने से जो क्रिया लगती है वह। कई-एक भोले लोग बिना ही किसी स्वार्थ या प्रयोजन के नमूना देखने के लिए धान्य या हरितकाय को हाथ में लेकर देखने लगते हैं और किसी सजीव वस्तु को देखते ही उसका स्पर्श करने लगते हैं। मगर इस विषय में बहुत विवेक रखने की आवश्यकता है। ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि—जैसे अत्यन्त वृद्धावस्था के कारण तथा रोग और शोक के कारण अत्यन्त जीर्ण शरीर वाले वृद्ध पुरुष के ऊपर कोई बत्तीस वर्ष का नौजवान योद्धा पुरुष मुक्के का प्रहार करे तो उस वृद्ध को जैसा कष्ट होता है, वैसा ही दुःख पृथ्वी, पानी, धान्य आदि एकेन्द्रिय जीवों का स्पर्श करने से उन्हें होता है। एकेन्द्रिय के कितने ही सुकोमल जीव तो स्पर्श करने मात्र से मर भी जाते हैं। अतएव इस अनर्थ से बचने के लिए विशेष प्रयोजन के बिना सजीव वस्तु का स्पर्श नहीं करना चाहिए। (२) अजीवस्पृष्टिका—वस्त्र, आभूषण आदि अजीव वस्तुओं का स्पर्श करने से लगने वाली क्रिया। अजीव वस्तुओं का भी बिना प्रयोजन स्पर्श नहीं करना चाहिए।

(१३) पाडुच्चिया (प्रातीत्यिकी) क्रिया—जीव और अजीव रूप बाह्य वस्तु के निमित्त से जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, उससे लगने वाली

क्रिया ।* यह भी दो प्रकार की हैः—(१) जीवप्रातीत्यिकी अर्थात् माता, पिता, पुत्र, मित्र, शिष्य, गुरु, भैंस, घोड़ा, साँप, बिच्छु, कुत्ता, खटमल, मच्छर, कीड़ा आदि जीवों पर राग-द्वेष धारण करने से लगने वाली क्रिया और (२) अजीवप्रातीत्यिकी अर्थात् वस्त्र, आभूषण, मकान, विष, मल-मूत्र आदि वस्तुओं पर राग-द्वेष धारण करने से लगने वाली क्रिया। रागी-द्वेषी जीव राग-द्वेष के कारण इस भव में अनेक पापाचरण करते हैं और परभव में अधोगति पाते हैं। धर्मात्मा मनुष्य भी अगर द्वेषभाव से युक्त होता है तो मर कर वाण-व्यन्तर देव होता है। अतः राग-द्वेष का त्याग करके समभाव धारण करना ही उचित है।

(१४) सामन्तोपनियातिकी क्रिया—अनेक वस्तुओं का समूह करने (ढेर करने) से लगने वाली क्रिया। यह भी दो प्रकार की है—(१) जीवसामन्तोपनिपातिकी क्रिया अर्थात् दासी,दास घोड़ा, हाथी, बैल, बकरा आदि का संग्रह कर रखना; उन्हें देखने के लिए लोग आवें और संग्रह की प्रशंसा करें तो प्रसन्न होना; तथा इन संग्रह की हुई वस्तुओं का व्यापार करना। (२) अजीवसामन्तोपनिपातिकी—धातु, घर, महल, वस्त्र आदि वस्तुओं का बहुत काल तक संग्रह रखना, इस माल की प्रशंसा सुनकर दर्षित होना तथा उसे बेचना।

कोई-कोई इस क्रिया का अर्थ ऐसा करते हैं कि दूध, दही, घी, तेल, छाछ, राब, पानी आदि तरल पदार्थों के पात्रों को उघाड़ा रखने से उनमें जीव गिर कर मरते हैं या दुःखी होते हैं। इससे लगने वाली क्रिया सामन्तोपनिपातिका कहलाती है।

(१५) स्वहस्तिकी (साहत्थिया)—परस्पर लड़ाई कराने से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैंः—(१) जीवस्वहस्तिकी—मेंढ़ा, मुर्गा, सांड, तीतुर,, हाथी, गेंड़ा आदि जीवों को आपस में लड़ाने से, मनुष्यों की कुश्ती कराने से अथवा चुगली आदि करके झगड़ा कराने से लगने वाली क्रिया। (२) अजीवस्वहस्तिकी—अजीव वस्तुओं का आपस में संघर्षण करना, जैसे

* बाहर की वस्तुओं का आश्रय करने से लगने वाली क्रिया पाडुच्चिया कहलाती है, ऐसा अर्धमागधी कोष तथा 'पाइयसद्दमहण्णवो' कोष में उल्लेख है।

लकड़ी तोड़ना आदि । इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि अपने शरीर का अथवा दूसरे मनुष्य आदि जीव का वध या बंधन करना जीवस्वहस्तिकी क्रिया है और वस्त्र, आभूषण आदि को तोड़ना-फोड़ना, फाड़ना आदि अजीवस्वहस्तिकी क्रिया है ।

(१) नैशस्त्रिकी (नेसत्थिया) क्रिया—किसी वस्तु को बिना यतना के पटक देने से लगने वाली क्रिया । इस के दो भेद हैं—(१) जीवनेसत्थिया अर्थात् जूँ, लीख, खटमल आदि छोटे-छोटे जन्तुओं को तथा बड़े जीव को ऊपर गिरा देना, कष्ट पहुँचाना । (२) अजीवनेसत्थिया अर्थात् वस्त्र, आदि निर्जीव वस्तुओं को बिना यतना के ऊपर से फैंक देना ।

(१७) आज्ञापनिका (आणवणिया)—उसके स्वामी की आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना अथवा आज्ञा देकर किसी वस्तु को मँगवाना । इसके भी दो भेद हैं:—(१) जीवआणवणिया अर्थात् सजीव वस्तुओं को मँगवाना और (२) अजीवआणवणिया—निर्जीव वस्तुओं को मँगवाना । किसी-किसी के मत से इस क्रिया का अर्थ है—नौकर या मज़दूर वगैरह को आज्ञा देकर स्वामी जो कार्य करवाता है, उसकी जो क्रिया स्वामी को लगती है वह आणवणिया क्रिया कहलाती है ।

(१८) वैदारणिका (वेयारणिया) क्रिया—किसी वस्तु का विदारण करने से अर्थात् छेदन-भेदन आदि करने से लगने वाली क्रिया । इसके भी दो भेद हैं—(१) जीवविदारणिया अर्थात् शाक, भाजी, फल, फूल, अनाज, मनुष्य, पशु पक्षी वगैरह सजीव वस्तुओं के टुकड़े करने से लगने वाली क्रिया (२) अजीवविदारणिया अर्थात् वस्त्र, धातु, मकान आदि निर्जीव पदार्थों को तोड़ने-फोड़ने से लगने वाली क्रिया ।

इस क्रिया का दूसरा अर्थ ऐसा भी किया जाता है कि—हृदय का भेदन करने वाली कथा करने से लगने वाली क्रिया वियारणिया क्रिया कहलाती है । इस अर्थ में भी इसके दो भेद होते हैं—(१) स्त्रियों तथा पशुओं के हावभाव करके, स्वांग बना कर हर्ष या शोक उपजाने वाली

क्रिया सजीव वेयारणिया कहलाती है। और (२) वस्त्र, आभूषण आदि के द्वारा हर्ष उपजाने वाली तथा विष, शस्त्र आदि से शोक उपजाने वाली कथा करने से अजीव वेदारणिया क्रिया लगती है।

(१९) अनाभोगप्रत्यया क्रिया—उपयोग अर्थात् सावधानी के विना कार्य करने से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं—(१) वस्त्र, पात्र आदि साधन बिना देखे, असावधानी से ग्रहण करने और रख देने से लगने वाली क्रिया। (२) वस्त्र, पात्र आदि साधनों का असावधानी से प्रतिलेखन करने, पूँजने से लगने वाली क्रिया। (जिनेन्द्र भगवान् का कथन है कि अयतनापूर्वक गमन करते, प्रमार्जन या प्रतिलेखन करते कदाचित् किसी जीव की हिंसा न हो तो भी ऐसा करने वाला हिंसक है। इसके विपरीत यतनापूर्वक गमनागमन करने पर भी कदाचित् अकस्मात् किसी जीव के प्राणों का घात हो जाय तो भी यतनापूर्वक क्रिया करने वाला हिंसक नहीं है।)

(२०) अणवकंखवत्तिया—अपेक्षा बिना काम करना, दोनों (इह-पर) लोक से विरुद्ध काम करना, हिंसा में धर्म बतलाना, महिमा-पूजा के लिए तप संयम आदि का आचरण करना अणवकंखवत्तिया क्रिया कहलाती है। इसका दूसरा अर्थ है—जैसे कोई समझदार पुरुष अपना वस्त्र मलीन नहीं करना चाहता है, किन्तु वह पड़ा-पड़ा स्वयं मलीन हो जाता है, इसी प्रकार बिना इच्छा के जो क्रिया लगती है वह अणवकंखवत्तिया कहलाती है इसके भी दो भेद हैं—(१) अपने शरीर से हलन-चलन वगैरह काम करने से लगने वाली क्रिया और (२) दूसरे को हलन-चलन आदि काम में लगाने से होने वाली क्रिया।

(२१) अणापओगवत्तिया क्रिया—दो वस्तुओं का संयोग मिला देने के लिए दलाली करना। इसके दो भेद हैं—(१) सजीव—स्त्री-पुरुष का तथा गाय-भैंस आदि का संयोग मिला देने की दलाली से लगने वाली क्रिया और (२) अजीव—वस्त्र, आभूषण आदि की दलाली करने से लगने वाली क्रिया, अतः पापकर्म की दलाली से सदैव बचते रहना चाहिए। इस

क्रिया का दूसरा अर्थ है—असावधान होकर पापकारी (सावद्य) भाषा बोलना, गमनागमन करना, शरीर का संकोच प्रसारण करना तथा दूसरों से पापकारी काम कराने से होने वाली हिंसा अणापओगवत्तिया क्रिया कहलाती है।

(२२) सामुदाणिया क्रिया—बहुत से लोग मिल कर जो एक कार्य करते हैं उससे होने वाली क्रिया। जैसे कम्पनी बनाकर व्यापार करना, इकट्ठा होकर नाटक देखना, मण्डल बना कर व्यापार करना, टोली बनाकर ताश-शतरंज आदि खेलना, हजारों आदमियों का मिलकर फाँसी की सजा देखना, वेश्या का नाच देखना, मेले-ठेले में हजारों यात्रियों का एकत्र होना आदि। ऐसे प्रसंगों पर प्रायः सब मनुष्यों के परिणाम (विचार) एक सरीखे होते हैं अतः कर्म का बंध भी एक सरीखा होता है और प्रायः उसका फल भी एक साथ भुगतना पड़ता है। जैसे पानी में जहाज का डूब जाना, बाढ़ आजाना, हवाई जहाज का गिर पड़ना, प्लेग या महामारी फैलने से कष्ट होना आदि निमित्तों से एक साथ बहुतों की मृत्यु होती है। इस क्रिया के तीन भेद हैं—(१) सान्तर-सामुदाणी अर्थात् काम अंतर सहित करना—बहुत से लोग मिलकर एक साथ काम करके बीच में थोड़े समय के लिए छोड़ देते हैं। फिर कुछ दिनों बाद उस काम को करते हैं। (२) निरन्तर—कुछ लोग बीच में छोड़े बिना—निरन्तर-सामुदाणी काम करते हैं। (३) तदुभय-कुछ लोग सामुदाणी काम अन्तर सहित भी करते हैं और बिना अंतर के भी करते हैं। इनसे होने वाली क्रिया सामुदाणिया क्रिया कहलाती है।

(२३) पेज्जवत्तिया (प्रेमप्रत्यया)—प्रेम (अनुराग) के कारण लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं—(१) मायाचार करने से लगने वाली क्रिया और (२) लोभ करने से लगने वाली क्रिया।

यहाँ माया लोभ को राग की प्रकृति माना गया है। अर्थात् माया और लोभ रागकषाय के भेद माने गये हैं।

(२४) दोसवत्तिया (द्वेषप्रत्यया) क्रिया—द्वेष भाव से लगने वाली

क्रिया। इसके भी दो भेद हैं—क्रोध करने से लगने वाली क्रिया और (२) मान करने से लगने वाली क्रिया।

यहाँ क्रोध और मान को द्वेष कषाय की प्रकृति में अन्तर्गत किया है। इस प्रकार साम्परायिक क्रिया के २४ भेद हैं।

(२५) इरियावहिया क्रिया—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान वाले उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय भगवंतों की नामकर्मोदय आदि कारणों से योग की शुभ प्रवृत्ति होती रहती है। उससे सातावेदनीय कर्म के दलिकों का बंध होता है। किन्तु कषाय रहित होने से उन्हें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध ही होता है, स्थिति और अनुभागबंध नहीं होता है, क्योंकि यह दोनों बंध कषाय से होते हैं। इस प्रकार वीतराग भगवंतों को पहले समय में सातावेदनीय के पुद्गल बँधते हैं, दूसरे समय में उनका वेदन होता है और तीसरे समय में उनकी निर्जरा हो जाती है। इस क्रिया के दो भेद हैं— (१) छद्मस्थ अकषाय साधु को चलते-फिरते लगने वाली क्रिया और (२) सयोगकेवली (तेरहवें गुणस्थानवर्ती) अरिहंत को लगने वाली क्रिया।

यह पच्चीस क्रियाएँ कर्मबंध का कारण हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष को इनसे बचने का यथासंभव प्रयत्न करना चाहिए।

नौ तत्त्वों में से पाँचवें आस्रव तत्त्व के ४२ भेद कहे। यह सब हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं।

६—संवर तत्त्व



पाप-कर्म रूपी पानी से जीव रूपी जहाज भर गया है। कर्म-जल आस्रव रूपी छिद्रों से भरता है। अतएव व्रत-प्रत्याख्यान रूपी डाट लगाकर आस्रव रूपी छिद्रों को रोक देना संवर कहलाता है। तात्पर्य यह है कि आस्रव का रुक जाना संवर है। संवर, आस्रव का विरोधी है। आस्रव के २० भेदों से विपरीत संवर के २० भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

[१] सम्यक्त्व [२] विरति—व्रत-प्रत्याख्यान [३] अप्रमत्तता अर्थात् प्रमाद का त्याग [४] कषाय का त्याग [५] अयोगता—योग का त्याग या स्थिर करना [६] जीवों की दया पालना [७] सत्य वचन बोलना [८] अदत्तादान का त्याग करना [९] ब्रह्मचर्य पालना [१०] ममता का त्याग करना (११-१५) श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियों को वश में करना (१६-१८) मन, वचन, काय को वश करना [१९] भाण्डोपकरणों को यतनापूर्वक उठाना और रखना [२०] सुई कुसग्ग न करना अर्थात् सुई और तिनका जैसी छोटी-सी वस्तु भी यतना से लेना और रखना। इन बीस कारणों से संवर होता है।

विशेष रूप से संवर के [५७] भेद हैं। वे इस प्रकार—[१] ईर्यासमिति [२] भाषासमिति [३] एषणासमिति [४] आदाननिक्षेपण समिति [५] परिष्ठापनिकासमिति [६] मनोगुप्ति [७] वचनगुप्ति [८] कायगुप्ति (पाँच समिति और तीन गुप्ति मिलकर आठ प्रवचनमाता कहलाती हैं), [९] क्षुधा [१०] तृषा [११] शीत [१२] उष्ण [१३] दंशमशक [१४] अचेल [१५] अरति [१६] स्त्री [१७] चर्या-चलना [१८] निषद्या (बैठना), [१९] शय्या [२०] आक्रोश [२१] वध [२२] याचना [२३] अलाभ [२४] रोग [२५] तृणस्पर्श [२६] मैल [२७] सत्कार पुरस्कार [२८] प्रज्ञा [२९] अज्ञान [३०] दर्शन, इन बाईस परीषहों को जीतना [३१] क्षान्ति-क्षमा [३२] मुक्ति—निर्लोभता [३३] आर्जव [३४] मार्दव (कोमलता), [३५] लाघव [३६] सत्य [३७] संयम [३८] तप, [३९] त्याग [४०] ब्रह्मचर्य, इन दस धर्मों की आराधना करना, [४१] अनित्य [४२] अशरण [४३] संसार [४४] एकत्व [४५] [४६] अशुचि [४७] आस्रव [४८] संवर [४९] निर्जरा [५०] लोक [५१] बोधिबीज [५२] धर्म, इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना; [५३] सामायिक [५४] छेदोपस्थापनीय [५५] परिहारविशुद्धि [५६] सूक्ष्मसाम्पराय [५७] यथाख्यात, इन पाँच चारित्रों का पालन करना।

संवर के इन सत्तावन भेदों का सेवन करने से कर्म का आस्रव रुकता है और आस्रव रुकने से धीरे-धीरे आत्मा कर्मरहित होकर मुक्त हो जाता है।

७—निर्जरा तत्त्व



आत्मा रूपी नौका में कर्म रूपी पानी आ रहा था। उसे संवर रूपी डाट लगा कर रोक दिया। मगर पानी का आना रोकने से पहले जो पानी आ चुका था उसे उलीच कर नौका को पानी से रहित करना चाहिए। ऐसा करने से ही नौका किनारे लग सकती है। इस प्रकार संवर द्वारा कर्मों का आना रोक देने के साथ पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय करना आवश्यक है। उन्हें क्षय करना ही निर्जरा है। निर्जरा करने का प्रधान कारण तप है। तप के बारह भेद हैं, जिनका वर्णन तपाचार में पहले किया जा चुका है। तप के बारह भेदों के कारण निर्जरा के भी वही बारह भेद होते हैं।

८—बंध तत्त्व



दूध में पानी की तरह, धातु में मिट्टी की भाँति, फूल में इत्र के समान, तिल में तेल की नाईं आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गल आपस में मिले हुए हैं। इस प्रकार आत्मप्रदेशों का और पुद्गल के दलिकों का एकमेक होना बंध कहलाता है। बन्ध चार प्रकार का है—(१) प्रकृतिबंध (२) स्थितिबंध (३) अनुभागबंध और (४) प्रदेशबंध।

प्रकृतिबंध



'प्रकृतिः स्वभावः प्रोक्तः' अर्थात् कर्मपुद्गल जब आत्मा के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न होते हैं। उस स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं। जैसे जिस कर्म की प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करने की होती है, वह ज्ञानावरणकर्म कहलाता है। जिस कर्म में दर्शन को ढँकने का स्वभाव उत्पन्न होता है, वह दर्शनावरणकर्म कहलाता

है। यह स्वभाव मुख्य रूप से आठ प्रकार के हैं, अतः कर्म भी मुख्य रूप से आठ प्रकार के बतलाये गये हैं। उनका विस्तार इस प्रकार हैः—

(१) ज्ञानावरणकर्म—ज्ञान गुण को ढँकने वाला कर्म ज्ञानावरण या ज्ञानावरणीय कहलाता है। यह छह प्रकार से बँधता है—(१) ज्ञान और ज्ञानी की निन्दा करने से (२) ज्ञान का निह्नव (अपलाप) करने से (३) ज्ञान या ज्ञानी की आसातना करने से (४) ज्ञान सीखने में विघ्न डालने से (५) ज्ञान या ज्ञानी पर द्वेषभाव रखने से और (६) ज्ञानी के साथ विसंवाद अर्थात् झगड़ा करने से।

छह प्रकार से बाँधे ज्ञानावरणकर्म का फल दस प्रकार से भोगना पड़ता हैः—(१) मतिज्ञानावरण (निर्मल मतिज्ञान की प्राप्ति न होना) (२) श्रुतज्ञानावरण (श्रुतज्ञान की विशिष्ट प्राप्ति न होना), (३) अवधिज्ञानावरण (अवधिज्ञान की प्राप्ति न होना), (४) मनःपर्यायज्ञानावरण (मनःपर्याय ज्ञान की प्राप्ति न होना), (५) केवलज्ञानावरणीय (केवलज्ञान की प्राप्ति न होना), (६) बहिरा होना (७) अंधा होना (८) सूँघने की शक्ति न पाना (९) गूँगा होना (१०) स्पर्श की अनुभूति से शून्य होना अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय की शक्ति का मारा जाना।

(२) दर्शनावरणकर्म—आत्मा के दर्शनगुण को रोकने वाला कर्म दर्शनावरण कहलाता है। यह कर्म भी ज्ञानावरणकर्म की भाँति छह प्रकार से बँधता है। ज्ञानावरण कर्म के बंध में जहाँ ज्ञान और ज्ञानी का कथन है, वहाँ दर्शनावरण के बंध में दर्शन और दर्शनवान् कहना चाहिए, जैसे दर्शन और दर्शनवान् की निन्दा करना आदि।

दर्शनावरणकर्म नौ प्रकार से भोगा जाता हैः—(१) चक्षुदर्शनावरणीय (२) अचक्षुदर्शनावरणीय (३) अवधिदर्शनावरणीय (४) केवलदर्शनावरणीय (५) निद्रा (सहज ही उड़ जाने वाली नींद), (६) निद्रानिद्रा (कठिनाई से भंग होने वाली निद्रा), (७) प्रचला (बैठे-बैठे आने वाली निद्रा), (८) प्रचलाप्रचला (रास्ते चलते आने वाली निद्रा), (९) स्त्यानगृद्धि (जिस

निद्रा के समय दिन में सोचा हुआ कार्य सोते-सोते कर लिया जाय। इस निद्रा के समय मृत्यु हो जाय तो नरकगति प्राप्त होती है।)

(३) वेदनीयकर्म—जिसके निमित्त से सुख और दुःख का अनुभव हो, वह वेदनीयकर्म कहलाता है। इसके दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीयकर्म दस प्रकार से बँधता है—(१) प्राणानुकम्पा से अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों की दया करने से (२) भूतानुकम्पा से अर्थात् वनस्पतिकाय पर दया करने से (३) जीवानुकम्पा से अर्थात् पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करने से, उनके दुःख को दूर करने से, उन्हें साता पहुँचाने से (४) सत्वानुकम्पा से अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय तेजस्काय और वायुकाय के जीवों की रक्षा करने से (५) बहुत प्राणों जीवों, सत्वों और भूतों को दुःख न देने से (६) उन्हें शोक न उपजाने से (७) त्रास न देने से (८) नहीं रुलाने से (९) नहीं मारने से (१०) परिताप न पहुँचाने से।

इन दस कारणों से बाँधे हुए सातावेदनीय कर्म के शुभ फल इस प्रकार भोगे जाते हैं—(१) मनोज्ञ (इष्ट) शब्दों की प्राप्ति होना (२) मनोज्ञ रूप की प्राप्ति (३) मनोज्ञ गंध की प्राप्ति (४) मनोज्ञ रस की प्राप्ति (५) मनोज्ञ स्पर्श की प्राप्ति (६) मन का आनन्द में रहना (७) वचन मधुर होना (८) काय निरोगी और स्वरूपवान् होना।

असातावेदनीय कर्म का बंध बारह* प्रकार से होता है—[१] प्राणी, भूत, जीव, सत्व को दुःख देना [२] शोक उपजाना [३] रुलाना [४] झुराना [५] मारना [६] परिताप देना, यह छह कार्य सामान्य रूप से करे और इन्हीं छह कार्यों को विशेष रूप से करे तो बारह प्रकार से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

---

* *कोई बारह प्रकार इस तरह गिनते हैं—(१) परदुक्खणाए (२) परसोयणयाए (३) परझूरणाए (४) परतिप्पणयाए (५) परपिट्टणयाए (६) परपरियावणयाए (७) बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए (८) सोयणयाए (९) झूरणाए (१०) तिप्पणयाए (११) पिट्टणयाए (१२) परियावणयाए।*

असातावेदनीय कर्म का अशुभ फल आठ प्रकार से भोगा जाता है— (१) अमनोज्ञ शब्द की प्राप्ति (२) अमनोज्ञ रूप की प्राप्ति (३) अमनोज्ञ गंध की प्राप्ति (४) अमनोज्ञ रस की प्राप्ति (५) अमनोज्ञ स्पर्श की प्राप्ति (६) मन उदास रहना (७) वचन कठोर होना (८) शरीर रोगी और कुरूप होना। यह आठ प्रकार के सातावेदनीय से उलटे हैं।

(४) मोहनीयकर्म—आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्रगुण का घात करने वाला कर्म मोहनीय कहलाता है। यह छह कारणों से बँधता है:— [१] तीव्र क्रोध [२] तीव्र मान [३] तीव्र माया [४] तीव्र लोभ [५] तीव्र दर्शनमोहनीय—धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करना [६] तीव्र चारित्रमोहनीय—चारित्रधारी का वेष धारण करके अचारित्रधारी सरीखा आचरण करना।

मोहनीय कर्म पाँच प्रकार से भोगा जाता है—सम्यक्त्वमोहनीय अर्थात् सम्यक्त्व की मलीनता होना [२] मिथ्यात्व की तीव्रता होना [३] सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) प्राप्त होना [४] कषायवेदनीय (कषायचारित्र-मोहनीय) अर्थात् क्रोध आदि चार कषायों वाला अथवा अनन्तानुबंधी आदि सोलह कषायों वाला होना [५] नोकषायवेदनीय (नोकषायचारित्रमोहनीय) अर्थात् हास्य आदि नौ नोकषाय वाला होना। इस तरह पाँच प्रकार से अथवा बिस्तार से कहा जाय तो ३ दर्शनमोहनीय, ९ नोकषायचारित्रमोह-नीय और १६ कषायमोहनीय, इस तरह २८ प्रकार से मोहनीयकर्म का फल भोगा जाता है।

(५) आयुकर्म—जो कर्म जीव को किसी भव—विशेष में बनाये रखता है वह आयुकर्म कहलाता है। इसके चार भेद हैं—(१) नरकायुकर्म (२) तिर्यञ्चायुकर्म (३) मनुष्यायुकर्म और (४) देवायुकर्म। इनमें से नरकायु का बंध चार कारणों से होता है—महारंभ करने से अर्थात् जिनमें छह काय के जीवों की सदा हिंसा होती हो ऐसे कार्य करने से (२) महापरिग्रह से अर्थात् प्रबल लालसा या तृष्णा रखने से (३) मद्य-मांस का आहार करने से (४) पंचेन्द्रिय जीवों की घात करने से।

तिर्यंचायु का बंध चार प्रकार से होता है—(१) कपट सहित झूठ बोलने से (२) घोर दगाबाजी करने से (३) झूठ बोलने से और (४) खोटे नाप-तोल रखने से।

मनुष्य का आयु चार कारणों से बँधता है:—(१) स्वभाव से सरलता—निष्कपटता होना (२) स्वभाव से ही विनयशीलता होना (३) जीवदया करना (४) ईर्षा-द्वेष से रहित होना।

देव की आयु भी चार कारणों से बँधती है—(१] सरागसंयम अर्थात् संयम तो पालना किन्तु शरीर या शिष्यों पर ममत्व होना (२) श्रावक के व्रतों का पालन करना (३) बालतप अर्थात् ज्ञानहीन तप करना (४) अकाम निर्जरा अर्थात् परवश होकर दुःख सहन करना किन्तु समभाव रखना।

इस प्रकार सोलह कारणों से चार आयु का बंध होता है। उसका फल उस-उस आयु की प्राप्ति होना है। नरकगति और देवगति का आयुष्य जघन्य दस हजार वर्ष और अन्तर्मुहूर्त्त का तथा उत्कृष्ट पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक तेतीस सागरोपम का है। तिर्यञ्च और मनुष्य का आयुष्य जघन्य अन्तमुहूर्त्त का और उत्कृष्ट पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक तीन पल्योपम का है।

(६) नामकर्म—जिस कर्म के निमित्त से जीव के शरीर आदि का निर्माण होता है वह नामकर्म कहलाता है। वह दो प्रकार का है—(१) शुभनामकर्म और (२) अशुभनामकर्म। शुभनामकर्म का बंध चार प्रकार से होता है—(१) काय की सरलता से (२) भाषा की सरलता से (३) मन की निर्मलता से और (४) विसंवाद—झगड़े-झंझटों से दूर रह कर प्रवृत्ति करने से।

शुभनामकर्म का फल चौदह प्रकार से भोगा जाता है:—(१) इष्ट शब्द (२) इष्ट रूप (३) इष्ट गंध (४) इष्ट रस (५) इष्ट स्पर्श (६) मनोज्ञ चाल (७) सुखकारी आयुष्य (८) मनोज्ञ लावण्य-सौन्दर्य (९) इष्ट यशो-कीर्ति (१०) इष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम (पड़ी हुई किसी चीज़ को लेने के लिए उद्यत होना उत्थान है, उसे लेने लिये जाना

कर्म है, उसे उठा लेना बल है, उठाकर योग्य स्थल पर शरीर के ऊपर धारण करना वीर्य है, उठा कर ले चलना पुरुषकार है और जहाँ ले जाना है वहाँ पहुचा देना पराक्रम है। इन छहों) की प्राप्ति होती है। (११) मधुर स्वर (१२) वल्लभ—कान्त स्वर (१३) प्रिय स्वर और (१४) मनोज्ञ स्वर; इस तरह चौदह प्रकार के फल की प्राप्ति होती है।

अशुभ नामकर्म चार प्रकार से बँधता है:—(१) काय की वक्रता (२) भाषा की वक्रता (३) मन की वक्रता अर्थात् मन में कुछ और, वचन में कुछ और तथा काय से कुछ और करने से तथा (४) विसंवाद करने—कदाग्रह करने से अशुभनामकर्म का बंध होता है।

अशुभ नाम का फल चौदह प्रकार से भोगा जाता है:—(१) अनिष्ट शब्द (२) अनिष्ट रूप (३) अनिष्ट गंध (४) अनिष्ट रस (५) अनिष्ट स्पर्श (६) अनिष्ट गति-चाल (७) अनिष्ट स्थिति (८) अनिष्ट लावण्य अर्थात् कुरूपता (९) अपयश-अकीर्ति (१०) अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम (११) हीन स्वर (१२) दीन स्वर [१३] अनिष्ट स्वर (१४) अकान्त-स्वर—अप्रिय शब्द।

नामकर्म की ९३ अथवा १०३ प्रकृतियाँ हैं:—४ गति, ५ जाति, ५ शरीर, ३ शरीरों के अंगोपांग,* ५ बंधन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श, ४ आनुपूर्वी,+ २ विहायोगति (गंधहस्ती या राजहंस के समान शुभ चाल और ऊँट के समान अशुभ चाल), यह पैंसठ पिण्ड प्रकृतियाँ कहलाती हैं। (६६) परघातनाम—ऐसे शरीर की प्राप्ति होना जिससे दूसरों की घात हो (६७) उच्छ्वासनाम (६८) अगुरुलघु—जिससे शरीर शीशे के पिण्ड के समान अत्यन्त भारी और आक की रुई के समान एकदम हल्का न हो (६९) आतपनाम (सूर्य के समान तेजस्विता होना), (७०) उद्योतनाम (चन्द्रमा की तरह अनुष्ण प्रकाश वाला शरीर होना), (७१)

* (१) मस्तक (२) छाती (३) पेट (४) पीठ (५-६) दो हाथ (७-८) दो पैर, यह आठ अङ्ग कहलाते हैं और उङ्गली आदि उपांग कहलाते हैं।

+ एक भव से दूसरे भव में नियत स्थान पर ले जाने वाला कर्म।

उपघातनाम (ऐसे शरीर की प्राप्ति होना कि अपने ही अंगोपांगों से आपकी घात हो), (७२) तीर्थङ्कर नाम (७३) निर्माण नाम (७४) त्रसनाम (७५) बादर नाम (७६) प्रत्येक नाम (७७) पर्याप्त नाम (७८) स्थिर नाम (७९) शुभ नाम (८०) सुभगनाम (८१) सुस्वर नाम (८२) आदेय नाम (८३) यशःकीर्त्ति नाम (८४) स्थावर नाम (८५) सूक्ष्म नाम (८६) साधारण नाम (८७) अपर्याप्त नाम (८८) अशुभ नाम (८९) अस्थिर नाम (९०) दुर्भग नाम (९१) दुस्वर नाम (९२) अनादेय नाम (९३) अयशःकीर्त्ति नाम। यह ९३ प्रकृतियाँ नामकर्म की हैं।

(७) गोत्रकर्म—जिस कर्म के उदय से लोक में प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित कुल में जन्म हो वह गोत्रकर्म कहलाता है। यह दो प्रकार का है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। उच्चगोत्र कर्म का बंध आठ प्रकार से होता है—[१] जाति अर्थात् माता के पक्ष का अभिमान न करना [२] कुल का अर्थात् पिता के पक्ष का अभिमान न करना [३] बल का अभिमान न करना [४] रूप का अभिमान न करना [५] तपस्या का अभिमान न करना [६] श्रुतज्ञान का अभिमान न करना [७] लाभ का अभिमान न करना [८] ऐश्वर्य का अभिमान न करना। उच्च गोत्र का फल भी इन्हीं आठ प्रकारों से भोगा जाता है। अर्थात् [१] उत्तम जाति प्राप्त होना [२] उत्तम कुल की प्राप्ति होना [३] विशिष्ट बल की प्राप्ति होना [४] विशिष्ट रूप की प्राप्ति होना [५] तप में शूरवीरता होना [६] श्रुत में विद्वान् होना [७] जिसे चाहे उसी वस्तु का लाभ होना [८] विशिष्ट ऐश्वर्य की प्राप्ति होना।

नीचगोत्र कर्म आठ प्रकार से बँधता है। उच्च गोत्र के बन्धन के कारणों से विपरीत आठ कारण यहाँ समझ लेने चाहिए। अर्थात् जाति आदि आठ का अभिमान करने से नीचगोत्र का बन्ध होता है। इसका फल भी उच्चगोत्र से विपरीत आठ प्रकार से भोगा जाता है। अर्थात् उच्चगोत्र के फलस्वरूप जिन जाति आदि की उच्चता प्राप्त होती है, नीचगोत्र के फलस्वरूप उन्हीं की हीनता प्राप्त होती है।

(८) अन्तराय कर्म—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न

डालने वाला कर्म अन्तराय कहलाता है। यह कर्म पाँच प्रकार से बँधता है:—[१] किसी को दान देने में बाधा डालना [२] किसी के लाभ-आमदनी में बाधा डालना [३] खान-पान आदि भोग की वस्तुओं में अन्तराय डालना [४] वस्त्र-आभूषण आदि भोग की वस्तुओं में विघ्न डालना [५] वीर्यान्तराय—किसी को धर्मध्यान न करने देना अथवा संयम न लेने देना।

इन पाँच कारणों से बाँधे हुए अन्तराय कर्म का अशुभ फल बंध के अनुसार ही पाँच प्रकार से भोगा जाता है। अर्थात् [१] दानान्तराय—दान देने में विघ्न डालने वाला दान नहीं दे पाता। [२] लाभान्तराय—लाभ में विघ्न डालने वाले को भोग की प्राप्ति नहीं होती [४] उपभोगान्तराय—उपभोग में विघ्न डालने वाले को उपभोग की प्राप्ति नहीं होती [५] वीर्यान्तराय—धर्मध्यान आदि में बाधा डालने से धर्मध्यान आदि में विघ्न उपस्थित होता है।

यहाँ आठ कर्मों के बंध के कारण और उनके फलों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, उस पर विवेकशील सज्जनों को विशेष ध्यान देना चाहिए और ऐसे कार्यों से बचना चाहिए जिनसे कर्म का बन्ध होता हो। जिनमें इतनी शक्ति नहीं है उन्हें भी कम से कम अशुभ कर्मों के बन्ध से तो बचना ही चाहिए।

आठों कर्मों के बन्ध के कारण ८५ हैं। वे इस प्रकार हैं:—ज्ञानावरण के ६, दर्शनावरण के ६, वेदनीय कर्म के २२, मोहनीय कर्म के ६, आयु कर्म के १६, नाम कर्म के ८, गोत्र कर्म के १६ और अन्तराय कर्म के ५।

आठों कर्मों के भोगने के मुख्य प्रकार ९२ हैं:—ज्ञानावरणीय के १०, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के १६, मोहनीय के ५, आयु के ४, नाम के २८, गोत्र के १६ और अन्तराय के ५। यह प्रकृतिबन्ध हुआ।

स्थितिबंध



आत्मा के साथ कर्मों के बँधे रहने की कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इन तीनों कर्मों का अबाधा काल* तीन हजार वर्ष का है।

सातावेदनीय कर्म की स्थिति जघन्य दो समय की (ईरियावहिया क्रिया की अपेक्षा) है और उत्कृष्ट पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। अबाधाकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट डेढ़ हजार वर्ष का है। असातावेदनीय कर्म की स्थिति जघन्य १२ मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ७ हजार वर्ष का है। आयुकर्म की स्थिति चारों गतियों की जो स्थिति बतलाई गई है उतनी ही समझनी चाहिए। वह इस प्रकार है— नारकों और देवों की जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष की, उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है। मनुष्य और तिर्यञ्च की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्य की है। अबाधाकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट संख्यात वर्ष की आयु वालों की भोगी जाने वाली आयु का तीसरा, नौवाँ, सत्ताईसवाँ भाग, यावत् अन्तिम आयु जब अन्तर्मुहूर्त्त रहता है, उसका भी तीसरा भाग समझना चाहिए। असंख्यात वर्ष की आयु वालों का अबाधाकाल छह मास का होता है। नाम और गोत्र की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इनका अबाधाकाल दो हजार वर्ष का है। इस प्रकार आयु का बंध होना स्थितिबंध है।

अनुभागबंध



बँधे हुए कर्मों में फल देने की जो न्यूनाधिक शक्ति उत्पन्न होती

* बन्ध और उदय के बीच का काल अबाधाकाल कहलाता है।

है, वह अनुभागबंध है। (१) ज्ञानावरणकर्म का फल आत्मा के अनन्त ज्ञानगुण को आच्छादित करना है। (२) दर्शनावरण कर्म का फल अनन्त दर्शन का आच्छादित होना है। (३) वेदनीय कर्म का फल आत्मा के अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख को रोकना है (४) मोहनीय कर्म का फल आत्मा के अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र को प्रकट न होने देना है। (५) आयुकर्म का फल अक्षय स्थिति में रुकावट डालना है। (६) नामकर्म आत्मा के अमूर्तिक गुण का घात करता है। (७) गोत्रकर्म आत्मा के अगुरुलघु गुण का घात करता है। (८) अंतरायकर्म आत्मा की अनन्त आत्मिक शक्ति को रोकता है।

कर्मों का रसोदय दो प्रकार से होता है। अभव्य और एकेन्द्रिय आदि जीवों के तीव्र रसोदय होने से वे पराधीन होकर आत्मिक गुणों को प्रकट करने में असमर्थ होते हैं जिन भव्य जीवों का रसोदय मन्द पड़ता जाता है, वे अकाम निर्जरा और सकामनिर्जरा के द्वारा ज्यों-ज्यों कर्मों का रस पतला होता जाता है, त्यों-त्यों उच्चता प्राप्त करते-करते अन्त में परिपूर्णता प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् आत्मिक गुणों को पूर्ण रूप से विकसित कर लेते हैं।

प्रदेशबंध



कार्मणवर्गणा के पुद्गलों के दलिकों का अमुक परिमाण में बँधना प्रदेशबंध कहलाता है। आठों कर्मों के दलिक (प्रदेश) आत्मप्रदेशों के साथ किस प्रकार संबंधित हैं, यह दृष्टांत द्वारा समझाया जाता है। (१) जैसे बादलों के आड़े आजाने से सूर्य का प्रकाश मंद पड़ जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के प्रदेश आत्मा के ज्ञान रूप प्रकाश को मंद कर देते हैं। (२) जैसे आँखों पर पट्टी बाँधने से पदार्थ दिखाई नहीं देते अथवा रंगीन चश्मा लगाने से पदार्थ अन्यथा रंग वाले दिखाई देते हैं, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के कारण पदार्थ नहीं दिखाई देते अथवा यथार्थ रूप में दिखाई नहीं देते। (३) जैसे शहद से लिपटी तलवार चाटने पर पहले थोड़ी-सी मिठास मालूम होती है किन्तु जीभ कट जाने के कारण बाद में महान् वेदना होती है, उसी प्रकार सातावेदनीय में लुब्ध जीव थोड़ा-सा विकारी सुख प्राप्त करते हैं किन्तु

उसके फल स्वरूप घोर दुःख पाते हैं। जैसे अफीम लपेटी तलवार को चाटने से पहले भी और पश्चात् भी दुःख होता है, उसी प्रकार असातावेदनीय कर्म बाँधते समय और भोगते समय—दोनों समय दुःख का अनुभव होता है। (४) जैसे शराबी सुध-बुध भूलकर, बेभान हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से जीव आत्मभान भूल कर विभाग परिणति वाला होकर पुद्गलानन्दी बन जाता है। (५) कारागार में पड़ा हुआ मनुष्य यथेच्छ गमनागमन नहीं कर सकता, उसी प्रकार आयुकर्म के उदय से जीव देह रूपी कारागार में फँसा रहता है। (६) जैसे चित्रकार अपनी इच्छा के अनुसार भाँति-भाँति के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म के योग से जीव नाना प्रकार के शरीर और नाना रूप धारण करता है। (७) जैसे कुंभार एक ही मिट्टी से अनेक बर्त्तन बनाता है और उन में से कोई मल-मूत्र त्यागने के काम में आता है और कोई घट आदि पूजा जाता है, उसी प्रकार गोत्र कर्म के उदय से एक ही प्रकार के शरीर के धारक भी कोई प्रतिष्ठा पाते हैं और कोई अप्रतिष्ठित समझे जाते हैं। (८) जैसे राजा की इच्छा अमुक रकम अमुक को देने की होने पर भी भंडारी (कोषाध्यक्ष) जब दे तभी उस रकम की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार स्वभाव से ही सब जीव अनन्त सुख के धनी होने पर भी उन्हें अन्तराय कर्म के उदय से इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती।

चारों बन्धों पर लड्डू का दृष्टांत—सोंठ, मैंथी आदि वस्तुएँ मिला कर लड्डू बनाया गया। वह लड्डू वात आदि विकारों को दूर करता है। यह उसकी प्रकृति (स्वभाव) हुई। वह लड्डू एक महीना या दो महीना तक जैसी की तैसी अवस्था में रहता है, यह उसकी स्थिति (कालमर्यादा) हुई। वह लड्डू कटुक, तीखा या मीठा होता है, यह उसका रस (अनुभाग) कहलाया। कोई लड्डू बड़ा होता है, कोई छोटा होता है। अर्थात् किसी में दवाइयों का परिमाण अधिक होता है और किसी में थोड़ा होता है। यह उसके प्रदेश कहलाए। जैसे यहाँ लड्डू में चार बातें बतलाई गई हैं, उसी प्रकार बँधने वाले कर्मों में यह चार बातें होती हैं। इन्हीं को चार प्रकार का बंध कहते हैं।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रकृति और प्रदेशबन्ध

योग के निमित्त से होते हैं और स्थिति तथा रस बन्ध कषाय के निमित्त से। अगर योगों की चपलता अधिक होगी तो कर्मों के दलिक अधिक परिमाण में आएँगे। अगर चपलता कम होगी तो कम परिमाण में आएँगे। अगर कषाय तीव्र होगा तो कर्मों की स्थिति लम्बी पड़ेगी और अशुभ कर्मों का फल तीव्र होगा। अतः बन्धतत्त्व के विवेचन का सार यह है कि जहाँ तक सम्भव हो, योगों की चपलता का और कषाय का निरोध किया जाय।

९—मोक्षतत्त्व



मोक्ष, बन्ध का प्रतिपक्षी है। उक्त आठों कर्मों के बन्ध वाला जीव, संवर और निर्जरा के द्वारा पूर्ण रूप से कर्मबन्ध से छूट जाता है, अर्थात् आत्मा अपने शुद्ध—असली स्वरूप में आ जाता है, तब वह अवस्था मोक्ष कहलाती है। मोक्ष किसी स्थान को नहीं कहते किन्तु कर्मरहित जीव की शुद्ध अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं। 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'।

मोक्ष प्राप्त करने के चार कारण हैं। उन चारों कारणों का जब समवाय होता है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। शास्त्र में कहा हैः—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई॥

—उत्तराध्ययन, अ० २८

अर्थात्—सम्यग्ज्ञान द्वारा नित्य-अनित्य, शाश्वत-अशाश्वत, शुद्ध-अशुद्ध, हित-अहित, लोक-अलोक, आत्मा-अनात्मा आदि सब वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। सम्यग्दर्शन द्वारा इन वस्तुओं के स्वरूप का यथावत् श्रद्धान किया जाता है। सम्यग्दर्शन द्वारा जिन वस्तुओं एवं भावों का श्रद्धान किया है, उनमें से जो आत्मा के लिए हितकर—मोक्षदाता हो उसका आचरण करना सम्यक्चारित्र है। त्यागने योग्य का त्याग करना भी चारित्र के ही अन्तर्गत है। तप के द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों को क्षय किया

जाता है और नवीन कर्मों के आगमन को रोका जाता है। इन चार कारणों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्षशास्त्र के प्रारम्भ में ही कहा है—'सम्यग्-दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं। यहाँ तप को चारित्र में ही गर्भित कर लिया गया है।

उक्त चार मोक्ष के कारणों में से ज्ञान और दर्शन—यह दोनों आत्मा के अनादिअनन्त विशेष गुण हैं। वे मुक्त-अवस्था में भी सदैव विद्यमान रहते हैं। यह दोनों आत्मा के सहचारी गुण हैं। जैसे सूर्य का प्रताप और प्रकाश गुण एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक दूसरे के बिना नहीं रहते। अर्थात् ज्ञान के बिना दर्शन नहीं और दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। जब दर्शन मिथ्या होता है तो ज्ञान भी मिथ्या होता है और जब दर्शन सम्यक् होता है तब ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। इन दोनों गुणों की निर्मलता और सम्पूर्णता के कारण चारित्र और तप हैं। चारित्र और तप गुण सादि और सान्त हैं। मोक्ष प्राप्त करने तक ही इनकी आवश्यकता रहती है।

नौ तत्त्व की चर्चा



द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा विचार किया जाय तो उक्त नौ तत्त्वों का जीव और अजीव—इन दो तत्त्वों में ही समावेश हो जाता है। जो जीव है वह सदा जीव ही रहता है और जो अजीव है वह सदा अजीव ही रहता है। यह दोनों तत्त्व मूलभूत हैं। शेष सात तत्त्वों का जीव और अजीव में ही समावेश हो जाता है, क्योंकि वे इन्हीं दोनों से उत्पन्न हुए हैं। आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा के दो-दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। कर्मों का आना द्रव्य आस्रव है, बँधना द्रव्यबन्ध है, रुकना संवर है और आत्म-प्रदेशों से अलग होना निर्जरा है। यह सब कर्मों की अवस्थाविशेष हैं और कर्म अजीव हैं अतः द्रव्य आस्रव, द्रव्यबन्ध, द्रव्यसंवर और द्रव्यनिर्जरा अजीवतत्त्व में सम्मिलित होते हैं।

जीव के जिन भावों (परिणामों) से कर्म आते हैं, वह भावास्रव है, जिन भावों से बँधते हैं उन्हें भावबंध कहते हैं, जिन भावों से आते हुए कर्म रुकते हैं उन भावों को भाव-संवर कहते हैं और जिन भावों से कर्म अलग होते हैं उन्हें भावनिर्जरा कहते हैं। जीव के भाव जीव से भिन्न नहीं हैं, अतः भावआस्रव आदि का जीवतत्त्व में समावेश हो जाता है। पुण्य और पाप भी इसी प्रकार जीव और अजीव तत्त्व में गर्भित होते हैं। अर्थात् कार्मणवर्गणा की पुण्य और पाप रूप प्रकृतियों का अजीव में समावेश होता है और जीव के पुण्य-पाप रूप परिणामों का जीवतत्त्व में। मोक्ष जीव की ही शुद्ध अवस्था है, अतः वह जीव में ही अन्तर्गत है। अथवा द्रव्य और भाव के भेद से मोक्ष भी दो प्रकार का है। कर्मों का सर्वथा अलग होना द्रव्यमोक्ष है और जिन भावों से कर्म अलग होते हैं वे भाव भावमोक्ष हैं। इस प्रकार मोक्षतत्त्व भी जीव और अजीव में ही सम्मिलित हो जाता है।

इस प्रकार नौ तत्त्वों का द्रव्यार्थिकनय से दो तत्त्वों में समावेश हो जाता है। कहीं-कहीं पुण्यतत्त्व का शुभ आस्रव और शुभ बंध में समावेश किया जाता है और पापतत्त्व का अशुभ आस्रव में तथा अशुभ बन्ध में अन्तर्भाव किया जाता है। इस दृष्टि से तत्त्वों की संख्या सात भी होती है।

तात्पर्य यह है कि भेद और अभेद का कथन अपेक्षावाद से होता है अतः इस विषय में अपेक्षा का ध्यान रख कर ही तत्त्वों के स्वरूप का विचार करना चाहिए।

सात नय

●

नय की व्याख्या—प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। अनन्त धर्मों (गुणों) का अखण्ड पिण्ड ही वस्तु कहलाती है। इन अनन्त गुणों में से किसी एक गुण को प्रधान करके और शेष धर्मों की ओर उदासीन भाव रख कर जानना नय कहलाता है। नय, प्रमाण का एक अंश है।* प्रमाण

* संक्षेप में नयवाद की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों के वास्तविक अविरोध के मूल की खोज करने वाला और खोज करके उन

समग्र अर्थात् अनन्तधर्मात्मक पदार्थ को ग्रहण करता है और नय उनमें से एक धर्म को।

नय दो प्रकार का है—सन्नय और दुर्नय। जो नय या दृष्टिकोण एक धर्म को ग्रहण करता है किन्तु दूसरे दृष्टिकोणों से पाये जाने वाले अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता वह सन्नय है। इसके विपरीत जो नय एक धर्म का विधान करता है किन्तु साथ ही दूसरे धर्मों का निषेध भी करता है वह दुर्नय या [illegible] है।

[illegible] नय के दो भेद हैं—(१) व्यवहारनय और (२) निश्चयनय। जिसके द्वारा वस्तु का बाह्य स्वरूप जाना जाय तथा जो अपवाद मार्ग में लागू हो वह व्यवहारनय कहलाता है। जिसके द्वारा वस्तु का मूलभूत [illegible] स्वरूप जाना जाय अथवा जो उत्सर्ग मार्ग में लागू हो वह निश्चयनय कहलाता है। व्यवहारनय वस्तु के औपाधिक स्वरूप का निरूपण करता है और निश्चयनय शुद्ध स्वरूप का वर्णन करता है।

यों तो जितने भी वचन के प्रकार हैं, उतने ही नय के भेद भी हैं। पदार्थ में अनन्त धर्म हैं और एक-एक धर्म को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नय कहलाता है। इस अपेक्षा से नय के भेद भी अनन्त हैं। पर मध्यम रूप से नय के सात भेद किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—१ नैगमनय २

विचारों का समन्वय करने वाला शास्त्र नयवाद कहलाता है। उदाहरणार्थ—आत्मा के विषय में ही परस्पर विरोधी मन्तव्य मिलते हैं। कहीं 'आत्मा एक है' ऐसा कथन है तो दूसरी जगह 'आत्मा अनेक है' ऐसा कथन मिलता है। आत्मा की यह एकता और अनेकता आपस में विरोधी प्रतीत होती हैं। ऐसी स्थिति में नयवाद ने यह खोज की कि यह विरोध वास्तविक है या नहीं? अगर यह वास्तविक नहीं है तो इसकी संगति किस प्रकार से हो सकती है? नयवाद ने इसका समन्वय इस प्रकार किया कि व्यक्ति की दृष्टि से आत्मा अनेक है किन्तु शुद्ध चैतन्य की अपेक्षा एक है। इस प्रकार समन्वय करके नयवाद परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले वाक्यों (या विचारों) का अविरोध सिद्ध करता है। इसी प्रकार आत्मा की नित्यता और अनित्यता, कर्त्तापन और अकर्त्तापन आदि के मन्तव्यों का अविरोध भी नयवाद घटाता है। इस प्रकार के अविरोध का मूल विचारक की दृष्टि—तात्पर्य में रहता है। इस दृष्टि को प्रस्तुत शास्त्र में 'अपेक्षा' कहा जाता है और नयवाद, अपेक्षावाद भी कहलाता है।

—पं० सुखलालजी

संग्रहनय ३ व्यवहारनय ४ ऋजुसूत्रनय ५ शब्दनय ६ समभिरूढ़नय और ७ एवंभूतनय ।

(१) नैगमनय—'नैको गमो विकल्पो यस्य स नैगमः, पृथक्-पृथक्-सामान्यविशेषयोर्ग्रहणात् ।' अनेक प्रकार से अर्थात् सामान्य रूप से और विशेष रूप से वस्तु को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नैगमनय कहलाता है। एक गम से नहीं किन्तु अनेक गमों से, अनेक प्रकारों से, अनेक मार्गों से जो नय किसी वस्तु का स्वरूप-निरूपण करता है, उसे नैगमनय कहते हैं। नैगमनय सामान्य को भी स्वीकार करता है और विशेष को भी स्वीकार करता है। किसी वस्तु में, उसके नाम के अनुसार अंशमात्र गुण हो तो भी वह उसे पूर्ण वस्तु मानता है। वह भूत, वर्त्तमान और भविष्यकाल का ग्राहक है। भूतकाल में जो कार्य हो गया है, वर्त्तमान में जो कार्य हो रहा है और भविष्य में जो कार्य होगा, उसे सत् मानता है। नैगमनय नाना प्रकार के उपचारों को भी स्वीकार करता है।

(२) संग्रहनय—'संगृह्णाति विशेषान् सामान्यतया स्वीकरोति यः स संग्रहः।' अर्थात् विशेषों का (विभिन्न पदार्थों का) सामान्य रूप से ग्रहण करने वाला नय संग्रहनय है। जैसे जीव अजीव रूप विशेषों को 'सत्' इस एक रूप में—सामान्य रूप में संग्रहनय ग्रहण करता है। अर्थात् सत्ता की अपेक्षा जीव और अजीव एक हैं। संसारी, मुक्त, त्रस, स्थावर आदि जीव जीवत्व सामान्य की दृष्टि से एक हैं। सब प्रकार के अजीव अजीवत्व के लिहाज़ से एक हैं। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों में पाये जाने वाले सामान्य धर्म को प्रधान करके संग्रहनय उन व्यक्तियों में एकता स्थापित करता है। संग्रहनय विशेष को स्वीकार नहीं करता। यह नय भी त्रिकाल-विषयक है और नैगमनय की भाँति ही चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है।

(३) व्यवहारनय—'वि-विशेषतयैव सामान्यमवहरति-मन्यते योऽसौ व्यवहारः।' अर्थात् सामान्य को विशेष रूप से ग्रहण करना व्यवहारनय है। संग्रहनय के द्वारा सामान्य रूप में ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधि पूर्वक भेद करना व्यवहारनय का काम है। व्यवहारनय वस्तु के बाह्य

स्वरूप के गुणों को वस्तु मानता है और सिर्फ विशेषों को ही स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ—जीवत्व-सामान्य को स्वीकार करके संग्रहनय ने एक जीव माना था। व्यवहारनय मानता है कि जो जीव है वह या तो संसारी है या मुक्त हैं। इनमें भी संग्रहनय सब संसारी जीवों को एक मानता है। व्यवहार-नय उनमें भी भेद करता है कि जो संसारी जीव है वह या तो त्रस है या स्थावर है। इस प्रकार विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है। व्यवहारनय का कथन है कि—कोयल काली है, तोता हरा है और हंस सफेद है। (जब कि निश्चयनय इन प्रत्येक में पाँचों रंग मानता है।) यह नय भी तीनों कालों को स्वीकार करता है और चारों निक्षेपों को मानता है।

(४) 'ऋजुसूत्रनय—ऋजु—वर्त्तमानमेव सूत्रयति विकल्पयति यः स ऋजुसूत्रकः।' यह नय मुख्यतया वर्त्तमानकाल के पर्याय को ही स्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि जो दृष्टिकोण भूतकाल और वर्त्तमानकाल की उपेक्षा करके वर्त्तमान कालीन पदार्थ की पर्याय मात्र को ही वस्तु मानता है वह ऋजुसूत्र नय कहलाता है। इस नय के अभिप्राय से समस्त पदार्थ क्षणविन-श्वर हैं, कोई स्थायी रूप से रहने वाले नहीं हैं। यह नय चार निक्षेपों में से केवल भावनिक्षेप को ही स्वीकार करता है। दृष्टान्त—एक सेठ श्रावक सामायिक में बैठे थे। उस समय कोई उन्हें बुलाने आया। सेठ की पुत्र-वधू घर पर थी। वह बड़ी चतुर और बुद्धिमती थी। जब आने वाले ने पूछा—क्या सेठजी घर पर हैं ? तो बहू ने उत्तर दिया—सेठजी जूता खरीदने चमार के घर गये हैं। वह आगन्तुक चमार के घर पहुँचा। सेठजी वहाँ नहीं मिले तो लौटकर फिर उसने पूछा—सेठजी चमार की दुकान पर नहीं हैं। क्या लौट आये हैं ? तब बहू ने कहा—पंसारी की दुकान पर सोंठ लेने गये हैं। वह बेचारा पंसारी की दुकान पर पहुँचा। सेठजी वहाँ भी नहीं मिले। तब वह घबरा कर कहने लगा-बहिन ! क्यों चक्कर कटवा रही हो ? ठीक-ठीक बतलाओ न, सेठजी कहाँ है ? इतने में सेठजी की सामायिक पूरी हो गई। सामायिक पार कर सेठजी बाहर निकले और बहू पर नाराज होकर कहने लगे—तुम इतनी चतुर हो, फिर झूठ क्यों बोलीं ? तब बहू ने विनय-पूर्वक कहा—क्या सामायिक में बैठे-बैठे आपका विचार चमार और पंसारी

की दुकान पर नहीं गया था ? बहू का यह उत्तर सुन कर सेठजी चकित रह गये। उन्होंने कहा—हाँ, मन गया तो था सही। पर तुझे कैसे मालूम पड़ा? बहू ने कहा—आपकी अंग-चेष्टाओं से मैं ने यह अनुमान किया। (किसी-किसी का कहना है कि बहू को विशिष्ट ज्ञान था)।

इस दृष्टान्त का आशय यही है कि जैसे बहू ने सेठजी के वर्त्तमान कालीन विचार को सेठजी समझा, इसी प्रकार जो नय वर्त्तमानकालीन पर्याय को ही वस्तु समझता है, वह ऋजुसूत्र नय है।

वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ॥
—दशवैकालिक, अ० २, गा. २

अर्थ—जो पुरुष विवश-पराधीन होने के कारण वस्त्र, गंध, आभूषण, स्त्री और शय्या आदि का उपभोग नहीं करते हैं, जिनमें भोग की आकांक्षा बनी हुई है, वह त्यागी नहीं कहलाते।

जे य कंते पिये भोए, लद्धे वि पिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥
—दश० अ० २, गा. ३.

जो पुरुष कमनीय और प्रिय भोगों के प्राप्त होने पर भी उनसे विमुख हो जाता है और अपनी इच्छा से उन भोगों का परित्याग करता है, वह त्यागी कहलाता है।

यह कथन ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से जानना चाहिए। ऋजुसूत्र नय सिर्फ भावनिक्षेप को स्वीकार करता है।

(५) जो नय पर्यायवाचक शब्दों में काल का, लिंग का, वचन का या उपसर्ग का भेद होने पर अर्थ में भेद मानता है वह शब्दनय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि एक वस्तु के वाचक अनेक शब्द होते हैं। उनमें कोई शब्द स्त्रीलिंग होता है, कोई पुंलिंग होता है और कोई

नपुंसकलिंग होता है। कोई शब्द एक वचन वाला और कोई बहुवचन वाला होता है। इस प्रकार लिंग, वचन, कारक आदि का भेद शब्दों में भले हो पर उन सब के अर्थ में भेद नहीं है, यह ऋजुसूत्र नय का अभिप्राय है। किन्तु शब्दनय लिंग आदि के भेद से अर्थ में भेद मानता है। हाँ, काल आदि का भेद न हो तो अलग-अलग शब्दों के अलग-अलग अर्थों को यह नय नहीं देखता। उदाहरणार्थ—इन्द्र के अनेक नाम हैं—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, देवराज आदि। इन सब शब्दों में अर्थ की जो विशेषता है, उसकी उपेक्षा करके सब को एकार्थक मानना ही ऋजुसूत्रनय का अभिप्राय है।

(६) समभिरूढनय—'सम्-सम्यक्प्रकारेण पर्यायपर्यायैरारूढमर्थं तथैव भिन्नवाच्यं मन्यमानः समभिरूढो नयः।' समभिरूढ़नय, शब्दनय से भी सूक्ष्म है। शब्दनय अनेक पर्यायवाची शब्दों का अर्थ एक ही मानता है जब कि समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थ में भी भेद स्वीकार करता है। इस नय के अभिप्राय से कोई भी दो शब्द एक अर्थ के वाचक नहीं होते। पहले इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्दों की जो एकार्थकता बतलाई है, वह इस नय को स्वीकार नहीं है। इस के अभिप्राय से इन्द्र का अर्थ अलग है, शक्र का अर्थ भिन्न है और पुरन्दर आदि शब्द भी अलग अर्थ के वाचक हैं।

(७) एवंभूतनय—'भूतशब्दोऽत्र तुल्यवाची, एवं यथा वाचके शब्दे यो व्युत्पत्तिरूपो विद्यमानोऽर्थोऽस्ति तथाभूततुल्यार्थक्रियाकारि एव वस्तु मन्यमानः एवंभूतो नयः।' भूत शब्द यहाँ तुल्य का वाचक है। अतः जिस शब्द का जो व्युत्पत्ति रूप अर्थ होता है, उसी के अनुसार अर्थक्रिया करने वाले पदार्थ को ही उस शब्द का वाच्य मानने वाला नय एवंभूतनय कहलाता है। वस्तु का जैसा काम, जैसा परिणाम वैसा ही उसका नाम होना चाहिए, यह इस नय की मान्यता है।

तात्पर्य यह है कि एवंभूतनय पूर्वोक्त सभी नयों से सूक्ष्म है। इस नय के अभिप्राय से सभी शब्द क्रिया-शब्द हैं अर्थात् किसी न किसी क्रिया

के ही बोधक होते हैं। अतः जो वस्तु जिस समय अपने नाम के अनुसार क्रियापरिणत हो, उसी समय उसको उस नाम से कहना चाहिए। अन्य समय में नहीं। जो व्यक्ति जिस समय भोजन पका रहा हो, उसी समय उसे पाचक कहा जा सकता है। जब वह पकाने की क्रिया न करके और क्रिया कर रहा हो तब उसे पाचक नहीं कहा जा सकता। जब देवराज ऐश्वर्य को भोग रहा हो तभी उसे इन्द्र कह सकते हैं, जब वह शत्रु के नगर का ध्वंस कर रहा हो, तभी वह पुरन्दर कहला सकता है। यह नय वस्तु का जैसा उपयोग हो, उसी प्रकार उसे मानता है। असंख्यात प्रदेशयुक्त धर्मास्तिकाय हो तो ही उसे धर्मास्तिकाय द्रव्य मानता है।

सातों नयों पर दृष्टांत

नयों का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझने के लिए सातों नयों पर एक समुच्चय दृष्टांत देना आवश्यक है। वह इस प्रकार है:—किसी ने किसी से पूछा—आप कहाँ रहते हैं? तब उसने उत्तर दिया—मैं लोक में रहता हूँ। तब अशुद्ध नैगम नय वाला कहता है—लोक तो तीन हैं। उनमें से आप कहाँ रहते हैं? तब उस नैगम नय वाले ने उत्तर दिया—मैं तिर्छे लोक में रहता हूँ। तब फिर उससे पूछा—तिर्छे लोक में तो असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। आप किस द्वीप या समुद्र में रहते हैं? उसने कहा—जम्बूद्वीप में रहता हूँ। प्रश्न किया गया—जम्बूद्वीप में तो बहुत-से क्षेत्र हैं, आप किस क्षेत्र में रहते हैं? उसने कहा—भरतक्षेत्र में रहता हूँ। प्रश्न किया गया—भरतक्षेत्र में तो छह खण्ड हैं। आप किस खण्ड में रहते हैं? तब अति शुद्ध नैगमनय वाला बोला—मैं दक्षिण भरत के मध्य खण्ड में रहता हूँ। प्रश्न किया गया—मध्यखण्ड में तो बहुत देश हैं। उनमें से आप किस देश में रहते हैं? उत्तर मिला—मैं मगध देश में रहता हूँ। तब प्रश्न किया गया—मगध देश में तो बहुतेरे ग्राम हैं। आप उनमें से किस ग्राम में रहते हैं? उत्तर मिला—मैं राजगृही नगरी में रहता हूँ। पूछा गया—राजगृही नगरी में तो १३ पाड़े (मुहल्ले) हैं। आप किसमें रहते हैं? उत्तर

मिला—मैं नालन्दा मुहल्ले में रहता हूँ। फिर प्रश्न किया गया—नालन्दा मुहल्ले में तो साढ़े तीन करोड़ घर हैं। आप किस घर में रहते हैं? उत्तर मिला—मैं बिचले घर में रहता हूँ। इतनी बात सुनकर नैगमनय वाले ने प्रश्न करना छोड़ दिया। तब संग्रहनय वाला बोला—बिचले घर में तो बहुत-से खण्ड हैं तो ऐसा कहना चाहिए कि मैं अपने बिछौने जितनी जगह में रहता हूँ। तब व्यवहारनय वाले ने कहा—क्या आप अपने सारे बिछौने में रहते हैं? उत्तर दिया गया—मैं अपने शरीर के बराबर ग्रहण किये हुए आकाशप्रदेशों में रहता हूँ। तब ऋजुसूत्र वाले ने कहा—शरीर में तो हाड़, मांस, चमड़ी, केश आदि हैं, असंख्य सूक्ष्म स्थावर काय और बादर वायुकाय वगैरह के भी जीव हैं। द्वीन्द्रिय (कृषि) आदि बहुत-से जीव हैं। अतएव यह कहना चाहिए कि मेरी आत्मा ने आकाश के जितने प्रदेशों का अवगाहन किया है, उतने आकाशप्रदेशों में रहता हूँ। तब शब्दनय कहता है—आत्मप्रदेशों में तो धर्मास्तिकाय आदि पाँचों अस्तिकायों के असंख्यात प्रदेश हैं, अतः यों कहना चाहिए कि मैं अपने स्वभाव में रहता हूँ। तब समभिरूढ़ नय वाले ने कहा—स्वभाव की प्रवृत्ति तो क्षण-क्षण में बदल रही है और उसमें योग, उपयोग, लेश्या आदि अनेक वस्तुएँ हैं। इसलिए यह कहना चाहिए कि मैं अपने निजात्मगुणों में रहता हूँ। तब अन्त में एवंभूत नय ने कहा—निजात्मगुणों में तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र, यह तीन प्रधान हैं। प्रभु ने कहा है कि एक साथ दो जगह उपयोग नहीं रहता। अतएव यह कहो कि मैं अपने शुद्ध निजात्मगुण का जिस समय जो उपयोग प्रवर्त्तता है, उसमें रहता हूँ। सातों नयों का यह उदाहरण श्रीअनुयोगद्वारसूत्र में बतलाया है। इससे सातों नयों का दृष्टिकोण कितना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है, यह बात भलीभाँति समझी जा सकती है। विचार की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता बतलाने के लिए यह दृष्टांत है।

दूसरा दृष्टांत—नैगमनय वाला एक बढ़ई पायली (अनाज नापने का लकड़ी का नाप) बनाने के लिए लकड़ी लेने जा रहा था। तब व्यवहार नय वाले ने प्रश्न किया—कहाँ जा रहे हो? बढ़ई ने उत्तर दिया—पायली लेने जा रहा हूँ। इसी प्रकार लकड़ी काटते समय, लकड़ी लेकर

घर आते समय, पायली बनाते समय, जब-जब भी उससे पूछा गया, उसने यही उत्तर दिया कि पायली बना रहा हूँ ।

जब यह उत्तर सुना कि 'पायली बनाई' तब तक व्यवहारनय वाला चुप रहा । उस समय संग्रह नय वाला बोला-जब अनाज का संग्रह करो तब पायली कहना । यों पायली नहीं कहलाती । ऋजुसूत्र नय वाला बोला—धान्य का संग्रह करने मात्र से भी पायली नहीं कही जा सकती। जब पायली से धान्य को नापा जायगा तब पायली कहलाएगी । शब्दनय वाला कहता है—धान्य नापते समय एक, दो, तीन आदि जब बोलोगे तब पायली कहलाएगी । समभिरूढ़नय वाले ने कहा—एक दो-तीन आदि बोलने से भी पायली नहीं कहलाएगी, किसी कार्य से नाप करोगे तब पायली कहना । एवंभूत वाला बोला—किसी कार्य से नाप करने मात्र से भी पायली नहीं कही जा सकती, किन्तु पायली से नापते समय नापने वाले का उपयोग जब नापने में प्रवृत्त होगा तब ही पायली कही जाएगी ।

यह दृष्टांत भी मुख्य रूप से यह बतलाने के लिए है कि सातों नयों दृष्टिकोण उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता है ।

यह पहले कहा जा चुका है कि वस्तु में अनन्त धर्म हैं और उनमें से एक-एक नय एक-एक धर्म को ग्रहण करता है । अतएव इन सातों नयों से वस्तु को मानने वाला ही सम्यग्दृष्टि कहलाता है । जो दूसरे नयों का निषेध करके सिर्फ एक ही नय को स्वीकार करता है, वह वस्तु के समस्त धर्मों का निषेध करके एक ही धर्म को अंगीकार करता है । अतएव वह एकान्तवादी है, मिथ्यादृष्टि है । क्योंकि एक नय सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकता और एक नय से व्यवहार भी नहीं चल सकता । उदाहरण के लिए—कोई पूछे कि अनाज किससे उत्पन्न होता है ? तब एक ने उत्तर दिया—पानी से । दूसरे ने कहा—भूमि से । तीसरा बोला—हल से । चौथा कहता है—बादल से । पाँचवाँ बोला—बीज से। छठे ने कहा—ऋतु से । सातवें ने कहा—भाग्य से । अब सोचना चाहिए कि इन सात उत्तरों में से कौन-सा उत्तर सही है और कौन-सा गलत ? वास्तव में यदि

यह सातों कारण अकेले-अकेले हों तो अनाज उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अतः सातों उत्तर गलत साबित होते हैं। किन्तु सातों कारण यदि एकत्र हों तो अनाज की उत्पत्ति होती है। अतः एकान्तवाद सदा मिथ्या ठहरता है। प्रत्येक कार्य में नाना कारणों की आवश्यकता रहती है। उन 'नाना' का समन्वय करने से ही सत्य प्रकट होता है। अतएव नय की अपेक्षा का ध्यान रखकर निष्पक्ष बुद्धि से वस्तुतत्त्व को कहना और समझना चाहिए।

उक्त सातों नयों में से नैगम, संग्रह और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत नय पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं। द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को विषय करते है और पर्यायार्थिक नय पर्याय को।

इन सात नयों का अर्थनय और शब्दनय के रूप में भी विभाग होता है। प्रारंभ के चार नय अर्थनय कहलाते हैं और शब्द समभिरूढ़ तथा एवंभूत यह तीन नय शब्दनय कहलाते हैं। जो नय वस्तु को विषय करते हैं वे अर्थनय हैं और जो शब्द को विषय करते हैं वे शब्दनय कहे जाते हैं।

नौ तत्त्वों पर सात नय



जीवतत्त्व—नैगम नय पर्याप्ति, प्राण आदि के समूह वाले एवं प्रयोगसा पुद्‌गलों के संयोग से बने हुए दिखाई देने वाले शरीर को ही जीव मानता है। यथा-बैल, गाय, मनुष्य आदि वस्तुओं में गमनागमन आदि क्रिया देखी जाती है, उन्हें जगत् कहता है कि यह 'जीव' है। नैगम नय वाला एक अंश को पूर्ण वस्तु मानता है और कारण को कार्य स्वीकार करता है। संग्रहनय असंख्यात प्रदेशात्मक अवगाहना वाली वस्तु को जीव कहता है। व्यवहार नय इन्द्रियों की सत्ता, द्रव्य योग और द्रव्य लेश्या को जीव कहता है; क्यों कि जीव के चले जाने के पश्चात् इन्द्रिय की सत्ता नहीं

रहती। ऋजुसूत्रनय उपयोगवान् वस्तु को जीव मानता है।* शब्द नय जहाँ जीव का अर्थ पाया जाय उसे जीव मानता है। जैसे—अतीत काल में जीव था, वर्त्तमान काल में जीव है और भविष्य काल में जीव रहेगा। शब्द नय द्रव्य आत्मा को जीव मानता है, क्यों कि तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गल जीव के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं और लगे रहेंगे। समभिरूढ़ नय शुद्ध सत्ताधारक, ज्ञान आदि निज गुणों में रमण करने वाले क्षायिक सम्यक्त्वी को जीव मानता है। एवंभूत नय सिद्ध भगवान् की आत्मा को ही जीव मानता है।

(२) अजीव तत्त्व—अजीव तत्त्व के मुख्य पाँच भेद हैं और उन पाँचों पर सातों नय लागू पड़ते हैं। पाँच भेद यह हैं:—(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) काल और (५) पुद्गलास्तिकाय। नैगमनय धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को भी धर्मास्तिकाय मानता है, क्यों कि उसके एक प्रदेश में भी गमन सहायक होने के गुण की सत्ता है। संग्रह-नय जड़ और चेतन-सभी में चलनसहाय रूप गुण की सत्ता धर्मास्तिकाय की है अतः क्रिया करने वाले प्रयोगसा पुद्गलों को धर्मास्तिकाय मानता है। यह प्रदेशादि को ग्रहण नहीं करता। व्यवहारनय जीव पुद्गल की चलन-शक्ति में जो षड्गुण+ हानि-वृद्धि होती है उसे धर्मास्तिकाय मानता है। ऋजुसूत्र नय जो जीव और पुद्गल वर्त्तमान काल में धर्मास्तिकाय के

** उपयोग दो प्रकार का है—शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग। अशुभ उपयोग मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से होता है, अतः वह अजीव है। पर यहाँ नय की अपेक्षा से उसे जीव गिना है।*

+ षड्गुण हानि-वृद्धि का स्वरूप—(१) संख्यात गुण अधिक (२) असंख्यातगुण अधिक (३) अनन्तगुण अधिक (४) संख्यात भाग अधिक (५) असंख्यात भाग अधिक (६) अनन्त भाग अधिक; इसी प्रकार—(७) संख्यात गुण हीन (८) असंख्यात गुण हीन (९) अनन्त गुण हीन (१०) संख्यात भाग हीन (११) असंख्यात भाग हीन (१२) अनन्त भाग हीन। इस तरह तीन बोल गुण आश्रित और तीन बोल भाग आश्रित, यह छह बोल अधिकता (वृद्धि) के हैं और छह बोल हीनता (हानि) के हैं। इन बारह में से जहाँ आठ बोल पाये जाएँ वह चउठाणवडिया, जहाँ छह बोल पाये जाएँ वह तिठाणवडिया (त्रिस्थान-पतिता), जहाँ चार बोल पाये जाएँ वहाँ द्विठाणवडिया और जहाँ दो बोल पाये जाएँ वहाँ एकठाणवडिया हानि-वृद्धि समझनी चाहिए।

चलन-गुण के निमित्त से गति कर रहे हैं उन्हें धर्मास्तिकाय मानता है। भूत भविष्यकाल को ग्रहण नहीं करता। शब्द नय देशप्रदेश की अपेक्षा नहीं रखता। वह धर्मास्तिकाय के स्वभाव को ही धर्मास्तिकाय मानता है। समभिरूढ़ नय धर्मास्तिकाय के स्वरूप के ज्ञाता को धर्मास्तिकाय मानता है। एवंभूत नय सप्तभंगी× और सप्त नय आदि से धर्मास्तिकाय के गुणों को जो सिद्ध कर सके ऐसे ज्ञानी-ज्ञाता—को ही धर्मास्तिकाय मानता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय पर भी सातों नय समझने चाहिए। विशेषता यह है कि धर्मास्तिकाय के विवेचन में जहाँ चलन सहाय गुण बतलाया है वहाँ अधर्मास्तिकाय में स्थिति सहाय गुण कहना चाहिए। आकाशास्तिकाय पर सात नय इस प्रकार हैं:—नैगमनय आकाश के एक प्रदेश को भी आकाशास्तिकाय मानता है। संग्रहनय स्कंध, देश की अपेक्षा न रखता हुआ 'एगे लोए, एगे अलोए' लोकाकाश एक है, अलोकाकाश है, ऐसा मानता है। व्यवहारनय ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक के आकाश को आकाशास्तिकाय मानता है। ऋजुसूत्रनय आकाश-प्रदेश में रहे हुए जीव और पुद्गल षड्गुण हानि-वृद्धि के प्रमाण में जो क्रिया करते हैं, उसे आकाशास्तिकाय मानता है। शब्दनय अवगाह (अवकाश) लक्षण वाली पोलार को आकाशास्तिकाय

× सप्तभंगी का विवरण—(१) प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्ति रूप है। इसलिए पहला भंग स्यादस्ति (स्यात्+अस्ति) है। (२) वही पदार्थ पर द्रव्य; क्षेत्र, काल, भाव से नास्ति रूप है अर्थात् नहीं है, अतः दूसरा भङ्ग स्यान्नास्ति (स्यात् + नास्ति) है। (३) समस्त पदार्थ अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से अस्तिरूप हैं और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्ति रूप हैं। इस प्रकार क्रम से दोनों की विवक्षा करने पर पदार्थ स्यादस्ति स्यान्नास्ति रूप है। (४) स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से एक साथ वस्तु का स्वरूप कहा नहीं जा सकता; अगर अस्ति रूप कहा जाय तो नास्तित्व का अभाव होता है और यदि नास्ति रूप कहा जाय तो अस्तित्व का अभाव होता है। इस कारण वस्तु स्यादवक्तव्य (स्यात् + अवक्तव्य) है। (५) स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु में अस्तित्व है और साथ ही पहले कहे अनुसार अवक्तव्यता भी है। इस प्रकार स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) और एक साथ स्व-चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु स्यादस्ति अवक्तव्य रूप है। (६) परचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु में नास्तित्व है और एक साथ स्व-पर चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्यता भी है। दोनों के संयोग से वस्तु स्यान्नास्ति अवक्तव्य रूप भी है। (७) क्रम से स्व-पर चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य रूप भी है। दोनों के संयोग से वस्तु स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य रूप है।

मानता है। समभिरूढ़ नय विकास गुण को आकाशास्तिकाय कहता है। एवंभूत नय आकाशास्तिकाय के द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय ध्रौव्य आदि के ज्ञान को, जब कि उसका उपयोग उनमें लगा हुआ हो, आकाशास्तिकाय मानता है।

काल पर सात नय—नैगम नय वाला समय को काल कहता है, क्योंकि एक समय का भी वही गुण है जो समग्र कालद्रव्य का गुण है। संग्रहनय एक समय से लेकर कालचक्र तक के सम्पूर्ण परिमाण को अर्थात् समस्त कालचक्र को काल मानता है। व्यवहार दिवस, रात्रि, पखवाड़ा, मास, वर्ष आदि को काल कहता है। वह अढ़ाई द्वीप से बाहर काल को स्वीकार नहीं करता। ऋजुसूत्रनय वर्त्तमान समय को ही काल मानता है। अतीत और अनागत (भविष्य काल) को नहीं मानता। शब्दनय जीव और अजीव पर्यायों को पलटाते हुए वर्त्तने वाले को काल मानता है। समभिरूढ़ जीव और अजीव की स्थिति पूरी करने में जो सन्मुख हो उसी को काल मानता है। एवंभूत नय काल द्रव्य के गुण-पर्याय के ज्ञाता को, जब उसी में उपयोग लगा हो, काल द्रव्य मानता है।

पुद्गलास्तिकाय पर सात नय—नैगमनय पुद्गल के स्कंध के एक गुण की मुख्यता ग्रहण करके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के एक अंश को पुद्गल मानता है। संग्रहनय अनन्त पुद्गलों के स्कंध को पुद्गल मानता है। व्यवहारनय विस्रसा, मिश्रसा और प्रयोगसा, इन तीन प्रकार के पुद्गलों का जो व्यवहार दृष्टिगोचर होता हो उसी को पुद्गलास्तिकाय मानता है। ऋजुसूत्रनय जो पुद्गल वर्त्तमान काल में पूरण-गलन स्वभाव में वर्तता हो उसको पुद्गलास्तिकाय मानता है। समभिरूढ़नय पुद्गल की षड्गुण हानि-वृद्धि एवं उत्पाद-व्यय-ध्रुवता को पुद्गलास्तिकाय मानता है। एवंभूतनय पुद्गलों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण, पर्याय आदि के ज्ञाता का उपयोग जब उनमें प्रवृत्त हो रहा हो, उसी समय उसे पुद्गलास्तिकाय मानता है।

पुण्य तत्त्व पर सात नय—नैगमनय पुण्य के फल को पुण्य तत्त्व मानता है। जैसे—किसी के यहाँ द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य आदि

बहुत-सी ऋद्धि अर्थात् शुभ पुद्गलों का संयोग देख कर लोग कहते हैं— देखो, इस पुण्यशाली जीव को पुण्य के योग से कैसा सुन्दर संयोग मिला है! संग्रहनय उच्च कुल, उच्च जाति, सुन्दर रूप, सातावेदनीय आदि पुद्गलों को एक ही समझता है। व्यवहारनय शारीरिक मानसिक सुख से पुण्य प्रकृति का व्यवहार देखकर उसी को पुण्य मानता है। ऋजुसूत्रनय शुभ कर्म का उदय होने से इच्छित मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति देखकर उसे पुण्य मानता है। शब्दनय वर्त्तमान में सुख भोगने वाले को ही पुण्यवान् मानता है।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो ऋजुसूत्रनय और शब्दनय में क्या अन्तर है?

उत्तर— ऋजुसूत्रनय तीनों कालों में सुख भोगने वालों को पुण्यवान् मानता है और शब्दनय एक मात्र वर्त्तमान काल में जो सुख भोग रहा है उसी को पुण्यवान् मानता है। जैसे—कोई चक्रवर्ती महाराज नींद में सो रहा है। उसे ऋजुसूत्र नय वाला सुखी मानेगा, क्यों कि उसने अतीत काल में सुख भोगा है और भविष्य काल में वह सुख भोगेगा। किन्तु शब्द नय वाला उसे पुण्यवान् नहीं कहेगा, क्यों कि निद्रा पाप कर्म के उदय से आती है। जिस समय वह चक्रवर्ती नींद से जाग कर सातावेदनीय कर्म का भोग कर के सुख पाएगा, तब शब्द उसे पुण्यवान् कहेगा।

समभिरूढ़ नय पुण्य प्रकृति के पुद्गलों के प्रयोग से जो आनन्द में लीन बना हुआ है उसे पुण्य मानता है। एवंभूत नय पुण्यप्रकृति के गुण के ज्ञाता को पुण्य मानता है।

पाप तत्त्व पर सात नय—पाप तत्त्व का कथन पुण्य तत्त्व के समान ही समझना चाहिए, किन्तु सुख के स्थान पर दुःख बोलना चाहिए।

आस्रवतत्त्व पर सात नय—नैगमनय परिणत होने वाले पुद्गलों को आस्रव मानता है। संग्रहनय प्रयोग से परिणत होने वाले मिथ्यात्व आदि के पुद्गलों के दल को आस्रव मानता है। व्यवहार नय अप्रत्याख्यानी के उदय से होने वाली अशुभ योग की प्रवृत्ति को अशुभ आस्रव मानता है

और शुभ योग की प्रवृत्ति को शुभ आस्रव मानता है और शुभाशुभ योग की प्रवृत्ति को मिश्र आस्रव मानता है। ऋजुसूत्रनय वर्त्तमान काल में प्रवृत्त होने वाले शुभाशुभ योग को आस्रव कहता है।

प्रश्न—सिर्फ योग को ही आस्रव क्यों कहा है? मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय को आस्रव क्यों नहीं कहा गया?

उत्तर—मिथ्यात्व आदि चारों से योग का ग्रहण नहीं होता, किन्तु योग कहने से मिथ्यात्व आदि का ग्रहण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाँचों आस्रवों में से जहाँ पहला-पहला होगा वहाँ आगे-आगे के सब अवश्य पाये जाएँगे। जैसे मिथ्यात्व के होने पर प्रमाद, कषाय योग अवश्य होते हैं। अविरति के होने पर प्रमाद, कषाय और योग अवश्य होता है। प्रमाद की मौजूदगी में कषाय और योग होते ही हैं। कषाय के सद्भाव में योग का सद्भाव रहता है। इस प्रकार विचार करने पर यद्यपि मिथ्यात्व आदि से योग की सत्ता समझी जा सकती है किन्तु योग से मिथ्यात्व आदि पहले के आस्रवों की सत्ता नहीं समझी जा सकती; फिर भी योग प्रधान कारण है और शेष अप्रधान हैं। योग प्रधान कारण इसलिए है कि मिथ्यात्व आदि आस्रव को उत्पन्न करने वाले तीन योग ही हैं। जैसी-जैसी योग की प्रवृत्ति होती है, वैसा ही वैसा आस्रव उत्पन्न होता है। इस कारण यहाँ योग आस्रव का ही ग्रहण किया गया है।

प्रश्न—आत्मा दूर (भिन्न क्षेत्र) वर्ती पुद्गलों को ग्रहण करता है अथवा नहीं?

उत्तर—जिन आकाश-प्रदेशों में आत्मा के प्रदेश मौजूद हैं, उन्हीं आकाशप्रदेशों में स्थित पुद्गलों को आत्मा ग्रहण करता है। दूर के पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता।

सूचना—शुभाशुभ योग में षड्गुण हानि-वृद्धि होती है। यहाँ एकान्त का संभव नहीं है, क्यों कि एकान्त शुभ योग अथवा एकान्त अशुभ योग मिलना कठिन है। केवली के और छद्मस्थ जीवों के शुभ योग में कितना अन्तर है, यह दीर्घ दृष्टि से विचार लेना चाहिए।

प्रश्न— एक समय में दो उपयोग नहीं हो सकते, तो फिर शुभाशुभ आस्रव किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—जैसे शास्त्र में धम्मावासा, अधम्मावासा और धम्माधम्मावासा तथा मिश्रगुणस्थानक और मिश्रयोग कहा है; उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए। गौण रूप से दूसरे योग का संबंध होता है किन्तु मुख्य रूप से एक ही योग की प्रवृत्ति होती है।

शब्दनय आस्रव के कारणभूत परिणामों के जो स्थान हैं उन्हें आस्रव मानता है। समभिरूढ़नय कर्म ग्रहण करने के गुणों को आस्रव कहता है। एवंभूतनय आत्मा के परिस्पन्दन (कंपन) को ही आस्रव मानता है।

संवरतत्त्व पर सात नय—नैगमनय कारण को कार्य मानता है, अतः शुभ योग को संवर कहता है। संग्रहनय सम्यक्त्व आदि परिणामों की धारा को संवर कहता है। व्यवहारनय पाँच महाव्रत रूप चारित्र को संवर कहता है। ऋजुसूत्रनय वर्त्तमान काल में आस्रव का निरोध करके नवीन कर्म के रोकने को संवर कहता है। समभिरूढ़नय की दृष्टि से मिथ्यात्व आदि पाँच आस्रवों की वर्गणाओं से अलिप्त रहना, उसके असर को मंद करना तथा रूक्ष परिणाम करके कर्मप्रकृति से लिप्त न होना संवर है। एवंभूतनय शैलेशी (शैलों के ईश अर्थात् सुमेरु के समान निश्चल) और अकंप आत्मावस्था को संवर मानता है। यह स्थिति चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती वीतराग की समझनी चाहिए। श्रीभगवतीसूत्र में पाठ है—'काल सव्वेसि य। आया संवरे, आया संवरस्स अट्ठे' इस पाठ में आत्मा को संवर कहा है, उस आधार पर यहाँ भी आत्मा को संवर कहा है।

निर्जरा तत्त्व पर सात नय—नैगमनय शुभ योग को निर्जरा कहता है। संग्रहनय कर्मवर्गणा के पुद्गलों को झटक कर दूर कर देने को निर्जरा कहता है। व्यवहार नय बारह प्रकार के तप को निर्जरा कहता है, क्योंकि तप से निर्जरा होती है। ऋजुसूत्रनय वर्त्तमान काल में शुभध्यानी को निर्जरा मानता है। शब्दनय द्वादशगुणस्थानवर्त्ती, शुभध्यान से निर्जरा करने वाले तथा ध्यान रूपी अग्नि से कर्मरूपी काष्ठों को दग्ध करने वाले

को निर्जरा मानता है। समभिरूढ़ नय शुक्लध्यान पर आरूढ़ होकर आत्मा को उज्ज्वल बनाने वाले को निर्जरा मानता है। एवंभूतनय समस्त कर्म-कलंक से रहित शुद्ध आत्मा को निर्जरा मानता है।

बन्ध तत्त्व पर सात नय—नैगमनय बंध के कारण को बंध मानता है। संग्रहनय राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाली आठ कर्म प्रकृतियों को बन्ध मानता है। व्यवहार नय राग और द्वेष के कारण क्षीर-नीर के समान जीव-पुद्गल के बन्ध से जो बँधा दृष्टिगोचर हो उसे बन्ध मानता है। ऋजुसूत्रनय कर्मबन्ध के अनुसार सुखी या दुःखी होने वाले जीव को तथा मांसभक्षण आदि अशुभ काम में प्रवृत्ति करने वाले को बन्ध मानता है। शब्दनय अज्ञान से गृहीत, व्यामोह के कारण कार्य-अकार्य का विचार न करने वाले, अतः कर्मबन्ध करने वाले को बन्ध मानता है। (यह नय कर्मविपाक की प्रकृति को बन्ध गिनता है) समभिरूढ़नय आर्त्त-रौद्र ध्यान से आत्मा को जो मलीन बनाता है, उसे बन्ध कहता है। एवंभूतनय आत्मा के अशुद्ध अध्यवसाय से होने वाले भावकर्म के संचय को बंध मानता है।

मोक्ष तत्त्व पर सात नय—निश्चयनय की अपेक्षा मोक्ष में नय-व्यवहार ही नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा मोक्षतत्त्व पर सातों नय घटाते हैं—नैगमनय चारों गतियों के बन्ध के छूटने को मोक्ष कहता है। संग्रहनय पूर्वकृत कर्मों से छूट कर एक देश से उज्ज्वल होने को मोक्ष कहता है। व्यवहार नय परीतसंसारी तथा सम्यक्त्वी को मोक्ष कहता है। ऋजुसूत्रनय क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले को मोक्ष कहता है। शब्दनय सयोगी केवली को मोक्ष कहता है। समभिरूढ़नय चतुर्दश गुणस्थानवर्त्ती शैलेशीकरण गुण वाले को मोक्ष कहता है। एवंभूतनय सिद्धिक्षेत्र में स्थित सिद्ध भगवान् को मोक्ष मानता है।

चार निक्षेप



प्रतिपाद्य वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझाने के लिए उसे नाम, स्थापना आदि के रूप में स्थापित करना निक्षेप कहलाता है। निक्षेप के

चार भेद हैं—(१) नामनिक्षेप (२) स्थापनानिक्षेप (३) द्रव्यनिक्षेप और (४) भावनिक्षेप।

(१) नामनिक्षेप—लोकव्यवहार चलाने के लिए, गुण-अवगुण की अपेक्षा न रखते हुए किसी वस्तु का कुछ भी नाम रख लेना नामनिक्षेप कहलाता है। नाम तीन प्रकार के होते हैं—[१] यथार्थ नाम—अर्थात् जो नाम वस्तु के गुण के अनुसार हो। जैसे उज्ज्वल होने के कारण हंस, चेतनायुक्त होने के कारण चेतन, सदैव जीवित रहने के कारण जीव, प्राणों का धारक होने के कारण प्राणी नाम रखना। (२) अयथार्थ नाम—जो नाम वस्तु के गुण के अनुसार न हो, सिर्फ व्यवहार के लिए रख लिया गया हो; जैसे किसी व्यक्ति का नाम मोतीलाल, किसी का गजराज आदि नाम होता है। उस व्यक्ति में नाम के अनुसार गुण नहीं होते। (३) अर्थशून्य—जिस नाम का कोई अर्थ ही न होता हो; जैसे—डित्थ, डवित्थ, खुन्नी आदि।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वस्तु में चाहे नाम के अनुसार गुण हो तो भी नामनिक्षेप उस गुण की अपेक्षा नहीं करता।

(२) स्थापनानिक्षेप—किसी मूल वस्तु का, किसी प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र में आरोप करना स्थापना निक्षेप है। स्थापना निक्षेप के ४० भेद हैं—(१) कट्ठकम्मे (काष्ठकर्म)—लकड़ी की, (२) चित्तकम्मे (चित्रकर्म)—चित्र की (३) पोतकम्मे (पोतकर्म)—चीड़ की (४) लेप्पकम्मे (लेप्यकर्म)—खड़िया आदि के लेपन की (५) गंठिम (ग्रथित)—डोरा आदि के गूँथने की (६) पुरिम-भरत—कसीदे की (७) वेढिम—कोरनी करके बनाई हुई (८) संघातिम—किसी वस्तु का संयोग करके बनाई हुई (९) अक्खे (अक्ष)—कौड़ी या अकस्मात् किसी वस्तु के पड़ने से बना हुआ आकार (१०) जमे—चावल आदि जमा कर बनाई हुई; इन दस प्रकारों से बनाई हुई मनुष्य, पशु, पक्षी, देव तथा द्वीप समुद्र, मकान, बगीचा आदि की आकृति।

यह दस प्रकार की स्थापना दो-दो प्रकार की है—(१) एकं वा (२) बहुं वा अर्थात् एक आकृति बनाना और अनेक आकृतियाँ बनाना। इस अपेक्षा स्थापना के २० भेद हो जाते हैं। स्थापना के इन बीस भेदों के भी

दो-दो भेद हैं—(१) तदाकार स्थापना और (२) अतदाकार स्थापना। मूल वस्तु की जैसी आकृति हो, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि हो, उसी के अनुसार उसकी प्रतिकृति की लम्बाई-चौड़ाई, आकृति आदि हो तो वह तदाकार स्थापना है। जैसे आजकल फोटो उतारा जाता है या पुतला आदि बनाया जाता है, जिसे देखते ही उस मूल वस्तु का हूबहू भास होता है। ऐसी स्थापना सद्भावस्थापना भी कहलाती है।

दूसरी अतदाकार स्थापना वह है जिसमें मूल वस्तु की आकृति ज्यों की त्यों न हो। जैसे शतरंज में राजा, वजीर, हाथी, घोड़ा आदि की स्थापना की जाती है। उक्त बीस प्रकार की स्थापना के यह दो-दो भेद करने से स्थापनानिक्षेप के चालीस भेद हो जाते हैं।

(३) द्रव्यनिक्षेप—किसी पदार्थ की भूतकालीन अथवा भविष्यत्-कालीन पर्याय का वर्त्तमानकाल में व्यवहार करना, अर्थात् जो वस्तु पहले जैसी थी वर्त्तमान में नहीं है फिर भी उसे वर्त्तमान में वैसी कहना अथवा भविष्य में जो वस्तु जैसी होने वाली है उसे वर्त्तमान में वैसी कहना द्रव्य-निक्षेप है।

द्रव्यनिक्षेप दो प्रकार का है—आगम द्रव्यनिक्षेप और नोआगम-द्रव्यनिक्षेप। शास्त्र को पढ़ने वाला शास्त्र पढ़ा हो किन्तु जब उसमें उपयोग न लगा रहा हो, तब उसे आगम द्रव्य निक्षेप कहते हैं। नोआगमद्रव्यनिक्षेप के तीन भेद हैं:—(१) ज्ञायकशरीर (२) भव्यशरीर (३) तद्व्यतिरिक्त। जैसे कोई श्रावक आवश्यक सूत्र का ज्ञाता था। वह आयु पूर्ण करके मर गया। उसका जीव-रहित शरीर पड़ा है। वह शरीर आगम द्रव्यनिक्षेप से आवश्यक कहलाता है। दृष्टांत—जैसे जिसमें घी भरा जाता था, उस खाली घड़े को देखकर कहना—यह घी का घड़ा है। भव्यशरीर द्रव्या-वश्यक—किसी श्रावक के घर पुत्र उत्पन्न हुआ। इस पुत्र के विषय में कहना कि—यह आवश्यक है। जैसे—कोई नवीन घड़ा घी भरने के उद्देश्य से बनाया गया है—उसमें आगे घी भरा जायगा, अतः वर्त्तमान में उसे घी का घड़ा कहना।

ज्ञायक-शरीरव्यतिरिक्त (तद्व्यतिरिक्त) के भी तीन भेद हैं—(१) लौकिक (२) कुप्रावचनिक (३) लोकोत्तर। इन तीनों का विवरण यह है—

(१) लौकिक—राजा, सेठ, सेनापति आदि अपने-अपने कार्यालय में जाकर अपना-अपना कर्त्तव्य बजाते हैं, वह लौकिक द्रव्य आवश्यक है।

(२) कुप्रावचनिक—पेड़ों की छाल या पत्ते पहनने वाले, मृगचर्म, या व्याघ्रचर्म धारण करने वाले, भगवाँ वस्त्र पहनने वाले, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से रहित, मात्र आडम्बरी तापस हैं तथा इनके अतिरिक्त ऐसे ही अन्य साधु-वैरागी हैं, वे अपने नियमों के अनुसार जो ध्यान, भजन आदि आवश्यक क्रिया करते हैं, वह कुप्रावचनिक द्रव्य आवश्यक है।

(३) लोकोत्तर—जो साधु के गुणों से रहित हैं, जो छह काय के जीवों की दया का पालन नहीं करते, जो बिगड़ैल घोड़े की तरह स्वच्छंद हैं, मदोन्मत्त हाथी की भाँति निरंकुश हैं, शरीर के शृंगार में आसक्त हैं, मठ-धारी हैं, तपस्या से रहित केवल श्वेत वस्त्रधारी हैं, जिनेश्वर देव की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले हैं, वे दोनों समय प्रतिक्रमण करते हैं, उनकी यह क्रिया लोकोत्तर द्रव्यआवश्यक है।

(४) भावनिक्षेप—जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त या प्रवृत्ति-निमित्त बराबर घटता हो, वह भावनिक्षेप है। अर्थात् जिस पदार्थ में जो पर्याय वर्त्तमान में विद्यमान है, उसे तदनुसार कहना भावनिक्षेप है।

भावनिक्षेप के दो भेद हैं—(१) आगम से भाव निक्षेप—शुद्ध उपयोग सहित अर्थात् भावार्थ में उपयोग लगाकर, एकाग्र चित्त से अन्तःकरण की रुचिपूर्वक शास्त्र पढ़ने वाला। नो आगम भावनिक्षेप के तीन भेद हैं—(१) लौकिक—राजा, सेठ आदि उपयोग रख करके प्रातःकाल महाभारत और सायंकाल रामायण आदि श्रवण करते हैं, वह लौकिक भाव आवश्यक* है।

* रामायण, महाभारत आदि कुप्रावचनिक शास्त्र हैं, फिर भी यहाँ लौकिक भाव आवश्यक में जो गणना की गई है, उसका कारण यह है कि लोग अपने कल्याण के लिए उनका श्रवण करते हैं।

(२) कुप्रावचनिक—पूर्वोक्त छाल, पत्ते, व्याघ्रचर्म मृगचर्म आदि धारण करने वाले साधु वैरागी आदि अपने अभीष्ट मंत्रों को अर्थ-सहित, उपयोग-पूर्वक जपते हैं, वह कुप्रावचनिक भाव आवश्यक है। (३) लोकोत्तर—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, प्रातःकाल और सायंकाल शुद्ध उपयोग सहित जो आवश्यक क्रिया करते हैं, वह लोकोत्तर भाव आवश्यक है।

इन चार निक्षेपों में से पहले के तीन अर्थात् नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप अवस्तु हैं। अर्थात् तीन निक्षेपों में वर्त्तमान रूप वस्तु विषय नहीं होती। चौथा भावनिक्षेप वस्तु को विषय करता है। चारों निक्षेपों का वर्णन श्रीअनुयोगद्वारसूत्र में किया गया है।

नौ तत्त्वों पर चार निक्षेप



(१) जीव तत्त्व पर चार निक्षेप—जीव अथवा अजीव किसी भी वस्तु का जीव नाम रख लिया जाय तो वह वस्तु नाम-जीव कहलाएगी। चित्र अथवा मूर्ति आदि में जीव की स्थापना कर लेना स्थापना जीव है। सामान्य अपेक्षा द्रव्यजीव कोई नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो पहले जीव रही हो किन्तु वर्त्तमान में न हो। यह भी संभव नहीं कि वर्त्तमान में जो वस्तु जीव नहीं है और भविष्य में जीव होने वाली हो। जीव सदा जीव था और जीव ही रहेगा। विशेष की अपेक्षा—आगे देव होने वाले को द्रव्यदेव जीव कह सकते हैं, अथवा पूर्वजन्म में जो देव था किन्तु अब नहीं है, उसे द्रव्यदेव-जीव कह सकते हैं। औदयिक भाव, औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, क्षायिकभाव और पारिणामिक भाव में वर्त्तमान जीव भाव-निक्षेप से जीव है।*

---

* पाँचों भावों के सब मिलकर ५३ भेद होते हैं—औदयिक के २१, औपशमिक के २, क्षायोपशमिक के १८, क्षायिक के ९ और पारिणामिक के ३ भेद।

(१) औदयिक भाव के २१ भेद—गति ४, कषाय ४, लेश्या ६, वेद ३, असिद्धत्व १, अज्ञान १, अव्रतित्व १, मिथ्यात्व १।

(२) औपशमिक के २ भेद—उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र।

(२) अजीव तत्त्व पर चार निक्षेप—किसी भी जीव या अजीव वस्तु का 'अजीव' ऐसा नाम रख लिया जाय तो वह वस्तु नामनिक्षेप से 'अजीव' कहलाएगी। किसी अजीव का स्वरूप बतलाने के लिए किसी चित्र आदि की स्थापना कर ली जाय तो वह वस्तु स्थापनानिक्षेप से

---

(३) क्षायिक भाव के नौ भेद—(१) दानलब्धि, (२) लाभलब्धि, (३) भोगलब्धि, (४) उपभोगलब्धि, (५) वीर्यलब्धि (६) केवलदर्शन (७) केवलज्ञान (८) क्षायिक चारित्र।

(४) क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद—(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यायज्ञान (५-६) तीन अज्ञान (८) चक्षुदर्शन (९) अचक्षुदर्शन (१०) अवधि-दर्शन (११-१५) दान आदि पाँच लब्धियाँ (१६) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व (१७) क्षायोप-शमिक चारित्र (१८) संयमासंयम।

(५) पारिणामिक भाव के ३ भेद—भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व।

पाँचों भावों के विशेष भेदः—

(१) औदयिक भाव के दो भेद हैं—उदय और उदयनिष्पन्न। आठों कर्मों का उदय होना उदय कहलाता है और उदयनिष्पन्न के दो भेद हैं—१ जीव उदयनिष्पन्न और २ अजीव उदयनिष्पन्न। इनमें जीवउदयनिष्पन्न के ३१ भेद हैं—गति ४, काय ६, लेश्या ६, कषाय ४, वेद ३, मिथ्यात्व, अव्रत, अज्ञान, असंज्ञा, आहारस्था, संसारस्था, असिद्धत्व और अकेव-लित्व। अजीव उदयनिष्पन्न के ३० भेद हैं—शरीर ५, शरीर परिणत पुद्गल ५, वर्ण ५, गंध २, रस ५, स्पर्श ८।

(२) औपशमिक भाव के दो भेद—उपशम और उपशमनिष्पन्न। इनमें से आठ कर्मों का उपशम होना उपशम कहलाता है। उपशमनिष्पन्न के ११ भेद हैं—कषाय ४, राग-द्वेष, दर्शनमोह, चारित्रमोह, दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि, छद्मस्थता और वीतरागता।

(३) क्षायिक भाव के दो भेद—क्षय और क्षयनिष्पन्न। आठ कर्मों का क्षय होना क्षय है और क्षयनिष्पन्न के ३७ भेद हैं—ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, मोहनीय ८ (कषाय ४, राग, द्वेष, दर्शनमोह, चारित्रमोह), आयुष्य ४, नाम २, गोत्र २, अन्तराय ५, इन सब के क्षय से होने वाले भाव।

(४) क्षायोपशमिक भाव के दो भेद—क्षयोपशम और क्षयोपशमनिष्पन्न। आठ कर्मों का क्षयोपशम होना क्षयोपशम कहलाता है; क्षयोपशमनिष्पन्न के ३० भेद हैं—ज्ञान ४, अज्ञान ३, दर्शन ३, दृष्टि ३, चारित्र ४ (पहले के), दानादि लब्धियाँ ५, पाँच इन्द्रियों की लब्धियाँ ५, पूर्वधर, आचार्य, द्वादशांगी के ज्ञाता।

(५) पारिणामिक भाव के दो भेद—सादि परिणामी और अनादि परिणामी। इनमें सादि परिणामी के अनेक भेद हैं। जैसे—पुरानी दारू, पुराना घी, पुराने चावल, बादल, बादल के वृक्ष, गंधर्वनगर, उल्का, दिशादाह, गर्जारव, विद्युत्, निर्घात, बालचन्द्र, यक्षचिह्न,

'अजीव' कहलाएगी। जीव तत्त्व के समान अजीव तत्त्व पर भी द्रव्यनिक्षेप समझना चाहिए। अथवा धर्मास्तिकाय का चलन-सहायक गुण, अधर्मास्तिकाय का स्थितिसहायक गुण, आकाश का अवगाहन गुण, काल का वर्त्तना-गुण और पुद्गल का पूरण-गलन गुण, इस प्रकार पाँच अजीव द्रव्यों का स्वभाव द्रव्यनिक्षेप है। इन पाँचों अजीव द्रव्यों के जो-जो सद्भाव रूप गुण हैं उन्हें भावनिक्षेप कहते हैं।

इसी प्रकार शेष तत्त्वों पर भी चार निक्षेप घटित कर लेना चाहिए।

चार प्रमाण



जिसके द्वारा वस्तु के स्वरूप का सम्यक् प्रकार से निश्चय होता है— वास्तविक ज्ञान होता है, उसे प्रमाण कहते हैं। ज्ञान यद्यपि एक गुण है, किन्तु विषय के भेद से उसके प्रमाण और नय, ऐसे दो भेद होते हैं। जो ज्ञान वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय करता है वह नय कहलाता है और जो ज्ञान अनेक धर्मों द्वारा वस्तु का निश्चय करता है वह प्रमाण कहलाता है। नय एक दृष्टि से वस्तु का निर्णय करता है और प्रमाण अनेक दृष्टियों से। नय प्रमाण का अंश है, अतएव न उसे प्रमाण कहा जा सकता है और न अप्रमाण ही।

विवक्षा के भेद से प्रमाणों की संख्या कई प्रकार से बताई जा सकती है। न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का बतलाया गया है। अनुयोगद्वारसूत्र में प्रमाण के चार भेद कहे हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम और (४) उपमा प्रमाण।

धूंवर, ओस रजघात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, उदकमच्छ, अमोघवर्षा, वर्षा की धारा, ग्राम, नगर, पर्वत पातालकलश, नारकावास, भुवन, देवलोक, यावत् ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी, परमाणु पुद्गल यावत् अनन्त प्रदेशी स्कंध। अनादि परिणामी के भी अनेक भेद हैं—धर्मास्तिकाय यावत् अद्धासमय, लोक अलोक, भव्यसिद्धिक, अभव्यसिद्धिक,। इस प्रकार पाँच भावों के भेद जानने चाहिए।

अनुमान, आगम और उपमान प्रमाण को परोक्ष के एक ही भेद में अन्तर्गत किया जा सकता है। इस कारण परस्पर विरोध नहीं समझना चाहिए।

१—प्रत्यक्ष प्रमाण



वस्तु का जो स्पष्ट ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—(१) इन्द्रियप्रत्यक्ष और (२) नोइन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—(१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के भी दो भेद हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति भी दो प्रकार की है—आभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। नेत्र आदि इन्द्रियों की आकृति रूप स्वस्थान में जो पुद्गल रहते हैं उन्हें आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। इन्द्रियों के आकार की पुद्गलों की बाह्य रचना को बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं।

निर्वृत्ति का जो उपकारक हो उसे उपकरण कहते हैं। वह भी दो प्रकार का है—(१) आभ्यन्तर उपकरण—जैसे नेत्र में काला और श्वेत मण्डल है और (२) बाह्य उपकरण—जैसे नेत्र के बाह्य उपकरण पलक आदि हैं।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—(१) लब्धि और (२) उपयोग। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियों द्वारा जानने की शक्ति को लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं और लब्धि की सहायता से आत्मा की विषय को जानने में प्रवृत्ति होना उपयोग भावेन्द्रिय है। श्रोत्रेन्द्रिय सुनने का, चक्षुइन्द्रिय रूप को देखने का, घ्राणेन्द्रिय गंध को जानने का, रसनेन्द्रिय स्वाद को जानने का और स्पर्शनेन्द्रिय शीत उष्ण आदि स्पर्शों को जानने का काम देती है। इन्द्रियों की विषयसीमा इस प्रकार है:—

(१) एकेन्द्रिय जीव की स्पर्शनेन्द्रिय का विषय ४०० धनुष का है।

(२) द्वीन्द्रिय जीव की दो इन्द्रियों में से पहली स्पर्शनेन्द्रिय का विषय ८०० धनुष का है और रसेन्द्रिय का विषय ६४ धनुष का है।

(३) त्रीन्द्रिय की स्पर्शनेन्द्रिय का विषय १६०० धनुष का, रसेन्द्रिय का विषय १२८ धनुष का और घ्राणेन्द्रिय का १०० धनुष का है।

(४) चतुरिन्द्रिय की स्पर्शनेन्द्रिय का विषय ३२०० धनुष का, रसेन्द्रिय का विषय २५६ धनुष का, घ्राणेन्द्रिय का २०० धनुष का और चक्षुरिन्द्रिय का विषय २९५४ धनुष का है।

(५) असंज्ञी पंचेन्द्रिय की स्पर्शनेन्द्रिय का विषय ६४०० धनुष का, रसेन्द्रिय का ५१२ धनुष का, घ्राणेन्द्रिय का ४०० धनुष का, चक्षुरिन्द्रिय का ५९०६ धनुष का और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय ८०० धनुष का है। संज्ञी पंचेन्द्रिय की स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियों का विषय ९-९ योजन का, चक्षुरिन्द्रिय का एक लाख योजन झाझेरा और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय १२ योजन का है। यह सब उत्कृष्ट विषय जानना चाहिए।

ऊपर इन्द्रियों के जो भेद प्रभेद बतलाये हैं, उन सबसे होने वाला प्रत्यक्ष उन्हीं के नाम से कहलाता है।

(२) नोइन्द्रियप्रत्यक्ष—इसके दो भेद हैं—(१) देश से और (२) सर्व से। एक देश नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के चार भेद हैं—(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान और (४) मनःपर्ययज्ञान। सर्व-नोइन्द्रियप्रत्यक्ष एक मात्र केवलज्ञान है। पाँचों ज्ञानों का विस्तार से स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) मतिज्ञान—पाँच इन्द्रियों से तथा मन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। मतिज्ञान के २८ भेद हैं—[१] अवग्रह (दर्शन के अनन्तर होने वाला अव्यक्त ज्ञान, अर्थात् जिस ज्ञान में नाम आदि विशेष की कल्पना न हो ऐसा अवान्तर सामान्य को जानने वाला ज्ञान)। (२) ईहा (अवग्रह के द्वारा जाने हुए सामान्य विषय का विशेष रूप से निश्चय करने के लिए होने वाली विचारणा)। (३) अवाय (ईहा द्वारा ग्रहण किये हुए विषय में विशेष का निश्चय हो जाना)। (४) धारणा (अवाय द्वारा ग्रहण किये विषय का दृढ़ ज्ञान होना, जिससे वह कुछ समय तक टिका रहे और फिर लुप्त होकर भी कालान्तर में निमित्त पाकर स्मरण

को उत्पन्न कर सके, ऐसा ज्ञान) ।❀ यह चारों ज्ञान कभी स्पर्शनेन्द्रिय से होते हैं, कभी रसनेन्द्रिय से होते हैं, कभी घ्राणेन्द्रिय से, कभी चक्षु-इन्द्रिय से, कभी श्रोत्रेन्द्रिय से और कभी मन से होते हैं। इस कारण इसके चौबीस (६×४=२४) भेद हो जाते हैं।

अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का है—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। ऊपर अवग्रह के जो छह भेद बतलाये हैं, वे अर्थावग्रह के हैं। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन को छोड़कर सिर्फ चार ही इन्द्रियों से होता है। इस कारण उसके चार भेद उक्त चौबीस भेदों में सम्मिलित होने पर मतिज्ञान के २८ भेद हो जाते हैं। विस्तार से मतिज्ञान के ३४० भेद भी हैं। वे इस प्रकार हैं:—

ऊपर कहा हुआ २८ प्रकार का मतिज्ञान १२ प्रकार के विषयों को ग्रहण करता है। अतः २८ को १२ के साथ गुणित करने पर ३३६ भेद होते हैं। उदाहरणार्थ—मान लीजिए, कहीं अनेक बाजे बज रहे हैं और अनेक मनुष्य उन्हें सुन रहे हैं। किन्तु उनमें से मतिज्ञान के क्षयोपशम के अनुसार कोई [१] बहु अर्थात् एक साथ अनेक शब्दों को ग्रहण करता है। कोई [२] अबहु अर्थात् थोड़े शब्दों को ग्रहण करता है। कोई [३] बहुविध अर्थात् यह ढोल की आवाज है, यह ताशे की आवाज है, इस प्रकार भेद सहित ग्रहण करता है। कोई [४] अबहुविध अर्थात् एक ही प्रकार की आवाज को ग्रहण करता है। [५] क्षिप्र—कोई शीघ्रता से ग्रहण करता है। [६] अक्षिप्र—कोई विलम्ब से ग्रहण करता है। [७] सलिंग—कोई एक अंश से सम्पूर्ण शब्द का अनुमान करके ग्रहण करता है। [८] अलिंग—

❀ जैसे मिट्टी के कोरे बर्त्तन में पानी की एक-दो बूंद छिड़कने से उनका कोई असर नहीं होता-दीखता, किन्तु बार-बार छिड़कने से बर्त्तन गीला हो जाता है, उसी प्रकार निद्रा-ग्रस्त मनुष्य को जब कोई पुकारता है तो निद्रित मनुष्य की श्रोत्रेन्द्रिय के साथ शब्द का संयोग होता है। पहले-पहल उसे अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है। वह व्यंजनाग्रह है। तत्पश्चात् वह सोचता है—मुझे कोई पुकारता है। यह अर्थावग्रह हुआ। 'मुझे कौन पुकारता है' इस प्रकार विशेष जानने की अभिलाषा को ईहा कहते हैं। 'अमुक मनुष्य मुझे पुकार रहा है' इस प्रकार का निश्चय हो जाना अवाय है। उस पुकार को धारण कर रखना धारणा है।

जातिस्मरणज्ञान भी धारणा का ही एक प्रकार है।

कोई सम्पूर्ण शब्द को ग्रहण करके जानता है। [६] संदिग्ध—कोई शंका-युक्त समझता है। [१०] असंदिग्ध—कोई शंका-रहित समझता है। [११] ध्रुव—किसी का समझना टिकाऊ होता है और [१२] अध्रुव—किसी का समझना टिकाऊ नहीं होता।

पूर्वोक्त ३३६ भेदों में चार प्रकार की बुद्धि मिला देने से मतिज्ञान के ३४० भेद हो जाते हैं। चार बुद्धियों का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) औत्पातिकी बुद्धि -तात्कालिक सूझ को औत्पातिकी बुद्धि कहते हैं।

(२) वैनयिकी बुद्धि—विनय करने से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(३) कार्मिकी बुद्धि—कार्य करते-करते जो अनुभवज्ञान होता है, वह।

(४) पारिणामिकी बुद्धि—बालक, युवक, वृद्ध आदि को उम्र के अनुसार प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(२) श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के पश्चात् शब्द और अर्थ के संबंध (वाच्य-वाचक भाव संबंध) के आधार से जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का है:—

(१) अक्षरश्रुत—अ, इ आदि स्वरों क्, ख् आदि व्यंजनों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह अक्षरश्रुत कहलाता है।

(२) अनक्षरश्रुत—अक्षरों का उच्चारण किये विना ही, खांसी से, छींक से, चुटकी से या नेत्र के इशारे से होने वाला ज्ञान।

(३) संज्ञीश्रुत—विचारना, निर्णय करना, समुच्चय अर्थ करना, विशेष अर्थ करना, चिन्तन करना और निश्चय करना, यह छह बातें संज्ञी जीवों में पाई जाती हैं। संज्ञी जीवों को होने वाला श्रुतज्ञान संज्ञिश्रुत कहलाता है।

(४) असंज्ञीश्रुत—असंज्ञी जीवों को होने वाला श्रुतज्ञान।

(५) सम्यक्श्रुत—अर्हत्प्रणीत, गणधरग्रथित तथा जघन्य दस पूर्व-धारी द्वारा रचे हुए शास्त्रों द्वारा होने वाला ज्ञान।

(६) मिथ्याश्रुत—अपनी मनःकल्पना से बनाये हुए शास्त्रों द्वारा, जिनमें हिंसा आदि पाँच आस्रवों के सेवन का विधान हो, तथा जो युक्तियुक्त और आत्मार्थ के साधक न हों, ऐसे श्रुत से होने वाला ज्ञान।

(७) सादि श्रुत—जिस श्रुतज्ञान की आदि हो।

(८) अनादि श्रुत—आदि-रहित श्रुतज्ञान।

(९) सपर्यवसित श्रुत—अन्त सहित श्रुतज्ञान।

(१०) अपर्यवसित श्रुत—अन्त-रहित श्रुतज्ञान।*

(११) गमिक श्रुत—दृष्टिवाद अंग का ज्ञान।

(१२) अगमिक श्रुत—आचारांग आदि कालिक सूत्रों का ज्ञान।

(१३) अंगप्रविष्ट—बारह अंग—आचारांग आदि।

(१४) अंगबाह्य—दो प्रकार का है—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। छह आवश्यकों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र आवश्यक कहलाता है और कालिक, उत्कालिक आदि सूत्र आवश्यकव्यतिरिक्त हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का आपस में घनिष्ठ संबंध है। जगत् का कोई जीव ऐसा नहीं है, जिसे यह दोनों ज्ञान प्राप्त न हों। सम्यग्दृष्टि वाले जीव के यह ज्ञान, ज्ञान कहलाते हैं और मिथ्यादृष्टिवाले के अज्ञान अर्थात् कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान कहलाते हैं। दोनों ज्ञानों में कार्य-कारण का संबंध

** सादि, अनादि, सपर्यवसित और अपर्यवसित श्रुत का स्पष्टीकरणः—(१) द्रव्य से कोई जीव अध्ययन करने बैठा। वह अध्ययन पूर्ण करेगा। अतः उसकी आदि और अन्त होने से एक जीव की अपेक्षा वह श्रुतज्ञान सादि-सान्त है। अनेक जीवों ने अनादि भूतकाल में अध्ययन किया है और भविष्य में अध्ययन करेंगे। उसकी आदि-अन्त न होने से वह नआदि-अनन्त है। (२) क्षेत्र से भरत और ऐरवत क्षेत्र में समय का परिवर्त्तन होने से सादि-सन्त श्रुत होता है और महाविदेह में सदैव सरीखा काल होने से अनादि-अनन्त श्रुत होता है। (३) काल से उत्सर्पिणी, अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा अनादि-अनन्त (४) भाव से प्रत्येक तीर्थङ्कर द्वारा प्रकाशित भाव की अपेक्षा सादि-सान्त है। क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त जानना चाहिए।*

है। मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। श्रुतज्ञान से पहले मतिज्ञान नियमपूर्वक होता है। जातिस्मरण ज्ञान मतिज्ञान के चौथे भेद—धारणा में अन्तर्गत है। जातिस्मरण ज्ञान से उत्कृष्ट ९०० भव (यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय के निरन्तर नौ सौ भव किये हों तो) जाने जा सकते हैं।

(३) अवधिज्ञान—इन्द्रियों की सहायता के बिना ही, मर्यादापूर्वक, रूपी पदार्थों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान का विशेष निरूपण निम्नलिखित आठ द्वारों से समझना चाहिए:—

(१) भेदद्वार—अवधिज्ञान दो प्रकार है—(१) भवप्रत्यय और (२) क्षयोपशमप्रत्यय। देवों और नारकों को देवभव तथा नरकभव के निमित्त से जनमते ही होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है। तीर्थङ्करों को भी भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। मनुष्यों और तिर्यंचों को तप आदि के कारण जो अवधिज्ञान होता है, उसे क्षयोपशमप्रत्यय या गुणप्रत्यय कहते हैं।

(२) विषयद्वार—अवधिज्ञान से सातवें नरक के नारक जघन्य अर्ध गव्यूति और उत्कृष्ट एक गव्यूति जानते हैं। छठे नरक के नारक जघन्य एक गव्यूति और उत्कृष्ट १॥ गव्यूति जानते हैं। पाँचवें नरक वाले जघन्य १॥ गव्यूति और उत्कृष्ट २ गव्यूति जानते हैं। चौथे नरक वाले जघन्य २ गव्यूति और उत्कृष्ट २॥ गव्यूति, तीसरे नरक के नारक ज० २॥ गव्यूति उत्कृष्ट ३ गव्यूति, दूसरे नरक के नारक ज० ३ गव्यूति, उ० ३॥ गव्यूति, पहले नरक के नारक ज० ३॥ और उत्कृष्ट ४ गव्यूति तक जानते हैं।

असुरकुमार जाति के देव अवधिज्ञान से जघन्य २५ योजन और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप देखते हैं और शेष नौ निकायों के देव ज० २५ योजन और उ० संख्यात द्वीप-समुद्र देखते हैं।

वाण-व्यन्तर देव ज० २५ योजन और उ० संख्यात द्वीप-समुद्र देखते हैं।

ज्योतिष्क जाति के देव जघन्य और उत्कृष्ट संख्यात द्वीप-समुद्र देखते हैं।

वैमानिक देव ऊपर अपने विमान की ध्वजा तक देखते हैं, तिर्छे पल्योपम की आयु वाले देव संख्यात द्वीप-समुद्र देखते हैं और सागरोपम की

आयु वाले देव असंख्यात द्वीप-समुद्र देखते हैं। नीची दिशा में पहले दूसरे देवलोक के देव पहले नरक तक देखते हैं। तीसरे-चौथे देवलोक के देव दूसरे नरक तक देखते हैं। पाँचवें-छठे देवलोक के जीव तीसरे नरक तक देखते हैं। सातवें-आठवें देवलोक के जीव चौथे नरक तक देखते हैं। नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें देवलोक के जीव पाँचवें नरक तक देखते हैं। नव ग्रैवेयक* के देव छठे नरक तक देखते हैं और चार अनुत्तर विमानों के देव सातवें नरक तक देखते हैं। सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव कुछ कम सम्पूर्ण लोक को जानते-देखते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ज० अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उ० असंख्यात द्वीप-समुद्र देखते हैं। संज्ञी मनुष्य ज० अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उ० सम्पूर्ण लोक तथा लोक के बराबर अलोक में असंख्यात खंड देखने में समर्थ होता है।+

(३) संस्थानद्वार—अवधिज्ञान से नारकी तिपाई के आकार में देखते हैं। भवनपति देव टोपले के आकार में देखते हैं। व्यन्तर देव पटह (ढफ) के आकार में देखते हैं। ज्योतिषी झालर के आकार में देखते देखते हैं। बारह

कहीं-कहीं पहले से छठे ग्रैवेयक तक के देव छठे नरक तक और ऊपर के तीन ग्रैवेयकों के देव सातवें नरक तक जानते हैं, ऐसा लिखा है।

+ जो अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र को देखता है, वह काल से आवलिका के असंख्यातवें भाग काल की बात जानता है। जो क्षेत्र से अंगुल के संख्यातवें भाग में देखता है, वह एक आवलिका के संख्यातवें भाग की बात जानता है। क्षेत्र से जो एक अंगुल जानता है, वह काल से आवलिका से कुछ कम जानता है। पृथक्त्व (२ से ६) अंगुल क्षेत्र देखने वाला पूरी आवलिका को जानता है। एक हाथ देखे तो अन्तर्मुहूर्त्त की बात जानता है। एक धनुष देखे तो पृथक्त्व मुहूर्त्त देखता है। एक कोस क्षेत्र देखे तो एक दिवस की बात जानता है। एक योजन देखने वाला दिवस-पृथक्त्व देखता है। २५ योजन देखने वाला कुछ कम एक पक्ष को देखता है। भरत क्षेत्र को पूरा देखने वाला पूरा पक्ष देखता है। जम्बूद्वीप को देखने वाला एक मास की बात जानता है। अढ़ाई द्वीप देखे तो एक वर्ष की बात जानता है। १५वाँ रुचक द्वीप देखने वाला पृथक्त्व वर्ष जानता है। संख्यात द्वीप-समुद्र देखने वाला असंख्यात काल जाने। परमावधिज्ञान उपजे तो लोकालोक देखता है। और अन्तर्मुहूर्त्त में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अलोक में अवधिज्ञान से देखने योग्य कुछ भी नहीं है, सिर्फ अवधिज्ञान की शक्ति बतलाई गई है।

देवलोक के देव मृदंग के आकार में देखते हैं। ग्रैवेयकों के देव फूलों की चंगेरी (छावड़े) के आकार में देखते हैं। अनुत्तर विमान के देव कुमारिका की कंचुकी के आकार में देखते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्च अवधिज्ञान से जाली के आकार में अनेक प्रकार से देखते हैं।

(४) बाह्याभ्यन्तर द्वार—नारकों और देवों को आभ्यन्तर अवधिज्ञान होता है, तिर्यञ्चों को बाह्य अवधिज्ञान होता है और मनुष्य को बाह्य तथा आभ्यन्तर—दोनों प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

(५) अनुगामी-अननुगामी द्वार—नारकों और देवों को अनुगामी (एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी साथ रहने वाला) ज्ञान होता है। मनुष्य एवं तिर्यञ्च को अनुगामी तथा अननुगामी (जिस जगह उत्पन्न हुआ हो वहीं रहने वाला, अन्यत्र साथ न जाने वाला) दोनों प्रकार का ज्ञान होता है।

(६) देश-सर्वद्वार—नारकों, देवों और तिर्यञ्चों को देश से (अपूर्ण) अवधिज्ञान होता है। मनुष्यों को देश से और सर्व से (पूर्ण) दोनों प्रकार का ज्ञान होता है।

(७) हीयमान-वर्धमान द्वार—जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद घटता जाय वह हीयमान कहलाता है, जो निरन्तर बढ़ता जाय वह वर्धमान कहलाता है और जो उत्पत्ति के समय जितना था उतना ही रहे—न घटे न बढ़े, वह अवस्थित कहलाता है। नारकों और देवों को अवस्थित अवधिज्ञान होता है। मनुष्य और तिर्यञ्च को तीनों प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

(८) प्रतिपाती-अप्रतिपाती द्वार—एक बार उत्पन्न होकर जो नष्ट हो जाय वह प्रतिपाती और कायम रहने वाला अप्रतिपाती अवधिज्ञान कहलाता है। नारकों और देवों को अप्रतिपाती अवधिज्ञान होता है। मनुष्य एवं तिर्यञ्च को दोनों प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

(४) मनःपर्यवज्ञान—संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के मनोगत भाव को जानने वाला ज्ञान मनःपर्यव कहलाता है। इसके दो भेद हैं—[१] ऋजुमति और

[२] विपुलमति । इन दोनों भेदों का अन्तर समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए:—किसी मनुष्य ने अपने मन में घट का विचार किया तो ऋजुमति ज्ञानी सिर्फ सामान्य घड़ा ही जानेगा, किन्तु विपुलमतिज्ञानी यह भी जानेगा कि सोचा हुआ घड़ा द्रव्य से मिट्टी का, काष्ठ का या धातु का है। क्षेत्र से पाटलीपुत्र में बना हुआ है। काल से शीतकाल या उष्णकाल में बना है और भाव से घी-दूध आदि भरने का है। इस प्रकार ऋजुमति सामान्य रूप से पदार्थ को जानता है, जब कि विपुलमति ब्यौरे के साथ पदार्थ को जानता है। दोनों में यह भी अन्तर है कि ऋजुमति प्रतिपाती होता है किन्तु विपुलमति अप्रतिपाती होता है। वह केवलज्ञान होने से पहले निवृत्त नहीं होता।

मनःपर्ययज्ञानी (१) द्रव्य से रूपी द्रव्यों को जानता है (२) क्षेत्र से १००० योजन ऊँची दिशा में, ९०० योजन नीची दिशा में और अढ़ाई द्वीप प्रमाण तिर्छी दिशा में देखता है। (इसमें ऋजुमतिज्ञान २॥ अंगुल कम देखता है) (३) काल से पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग भूतकाल की और पल्य के असंख्यातवें भाग भविष्यकाल की बात जानता है (४) भाव से सब संज्ञी जीवों के मन के भावों को जानता है।

मनःपर्यवज्ञान मनुष्य, संज्ञी, कर्मभूमिज, संख्यात वर्ष की आयु वाले पर्याप्त, सम्यग्दृष्टि, संयत, अप्रमादी और लब्धिधारी मुनि को ही उत्पन्न होता है।

अवधिज्ञान से मनःपर्यवज्ञान की विशेषता—अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञान का क्षेत्र थोड़ा है, किन्तु विशुद्धता अधिक है। अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है, मनःपर्यायज्ञान मनुष्यगति में साधु को ही होता है। अवधिज्ञान से कोई जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग जितना क्षेत्र जानता है तथा अधिक भी जान सकता है, किन्तु मनःपर्यव ज्ञान से अढ़ाई द्वीप परिमित क्षेत्र ही जाना जाता है। अवधिज्ञान जिन सूक्ष्म रूपी पदार्थों को नहीं जान सकता, उनको भी मनपर्यवज्ञानी जान सकता है।

(५) केवलज्ञान—सकल नोइन्द्रिय [illegible] एक ही प्रकार का है। उसे केवलज्ञान भी कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्य, संज्ञी, कर्मभूमिज, संख्यात वर्ष की आयु वाले, पर्याप्त, सम्यग्दृष्टि, संयत, अप्रमादी, अवेदी, अकषायी, चार घातिकर्मविनाशक, १३वें गुणस्थानवर्त्ती वीतराग मुनियों को प्राप्त होता है। केवलज्ञान में सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव हस्तामलक-वत् प्रकाशित होते हैं। यह ज्ञान अप्रतिपाती है—एक बार उत्पन्न होकर फिर कभी नष्ट नहीं होता। केवलज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् जघन्य अन्त-र्मुहूर्त्त में और उत्कृष्ट ८ वर्ष कम करोड़ पूर्व में मोक्ष की प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

२—अनुमान प्रमाण

●

साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान प्रमाण कहलाता है। उसके तीन भेद हैं—१ पुव्वं, २ सेसव्वं, ३ दिट्ठीसाम।

१ पुव्वं—जैसे किसी का पुत्र बाल्यावस्था में परदेश गया और जवान होकर लौटा। तब उसकी माता उसकी देहाकृति, वर्ण, तिल, मसा आदि पहले के समान जानकर पहचान लेती है।

२ सेसव्वं—के पाँच भेद हैं—कज्जेणं, कारणेणं, गुणेणं, अवयवेणं आसरणेणं। कार्य से कारण का अनुमान करना, जैसे केकारव से मोर का, चिंघाड़ से हाथी का, हिनहिनाहट से घोड़े का, यह कज्जेणं अनुमान कहलाता है। कारण से कार्य का अनुमान करना; जैसे विशेष प्रकार के बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान करना कारणेणं अनुमान है। वस्त्र का कारण तंतु हैं पर तंतु का कारण वस्त्र नहीं, रोटी का कारण आटा है पर आटे का कारण रोटी नहीं, घड़े का कारण मिट्टी है पर मिट्टी का कारण घड़ा नहीं है; इन कारणों से इनके कार्यों का अनुमान किया जाता है। गुण से गुणी का अनुमान करना गुणेणं अनुमान कहलाता है। जैसे नमक में खास तरह का खारापन और फूल में गंध है। अवयवों से अवयवी को पहचानना अवयवेणं अनुमान

कहलाता है। जैसे—सींग से भैंस को, कलगी से मुर्गे को, दाँत से सुअर को, नख से बाघ को, अयाल (केसर) से केसरी सिंह को, सूँड़ से हाथी को जानना।

३ दिट्ठिसाम के दो भेद हैं—सामान्य और विशेष। जैसे एक रुपया को देखने से उस सरीखे अनेक रुपयों का ज्ञान होना सामान्य दिट्ठिसाम कहलाता है। इसी प्रकार मारवाड़ के एक धोरी (बैल) को देखने से उस सरीखे अनेकों को जानना, देशान्तर के किसी एक मनुष्य को देखकर उस सरीखे अनेक मनुष्यों को पहचान लेना। एक सम्यग्दृष्टि को देख कर उस जैसे अनेकों को जानना। विशेष वह कहलाता है, जैसे—किसी विचक्षण साधुजी ने विहार करते हुए रास्ते में बहुत-सा घास उगा देखा। गड़हों वगैरह में पानी भरा देखा; बाग-बगीचे हरे-भरे देखे, उससे यह अनुमान किया कि भूतकाल में यहाँ बहुत वर्षा हुई थी। आगे जाकर देखा तो गाँव छोटा, गाँव में श्रावकों के घर थोड़े, श्रावकों के घरों में सम्पत्ति भी थोड़ी है, पर श्राविकाएँ बहुत भक्त हैं, उदार परिणामी हैं, उदार भाव से दान देने वाली हैं। तब ऐसा अनुमान करना कि यहाँ इन श्रावकों का कुछ भला होने वाला है। फिर साधुजी और आगे चले तो क्या देखते हैं कि पहाड़ और पर्वत बड़े मनोहर हैं, हवा बहुत सुन्दर है, ग्राम की तथा बाहर की हवा बहुत सुहावनी है। यह सब देखकर यह समझना कि भविष्य में यहाँ कुछ शुभ होने वाला है। इस प्रकार तीनों कालों की अच्छी स्थिति जानना।

इसी तरह कोई मुनि विहार करते-करते, रास्ते में विना घास की भूमि देखते हैं, जलाशय खाली और बाग-बगीचे सूखे देखते हैं, तो अनुमान करते हैं कि भूतकाल में यहाँ वर्षा कम हुई है। आगे चलने पर देखते हैं कि ग्राम बड़ा है, ग्राम में श्रावकों के घर भी बहुत हैं, घरों में सम्पत्ति भी बहुत है, किन्तु लोग अभिमानी, विनय आदि गुणों से रहित, कृपण और अनुदार हैं। इससे अनुमान किया कि वर्त्तमान काल में यहाँ कुछ अशुभ होता दीखता है। आगे चल कर देखा कि पर्वत अमनोज्ञ दिखाई देते हैं, हवा अड़गम-बड़गम चलती है, ग्राम के भीतर और बाहर सुहावना नहीं लगता, ज़मीन हिलती (भूकम्प होता) है, तारे खिरते हैं इत्यादि, यह सब

देखकर अनुमान से जाना कि यहाँ भविष्य काल में कुछ अशुभ होना दिखता है। इस प्रकार अनुमान से भूतकाल, भविष्यकाल एवं वर्त्तमान काल की बात जानना विशेष जानना कहलाता है।

(३) आगम प्रमाण—आप्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुष के वचन से जो ज्ञान होता है, उसे आगमप्रमाण कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—(१) सुत्तागमे—द्वादशांगी रूप जिनेश्वर भगवान् की वाणी तथा कम से कम दस पूर्व के ज्ञाता मुनीश्वरों के बनाये हुए ग्रन्थ सुत्तागमे (सूत्रागम) कहलाते हैं। (२) अत्थागमे—सूत्रागम के आशय के अनुसार, सब की समझ में आने योग्य, किसी भी भाषा में उनका अर्थ करना या समझना अर्थागम है। (३) तदुभयागमे—पूर्वोक्त सूत्रों और ग्रन्थों का तथा उनके अर्थ का अनुकूल समास 'तदुभयागमे' कहलाता है।

(४) उपमा प्रमाण—किसी प्रसिद्ध (ज्ञात) वस्तु की सदृशता के आधार से अप्रसिद्ध (अज्ञात) वस्तु को जानना उपमा प्रमाण है। इसकी चौभंगी है:—(१) किसी सत् वस्तु से सत् वस्तु की उपमा देना। जैसे—किसी ने यह प्रश्न किया कि भविष्य काल की चौवीसी में प्रथम तीर्थङ्कर पद्मनाभ कैसे होंगे? इसके उत्तर में कहना—वे वर्त्तमानकालीन चौवीसी के अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी के समान होंगे। यह सत् वस्तु से सत् वस्तु की उपमा देना है। (२) सत् से असत् की उपमा देना। जैसे—नारकों और देवों की आयु पल्योपम और सागरोपम की है, यह सत् वस्तु है, किन्तु पल्य और सागर के समय की गणना के लिए चार कोस के गड्हे आदि का जो दृष्टान्त दिया है, सो गड्हा किसी ने भरा नहीं है, कोई भरता नहीं है और कोई भरेगा भी नहीं। अतः यह सत् को असत् उपमा है। (३) असत् को सत् की उपमा देना; जैसे किसी ने प्रश्न किया कि द्वारिका नगरी कैसी? तो उत्तर दिया गया-देवलोक जैसी। जुवार कैसी? मोती के दाने जैसी। जुगनू कैसा? सूर्य जैसा। यहाँ जिन वस्तुओं को उपमा दी गई है, वे हैं तो मगर जैसी उपमा दी गई है वास्तव में वैसी नहीं हैं। (४) असत् वस्तु को असत् की उपमा देना; जैसे घोड़े के सींग कैसे?

गधे के सींग जैसे। गधे के सींग कैसे ? घोड़े के सींग जैसे। इस प्रकार उपमा प्रमाण के चार भेद हैं।

नौ तत्त्वों पर चार प्रमाण



(१) जीव तत्त्व—प्रत्यक्ष प्रमाण से चेतना लक्षण वाला; अनुमान प्रमाण से बालक, जवान, वृद्ध, त्रस और स्थावर के शास्त्र में कहे लक्षण वाला, उपमान प्रमाण से आकाश की भाँति अरूपी, धर्मास्तिकाय की तरह अनादि-अनन्त तथा तिल में तेल की तरह, दूध में घी की तरह और अग्नि में तेज की तरह समस्त शरीर में व्याप्त होकर रहा हुआ। आगम प्रमाण से निम्नलिखित गाथा में कहे अनुसार—

कम्मकत्ता अयं जीवो, कम्मछित्ता बुयाण वो।
अरूवी णिचोऽणाई, एवं जीवस्स लक्खणं ॥

अर्थात्—जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और विनाशक है। वह अरूपी, अनन्त और अनादि है इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध स्वरूप वाला है।

(२) अजीव तत्त्व—प्रत्यक्ष प्रमाण से जड़ता लक्षण वाला, जीव से विपरीत स्वभाव वाला, वर्ण आदि गुण-पर्याय वाला, मिलने और बिछुड़ने के स्वभाव वाला है (२) अनुमान प्रमाण से नवीन-प्राचीन बने, पर्याय बदले, जीव की गति, स्थिति अवगाहन आदि में सहायक हो—इत्यादि कार्यों से जिसका अनुमान किया जाय वह अजीव तत्त्व है। जैसे—जीव को सकंप देखकर अनुमान से जानना कि यह धर्मास्तिकाय के निमित्त से सकंप हो रहा है, अकंप देखकर जानना कि अधर्मास्तिकाय के निमित्त से अकंप हो रहा है; दूध से पूर्ण भरे हुए प्याले में शक्कर का समावेश होता देखकर जानना कि अवकाश देना आकाश का स्वभाव है। उपमान प्रमाण से—जैसे इन्द्रधनुप और संध्या का दृश्य थोड़ी ही देर में बदल जाता है, उसी प्रकार पर्याय बदल जाते हैं। जैसे पीपल का पान, कुंजर का कान

और संध्याकाल का रंग चंचल है, इसी प्रकार पुद्गलों का स्वभाव चंचल है, इत्यादि उपमाओं से अजीव को पहचानना । आगम प्रमाण से श्री भगवती-सूत्र के २० वें शतक में पुद्गल-पर्याय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । धर्म अधर्म और आकाश—यह तीनों एक एक एकद्रव्य हैं तथा स्कंध, देश और प्रदेशमय हैं । प्रत्येक प्रदेश के अनन्त पर्याय हैं; क्योंकि अनन्त जीवों और पुद्गलों को गति, स्थिति और अवगाहना में वे सहायक हो रहे हैं । इसी प्रकार काल द्रव्य, वस्तु को नवीन से पुरानी करने में सहायक है । यह चारों द्रव्य अनादि, अनन्त अरूपी, और अचेतन हैं । आकाश अनन्तप्रदेशी है । काल अप्रदेशी है और पुद्गल परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशात्मक स्कन्ध रूप नाना प्रकार का है । एक परमाणु की अपेक्षा एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श हैं; अनेक परमाणुओं की अपेक्षा ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ४ अथवा ८ स्पर्श, इस प्रकार १६ या २० बोल पुद्-गल में पाये जाते हैं । यह पाँचों अजीव द्रव्य गुण-पर्याय युक्त हैं ।

पुण्य तत्त्व पर चार प्रमाण—प्रत्यक्ष—शुभ वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, आनन्दित मन, हर्षमय वचन और काया से सातावेदनीय वेदते पुरुष को देखकर पुण्यवंत कहना । अनुमान से जाति, कुल, बल, रूप, सम्पदा एवं ऐश्वर्य की उत्तमता देखकर अनुमान करना कि यह पुण्यवंत है । उपमा—जैसे जितना गुड़ डाला जाता है, उतनी ही मिठास आती है, इसी प्रकार पुण्य के रस में भी षड्गुण हानि-वृद्धि समझनी चाहिए । पुण्य की अनन्त वर्गणाएँ और अनन्त पर्याय हैं । जैसे—पुण्योदय से देवायु का बंध पड़ा, पर काल की अपेक्षा चतुःस्थानपतित (चौठाणवडिया) रस होता है । ज्यों-ज्यों शुभ योग की प्रवृत्ति ज्यादा होती है त्यों-त्यों पुण्य की वृद्धि होती है । तथा पुण्यानु-बंधी पुण्य तीर्थङ्करवत्, पुण्यानुबंधी पाप हरिकेशीवत्, पापानुबंधी पुण्य गोशालकवत्, तथा अनार्य राजावत् और पापानुबंधी पाप नागश्रीवत्, इत्यादि उपमाओं से पुण्य का स्वरूप समझना । इसके अतिरिक्त पुण्यवान् को पुण्यवान् की उपमा से पहचानना, जैसे—'देवो दोगुंदगो जहा' अर्थात् इन्द्र के त्रायस्त्रिंशक (गुरुस्थानी) देवों के समान पुण्यवान् प्राणी सुख भोगता है । तथा—'चंदो इव ताराण, भरहो इव मणुस्साण' अर्थात् जैसे तारागण

में चन्द्र सोहता है और मनुष्यों में भरत महाराज सोहते हैं, इत्यादि। आगमप्रमाण—'सुचिन्नकम्मा सुचिन्नफला भवंति' अर्थात् शुभ कर्म के फल शुभ ही होते हैं। तथा देवायु, मनुष्यायु, शुभ अनुभाग इत्यादि पुण्य प्रकृतियों का जो कथन शास्त्र में है, वह आगमप्रमाण समझना चाहिए।

(४) पाप तत्त्व पर चार प्रमाण—प्रत्यक्ष—नीच जाति, नीच कुल, कुरूप और सम्पत्ति की हीनता देखकर प्रत्यक्ष से पापी समझना। अनुमान—किसी दुःखी जीव को देखकर अनुमान करना कि इसके पाप का उदय हो रहा है। उपमा—यह बेचारा नरक जैसे दुःख भोग रहा है। आगम—पाप की प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश इत्यादि पापकर्म के बन्धन का शास्त्र में जो कथन है वह।

(५) आस्रव तत्त्व पर चार प्रमाण—प्रत्यक्ष—मन वचन और काय के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले व्यापार से आस्रव को पहचानना। अनुमान—अव्रतीपन देखकर अनुमान से आस्रव को जानना। उपमा—तालाब का नाला, घर का द्वार, सुई का नाका (छेद), इत्यादि दृष्टांतों से आस्रव का स्वरूप समझना। आगम प्रमाण—अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन, इन चारों के क्रोध, मान, माया, लोभ; इन सोलह कषायों के दल रूप स्कंध आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध करते हैं, ऐसा आगम से जानना।

(६) संवर तत्त्व पर चार प्रमाण—प्रत्यक्ष प्रमाण—देश से योग का निरोध किया देखकर साधु या श्रावक को संवरवान् जानना और पूर्ण रूप से योगों का निरोध किया देखकर अयोगी को संवरवान् जानना। अनुमान-प्रमाण—सावद्य योग के त्याग से संवरवान् होने का अनुमान करना। उपमाप्रमाण—जैसे नाले को रोकने से तालाब में जल का आस्रव रुक जाता है, घर का द्वार बन्द करने से कचरा आना रुक जाता है, नौका का छिद्र मूँद देने से पानी घुसना बन्द हो जाता है, इसी प्रकार योगों का निरोध करने से आस्रव रुक कर संवर होता है, इस तरह की उपमाओं से संवर की पहचानना। आगम प्रमाण—योग का निरोध होने से आत्मा अकम्प,

स्थिर अवस्था को प्राप्त होता है, निज गुणों में लीन हो जाता है, इस प्रकार आगम प्रमाण से जानना।

(७) निर्जरा तत्त्व पर चार प्रमाण—प्रत्यक्ष—बारह प्रकार के तपश्चरण से कर्मोच्छेद करने वाले केवली को देखकर निर्जरा को समझना। अनुमान—ज्ञान दर्शन चारित्र की तथा सम्यक्त्व की वृद्धि होती देख और देवायु की प्राप्ति देखकर कर्मों की निर्जरा का अनुमान करना। उपमा—जैसे सोड़ा और पानी से वस्त्र की शुद्धि होती है, सुहागा टंकन खार आदि से सोने की शुद्धि होती है, वायु के वेग से बादल दूर हो जाते हैं, सूर्य की शुद्धि होती है इसी प्रकार तपश्चर्या से आत्मा की शुद्धि (निर्जरा) होती है, इस प्रकार की उपमाओं से निर्जरा को जानना। आगम प्रमाण-फल की वांछा से रहित, सम्यक्त्व से युक्त तपस्या करने से सकामनिर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है, ऐसा आगमप्रमाण से जानना।

(८) बन्ध तत्त्व पर चार प्रमाण—प्रत्यक्ष—क्षीर-नीर की तरह जीव और पुद्गल एकमेक हो रहे हैं, जिसके कारण प्रयोगसा पुद्गल रूप में शरीर का संयोग हो रहा है। यह संयोग प्रत्यक्ष से जानना। अनुमान प्रमाण—श्री तीर्थङ्कर केवली, गणधर या साधु का उपदेश सुनने पर भी संशय-व्यामोह दूर न हो, इससे अनुमान करना कि प्रकृतिबंध आदि कठोर हैं। उदाहरणार्थ—चित्तऋषि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से कहा—'नियाणमसुहं कडं' अर्थात् हे राजन्! पहले किये हुए निदान (नियाणा) के योग से तुम्हारे ऊपर उपदेश का प्रभाव पड़ना कठिन है।

इसके अतिरिक्त इन लक्षणों से अनुमान करना कि जीव किस गति में से आया है—१ दीर्घकषायी, २ सदा अभिमानी, ३ मूर्खजनों से प्रीति, ४ उग्र क्रोध, ५ सदा रोगी और ६ खुजली रोग वाला देखकर अनुमान करना कि यह जीव नरक गति से आया है। १ महालोभी, २ परसम्पदा का लोलुप, ३ महाकपटी, ४ मूर्ख, ५ भुखमरा, ६ आलसी, इन छह लक्षणों से अनुमान करना कि यह तिर्यञ्चगति में से आया है। १ अल्पलोभी, २ विनयवान्, ३ न्यायी, ४ पापभीरु, ५ निरभिमानता, इन पाँच लक्षणों से

समझना कि यह जीव मनुष्यगति में से आया जान पड़ता है। १ दानी, २ मधुरभाषी, ३ माता, पिता और गुरु जनों का भक्त, ४ धर्मानुरागी, ५ बुद्धिमान्, इन पाँच लक्षणों से अनुमान करना कि यह देवगति में से आया जान पड़ता है। उपमा प्रमाण—जैसे पानी में थोड़ी शक्कर डालने से थोड़ी और बहुत शक्कर डालने से बहुत मिठास आती है, इसी प्रकार शुभ कर्म के फल जानना चाहिए और पानी में थोड़ा नमक डालने से थोड़ा और अधिक नमक डालने से अधिक खारापन आता है, इसी प्रकार अशुभ कर्मों के फल जानना चाहिए। जैसे अभ्रक के एक टुकड़े में अनेक परत (पड़) होते हैं, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों पर कर्मवर्गणाओं के परत लगे हुए हैं। इत्यादि उपमाओं से बंध को समझना उपमाप्रमाण। आगमप्रमाण—जीव के शुभा-शुभ योग, ध्यान, लेश्या, परिणाम इत्यादि, तथा चार गतियों में उत्पन्न होने के सोलह लक्षण जो आगम में बतलाये हैं उन्हें जानना सो आगम प्रमाण से बंध तत्त्व को जानना है।

६ लेश्या का यन्त्र ।

लेश्या के नाम	लेश्या के वर्ण गन्ध रस और स्पर्श	लेश्या के लक्षण	लेश्या की-जघन्य उत्कृष्ट स्थिति	लेश्या की जघन्य गति	लेश्या की मध्यम गति	लेश्या की उत्कृष्ट गति
१ कृष्ण लेश्या	वर्ण-कृष्ण, गन्ध-दुर्गन्ध, रस-कटुक, स्पर्श-तीक्ष्ण	पांच आश्रव का सेवन स्वयंकरे अन्य के पास करावे, ३ योग ५ इन्द्रियों को छुट्टी रखे तीव्र परिणाम से छकाया का आरम्भ करे, हिंसा करता अचके [डरे] नहीं, क्षुद्र परिणामी दोनों लोक के दुःख से डरे नहीं।	जघन्य अन्तर मुहूर्त उत्कष्ट ३३ सागरोपम	भुवनपति, बाण-व्यन्तर, अनार्य मनुष्य	५ स्थावर ३ विकलेन्द्रिय तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय	पांचवीं, छट्ठी सातवीं, नर्क
२ नील लेश्या	वर्ण-हरा, गन्ध-दुर्गन्ध, रस-तीखा, स्पर्श-खुरदरा,	ईर्षावंत, अन्य के गुण सहन कर सके नहीं, स्वयं तप करे नहीं, अन्य को तप करने दे नहीं स्वयं ज्ञानाभ्यास करे नहीं, अन्य को करने दे नहीं। नित्य कपटी, लज्जा रहित, रस गृद्ध महा आलसी, फक्त आपके ही सुख चाहे।	जघन्य अन्तर मुहूर्त उत्कृष्ट १७ सागरोपम	भुवनपति बाण व्यन्तर, कर्म भूमि मनुष्य	५ स्थावर ३ विकलेन्द्रिय तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय	तीसरी चौथी नरक
३ कापोत लेश्या	वर्ण-ऊदा, गन्ध-दुर्गन्ध, रस-कषायला, स्पर्श-कठिन	बांका बोले, बांका चले, अपने दुर्गुण ढके, अन्य के प्रगट करे, कठिन वचन बोले, चोरी करे, अन्य की संपदा देख झूरे।	जघन्य-अन्तर मुहूर्त उत्कृष्ट ७ सागरोपम	भुवनपति, बाण व्यन्तर, अन्तर द्वीप मनुष्य	५ स्थावर ३ विकलेन्द्रिय तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय	प्रथम दूसरी तीसरी नरक
४ तेजो लेश्या	वर्ण रक्त गन्ध-सुगन्ध, रस-खटमीठा, स्पर्श-नरम,	न्यायी, स्थिर स्वभावी, सरल, कुतूहल रहित, बिनीत, ज्ञानी, दमितेन्द्रिय, दृढ धर्मी, प्रिय धर्मी, पाप से डरने वाला।	जघन्य-अन्तर मुहूर्त उत्कृष्ट २ सागरोपम	पृथ्वी, पानी, वन-स्पति, जुगल मनुष्य	भुवनपति, बाण व्यन्तर जोतिषी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय	प्रथम दूसरा स्वर्ग,
५ पद्म लेश्या	वर्ण-पीला गन्ध-सुगन्ध, रस-मीठा, स्पर्श-कोमल,	चारों कषाय पतली की, सदैव उपशांत कषायी त्रियोग वश में रखे, कम बोले, दमितेन्द्रिय	जघन्य-अन्तर मुहूर्त उत्कृष्ट १० सागरोपम	तीसरा-स्वर्ग	चौथा स्वर्ग	पांचवां-स्वर्ग
६ शुक्ल लेश्या	वर्ण-श्वेत, गन्ध-सुगन्ध, रस-मधुरा, स्पर्श-सुकोमल	आर्तध्यान रौद्रध्यान त्यागे, धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान ध्यावे, रागद्वेष पतले किये या निवृत, दमितेन्द्रिय, सामितिवान् गुप्तिवन्त, सरागी संयमी या वीतरागी,	जघन्य-अन्तर मुहूर्त, उत्कृष्ट ३३ सागरोपम	छठे से बारहवें स्वर्ग तक	९ ग्रैवेयक ४ अनुत्तर विमान	सर्वार्थ सिद्ध विमान

(९) मोक्षतत्त्व पर चार प्रमाण—प्रत्यक्ष—कर्मों का आवरण कुछ पतला पड़ने से अशुभ प्रकृतियों का क्षय और शुभ प्रकृतियों का उदय होने पर मोक्ष के अनुकूल सम्यग्ज्ञान आदि सद्गुणों का उद्भव होता है। फिर क्रमशः तीर्थङ्कर गोत्र उपार्जन करके तथा चार घाति कर्मों का नाश करके केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण से मोक्ष समझना चाहिए। अनुमानप्रमाण—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का क्षय होने से अनुमान करना कि आत्मा मोक्षाभिमुख हुआ है, अथवा यह जीव मोक्षगामी है। उपमानप्रमाण—जैसे जले हुए बीज को बोने से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्म-बीज के भस्म हो जाने पर जन्म-मरण रूप संसार की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे घृत डालने से अग्नि प्रदीप्त होती है, उसी प्रकार वीतराग में ज्ञान आदि गुण प्रदीप्त होते हैं। इत्यादि उपमाओं से सिद्ध भगवान् को जानना। आगमप्रमाण—आगम में कहे अनुसार सूत्रोक्त कर्म-प्रकृतियाँ ज्यों-ज्यों क्षय को प्राप्त होती हैं, त्यों-त्यों आत्मा मोक्षाभिमुख होता हुआ उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करता जाता है। उन्नति की यह क्रम-परम्परा गुणस्थानकों के रूप में आगम में वर्णित है। चौदह गुणस्थानक इस प्रकार हैं:—

(१) मिथ्यात्वगुणस्थानक—अनादि काल से मिथ्यात्व गुणस्थान में वर्त्तमान जीव वीतराग भगवान् की वाणी से न्यून, अधिक या विपरीत श्रद्धा, प्ररूपणा और स्पर्शना करता है। उसके फलस्वरूप ४ गति, २४ दंडक और ८४ लाख योनियों में भ्रमण करते-करते अनन्तानन्त पुद्गल-परावर्त्तन पूरे करता है।

(२) सास्वादन गुणस्थान—दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करके सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया। किन्तु अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् उसी प्रकृति का उदय होने पर पतन हुआ—सम्यक्त्व से गिरा। सम्यक्त्व से गिर जाने के बाद और मिथ्यात्व की भूमिका का स्पर्श करने से पहले की जीव की अवस्था सास्वादन गुणस्थान कहलाती है। जैसे वृक्ष से टूटा हुआ फल पृथ्वी पर नहीं पहुँच पाया है—बीच में है, तब तक न इधर का कहते हैं, न उधर का। इसी प्रकार सास्वादन गुणस्थानवर्त्ती जीव न सम्यग्दृष्टि कह-

लाता है न मिथ्यादृष्टि ही। यह जीव कृष्णपक्षी मिट कर शुक्लपक्षी होकर, कुछ कम अर्धपुद्गलपरावर्त्तन में संसार का अन्त करेगा।

(३) मिश्रगुणस्थानक— जैसे श्रीखण्ड खाने में खट्टा मीठा स्वाद आता है, इसी प्रकार जिस जीव की श्रद्धा न सम्यक् होती है और न मिथ्या होती है किन्तु मिश्र रूप होती है, उस जीव की अवस्था को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। यह जीव देशोन अर्धपुद्गलपरावर्त्तन में मुक्ति प्राप्त करता है।

(४) अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय करके सुगुरु सुधर्म और सुदेव पर श्रद्धा करने वाले, साधु आदि चारों तीर्थों के उपासक, तत्त्वश्रद्धानी जीव की अवस्था अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाती है। यदि पहले आयु का बंध न हो गया हो तो १ नरक गति, २ तिर्यंच गति, ३ भवनपति, ४ वाणव्यन्तर, ५ ज्योतिषी, ६ स्त्रीवेद और ७ नपुंसकवेद, इन सात बोलों को नहीं बाँधता। कदाचित् सम्यक्त्व होने से पहले आयुबंध हो गया हो तो उसे भोग कर उच्चगति प्राप्त करता है।

(५) देशविरतिगुणस्थानक—पूर्वोक्त ७ तथा अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी, इन ११ प्रकृतियों का उपशम आदि करके श्रावक के १२ व्रत, ११ प्रतिमा, नवकारसी आदि तप वगैरह धर्मक्रियाओं में उद्यत रहने वाले संयमासंयमी जीव की अवस्था देशविरति गुणस्थानक कहलाती है। यह जीव यदि पडिवाई न हो तो जघन्य तीसरे भव में और उत्कृष्ट १५ भव में मोक्ष जाता है।

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान—पूर्वोक्त ११ प्रकृतियों का और प्रत्याख्याना-वरण कषाय की चौकड़ी का, इस प्रकार १५ प्रकृतियों का क्षयोपशम आदि करके साधु बने, किन्तु दृष्टि की चपलता, भाव की चपलता, भाषा की चपलता, और कषाय की चपलता के कारण प्रमाद बना रहता है और परिपूर्ण शुद्ध साधु-वृत्ति का पालन नहीं कर सकता, ऐसी जीव की अवस्था को प्रमत्तसंयत

गुणस्थान कहते हैं। ऐसा जीव जघन्य तीसरे भव में और उत्कृष्ट १५ भवों में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पाँचों प्रमादों* से रहित, शुद्ध संयम का पालन करने वाले जीव की अवस्था को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। यह जीव जघन्य उसी भव में और उत्कृष्ट तीसरे भव में मोक्ष जाता है।

(८) नियट्टिबादर गुणस्थान—पूर्वोक्त १५ प्रकृतियों तथा हास्य, रति, अरति, भय शोक एवं जुगुप्सा, इन २१ प्रकृतियों का क्षय करे अथवा उपशम करे तब जीव की जो स्थिति होती है, उसे नियट्टिबादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में जीव अपूर्वकरण (पहले कभी नहीं किया हुआ परिणाम अर्थात् कषायों की मन्दता) करता है। जो प्रकृतियों का उपशम करता है वह उपशमश्रेणी-प्रतिपन्न होकर ग्यारहवें गुणस्थानक तक पहुँचता है और फिर नीचे गिरता है और जो प्रकृतियों का क्षय करता है, वह क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर नौवें और दसवें गुणस्थान में होता हुआ सीधे बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है और तत्काल तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवलज्ञानी हो जाता है।

(९) अनियट्टिबादर गुणस्थान—पूर्वोक्त २१ प्रकृतियों का और संज्वलन त्रिक (क्रोध, मान, माया) तथा तीन वेद (स्त्री वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) का इस प्रकार कुल २७ प्रकृतियों का उपशम करे या क्षय करे तब नौवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यह अवेदी और सरलस्वभावी जीव जघन्य उसी भव में, उत्कृष्ट तीसरे भव में मोक्ष जाता है।+

** गाथा—सुयकेवलि-आहारग-रिजुमइ-उवसंतगा विउ पमाएणं।*
हिंडंति भवमणंतं, तं अणंतरमेव चउगइया॥

अर्थात्—श्रुतकेवली, आहारकशरीरी, ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी और उपशान्तमोह ऐसे उत्तम पुरुष भी प्रमादाचरण करके चतुर्गति में संसार-परिभ्रमण करते हैं। यह पाँचों प्रमाद महाभयंकर हैं। साधु को इनके फन्द में नहीं फँसना चाहिए।

+ प्रश्न—आठवाँ निवृत्तिबादर और नौवाँ अनिवृत्तिबादर, ऐसा उल्टा क्रम क्यों रक्खा गया है?

(१०) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानक—पूर्वोक्त २७ प्रकृतियों का तथा संज्वलन लोभ का उपशम या क्षय करने वाले जीव की अवस्था को सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान कहते हैं। यह जीव अव्यामोह, अविभ्रम, शान्तिस्वरूप होता है। जघन्य उसी भव में और उत्कृष्ट तीसरे भव में मोक्ष पाता है।

(११) उपशान्तमोहनीय गुणस्थानक—मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों को राख से अग्नि को ढँकने के समान, उपशान्त करता है, उस जीव की अवस्था को ११ वाँ गुणस्थानक कहते हैं। उस जीव को यथाख्यात चारित्र होता है। इस गुणस्थान में मृत्यु हो जाय तो अनुत्तरविमान में उत्पन्न होता है और वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष पाता है। अगर उपशम किये हुए संज्वलन लोभ का उदय हो जाय (जैसे वायु से राख उड़ जाने पर दबी हुई आग फिर चमकने लगती है) तो नीचे गिरता हुआ दसवें, नौवें गुणस्थानक में होता हुआ आठवें में आता है। यहाँ सावधान होकर अगर क्षपक श्रेणी आरंभ करे तो उसी भव में मोक्ष पा लेता है। कदाचित् कर्मयोग से गिरते-गिरते पहले गुणस्थान तक जा पहुँचा तो देशोन अर्धपुद्गलपरावर्त्तन काल में मोक्ष प्राप्त करता है।

(१२) क्षीणमोहनीयगुणस्थानक—मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय करने पर इस गुणस्थानक की प्राप्ति होती है। इस गुणस्थान में २१ गुणों की प्राप्ति होती है—(१) क्षपकश्रेणी (२) क्षायिक भाव (३) क्षायिक सम्यक्त्व (४) क्षायिक यथाख्यात चारित्र (५) करणसत्य (६) भावसत्य (७) योगसत्य (८) अमायी (९) अकषायी (१०) वीतरागी (११) भावनिर्ग्रन्थ (१२) संपूर्ण संवुड (१३) सम्पूर्ण भावितात्मा (१४) महातपस्वी (१५) महासुशील (१६) अमोही (१७) अविकारी (१८) महाज्ञानी (१९) महाध्यानी (२०) वर्धमान परिणामी (२१) अप्रतिपाती।

उत्तर—चारित्रमोहनीय की अपेक्षा दर्शमोहनीय बादर है और इसकी निवृत्ति आठवें गुणस्थान में होती है। अतः इसे निवृत्तिबादर कहा है और किंचितमात्र चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृति सत्ता में रहने के कारण नौवाँ गुणस्थान अनिवृत्तिबादर कहा गया है। दोनों नाम सापेक्ष हैं। आठवें का दूसरा नाम 'अपूर्वकरणगु०' भी है। तत्त्व केवलीगम्य।

इन इक्कीस गुणों को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त्त में ५ ज्ञानावरणीय, ९ दर्शनावरणीय और ५ अन्तराय—इस प्रकार तीन घातिया कर्मों को खपाता है और १३वाँ गुणस्थान प्राप्त करता है।

(१३) सयोगकेवली गुणस्थान—यह जीव केवलज्ञान, केवलदर्शन से सम्पन्न, सयोगी, सशरीरी, सलेशी, शुक्ललेशी, यथाख्यातचारित्री, क्षायिक सम्यक्त्वी, पण्डितवीर्यवान, शुक्लध्यानयुक्त होता है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशोन (९ वर्ष कम) करोड़पूर्व तक इस गुणस्थान में रहता है।

(१४) अयोगकेवली गुणस्थान—चौदहवें गुणस्थान वाले अर्हन्त प्रभु शुक्लध्यान के चौथे पाये के ध्याता, समुच्छिन्नक्रियाअप्रतिपाती अनिवृत्ति ध्यानी होकर, मन वचन काय के योगों का निग्रह करके श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हैं। इस प्रकार अयोगी केवली होकर शैलेशी (सुदर्शन मेरु) के समान निश्चल होकर शेष रहे हुए वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म का क्षय करते हैं। औदारिक, तैजस और कार्मण—इन तीनों शरीरों का त्याग करके मुक्त हो जाते हैं। जैसे एरंड का बीज अपने कोश रूपी बंधन से युक्त होकर ऊपर की ओर उछलता है, उसी प्रकार कर्मबन्धन से मुक्त जीव मुक्ति की ओर ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे अग्नि की ज्वाला का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का है, उसी प्रकार निष्कर्मी जीव का ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव होने से वह समश्रेणि, ऋजुगति, अन्य आकाशप्रदेशों का अवगाहन किये बिना, विग्रहगति-रहित, एक समय मात्र में सिद्धशिला को प्राप्त करके अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अनुपम सुखों का भोक्ता बन जाता है।

इस प्रकार सात नय, चार निक्षेप, चार प्रमाण आदि अनेक प्रकारों से नव तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान होना सूत्रधर्म है। इस सूत्रधर्म में द्वादशांगी वाणी वगैरह सम्पूर्ण ज्ञान का समावेश हो जाता है। इस ज्ञान का आज कोई पार नहीं पा सकता, फिर भी उसमें से यथाशक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना ही मुमुक्षु जनों का कर्त्तव्य है।

शास्त्रज्ञान अनन्त है। विद्याएँ अनेक हैं। परन्तु आयु अल्प है और उसमें भी अनेक विघ्न हैं। अतएव जैसे हंस पानी को छोड़ कर दूध को ग्रहण

करता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष को सार-सार ग्रहण कर लेना चाहिए।

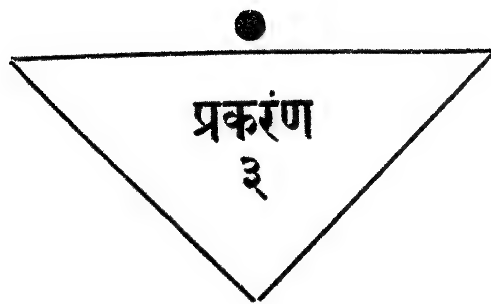
अनेकसंशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः।

शास्त्रज्ञान अनेक शंकाओं का निराकरण करने वाला, मोक्षमार्गप्रदर्शक, और सब जीवों के लिए नेत्र रूप है। जिसे शास्त्रज्ञान रूपी नेत्र प्राप्त नहीं है, वह अंधे के समान है।

गाथा—जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी।

अर्थ—जो जीव संक्लिष्ट परिणाम से रहित, निर्मल स्वभाव वाले होते हैं, वे श्रीजिनेश्वरप्रणीत वचन में अनुरक्त बनते हैं। वे जिनवचन की आराधना करते हैं और संसार का पार पा लेते हैं।




प्रकरंण
३

मिथ्यात्व



बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो, किं वा जाणं तिउट्टइ ॥

—श्रीसूत्रकृतांग, १ श्रु० १ अ०

'मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए और बन्धन का स्वरूप समझ कर उसे नष्ट करना चाहिए। श्रीवीर प्रभु ने बन्धन किसे कहा है ? और कैसा ज्ञान प्राप्त करने से बन्धन का नाश हो सकता है ?'

आत्मा अनादि काल से बन्धनों में आबद्ध है। उन बन्धनों से वह मुक्त हो सकता है, किन्तु सर्व प्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि (१) बन्धन क्या है और (२) बन्धन से मुक्त होने का उपाय क्या है ? बन्धन का यथार्थ स्वरूप समझे बिना उससे मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

बन्धन का आद्य और प्रधान कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव न तो अपने वास्तविक स्वरूप को समझ पाता है, न बन्धन को समझ पाता है और न उससे छुटकारा पाने के उपायों को ही समझता है। अतएव सबसे पहले मिथ्यात्व को समझना और उसका त्याग करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से यहाँ मिथ्यात्व का स्वरूप पहले बतलाया जाता है। योगशास्त्र में कहा है:—

'अनित्याशुचिदुःखात्मसु नित्यशुचिसुखानात्मख्यातिरविद्या ।' अर्थात्

अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दुःख को सुख और आत्मा को अनात्मा मानना ही अविद्या (मिथ्यात्व) है।

मिथ्यात्व तीन प्रकार का है—(१) अणाइया अपज्जवसिया (अनादि अनन्त) अर्थात् जिस मिथ्यात्व की आदि नहीं है और अन्त भी नहीं है। अभव्य जीवों को यह मिथ्यात्व होता है। अनन्त भव्यजीव भी ऐसे हैं जो अनन्तानन्त काल से अव्यवहारिक निगोद में पड़े हुए हैं। वे एकेन्द्रिय पर्याय को छोड़कर अब तक द्वीन्द्रिय पर्याय भी प्राप्त नहीं कर सके हैं और भविष्य में भी नहीं प्राप्त कर सकेंगे।*

(२) अणाइया सपज्जवसिया (अनादि सपर्यवसित) अर्थात् अनादि काल से मिथ्यात्वी होने के कारण जिन जीवों के मिथ्यात्व की आदि तो नहीं है, किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य होने के कारण जो मिथ्यात्व का अन्त कर डालते हैं।

(३) साइया सपज्जवसिया (सादि सपर्यवसित) अर्थात् जो मिथ्यात्व एक बार नष्ट हो जाता है किन्तु फिर उत्पन्न हो जाता है और यथाकाल फिर नष्ट हो जायगा।

मिथ्यात्व के स्वरूप को विस्तार से समझने के लिए उसके २५ भेदों को समझ लेना आवश्यक है। अतः यहाँ २५ भेद बतलाये जाते हैं:—

** संसार में तीन प्रकार के जीव हैं—(१) बन्ध्या स्त्री के समान, जो पुरुष का संसर्ग मिलने पर भी पुत्रवती नहीं होती। इसी प्रकार अभव्य जीव व्यावहारिक ज्ञान आदि की आराधना करके ग्रैवेयक तक जाते हैं और अनन्त संसार-परिभ्रमण करते रहते हैं। वे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते।*

(२) दूसरे प्रकार के जीव विधवा स्त्री के समान होते हैं, जो पुत्र प्राप्त करने की योग्यता वाली तो है मगर पुरुष का संयोग न मिलने के कारण पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकती। अवव्हारी निगोद में रहे हुए भव्य जीव उसमें से कभी निकलेंगे ही नहीं। ज्ञान आदि गुण प्राप्त नहीं कर सकेंगे और मोक्ष भी नहीं जा सकेंगे। इसी प्रकार निगोद में से निकले अनन्त भव्यजीव भी ऐसे हैं जो संसार में परिभ्रमण करते ही रहेंगे—कभी मोक्ष नहीं पावेंगे।

(३) तीसरे प्रकार के जीव अवन्ध्या सधवा के समान हैं। जैसे अवन्ध्या सधवा स्त्री पुरुष के योग से पुत्र प्राप्त करती है, उसी प्रकार निकट भव्य जीव ज्ञानादि गुण प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

१—आभिग्रहिक मिथ्यात्व



कितनेक लोग समझते हैं कि जो बात हमारे ध्यान में आवे वही सच्ची और सब झूठी। ऐसे लोग यह सोच कर कि कहीं हमारी श्रद्धा भंग न हो जाय, सद्गुरु का समागम भी नहीं करते। जिनेश्वर भगवान् की वाणी का श्रवण-मनन भी नहीं करते, सत्यासत्य का निर्णय भी नहीं करते। वे हठाग्रही बने रह कर अपने माने हुए और रूढ़ि से चले आने वाले मार्ग पर ही चलते रहते हैं। अगर उन्हें कोई सत्य धर्म को समझाना चाहे तो वे कहते हैं—'हम अपने बाप-दादाओं का धर्म कैसे छोड़ सकते हैं?' वास्तव में देखा जाय तो वे जैसे बाप-दादाओं की धर्म-परम्परा से चिपटे रहते हैं, वैसे संसार की दूसरी बातों से नहीं चिपके रहते। विचार करके देखा जाय तो तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि बाप-दादा कदाचित् अंधे, बहरे, लूले-लगड़े हों तो हमें भी अपने आँख, कान आदि तोड़-फोड़ कर वैसा ही बन जाना चाहिए? बाप-दादा निर्धन हों तो आपको धन प्राप्त करने का उद्योग नहीं करना चाहिए? और यदि अनायास धन प्राप्त हो जाय तो क्या फैंक देना चाहिए? निर्धन ही रहना चाहिए? यदि सत्य धर्म को अंगीकार करने में बाप-दादा की परम्परा नहीं छोड़ी जा सकती तो इन सब बातों में भी बाप-दादा सरीखा ही रहना चाहिए। पर ऐसा कोई करता नहीं। सिर्फ धर्म के विषय में नाहक ही बाप-दादाओं को बीच में ले आते हैं और मिथ्या मत का त्याग नहीं करते।

कुछ लोग कहते हैं—हमारे धर्म में बड़े-बड़े विद्वान् हैं, धनवान् हैं और सत्तावान् हैं। वे सभी क्या मूर्ख हैं? परन्तु यह विचार नहीं किया जाता कि बड़े-बड़े विद्वान्, धनवान् और सत्ताधारी लोग जान-बूझ कर नादान बन कर, बेआबरू बन कर शराब पीते हैं! उस समय वे मूर्ख नहीं हैं तो क्या हैं? सच बात तो यह है कि मोहनीय कर्म की शक्ति बहुत प्रबल है। इस शक्ति के प्रताप से सच्चे धर्म की परीक्षा नहीं हो सकती। मोह रूपी मदिरा के नशे में चूर हुए मनुष्य को सब विपरीत ही विपरीत नज़र आता

है। आत्मा मोह के वश होकर धर्म के नाम पर भी पाप करने में आनन्द मानता है। आत्मा अनादि काल से पाप से परिचित है, इस कारण बिना सिखाये पाप सीख जाता है। गर्भाशय से बाहर निकलते ही बालक को रोना कौन सिखला देता है? दूध पीने की विधि की शिक्षा कौन देता है? और बड़ा होने पर स्त्री के साथ क्रीड़ा करने की शिक्षा कौन देता है? अनादि काल से आत्मा अनन्त बार ऐसे काम करके आया है। इसी अनुभव के आधार पर उसे बिना सिखाये ऐसी बातें याद आ जाती हैं और इनका आचरण करने लगता है। ऐसा समझ कर हठाग्रही, कदाग्रही, दुराग्रही न बनते हुए तथा धनवानों और विद्वान् कहलाने वालों की तरफ न देखते हुए अपने आत्मा के कल्याण-अकल्याण की ओर दृष्टि रख कर आभिग्रहिक मिथ्यात्व का त्याग करके सत्य धर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

२—अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व

●

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो हठाग्रही तो नहीं होते, किन्तु उनमें धर्म-अधर्म, निजगुण-परगुण और सत्य-असत्य को परखने की बुद्धि ही नहीं होती। उनमें जन्म से ही एक प्रकार की मूढ़ता होती है, जिसके कारण वे सत्यधर्म और पाखण्डधर्म का निर्णय नहीं कर सकते। जैसे हलुवा आदि मधुर पदार्थों में कुड़छी घूमती तो है, मगर अपने जड़ स्वभाव के कारण स्वाद की परीक्षा नहीं कर सकती, उसी प्रकार बहुतेरे भोले प्राणी, बड़ी उम्र के हो जाने पर भी धर्म के संबन्ध में पूछने पर उत्तर देते हैं—'हमें पक्षपात में पड़ने की क्या आवश्यकता है? किसी के धर्म को बुरा क्यों कहना चाहिए? कौन जाने कौन-सा धर्म सच्चा है और कौन-सा धर्म झूठा है? अधिक विचार करने पर हमें तो ऐसा लगता है कि सभी धर्म सरीखे हैं। कोई खोटा नहीं है। क्योंकि सभी धर्मों में बड़े-बड़े विद्वान् महात्मा, पंडित, धर्मोपदेशक देखे जाते हैं। वे क्या झूठे हो सकते हैं? हम किस खेत की मूली हैं कि उनमें से सच्चे-झूठे की परख कर सकें! हमें किसी धर्म के झगड़े में नहीं पड़ना है। हमारे लिए सभी धर्म सरीखे और सच्चे हैं। हम तो सभी देवों को और गुरुओं को

भजेंगे, पूजेंगे, वन्दना करेंगे और आराधन करेंगे, इसी से हमारा उद्धार हो जायगा।'

इस प्रकार का विचार करने वाले बेचारे अधबीच में ही रह जाएँगे। न इस पार, न उस पार। ऐसे भोले लोगों को इतना तो सोचना चाहिए कि अगर सभी धर्म खरीखे हैं तो सब की प्ररूपणा में इतना अन्तर क्यों पड़ता है? सभी अपने-अपने पक्ष को क्यों खींचते हैं? इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि सब धर्मों में से कोई एक धर्म सच्चा है। वह सच्चा धर्म कौन-सा है, यह जानना हो तो आत्मानुभव से, दीर्घ दृष्टि से, न्याय दृष्टि से और निष्पक्ष भाव से विचार करना चाहिए कि जिस एक महान् और सर्वमान्य वस्तु के आधार पर सब धर्म चलते हैं, और जिसे सभी धर्म वाले उत्तम गिनते हैं, वह वस्तु जिसमें सम्पूर्ण हो, वही धर्म सब धर्मों में सच्चा है। ऐसी महापवित्र, मांगलिक और वन्दनीय वस्तु कौन-सी है? और उसका नाम क्या है? उस महान् वस्तु का नाम है—दया। 'अहिंसा परमो धर्मः'। यह भगवती दया माता जिस धर्म में सर्वांश में विद्यमान हो, उस धर्म को सच्चा और जो उसका विरोध करते हों या जिनमें पूर्ण रूप से वह न पाई जाती हो वे कपोल-कल्पित हैं।

शंका—धर्म की सचाई के लिए आपने एक मात्र दया का ही नाम लिया और सत्य, शील, सन्तोष, क्षमा आदि गुणों को क्यों नहीं गिना?

समाधान—दया माता में इन सभी गुणों का समावेश हो जाता है। दया दो प्रकार की है-(१) स्वदया और (२) परदया। अपने आत्मा की दया करना स्वदया है। स्वदया का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि खूब खान पान और खूब भोग-विलास करके, आत्मा को पुद्गलानन्द में मस्त बना कर सुखी होना चाहिए। पौद्गलिक सुख सच्चा सुख नहीं है। वह सुखाभास है-सुख सरीखा मालूम होता है, पर सच्चे सुख का लक्षण उसमें नहीं पाया जाता। ऐसे सुख में रचे-पचे रहने से और पाप-पुण्य का विवेक भुला कर जीवन पूरा कर देने से भयंकर परिणाम भुगतना पड़ता है। शास्त्र में कहा है:—

खणमित्तसुक्खा बहुकाल-दुक्खा,
खणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

अर्थात्—काम (शब्द तथा रूप) और भोग (रस, गंध, स्पर्श) अपथ्य आहार की तरह क्षण मात्र सुख देने वाले, अनन्त काल तक दुःख देने वाले और घोर अनर्थों की खान हैं। इस प्रकार जो वस्तु किंचित् मात्र सुख देती हो और चिरकाल तक दुःख देती हो, जो ऊपर-ऊपर से सुख देती प्रतीत हो और जिसके भीतर दुःखदायिनी शक्ति भरी पड़ी हो और साथ ही जो सच्चे सुख की प्राप्ति में अन्तराय रूप हो उसे सुखकारक कैसे कहा जा सकता है? कहा भी है—

जा सुख भीतर दुःख बसे, सो सुख है दुख रूप।

अतएव भोगोपभोगों को भोगना स्वदया नहीं है किन्तु ज्ञानपूर्वक विचार करना कि—हे आत्मन्! अगर तू हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि अठारह पापस्थानों का सेवन करेगा तो इस भव में शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा का पात्र बनेगा और आगामी भव में नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों की घोर वेदना भोगेगा। ऐसा समझ कर इन पापकारी कार्यों से अलग हो जा। ऐसा करने से तू थोड़े ही काल में परम सुखी हो जायगा। इस प्रकार की स्वदया लाकर अपनी आत्मा को अकार्य से बचा लेना ही सच्ची स्वदया है।

(२) पृथ्वी, पानी आदि षट् काय के जीवों की रक्षा करना परदया है। स्वदया में परदया की नियमा है, अर्थात् स्वदया पालने वाला आत्मा परदया का पालन करता ही है। किन्तु परदया में स्वदया की भजना है, अर्थात् परदया का पालने वाला आत्मा स्वदया का पालन करता ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परदया के साथ स्वदया हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। इस प्रकार दया में ही समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है। कहा भी है:—

अहिंसैव परो धर्मः, शेषस्तु व्रतविस्तरः।
तस्यास्तु परिरक्षार्थं, पादपस्य यथा वृतिः।

अर्थात्—अहिंसा ही परम धर्म है। सत्य आदि व्रतों का विस्तार तो अहिंसाव्रत की भलीभाँति रक्षा करने के लिए ही है; उसी प्रकार जैसे वृक्ष की रक्षा के लिए बाड़ होती है।

ऐसा दयामय धर्म ही सच्चा धर्म है और उसी को ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

प्रश्न—इस प्रकार की सम्पूर्ण दया को इस संसार में कौन पाल सकता है? हमें तो ऐसी सूक्ष्मतर दया पालने वाला कोई नज़र नहीं आता?

उत्तर—यह समझना ठीक नहीं है कि संसार में ऐसी दया पालने वाला कोई नहीं है। 'बहुरत्ना वसुन्धरा' अर्थात् इस पृथ्वी पर अनेक रत्न हैं। बड़े-बड़े मुनि महाराज, पंच महाव्रतधारी महात्मा, स्वदया और परदया का पालन करने में समर्थ पुरुष आज भी विद्यमान हैं। वे ऐसी ही दया पालते हैं।

प्रश्न—पंच महाव्रतधारी साधु आहार-विहार वगैरह अनेक कार्य करते हैं। उन कार्यों में क्या हिंसा नहीं है?

उत्तर—आहार-विहार आदि करते हैं, अनजान में किंचित् द्रव्यहिंसा होती है, वह हिंसा नहीं है। जिनेश्वरदेव ने फरमाया है:—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई॥

अर्थात्—यतना से—ईर्या समिति से चलते हुए, यतना से खड़े रहते हुए, यतना से बैठते हुए, यतना से सोते हुए, यतनापूर्वक भोजन व भाषण करते हुए पाप-कर्म का बंध नहीं होता।

भगवान् के इस आदेश के अनुसार पंच महाव्रतधारी मुनि सब काम यतनापूर्वक करते हैं। इस कारण उन्हें हिंसा नहीं लगती। छद्मस्थ होने के कारण योग से चूक जाने पर कदाचित् हिंसा हो जाती है तो पश्चात्ताप के साथ प्रायश्चित्त (दंड) लेकर शुद्धि कर लेते हैं। इस कारण मुनि महाराज सर्वथा अहिंसाव्रतधारी हैं।

प्रश्न—साधु परिपूर्ण दया का पालन कर सकते हैं, किन्तु हम गृहस्थ ठहरे। हम लोग पूर्ण दया का पालन किस प्रकार कर सकते हैं?

उत्तर—यह कथन सत्य है। गृहस्थ-दशा में सम्पूर्ण दया का पालन करना बहुत ही कठिन है—बल्कि सम्भव नहीं है। फिर भी अपने से जितनी बन पड़े उतनी दया तो पालना ही चाहिए और फिर जो-जो हिंसा अपने से हो उसे हिंसा समझ कर उसका पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए। जितनी हो सके, प्रतिदिन हिंसा का त्याग करते जाना चाहिए और सम्पूर्ण हिंसा के त्याग की अभिलाषा रखनी चाहिए। सर्वथा हिंसा का त्याग करने वाले महापुरुषों का गुणगान करना और अवसर आने पर स्वयं सर्वथा हिंसा त्याग कर, मुनिपद धारण करके अपने को कृतार्थ और भाग्यशाली मानना। गृहस्थ के लिए यह महान् सार है। ऐसी समझ से काम लेते हुए, विवेकहीन और भयभीत न होकर सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए और अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व का त्याग करना चाहिए।

३—आभिनिवेशिक मिथ्यात्व

कितनेक मताग्रही लोग अपने मन में तो अपनी धर्ममान्यता और कल्पनाओं का मिथ्यापन समझ लेते हैं, किन्तु मान-अभिमान के कारण वेश का त्याग नहीं करते। अपने पकड़े हठ का भी त्याग नहीं करते और अपनी बात को पकड़े रहते हैं। कोई शास्त्रज्ञ महात्मा उन्हें न्यायपूर्वक समझाता है तो उनके सामने तरह-तरह के कुतर्क उपस्थित करते हैं। खोटे हेतु और खोटी युक्तियाँ देकर अपने कुमत की स्थापना करते हैं। उत्सूत्र प्ररूपणा करने से डरते नहीं हैं। श्रीजिनेश्वरदेव के एक वचन की उत्थापना करने में अनेक वचनों की उत्थापना कर डालते हैं। कदाचित् उत्तर न सूझे तो तत्क्षण क्रोध के वश होकर शुद्ध शिक्षा देने वाले गीतार्थ महात्मा का तिरस्कार करते हैं। क्रोध में आकर जो-जो शास्त्रार्थ अपने मत को बाधाकर होते हैं, उन सबको उलट देते हैं। स्वमति-कल्पना से मिथ्या ग्रन्थ कथा और चारित्र आदि की रचना कर डालते हैं और इस प्रकार अनन्त संसार की वृद्धि करने वाले पाप से डरते नहीं हैं। भोले लोगों को अपने मत के अनु-

सार भरमा कर पवित्र और सच्चे साधुओं की संगति छुड़ा कर, ऐसे साधुओं को दान, मान, सत्कार देना बंद करवा कर, फूटी हुई (छेद वाली) नाव की तरह स्वयं भी डूबते हैं और अनुयायियों को भी पाताल में (नरक में) ले जाते हैं। सत्य धर्म की इच्छा वाले भव्यों को ऐसे उत्सूत्रप्ररूपक हठी पुरुषों की वास्तविकता का पता नहीं चले तब तक तो लाचारी है, किन्तु जब उन्हें पहचान लें तो तुरन्त उनकी संगति छोड़कर उनका उपदेश सुनना त्याग दें। अपनी आत्मा का हित चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह खास कर्त्तव्य है कि उसे जब अपनी मान्यता मिथ्या मालूम हो जाय तब हठाग्रही और कुतर्की या क्रोधी न होकर तुरन्त उस मिथ्या मान्यता का त्याग कर दे और जो मान्यता सच्ची मालूम पड़े उसे स्वीकार कर ले और आभिनिवेशिक मिथ्यात्व को त्यागे।

४—सांशयिक मिथ्यात्व



कितनेक जैनमतावलम्बी ऐसे हैं जो श्रीवीतराग की वाणी की कोई-कोई गहन बात, बुद्धि की कमी के कारण समझ में न आने पर और अन्य धर्म वालों से अथवा आधुनिक पाश्चिमात्य मान्यताओं से विरुद्ध मालूम पड़ने पर जैनमत पर शंका करने लगते हैं। वे कहते हैं-कैसे मान लिया जाय कि यह बात सच्ची है? या तो भगवान् ने मिथ्या प्ररूपणा की है या आचार्यों ने मिथ्या लिखा है! उनका मन ऐसा डाँवाडोल हो जाता है। वे यह नहीं सोचते कि सम्पूर्ण रूप से दया का पालन करने वाले और सत्य को जानने वाले पूर्ण रूप से कृतकृत्य स्वार्थरहित जिनेश्वर देव मिथ्या प्ररूपणा किस लिए करेंगे? क्या वीतराग प्रभु को अपना मत चलाने का अभिमान था? क्या उनमें मत संबंधी ममता थी? नहीं। अतएव शास्त्र की कोई बात अगर समझ में न आवे तो विचारशील पुरुष को अपनी बुद्धि की मन्दता समझनी चाहिए, किन्तु तीर्थङ्कर भगवान् या गीतार्थ आचार्यों का तनिक भी दोष नहीं समझना चाहिए। जब कभी ज्ञानी आचार्यों या विद्वानों का योग मिले तब शंकाओं का समाधान करना चाहिए। फिर भी शंका रह जाय तो ज्ञानावर्ण कर्म का उदय जान कर केवली भगवान् के वचनों को

सत्य ही समझना चाहिए। समुद्र का सारा पानी लोटे में नहीं समा सकता उसी प्रकार अनन्त ज्ञानी प्रभु के वचन अल्पज्ञ और छद्मस्थ की समझ में पूरी तरह कैसे आ सकते हैं ? इस प्रकार विचार करके सांशयिक मिथ्यात्व का त्याग करना चाहिए।

५—अनाभोग मिथ्यात्व

●

अनजान में, अज्ञान के कारण अथवा भोलेपन के कारण अनाभोग मिथ्यात्व लगता है। यह मिथ्यात्व द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और बहुत-से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को लगता है। उपर्युक्त चार मिथ्यात्व वाले जीवों की अपेक्षा अनाभोग मिथ्यात्व वाले जीव अधिक हैं।

६—लौकिक मिथ्यात्व

●

जैन मत के सिवाय अन्य मत को मानना, लोकरूढ़ियों में धर्म समझना लौकिक मिथ्यात्व कहलाता है। इसके तीन भेद हैं—(१) देवगत लौकिक मिथ्यात्व (२) गुरुगत लौकिक मिथ्यात्व और (३) धर्मगत लौकिक मिथ्यात्व।

[१] देवगत लौकिक मिथ्यात्व—सम्पूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण वीतरागता सच्चे देव के लक्षण हैं। यह लक्षण जिनमें न पाये जाएँ, उन देवों को देव मानना देवगत मिथ्यात्व है। कितनेक लोग चित्र, वस्त्र, कागज, मिट्टी, काष्ठ, पत्थर आदि से अपने हाथों से देव बनाकर उसे असली देव ही मानते हैं और उसी को पूजते हैं। ऐसे देव में ज्ञान आदि देवगत गुण नहीं हैं, अतः वह भाव-देव नहीं हो सकता। ऐसे देवों में से किसी के साथ स्त्री होती है; इससे अनुमान होता है कि वे अभी तक काम-शत्रु के पंजे में से छूट नहीं सके हैं, वे विषयलुब्ध हैं। कोई देव हाथ में शस्त्र धारण किये हुए होता है, जिससे अनुमान होता है कि या तो उसे दूसरों से भय है अथवा उसका अपने शत्रु की हत्या करने का काम शेष रह गया है। कोई-कोई देव वाद्य बजाते हुए होते हैं। वे मानों अपने तथा दूसरों के उदारा चित्त को बाजा

बजा कर प्रसन्न करना चाहते हैं! कोई-कोई माला लिये होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उनमें अपूर्णता है। ध्यान में चित्त एकाग्र न रह सकने के कारण अथवा गिनती स्मरण में न रहने के कारण उन्हें माला का साधन ग्रहण करना पड़ता है। अथवा माला के द्वारा अपने से भी बड़े किसी और देव का जाप करने के लिए माला रक्खी है। जिस देव के पास किसी अन्य देव की मूर्ति बिठलाई है, वह निर्बल है। उसे अभी दूसरे की सहायता की आवश्यकता है। अथवा वह मानता है कि दूसरे के सामीप्य से मेरी शोभा बढ़ेगी। जो मांसभक्षी है, वह अनार्य है। जो अन्न फल आदि सचित्त वस्तुओं का भोग करना चाहता है वह अव्रती है। जो देव पुष्प अतर आदि सूँघता है वह अतृप्त है। उसकी इन्द्रियाँ निरंकुश हैं। जो पूजा का इच्छुक है वह अभिमानी है। जो देव रुष्ट होकर दुःख देता है और तुष्ट होकर सुख देता है, वह राग-द्वेष से युक्त है। जो देव प्रतिष्ठा की चाहना करता है वह ढोंगी है, उसने अभी तक अभिमान का त्याग नहीं किया मालूम होता है। इस प्रकार अनेक दुर्गुणों से युक्त देवों को सच्चा देव कैसे माना जा सकता है? इसके अतिरिक्त इनके शास्त्रों से यह भी तो निश्चय नहीं होता कि वास्तव में वह देव हैं, या मनुष्य हैं या इन दोनों योनियों से निराले ही हैं। उदाहरणार्थ-कहते हैं-ब्रह्म में से माया की उत्पत्ति हुई। माया में से सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की उत्पत्ति हुई। फिर सत्व गुण से विष्णु देव, रजो गुण से ब्रह्मा देव और तमो गुण से शंकर देव की उत्पत्ति हुई। अब इस मान्यता पर विचार कीजिए। माया जड़ है और ब्रह्म चेतन है तो फिर चेतन से जड़ की उत्पत्ति किस प्रकार संभव हो सकती है? और फिर उस जड़ माया में से तीन गुण और तीन गुणों से तीन चेतन देव-ब्रह्मा, विष्णु, महेश कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? मिट्टी से घड़ा बन सकता है, पर वस्त्र कैसे बन सकता है? जैसा उपादान कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। जो गुण उपादान कारण में होते हैं, वही कार्य में आते हैं। उपादान कारण अगर जड़ है तो उसका कार्य भी जड़ ही होगा। अगर चेतन है तो उसका कार्य भी चेतन होगा। मगर यहाँ तो चेतन से जड़ और जड़ से चेतन की उत्पत्ति बतलाई गई है; पर ऐसा मानने से कार्य-कारणभाव का सिद्धान्त ही खंडित हो जाता है।

यह बात किसी देव की निन्दा करने के लिए नहीं कही गई है, मगर समीचीन विचार करने के लिए कही गई है। थोड़ा और देखिए। चौबीस अवतारों में से कोई पूर्ण अवतार बतलाये जाते हैं और कोई अंश-अवतार कहे जाते हैं। यह बात भी आश्चर्यजनक है। जब ईश्वर का पूर्ण अवतार हुआ तो उस अवतार रूप व्यक्ति में ईश्वर आ रहा; ऐसी स्थिति में दूसरी जगह ब्रह्म का अभाव होने पर समस्त जगत् शून्य रूप हो जाना चाहिए। और जब ईश्वर ने अंश-अवतार धारण किया तो ईश्वर को तो सभी जगह आप मानते हैं, फिर जगत् के जीवों में और ईश्वर में क्या अन्तर रहा? ईश्वर के थोड़े-थोड़े गुण तो सभी जीवों में हैं? फिर अंश-अवतार और जगत् के सभी दूसरे जीव एक सरीखे क्यों नहीं होंगे?

इस प्रकार लौकिक शास्त्रों में देव के संबंध में बहुत-सी बातें हैं। उनमें से पाठकों के समझने के लिए यहाँ थोड़ी-सी चर्चा की है। इसका प्रयोजन यही है कि ऐसे देवों को देव रूप मानना उचित नहीं है।

जो नामधारी देव नृत्य-गान आदि से प्रसन्न होते हैं, जो छल-कपट और दगाबाज़ी करते हैं, जो परस्त्रीगमन और यहाँ तक कि पुत्रीगमन से भी नहीं बचे हैं, जो जुआ खेलते हैं, मांसभक्षण करते हैं, मदिरापान करते हैं, वेश्यागमन करते हैं, शिकार खेलते हैं, चोरी और जारी भी करते हैं, इस तरह जो सातों कुव्यसनों से नहीं बचे हैं, उन्हें समझदार मनुष्य देव कैसे मान सकते हैं? तथा जिनके आगे त्रस-स्थावर जीवों की घात होती है, बकरे, मुर्गे, भैंसा आदि प्राणियों की हत्या होती है, मांस का ढेर लगता है, रक्त का नाला बहता है, और भी महा अनर्थ होते हैं, ऐसों को क्या कोई भी विचारशील मनुष्य देव मान सकता है?

विशेष अफसोस तो इस बात का है कि कितनेक भोले जैन भाई भी नरेन्द्रों सुरेन्द्रों के परम पूजनीय, पूर्वोक्त समस्त दोषों से रहित, परम पवित्र अर्हन्त भगवान् के उपासक होते हुए भी, भ्रम के वशीभूत होकर धन की प्राप्ति के लिए, स्त्री की प्राप्ति के लिए, पुत्र की प्राप्ति के लिए, शारीरिक आरोग्य आदि की प्राप्ति के लिए, पूर्वोक्त दोषों से दूषित देवों के स्थानों में जाते हैं और उनके आगे अपना मस्तक रगड़ते हैं, उनकी पूजा करते हैं और

रक्त-मांस से व्याप्त अपवित्र स्थान में अनेक प्रकार के भोजन बनाकर उन देवों को भोग लगाते हैं और आप भी खाते हैं। इस प्रकार वे सम्यक्त्व से और धर्म से भ्रष्ट होते हैं। ऐसे लोगों को क्या कहा जाय? भोले भाइयो! जरा विचार करो कि अगर देव की मनौती मनाने से ही पुत्र की प्राप्ति होती हो तो स्त्री को पति-संबंध की क्या आवश्यकता थी? ऐसी स्थिति में विधवा, वन्ध्या और कुमारिकाएँ-सभी पुत्रवती क्यों न बन जातीं? अगर देवता में इच्छा पूर्ण करने की शक्ति होती तो वे तुम्हारी आशा क्यों करते? तुमसे भेंट-पूजा क्यों चाहते हैं? पहले अपनी इच्छा आप पूरी क्यों नहीं कर लेते? जो दमड़ी-दमड़ी की वस्तु के लिए तुम्हारा मुँह ताकते बैठे हैं, तुमसे वस्तु पाकर ही तृप्त होते हैं, वे तुम्हें पुत्र या धन किस प्रकार दे सकते हैं? इस प्रकार अपनी बुद्धि को ठिकाने लाकर इस लौकिक देवगत मिथ्यात्व को त्यागो और महादुर्लभ सम्यक्त्वरत्न को सुरक्षित रक्खो।

गुरुगत लौकिक मिथ्यात्व— गुरु (साधु) का नाम धराया पर गुरु के लक्षण-गुण-जिन्होंने प्राप्त नहीं किये, ऐसे जोगी, संन्यासी, फ़कीर, बाबा, सांई पादरी आदि अनेक नामों को धारण करने वाले, जो हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, रात्रिभोजन करते हैं, गांजा, भंग, अफीम, चरस, तमाखू आदि पीने की धुन में मस्त रहते हैं; तिलक, माला, अतर, वस्त्र, आभूषण आदि से शरीर का शृङ्गार करते हैं, रंग-विरंगे वस्त्र धारण करते हैं, जटा बढ़ाते हैं, भस्म लगाते हैं, नागे रहते हैं, वाहन पर बैठते हैं; यहाँ तक कि मांस और मद्य का भी सेवन करते हैं, अनेक प्रकार का पाखण्ड* करके पेट भराई

* पाखण्डी गुरु के विषय में कहा है:—

धर्मध्वजी सदा लुब्धः छाद्मिको लोकदम्भकः।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकवृत्तिचरो द्विजः॥ —मनुस्मृति, अ. ४

अर्थात् धर्म के नाम पर लोगों को ठगने वाला, सदा लोभी, कपटी, अपनी बड़ाई हाँकने वाला, हिंसक वैर रखने वाला, थोड़ा गुणों वाला होकर बहुत हानि करने वाला, स्वार्थी अपने पक्ष को मिथ्या समझकर भी न छोड़ने वाला, झूठी शपथ खाने वाला, ऊपर से उज्ज्वल और भीतर मैला, बगुला सरीखी वृत्ति वाला द्विज पाखंडी है।

करते हैं, ऐसे गुरु कहलाने वालों को मानना-पूजना गुरुगत लौकिक मिथ्यात्व है।

शास्त्र में ३६३ प्रकार के पाखण्ड मत बतलाये गये हैं। उनका स्वरूप समझ लेने से कुगुरुओं का स्वरूप भलीभाँति समझ में आ जाएगा।

३६३ पाखण्डमत



एकान्तवाद के संस्थापक प्रधान रूप से पाँच प्रकार के होते हैं— (१) कालवादी (२) स्वभाववादी (३) नियति (होनहार-भवितव्यता) वादी, (४) कर्मवादी और (५) उद्यमवादी। इन पाँचों की मान्यताएँ इस प्रकार हैं:—

[१] कालवादी—संसार के समस्त पदार्थ काल के अधीन हैं, अर्थात् सब पदार्थों पर काल का ही आधिपत्य है। काल ही सब का कर्त्ता-भर्त्ता-हर्त्ता है। स्त्री के गर्भाधान के संबंध में विचार करें तो योग्य उम्र के स्त्री-पुरुष के संयोग से स्त्री के गर्भाशय में गर्भ स्थापित होता है। स्त्री जब वृद्ध हो जाती है तो पुरुष का संयोग होने पर भी गर्भधारण की क्रिया बंद हो जाती है। गर्भ में आने वाला जीव गर्भ में नियत काल तक रहता है और फिर समय पर ही उसका प्रसव होता है। वह बालक जब योग्य उम्र का होगा तभी चल फिर सकेगा, बोल सकेगा, और समझ सकेगा। योग्य समय पर विद्याभ्यास के योग्य होगा। नियत समय पर ही इन्द्रियों के विषयों की विशेष जानकारी होगी। वृद्ध अवस्था आने पर बाल सफेद हो जाएँगे दाँत गिर जाएँगे, शक्ति मंद हो जायगी। इस प्रकार समय पूरा होने पर मृत्यु के अधीन होना पड़ेगा। इस प्रकार मनुष्यों पर जैसे काल की सत्ता है, उसी प्रकार स्थावर जीवों पर भी है। काल परिपक्व होने पर ही वनस्पति के अंकुर फूटते हैं, पत्ते आते हैं, फल-फूल लगते हैं, बीज और रस पड़ता है। समय पकने पर वनस्पति सड़ जाती है, गल जाती है और सूख जाती है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व काल के सहारे ही चल रहा है।

सूर्य, चन्द्र आदि नियत समय पर ही उदित और अस्त होते हैं। शीतकाल में ठंड पड़ती है, उष्णकाल में गर्मी पड़ती है और वर्षाकाल में वर्षा होती है। यह सब नियत समय पर ही होता है। उत्सर्पिणी काल के छह-छह आरे भी निश्चित समय पर ही आरम्भ और समाप्त होते हैं। तीर्थङ्कर, चक्रवर्त्ती, वासुदेव, बलदेव, केवली, साधु, श्रावक भी योग्य काल में ही होते हैं और योग्य काल में विच्छेद को प्राप्त होते हैं।

वर्ण, रस, गंध और स्पर्श आदि भी काल के आधीन हैं। अधिक क्या कहें, संसार-भ्रमण करना और परीत संसारी बन कर मोक्ष जाना भी काल के अधीन है अर्थात् काल का परिपाक होने पर ही संभव है। इस प्रकार अपने मत का समर्थन करने वाला कालवादी कहता है कि एक मात्र काल ही सब का कारण है।

[२] स्वभाववादी—एकान्त स्वभाववादी का कथन है कि स्वभाव ही सब का कारण है। विश्व में जो होता है, स्वभाव से ही होता है और स्वभाव के बिना कुछ भी नहीं होता। काल से कुछ नहीं होता-जाता। अगर काल से ही कार्य होता तो स्त्री जवान होने पर भी उसे दाढ़ी-मूछ क्यों नहीं आती? वंध्या स्त्री को सन्तान की प्राप्ति क्यों नहीं होती? हथेली में बाल क्यों नहीं उगते? जीभ में हड्डी क्यों नहीं है?

वनस्पतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। प्रत्येक वनस्पति में उसके स्वभाव के अनुसार ही रस उत्पन्न होता है। काल का परिपाक होने पर भी किसी-किसी वनस्पति में फल लगते ही नहीं है। इसका कारण उसका स्वभाव ही है। इसी प्रकार मछली आदि जलचर प्राणियों का जल में रहने का, पक्षियों का आकाश में उड़ने का और चूहा तथा सर्प आदि का भूमि पर रहने का स्वभाव है। कांटे का तीखापन, हंस की धवलता, बगुले का कपटीपन, मोर के रंग-बिरंगे पंख, कोयल का मधुर स्वर, कौवे की कर्कश वाणी, सर्प के मुख में प्राणहारी विष, सर्प की मणि में विषहरण की शक्ति, पृथ्वी की कठिनता, पानी की तरलता, अग्नि की उष्णता, हवा की चपलता, सिंह का

साहस, शृगाल की धूर्तता, अफीम की कड़ुकता. गन्ने की मिठास, पत्थर का भारीपन, लकड़ी का पानी में तैरने का गुण, यह सब किसके आधार पर है? स्वभाव से ही यह सब होता है।

कान सुनता है, आँख देखती है, नाक सूँघती है, जीभ रस का स्वाद अनुभव करती है, स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श को जानती है, सो स्वभाव से ही समझना चाहिए। मन की चंचलता, पैरों से चलना, हाथों से भोजन आदि कार्य करना, सूर्य की तेजस्विता, चन्द्रमा की शीतलता, नरक में दुःख, स्वर्ग में सुख, सिद्धों में अरूपीपन, धर्मास्तिकाय का गमन-सहायक गुण, अधर्मास्तिकाय का स्थितिसहायक गुण, आकाश का अवगाहदान गुण, काल का वर्त्तनागुण, जीव का उपयोग गुण, पुद्गल का पूरण-गलन गुण, भव्य की मोक्षगमन-योग्यता, अभव्य का अनन्त संसार-परिभ्रमण, इत्यादि कौन बनाता है? कोई भी नहीं। यह सब स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के सिवाय और कोई भी कारण नहीं है। इस प्रकार स्वभाववादी अन्य कारणों को अस्वीकार करके एक मात्र स्वभाव को ही कारण बतलाता है।

[३] नियतिवादी—नियतिवादी कहता है—स्वभाववादी का कथन मिथ्या है। स्वभाव से कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है, भवितव्यता से ही होता है। जो पदार्थ जैसा बनने वाला है वह वैसा ही बनता है। देखो, वसन्त ऋतु में आम में बेशुमार मौर लगते हैं। लेकिन जितने मौर लगते हैं उतने आम नहीं लगते। जो मौर खिरने को होते हैं, वे खिर जाते हैं और जितने आम लगने होते हैं उतने ही लगते हैं। कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय, जो होनहार नहीं है वह नहीं हो सकता और जो होनहार है वह टल नहीं सकता। मन्दोदरी सती ने और विभीषण ने रावण को खूब-खूब समझाया कि सीताजी को वापिस लौटा दो, पर उसकी मृत्यु होनहार थी सो वह नहीं माना और अपने ही चक्र से आप मारा गया। श्रीकृष्ण जानते थे कि द्वारिका भस्म हो जायगी, उन्होंने बहुत प्रयत्न किया मगर द्वारिका भस्म होने से नहीं बची। कृष्ण के नेत्रों के सामने ही जलने वाली थी सो जलकर ही रही। परशुराम ने अपने परशु से लाखों का वध किया, किन्तु मौत आने पर स्वयंभू चक्रवर्ती के हाथ से उनकी मौत हुई।

नियतिवाद को भलभीाँति सिद्ध करने के लिए एक दृष्टान्त और लीजिए:— एक बार किसी वृक्ष पर पक्षी-युगल बैठा था। उसे मारने के के लिए एक पारधी ने उधर से अपना बाज छोड़ा और नीचे आप धनुष-बाण लेकर बैठ गया। दैवयोग से वहाँ एक साँप निकला और उसने पारधी के पैर में डँस लिया। इससे उसके हाथ से बाण छूट गया और उसके बाज़ के शरीर में ही जाकर लगा। विष के प्रभाव से पारधी भी बेहोश होकर मर गया। पक्षियों का जोड़ा सही-सलामत रहा! अब विचार कीजिए कि भाग्य का योग कितना बलवान् है! महान् भयानक युद्धों में, अति विषम घाव लगने से सख्त घायल हुआ योद्धा, और प्लेग जैसी भयानक बीमारी में मरणासन्न और ज़मीन पर उतार दिया गया रोगी भी होनहार के प्रताप से बच जाता है और वर्षों तक जीवित रहता है। समुद्र के ज्वार-भाटे में बड़े-बड़े जहाज डूब जाते हैं। बड़े शहर में जबर्दस्त आग लग जाती है। भूकम्प से आसपास की वस्ती तहसनहस हो जाती है, मकान ज़मीन के भीतर धँस जाते हैं। ऐसे प्रसंगों पर भी कोई-कोई मनुष्य अचानक बच जाते हैं, सो किसके कारण? प्रारब्ध के प्रभाव से, होनहार की कृपा से अथवा भवितव्यता के प्रताप से! वहाँ न काल बचाने जाता है और न स्वभाव ही बचाता है। इससे भलीभाँति सिद्ध है कि नियति ही कारण है। सब कार्य उसी के प्रभाव से होते हैं। मनुष्य का प्रयत्न या स्वभाव आदि कुछ भी काम नहीं आता। अतः सब को छोड़ नियति मानना चाहिए।

[४] कर्मवादी—कर्मवादी एक मात्र कर्म को ही कारण मानता है। उसका कहना है कि काल, और स्वभाव और नियति आदि कारण नहीं, कर्म से ही समस्त कार्यों की सिद्धि होती है। पहले जैसे कर्म जिसने किये हैं, वैसा ही फल उसे भुगतना पड़ता है। 'यथा कर्म तथा फलम्' यह उक्ति सत्य ही है। इस जगत् में पण्डित, मूर्ख, श्रीमन्त, दरिद्र, स्वरूपवान्, कुरूपवान्, निरोगी, रोगी, क्रोधी, क्षमाशील वगैरह जो दिखाई देते हैं, वे सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही हैं। जगत् में दिखाई देने वाले सभी मनुष्य एक सरीखे प्रतीत होते है, किन्तु उनमें से कोई पालकी में बैठता और कोई उस पालकी को उठाते हैं। कोई इच्छित भोजन पाता है और कोई रूखा-

सूखा जवार की रोटी का एक टुकड़ा भी नहीं पाता। कोई सूझता और कोई अंधा होता है। कोई स्पष्टवक्ता और कोई गूँगा, कोई राजा कोई रंक, कोई स्वामी कोई सेवक होता है। यह सब कर्मों की ही विचित्रता का फल है। कर्म के प्रताप से श्री आदिनाथ भगवान् को बारह महीनों तक अन्न-जल नहीं मिला। महावीर स्वामी के कानों में खीले ठोंके गये, पैरों पर खीर रांधी गई और गुवाल ने मारा। इस प्रकार साढ़े बारह वर्ष और एक पक्ष तक उन्हें घोर उपसर्ग भुगतने पड़े। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र एक साथ मारे गये। सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के शरीर में ७०० वर्षों तक कोढ़ की बीमारी रही। राम और लक्ष्मण जैसे पराक्रमी पुरुषों को बनवास करना पड़ा। सीताजी को कलंक लगा और लंका भस्म हो गई। कृष्ण वासुदेव के जन्म के समय कोई आनन्द-मंगल के गीत गाने वाला और मरते समय कोई आश्वासन देने वाला नहीं मिला। ऐसे-ऐसे उत्तम पुरुषों को ऐसी-ऐसी विडंबनाएँ भोगनी पड़ीं तो दूसरों की क्या चलाई है? कर्म ही जीव को एकेन्द्रिय अवस्था तथा नरक आदि नीच गतियों में और स्वर्ग- मनुष्य आदि की उच्च गतियों में ले जाता है। अधिक क्या कहा जाय, कर्म के दूर होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए कर्मवादी कहता है कि कर्म महान् शक्तिशाली है और यह सारा विश्व कर्म-चक्र के सहारे ही चल रहा है।

कर्मवाद की जगह किसी-किसी ने चौथे स्थान पर ईश्वरवाद का निरूपण किया है। ईश्वरवादी का कथन है कि विश्व में जो कुछ होता है, ईश्वर का ही किया होता है और जगत् का कर्त्ता ईश्वर ही है। ईश्वर की आज्ञा के विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, देने वाला और समस्त कार्यों का कर्त्ता एक मात्र ईश्वर ही है।

[५] उद्यमवादी—उद्यम, पराक्रम, पुरुषार्थ आदि पर्यायवाचक शब्द हैं। उद्यमवादी का कथन है कि उद्योग से ही समस्त कार्यों की सिद्धि होती है। काल, स्वभाव, नियति और कर्म से कुछ भी नहीं होता। उसका कथन है कि कर्म जड़ है, निर्बल है। जड़ कर्म क्या कर सकता है? देखो, पुरुष की ७२ कलाएँ और स्त्री की ६४ कलाएँ उद्यम करने से ही आती हैं। घोड़ा, तोता, बन्दर, कुत्ता, हाथी आदि पशु होने पर भी उद्योग की बदौलत अनेक

कलाएँ सीख लेते हैं। महल, मकान, वस्त्राभूषण, बरतन, पकवान आदि सब चीजें उद्योग से ही तैयार होती हैं और उद्योग से ही भोगी जा सकती हैं। मिट्टी से सोना, समुद्र की सीप में से मोती, पत्थर से हीरा भी उद्योग के द्वारा ही निकलता है। उद्यम करने से ही उदरपोषण होता है। बिल्ली उद्यम करती है तभी वह दूध और मलाई पाती है। परदेश में जाकर भाँति-भाँति के धंधे करके मनुष्य अपना निर्वाह करते हैं। मधु-मक्खियों का मधु, मकड़ी का जाला और पक्षियों का घौंसला उद्योग से ही बन कर तैयार होता है। निरुद्यमी मनुष्य, निरुद्यमी पशु-पक्षी और निरुद्यमी कीड़ी भूखों मरती है। उद्योग करने से ही रामचन्द्रजी सीता का समाचार पा सके थे और सीता को पुनः प्राप्त कर सके थे। उद्यम करके ही लक्ष्मण रावण को मार सके थे। उद्योग करके कृष्ण द्रौपदी को लाये थे। केशी श्रमण ने उद्योग किया तो ही परदेशी राजा धर्म के मार्ग पर आकर स्वर्ग प्राप्त कर सका। अधिक क्या कहा जाय, सच्चे दिल से उद्यम करे तो उस उद्यम के प्रताप से स्वल्प समय में ही अनन्त, अक्षय, अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रकार पंच कारण-समवाय का विवाद अनादि काल से चला आ रहा है। यह पाँचों एक-एक एकान्त को ग्रहण करके अपना-अपना पक्ष खींचते हैं और दूसरे पक्ष को मिथ्या कहते हैं। अतएव इन पंचवादी गुरुओं की मान्यता को लौकिक गुरुगत मिथ्यात्व कहते हैं। यह पाँचों अपना-अपना एकान्त त्याग कर एकत्र हो जाएँ अर्थात् एकांत छोड़ कर पाँचों को यथा-योग्य कारण मानने लगें तो न्याय-पक्ष आता है और मिथ्यादृष्टि के बदले सम्यग्दृष्टि आ जाती है। इस विषय में एक दृष्टान्त लीजिए;—

किसी जगह पाँच अंधे बैठे थे। उसी समय उधर से एक हाथी निकला। पाँचों अंधे हाथी के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने हाथी के एक-एक अंग का स्पर्श किया, उस पर हाथ फेरा और लौट गये। लौट कर वे आपस में हाथी के आकार की चर्चा करने लगे। एक ने कहा—हाथी खंभा सरीखा है। दूसरा कहता है—नहीं, हाथी अँगरखे की बाँह सरीखा है। तीसरे ने कहा—छाजला (सूप) सरीखा है। चौथा बोला—झाड़ू सरीखा है। पाँचवें ने कहा—तुम चारों झूठे हो। हाथी तो चबूतरा जैसा होता है। इस प्रकार कह कर

पाँचों आपस में लड़ने लगे। प्रत्येक अंधा अपने को सच्चा और दूसरों को झूठा कहने लगा। अंधों को इस तरह झगड़ते देख कर एक सूझते आदमी ने कहा—तुम एक-एक जैसा कह रहे हो वैसा ही मान लिया जाय तो तुम सभी झूठे ठहरते हो। अगर तुम पाँचों के कथन का समन्वय कर लिया जाय तो सभी सच्चे हो सकते हो। जो खंभे के समान कहता है उसने सिर्फ पाँव छुआ है। जो अंगरखे की बाँह के समान कहता है उसने सिर्फ सूँड का स्पर्श किया है। जो सूप के जैसा कहता है उसने सिर्फ कान पर हाथ फेरा है और जो झाडू के समान बतलाता है उसने पूँछ को छुआ है। जो चबूतरा जैसा कहता है, उसने पीठ को हाथ लगाया है। पूरा हाथी तुम में से किसी ने नहीं जाना। तुम पाँचों के मत को एकत्र किया जाय तो हाथी का पूरा आकार बनता है। इस प्रकार तुम दूसरों को झूठा कहते हो, इसी से तुम झूठे हो और यदि सब सब को झूठा न कह कर सच्चा मानो तो सभी सच्चे ठहरोगे।

इसी प्रकार अपने-अपने मत की स्थापना और दूसरे के मत का निषेध करने वाले एकान्तवादी मिथ्यात्वी कहलाते हैं। इन पाँचों एकान्तों के संयोग से ३६३ मिथ्या मत होते हैं। वे इस प्रकार हैं:—मूलतः पाखंडी मत चार प्रकार के हैं—(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानवादी और (४) विनयवादी। इनमें से क्रियावादी के १८० भेद हैं। काल, स्वभाव, नियति कर्म और उद्यम, इन पाँचों को स्व-आत्मा और पर-आत्मा के साथ लगाने से दस भेद हुए। इन दस बोलों पर शाश्वत (नित्य) और अशाश्वत (अनित्य) विकल्पों का योग करने पर बीस भेद हुए। इन बोलों को नौ तत्त्वों पर लागू करने से १८० भेद क्रियावादी के होते हैं।

[१] क्रियावादी का मत यह है कि जीव को पाप-पुण्य रूप क्रिया लगती रहती है। इस क्रिया के निमित्त से ही जीव इहलोक और परलोक को स्वीकार करता है। क्रियावादी एक मात्र क्रिया (चरित्र) की ही उपयोगिता स्वीकार करता है। वह ज्ञान और दर्शन की उत्थापना करता है। वह यह नहीं सोचता कि ज्ञान के बिना क्रिया का ठीक-ठीक स्वरूप किस

प्रकार जाना जा सकता है ? ज्ञान के अभाव में क्रिया अंधी है। शास्त्र में कहा है:—

अन्नाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावकं।

—श्रीदशवैकालिक सूत्र।

अर्थात् बेचारा अज्ञानी क्या कर सकता है ? वह भले-बुरे को कैसे समझ सकता है ? कब, कौन-सी क्रिया करने से, किस फल की प्राप्ति होती है, यह बात ज्ञान से ही जानी जाती है। ज्ञानहीन क्रिया अंधी है। वास्तव में दोनों के संयोग से ही कार्य की सिद्धि होती है।

उदाहरण—कुछ आदमी मुसाफिरी कर रहे थे। वे किसी जगह, रात के समय जंगल में रहे। सुबह होने पर सब उठ कर अपने-अपने रास्ते लगे; किन्तु एक अंधा और लँगड़ा वहीं पड़े रहे। इतने में उस जंगल में दावानल सुलग उठा। उसकी गर्मी से दोनों घबराने लगे। मरने के भय से अंधा इधर-उधर दौड़ने लगा। उसे दौड़ता देख लँगड़े ने आवाज देकर अपने पास बुलाया और कहा—देखो भाई, अगर अपन दोनों अलग-अलग रहेंगे तो दोनों दावानल में जलकर भस्म हो जाएँगे। तू चल सकता है पर देख नहीं सकता और मैं देख सकता हूँ किन्तु चल नहीं सकता। दावानल से बचने के लिए देखना और चलना-दोनों आवश्यक हैं। इस लिए हम दोनों मिल-कर बचें तो बच सकते हैं। एक ही उपाय है—तू मुझे अपने कंधे पर बिठा ले। मैं रास्ता दिखलाऊँगा और तू चलना। इस उपाय से दोनों की रक्षा हो जायगी और गाँव में पहुँच जाएँगे। अंधे को यह बात पंसद आई। दोनों मिलकर सकुशल जंगल से बाहर जा पहुँचे।

इस उदाहरण का उपनय यह है कि संसार रूपी जंगल में मृत्यु रूपी दावानल सुलग रहा है। उससे क्रियाहीन ज्ञानी, जो लँगड़े के समान है, नहीं बच सकता। और ज्ञानहीन क्रियावान् भी नहीं बच सकता, क्योंकि वह अंधे के समान है। अतएव जो ज्ञानपूर्वक क्रिया करता है वही मृत्यु रूपी दावानल से बच सकता है। अकेले ज्ञान से और अकेली क्रिया से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। कहा भी है:—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया ।

अक्रियावादी—अक्रियावादियों का मत है कि समस्त पदार्थ अस्थिर हैं। आत्मा भी अस्थिर है । अतएव उसमें क्रिया (पुण्य-पाप) संभव नहीं है । किसी-किसी का कहना है कि आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापक और निराकार होने के कारण क्रिया नहीं कर सकती । पुण्य-पाप रूप क्रिया आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकती । आत्मा स्वभाव से ही निर्लेप है, अतः वह परमात्मा है । उससे पर दूसरा कोई परमात्मा नहीं है । जो स्वर्ग, नरक मोक्ष आदि की प्ररूपणा करते हैं, वे दुनिया को ठगते हैं । किसी किसी की ऐसी मान्यता है कि आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पाँच भूतों से पच्चीस तत्त्व उत्पन्न हुए हैं; वही आत्मा है। जब मृत्यु होती है तो पाँचों तत्त्व अपने-अपने में मिल जाते हैं। पाँच भूतों से भिन्न न कोई आत्मा है, न परमात्मा है । न पाप है न पुण्य है। यह कल्पनाएँ कुमतियों का भ्रम मात्र हैं। इनका त्याग करो और निश्चिन्त होकर, निर्भय होकर मज़ा-मौज उड़ाओ। ऐसा मानने वाला अक्रियावादी नास्तिक भी कहलाता है ।

अक्रियावादियों के ८४ प्रकार हैं। पाँच कारण-समवाय और छठा स्वेच्छा से उत्पन्न जगत्, इस प्रकार छह के स्व-आश्रयी और पर-आश्रयी १२ भेद होते हैं। इन बारह भेदों को सात तत्त्वों पर (पुण्य-पाप को छोड़ कर) लागू करने से ८४ भेद हुए। ६×२×७=८४ ।

अक्रियावादी की यह मान्यता है आत्मा को पुण्य-पाप का फल भोगना नहीं पड़ता। उससे पूछना चाहिए कि अगर पुण्य-पाप के फल न भोगने पड़ते होते तो संसार में कोई सुखी और कोई दुःखी क्यों है ? कोई प्रतिदिन चार बार षट्रस भोजन आरोगता है, पाँच बार पोशाक बदलता है और संसार के मनमाने सुख भोगता है। दूसरा रात के चौथे पहर में उठ कर भूखा जङ्गल में जाकर लकड़ियाँ काटता है और भारा बना कर सिर पर लाद कर दोपहर तक भटक कर बेचता है। तब उन पैसों से अनाज खरीदता है, हाथ से पीसता है, तब कहीं रूखी-सूखी रोटी से पेट भर पाता है। प्रतिदिन इतनी मुसीबत सहन करने के पश्चात् भी कभी संतोष के साथ

खा नहीं सकता, लज्जा निवारण के लिए पूरे वस्त्र नहीं पा सकता और रहने के लिए झोंपड़ी भी नहीं पाता। इस घोर विषमता का कारण क्या है ? कारण यही है कि जीव को अपने किये हुए पाप और पुण्य का फल भोगना पड़ता है। जो जैसे कर्म करेगा वह वैसे ही फल भोगेगा। इस प्रकार विचार करके नास्तिकों के फन्दे में न पड़ कर सुख के अभिलाषी मनुष्यों को धर्म की आराधना करनी चाहिए।

(३) अज्ञानवादी—अज्ञानवादी के ६७ भेद हैं। अज्ञानवादी सात प्रकार से विकल्प करते हैं—(१) जीव का अस्तित्व है (२) जीव का नास्तित्व है (३) अस्तित्व नास्तित्व दोनों हैं (४) जीव को अस्ति कहना नहीं (५) नास्ति भी कहना नहीं (६) अस्ति नास्ति दोनों कहना नहीं (७) जीव के अस्तित्व और नास्तित्व के लिए हाँ भी नहीं कहना। जिस प्रकार जीव के विषय में यह सात विकल्प कहे, इसी प्रकार अजीव के विषय में भी सात विकल्प जानने चाहिए। इस तरह नौ तत्त्वों पर सात-सात विकल्प होने से ९+७=६३ भेद अज्ञानवादी के हो जाते हैं।

सांख्यमत, शैवमत, वेदमत और वैष्णवमत, यह चार मत इसी की शाखा में गिने जाते हैं, क्योंकि यह भक्तिप्रधान मत हैं। यह ज्ञान और क्रिया की विशेष अपेक्षा नहीं रखते। अतः इन चारों को ६३ भेदों में मिला देने से अज्ञानवादी के ६७ भेद हो जाते हैं।

अज्ञानवादी का मत है कि ज्ञान ही सब अनर्थों की जड़ है। ज्ञानवान् लोग विवादी होते हैं और विवाद में विरोधी पक्ष वाले का बुरा सोचना पड़ता है। इससे पाप लगता है। ज्ञानी पग-पग पर डरता है, इस लिए उसे हर समय कर्म का बंध होता रहता है। इससे तो अज्ञानी अच्छे हैं। न जानते हैं, न तानते हैं। न किसी के साथ विवाद करते हैं, न किसी को सच्चा-झूठा कहते हैं। अज्ञानी पुण्य और पाप को समझते नहीं हैं, इस कारण उन्हें दोष भी नहीं लगता। जो जान बूझ कर पाप करता है, वही पापी कहलाता है। अतः अज्ञान ही उत्तम है। यही कल्याणकारी है।

अपने सिद्धांत का इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले अज्ञानवादी से

पूछना चाहिए कि तुम जो कहते हो सो ज्ञानपूर्वक कहते हो या अज्ञानपूर्वक कहते हो ? अगर तुम ज्ञानपूर्वक बोलते हो तो तुम्हारा मत झूठा है; क्योंकि तुम ज्ञानवादी होकर दूसरों को अज्ञानवादी बनाना चाहते हो और यदि अज्ञानपूर्वक अपने मत का समर्थन करते हो तो कौन विवेकशील पुरुष तुम्हारा कहना मानेगा ? फिर तुम्हारा यह भी कथन है कि—'हम अज्ञानवादी अज्ञानपूर्वक पाप करते हैं, इसलिए हमें पाप नहीं लगता।' मगर यह कहना ठीक नहीं है। अज्ञान से विष पीने वाले को विष चढ़ता है या नहीं ? अगर विष चढ़ता है तो अज्ञान से किये हुए पाप का फल भी भोगना पड़ेगा। भाइयो ! सच बात तो यह है कि ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी को अधिक पाप लगता है। ज्ञानी तो जानता है कि यह विष है, खाऊँगा तो प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे। ऐसा सोच कर वह विष से बचता रहता है। कदाचित् औषध के रूप में उपयोग करना पड़े तो उचित मात्रा में ही काम में लाता है और अनुपान की विधि के अनुसार ही काम में लाता है। इस प्रकार ज्ञानी विष का उपयोग करता हुआ भी मृत्यु से बचा रहता है। इसी तरह ज्ञानी पुरुष पाप को दुःखदाता जान कर पाप से बचा रहता है। कदाचित् कर्मयोग की प्रबलता से पाप करता भी है तो आवश्यकता के अनुसार ही करता है। अर्थात् जितना पाप किये बिना काम न चल सकता हो उतना ही करता है और वह भी डरते-डरते करता है। इससे उसका आत्मा अनर्थदण्ड से बच जाता है। किये हुए पाप के लिए ज्ञानी प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो सकता है। मगर बेचारा अज्ञानी तो अपने माने हुए अज्ञान के सागर में ही डूबा रहेगा।

(२) विनयवादी—विनयवादी के ३२ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) सूर्य का विनय (२) राजा का विनय (३) ज्ञानी का विनय (४) वृद्ध का विनय (५) माता का विनय (६) पिता का विनय (७) गुरु का विनय (८) धर्म का विनय। आठ प्रकार के इस विनय को मन से भला जाने, वचन से विनय का गुणग्राम करे, काय से नमस्कार करे और बहुमानपूर्वक भक्ति करे। इस प्रकार ८×४=३२ भेद होते हैं।

विनयवादी की मान्यता यह है कि समस्त गुणों में विनय गुण श्रेष्ठ है। सब के सामने नमकर-झुक कर रहना चाहिए। कोई कैसा ही क्यों न हो, फिर भी हमें को सरीखा समझना चाहिए। किसी के पक्ष की निन्दा नहीं करना चाहिए। काच, काच है और हीरा, हीरा है, मगर हम क्यों एक को निकृष्ट और दूसरे को उत्कृष्ट समझें। हम समान भाव से दोनों के साथ व्यवहार करें।

इस प्रकार क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७, और विनयवादी के ३२ भेद मिलकर पाखण्ड मतों की संख्या ३६३ हो जाती है। इन्हें या इनमें से किसी को मानना लौकिक गुरुगत मिथ्यात्व जानना।

(३) लौकिक धर्मगतमिथ्यात्व—लौकिक मिथ्यात्व का यह तीसरा भेद है। धर्म का नाम तो लेना किन्तु धर्म का कृत्य बिलकुल न करना, एकान्त अधर्म के काम करना और उन्हें धर्म समझ लेना लौकिक धर्मगत मिथ्यात्व है। जैसे—देवता के आगे बकरा आदि का बलिदान करना और फिर स्वर्ग पाने की अभिलाषा करना! मगर इस प्रकार स्वर्ग नहीं मिलता।

तीर्थस्थानों में नहाने से धर्म मानना भी धर्मगत मिथ्यात्व है। स्नान से पाप का नाश होता हो तो कच्छ-मच्छ आदि जलचर जीवों को सब से बड़ा धर्मात्मा और स्वर्ग मोक्ष का अधिकारी मानना पड़ेगा; क्योंकि वे सदैव पानी में रहते हैं। फिर बड़े-बड़े तपस्वियों ने वृथा तप क्यों किया? बन्धुओ! तीर्थस्थान के जल में और अपने घर के जल में कोई अन्तर नहीं। पापी जीवों को गंगा भी शुद्ध नहीं कर सकती। कहा भी है:—

जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः।
नैव गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥

गंगा आदि जलाशयों के जलचर जीव जल में ही उत्पन्न होते हैं और जल में ही मरते हैं। मन का मैल दूर हुए विना उन्हें स्वर्ग नहीं मिलता, तो दूसरों की बात ही क्या है?

चित्तं रागादिभिः क्लिष्टमलीकवचनैर्मुखम् ।
जीवहिंसादिभिः कायो, गंगा तस्य पराङ्मुखी ॥

जिसका चित्त राग-द्वेष आदि दोषों से दूषित है, जिसका मुख असत्य वचनों से दूषित है और जिसकी काया जीवहिंसा आदि पापों से दूषित है, उससे गंगा विमुख होकर रहती है। अर्थात् गंगा उसे तार नहीं सकती- पवित्र नहीं करती।

अग्नि सदा जलती रखना, धूप-दीप करना, धूनी तपना और यज्ञ-हवन आदि करना, इत्यादि कामों को भी कोई-कोई धर्म मानते हैं। इस पर भी जरा विचार करना चाहिए। अग्नि जैसी राक्षसी वस्तु को संसार में कोई भी तृप्त नहीं कर सकता। अग्नि जिस दिशा में जाती है, उस दिशा के प्राणियों को स्वाहा कर डालती है। ऐसी सर्वभक्षी-सदा अतृप्त रहने वाली अग्नि का पोषण करने में धर्म किस प्रकार हो सकता है ? हवन की सुगंध से वायु का शुद्ध होना दूसरी बात है, मगर उसे धर्मकृत्य कैसे माना जा सकता है ? उस सुगंध के प्रभाव से स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? घोर आरंभ-समारंभ होने से उलटा अधर्म ही होता है। हवन के धुएँ से अगर वृष्टि होती ही हो तो अनेक देशों में दुष्काल की बदौलत लाखों मनुष्य और पशु मरते हैं और मारवाड़ में पानी के अभाव में लोग हैरान-परेशान होते हैं, तो उसकी रोक क्यों नहीं होती ? प्रत्येक घर में प्रतिदिन भोजन बनाया जाता है। आग जलाई जाती है और उसका बेशुमार धूम भी होता है। अगर धूम से वर्षा होती ही हो तो फिर दुष्काल क्यों पड़ता है ?

कई अनार्य लोग तो यहां तक कहते हैं कि 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः' अर्थात् विधाता ने पशु यज्ञ करने—आग में होमने के लिए ही बनाये हैं। अश्वमेध, गोमेध, नरमेध, अजामेध आदि यज्ञ करके यज्ञकुंड में जीवित घोड़ा, गाय, मनुष्य, बकरा-बकरी को भस्म कर डालने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, वर्षा होती है या इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है, ऐसा कहना कितना आश्चर्यजनक है ! अफसोस ! हजार बार अफसोस ! कितनी अधम मान्यता है ! जिन उत्तम प्राणियों से जगत् का व्यवहार भलीभाँति चल रहा है

और जिनके अभाव में संसार में हाहाकार मच जाने की नौबत आ सकती है, उन पशुओं को आग की भेंट कर देने से अगर पुण्य होता है तो फिर पाप किस प्रकार होगा ?*

यज्ञ करने वालों का कथन है किः—

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ता प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः ।

अर्थात् जो पशु आदि यज्ञ के निमित्त मारे जाते हैं, उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है । अतः यज्ञ में होम करके हम उन प्राणियों को सब दुःखों से मुक्त कर देते हैं और स्वर्ग में पहुँचा देते हैं । ऐसे लोगों के संबंध में धनपाल कवि कहते हैं—

नाहं स्वर्गतलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया,
सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो ! न युक्तं तव ।
स्वर्गे यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञैर्ध्रुवं प्राणिनो,
यज्ञं किन्न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥

इस पद्य का हिन्दी-अर्थ निम्नलिखित हिन्दी-पद्य में आ जाता हैः—

स्वर्ग-सुख में न चहौं, देहु मुझे यों न कहौं,
घास खाय रहौं मेरे मन यही भाई है ।
जो तू यह मानत है वेद यों बखानत है,
जग्य जरौ जीव पावे स्वर्ग-सुखदाई है ।
डारै क्यों न बीर ! यामें अपने कुटुम्ब ही को,
मोहिं जिन जारै जगदीस की दुहाई है !

भागवत में प्राचीनवर्हि राजा को नारद ऋषि उपदेश देते हुए कहते हैं किः—

---

* यूपं छित्वा पशून हत्वा, कृत्वा रुधिर कर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते ॥

अर्थात्—वेदोक्त रीति से यज्ञ के स्तम्भ को छेद कर, पशुओं को मार कर, पृथ्वी पर रुधिर की कीचड़ मचा कर यज्ञकर्त्ता अगर स्वर्ग जायगा तो फिर नरक में कौन जायगा ?

भो भोः प्रजापते ! राजन् ! पशून् पश्य त्वयाऽध्वरे,
संज्ञापिताञ् जीवसन्धान् निर्घृणा न सहस्रशः ॥
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव,
सम्परेतमयः कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥

हे प्रजापति प्राचीनवर्हि राजन् ! तू ने घोर अन्याय किया है । कुगुरुओं के मिथ्या उपदेश के जाल में फँस कर, वेद की आज्ञा के रहस्य को विना समझे, उसका उल्टा अर्थ करके दीन-पशुओं की ओर नजर न करते हुए, अरोट करने वाले हजारों पशुओं को तू ने यज्ञ के नाम पर जला डाला है । वे सब पशु तुझ से बदला लेने के लिए तेरी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं । तेरी आयु समाप्त होते ही वे अलग-अलग तेरा वध उसी प्रकार करेंगे, जैसा तू ने उनका वध किया है !

नारदऋषि का यह उपदेश सुनकर प्राचीनवर्हि ने हिंसा-धर्म का त्याग कर दिया । भाइयो ! हिन्दूधर्म के ग्रंथ स्वयं ही ऐसे प्रभावशाली ढंग से हिंसा का विरोध करते हैं ।* ऐसे सच्चे उपदेश को स्वीकार न करते हुए, स्वेच्छा-

---

* धर्म समझ कर पशुहिंसा करने वाला अधोगति पाता है, इसका प्रमाणः—

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥

अर्थात्—देवता को भेट चढ़ाने या यज्ञ के बहाने से जो निर्दय लोग प्राणियों की हिंसा करते हैं, वे मर कर घोर दुर्गति में जाते हैं ।

अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो, न भूतो न भविष्यति ॥

अर्थात्—जो लोग पशुओं को मार कर यज्ञ करते हैं, वे अन्धतमस में (सातवें नरक में या घोर अन्धकार में) डूबते हैं । हिंसा न कभी धर्म हुआ है और न कभी होगा ही ।

निर्दोष यज्ञ के सम्बन्ध में व्यास महर्षि कहते हैं:—

ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते, ब्रह्मचर्य-दयाम्भसि ।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे, पापपङ्कापहारिणि ॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे, दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥
कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः ॥

चारी होकर लोग हिंसा कर रहे हैं। ऐसे लोगों की क्या गति होगी ? सारांश यह है कि यज्ञ आदि किसी भी निमित्त से हिंसा करना पाप का कार्य है। जो हिंसा त्यागी न जा सकती हो, उसे भी अधर्म तो मानना ही चाहिए।

कितनेक लोग अपने माने हुए प्रभु को तथा गुरु को हिंडोले में झुलाते हैं, उनके पास अनेक प्रकार के बाजे बजाते हैं, उन्हें पंखा झलते हैं और ऐसा करने में धर्म मानते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसे ढोंग करने से धर्म नहीं होता है। कोई-कोई मूल, दूब, शाखा, प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प, फल, धान्य आदि वनस्पति का आरंभ छेदन-भेदन करके देव-गुरु को चढ़ाने में धर्म मानते हैं। किन्तु विष्णुपुराण में कहा है:—

मूले ब्रह्मा त्वचि विष्णुः शाखा शंकर एव च।
पत्रे-पत्रे देवनाम्, वृक्षराज ! नमोस्तुते ॥

अर्थात्—हे धर्मराज ! वनस्पति एवं वृक्षादि के मूल में ब्रह्मा का निवास है; त्वचा (छाल) में विष्णु का निवास है, शाखाओं में शिव-शंकर का निवास है और पत्ते-पत्ते में देवताओं का वास है। इसलिए हे वृक्षराज ! तुझे नमस्कार।

इस प्रकार वनस्पति छेदन-भेदन करने योग्य नहीं है। तुलसी को वैष्णव भाई विष्णु नारायण की स्त्री कहते हैं, फिर उसी का छेदन-भेदन

अर्थात्—ज्ञान रूपी पाल से चारों ओर घिरे हुए, ब्रह्मचर्य और दया रूपी पानी से भरपूर, पाप रूपी कीचड़ को दूर करने वाले अत्यन्त निर्मल भाव तीर्थ में स्नान करके:—

जीव रूपी कुण्ड में स्थित, दम रूपी पवन से प्रज्वलित की हुई, ध्यान रूपी अग्नि में अशुभ कर्म रूपी समिधा (लकड़ियाँ) डाल कर उत्तम होम करो।

धर्म, काम और अर्थ का नाश करने वाले, दुष्ट कषाय रूपी पशुओं का शान्ति रूपी मन्त्र पढ़ कर यज्ञ करो। ऐसे यज्ञ का ही ज्ञानियों ने विधान किया है।

इसी प्रकार मन रूपी घोड़े का यज्ञ करना अश्वमेध यज्ञ है, असत्यवचन रूप गाय का यज्ञ करना गोमेध यज्ञ है, इन्द्रिय रूप अज का यज्ञ करना अजमेध यज्ञ है, कामदेव रूप पुरुष का यज्ञ करना नरमेध यज्ञ है। इस प्रकार के यज्ञ पूर्वोक्त रीति से करने चाहिए। हिंसात्मक यज्ञ म्लेच्छता के परिचायक हैं।

करके उसी को चढ़ाते हैं। उनका यह भोलापन खेद और आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। वे एक ओर कहते हैं कि तुलसी में हरि का निवास है, अतएव जो तुलसी का छेदन करते हैं वे हरि का छेदन करते हैं, और दूसरी तरफ प्रतिदिन तुलसी का छेदन-भेदन करने में धर्म मानकर उसे देवों को चढ़ाते हैं।

धर्म के मर्म को न समझने वाले बहुत से भाई धर्मार्थ बड़े-बड़े वृक्षों का जड़ से छेदन कर डालते हैं। दूब को, पत्तों को, फूलों को, शाखाओं को छेदन करके मंडप सजाते हैं और मालाओं एवं गजरों से अपने आराध्य देव को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। यह भी कितनी बड़ी मुग्धता है? वे कहते हैं कि सृष्टि के स्वामी भगवान् हैं। फिर भगवान् की वस्तु भगवान् को ही समर्पण करने से वे कैसे प्रसन्न और सन्तुष्ट होंगे? भगवान् क्या पत्र, पुष्प, फल, आदि के भूखे हैं? पत्र पुष्प आदि तुम उन्हें चढ़ाओगे तभी वे तृप्त होंगे? बिना चढ़ाए भूखे रहेंगे? कितनी विचारहीन मान्यता है! भगवान् का नाम लेकर अपना मतलब गांठते हैं। भगवान् स्वयं तो कुछ भी खाते-पीते नहीं हैं, मगर पुजारी लोग भोले भक्तों को बहका कर चढ़ावा करवाते हैं और भगवान् के नाम पर भोगोपभोग के पदार्थ प्राप्त करके अपनी इन्द्रियों का पोषण करते हैं। उन्होंने अपना यह सिद्धान्त बना लिया है—

दुनिया ठगना मक्कर से,
रोटी खाना शक्कर से।

कहावत है—'जहाँ लोभी बहुत होते हैं वहाँ धूर्त भूखे नहीं मरते।' इसी कहावत के अनुसार इस संसार का व्यवहार चल रहा है!

कुछ लोग कीड़ी, खटमल, डांस, मच्छर, जूँ, लीख, बिच्छू, सांप, मकोड़ा आदि को प्रलय के (मरने वाला) जीव कहते हैं, यह मरने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा मानते हैं। ये जीव संसार में कंटक रूप हैं, इसलिए इनके मारने में पाप नहीं है, ऐसा मानने वाले भोले भाइयों से पूछना चाहिए कि आप इन्हें कंटक रूप क्यों मानते हैं? वे उत्तर देंगे—ये हमें दुःख देते हैं इस कारण कंटक रूप हैं। अब जरा विचार कीजिए कि वे बेचारे नासमझ जीव हैं, थोड़ी-बहुत हानि पहुँचा देते हैं; मगर जो लोग उन्हें जान से मार

डालते हैं, वे उन्हें कितनी हानि पहुँचाते हैं ? थोड़ी-सी हानि पहुँचाने के कारण अगर वे कंटक रूप हो गये तो उन्हें जान से मारने वालों को क्या नाम दिया जाय ? वे महाकंटक कहलाएँगे या नहीं ? जब कंटक रूप जीवों को तुम नहीं छोड़ते तो तुम महाकंटकों का छुटकारा किस प्रकार होगा ?

भाइयो ! तुम ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानते हो तो यह भी मानना चाहिए कि जिस प्रकार ईश्वर ने तुम्हें उत्पन्न किया है, उसी प्रकार उन जीवों को भी उत्पन्न किया है। ईश्वर को आप सर्वज्ञ मानते हैं तो आपको यह भी समझना चाहिए कि उसने समझ-बूझकर किसी प्रयोजन से ही उन जीवों को बनाया होगा। तो फिर ऐसी महान् ईश्वरीय सत्ता के अधिकार की वस्तुओं को अनुपकारी समझ कर, उनका बध करके आप अपराधी बनते हैं। कुंभार के द्वारा बनाये हुए घड़े को भी अगर कोई फोड़ देता है तो कुंभार उसे दंड दिये बिना नहीं रहता, तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर के द्वारा बनाये हुए प्राणियों का विनाश करने पर ईश्वर आपको कैसे छोड़ देगा ? क्या ईश्वर आपका मित्र और उनका शत्रु है ? ईश्वर का आदेश तो यह है—

मृगोष्ट्रखरमर्कटाखु-सरीसृपमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्, तेषां मध्ये किमन्तरम् ?

अर्थात्—मृग, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सर्प, मक्खी, आदि प्राणियों को अपने पुत्र के समान प्रिय समझना चाहिए। इन प्राणियों में और पुत्र में क्या अन्तर है ? शास्त्रकार इससे अधिक और क्या कह सकते हैं ? विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन पशु वगैरह को एक बार दुश्मन गिनते हैं, उनकी फिर पूजा भी करते हैं। जिस सर्प को शत्रु समझ कर मार डालते हैं, उसी सर्प को अर्थात् सर्प जाति को नागपंचमी के दिन दूध पिलाते हैं और पूजते हैं। उसके चित्र घर की दीवारों पर बनाते हैं और आनन्द तथा पवित्रता मानते हैं। कृष्ण को सर्प की शय्या पर सुलाते हैं। महादेव के गले में सर्प लिपटाते हैं। इस प्रकार जो प्राणी आपके प्रभु को प्रिय है, उसी को आप मार डालते हैं तो आप अपने प्रभु के वैरी हुए या नहीं ?

कितनेक लोग तो इतने अनार्य होते हैं कि बेचारे मुर्गे, बकरे और

भैंसे जैसे मूक प्राणियों को मारते हैं और उनका मांस खा जाते हैं और इस में धर्म मानते हैं! इस प्रकार ये लोग इन पशुओं की निर्दय हत्या का पाप अपने सिर पर न रख कर देवता के माथे थोप देते हैं! यहाँ तो स्वार्थ की हद ही हो गई!* अरे भोले भाइयो! देव दयालु होता है या हत्यारा होता है? तुम स्वयं जीभ के लोलुप हो, हत्यारे हो, इस कारण देव को भी हत्यारा बनाते हो? भक्तों की करामात से देव के भी भाग्य फूटे! मगर ऐसे लोगों को यह समझ नहीं है कि सती के माथे व्यभिचार का कलंक चढ़ाने से जितना पाप होता है, उतना पाप दयालु देवों को हिंसक बताने या बनाने से होता है। विष्णुपुराण में कहा है:—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत्।

अर्थात्—विष्णु स्वयं कहते हैं—मैं जल में हूँ, मैं स्थल में हूँ, मैं पर्वत के मस्तक पर हूँ, मैं आग की ज्वाला में हूँ—मैं सर्वत्र हूँ। यह सारा संसार विष्णुमय है।

मान लीजिए, किसी राजा के छह पुत्र हैं। कोई मनुष्य उनमें एक पुत्र को मार कर राजा से पूछता है—राजन्! आप सन्तुष्ट हुए? तो राजा क्या सन्तुष्ट होगा? इसी प्रकार छह काय के जीवों की हिंसा करके प्रभु को प्रसन्न करने की इच्छा रखने वालों पर प्रभु कभी प्रसन्न नहीं होता, बल्कि अप्रसन्न ही होता है।

स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहाः—

पृथिव्यामप्यहं पार्थ, वायावग्नौ जलेऽप्यहम्।
वनस्पतिगतश्चाहं, सर्वभूतगतोऽप्यहम् ॥

देव के आगे बेटा माँगे, तब तो नारियल फूटे।
गोटा सो तो आप ही खावे, उनको चढ़ावे नरोटे।
जग चले उफराटे, झूठे को साहब कैसे भेटे॥

—कबीर।

यो मां सर्वगतं ज्ञात्वा, न विहिंसेत् कदाचन ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! मैं पृथ्वी में हूँ, वायु में हूँ, अग्नि में हूँ, जल में हूँ, वनस्पति में भी हूँ, मैं सब चलने-फिरने वाले प्राणियों में भी हूँ। इस प्रकार सर्वव्यापक जानकर जो मेरी हिंसा नहीं करता अर्थात् छह काय के जीवों का वध नहीं करता, उसका मैं भी वध नहीं करता। और भी कहाः—

न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद्दानं न तत्तपः ।
न तज्ज्ञानं न तद् ध्यानं, दया यत्र न वर्तते ॥

अर्थात्—जिसके हृदय में दया नहीं है, उसकी दीक्षा, भिक्षा, ध्यान, तप, ज्ञान दान सब मिथ्या है। शास्त्रकारों ने इस प्रकार दया की महिमा बतलाई है। मगर लोग इधर ध्यान न देकर हिंसा में प्रवृत्त होते हैं।

इस प्रकार हिंसा में धर्म मानना लौकिक धर्मगत मिथ्यात्व है।

होली, दिवाली, दशहरा, रक्षाबंधन, गुरुपूर्णिमा, भाई दूज, काजली तृतीया, अक्षय तृतीया, गणेशचतुर्थी, नागपंचमी, यात्राषष्ठी, शीतला-सप्तमी, जन्माष्टमी, राम नवमी, धूप दशमी, झूलना एकादशी, भीम एकादशी, बच्छ द्वादशी, धन तेरस, रूप चतुर्दशी, शरद् पूर्णिमा, हरयाली-अमावस्या, आदि त्यौहारों के उपलक्ष्य में मिथ्यादृष्टि देवों की मानता मानना भी लौकिक धर्मगत मिथ्यात्व है।

कितनेक लोग एकादशी वगैरह के दिन उपवास करते हैं। वह उपवास नाम मात्र का ही होता है, क्योंकि उस उपवास में अन्य दिनों की अपेक्षा और अधिक खाया जाता है। ऐसी हालत में उपवास की सार्थकता ही क्या है? नारायण कवि ने ठीक ही कहा हैः—

गिरि औ छुहारे खाय किसमिस बादाम चाय,
सांठे और सिंघाड़ों से होत दिल स्वादी है।
गोंद गिरी कलाकन्द अरबी और शकरकंद,
कुन्दन के पेड़े खाय लोटे बड़ी गादी है।

खरबूजे तरबूजे आम नीबू जम्बू जोर,
सिंघाड़े के सीरे से भूख को भगा दी है।
कहते हैं नारायण करत हैं दूनी हान,
कहने की एकादशी, द्वादशी की दादी है।

'एकादशीमाहात्म्य' के अनुसार एकादशी के दिन व्रताचरण करने वाले को एकादश वस्तुओं का त्याग करना चाहिए:—

अन्नकन्दफलत्यागं, निद्रां शय्यां च मैथुनम्।
व्यापारं विक्रयं चौरं, न स्नानं दन्तधावनम्॥

अर्थात्—(१) अन्न (२) कन्द (३) फल (४) निद्रा (५) शय्या (६) मैथुन (७) व्यापार (८) विक्रय-लेनदेन (९) हजामत (१०) स्नान (११) दातौन, यह ग्यारह वस्तुएँ एकादशी के दिन त्यागनी चाहिए।

इन वस्तुओं के त्याग का कष्ट सहन न करने की भावना से आजकल अनेक ढोंग प्रचलित हो गये हैं। कितनेक भोजन के कीड़े जैसे मनुष्य तो यहाँ तक कहते हैं कि नर का शरीर सो नारायण का शरीर है। ऐसे शरीर को तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए और इसलिए थोड़ा-बहुत अवश्य खाना चाहिए। जो अपने शरीर को दुःख देगा और पेट की आँतों को सुखाएगा वह जरूर नरक में जाएगा। ऐसे मनुष्यों को धार्मिक पुरुष पूछते हैं कि विश्वामित्र और पाराशर आदि ऋषियों ने साठ-साठ हजार वर्ष तप किया और लोहे की जंग का भक्षण करते रहे, अपने शरीर को काँटे की तरह कृश कर लिया। नव नाथों ने बारह-बारह वर्ष तक काँटों पर खड़े रह कर तप किया सो क्या यह तपस्वी आपके मत से नरक गये होंगे? कदापि नहीं। तप करने के कारण कोई नरक में नहीं जाता। मगर जो शास्त्र के आधार पर बातचीत करे उसे तो उत्तर दिया जा सकता है, मगर गाल-पुराण हाँकने वालों को किस प्रकार समझाया जा सकता है?

सच तो यह है कि जो लोग पुद्गलानन्दी हैं, विषय-रस में ही डूबे रहना चाहते हैं, उन्हें तप की बात कभी अच्छी नहीं लगती। ऐसे भोले

भाइयों को पता नहीं है कि आत्मा का दमन किये बिना इस लोक में या परलोक में कभी सुख नहीं मिल सकता। 'दुःखान्ते सुखम्' अर्थात् पहले दुःख सहन करने पर ही सुख की प्राप्ति होती है, यह सर्वत्र सर्वदा सत्य है। दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन में कहा है—'देहदुक्खं महाफलं।' अर्थात् शास्त्रोक्त रीति से देह को कष्ट देना महाफल का कारण है। इस लोक संबंधी कार्यों में, जैसे कि विद्या का अभ्यास करना, व्यापार करना, घर के अनेक काम करना, इत्यादि में, पहले दुःख उठाना पड़ता है और फिर सुख की प्राप्ति होती है। बीमारी हो जाने पर उसे शान्त करने के लिए कटुक औषध भी लेनी पड़ती है, पथ्य का भी पालन करना पड़ता है। इस प्रकार पहले कष्ट सहन करने के पश्चात् ही स्वस्थता का सुख मिलता है। यही बात धर्म के विषय में समझनी चाहिए। धर्म के कामों में, व्रत, नियम, तप आदि करने में पहले दुःख प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह दुःख नहीं हैं, क्योंकि उस नाम मात्र के दुःख में परम सुख रहा हुआ है। धर्मकार्य में अल्प दुःख और महान् सुख है। ऐसा जान कर लौकिक मिथ्यामय विचारों और आचारों का त्याग करके सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म को स्वीकार करो और परम सुख के भागी बनो।

७—लोकोत्तर मिथ्यात्व



लोकोत्तर मिथ्यात्व के तीन भेद हैं—(१) लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व (२) लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व और लोकोत्तर धर्मगत मिथ्यात्व।

जो तीर्थङ्कर कहलाता हो, तीर्थङ्कर-सरीखा वेष भी धारण करता हो, किन्तु जिसमें तीर्थंकर के लेश मात्र भी गुण न हों, जो अठारह दोषों से भरा हुआ हो, ऐसे पुरुष को तीर्थङ्कर (देव) मानना, तथा वीतराग भगवान् के नाम की मनौती मानकर इस लोक संबंधी सुख, धन, पुत्र, नीरोगता आदि की इच्छा करना, दुनियादारी की झंझटें दूर करने की इच्छा करना अथवा इसके लिए तीर्थङ्कर भगवान् का स्मरण, जप आदि करना, लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व है।

जैन साधु का नाम और वेष धारण करने वाले किन्तु साधुपन के गुणों से रहित, भ्रष्ट साधु के पाँच दोषों से युक्त, पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति से रहित, छह काय के जीवों की घात करने वाले साधु को धर्मगुरु मानना लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व है।

जैनधर्म भव-भव में लोकोत्तर कल्याणकारी है, निरवद्य है। इस धर्म का सेवन करने से निराबाध और अक्षय मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। फिर भी इस सुख की उपेक्षा करके इस लोक संबंधी धन ,पुत्र, स्त्री आदि संबंधी सुख प्राप्त करने के लिए धर्म का आचरण करना लोकोत्तर धर्मगत मिथ्यात्व है। जैसे-पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से कनकावली तप करना, करोड़पति बनने की अभिलाषा से सामायिक करना, व्यापार में मुनाफा करने की भावना से पक्खी का उपवास करना, दुश्मन का नुकसान करने के लिए अष्टमी का व्रत रखना आदि। इस प्रकार की रूढ़ि जहाँ कहीं भी प्रचलित हो, उसे दूर करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। अनन्त जन्म-मरण के फेरा मिटा देने वाली सत्ता धर्म की है। इस महान् फल के बदले इस जगत् के क्षणिक सुख, अशुचिमय सुख, जिनका दूसरे क्षण के लिए भी भरोसा नहीं किया जा सकता, ऐसे सुख प्राप्त करने के लिए धर्म का आचरण करना हीरा देकर पत्थर लेने के समान है। वणिक्पुत्र एक रुपये का माल पन्द्रह आने में भी नहीं बेचता। कदाचित् बेचता भी है तो वह मूर्ख गिना जाता है। ऐसी स्थिति में अनन्त सुख रूप फल देने वाले धर्म का आचरण क्षणिक सुख के लिए करने वाला बुद्धिमान् कैसे समझा जा सकता है? इस प्रकार विचार कर लोकोत्तर धर्मगत मिथ्यात्व से आत्मा को बचाना चाहिए।

८—कुप्रावचनिक मिथ्यात्व



इस मिथ्यात्व के भी तीन भेद हैं—(१) देवगत-हरि, हर, ब्रह्मा आदि अन्य मत के देवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए मानना-पूजना। (२) गुरुगत-बाबा, जोगी आदि कुगुरुओं को सच्चा गुरु मान कर मोक्ष-प्राप्ति के लिए

उनकी सेवा, भक्ति, पूजा, श्लाघा आदि करना। (३) धर्मगत-अन्य मत की संध्या, स्नान, होम, जप आदि क्रियाओं को मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से अंगीकार करना।

जो देव और जो गुरु स्वयं मोक्ष नहीं पा सके हैं, वे दूसरों का मोक्ष कैसे दे सकेंगे ? अतएव मिथ्या शास्त्रों में ऐसे देवों की महिमा लिखी देख-सुन कर धर्मशील आत्महितैषी पुरुषों को मूढ़ नहीं होना चाहिए।

९—जिनवाणी से न्यून प्ररूपणा-मिथ्यात्व

●

कोई-कोई मानते हैं कि आत्मा तिल या सरसों के बराबर है। कोई अंगूठा के बराबर कहते हैं। तिष्यगुप्त आचार्य ने आत्मा को एक प्रदेश मात्र ही बतलाया है। यह सब प्ररूपणा न्यून (ओछी) प्ररूपणा है। अपने विचार से मेल न खाने वाले शास्त्र-वचन को उड़ा देना, पलट देना, या उसका मनमाना अर्थ करना, यह सब भी इसी मिथ्यात्व में शामिल है।

१०—जिनवाणी से अधिक प्ररूपणा-मिथ्यात्व

●

श्रीवीतराग भगवान् द्वारा प्रणीत शास्त्र से अधिक प्ररूपणा करना भी मिथ्यात्व है। जैसे—कोई-कोई आत्मा को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक मानते हैं। इसी प्रकार साधु के समस्त धर्मोपकरणों को परिग्रह कहना, श्री भगवान् महावीर के ७०० केवली शिष्य शास्त्र में कहे हैं, उनसे ज्यादा कहना, इस प्रकार केवली के वचन से अधिक प्ररूपणा करना भी मिथ्यात्व है।

११—जिनवाणी से विपरीत प्ररूपणा-मिथ्यात्व

●

केवलज्ञानी वीतराग भगवान् द्वारा प्रणीत शास्त्र से विपरीत प्ररूपणा करना विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे—श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि साधु कहला

कर रक्ताम्बर पीताम्बर, कृष्णाम्बर आदि धारण करना। मुँहपत्ती आदि उपकरणों को विपरीत प्रकार से रखना आदि।

कुछ लोगों की मान्यता है कि सृष्टि ब्रह्मा ने बनाई है।* विष्णु उसका पालन करते हैं और महेश (शंकर) उसका संहार करते हैं। ब्रह्मा की इच्छा हुई—'एकोऽहं बहु स्याम' अर्थात् मैं एक हूँ, अनेक बन जाऊँ।

पूर्वपक्षी—जब पहली अवस्था में किसी प्रकार का दुःख होता है, तभी दूसरी अवस्था को धारण करने इच्छा होती है। इस नियम के अनुसार ब्रह्मा जब अकेला था तो उसे क्या दुःख था जिससे उसने अनेक रूप धारण करने की इच्छा की?

प्रतिपक्षी—दुःख तो उसे कुछ नहीं था, मगर परमब्रह्म ने कौतुक किया।

पूर्वपक्षी— जिसे विशेष सुख की अभिलाषा होती है, वही कौतुक करता है। तो क्या परमब्रह्म को पहले कम सुख था? और फिर अनेक रूप हो जाने पर अधिक सुख हुआ? अगर परमब्रह्म पहले से ही पूर्ण सुखी था

---

* सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वेदों, उपनिषदों और पुराणों में नाना मन्तव्य देखे जाते है। उनमें से कुछ यह हैं:—(१) कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली में कहा है—परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार सृष्टि उत्पन्न हुई। (२) ऋग्वेद १–१४४–५ में कहा है कि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' एक सत् सदैव स्थिर रहता है, मगर उसे लोग अनेक नामों से पुकारते है। (३) इसके विरुद्ध ऋग्वेद १०–७२–७ में कहा है—'देवानां पूर्वे युगेऽसतःसद् जायते।' अर्थात् देवों से भी पहले असत् अर्थात् अव्यक्त से सत् अर्थात् व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई। (४) इसके अतिरिक्त किसी दृश्य तत्त्व से सृष्टि के उत्पन्न होने के विषय में ऋग्वेद में ही भिन्न-भिन्न अनेक वर्णन हैं। जैसे—पृथ्वी के आरम्भ मे मूल हिरण्यगर्भ (ब्रह्म) था। अमृत और मृत्यु—दोनों उसकी छाया हैं। आगे चलकर उसी से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। (५) ऋग्वेद १०–१२१–१–२ मे कहा है—सर्वप्रथम विराट पुरुष था और उसी से यज्ञ द्वारा समस्त सृष्टि हुई है। (६) ऋग्वेद १०–६० में कहा है कि पहलेपानी था और उससे प्रजापति उत्पन्न हुआ। (७ ऋग्वेद १०-७२-६ में तथा १०–८२–६ में कहा है—ऋतु और सत्य पहले उत्पन्न हुए, फिर अन्धकार (रात्रि), फिर समुद्र (पानी), और फिर संवत्सर आदि उत्पन्न हुए। (८) ऋग्वेद १०–७२–१ में कहा है—सृष्टि के आरम्भ में वह अकेला ही था।

इस प्रकार पूर्वापर-विरोधी अनेक विचार मिलते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि यह विचार असर्वज्ञ के हैं। सर्वज्ञ का कथन पूर्वापर विरोधी नहीं हो सकता।

तो फिर अवस्था बदलने की क्या आवश्यकता हुई ? प्रयोजन के बिना कोई किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। जब परमब्रह्म को बहु रूप में प्रकट होने की इच्छा हुई और वह बहु रूप में प्रकट हुआ तो इससे स्पष्ट सिद्ध होता है वह पहले सुखी नहीं था। और फिर सुखी हुआ।

प्रतिपक्षी—कार्य करने में परमब्रह्म को जरा भी देर नहीं लगती। उस की इच्छा होते ही तत्काल कार्य बन जाता है।

पूर्वपक्षी—यह बात तो स्थूल काल की गिनती के विषय में है। सूक्ष्म काल का विचार करें तो पहले इच्छा होना और फिर कार्य हो जाना, यह दोनों बातें एक समय मात्र में संभव नहीं हैं। इच्छा होना और फिर इच्छा के अनुसार कार्य होना, इन दोनों के बीच में थोड़ा-सा काल भी अवश्य व्यतीत होगा। दोनों का काल एक नहीं हो सकता। अतः यह मानना पड़ेगाकि पहले इच्छा हुई और फिर उस इच्छा के अनुरूप कार्य हुआ।

प्रतिपक्षी—परमब्रह्म की इच्छा होते ही तत्काल माया उत्पन्न होती है। और फिर माया ही सृष्टि उत्पन्न करती है।

पूर्वपक्षी—ब्रह्म का और माया का स्वरूप एक ही है अथवा भिन्न-भिन्न ?

प्रतिपक्षी—भिन्न-भिन्न है। परब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है और माया जड़ है।

पूर्वपक्षी—आपके माननीय गौतम ऋषि प्रणीत न्यायदर्शन के चौथे अध्याय में कहा है किव्यक्त (प्रकट) वस्तु से वस्तु की उत्पत्ति होती है, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण सेसिद्ध है। जड़ से चेतन की अथवा चेतन से जड़ की उत्पत्ति कदापि नहींहो सकती। तो फिर चेतन रूप अव्यक्त ब्रह्म से माया रूपजड़ की उत्पत्ति कैसे हो गई ? फिर बतलाइए कि जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई अथवा माया से हुई है।

प्रतिपक्षी—ब्रह्म से।

पूर्वपक्षी—तो फिर माया से क्या हुआ ?

प्रतिपक्षी—माया से तो जीव भ्रम में पड़ता है।

पूर्वपक्षी—ब्रह्म से जीव अलग है या दोनों एक ही हैं ? अगर आप दोनों को एक कहते हैं तो आपके वचन पागल के प्रलाप के समान ठहरते हैं; क्योंकि एक तरफ आप दो को एक कहते हैं और दूसरी तरफ ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति कहते हैं। इसके अतिरिक्त अगर दोनों एक हैं तो ब्रह्म की तरह जीव को भी अलिप्त मानना पड़ेगा या जीव की तरह ब्रह्म को भी माया से लिप्त मानना पड़ेगा। जैसे कोई मूर्ख अपनी ही तलवार से अपना ही हाथ काट लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म ने अपने अंश रूप जीव को माया से लिप्त किया तो ब्रह्म ज्ञानस्वरूप किस प्रकार ठहरेगा ?

अगर आप ब्रह्म और माया को अलग-अलग मानते हैं तो ब्रह्म निर्दय कहलाएगा, क्योंकि उसने बिना किसी कारण जीव के पीछे माया लगा दी और उसे दुःखी बनाया। अगर आप मानते हैं कि माया से शरीर वगैरह उपाधि हुई तो माया स्वयं हाड़, मांस, रुधिर रूप कहलाई। और शारीरिक पुद्गल वर्ण, गंध, रस, स्पर्श मय रूपी होने से अरूपी ब्रह्म में किस प्रकार समा सकते हैं ? अगर समा जाते हैं तो ब्रह्म भी रूपी ठहरेगा। इससे ब्रह्म का अरूपी स्वरूप नहीं रह जायगा।

प्रतिपक्षी—माया से सत्त्व, रजस् और तमस्-यह तीन गुण उत्पन्न होते हैं।

पूर्वपक्षी—यह तीन गुण चेतन के स्वभाव हैं और माया जड़ है। जड़ से चेतन की उत्पत्ति कैसे हो गई ? अगर हो जाती है तो सूखे काठ से भी इन तीनों गुणों की उत्पत्ति होनी चाहिए। इन तीन गुणों से तीन देव उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् रजोगुण से ब्रह्मा, सतोगुण से विष्णु, और तमोगुण से शंकर हुए हैं। यह बात सच्ची मान ली जाय तो यह शंका उत्पन्न होती है कि गुण से गुणी की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? और मायामय वस्तु पूज्य कैसे हो सकती है ? आप यह कहते हैं कि यह तीनों देव माया के अधीन नहीं हैं, मगर यह बात ठीक नहीं जँचती, क्योंकि माया के अधीन होकर इन देवों ने व्यभिचार वगैरह निर्लज्ज काम किये हैं। इसका उत्तर आप यह दे सकते हैं कि चोरी जारी आदि करना तो भगवान् की लीला है। तो

भगवान् की लीला के विषय में यह पूछना है कि वह लीला प्रभु की इच्छा से हुई या विना इच्छा ही हो गई ? अगर इच्छा से लीला हुई, ऐसा कहते हो तो स्त्रीसेवन की इच्छा आपके भगवान् का कामगुण है और यह गुण रजोगुण में आता है। युद्ध करने की इच्छा क्रोध में शामिल है और क्रोध तमोगुण में आता है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि देव माया के अधीन ही है।

अगर आपका कहना यह हो कि भगवान् की लीला भगवान् की इच्छा के विना ही हो जाती है तो क्या देव परवश हैं ? यह बात जँचती नहीं कि देव महासामर्थ्यशाली होते हुए भी किस प्रकार पराधीन हो गये ? जब देव दूसरे के अधीन नहीं हैं तो यही मानना चाहिए कि उन्होंने जो लीला की है, वह माया के अधीन होकर ही की है। आपके शास्त्रों से भी इसी बात का समर्थन होता है। ब्रह्माजी अप्सरा का रूप देखकर, चलित होकर,* साढ़े तीन कोटि तप को बिगाड़ कर, पाँच मुँह-धारी बने। उनका पाँचवाँ गर्दभ-मुख महेश ने छेदन किया। विष्णु ने पृथक्-पृथक् दस अवतार धारण किये।+ क्रोधित होकर दैत्यों का संहार किया। कृष्णावतार में वस्त्रहरण

* *जब ब्रह्म ऋषि का साढ़े तीन कोटि तप समाप्त हुआ तो इन्द्र को चिन्ता हुई कि अब यह ब्रह्मा चार कोटि तप पूर्ण होते ही मेरा अधिकार छीन लेगा। इन्द्र की चिन्ता का कारण जान कर तिलोत्तमा अप्सरा ब्रह्म ऋषि के पास आई और पीछे खड़ी होकर नाच-गान करने लगी। अन्य ऋषियों की शर्म के मारे ब्रह्मा मुँह फिरा कर देख नहीं सके। तब एक कोटि तप का फल रख कर पीछे मुंह होने की उन्होंने इच्छा की। तत्काल पीछे को मुख हो गया। अप्सरा तुरंत दाहिनी तरफ जाकर नाच-गान करने लगी। ऋषि ने एक कोटि तप रखकर दाहिनी तरफ मुख बना लिया। तब अप्सरा बाईं तरफ नृत्य करने लगी। तब एक कोटि तप रख कर बाईं तरफ मुख बना लिया। अप्सरा ऊपर की तरफ मुख करके नृत्य करने लगी। तब बाकी बचे हुए आधा कोटि तप को रख कर ऊपर मुँह बनाने की इच्छा की। इच्छा होते ही गधे का मुँह बन गया। इस प्रकार साढ़े तीन कोटि तप का हरण करके अप्सरा चली गई। ब्रह्माजी का गर्दभ का मुख देख-देख कर तपस्वियों की स्त्रियाँ डरने लगी। तब तपस्वियों के कहने से महादेवजी ने ब्रह्मा के उस गर्दभमुख का छेदन किया और वे चतुर्मुख ही रह गये, ऐसा पुराण का कथन है।*

+ *दस अवतारों के नामः—*

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च, बुद्धः कल्की च ते दश॥

आदि करके ग्वालिनों की इज्जत ली। महेश को भीलनी ने छला। पार्वती के डर से गंगा को जटा में छिपा लिया। यह सब कर्त्तव्य मायामय हैं। इसलिए यह कैसे कहा जा सकता है कि वे माया के अधीन नहीं थे।

प्रतिपक्षी—सांसारिक जीवों को नीति की शिक्षा देने के लिए, कर्त्तव्य कार्य बतलाने के लिए भगवान् लीला करते हैं।

पूर्वपक्षी—यह आपका कथन वैसा ही है जैसे किसी के पिता ने अपने पुत्र को प्रथम तो दुराचार करने की शिक्षा दी और जब वह दुराचार करने लगा तब उसे दंड दिया। इसी प्रकार पहले जीवों को अनाचार के कामों

दस अवतारों के कामः—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

—(जयदेवकृत गीतगोविन्द)

(१) शङ्ख नामक दैत्य चारों वेद रसातल में ले भागा था तब मत्स्य अवतार धारण करके दैत्य को मार कर वेदों का उद्धार किया। (२-३) पृथ्वी रसातल में जाने लगी तब कूर्म (कछुवे) का अवतार लेकर अपनी पीठ पर पृथ्वी धारण कर रक्खी और वराह (सुअर) का अवतार धारण करके दाढ़ों में पृथ्वी पकड़ रक्खी। (४) हिरण्यकश्यपु का पुत्र प्रह्लाद विष्णु-भक्त बना तो क्रुद्ध होकर वह अपने पुत्र को मारने लगा। तब नरसिंह अवतार धारण करके हिरण्यकश्यपु का पेट नखों से फाड़ डाला और उसे मार डाला (५) बलि नामक दैत्य ने इन्द्र पद की प्राप्ति के लिए १०० यज्ञ किये। देव की इच्छा थी कि प्रह्लाद इन्द्र बने। अतः वामन अवतार धारण कर ३॥ पैर पृथ्वी की याचना की। तीन पैरों से सारी पृथ्वी नाप ली। चौथा पैर बलि की पीठ पर रख कर उसे पाताल में पहुँचाया। दीपावली के ४ दिन बलि को राजा बना कर पहरेदार बने। (६) सहस्रा नामक क्षत्रिय की बहिन रेणुका का जमदग्नि ऋषि ने जबर्दस्ती पाणिग्रहण कर लिया। वह कुपित होकर जमदग्नि को दुःख देने लगा। तब भगवान् ने जमदग्नि का पुत्र बन कर अर्थात् परशुराम का अवतार धारण करके उस को मारा और २१ बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन बना दिया। (७) रावण दैत्य यज्ञभंग करने लगा, तब रामावतार धारण करके रावण का संहार किया। (८) कंस नामक दैत्य को मारने के लिए कृष्णावतार धारण किया। (९) शीतल रूप बुद्धावतार ने म्लेच्छों के मन्दिर बढ़ाये (१०) कल्कि अवतार धारण कर म्लेच्छों का विनाश किया। मच्छ, कच्छ, वाराह और नरसिंह अवतार कृतयुग में हुए; वामन, परशुराम और राम अवतार त्रेता युग में हुए। कृष्ण और बुद्ध अवतार द्वापर में हुए और कल्कि अवतार कलियुग में हुआ।

की शिक्षा दी और जब वे अनाचार करने लगे तब उन्हें नरक आदि दुर्गतियों में डाल कर दुखित किया। इस प्रकार का अन्याय करने वाले को कैसे ईश्वर माना जाय ?

प्रतिपक्षी—भक्तों का रक्षण करने के लिए और दुष्टों का संहार करने के लिए ईश्वर का अवतार होता है।

पूर्वपक्षी—दुष्ट लोग ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न होते हैं या बिना इच्छा ही उत्पन्न हो जाते हैं ? अगर ईश्वर की इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं तो फिर उन्हें दंड देना कहाँ तक उचित है ? किसी स्वामी ने अपने सेवक को आज्ञा देकर पहले दुष्ट कृत्य कराया और फिर दुष्ट कृत्य के लिए उसे दंड दिया तो क्या वह न्यायी कहलाएगा ? नहीं, वह स्वामी अन्यायी है। यदि दुष्ट लोग बिना ईश्वर की इच्छा के आप ही उत्पन्न हुए कहते हो तो ईश्वर ने उन्हें उत्पन्न ही क्यों होने दिया ? क्या ईश्वर यह नहीं जानता था कि यह दुष्ट उत्पन्न होकर मेरे भक्तों को सतायेगा और इसका संहार करने के लिए मुझे अवतार धारण करना पड़ेगा ? इस प्रकार जानकर ईश्वर ने दुष्टों को क्यों उत्पन्न होने दिया ? उन्हें उत्पन्न होने से रोक क्यों नहीं दिया ?

प्रतिपक्षी—अवतार धारण करने से ईश्वर की महिमा होती है।

पूर्वपक्षी—तो क्या अपनी महिमा बढ़ाने के लिए ईश्वर भक्तों का पालन और दुष्टों का संहार करता है ? अगर ऐसा हो तो ईश्वर रागी और द्वेषी कहलाएगा। राग-द्वेष दुःख का मूल है। ईश्वर अवतार धारण करके दुष्टों का संहार किये बिना अपनी महिमा नहीं बढ़ा सकता, तभी उसे अवतार लेने और अनेक प्रपंच रचकर भक्तों के पालन और दुष्टों के संहार की झंझट में पड़ना पड़ता है। जब सहज ही काम हो सकता था तो इतना कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता थी ? अगर ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही सब काम होता हो तो महिमाइच्छुक ईश्वर ने सारी सृष्टि के जीवों से अपनी महिमा ही क्यों न करवाई ?

प्रतिपक्षी—हमारे शुक्ल यजुर्वेद, बृहदारण्यक में कहा है कि ब्रह्म

जगत् रूप मूर्तिमान् है और आत्मरूप अमूर्तिक भी है। इस प्रकार ब्रह्म के दो रूप हैं। इसलिए ब्रह्म सब कार्य करके भी अलग-अलिप्त ही रहता है।

पूर्वपक्षी—आपका यह कथन निरर्थक है, क्योंकि आप एक ही वस्तु को मूर्त्त भी कहते हैं और अमूर्त्त भी कहते हैं। एक व्यक्ति राग-द्वेष के काम भी करे और राग-द्वेष से लिप्त भी न हो, यह कदापि नहीं हो सकता।

प्रतिपक्षी—ब्रह्मा सृष्टि बनाता है, विष्णु उसका पालन करता है और महादेव संहार करता है। यह तीनों देवों के अलग-अलग तीन कार्य हैं।

पूर्वपक्षी—अगर ऐसा है तो ब्रह्मा और महादेव में परस्पर बड़ा ही विरोध हुआ। ब्रह्माजी जो बनाते हैं, महादेवजी उसे बिगाड़ देते हैं, तो आपस में विरोधी हुए।

प्रतिपक्षी—इसमें विरोध की कोई बात नहीं है, क्योंकि ईश्वर अपने ही तीन रूप बनाकर तीन काम करता है। वे अलग-अलग नहीं हैं, जिससे परस्पर में विरोध हो।

पूर्वपक्षी—तो फिर पहले ऐसी वस्तु बनाता ही क्यों है जिसका बाद में संहार करना पड़ता है ? इससे ईश्वर या सृष्टि-दोनों में से एक का स्वभाव तो अन्यथा हुआ ही। और ईश्वर का स्वभाव पलटने का कारण क्या है ? (प्रतिपक्षी चुप रहा, तब पूर्वपक्षी फिर पूछता है-) किसी को मन्दिर बनवाने की इच्छा होती है तब वह पहले उसका नक्शा बनाता है। फिर ईंट-चूना आदि सामग्री इकट्ठी करता है। बिना सामग्री के कोई वस्तु नहीं बनती। कपड़ा बनाने के लिए सूत और घड़ा बनाने के लिए मिट्टी की आवश्यकता होती ही है। तो ब्रह्मा सृष्टि किससे बनाता है ? जब ब्रह्मा ने सृष्टि बनाई तो उस समय क्या दूसरी सृष्टि मौजूद थी ? उस समय ब्रह्मा एक ही था तो पृथ्वी बनाने की सामग्री वह कहाँ से लाया ? अगर वह सामग्री ब्रह्म में से निकली कहो तो ब्रह्म साकार हुआ। अगर वह सामग्री पहले से ही मौजूद मानते हो तो ब्रह्म की तरह सामग्री भी नित्य हुई। इस प्रकार दोनों की कथा असंगत है।

इसके अतिरिक्त जब सृष्टि रची होगी तब पहले एक वस्तु बनाई फिर दूसरी बनाई, इस प्रकार क्रम से रचना की अथवा अपने अनेक रूप बनाकर

सब एकदम बना डाली। यह दोनों ही कथन आपके शास्त्र से असंगत हैं। अगर आप यह मानें कि किसी को आज्ञा देकर सृष्टि बनवाई तो उस समय दूसरा कौन था ? उसका नाम तो बतलाइए ? और बनाने वाला भी उपादान कारण रूप सामग्री कहाँ से लाया ?

(प्रतिपक्षी चुप)

अच्छा, जब सृष्टि बनाई तो सब अच्छी-अच्छी वस्तुएँ ही बनाई अथवा अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वस्तुएँ बनाई ? अगर सब अच्छी-अच्छी वस्तुएँ बनाई कहते हो तो बुरी वस्तुएँ बनाने वाला कोई और हुआ। अगर उसी ने दोनों प्रकार की वस्तुएँ बनाई तो सिंह, खटमल, आदि प्राणी तथा जहर, काँटा आदि दुःख देने वाली वस्तुएँ क्यों बनाई ?

(प्रतिपक्षी चुप)

अच्छा, पहले जीव को निर्मल बनाया या पापी बनाया ? अगर निर्मल कहते हो तो उसे पाप कैसे लग गया ? इससे तो यही सिद्ध होता है कि बनाते समय तो बना दिया, फिर ईश्वर के हाथ की बात नहीं रही ! अगर यह कहो कि ईश्वर ने ही पीछे पाप लगा दिया तो बेचारे जीव के पीछे पाप लगा कर क्यों उसे दुखी किया ? इससे तो आपका ईश्वर निर्दय सिद्ध होता है। इस प्रकार विचार करने पर ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता कहना प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

प्रतिपक्षी—अजी, सब अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख पाते हैं।

पूर्वपक्षी—तब ब्रह्मा ने कुछ नहीं किया। ब्रह्मा सृष्टि का कर्त्ता नहीं रहा।

विष्णु को सृष्टि का पालनकर्त्ता कहते हो, उस पर भी जरा विचार करो। रक्षणकर्त्ता या पालनकर्त्ता उसी को कहते हैं जो दुःख न प्राप्त होने दे। किन्तु ऐसा तो सृष्टि में दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ तो प्रत्यक्ष ही अनेक जीव क्षुधा, तृषा, शीत, ताप, मार, ताड़ना आदि अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं। सुखी तो बहुत थोड़े दिखाई देते हैं। तब विष्णु रक्षक कैसे हुए ?

प्रतिपक्षी—दुःख होना तो कर्माधीन है।

पूर्वपक्षी—यह कथन तो ठग-वैद्य के समान हुआ। रोगी को आराम हुआ तो मेरी औषधि से, और यदि रोग बढ़ गया या रोगी मर गया तो अपने कर्मों से! अगर कर्मों से ही सुख-दुःख होता है तो फिर विष्णु को रक्षक क्यों मानते हैं?

प्रतिपक्षी—विष्णु भगवान् परम भक्तवत्सल हैं।

पूर्वपक्षी—अगर विष्णु परम भक्तवत्सल हैं तो फिर सोमेश्वर महादेव का देवालय महमूद गजनी ने तोड़ा तब उसकी रक्षा क्यों नहीं की? इसके अतिरिक्त और भी बहुत स्थानों पर म्लेच्छ लोग भक्तों को सताते रहते हैं, विष्णु उनकी रक्षा क्यों नहीं करते? अगर कहो कि शक्ति नहीं है तो क्या विष्णु, म्लेच्छों से भी हीन शक्ति वाले हैं? अगर कहो कि विष्णु को खबर नहीं लगती तो उन्हें सर्वज्ञ, सर्वअन्तर्यामी क्यों कहते हो? अगर कहो कि जानते तो थे, मगर जान-बूझ कर रक्षा नहीं की तो विष्णु भक्तवत्सल कैसे हुए? इत्यादि विचार करने से विष्णु जगत् का पालन करते हैं यह कथन भी प्रमाणसंगत सिद्ध नहीं होता।

अब जो महेश को (शंकर को) सृष्टि का संहारकर्त्ता मानते हो तो महेश सिर्फ प्रलय काल में ही संहारकर्त्ता है या सदैव संहार करता रहता है? और वह अपने हाथ से ही संहार करता है या दूसरों से संहार करवाता है? अगर अपने हाथ से सदैव संहारकर्त्ता कहोगे तो सृष्टि में एक-एक क्षण में अनन्त जीव मर रहे हैं, उन सब को अकेला किस प्रकार मार सकता है? अगर दूसरे के हाथ से संहारकर्त्ता कहते हो तो उसका नाम बतलाइए! यदि आपकी मान्यता यह है कि महेश्वर की इच्छा मात्र से संहार हो जाता है, तो क्या महेश की सदैव यही इच्छा बनी रहती है कि 'मरो-मरो'? ऐसी इच्छा तो दुष्टों की होती है। अगर आप यह कहते हैं कि सिर्फ प्रलयकाल में ही महेश संहार करता है तो ऐसे क्रोध का उद्भव एकदम क्यों हुआ कि बेचारे समस्त जगत् के जीव मार डाले? एक जीव को मारने वाला भी हिंसक कहलाता है तो फिर सारी सृष्टि के जीवों के संहार करने वाले को क्या कहना चाहिए?

प्रतिपक्षी—अजी, ईश्वर ने तो एक तमाशा बनाया था; उसे बिखेर डाला। इसमें हिंसा किस बात की ?

पूर्वपक्षी—तब तो ईश्वर तमाशगीर हो गया जिससे उसे पाप भी नहीं लगता। भाइयो ! पाप भी परमेश्वर का मित्र हो गया, जो उसे नहीं लगता। औरों को लगता है।

(प्रतिपक्षी चुप)

पूर्वपक्षी—अच्छा, प्रलय के बाद जीव सब कहाँ चले जाएँगे ?

प्रतिपक्षी—जो भक्त हैं सो तो ब्रह्म में मिल जाएँगे और दूसरे जीव माया में मिल जाएँगे।

पूर्वपक्षी—प्रलय होने के बाद माया, ब्रह्म से अलग रहेगी अथवा ब्रह्म में मिल जाएगी ? अगर माया पृथक् रहती है तो वह भी ब्रह्म की तरह नित्य हुई। अगर ब्रह्म में मिल जाती है तो फिर सब जीव भी ब्रह्म में मिल गये। फिर भक्त और दूसरों में फ़र्क हा कौन-सा रहा ? सभी ब्रह्ममय हो गये। फिर मोक्षप्राप्ति के लिए शम, दम, जप, तप आदि क्यों करने चाहिए ? क्योंकि महाप्रलय होने पर तो सब ब्रह्म में मिल ही जाएँगे और सब ब्रह्म रूप ही हो जाएँगे।

(प्रतिपक्षी चुप)

पूर्वपक्षी—पुनः नयी सृष्टि उत्पन्न होगी क्या ?

प्रतिपक्षी—हाँ, ब्रह्मा का महाकल्पकाल बीतने के बाद ब्रह्मा की रात्रि पूरी होगी और दिवसोदय होगा, तब ब्रह्मा को पुनः इच्छा होगी और फिर नयी सृष्टि उत्पन्न होगी।

पूर्वपक्षी—अच्छा, तब पहले वाले जीव ही सृष्टि में आएँगे या नये जीव उत्पन्न हो जाएँगे ? वही पहले वाले जीव फिर सृष्टि में आते हैं, ऐसा कहते हो तो यह भी मानना पड़ेगा कि वे जीव ब्रह्म में लीन—शामिल—नहीं हुए थे। किन्तु सब पृथक्-पृथक् रहे थे। तो आपका यह कथन मिथ्या हुआ कि जीव ब्रह्म में मिल जाते हैं। अगर आप नये जीवों की उत्पत्ति

होना मानते हो तो जीव नित्य नहीं रहा अर्थात् जीव का भी उत्पाद और विनाश होना मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में धर्मकरनी का फल कौन पाएगा ?

(प्रतिपक्षी चुप)

अच्छा, और पूछते हैं। माया मूर्तिक है या अमूर्तिक है ? अगर मूर्तिक है तो अमूर्तिक ब्रह्म में मूर्तिक माया कैसे मिली ? और जो मूर्तिक माया अमूर्तिक ब्रह्म में मिली ही कहोगे तो फिर ब्रह्म भी मूर्तिक या मूर्तिक-मिश्र हो जायगा। और जो माया को अमूर्त्तिक कहोगे तो फिर माया से पृथ्वी आदि मूर्त्तिक पदार्थ कैसे बने ? इत्यादिक न्याय से ब्रह्मा सृष्टि का कर्त्ता, विष्णु पालनकर्त्ता और महादेव संहारकर्त्ता है, यह आपका कथन कपोलकल्पित ही मालूम पड़ता है। यह कथन प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

भव्य जीवो ! इस प्रकार के भ्रम में मत पड़ो और निश्चय समझो कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पशु, पक्षी, जलचर, मनुष्य, नरक, स्वर्ग इत्यादि सब पदार्थ अनादि और अनन्त हैं। इन पदार्थों को न कोई उत्पन्न करता है और न कोई इनका प्रलय करता है। जो इनकी आदि बतावे, उससे पूछा जाय कि अण्डा और पक्षी, बीज और वृक्ष, स्त्री और पुरुष, इनमें पहले कौन हुआ और पीछे कौन हुआ ? इसका उत्तर वे कुछ भी नहीं दे सकेंगे। क्योंकि अण्डे के विना पक्षी की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और पक्षी के विना अण्डे की उत्पत्ति नहीं हो सकती। बीज के विना वृक्ष नहीं उगता है और विना वृक्ष के बीज नहीं पैदा होता है। सबका कारण-कार्य सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। इसलिए ये सब पदार्थ अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे।

जो कोई ईश्वरवादी पूछे कि यह सब विना बनाये कैसे हो गये ? तो उनसे पूछना चाहिए कि ब्रह्म को किसने बनाया ? तब वे कहेंगे—ब्रह्म तो स्वयं सिद्ध अनादि अनन्त है, तो हम भी कहते हैं कि जैसे तुम ब्रह्म को स्वयं सिद्ध अनादि अनन्त मानते हो, तैसे ही हम भी सृष्टि को स्वयं सिद्ध

अनादि अनन्त मानते हैं। आपके सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ के गोल नामक अध्याय में भास्कराचार्य ने लिखा है कि चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, गुरु शनि और नक्षत्रों के वर्तुल मार्ग से घिरा हुआ और अन्य के आधार बिना पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशमय यह भूपिण्ड गोलाकार हो अपनी शक्ति से ही आकाश में निरन्तर रहता है। इसके पृष्ठ पर दानव, मानव, देव तथा दैत्य सहित विश्व चारों ओर है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जीव को सुखी, दुखी करने वाला कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि जीव पुण्यकर्म का उपार्जन करके उसका फल भोगते समय सुखी होता है और पापकर्म का उपार्जन करके उसका फल भोगते समय दुःखी होता है। ऐसा ही कहा भी है:—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
पुराकृतं कर्म तदेव भुज्यते,
शरीरकार्यं खलु यत् त्वया कृतम्॥

अर्थात्—इस संसार में जीवों को सुख और दुःख देने वाला कोई भी नहीं है। सब जीव अपने-अपने कर्मानुसार ही सुख-दुःख रूप फल भोगते हैं। श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अध्याय २४ में कहा है:—

कर्मणा जायते जन्तुः, कर्मणैव विपद्यते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं, कर्मणैवाविपद्यते॥

अर्थात् कर्म से ही जीव पैदा होता है और कर्म से ही मरता है। सुख, दुःख, भय, क्षेम यह सब कर्म से ही होते हैं। भगवद्गीता, अध्याय ५ में कहा है:—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥

अर्थात्-प्रभु न किसी के कर्तृत्व को उत्पन्न करता है, न किसी के कर्म को सरजता है और न किसी के कर्म का फल देता है। यह सब काम स्वभाव से ही होता है।

इस्लाम धर्म की किताब में भी लिखा है:—

एसाली मुजरक बजात मुतसर्र फबी इल्लात ।

अर्थात्-जीव दर्याफ्त करने वाला है, अपने आपसे कब्जा रखने वाला है साथ औजार के ।

इसलिए जो जीव इस संसार में सुख-दुःख भोगता है, सो अपने संचित कर्मों के अनुसार ही जानना । औरों का तो कहना ही क्या है, किन्तु ब्रह्मा विष्णु, महादेव, सूर्य, चन्द्र, राजा आदि सभी कर्माधीन होकर सुख-दुःख भोगते हैं । भर्तृहरि ने कहा है:—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने चिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥

अर्थात्— जिनको लोग कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानते हैं, वे स्वयं कर्माधीन होकर दुःख के भागी बने । जैसे ब्रह्माजी को मनुष्यों के शरीर रूप बरतन बनाने का प्रयास करना पड़ा । विष्णु को दस अवतार धारण करने का महान् संकट सहना पड़ा । शिवजी को मनुष्य की खोपड़ी हाथ में लेकर भीख माँगने के लिए भटकना पड़ा । सूर्य को प्रतिदिन भ्रमण करने का कष्ट उठाना पड़ता है । जिसने ब्रह्मा आदि की ऐसी गति बनाई, उस कर्म को ही नमस्कार है ।

प्रश्न—जब जीव शुभ कर्म करके सुखी होने में समर्थ है तो फिर अशुभ कर्म करके दुःखी क्यों होता है ? दुःख तो किसी को भी प्रिय नहीं है ?

उत्तर—अज्ञान से तथा मोह के उदय की प्रबलता से । वकील, बैरिस्टर आदि बुद्धिमान् लोग जानते हैं कि मदिरापान करने से मूर्ख बनना पड़ता है, फिर भी वे मदिरापान करते हैं और पागल बनते हैं । न्यायाधीश मदिरा पीने वाले को सजा देता है और वह स्वयं ब्रांडी की बोतल गटक जाता है । इसी से समझा जा सकता है कि मोह की गति बड़ी प्रबल होती

अनादि अनन्त मानते हैं। आपके सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ के गोल नामक अध्याय में भास्कराचार्य ने लिखा है कि चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, गुरु शनि और नक्षत्रों के वर्तुल मार्ग से घिरा हुआ और अन्य के आधार बिना पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशमय यह भूपिण्ड गोलाकार हो अपनी शक्ति से ही आकाश में निरन्तर रहता है। इसके पृष्ठ पर दानव, मानव, देव तथा दैत्य सहित विश्व चारों ओर है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जीव को सुखी, दुखी करने वाला कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि जीव पुण्यकर्म का उपार्जन करके उसका फल भोगते समय सुखी होता है और पापकर्म का उपार्जन करके उसका फल भोगते समय दुःखी होता है। ऐसा ही कहा भी है:—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
पुराकृतं कर्म तदेव भुज्यते,
शरीरकार्यं खलु यत् त्वया कृतम् ॥

अर्थात्—इस संसार में जीवों को सुख और दुःख देने वाला कोई भी नहीं है। सब जीव अपने-अपने कर्मानुसार ही सुख-दुःख रूप फल भोगते हैं। श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अध्याय २४ में कहा है:—

कर्मणा जायते जन्तुः, कर्मणैव विपद्यते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं, कर्मणैवाभिपद्यते ॥

अर्थात् कर्म से ही जीव पैदा होता है और कर्म से ही मरता है। सुख, दुःख, भय, क्षेम यह सब कर्म से ही होते हैं। भगवद्गीता, अध्याय ५ में कहा है:—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥

अर्थात्-प्रभु न किसी के कर्तृत्व को उत्पन्न करता है, न किसी के कर्म को सरजता है और न किसी के कर्म का फल देता है। यह सब काम स्वभाव से ही होता है।

इस्लाम धर्म की किताब में भी लिखा है:—

एसाली मुअरक बजात मुतसर्र फबी इल्लात ।

अर्थात्-जीव दर्याफ्त करने वाला है, अपने आपसे कब्जा रखने वाला है साथ औजार के ।

इसलिए जो जीव इस संसार में सुख-दुःख भोगता है, सो अपने संचित कर्मों के अनुसार ही जानना । औरों का तो कहना ही क्या है, किन्तु ब्रह्मा विष्णु, महादेव, सूर्य, चन्द्र, राजा आदि सभी कर्माधीन होकर सुख-दुःख भोगते हैं । भर्तृहरि ने कहा है:—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥

अर्थात्— जिनको लोग कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानते हैं, वे स्वयं कर्माधीन होकर दुःख के भागी बने । जैसे ब्रह्माजी को मनुष्यों के शरीर रूप बरतन बनाने का प्रयास करना पड़ा । विष्णु को दस अवतार धारण करने का महान् संकट सहना पड़ा । शिवजी को मनुष्य की खोपड़ी हाथ में लेकर भीख माँगने के लिए भटकना पड़ा । सूर्य को प्रतिदिन भ्रमण करने का कष्ट उठाना पड़ता है । जिसने ब्रह्मा आदि की ऐसी गति बनाई, उस कर्म को ही नमस्कार है !

प्रश्न—जब जीव शुभ कर्म करके सुखी होने में समर्थ है तो फिर अशुभ कर्म करके दुःखी क्यों होता है ? दुःख तो किसी को भी प्रिय नहीं है ?

उत्तर—अज्ञान से तथा मोह के उदय की प्रबलता से । वकील, बैरिस्टर आदि बुद्धिमान् लोग जानते हैं कि मदिरापान करने से मूर्ख बनना पड़ता है, फिर भी वे मदिरापान करते हैं और पागल बनते हैं । न्यायाधीश मदिरा पीने वाले को सजा देता है और वह स्वयं ब्रांडी की बोतल गटक जाता है । इसी से समझा जा सकता है कि मोह की गति बड़ी प्रबल होती

है। इसी प्रकार अनेक जीव सुख के लिए दुःखप्रद कर्म करते हैं; किन्तु उसका परिणाम दुःख रूप ही होता है। इसके विरुद्ध सुज्ञानी जीव मोह की मन्दता के कारण दुःखप्रद कर्म का त्याग करते हैं और सुखी होते हैं।

कितनेक नास्तिक मत वाले कहते हैं—तुम कृत कर्मानुसार ही सुख-दुःख का प्राप्त होना कहते हो, किन्तु उन कर्मों का हमें भान क्यों नहीं होता है? जैसे बाल्यावस्था में किये हुऐ कामों का हमें स्मरण होता है, वैसे ही पिछले जन्म के कृत कर्मों का स्मरण क्यों नहीं होता है?

ऐसे लोगों से पूछना चाहिए कि जब तुम गर्भाशय में थे तब तुम्हारी क्या दशा थी, इस बात का तुम्हें क्या स्मरण है? वे उत्तर में 'नहीं' कहेंगे। इसी प्रकार निद्रित अवस्था में जागृत अवस्था का भान नहीं रहता और जैसा स्वप्न आता है वैसा ही बन जाते हैं। इस प्रकार भाइयो! अपन क्षणान्तर में किये कर्मों का ही भान भूल जाते हैं, तो फिर परभव की बात का तो कहना ही क्या है? वास्तव में अज्ञान की प्रबलता बड़ी जबर्दस्त होती है। इसलिए उक्त प्रकार के, दूसरों के कुहेतुओं और कुतर्कों में कदापि नहीं फँसना। सत्य कथन को स्वीकार करना और परभव है, ऐसा सत्य मानना। इस विषय में लेश मात्र भी संदेह नहीं करना।

सात निह्नव



प्रचीन काल में, जिनप्रणीत शास्त्रों से विपरीत प्ररूपणा करने वाले सात निह्नव हुए हैं। यथा—(१) चौबीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी के शिष्य जमालि, अपने ५०० शिष्यों के साथ विहार कर रहे थे। एक दिन ज्वर से पीड़ित होकर शिष्यों से बोले—मेरे लिए बिछौना बिछा दो।' शिष्य बिछौना बिछाने लगे। तब फिर उन्होंने पूछा—'क्या बिछौना बिछाया?' शिष्य ने कहा—'हाँ, बिछाया।' जमालि ने आकर देखा, पूरा बिछौना बिछाया नहीं है। क्रोध में आकर उन्होंने कहा—तुम झूठ क्यों बोलते हो? शिष्य बोला—भगवान् महावीर का कथन है—'कडमाणे कडे।' अर्थात् जो

काम किया जा रहा है, उसे किया हुआ ही कहा जाता है। तब जमालि ज्वर की तेजी में बोले—महावीर स्वामी का यह कथन मिथ्या है। काम पूरा होने पर ही उसे हुआ कहना चाहिए। इस प्रकार अपेक्षावाद को भुलाकर, एकान्तवाद का आश्रय लेकर भगवान् को झूठा कहने से उन्होंने मिथ्यात्व उपार्जन कर लिया। इस प्रकार जमालि पहले निह्नव हुए।

(२) तिष्यगुप्त—श्रीवसु आचार्य के शिष्य तिष्यगुप्त एक दिन आत्मप्रवाद पूर्व का स्वाध्याय कर रहे थे। उस में ऐसा प्रकरण आया कि—भगवन्! आत्मा के एक प्रदेश को जीव कहना चाहिए? भगवान् ने कहा—नहीं। इसी प्रकार दो, तीन, यावत् संख्यात प्रदेशों तक प्रश्न किया, तब भी भगवान् ने कहा—नहीं। अन्त में प्रश्न किया गया-भगवन्! असंख्यात प्रदेशों में एक प्रदेश कम हो तो उन्हें जीव कहना चाहिए? भगवान् ने कहा—नहीं। आत्मा में जितने प्रदेश हैं उन सभी को जीव कहना चाहिए। इन प्रश्नोत्तरों से तिष्यगुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला कि आत्मा का अन्तिम प्रदेश ही जीव है। इस प्रकार वे आत्मा को एक प्रदेशी मानने और कहने लगे। गुरुजी ने बहुत समझाया, पर वे नहीं समझे। अन्त में गुरुजी ने उन्हें गच्छ से बाहर निकाल दिया।

एक बार तिष्यगुप्त अमलकंपा नगरी में सुमित्र श्रावक के घर भिक्षा के लिए गये। श्रावक बड़ा विवेकवान्, बुद्धिमान् और जिनधर्म का ज्ञाता था। उसने एक दाना दाल का और एक दाना चावल का बहराया—भिक्षा में दिया। तब तिष्यगुप्त बोला क्या भाई हँसी करते हो?

श्रावक ने कहा—नहीं महाराज! मैं आपकी श्रद्धा के अनुसार ही आपको भिक्षा दे रहा हूँ।

तिष्यगुप्त—सो कैसे?

श्रावक—एक आत्मप्रदेश की अवगाहना तो अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है और दाल तथा चावल के एक दाने की अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग की है। इतना आहार तो आपकी आत्मा से असंख्यात गुण अधिक है।

श्रावक की युक्ति काम कर गई। तिष्यगुप्त की श्रद्धा शुद्ध हो गई। उन्होंने सुमित्र श्रावक का उपकार माना। तब सुमित्र ने कहा—महाराज! आपको मेरा वारंवार नमस्कार है। मुझ जैसे अल्पज्ञ श्रावक से आपने सीधी बात ग्रहण की, इसके लिए आप धन्यवाद के पात्र हैं।

(३) आषाढ़ाचार्य—आषाढ़ाचार्यजी अल्पज्ञ शिष्यों को छोड़कर, आयु पूर्ण करके देवता हुए और फिर अपने मृतक शरीर में प्रवेश करके उन्होंने अपने शिष्यों को पढ़ाया। फिर शरीर त्याग कर स्वर्ग में जाते समय सारा भेद खोल दिया। इससे शिष्य शंकाशील हो गये। वे सोचने लगे-अरे! इतने दिनों तक हम लोग अव्रती देव को नमस्कार आदि करते रहे? कदाचित् अन्य साधुओं के शरीर में भी देवताओं का वास हो? उन्होंने यह सोचकर दूसरे साधुओं के साथ वंदना आदि का व्यवहार करना त्याग दिया। यह तीसरे निह्नव हुए।

(४) रोहगुप्त—श्रीगुप्ताचार्य के शिष्य रोहगुप्त ने किसी प्रतिवादी के साथ वाद-विवाद किया। उस प्रतिवादी ने वादविवाद में जीवराशि और अजीवराशि इस प्रकार दो राशियों की स्थापना की। उस समय रोहगुप्त ने सूत के धागों पर बट चढ़ाकर उसके सामने रख दिया और पूछा—बोलो, यह कौन-सी राशि है? अगर इसे जीव कहते हो तो ठीक नहीं, क्योंकि यह धागा है। और यदि अजीव कहते हो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि यह बिना हिलाये ही हिलता है। यह सुनकर प्रतिवादी चुप रहा। तब रोहगुप्त ने 'जीवाजीव' की तीसरी राशि स्थापित की और प्रतिवादी को पराजित किया। उसके बाद वे अपने गुरुजी के पास लौट कर आये और वादविवाद का सब वृत्तान्त सुनाने लगे। तब गुरुजी ने कहा-तुमने जिनधर्म के विरुद्ध तीन राशियों की स्थापना की है। इसके लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' दो अर्थात् प्रायश्चित्त कर लो। मगर रोहगुप्त ने अभिमान के मारे अपना हठ नहीं छोड़ा। तब गुरुजी ने उसे अपने गच्छ से पृथक् कर दिया। यह चौथा निह्नव हुआ।

(५) धनगुप्त आचार्य के शिष्य को एक बार नदी पार करनी पड़ी। पार करते समय पैरों में पानी की शीतलता का अनुभव हुआ और मस्तक

पर सूर्य की तेज किरणों के कारण उष्णता का अनुभव हुआ। तब उन्होंने एक समय में दो क्रियाएँ वेदन करने की स्थापना की। उन्होंने समय की सूक्ष्मता का विचार नहीं किया। भगवान् ने फरमाया है—'जुगवं दो णत्थि उवओगा।' अर्थात् एक साथ दो उपयोग नहीं होते हैं। भगवान् के इस वचन का उत्थापन करने के कारण यह पाँचवें निह्नव हुए।

(६) गोष्ठामाहिल—श्रीभगवान् ने जीव और कर्म का संबंध दूध में घी, तिल में तेल, पुष्प में सुगंध के समान कहा है; जब कि इन साधु ने सांप के चुली के समान संबंध की स्थापना की और भगवान् के वचनों की उत्थापना की। यह छठे निह्नव हुए।

(७) अश्वमित्र—इन साधु ने नरक आदि गतियों के जीवों की विपर्याय क्षण-क्षण में परावृत्त होती है, ऐसी स्थापना की। इनकी श्रद्धा बौद्धों के क्षणिकवाद जैसी होने से यह सातवें निह्नव हुए।

इन सात के सिवाय कोई-कोई आठ और कोई नौ निह्नव कहते हैं। इस प्रकार भूतकाल में हुए निह्नवों का वर्णन पढ़ कर, उस पर विचार करने से विदित होगा कि, जो महात्मा नौवें ग्रैवेयक तक पहुँच सकने योग्य जबर्दस्त क्रिया करने में समर्थ थे, वे श्रीप्रभु के केवल एक वचन का अन्यथा प्ररूपण करने मात्र से निह्नव कहलाए। तो आजकल के तुच्छ क्रिया करने वाले और ढोंग करने वाले जो साधु शास्त्रों के पाठ को उत्थाप देते हैं और शास्त्रों का उलटा अर्थ करके उपदेश देते हैं, जो उत्तम शास्त्र को शस्त्र रूप बना देते हैं, अनन्त भवों से उद्धार करने वाले परम पवित्र वचनों का ऐसा प्ररूपण करते हैं कि जिससे अनन्त भवभ्रमण बढ़ जाय, और जो किसी शास्त्रज्ञ तथा श्रद्धाशील के द्वारा वास्तविक अर्थ समझाने पर उसका तिरस्कार करने पर उतारू हो जाते हैं, ऐसे लोगों की क्या गति होगी? अतएव इस कथन पर विचार करके, आत्मा के हितेच्छु बन कर मुमुक्षुओं को सन्मार्ग की आराधना करना चाहिए।

इस पंचम काल में परम पवित्र स्याद्वादमय जैनधर्म में मतमतान्तरों की भिन्नता के कारण जो विपरीत प्ररूपणा हो रही है, उसे देखकर अत्यन्त

खेद और आश्चर्य होता है! (१) एक 'चेइय' या 'चैत्य' शब्द को ही ले लीजिए। इस शब्द ने जैनसंघ में कितना झगड़ा फैला रक्खा है? कोई कहते हैं कि चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान है और कोई कहते हैं कि इसका अर्थ प्रतिमा है। ठाणांगसूत्र में कहा है कि-'एएसिं णं चउवीसाए तित्थयराणं चउवीसं चेइयरुक्खा पण्णत्ता। अर्थात् तीर्थङ्करों के ज्ञान उत्पन्न होने के चौबीस वृक्ष कहे हैं। इस सूत्रपाठ से स्पष्ट है कि यहाँ पर 'चेइय' शब्द का अर्थ ज्ञान ही हो सकता है। किन्तु जो लोग 'चेइय' शब्द का अर्थ ज्ञान ही करते हैं वे 'गुणसीले नाम चेइए' का क्या गुणशील ज्ञान अर्थ करेंगे? यह तो बगीचे का नाम है, यहाँ पर ज्ञान अर्थ घट नहीं सकता। इत्यादि विचार करके, निरपेक्ष भाव से, जहाँ जो अर्थ उपयुक्त हो वहाँ वही अर्थ करना चाहिए।

(२) कोई कहते हैं कि दया में धर्म है तो कितनेक कहते हैं कि आज्ञा में धर्म है। अब विचार करना चाहिए कि क्या भगवान् की आज्ञा में और दया में अन्तर है? क्या भगवान् कभी हिंसा करने की आज्ञा देते हैं? क्या भगवान् ने जीवरक्षा में कहीं अधर्म कहा है? भगवान् ने तो स्वयं मरते गोशालक को बचाया था तो वे मरते प्राणी को बचाने में अधर्म कैसे कहते? इस प्रकार विचार कर निरर्थक पक्षपात में पड़ कर झगड़ा क्यों करना चाहिए?

(३) कितनेक लोग ऋषभदेव भगवान् के समय में बनी हुई वस्तु को महावीर स्वामी के समय तक रही बतलाते हैं और भगवतीसूत्र के आठवें शतक के नौवें उद्देशक में कृत्रिम वस्तु की स्थिति संख्यातकाल की ही कही है। श्रीऋषभदेव को हुए तो कुछ कम एक कोड़ाकोड़ी सागर काल हो चुका है। तो इतने समय तक कृत्रिम वस्तु कैसे रह सकती है?*

(४) भगवतीसूत्र के छठे शतक के सातवें उद्देशक में वैताढ्य पर्वत, गंगानदी, सिन्धु नदी, ऋषभकूट और समुद्र की खाड़ी, भरतक्षेत्र में इन पाँच

---

* कृत्रिम वस्तु का असंख्यात काल तक रहना सिद्ध करने के लिए कोई यह उदाहरण देते हैं कि—ऋषभकूट पर भूतकाल में हुए चक्रवर्त्ती का नाम मिटा कर वर्त्तमान काल के चक्रवर्त्ती अपना नाम लिखते हैं; किन्तु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति शास्त्र में नाम मिटाने का उल्लेख ही नहीं है।

वस्तुओं को नित्य (शाश्वती) कहा है, किन्तु कितनेक शत्रुञ्जय पर्वत को भी शाश्वत कहते हैं, और फिर कहते हैं कि ऋषभदेवजी के समय में यह पर्वत बहुत बड़ा था। क्रमशः घटते-घटते छठे आरे में बहुत छोटा रह जायगा। तो क्या शाश्वती वस्तु भी बढ़ती-घटती है ?+

+ श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर से प्रकाशित होने वाले 'आत्मानन्दप्रकाश' मासिक के पुस्तक १५, अङ्क १० में लिखा है—"धर्मघोष सूरिए पोताना 'प्राकृतकल्प' माँ सम्प्रति, विक्रम अने शालिवाहन राजाने आ (शत्रुञ्जय) गिरिवरना उद्धारक बताव्या छे, पण तेनी बधारे सत्यता माटे हजी सुधी कोई विश्वसनीय प्रमाण मली शक्युं नथी। 'वाहड़ मन्त्रीनो उद्धार' वर्त्तमानमां जे मुख्य मन्दिर छे ते विश्वस्त प्रमाणथी जणाय छे के गुर्जर महामात्य वाहड (वाग्भट्ट) मंत्री द्वारा उद्धृत थयेल छे। विक्रमनी तेरमी सदीना प्रारंभमां जे वखते महाराजा कुमारपाल राज्य करता हता, ते वखते तेना उक्त प्रधाने पोताना पिता उदयन मन्त्रीनी इच्छानुसार ते मन्दिर बनाव्युं छे। प्रबन्धचिन्तामणिना कर्त्ता मेरुतुङ्गसूरि आ उद्धारना सम्बन्धमां जणावे छे के—काठियावाड़ना कोई सुवर नामना मांडलिक शत्रु ने जीतवा माटे महाराज कुमारपाले पोताना मन्त्री उदयनने मोटी सेना आपीने मोकल्यो, बढवाण शहेरनी पासे मन्त्री पहोंच्यो ते वखते शत्रुञ्जय नजीक रह्यो जाणी सैन्य ने आगल काठियावाडमां रवाना करयुं, पोते गिरिराजनी यात्रा करवा माटे शत्रुञ्जय तरफ रवाना थयो। जलदी थी शत्रुञ्जय पर पहोंची त्यां भगवत्प्रतिमानां दर्शन, वन्दन अने पूजन कर्युं। ते वखते ते मन्दिर पत्थरनुं नहि परन्तु, लाकडानुं हतुं, मन्दिरनी स्थिति बहु जीर्ण हती अने अनेक ठेकाणे फाटफूट पडी गई हती। मन्त्री पूजन करी प्रभुप्रार्थना करवा माटे रंगमंडपमां बैठा अने एकाग्रता तथा स्तवन करवा लाग्या, ते वखते मन्दिरनी कोई फाटमाथी एक उंदर निकल्यो, ते एक दीवानी बत्ती मोंमां लईने पाछो क्यांक चाल्यो गयो। आ प्रसंग देखीने मंत्रीए दिलगीरी साथे विचार कर्यो के मंदिर काष्ठमय अने जीर्ण होवाथी आवी राते बत्तीथी कोई वखते अग्नि लागी जाय तो तीर्थनी घोर आशातना थवानो भय छे। मारी आटली सम्पत्ति तथा प्रभुता शुं कामनी छे ? आम दिलगीर थईने ते मंत्रीए प्रतिज्ञा करी के आ युद्ध पूर्ण थया बाद आ मंदिरनो जीर्णोद्धार करीश। काष्ठने स्थाने पत्थरना मजबूत मंदिर बंधावीश विगेरे। तदनन्तर ए मंत्री तो संग्राममां काम आवी गया पण पितानी आज्ञानुसार वाहड अने अम्बड नामना एमना बन्ने पुत्रोए सं० १२११ मां एक क्रोड साठ लाख रुपीआ खर्च करी अनेक मंदिरो बनाव्यां।

इस कथन से पाठक खयाल कर लें कि शत्रुंजय पर्वत पर मंदिर कब बने हैं। शत्रुञ्जय के उद्धारकों के जो नाम बतलाये गये हैं, उनका भी प्रमाणभूत वृत्तान्त उन्हें नहीं मिल सका है। तो फिर दूसरे वृत्तान्तों की सत्यता कैसे स्वीकार की जाय ? शत्रुंजय के छोटे-बड़े होने में गंगा-सिन्धु नदियों का दृष्टान्त दिया जाता है, वह वास्तविक नहीं। क्योंकि नदियों का विस्तार कम-ज्यादा होता नहीं, सिर्फ पानी कम होता है।

(५) श्रीपन्नवणासूत्र में मनुष्य के शरीर से अलग हुई अशुचि के १४ स्थानों में सम्मूर्छिम जीवों की उत्पत्ति कही है; किन्तु कितनेक थूँक में तथा स्वेद (पसीने) में भी उन जीवों की उत्पत्ति कहते हैं। तो यह १५ वाँ और १६ वाँ स्थान शास्त्र-मार्ग विरुद्ध कहाँ से लाये ?

(६) भगवतीसूत्र के १६ वें शतक के द्वितीय उद्देशक में कहा है—हे गौतम ! शक्रेन्द्र उघाड़े मुँह बोले तो सावद्य भाषा और मुख पर वस्त्रादि रखकर बोले तो निरवद्य भाषा होती है। तो जो मुनि मुख पर मुखवस्त्रिका बांधे बिना बोलते हैं, उनके द्वारा कितनी ही बार उघाड़े मुख बोला जाता है, यह विचारणीय है। जो मुँह पर मुखपत्ति बाँधने का निषेध करते हैं, उन्हीं के माननीय ग्रन्थों में मुख पर मुखपत्ती बाँधने का विधान किया गया है। देखिए, ओघनिर्युक्ति की १०६३ और १०६४ की चूर्णि में लिखा है कि—एक विलस्त और चार अंगुल की मुँहपत्ति में मुख के प्रमाण के बराबर डोरा डाल कर मुख पर मुहपत्ति बाँधनी चाहिए। (२) दूसरा प्रवचनसारोद्धार की ५२१ वीं गाथा में कहा है—मुख पर मुँहपत्ति आच्छादन करके बाँधनी चाहिए। (३) महानिशीथसूत्र में कहा है कि मुखवस्त्रिका के बिना प्रतिक्रमण करे, वाचना ले अथवा दे, वंदना, स्वाध्याय आदि करे तो पुरिमड्ढ का प्रायश्चित्त आता है। (४) योगशास्त्र वृत्ति पृ. २६१ में लिखा है कि हवा में उड़ने वाले जीवों तथा वायु काय के जीवों की उष्ण श्वास से होने वाली विराधना से बचने के लिए मुँहपति धारण की जाती है। (५) आचारदिनकर आदि ग्रंथों में मुँहपत्ति बाँधने के अनेक प्रमाण मिलते हैं।❀ (६) श्रीहेमचन्द्राचार्य की रचना के अनुसार उदयरत्न जी का सं० १७६२ में

❀ The Religions of world by John murdork L. L. D., 1902 Page 128:—

The yati has to lead a life of Continenc, He should wear a thin cloth over his mouth to prevent insects from flying into it.

अर्थात्—जॉन मर्डक एल-एल. डी. नामक पाश्चात्य विद्वान् ने ई० स० १९०२ में 'दुनिया के मत' नामक पुस्तक बनाई है। उसके पृ० १२८ पर छपा है—ब्रह्मचर्य का पालन करना और सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए मुख पर वस्त्र धारण करना यति का धर्म है।

रचा हुआ भुवनभानु केवली का रास है। उसकी ढाल ८६ में इस प्रकार उल्लेख मिलता है:—

मुँहपत्ती मुख बांधी रे, तुम वेसो छो जेम।
गुरुजी मुखढूचा देइने रे, बीजा थी वेसाए केम॥
मुख बांधी मुनिनी परे रे, पर दोष न वदे काही।
साधु बिना संसार में रे, क्यारे को दीठा क्यां ही॥

ऐसा ही खुलासावार लेख हितशिक्षा के रास में तथा हरिबलमच्छी के रास में है। भीमसी माणेक के द्वारा प्रकाशित 'जैन कथारत्न कोष' के ७ वें भाग के ४०५ वें पृष्ठ की १६वीं पंक्ति में छपा है-'उपाश्रयमां रहता साधु मांहिला केटलाएक साधुओ तो मुंहपत्ती बांध्या विनाज बोल्या करे छे।'

एकवीसांगुलायामा, सोलसंगुलविच्छिन्ना
चउक्कारसंजुया य, मुहपोत्तिय एरिसा होई॥

अर्थात् इक्कीस अंगुल लम्बी और सोलह अंगुल चौड़ी, आठ पट वाली मुख-वस्त्रिका होती है। तथा कहा है—

मुहंणंतगेण कणोट्टिया, विणा बंधइ जे कोवि सावाए।
धम्मकिरिया य करंती, तस्स इक्कारस सामायिइयस्स
सं पायच्छित्तं भवइ॥

अर्थात्—मुख पर मुखवस्त्रिका बांधे बिना जो धर्मक्रिया करता है, उसे ग्यारह सामायिक का प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार शास्त्रों में तथा ग्रंथों में स्पष्ट कथन होने पर भी उन ग्रंथों को ही मानने वाले मुख पर मुखवस्त्रिका बाँधे बिना धर्मक्रिया करते हैं। वे जिनेश्वर तथा गुरु की आज्ञा के आराधक किस प्रकार कहला सकते हैं?

दिगम्बर जैन आम्नाय के गोम्मटसारजी और सुदृष्टितरंगिणी में लिखा है कि ४८ पुरुष, ४० स्त्रियाँ और २० नपुंसक, यों १०८ जीव एक समय में मोक्ष जाते हैं और यही स्त्री को मोक्ष होने का निषेध करते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में केवलज्ञानी के ग्यारह परीषहों में क्षुधा परीषह ग्रहण किया है

फिर भी केवलज्ञानी को कवलाहार का निषेध करते हैं। अष्टपाहुड़ सूत्र के बोधपाहुड़ की ७वीं गाथा में सिद्ध समीचीन मुनि को सिद्धायतन कहा है। आठवीं गाथा में शुद्ध ज्ञान के धारक मुनि को चैत्य (मंदिर) कहा। त्रिरत्न के धारक मुनि को प्रतिमा कहा है। १३वीं गाथा में जंगम प्रतिमा मुनि की तथा स्थावर प्रतिमा सिद्ध की कही है। १६वीं गाथा में आचार्य को जिनबिम्ब कहा है और २८वीं गाथा से ४०वीं गाथा तक चार निक्षेप तीर्थंकर का स्वरूप कहा है। इसके मानने वाले ही इसके विपरीत प्रवृत्ति करते हैं। भगवती आराधना शास्त्र की ७६वीं गाथा में, अपवाद मार्ग से १६ हाथ वस्त्र मुनि को धारण करना कहा है। ११०वें पृष्ठ में तिल का, चांवल का धोवन पानी मुनि को ग्रहण करना कहा है, किन्तु यही वस्त्रधारी तथा धोवन-पानी लेने वाले साधु की निन्दा करते हैं।

ऐसे ही साधुमार्गी जैनियों में भी कितनेक स्थानक में रहने वाले साधु को पासत्थे बतलाते हैं तो कितनेक गृहस्थ के रहने के मकान में रहने वाले को जिनाज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले बतलाते हैं। किन्तु स्थानक नाम मकान का है। स्थानक के नाम में ही दोष आकर नहीं घुस गया है। किसी जगह का नाम चाहे स्थानक हो या और कुछ हो, साधु को तो शास्त्रोक्त निर्दोष मकान में रहना उचित है। इसी प्रकार कितनेक लोग अपने सम्प्रदाय के, पंथ के, साधु को छोड़कर अन्य को आहार आदि देने में वन्दना-नमस्कार करने में एकान्त पाप बतलाते हैं, मरते जीव को बचाने में एकान्त पाप बतलाते हैं। जिनके नाम से पूज्य बने हैं, उन्हीं भगवान् महावीर स्वामी को चूक गये बतलाते हैं। दया-दान धर्म की जड़ है, उसे साफ काट डालते हैं! तो औरों की तो बात ही क्या है?

इस प्रकार की विपरीत प्ररूपणा के कारण स्याद्वादशैली वाले इस जैनधर्म में भी, चलनी में छिद्रों के समान, अनेक मत-मतान्तर हो गये हैं। इन विभिन्न मतों के कारण लोगों को धर्म के संबंध में भ्रम होने लगता है। मत-पक्षी अपने-अपने गच्छ-सम्प्रदाय-पंथ की श्रद्धा को ही तीर्थंकर की श्रद्धा मानते हैं। हठाग्रही हो कर सत्यासत्य के निर्णय की परवाह न करते हुए, अपने-अपने मत की सचाई और अन्य मत की उत्थापना करने में ही आकु-

साध्वी अपने ज्ञान की और श्रावक-श्राविका अपने धन की सफलता समझते हैं; किन्तु उसका उपयोग मिथ्यात्व की पुष्टि में ही हो रहा है, जिसका उन्हें भान ही नहीं है। इस प्रकार सब जैन एक महावीर के मत के अनुयायी हो कर भी परस्पर एक दूसरे को मिथ्यात्वी ठहरा रहे हैं। यह स्थिति देखकर सखेद आश्चर्य होता है! मानो इस हुंडावसर्पिणी के पाँचवें काल ने जैनियों पर भी अपना साम्राज्य पूर्ण रूप से जमा लिया है। ऐसे विकट प्रसंग पर सम्यग्दृष्टियों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया हुआ समकित रूप रत्न सँभाल रखना कठिन हो रहा है। तथापि आत्मा के हित के इच्छुक सम्यग्दृष्टियों को चाहिए कि वे सब झगड़ों से अपनी आत्मा को अलग रखते हुए अपनी आत्मसाधना में ही निमग्न रहें।

१२—धर्म को अधर्म श्रद्धना-मिथ्यात्व



श्रीजिनेश्वरप्रणीत आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के चौथे अध्ययन के प्रथम उद्देशक में धर्म का स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

से बेमि—जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंतो भगवंतो, ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पएणवंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न अजवेयव्वा, न परिघातव्वा, न परितावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे णितिए, सासए, समेच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेतिते; तंजहा-उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा, उवरयदंडेसु वा, अणुवरयदंडेसु वा, सोवाहिए‍ः वा, अणोवाहिएसु वा संजोगएसु वा, असंजोगएसु वा तच्चं चेयं, तहा चेयं, अस्सिं चेयं पवुचइ।

श्रीसुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू! भूतकालीन तीर्थंकरों का वर्त्तमान कालीन तीर्थङ्करों का तथा भविष्यकाल में होने वाले तीर्थङ्करों का एक ही—समान ही—कथन है, सब का संशयरहित कथन है, सबने द्वादश प्रकार की परिषद् में प्ररूपण किया है, प्रकट रूप में उपदेश दिया है कि—किसी भी प्राणी (द्वीन्द्रिय आदि), भूत (वनस्पति), जीव (पंचेन्द्रिय) और सत्व (पृथ्वीकाय,

अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय), इन सब प्रकार के जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, इन पर आज्ञा नहीं चलानी चाहिए, इनका घात नहीं करना चाहिए, इन्हें परिताप नहीं पहुँचाना चाहिए, उपद्रव नहीं करना चाहिए, दुःख नहीं देना चाहिए अर्थात् सब जीवों की रक्षा करना चाहिए और दया पालना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, सनातन है, शाश्वत है; यह धर्म सब जीवों के खेदज्ञ (दुःख को जानने वाले) जिनेश्वरों ने फरमाया है। यह धर्म, धर्म के लिए उद्यत, अनुद्यत, मुनियों के लिए, गृहस्थों के लिए, विरक्तों के लिए, भोगियों के लिए, त्यागियों के लिए—सभी के लिए कहा है। यह धर्म यथातथ्य है-सत्य है और यह जिनप्रवचन में ही वर्णित है।

अहिंसाधर्म ऐसा परम हितकारी और सदा आचरणीय है। इसे मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से, कुगुरुओं के उपदेश से, भ्रम में पड़ कर अधर्म कहना, जीवों की रक्षा करने में, दया पालने में, मरते हुए जीवों को बचाने में अठारह पाप बतलाना, खोटे हेतु और दृष्टान्त देकर अन्तःकरण के प्रधान सद्गुण अनुकम्पा को कम करना मिथ्यात्व समझना चाहिए।

१३—अधर्म को धर्म मानना-मिथ्यात्व

पूर्वोक्त धर्म के लक्षण से जो विपरीत है, वह अधर्म है। उसे धर्म समझना मिथ्यात्व है। अर्थात् जिससे प्राणी, भूत, जीव और सत्व की हिंसा हो, ऐसे पूजा, यज्ञ, होम, आदि में धर्म मानना मिथ्यात्व है।

जहाँ योगों की प्रवृत्ति होती है वहाँ आश्रव अवश्य होता है और योगों की प्रवृत्ति के बिना धर्माराधन होना भी कठिन है। ऐसी स्थिति में अधर्म को मानने रूप मिथ्यात्व से आत्मा का बचाव किस प्रकार हो सकता है? यह बात विचारणीय है। किन्तु शुद्ध श्रद्धावान् पुरुष व्यापारियों की दृष्टि रखते हैं। जैसे वणिक् खर्च करने में प्रसन्न नहीं होता है, मगर खर्च किये बिना व्यापार भी नहीं होता है और व्यापार किये बिना कमाई होना संभव नहीं है। इस कारण कमाई करने के लिए खर्च करने की आवश्यकता होती है।

फिर भी चतुर व्यापारी यह ध्यान रखता है कि जितने कम खर्च में काम चलता हो, चलाना चाहिए। आखिर खर्च और आमदनी का हिसाब लगाने पर खर्च से लाभ जितना अधिक होता है, उतनी ही प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार धर्मात्मा, धर्मवृद्धि के काम करने में गमनक्रिया आदि आरंभ रूप जो खर्च होता है, उसकी खुशी नहीं मानते हैं—बल्कि उसमें पाप ही मानते हैं, किन्तु इस आरंभ के निमित्त से आत्मगुणों की वृद्धि, धर्मोन्नति, स्व-पर आत्मा का उपकार रूप जो लाभ होता है, उसमें धर्म मानते हैं। ऐसी शुद्ध श्रद्धा रखने से इस मिथ्यात्व से बचा जा सकता है।

१४—साधु को असाधु मानना-मिथ्यात्व



पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह, चारों कषायों की उपशान्ति, ज्ञान, ध्यान, त्याग, वैराग्य, आदि जो गुण शास्त्र में साधु के बतलाये हैं, उन गुणों से युक्त साधुओं को, मिथ्यात्व के उदय से, कुगुरुओं के भरमाने से, मतपक्ष में फँसकर मूढ़ बने हुए जीव असाधु मानते हैं। उन्हें भगवान् के चोर कहते हैं। ढीले-पासत्थे या मैले-कुचैले आदि अपशब्दों से उनका उपहास करते हैं; निन्दा करते हैं। गच्छ या पंथ या सम्प्रदाय का पक्ष धारण करके, अपने मत को ही सच्चा मानते हुए, अन्य की निन्दा करते हैं। उन्हें वन्दना-नमस्कार करने में तथा आहार-पानी देने में सम्यक्त्व का नाश समझते हैं। इस प्रकार बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, जपी, संयमी आदि अनेक गुणों से युक्त चारों तीर्थों के गुणों का आच्छादन करके मिथ्यात्व का उपार्जन कर लेते हैं। ऐसे लोगों को सोचना चाहिए कि भगवान् महावीर स्वामी के समय में भी १४००० साधुओं में से सभी समान गुणों के धारक नहीं थे। अगर ऐसे होते तो सभी केवल-ज्ञानी हो जाते। मगर केवली तो ७०० ही हुए हैं। फिर भी भगवान् ने साधु तो उन सभी को कहा है। कोई हीरा एक रुपये का होता है और कोई करोड़ का होता है; फिर भी दोनों हीरा कहलाते हैं। कम कीमती होने से हीरा काच नहीं हो जाता है। इसी प्रकार साधु भले ही कोई अधिक गुणों

का धारक हो और किसी में कम गुण पाये जाएँ, फिर भी वह साधु ही कहलाएगा। सब साधुओं के गुण एक समान नहीं हो सकते, इसी कारण भगवान् ने पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ और पाँच प्रकार के चारित्रवान् साधु कहे है। और उनका आचार पृथक्-पृथक् बतलाया है।

कितनेक लोग अपनी सम्प्रदाय या पंथ की एकता की प्रशंसा करते हैं और दूसरों के पंथ की अनेकता का प्रदर्शन करते हैं, और इस आधार पर अपनी तारीफ करते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि भगवान् महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों के नौ गच्छ थे, तो इस अनेकता के कारण क्या वे साधु नहीं थे? गच्छ पहले भी अलग-अलग थे और आज भी हैं, तभी तो छेद-शास्त्र में कहा है कि छह महीना से पहले गच्छ-सम्प्रदाय बदलने से प्रायश्चित्त आता है। इससे समझना चाहिए कि अनेक गच्छ तो अनादि काल से चले आते हैं। जो लोग एकता की तारीफ करते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि एकता क्या एकान्त रूप से सभी जगह अच्छी ही होती है? एकता तो चोरों में भी बहुत होती है। अगर वे एकता न रक्खें तो पकड़े जाएँ और दंड के भागी हों। इस प्रकार जो लोग अपने अनाचार को छिपाने के लिए एकता रखते हैं वे कदापि प्रशंसनीय नहीं होते।

इस कथन को ध्यान में रखकर जिनके मूल गुणों का भंग न हो, जो अपने गुरु की आज्ञा में चलते हों, जिनका व्यवहार शुद्ध हो, उन सब सुसाधुओं में समभाव धारण करके अपनी आत्मा को इस मिथ्यात्व से बचाना चाहिए।

१५—असाधु को साधु मानना-मिथ्यात्व

पूर्वोक्त साधु के गुणों से रहित, गृहस्थ के सदृश, या गुण बिना कोरे भेषधारक, दस प्रकार के यतिधर्म से रहित, पापों का स्वयं सेवन करने वाले, सेवन कराने वाले और पापों का सेवन करने वालों का अनुमोदन करने वाले, प्रमाण से अधिक तथा लाल-पीले आदि वस्त्र धारण करने वाले, धातु के

बने पदार्थ रखने वाले, षट्काय के जीवों के अरक्षक, महाक्रोधी, महामानी, दगाबाज, महा लालची, निन्दक व्यक्ति को साधु मानना मिथ्यात्व है।

कितनेक लोग मानते हैं कि हम तो वेष को वन्दना करते हैं। ऐसे भोले लोगों को विचारना चाहिए कि बहुरूपिया या नाटककार पात्र यदि साधु का वेष बनाकर आ जाय तो क्या वह वन्दना करने योग्य हो जायगा ? क्या उसे साधु कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। 'अपने तो गुण की पूजा, निगुने को पूजे वह पंथ ही दूजा' इस प्रकार का विवेक रखना चाहिए।

कितनेक लोग कहते हैं कि पंचम काल में शुद्धाचारी साधु हैं ही नहीं। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि स्वयं भगवान् ने फरमाया है कि पाँचवें आरे के अन्त तक अर्थात् २१००० वर्षों तक मेरा शासन चलेगा। श्रीभगवती-में यह स्पष्ट उल्लेख है। यह आशीर्वाद क्या कभी मिथ्या हो सकता है ? कदापि नहीं। फिर अभी तो अढ़ाई हजार वर्ष भी पूरे नहीं हुए हैं। इस समय भी बड़े-बड़े महात्मा, महात्यागी, महावैरागी साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस आर्यावर्त्त में विद्यमान हैं और पंचम आरे के अन्त तक चार जीव एकावतारी रहेंगे। अतः हीनाचारियों के चक्कर में न पड़ते हुए सच्चे साधुओं को ही साधु मानना चाहिए।

१६—जीव को अजीव श्रद्धना—मिथ्यात्व

●

पर्याप्ति, प्राण, योग उपयोग आदि जो लक्षण शास्त्र में जीव के बतलाये हैं, उनसे युक्त एकेन्द्रिय आदि जीवों को जीव न मानना मिथ्यात्व है।

कितनेक लोगों का कहना है कि सब पदार्थ मनुष्य के लिए ही उत्पन्न किये हैं। अगर यह कहना सत्य है तो सब वस्तुएँ स्वादिष्ट, आरोग्यप्रद, सुखप्रद और सुन्दर ही क्यों नहीं बनाईं ? मगर हम तो कड़ुक, कंटक, कठिन और जहरीली वस्तुएँ भी संसार में देखते हैं। ऐसी वस्तुएँ भगवान् ने क्यों बनाईं ? क्या ईश्वर किसी के साथ मित्रता और किसी साथ शत्रुता रखता है ? इसके अतिरिक्त जैसे अन्न और फल-फूल आदि तुम्हारे लिए उत्पन्न किये हैं, उसी प्रकार सिंह, व्याघ्र आदि के खाने लिए तुम्हें उत्पन्न

किया होगा ? जैसे तुम्हें फल फूल आदि प्रिय लगते हैं तैसे ही सिंह, व्याघ्र आदि को मनुष्य का मांस बहुत प्रिय लगता है । तुम भी मर कर एक दिन भस्मीभूत हो जाओगे तो क्या सिंह का भक्ष्य बनना पसंद करते हो ? जब सिंह आदि सामने आ जाता है तो बाप दादा को पुकार कर जान क्यों छिपाते हो ! सिंह तो खैर दूर रहा, खटमल का आहार तो मनुष्य का रक्त ही है, उसके काटने से मनुष्य की जान तो जाती नहीं है, तथापि उसे तुरंत मार डालते हो ! बन्धु ! जैसे तुम्हें अपनी जान प्यारी है, तैसे ही उनकी जान उन्हें प्यारी है । फल और अन्न सजीव पदार्थ हैं । अपने-अपने कर्म के अनुसार योनि को प्राप्त हुए हैं । मनुष्य उनका भोग करता है और कदाचित् ऐसा किये विना गृहस्थ का काम नहीं चल सकता । फिर भी जीव को तो जीव ही मानना चाहिए और उनके उपभोग के पाप को पाप मानना चाहिए । ऐसा मानने से इस मिथ्यात्व से बचाव हो जाता है ।

(१७) अजीव को जीव श्रद्धना—मिथ्यात्व

●

सूखे काष्ठ की, निर्जीव पाषाण की अथवा पीतल आदि धातुओं की जीव की आकृति (मूर्ति) बनाना और उसे साक्षात् तद्रूप मानना भी मिथ्यात्व है । क्योंकि जिसकी मूर्ति बनाई गई है, प्रथम तो उसे किसी ने देखा नहीं है । और यदि देखा भी हो या शास्त्र के आधार पर मूर्ति बनाई गई हो तो भी मूर्ति साक्षात् वही—जिसकी मूर्ति बनाई है—कैसे हो सकती है ? मूर्ति में असली व्यक्ति के समस्त गुण नहीं हो सकते । तीर्थंकरों के १००८ उत्तम लक्षण और चौंतीस अतिशय थे । उनकी मूर्ति में इन लक्षणों अथवा अतिशयों का पता नहीं लगता । तीर्थंकरों के आसपास १००-१०० कोसों तक किसी प्रकार का रोग आदि उपद्रव नहीं होता था, मगर मूर्ति को तो यवनों ने भंग किया, फिर भी कुछ नहीं हुआ । रामचन्द्रजी और कृष्णजी का तो नाम सुनते ही बड़े-बड़े दैत्यों की हिम्मत पस्त हो जाती थी मगर उनकी मूर्ति पर से चोर आभूषण उतार कर ले जाते हैं । इससे तथा सहज विवेक से यह स्पष्ट है कि उनकी मूर्ति को वही नहीं माना जा सकता । अतएव मूर्ति

को मूर्ति मानने में तो कोई हानि नहीं, मगर भगवान् मानना मिथ्यात्व है।

इसी प्रकार यह जगत् तो जड़ और चेतन-दो तत्त्वों से युक्त है, परन्तु कई लोग जगत् के समस्त पदार्थों को चेतनमय या ब्रह्मस्वरूप ही स्वीकार करते हैं। उनके मत से जड़ अर्थात् अजीव भी जीव बन जाता है। इस प्रकार की श्रद्धा भी मिथ्यात्व ही है

(१८) सन्मार्ग को उन्मार्ग श्रद्धना—मिथ्यात्व



ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, दान, शील सन्तोष सरलता, दया, सत्य आदि जो मुक्ति के मार्ग हैं, उन्हें कर्मबंध का, संसार में परिभ्रमण का मार्ग कहना मिथ्यात्व है। दया और दान को डूबने का खाता बताना मिथ्यात्व है।

कितनेक लोग कहते हैं कि जीव को मारने से एक हिंसा का पाप लगता है, मगर मरते हुए जीव को बचाने में अठारह पाप लगते हैं। क्योंकि मरता हुआ जीव यदि बच कर जीवित रह जायगा तो वह जितने पाप अपने जीवन में करेगा, उन समस्त पापों का भाजन बचाने वाला होगा। इस प्रकार की कुयुक्तियाँ लगाकर वे लोग भोले जीवों के हृदय में से दया निकालकर उन्हें कसाई के समान निर्दय बना देते हैं। फिर उनके सामने कोई जीव आग में पड़ कर जलता हो, पानी में डूब कर मरता हो तो वह बैठे-बैठे देखा करते हैं, किन्तु उसे बचाने का प्रयत्न नहीं करते हैं और यदि कोई बचाता हो तो उसे वह उलटा पापी बतलाते हैं। अफसोस! ऐसा निर्दय मत भी जैनधर्म में चला है! शास्त्रों में जीवरक्षा और दान के अनेक प्रमाण मौजूद हैं। उनमें से कुछ लीजिए:—

(१) श्रीऋषभदेव भगवान् ने कल्पवृक्षों के नष्ट होने से जीवों को दुखी देखकर, उनकी रक्षा के लिए तीन प्रकार के कर्मों का—असि, मसि और कृषि का प्रचार किया।

(२) शान्तिनाथ भगवान् जब अपनी माता के गर्भ में थे तब उनके पुण्य-प्रभाव से देश में फैला हुआ महामारी का रोग मिट गया और सर्वत्र शान्ति

का प्रसार हो गया। उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्ययन में जिसकी प्रशंसा की गई है—'संती संतिकरे लोए' अर्थात् शान्तिनाथ भगवान् लोक में शान्ति करने वाले हैं।

(३) बाईसवें तीर्थङ्कर श्रीअरिष्टनेमि ने बाड़े में बंद किये हुए जीवों को छुड़ाने वाले सारथी को इनाम दिया, जिसका उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन में है—साणुक्कोसे जिए हिऊ।' अर्थात् अनुकम्पा करके जीवों का हित किया।

(४) तेईसवें तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ ने लक्कड़ में जलते नाग-नागनी को बचाया जिसका उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है।

(५) श्रीमहावीर स्वामी ने साधु-अवस्था में गोशालक को तेजोलेश्या से जलते बचाया।

(६) तीर्थङ्कर भगवान् जहाँ विचरते हैं, वहाँ चारों ओर सौ-सौ कोस पर्यन्त रोग, दुष्काल तथा मनुष्यकृत उपसर्ग नहीं होता और यदि पहले से उपसर्ग हो रहा हो तो मिट जाता है। समवायांगसूत्र में इसे तीर्थंकर का अतिशय बतलाया है।

इस प्रकार स्वयं तीर्थङ्करों ने जीवों की रक्षा की तो क्या उनको भी अठारह पाप लगे होंगे? किन्तु जिस प्रकार ये लोग भगवान् महावीर के अनुयायी बनते हुए भी भगवान् महावीर को ही चूका बतलाते हैं, उसी प्रकार इन दूसरे तीर्थङ्करों पर भी दोषारोपण करने में क्यों संकोच करेंगे? इसलिए इनसे पूछना चाहिए कि—अगर कोई जीव नरक में जाता तो वहाँ उसे पाप करने का विशेष प्रसंग प्राप्त नहीं होता। उसे आपने उपदेश देकर साधु या श्रावक बना लिया। वह आपसे प्राप्त किये हुए धर्म के प्रभाव से देव होकर देवांगनाओं के साथ भोग-विलास करेगा और दूसरे भी अनेक पाप करेगा। तो आपकी श्रद्धा के अनुसार उसके [illegible] का पाप आपको लगना चाहिए। क्या वे कहते हैं— [illegible] करेगा वही भोगेगा। इस प्रकार दूसरों में पाप [illegible] के लिए [illegible] कहते हैं और [illegible] नहीं

समझना तो कुछ और ही कहने लगते हैं। समझना चाहिए कि—किसी दयालु पुरुष ने मरते जीव को उपदेश द्वारा या द्रव्य आदि की सहायता द्वारा बचाया तो उसको अभयदान दिया। अभयदान का श्रेष्ठ फल उसे मिलेगा। शास्त्र में कहा है—'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' अर्थात् सब दानों में अभयदान ही श्रेष्ठ है। सूयगडांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन में यह उल्लेख पाया जाता है। बचा हुआ जीव आगे जो पाप करेगा उसका फल करने वाला स्वयं भोगेगा।

इस पन्थ के लोग अपने पंथ के साधुओं के सिवाय दूसरे को दान देने में भी एकान्त पाप बतलाते हैं और भगवतीजी का पाठ बतला कर भोले भाइयों को दान देने से वंचित करते हैं, किन्तु उसी जगह पूर्वाचार्यों ने उस पाठ का जो खुलासा किया है, उसे नहीं मानते हैं। रायपसेणीसूत्र में वर्णन है कि केशी स्वामीजी का उपदेश सुन कर प्रदेशी राजा ने दानशाला की स्थापना की थी। दशाश्रुतस्कंध में श्रावक को ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करके भिक्षोपजीवी होने की विधि बतलाई है। श्रावक को आहार आदि का दान देना अगर एकान्त पाप हो तो कौन विवेकवान् श्रावक उसे भिक्षा देगा? और दूसरों को एकान्त पाप लगाने के लिए पडिमाधारी श्रावक भी कैसे भिक्षा लेवे? उववाईसूत्र में अम्बड संन्यासी वैक्रिय लब्धि के प्रभाव से सदा १०० घरों में पारणा करता था, ऐसा कथन किया है। इतना स्पष्ट कथन होने पर भी साधु के सिवाय अन्य को दान देने में जो लोग पाप बतलाते हैं उन्हें सम्यक्त्वी किस प्रकार माना जाय? इसलिए चेताना है कि ऐसे शास्त्रविरुद्ध उपदेश को सुन कर, सन्मार्ग को त्याग कर उन्मार्ग में मत जाना। मिथ्यात्व से अपनी आत्मा को बचाना चाहिए।

१६ उन्मार्ग को सन्मार्ग श्रद्धना—मिथ्यात्व

●

पृथ्वी आदि षट् जीवनिकाय की जिसमें हिंसा हो उस काम को धर्म मानना भी मिथ्यात्व है। जैसे—सचित्त पुष्प, फल आदि देव को चढ़ाने

में, धूप देने में,* स्नान और यज्ञ करने में, सातों कुव्यसनों के सेवन में, स्त्रीसम्भोग में, नृत्य-नाटक आदि देखने में, जो कि सांसारिक काम हैं, उनमें धर्म मानना, उन्हें मोक्ष का कारण मानना मिथ्यात्व है।

२०—रूपी को अरूपी श्रद्धना—मिथ्यात्व

●

वायुकाय आदि कितने ही अष्टस्पर्शी रूपी (साकार-मूर्तिमान्) पदार्थ हैं; किन्तु सूक्ष्म होने से और पारदर्शी होने से दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। कर्मपुद्गल चौस्पर्शी रूपी पुद्गल हैं। वे भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। इस कारण उन्हें अरूपी कहना मिथ्यात्व है।

२१—अरूपी को रूपी श्रद्धना—मिथ्यात्व

●

धर्मास्तिकाय आदि जो गति आदि में सहायक अरूपी द्रव्य हैं, उन्हें रूपी मानना। सिद्ध भगवान् वर्णहीन, गंधहीन, रसहीन, स्पर्शहीन, आदि अरूपी द्रव्य के गुणों से युक्त हैं, उन्हें रूपी मानना, उनमें लाल रंग आदि की स्थापना करना, पहले ईश्वर की अरूपी अवस्था कह कर फिर धर्म अथवा

सूखी नमस्कार

जल जो चढ़ाऊँ नाथ! कच्छ मच्छ पीवो करे,
दूध जो चढ़ाऊँ देव! वच्छ की जुठार है।
फूल जो चढ़ाऊँ प्रभो! भृङ्ग ताही सूँघ जात,
पत्र जो चढ़ाऊँ ईश! वृक्ष का उजार है।
दीप जो चढ़ाऊँ नाथ! शलभ तेहिं भस्म होत,
धूप जो चढ़ाऊँ वह अग्नि को आहार है।
मेवा मिष्टान्न तामें मक्खी मुख डार जात,
फल जो चढ़ाऊँ सो तो तोता की जुठार है।
एती एती वस्तुएँ हैं सो हैं सभी दोषयुक्त,
यातें महाराज मेरी सूखी नमस्कार है।

भक्त की रक्षा के लिए अथवा अपनी रक्षा के लिए अवतार धारण करने की मान्यता रखना, निरंजन निराकार सिद्ध की मूर्त्ति को सिद्ध मानना, इत्यादि प्रकार से अरूपी को रूपी कहना मिथ्यात्व है।

२२—अविनय मिथ्यात्व



श्री जिनेन्द्र भगवान् के, सद्गुरु महाराज के वचनों को उत्थापना, उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना, उन्हें झूठा कहना, भगवान् को चूका बतलाना, गुणवान्, ज्ञानवान्, तपस्वी, त्यागी, वैरागी, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका आदि उत्तम पुरुषों की निन्दा करना, कृतघ्न होना, सो अविनय मिथ्यात्व है।

२३ आशातना मिथ्यात्व



आशातना के तेतीस भेद हैं:—(१) अरिहन्त भगवान् की आशातना (२) सिद्ध भगवान् की आशातना (३) आचार्य महाराज की आशातना (४) उपाध्यायजी की आशातना (५) साधु की आशातना (६) साध्वी की आशातना (इनमें जो गुण विद्यमान हैं उनका अपलाप करने से और जो दोष न हों उनका आरोप करने से आशातना होती है)। (७) श्रावक की आशातना (८) श्राविका की आशातना (श्रावक-श्राविका को कुपात्र कहना, ज़हर के टुकड़े कहना इनका पोषण तोषण करने में एकान्त पाप बतलाने आदि से होती है)। (९) देवता की आशातना (१०) देवी की आशातना (११) स्थविर की आशातना (१२) गणधर की आशातना (१३) इस लोक में ज्ञानादि उत्तम गुणों को धारण करने वालों की आशातना (१४) परलोक में उत्तम गुणों से सुख प्राप्त करने वालों की आशातना (१५) समस्त प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व, की आशातना, यथा-जीव की हिंसा में धर्म और रक्षा में पाप बतलाना, जीव को जीव न मानना। (१६) कालोकाल यथोचित

आवश्यक क्रिया का आचरण न करना सो काल की आशातना * (१७) सूत्र की आशातना अर्थात् शास्त्र के वचनों का उत्थापन करना अथवा उन्हें अन्यथा परिणमाना। (१८) जिनसे शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया उन श्रुतदेव की आशातना। (१९) जिनके पास से शास्त्र का अर्थ धारण किया हो उन वाचनाचार्य की आशातना। (इन १९ के गुणों का आच्छादन करे (ढँके), अवर्णवाद बोले या अपमान करे तो आशातना होती है)। (२०) जं वाइद्धं अर्थात् शास्त्र के पहले के पदों को पीछे और पीछे के पदों को पहले उच्चारण करे तो आशातना (२१) वच्चामेलियं अर्थात् बीच-बीच में सूत्रपाठ आदि छोड़ कर पढ़े, उपयोग शून्य होकर पढ़े तो आशातना (२२) हीणक्खरं अर्थात् सूत्रपाठ के स्वरों या व्यंजनों का पूरा उच्चारण न करना, अधूरा बोलना (२३) अच्चक्खरं अर्थात् अधिक स्वर आदि बोलना।× (२४) पयहीणं-पद का पूरी तरह उच्चारण न करना या पद का अपभ्रंश करना (२५) विनयहीणं अर्थात् विनय-भक्ति रहित होकर पढ़ना, अहंकार में छक कर पढ़ना (२६) जोगहीणं अर्थात् स्वाध्याय करते समय मन, वचन, काय के योगों को चपल करना (२७) घोसहीणं-ह्रस्व-दीर्घ का भान न रख कर शुद्ध शब्दोच्चारण न

---

* जैन ज्योतिषविद्या के प्रचार के अभाव से इस समय यथोचित काल के जानने में कठिनाई पैदा हो गई है, जिससे पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक आवश्यक के आराधन का काल भी विवादग्रस्त हो गया है। तथापि जो नियम बहुत विद्वानों की सम्मति से बनाया जाय, उसके अनुसार पर्वसम्बन्धी क्रिया का आचरण करने से, व्यवहारसूत्र में कहे हुए पाँच व्यवहारों के अनुसार हो सकता है।

× समझ-बूझकर एक अक्षर भी न्यूनाधिक करे तो मिथ्यात्वी हो जाता है। किन्तु ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार जिसको जितना ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार पठन-पाठन करने वाला आराधक ही गिना जाता है। क्योंकि तीर्थङ्कर भगवान् ने जितना फरमाया है उतना गणधर महाराज भी नहीं कह सके हैं, क्योंकि उनमें वाणी के वह अतिशय, जो तीर्थङ्कर भगवान् में होते हैं, नहीं पाये जाते। और जितना गणधरों ने कहा, उतना आचार्य नहीं कह सके, क्योंकि आचार्यों में त्रिपदी लब्धि का अभाव है। फिर साधारण जनों का तो कहना ही क्या है? अतः कोई सूत्र आदि पढ़ने की मनाई करे तो भ्रम में न पड़ते हुए अपने क्षयोपशम के अनुसार पठन-पाठन करते रहना चाहिए। जान-बूझकर अशुद्ध नहीं बोलना और अनजान में अशुद्ध उच्चारण हो जावे तो उसके लिए 'जं वाइद्धं' आदि पाठ बोलकर 'मिच्छामि दुक्कडं' देकर आत्मा को शुद्ध कर लेना चाहिए।

करते हुए शास्त्र पढ़ना। (२८) सुट्ठु दिएणं अर्थात् विनयवान्, भक्तिवान्, बुद्धिमान्, तथा धर्मप्रभावना के सामर्थ्य वाले सुयोग्य जिज्ञासु को ज्ञान न देना (२९) दुट्ठुपडिच्छियं अर्थात् अविनीत भाव से ज्ञान ग्रहण करना या अभिमानी, धर्मलोपक, आज्ञा भंग करने वाले अयोग्य पुरुष को ज्ञान देना।* (३०) अकाले कओ सज्झाओ अर्थात् कालिक, उत्कालिक सूत्र की समझ विना बेवक्त शास्त्र पढ़ना-पढ़ाना। (३१) काले न कओ सज्झाओ अर्थात् प्रमाद आदि के वश होकर स्वाध्याय के समय में स्वाध्याय न करना+ (३२) असज्झाए सज्झायं-अर्थात् अस्वाध्याय के योग में शास्त्र का स्वाध्याय करना और (३३) सज्झाए न सज्झायं अर्थात् प्रमाद के वशीभूत होकर चौतीस असज्झाय के कारण न होने पर भी स्वाध्याय न करना।× इस प्रकार तेतीस आशातनाएँ कही हैं। उन्हें जान- बूझकर करे और करके भी बुरा न समझे, बल्कि अच्छा समझे तो मिथ्यात्व लगता है।÷

जैसे साँप को पिलाया दूध विष के रूप में परिणत होता है उसी प्रकार अयोग्य पुरुष को दिया हुआ ज्ञान मिथ्यात्व की वृद्धि करने वाला होता है। जो होनहार है उसे तो तीर्थङ्कर भी नहीं टाल सकते, किन्तु अपनी समझ के अनुसार योग्य-अयोग्य का खयाल तो अवश्य रखना चाहिए और योग्य को ही ज्ञान देना चाहिए।

+ शास्त्र में हड्डी का तथा रक्त का भी असज्झाय कहा है, किन्तु आजकल कितनेक हाथीदाँत की कीमियाँ रखते हैं। इसी प्रकार हाथीदाँत के चूड़े का असज्झाय टालना बड़ा मुश्किल हो गया है। रजस्वला स्त्री का भी उपयोग रखना चाहिए। असज्झाय में शास्त्रपठन कदापि नहीं करना चाहिए।

× शास्त्रों का स्वाध्याय समस्त दुःखों को नाश करने वाला है; ऐसा शास्त्रों का कथन है। अतः सूत्र-ज्ञान को धारण करने के लिए यथाशक्ति शास्त्र का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

÷ निह्नव दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रवचननिह्नव और (२) निन्दकनिह्नव। इनमें से प्रवचननिह्नव तो नवग्रैवेयक तक चला जाता है किन्तु निन्दकनिह्नव किल्विषी देव होता है। श्री भगवतीसूत्र में जमालि को निर्मल चारित्र पालने वाला कहा है, तथापि वह किल्विष देव योनि में उत्पन्न हुए। इसका कारण यही है। अतः प्रवचननिह्नव की अपेक्षा निन्दकनिह्नव को अधिक खराब कहा है। कहा भी है:—

आचारे अधिको कह्यो, निन्दक निह्नव जान।
पंचम अंगे भाखियो, ते पहिले गुणठाण॥

२४—अक्रिया मिथ्यात्व

अक्रियावादी के समान जो कहता है कि—'आत्मा, परमात्मा है; इसलिए अक्रिय है। अर्थात् आत्मा को पुण्य-पाप की क्रिया नहीं लगती है। जो लोग, धर्माभिलाषी जनों को पुण्य-पाप के भ्रम में फँसा कर खान-पान, भोग-विलास, ऐश-आराम से वंचित करते हैं और भूख-प्यास, शीत-ताप, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करके आत्मा को दुःख देते हैं, वे सब नरक में जाएँगे। ऐसे मिथ्यामत की स्थापना करने वाले से ज्ञानी जन कहते हैं कि—वाह रे भाई! तूने तो परमात्मा को भी नरक में डाल दिया, भंगी, भील, चमार कसाई, नीच जाति वाला और नीच कर्म करने वाला बना दिया, क्योंकि तेरे विचार से आत्मा और परमात्मा एक ही है। अच्छा फिर आत्मा को पोषने वाले दुखी क्यों दृष्टिगोचर होते हैं? परलोक की बात जाने दो,

---

प्रवचननिह्नव तो सिर्फ प्रवचन का ही उत्थापक होता है किन्तु निन्दकनिह्नव प्रवचन की, प्रवचन के प्ररूपक केवलज्ञानी की, धर्माचार्य की और चतुर्विध संघ की—इन सब की माया-कपट के साथ निन्दा करता है। वह कहता है—मैं जो कहता हूँ वही सच्चा है, शास्त्र के वचन मिथ्या हैं। वह गुरु आदि से भी विमुख होकर उद्धततापूर्ण व्यवहार करता है। इस कारण वह मिथ्यात्वी ही होता है। श्रीउत्तराध्ययन के ३६ वें अध्ययन में कहा है कि श्रुतज्ञानी, केवलज्ञानी, धर्माचार्य, गुरुदेव तथा चतुर्विध संघ का अवर्णवाद बोलने वाला किल्विष देव होता है और उसकी आज्ञा मानने वाले भगवान् की आज्ञा से बाहर और मिथ्यात्वी होते हैं। वे कितना भी ऊँचा आचार पालें तो भी उनकी अपेक्षा पासत्था अर्थात् शिथिलाचारी लाख दर्जे अच्छा गिना जाता है। कारण यह है कि पासत्था तो कदाचित् किसी अंश में चारित्र का ही विरोधक होता है, वह सम्यक्त्व का तो आराधक ही होता है, जिससे उसका आत्मकल्याण शीघ्र हो सकता है, मगर मिथ्यात्वी सम्यक्त्व से भी रहित होता है। ज्ञातासूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध में उल्लेख है कि श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की २०६ आर्याएँ पासत्था थीं, किन्तु सम्यक्त्व शुद्ध होने के कारण वे सभी देवलोक गईं और आगे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जाएँगी। दूसरी बात यह है कि पासत्था की श्रद्धा-प्ररूपणा शुद्ध होती है, किन्तु चारित्र मोहनीय के उदय से सिर्फ स्पर्शना शुद्ध नहीं कर सकता है। इससे उसकी आत्मा को तो हानि पहुँचती है मगर वह दूसरों को नहीं डुबाता है। मगर निन्दक तो गुरु आदि से अलग होकर अपना अलग ही पंथ स्थापित करता है, अपने साथ अनेकों को भव-सागर में डुबाता है। इसके अतिरिक्त पासत्था तो अवसर आने पर निशीथसूत्र के कथनानुसार आलो-

इसी भव में आत्मा पर काबू न रखने वाले क्यों दुःखी देखे जाते हैं ? जो अभक्ष्य, अपथ्य का सेवन करते हैं, वे वात, पित्त, कफ आदि अनेक रोगों से पीड़ित होते देखे जाते हैं। चोरी करने वाले कारागृह में पड़ कर कष्ट भोगते हैं और व्यभिचार सेवन करने वाले गर्मी सुजाक आदि भयानक बीमारियों से सड़ कर मरते हैं, जूते खाते हैं और अकालमृत्यु के ग्रास बनते हैं। क्या इसी बूते पर आत्मा को परमात्मा कहते हो ? क्या ऐसी दुर्गति तुम्हारे मत के अनुसार परमात्मा की ही होती है ? भोले लोग आत्मा को परमात्मा तो कहते हैं, मगर उसी को काट कर खा जाते हैं। भला इस प्रकार निराधार गपोड़ा मारने वाले नरक में जाएँगे अथवा अपनी आत्मा को वश में रखने वाले नरक में जाएँगे ? बुद्धिमानों को यह निर्णय स्वयं कर लेना चाहिए और अपनी आत्मा को दुष्कर्मों से बचाना चाहिए। ऐसा करने से ही सुख की प्राप्ति होगी।

चना-निन्दा करके अपना सुधार भी कर सकता है, किन्तु निह्नव कुमत-पक्ष में बँध कर अपना सुधार नहीं करता। इसलिए शास्त्र का आदेश है कि चाहे कोई कम गुणवाला हो या अधिक गुणवाला हो, उसका हानि-लाभ तो उसी की आत्मा को होगा; मगर खटपट में पड़ कर अगर सुसाधु कभी को कुसाधु और गुणी को दुर्गुणी मान लिया तो ऐसा मानने वाले की आत्मा मिथ्यात्व का उपार्जन करके काली धार डूब जाती है। इसलिए कदाचित् किसी का दोष भी दिखाई दे जाय तो उसे अनदेखा कर देना और सुने को अनसुना कर देना ही अपने लिए हितकर है। देखिये सूत्रकृतांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन १३ वाँ, गाथा ५ वीं में कहा है—जो क्रोध के वश होकर जगतार्थभाषी होगा अर्थात् काणे को काणा, अंधे को अंधा और हीनाचारी को हीनाचारी आदि जैसा देखेगा वैसा ही कहेगा और उपशान्त हुए क्लेश की उदीरणा करेगा, वह चतुर्गति रूप संसार में बहुत दुःख पाएगा, जैसे अंधा मनुष्य लकड़ी लेकर भी रास्ता चलते अनेक दुःखों से पीड़ित होता है। जब दोषियों के दोषों को प्रकाशित करने में भी इतना पाप बतलाया है, तो फिर जो व्यक्ति अपने आचार्य, उपाध्याय, ज्ञानादि गुणों के दाता गुरुओं के गुणों का लोप और गोप करेगा, उसकी क्या गति होगी ? समवायांगसूत्र की गाथा २४-२५ देखिए। उनमें कहा है-जो मनुष्य शास्त्र, विनय, शिक्षा आदि सिखाने वाले आचार्य, उपाध्याय आदि की निन्दा करेगा, उनसे विपरीत चलेगा, उनका सत्कार-सम्मान नहीं करेगा, वह महामोहनीय कर्म का बंध करके सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त बोधिबीज-सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतएव समस्त जीवों के कल्याण की अभिलाषा से सूचना दी जाती है कि इस प्रकार दुःखप्रद इस अविनय-आशातना मिथ्यात्व से अपनी आत्मा को बचाकर सुखी बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

२५—अज्ञान मिथ्यात्व

●

मिथ्यात्व के साथ अज्ञान की नियमा है अर्थात् जिसकी आत्मा में मिथ्यात्व है, उसकी आत्मा में अज्ञान होता ही है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से सब विपरीत ही प्रतिभासित होता है। इस हुंडावसर्पिणी काल में मिथ्यात्व का जोर बढ़ा हुआ दिखाई देता है। इस कारण सत्शास्त्रों से विरुद्ध ही नहीं बल्कि प्रकृति से भी विरुद्ध अनेक मत प्रचलित हो गये हैं। जिधर देखो उधर मान-सन्मान ही बीमारी लगी दीखती है। जरा-सी वाक्या-डम्बर की कला प्राप्त हुई कि कुबुद्धि द्वारा, कुकल्पनाएँ करके आप्त पुरुषों के सिद्धान्त को तोड़-मरोड़ कर कल्पित पंथ स्थापित कर लिए जाते हैं। भोले लोग उनके माया जाल में या किसी प्रकार के लालच में फँस जाते हैं और फिर वे धर्म के प्रवर्त्तक कहलाने वाले लोग धर्म की ओट में मनमाना शिकार करते हैं।

अभी थोड़े ही दिनों में एक सत्पंथी मत चालू हुआ है। उनका रहन-सहन तो सारा हिन्दुओं जैसा है, किन्तु करणी मुसलमानों जैसी है।* ऐसे और भी अनेक मत प्रचलित हैं। अज्ञान के कारण मिथ्यात्व में फँसे हुए लोगों को देखकर श्रीजिनशासन के अनुयायों को सावधान रहना चाहिए

---

* *इन सत्पंथी लोगों ने हिन्दू धर्म के ग्रंथों में फेरफार करके नये ग्रंथों की रचना की है। यह रचना इस्लाम धर्म की किताबों से बहुत मिलती-जुलती है। उन्होंने लिखा है—मच्छ, कच्छ आदि अवतारों में जो निकलंकी अवतार हुआ है, वह इस्लामधर्म के चौथे खलीफा 'अली' थे। इन्होंने काशी विश्वनाथ नाम धारण करके कालिंग दैत्य को मारने के लिए फिर अवतार लिया। इनके पुत्र हसन और हुसेन थे। इनके वंशज उप-अवतार इमाम थे। यह लोग मूसा नबी कृत तोरेत किताब को ऋग्वेद कहते हैं। दाऊद नबी कृत जंबूर किताब को यजुर्वेद कहते हैं। इसारूह अल्ला कृत इंजील किताब को सामवेद कहते हैं और पैगम्बर मुहम्मद कृत कुरान को अथर्ववेद कहते हैं। इनके कथनानुसार पहले के तीन वेदों के अनुसार की हुई पूजा भूत-पिशाचों को पहुँचती है और चौथे वेद के अनुसार की पूजा नारायण को पहुँचती है। ऐसी पूजा करने वाला जिन्नत स्वर्ग) को जाता है। ब्रह्मा-इन्द्र (इमामशाह) कृत श्री बुद्धावतार ग्रंथ में लिखा है कि नौवाँ बुद्धावतार मुसलमान का रूप धारण करके पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में आये थे - और गुरुहत्या तथा गोत्रहत्या का पाप*

और बड़े पुण्योदय से प्राप्त हुए सम्यक्त्व-रत्न को सँभाल कर रखना चाहिए। मिथ्यादृष्टि का समस्त ज्ञान अज्ञान ही होता है। कहा है:—

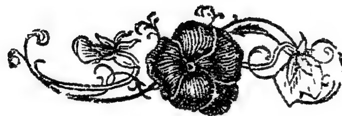
सदसदऽविसेसणाओ भवहेउजहिच्छिओवलंभाओ ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ॥

अर्थात्—सत् और असत् का विवेक न होने से, संसार के कारणभूत कर्मों का बंध जैसा का तैसा रहने से, पदार्थ को मनमाना जानने से और ज्ञान के वास्तविक फल की प्राप्ति न होने से मिथ्यादृष्टि का जानना अज्ञान रूप ही है।

अज्ञानवादी ज्ञान की निन्दा करके अज्ञान को श्रेष्ठ और हितकर बतलाते हैं और भोले लोगों को ज्ञान से वंचित रखते हैं। यह पच्चीस मिथ्यात्वों का संक्षिप्त कथन जानना चाहिए।

मिच्छे अणंतदोसा, पयडा दीसन्ति न वि गुणलेसो ।
तहवि य तं चेव जीवा, हो मोहंध निसेवंति ॥—वैराग्यशतक।

अर्थात्—मिथ्यात्व में अनन्त दोष हैं, यह बात साफ मालूम होती है, गुण का लेश मात्र भी नहीं है, किन्तु मोह से अंधे बने हुए जीव फिर भी उसी का सेवन करते हैं। खेद।



दूर करने के लिए गोमेधयज्ञ करवाया था। उससे पाण्डवों का पाप कम नहीं हुआ। तब ब्राह्मण दौड़ते आये। वहाँ सिर्फ गाय की आँत मिली और उसे उन्होंने गले में डाल लिया तभी से जनेऊ डालने का रिवाज चला। इसी प्रकार हिन्दुओं की गोपूजा की उत्पत्ति की भी विचित्र कथा लिखी है। ऐसी ऐसी और भी अनेक मनगढंत कल्पनाएँ इन सत्पंथी लोगों ने की हैं। इस प्रकार कलियुग में लोग अपने-अपने मतों की स्थापना करके अपना उल्लू सीधा करते हैं।


प्रकरण
४

दिग्दर्शन



श्रीस्थानांग सूत्र के दूसरे ठाणे में कहा है—

धम्मे दुविहे पएणत्ते, तंजहा-सुयधम्मे चेव, चरित्तधम्मे चेव।

अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर ने धर्म दो प्रकार के कहे हैं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। इन दो प्रकार के धर्मों में से श्रुतधर्म (सूत्रधर्म) का विस्तृत कथन द्वितीय खंड के दूसरे प्रकरण में किया जा चुका है। अब आगे चारित्र-धर्म का कथन किया जायगा। जो धर्म नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चार गतियों से तार कर पाँचवीं मोक्षगति में पहुँचाता है अथवा क्रोध, मान, माया लोभ रूप चार कषायों से छुड़ा कर आत्मा को निर्विकार, निरंजन, निस्ताप बनाता है, वह चारित्र (चारि+तर) कहलाता है।

भगवान् ने चारित्रधर्म के भी दो प्रकार कहे हैं—सर्वविरति चारित्र और देशविरति चारित्र। इनमें से सर्वविरति रूप चारित्र के धारक साधु होते हैं। उनके आचार का विस्तारपूर्वक कथन प्रथम खंड के तीसरे, चौथे और पाँचवें प्रकरण में किया जा चुका है। शेष रहे देशविरति के भी दो भेद हैं—सम्यक्त्व और देशसंयम। इन दोनों का कथन इस द्वितीय खंड के चौथे और पाँचवें प्रकरण में किया जायगा। तत्पश्चात् 'अन्तिम शुद्धि' नामक छठे प्रकरण में सम्यग्दृष्टि, देशविरत (श्रावक) और सर्वविरत अर्थात् साधु को अपने जीवन के अन्त में (आयु के अंतिम काल में) किस प्रकार आत्म-शुद्धि करनी चाहिए, यह कथन करके ग्रंथ समाप्त किया जायगा।

मिथ्यात्व का नाश होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति है। अतएव तीसरे प्रकरण में मिथ्यात्व का स्वरूप बतलाकर अब चौथे प्रकरण में सम्य-क्त्व या समकित का निरूपण किया जाता है।

सम्यक्त्व

●

गाथाः—

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥

—श्रीउत्तराध्ययन, अ. २८ गा. २९

अर्थात्—जिन जीवों को सम्यक्त्व-धर्म की प्राप्ति नहीं हुई है, उन्हें चारित्र-धर्म की प्राप्ति नहीं होती। जिनको सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई है, उनमें से कितनेक जीव चारित्रधर्म को अंगीकार कर सकते हैं—कर लेते हैं और कितनेक उसी भव में चारित्र नहीं भी धारण करते। इसलिए सम्यक्त्व के होने पर चारित्र की भजना कही गई है। मगर चारित्र के होने पर सम्यक्त्व की नियमा है। अर्थात् चारित्र के होने पर सम्यक्त्व होना ही चाहिए। सम्यक्त्व के बिना चारित्र, सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता और उससे सकाम निर्जरा नहीं होती। अतएव आत्मशुद्धि की दृष्टि से, सम्यक्त्व से रहित क्रिया निरर्थक है। सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर अन्य सब गुण प्राप्त हो जाते हैं। यथाः—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती* और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति बिना चारित्र की प्राप्ति नहीं होती, चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और मोक्ष-प्राप्ति के बिना कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान से चारित्र की प्राप्ति होती है और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

* वस्तुतः सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन साथ-साथ ही उत्पन्न होते और साथ-साथ ही रहते हैं। सम्यग्दर्शन से पहले ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति होते ही ज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार दोनों में कार्य-कारणभाव है। ऐसी स्थिति में पहले दर्शन या पहले ज्ञान का आग्रह निरर्थक है।

इस प्रकार क्रम से सर्व गुणों की प्राप्ति होने से जीव समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है। अतएव समस्त गुणों के मूलभूत सम्यक्त्व को सब से पहले प्राप्त करना आवश्यक है। सम्यक्त्वप्राप्ति का उपाय और सम्यक्त्व का स्वरूप इस प्रकार है:—

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं, तं वियाहियं॥

—श्रीउत्तराध्ययन, २८, १५

सम्यक्त्व की प्राप्ति दो प्रकार से होती है। 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा।' अर्थात् किसी जीव को दूसरे के उपदेश के बिना ही—नैसर्गिक रूप से—स्वभाव से ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है और किसी जीव को अधिगम से अर्थात् गुरु आदि के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह दोनों निमित्त बाह्य निमित्त हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ—इन सात प्रकृतियों का क्षयोपशम, क्षय या उपशम, सम्यग्दर्शन का अन्तरंग कारण है। इन सात प्रकृतियों का क्षयोपशम होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व और क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। कोई जीव अन्तरंग कारण मिल जाने पर, जातिस्मरण आदि ज्ञान के द्वारा स्वयं ही तत्त्वश्रद्धा रूप सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और कोई जीव तीर्थंकर भगवान् या सद्गुरु का उपदेश सुनकर जीव अजीव का भेदविज्ञान प्राप्त कर लेता है और तदनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है।*

* लब्धिसार ग्रंथ में मिथ्यात्वी जीव को सम्यक्त्व प्राप्त होने का विधान इस प्रकार प्रदर्शित किया है:—

संज्ञी, पर्याप्त, मन्दकषायी, भव्य, गुण-दोष के विचार से युक्त, साकार उपयोग में वर्त्तमान, जागृत अवस्था वाला जीव ही सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य होता है।

सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले के पाँच लब्धियाँ होती हैं:—(१) क्षयोपशम लब्धि (२) विशुद्धिलब्धि (३) देशनालब्धि (४) प्रयोगलब्धि और (५) करणलब्धि। इन पाँचों का स्वरूप इस प्रकार है:—

सवैया

भवस्थिति निकन्द होय कर्मबंध मंद होय,
प्रकटे प्रकाश निज आनन्द के कन्द को।
हित को दर्शाव होय विनै को बढ़ाव होय,
उपजै अंकुर ज्ञान द्वितीया के चंद को॥
सुगति-निवास होय कुगति को नाश होय,
अपने उत्साह दाह करे कर्म कन्द को।
सुख भरपूर होय दोष दुःख दूर होय,
यातैं गुणवन्दक है सम्यक्त्व सुछंद को॥ १॥

अर्थात्—जिस जीव को जब सम्यक्त्व प्राप्त करने का अवसर आता है, तब प्रथम तो उसकी भव-भ्रमण की स्थिति परिपक्व हुई होनी चाहिए। कर्मों का बंध भी कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति के अन्दर और वह भी मन्द रसमय रहना चाहिए। सुख में हर्ष नहीं, दुःख में उदासी नहीं, ऐसी

(१) अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करते-करते किसी आत्मा को, किसी समय ऐसा योग मिलता है कि ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्म की अप्रशस्त (बुरी) प्रकृतियों के अनुभाग (रस) को, समय-समय में, अनन्त गुणा घटाता-घटाता क्रम से ऊपर आता है, तब क्षयोपशमलब्धि प्राप्त होती है।

(२) इस क्षयोपशमलब्धि के प्रताप से अशुभ कर्म का रसोदय घटता है। उसमें संक्लेश परिणाम की हानि होती है और विशुद्ध परिणाम की वृद्धि होती है। विशुद्ध परिणाम की वृद्धि होने से जीव के सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का बंध करने वाले धर्मानुराग रूप शुभ परिणामों की प्राप्ति होती है। यह विशुद्धिलब्धि है।

(३) इस विशुद्धिलब्धि के प्रभाव से आचार्य आदि की वाणी सुनने की अभिलाषा जागृत होना और उनकी सत्संगति करके छह द्रव्यों और नवतत्त्वों आदि का ज्ञाता बने सो देशनालब्धि।

(४) उक्त तीनों लब्धियों से युक्त बना जीव समय-समय विशुद्धता की वृद्धि करता हुआ, आयुकर्म के सिवाय सात कर्मों की स्थिति को एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ कम करे। शेष जो स्थिति रही उसे पहले की स्थिति में देकर घातिक कर्म के अनुभाग (रस) को, जो पर्वत के समान कठिन था उसे काष्ठ तथा लता रूप करने की और अघातिक कर्मों के

सदा आनन्दमय मुखमुद्रा होनी चाहिए। अन्तःकरण ही साक्षीभूत हो जाय कि अब मेरी भलाई का समय प्राप्त हो गया है। स्वाभाविक रीति से ही अन्तर में विनयभाव-करुणा का भाव जागृत हो जाय। अपना और दूसरे का कल्याण चाहे। अभिमान-अकड़ न करे। जिसके हृदय में द्वितीया के चन्द्रमा के समान ज्ञान की किरणें उदित हो गई हों; ऐसे जीव किसी की जबर्दस्ती से नहीं, किन्तु अपने ही उत्साह से कर्मशत्रुओं के सामने उपस्थित होकर, संसार के मायाजाल में फँसाने वाले मोहनीय कर्म के फंदों को नष्ट कर डालते हैं, जिससे दुर्गति के गमन का नाश हो जाता है और सुगति में वास होता है। वे समस्त दुःखों का क्षय करके परम सुखी बन जाते हैं।

सम्यक्त्व के सात प्रकार

●

(१) मिथ्यात्व-सम्यक्त्व—किसी जीव के मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों का क्षयोपशम आदि हो गया है और उसने सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया है, किन्तु मिथ्यात्वी सरीखे बाह्य कृत्य कर रहा है और अम्बड

अनुभाग को, जो हलाहल विष के समान था उसे नीम तथा कांजी के समान करने की योग्यता प्राप्त करे सो प्रयोगलब्धि है। (यह लब्धि भव्य और अभव्य-दोनों के होती है।)

(५) इस प्रयोगलब्धि के प्रथम समय से लगाकर पूर्वोक्त एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम में कुछ कम स्थिति रक्खी थी, उसे (आयुकर्म को छोड़ कर) पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी कम करे; इस प्रकार जब ७००-८०० सागरोपम कम हो जाय तब पाँचवीं करण-लब्धि प्राप्त होती है। (यह लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है।) यहाँ तीन करण होते हैं—(१) अधः-प्रवृत्तिकरण (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण। (कषाय की मन्दता को करण कहते हैं। इन तीन करणों में से अनिवृत्तिकरण का काल सिर्फ अन्तर्मुहूर्त का है। अपूर्वकरण का काल इससे असंख्यातगुणा और अधःप्रवृत्तिकरण का काल अपूर्वकरण से संख्यातगुणा है। असंख्यातगुणा या संख्यातगुणा काल भी अन्तर्मुहूर्त ही समझना चाहिए क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं।) इस करणलब्धि को प्राप्त हुए तीनों कालवर्त्ती अनेक जीवों की विशुद्धता रूप परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। वे परिणाम अधःप्रवृत्तिकरण के जितने समय हैं, उनमें से प्रत्येक में वृद्धि पाते हैं। किसी समय नीचे के परिणामों की विशुद्धता वाले से ऊपर के परिणामों की विशुद्धता मिल जाती है, इस कारण इसे अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में चार बातें होती हैं:—(१) प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धता की वृद्धि (२) पूर्वोक्त स्थितिबंध से घटता-घटता स्थितिबंध (३) साता-

संन्यासी के समान या मरीचि के समान मिथ्यादृष्टि का वेष धारण कर रक्खा है, वह जीव निश्चय में तो सम्यक्त्वी है और बाह्य व्यवहार से मिथ्यात्वी कहलाता है। ऐसे जीव का सम्यक्त्व मिथ्यात्व-सम्यक्त्व कहलाता है। तथा अभव्य जीव सत्संगति आदि निमित्त पाकर पौद्गलिक सुख प्राप्त करने का तथा मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अभिलाषी बना हुआ व्यवहार से श्रावक या साधु के लिंग तथा व्रत को धारण कर लेता है और ऊपरी शुद्धिपूर्वक पालन भी करता है। नव पूर्वों तक का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है, किन्तु अभव्यता रूप स्वभाव के कारण सम्यक्त्व का आवरण करने वाली कर्म-

वेदनीय आदि प्रशस्त कर्मप्रकृतियों का समय-समय में वृद्धि पाता हुआ गुड़, शक्कर, मिश्री और अमृत के समान चतुःस्थानपतित अनुभागबंध और (४) असातावेदनीय आदि अप्रशस्त कर्मप्रकृतियों का अनन्तगुणा घटता हुआ नीम, कांजी के समान अनुभाग। यह चार आवश्यक होते हैं। अधःप्रवृत्तिकरण का अन्तर्मुहूर्त्त काल पूर्ण होने के पश्चात् दूसरा अपूर्वकरण होता है। इसमें अनेक जीवों की अपेक्षा तो लोक से असंख्यातगुणी परिणामों की धारा होती है, किन्तु एक जीव की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त्त के समय परिमित परिणाम होते हैं। समय-समय परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है। प्रथम समय के परिणाम की अपेक्षा दूसरे समय के परिणाम की विशुद्धि असंख्यातगुणी होती है। इस प्रकार प्रतिसमय परिणामों की अपूर्वता होने के कारण इसे अपूर्वकरण कहते हैं। इस परिणाम में प्रवृत्ति करने वाला जीव, मिथ्यात्व मोहनीय को मिश्रमोहनीय के रूप में परिणत करके फिर समकितमोहनीय के रूप में परिणत कर देता है। यहां भी चार आवश्यक होते हैं—(१) गुणश्रेणि (२) गुणसंक्रमण (३) स्थितिखण्डन और (४) अनुभागखण्डन। पहले बँधे हुए और सत्ता में रहे हुए कर्म परमाणु रूप द्रव्यों को निकाल कर पंक्तिबद्ध समय-समय में असंख्यातगुणी निर्जरा का होना गुणश्रेणी है। समय-समय में क्रम से, विवक्षित कर्मप्रकृति के परमाणुओं को अन्य सत्ता में रही प्रकृति के रूप में पलटाना गुणसंक्रमण है। इस पलटाई हुई अशुभ प्रकृति की स्थिति को कम करना स्थितिखण्डन है और पहले के सत्ता में विद्यमान अशुभ प्रकृति के अनुभाग को कम करना अनुभाग खण्डन है। यह चार बातें अपूर्वकरण में अवश्य होती हैं। इस प्रकार अशुभ प्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणा कम होता है और शुभ प्रकृति का अनुभाग अनन्त-अनन्त गुण वृद्धि को प्राप्त होता है। यों अनिवृत्ति करण के अंतिम समय में दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबंधी चतुष्क के प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के उदय की योग्यता नष्ट होते ही वह उपशान्त हो जाती हैं तब आत्मा जिनप्रणीत तत्त्वार्थ का श्रद्धान यथातथ्य करता हुआ सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर उपशमसम्यक्त्वी बन जाता है।

इस कथन पर दीर्घदृष्टि से विचार करने पर ध्यान आएगा कि आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति होना कितना कठिन है।

प्रकृतियों का क्षयोपशम आदि नहीं कर सकता। अतएव वह व्यवहार से सम्यक्त्वी कहलाता हुआ भी निश्चय में मिथ्यात्वी होता है।

(२) सास्वादन सम्यक्त्व—अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनींय का उपशम करे और समकितमोहनीय का विशेष उदय हो तब वह सम्यक्त्व प्रतिपाति (पडीबाई) होता है। दृष्टान्त—जैसे कोई मनुष्य ऊँचे प्रासाद पर से पृथ्वी का अवलोकन कर रहा हो और चक्कर आने से नीचे गिर पड़े, किन्तु प्रासाद से नीचे गिर जाने और पृथिवी पर पहुँचने से पहले जब वह मध्य में होता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से पतित हो जाने और मिथ्यात्व को प्राप्त होने से पहले जीव की जो अवस्था होती है, वह सास्वादन सम्यक्त्व कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जीव उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होने पर चतुर्थ गुणस्थान रूप प्रासाद पर चढ़ा था, किन्तु अनन्तानुबंधी चतुष्क कषायोदय रूप चक्कर आने से नीचे गिरा, किन्तु मिथ्यात्व रूपी पृथिवी को प्राप्त नहीं हो पाया, तब तक वह सास्वादनसम्यग्दृष्टि है। अथवा जैसे आम्र-वृक्ष से अनन्तानुबंधी चतुष्क रूप वायु के झौंके से फल टूटा किन्तु जब तक पृथ्वी पर नहीं जा पड़ा, इसी प्रकार जो सम्यक्त्व अनन्तानुबंधी चौकड़ी के उदय से च्युत हो गया किन्तु मिथ्यात्व रूप में परिणत नहीं हुआ तब तक वह सास्वादनगुणस्थान कहलाता है। जैसे वमन होने पर मिष्ट भोजन का गुड़चटा स्वाद कुछ समय तक रहता और फिर नष्ट हो जाता है अथवा डंके की चोट लगने से मुक्त हुई घड़ी की झनकार किंचित् काल रहती है और फिर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार सास्वादन सम्यक्त्व भी अधिक से अधिक छह आवलिका और सात समय तक रहता है और फिर नष्ट हो जाता है। प्रत्येक जीव को इस सम्यक्त्व की प्राप्ति जघन्य एक वार और उत्कृष्ट पाँच वार होती है।

(३) मिश्रसम्यक्त्व—मिथ्यात्वमोहनीय के दलों को भोगते-भोगते जब वे थोड़े रह जाते हैं तब शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म पर द्वेष-भाव भी नहीं और आस्था भी नहीं, इसी प्रकार कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर अन्तरंग से अनुराग भी नहीं और पक्की आस्था भी नहीं है, क्योंकि दोनों का

वास्तविक विवेक नहीं है; ऐसी स्थिति में जीव का जो सम्यक्त्व-मिथ्यात्वरूप मिला-जुला परिणाम होता है, उसे मिश्रसम्यक्त्व कहते हैं। दृष्टान्त—जैसे दही और शक्कर को मिलाकर खाने से खटमीठा स्वाद होता है, इसी प्रकार कोई जीव मिथ्यात्व का त्याग करके, सम्यक्त्व की ओर गमन करता है, प्रतिसमय मिथ्यात्व-पर्याय की हानि करता है और सम्यक्त्वपर्याय डाँवा-डोल स्थिति में रहता है। यह स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त रहती है। इसी को मिश्रसम्यक्त्व कहते हैं। जैसे प्रातःकाल की संध्या कुछ प्रकाशमय और कुछ अन्धकारमय होती है किन्तु उसमें प्रकाश बढ़ता चला जाता है और थोड़े समय में पूर्ण प्रकाशमय बन जाती है, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति करने वाले भव्य जीव का मिश्रसम्यक्त्व उसे शुद्धसम्यक्त्वी बना देता है। और जैसे सायंकाल की संध्या अन्धकार-प्रकाशमय होती है और थोड़ी देर में अंधकार-मय हो जाती है, उसी प्रकार मोक्ष नहीं प्राप्त करने वाले किसी भव्य जीव का सम्यक्त्व उसे फिर मिथ्यात्व में पहुँचा देता है। अथवा जैसे गाँव के बाहर किसी साधु का आगमन सुनकर वंदना-नमस्कार करने का अभिलाषी कोई मनुष्य वहाँ गया। वहाँ पहुँचने पर साधु तो मिले नहीं, कोई बाबा-जोगी मिले। उनको वंदना-नमस्कार करके सुसाधु को वंदना-नमस्कार करने के समान ही फल समझा। ऐसा समझना मिश्रसम्यक्त्वी का लक्षण समझना चाहिए। यह सम्यक्त्व प्रत्येक भव्य और मोक्षमार्गी जीव को जघन्य एक बार और उत्कृष्ट ९००० बार प्राप्त हो सकता है।*

---

* अनन्तानुबंधी चौकड़ी और तीन दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का खुलासा इस प्रकार है:-मूलतः मोहनीयकर्म के दो भेद हैं-चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीय। चारित्र का घात करने वाला कर्म चारित्रमोहनीय और सम्यग्दर्शनगुण का घात करने वाला कर्म दर्शनमोह कहलाता है। चारित्रमोह के भी दो भेद हैं-कषायचारित्रमोहनीय और नोकषायचारित्रमोहनीय। कषाय चारित्रमोहनीय के सोलह भेद हैं-अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें से अनन्तानुबंधी के क्रोध, मान, माया, लोभ को अनन्तानुबंधी चौकड़ी कहते हैं। यह चौकड़ी यद्यपि चारित्रमोहनीय का भेद है, पर इसमें दर्शन और चारित्र–दोनों का घात करने की शक्ति होती है। अनन्त काल से आत्मा के साथ जिसका बंध चालू है, और जिसके उदय में सम्यक्त्व एवं सामायिक चारित्र की भी प्राप्ति नहीं हो सकती, वह अनन्तानुबंधी चौकड़ी कहलाती है। जब तक यह चौकड़ी दूर

(४) उपशमसम्यक्त्व जैसे नदी में पड़ा हुआ पत्थर पानी के साथ बहता हुआ, टक्करा-टक्करा कर गोलमटोल बन जाता है, उसी प्रकार संसार रूपी नदी में अनादि काल से परिभ्रमण करता हुआ जीव शारीरिक मानसिक दुःखों से तथा क्षुधा, तृषा, शीत, ताप, छेदन, भेदन आदि अनेक कष्टों से अकामनिर्जरा रूप अनेक टक्करें खाकर, अनन्तानुबंधी चौकड़ी और दर्शन-मोह की तीन प्रकृतियों को राख से ढँकी हुई अग्नि के समान उपशान्त करे—ढँक दे, दबा दे, किन्तु सत्ता में वह प्रकृतियाँ बनी रहें, तब उपशम-सम्यक्त्व होता है। यह उपशम सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रहता है। जैसे बादल पतले पड़ने से सूर्य की किरणें झलकती हैं, उसी प्रकार उपशम सम्यक्त्वी जीव के सम्यग्ज्ञान झलकने लगता है। यह सम्यक्त्व प्रत्येक जीव को जघन्य एक बार और उत्कृष्ट पाँच बार होता है।

(५) उक्त उपशम सम्यक्त्व से आगे बढ़ते-बढ़ते क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से अनन्तानुबंधी चौकड़ी और मिथ्यात्वमोहनीय, इन पाँच प्रकृतियों का, पानी से बुझाई हुई अग्नि की तरह क्षय करे और मिश्रमोहनीय, तथा समकितमोहनीय, इन दो प्रकृतियों का राख से ढँकी हुई अग्नि की तरह उपशम करे, अथवा छह प्रकृतियों का क्षय करे और एक समकितमोहनीय का उपशम करे अथवा चार प्रकृतियों

नहीं होती तब तक दर्शनमोहनीय का बल मंद नहीं पड़ता अर्थात् इसका क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम नहीं होता। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं:—(१) मिथ्यात्वमोहनीय (२) मिश्रमोहनीय और (३) सम्यक्त्वमोहनीय। मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल इतने सघन होते हैं कि उनका उदय होने पर जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है। दूसरी मिश्रमोहनीय प्रकृति का उदय होने पर मिश्रसम्यक्त्व होता है। मिथ्यात्व की वर्गणा जब कुछ शुद्ध होती है और कुछ अशुद्ध रहती है, अर्थात् अर्धविशुद्ध रूप धारण करती है तब वह मिश्रमोहनीय कहलाती है। सम्यक्त्वमोहनीय क्षायिक सम्यक्त्व को ढँकने वाली है। इससे सम्यक्त्वगुण का पूरी तरह घात नहीं होता, किन्तु चल, मल और अगाढ़ नामक सम्यक्त्व में तीन दोष उत्पन्न होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवों के इस प्रकृति का उदय नहीं होता, किन्तु क्षयोपशमसम्यक्त्वी के होता है और इसके उदय से सम्यक्त्व में मलीनता बनी रहती है। जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ में रही हुई लकड़ी काँपती रहती है उसी प्रकार इस प्रकृति के उदय से परिणामों में एक प्रकार की चंचलता-गड़बड़ी बनी रहती है। चल, मल और अगाढ़ दोषों के लक्षण इस प्रकार हैं:—(१) चलदोष:—

का क्षय और तीन का उपशम करे तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर सम्यग्ज्ञान विशेष निर्मल हो जाता है। प्रत्येक जीव को यह सम्यक्त्व असंख्यात वार आता-जाता है। इसलिए इसकी स्थिति असंख्यात काल की कही गई है।

(६) वेदकसम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से आगे बढ़ने पर और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से पहले, सिर्फ एक समय तक वेदक सम्यक्त्व होता है। पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से चार का क्षय करे, दो का उपशम करे और एक (सम्यक्त्वमोहनीय) प्रकृति जो सत्ता में है, उसके रस का वेदन करे; अथवा पाँच का क्षय करे, एक का उपशम करे और एक का वेदन करे, तब वह वेदकसम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व जीव को एक ही बार होता है, क्योंकि इस सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव तत्क्षण ही क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। इस वेदक सम्यक्त्व की स्थिति एक समय की है।

(७) क्षायिकसम्यक्त्व—वेदकसम्यग्दृष्टि जीव दूसरे समय में अवश्य ही क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। पूर्वोक्त सातों प्रकृतियों का पानी से बुझाई हुई अग्नि की तरह क्षय हो जाने पर यह सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह समकित सादि-अनन्त है। एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट नहीं होता। क्षायिकसमकिती जीव उत्कृष्ट तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(१) कारकसम्यक्त्व—पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक तथा छठे और सातवें गुणस्थानवर्त्ती साधु में यह सम्यक्त्व पाया जाता है। कारक सम्यक्त्व वाला जीव अणुव्रतों या महाव्रतों का शुद्ध निरतिचार पालन करता है। व्रतप्रत्याख्यान, तप, संयम आदि क्रियाएँ स्वयं करता है और उपदेश द्वारा दूसरों से कराता है।

(२) रोचक समकित—चौथे गुणस्थानवर्त्ती जो जीव श्रेणिक महाराज और कृष्ण वासुदेव की भाँति जिनप्रणीत धर्म के दृढ़ श्रद्धालु होते हैं; तन, मन, धन से जिनशासन की उन्नति करते हैं, चारों तीर्थों के सच्चे भक्त तथा भक्ति से और शक्ति से भी दूसरों को धर्मप्रवृत्ति में लगाने वाले होते हैं, धर्म

का उद्योत करने में आनन्द मानते हैं, व्रत-प्रत्याख्यान करने में उत्सुक तो होते हैं, पर अप्रत्याख्यानावरणीय कर्मोदय से एक नवकारसी तप भी नहीं कर सकते, उनका सम्यक्त्व रोचक सम्यक्त्व कहलाता है।

(३) दीपकसम्यक्त्व—जैसे दीपक दूसरों को प्रकाश देता है, परन्तु उसके नीचे अंधकार बना रहता है, उसी प्रकार कितनेक जीव द्रव्य ज्ञान सम्पादन करके सत्य, सरल, रुचिकर, शुद्ध उपदेश आदि के द्वारा अन्य अनेक व्यक्तियों को सद्धर्म का बोध कराते हैं, धर्मनिष्ठ बनाते हैं, स्वर्ग-मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं, किन्तु अपने आपके हृदय में रहे हुए अंधकार का नाश नहीं कर सकते। उन्हें ऐसा अभिमान होता है कि हम तो साधु हो गये हैं; अब हमें किसी प्रकार का पाप नहीं लग सकता। कदाचित् थोड़ा पाप लग भी जाय तो हमारे द्वारा होने वाले उपदेश रूप उपकार से ही वह दूर हो जायगा। इस प्रकार वे अन्तरात्मा में दोषों का डर रखते हुए, व्यवहार न बिगड़े, इस विचार से गुप्त अकृत्य भी कर डालते हैं। ऐसा समकित अभव्य तथा दुर्लभबोधि जीवों को होता है। यह जीव व्यवहार में साधु या श्रावक दिखाई देते हैं तथापि मिथ्यात्व गुणस्थान से ऊपर नहीं चढ़ सकते हैं।

(४) निश्चयसम्यक्त्व—सम्यक्त्व का घात करने वाली कर्मप्रकृतियों का क्षय करके जिन्होंने आत्मा में सम्यक्त्व गुण प्रकट किया है, वे निश्चय-सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को देव मानते हैं, स्व-परभेदविज्ञान के दर्शक ज्ञान को गुरु मानते हैं और आत्मा के विशुद्ध उपयोग में रमणतापूर्वक विवेकयुक्त की हुई क्रिया को धर्म मानते हैं। इस प्रकार इन तीन तत्त्वों में निश्चयात्मक दृढ़श्रद्धालु बनते हैं। कारण—(१) अभव्य जीव ज्ञानादि गुणों की आराधना नहीं कर सकता और भव्य जीवों में भी जिनकी आत्मा विशुद्ध होगई होगी, वे ही स्वभाव से अथवा गुरु के उपदेश से आत्मकल्याण के अभिमुख हो सकते हैं। अतः आत्मा ही देव है। (२) विद्या गुरूणां गुरुः। जो ज्ञानयुक्त-ज्ञानाधिक होता है, वही गुरुपद प्राप्त करने योग्य होता है। अतएव गुरुओं का भी गुरु ज्ञान ही है। (३) शुद्धोपयोगपूर्वक की हुई धर्म-क्रिया निर्जरा का कारण होती है और उपयोग की शुद्धि के लिए ही सब

धर्मक्रिया की जाती है। अतः वास्तविक धर्म विशुद्ध उपयोग में ही है। इस प्रकार निश्चय में आत्मावलंबी के यह सम्यक्त्व के तीन तत्त्व होते हैं। ऐसी जिसकी श्रद्धा हो उसी को निश्चय समकिती जानना चाहिए।

निश्चयसम्यक्त्व का लक्षण

(छप्पय छन्द)

●

राग द्वेष अरु मोह नहीं निज माहीं निरखत,
दर्शन ज्ञान चरित्र शुद्ध आतम-रस चक्खत।
परद्रव्यों से भिन्न चीह्न चेतन पद मंडित,
वेदत सिद्ध समान शुद्ध निज रूप अखण्डित।
सुख अनन्त जिस पद वसत, सो निश्चय समकित महत।
भये विचक्षण भविक जन, श्रीजिनन्द इस विधि कहत॥

अर्थात्—जिस जीव को निश्चयसम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, वह जीव अपने आत्मा में राग, द्वेष और मोह को देखता ही नहीं है। यह तीनों दोष अदृश्य से उसके आत्मा में मन्द पड़ जाते हैं, अर्थात् वह इन दोषों को उत्पन्न नहीं होने देता है। वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप आत्मा के गुण रूपी परम रस का ही आस्वादन करता है। आत्मा का और पुद्गल का असली स्वरूप समझ कर, अपने आत्मा को पुद्गलपरिणति से अलग कर लेता है और आत्मा के गुणों में लीन रहता है। शुद्ध और अखंडित आत्म-ज्योति को प्रकट करके देह में रहता हुआ भी देहातीत हो सिद्ध समान सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार यह निश्चयसम्यक्त्व अनन्त सुखों के स्थान सिद्धगति को प्राप्त कराने वाला है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का आदेश है।

(५) व्यवहारसम्यक्त्व—अनन्त चतुष्टय, अष्ट महाप्रातिहार्य आदि गुणों से युक्त अरिहंत भगवान् को देव मानना, छत्तीस गुणों तथा सत्ताईस गुणों से युक्त निर्ग्रन्थ को गुरु मानना और केवली-प्ररूपित दयामय कर्त्तव्य को धर्म मानना व्यवहारसम्यक्त्व है।

व्यवहारसम्यक्त्व का लक्षण

(छप्पय छन्द)

छहों द्रव्य नव तत्त्व भेद जाको सब जाने,
दोष अठारा रहित देव ताको परिमाने।
संयम सहित सुसाधु होय निर्ग्रन्थ निरागी,
मति अविरोधी ग्रंथ ताहि माने पर त्यागी।
केवलि-भाषित धर्म धर, गुणस्थान बूझै परम।
भैया निहार व्यवहार यह, सम्यक्-लक्षण जिन धरम ॥

अर्थात्—जिनको (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) काल (५) जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, इन छह द्रव्यों का और (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध और (९) मोक्ष, इन नौ तत्त्वों का ज्ञान हो, जो इन्हें द्रव्य गुण पर्याय आदि द्वारा यथार्थ रूप से जानते हैं और जो अठारह दोषों से रहित हो उन्हें देव माने, शुद्ध संयम के पालक निर्ग्रन्थ साधु को गुरु माने, जिनेन्द्र भगवान् के मत से अविरोधी वचनों को शास्त्र माने, केवलज्ञानी के कहे हुए (दयामय) धर्म को धर्म माने तथा जो चौदह गुणस्थानों के मर्म का अच्छा ज्ञाता हो, उस तत्त्वश्रद्धानी को व्यवहार सम्यक्त्वी कहते हैं।

सम्यक्त्व के ६७ बोल

(श्रद्धान चार)

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ।
वावण्णकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥

—श्रीउत्तराध्ययन

(१) परमत्थसंथव— आत्मा का परम-उत्कृष्ट अर्थ मोक्ष है। उसकी प्राप्ति और प्राप्ति के उपाय ज्ञानादि रत्नत्रय भी परमार्थ कहलाते हैं। उनके जो ज्ञाता हों, उनका परिचय करना—सत्संग करना जैसे चंदनवृक्ष के आसपास उगे हुए बंबूल के वृक्ष भी सुगंधित हो जाते हैं, और नीम के नज़दीक के आम के फलों में भी कडुकता परिणत हो जाती है, उसी प्रकार सत्संगति से सद्गुणों की और कुसंगति से दुर्गुणों की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिए कि जितनी जल्दी विष अपना प्रभाव दिखलाता है, उतनी जल्दी औषध असर नहीं करती। इसी प्रकार कुसंगति का असर बहुत शीघ्र होता है और उसका परिणाम भी विष के समान दुःखदाता होता है; जब कि सत्संगति का प्रभाव धीरे-धीरे होता है किन्तु उसका परिणाम उत्तम औषध के समान सुखदाता होता है।

(२) सुदिट्ठपरमत्थसेवणा—जिन्होंने सुदृष्टि से-सम्यग्दृष्टि से परमार्थ को जान लिया है, ऐसे रत्नत्रय के धारक की सेवा-भक्ति करना, संगति करना। क्योंकि जैसे राजा की सेवा करने वाला राज-ऋद्धि का अधिकारी बनता है, उसी प्रकार परमार्थ के ज्ञाता, सुदृष्टिमान का जो उपासक होता है, वह भी परमार्थ का वेत्ता और सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

(३) वावण्णवज्जणा—जिसने सम्यग्दर्शन का वमन कर दिया है अर्थात् जिसने सम्यक्त्व का त्याग करके मिथ्यात्व को स्वीकार कर लिया है, ऐसे भ्रष्ट जनों की संगति न करना। क्योंकि जैसे व्यभिचारिणी स्त्री, सती स्त्रियों पर झूठे कलंक चढ़ाती है उसी प्रकार सम्यक्त्व से भ्रष्ट लोग सच्चे धर्मात्मा साधु आदि चारों तीर्थों पर अनहोते दोष लगाते हैं। अज्ञ भोले लोगों के सामने सद्गुणों को भी दुर्गुण बतलाने लगते हैं और उन्हें भ्रम में फँसाकर भ्रष्ट कर देते हैं। तथा जैसे एक दीवाला निकालने वाला अनेक दीवाला निकालने वालों के नाम हाजिर करके अपने दोष को छिपाना चाहता है, उसी प्रकार धर्मभ्रष्ट पुरुष अनेक सत्पुरुषों के भी, अनहोते दुर्गुणों को कह कर दूसरों को भी भ्रष्ट करता है।

दृष्टान्त—किसी दुर्बुद्धि मनुष्य को व्यभिचार करने के अपराध में राजपुरुषों ने पकड़ा और उसकी नाक काट कर देश निकाला दे दिया।

उसने अपना ऐब छिपाने के लिए साधु का वेष धारण कर लिया। वह नाचने-कूदने लगा और लोगों से कहने लगा—भाइयो! अगर किसी को परमात्मा का साक्षात्कार करना है तो अहंकार को-अभिमान को सब से पहले तिलांजलि दे देनी चाहिए। इस शरीर में अहंकार का खास चिह्न नाक है। जो इस नाक को दूर कर देगा, उसी को परमात्मा का साक्षात्कार हो सकेगा। मेरा भाग्य धन्य है! सत् चित्-आनन्द की क्या ही मनोहर और अनिर्वचनीय झांकी दिखाई दे रही है। अहा! यह स्वरूप देखते ही बनता है! बहुत-से भोले लोग उस नकटे साधु के झांसे में आ गये और परमात्मा को साक्षात् देखने को उत्सुक होकर अपनी-अपनी नाक कटा कर उसके चेले बनने लगे। वह साधु गुरुमंत्र सुनाने के बहाने उस नये नकटे से कह देता—मैं अपना ऐब छिपाने के लिए यह ढोंग कर रहा हूँ। अगर तू ने मेरी हाँ में हाँ नहीं मिलाई तो याद रखना, तेरी आबरू मिट्टी में मिला दूँगा। मैं कह दूँगा कि यह कोई बड़ा भारी पापी है। इसी कारण परमात्मा इसे दर्शन नहीं दे रहे हैं। फिर सब लोग तुझे नकटा पापी कह कर तेरा तिरस्कार करेंगे। यह सुनकर वह डर जाता। वह सोचता-नाक तो कट गया; अब किसी भी उपाय से वह आ नहीं सकता। ऐसी हालत में धूर्त का कहा मानना ही श्रेयस्कर है। ऐसा सोच कर वह भी वैसा ही ढोंग करने लगता था। इस प्रकार करते-करते उसने ५०० चेलों की जमात बना डाली। उसका उपदेश सुनकर एक राजा भी नकटा होने लगा। राजा का प्रधान-मंत्री जैन था। उसने कहा-भोले महाराज! नाक कोई पहाड़ नहीं है, जिसकी ओट में ईश्वर छिपा हो और जिसके दूर होते ही वह प्रकट हो जाय। नाक कटवा लेने से ईश्वर कदापि नहीं दिखाई दे सकता।

राजा ने कहा—तो क्या यह पाँच सौ साधु-सभी झूठे हैं?

प्रधान ने कहा—जी हाँ। ठहरिये, मैं असली मर्म का पता लगाने की कोशिश करता हूँ।

इतना कह कर प्रधान नकटों के गुरु को दूसरे महल में ले गया। गहरा लालच देकर उससे पूछा-सच कहो, क्या तुम्हें वास्तव में ही परमात्मा

दिखाई देता है ? अगर सच कह दोगे तो मुंह माँगा पुरस्कार मिलेगा। झूठ बोले तो याद रखना, इस खंभे से बाँध दिये जाओगे और जीते जी चमड़ी उधड़वा ली जायगी। साधु, मंत्री के प्रभाव में आगया और डर का मारा थर-थर काँपने लगा। बोला-आप मेरे प्राण बचने दीजिए। मैं सच-सच बात बतलाये देता हूँ। वास्तव में हम सब झूठे हैं और अपना ऐब छिपाने के लिए मैंने ही यह करामात की है।

इस प्रकार असली भेद खुल गया। राजा नकटा होने से बच गया और दूसरे समझदार लोग भी उसके चकमे में आने से बचे।

कितने ही लोग जिनेन्द्र-प्रतिपादित कठिन और निरालम्बन वृत्ति का निर्वाह न कर सकने के कारण, मंत्रसिद्धि आदि अनेक प्रकार के लालच दे कर अज्ञानी जनों को भ्रम में फँसा लेते हैं और फिर उन्हें धर्म से भ्रष्ट कर देते हैं। फिर वे पेटार्थी बन कर मान-पूजा के भूखे होकर, उनका ही कहा करते हैं। कोई-कोई जो प्रधानमंत्री के समान बुद्धिमान् होते हैं, वे उनके पाखण्ड में नहीं फँसते, बल्कि अपनी विवेकबुद्धि के द्वारा उस पाखण्ड को प्रकट कर देते हैं और दूसरों को भी बचा लेते हैं।

(४) कुदंसणवज्जणा—कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और कुशास्त्र को मानने वाले, जिन भगवान् के कथन से विपरीत क्रिया करने वाले, कदाग्रही मिथ्या-दृष्टियों की संगति न करे। क्योंकि अनन्तकाल तक आत्मा ने मिथ्यात्व के साथ रमण किया है, अतएव आत्मा मिथ्यात्व से अत्यन्त परिचित हो रहा है। मिथ्यादृष्टियों की बातों का उस पर जल्दी ही असर हो जाता है। अतएव मिथ्यादृष्टि से पहले से ही दूर रहना अच्छा है। भोले लोगों को फँसाने के लिए कितनेक कुदर्शनी कहते हैं-तुम्हारे धर्म की तरह हमारा भी धर्म अहिंसामय है। विशेष भेद कुछ नहीं है। ऐसा सुनकर भोले लोग उनका संसर्ग करने लगते हैं। फिर धीरे-धीरे वे समझाने लगते हैं-अपने सुख भोग के लिए की हुई हिंसा को हिंसा गिनना, किन्तु धर्मार्थ की हुई हिंसा अहिंसा ही है। जैसे तुम्हारे साधु धर्म की रक्षा के लिए नदी उतरते हैं, आदि-आदि। यह सुनकर भोले लोग भ्रम में पड़ जाते हैं, किन्तु जो सुज्ञ जन होते हैं वे

तत्काल उन्हें उत्तर देते हैं कि एक ही नगर आदि में प्रतिबंध होने और संयम के नष्ट होने की संभावना रहती है। इसीलिए मुनि ग्रामानुग्राम विहार किया करते हैं। ऐसा करने में कदाचित् नदी को पार करना अनिवार्य हो जाता है तब उसके लिए पश्चात्ताप करते हुए ही वे नदी पार करते हैं। नदी में उतरने को धर्म कदापि नहीं समझते, बल्कि पाप ही मानते हैं। उसका प्रायश्चित्त भी करते हैं। किन्तु तुम धर्मार्थ हिंसा करके हर्ष मानते हो, उसे पाप नहीं समझते, इसलिए चिकने कर्म बाँधते हो। संसार के कामों के लिए की हुई हिंसा को तो तुम भी हिंसा मानते हो, मगर धर्म के लिए की हुई हिंसा को पाप नहीं मानते। इस धृष्टता का क्या वर्णन करें ? ग्रन्थकार तो यह कहते हैं:—

अन्यस्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने प्रणश्यति।
धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति॥

अर्थात्—दूसरी जगह किये हुए पाप धर्मस्थान में जाकर धर्मक्रिया करने से नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जो पाप धर्मस्थान में जाकर किया जाता है, उसकी निवृत्ति कहाँ होगी ? इस लिए जिस प्रकार साधु का नाम-वेश धारण करके अनाचार का सेवन करने से वज्र-कर्मों का बन्ध होता है, उसी प्रकार धर्मस्थान में की हुई हिंसा भी वज्र-कर्मबंध का कारण होती है। हँसते-हँसते जो कर्मबंध किये जाते हैं, वे कर्म फिर रोते-रोते भी छूटने कठिन हो जाते हैं। सुज्ञ पुरुष इस प्रकार उत्तर देकर अपनी आत्मा को और दूसरे धर्मात्माओं को पाखण्डियों के फंदे से बचा लेते हैं। सम्यग्दृष्टि की यह चार आस्थाएँ होती हैं।

दूसरा बोल—सम्यक्त्व के तीन लिंग



लिंग का अर्थ है चिह्न। जैसे उष्णता अग्नि का चिह्न है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के निम्नलिखित तीन चिह्न हैं। इनसे सम्यक्त्व की पहिचान होती है:—

(१) जैसे हृष्टपुष्ट नवयुवक पुरुष, रूप-लावण्य से सम्पन्न सोलह वर्ष की नवयुवती के हाव-भाव, विलास और समागम में आसक्त होता है उसी प्रकार भव्य सम्यग्दृष्टि जीव जिनवाणी को श्रवण करने में आसक्त होता है। वह जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित शास्त्रों का पठन या श्रवण करने में तन्मय हो जाता है।

(२) जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है, ऐसा स्वस्थ पुरुष एक प्रहर भी भूखा नहीं रह सकता। दैवयोग से उसे तीन दिन या सात दिन तक भूखा रहने का प्रसंग आजाय, और उसके पश्चात् क्षीर आदि मधुर एवं मनोज्ञ पदार्थ प्राप्त हों; तो जैसे वह उन पदार्थों का रुचि के साथ सेवन करता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वी पुरुष जिनवाणी को श्रवण करने के लिए तृषित रहता है। जब जिनवाणी को श्रवण करने का अवसर पाता है तो प्रेमपूर्वक भक्ति-भाव के साथ श्रवण करता है और श्रवण करके अपने जीवन को धन्य मानता है।

(३) जैसे कोई तीव्रबुद्धि और गहरी जिज्ञासा वाला पुरुष विद्याभ्यास का इच्छुक हो और उसे शान्त, तेजस्वी, औत्पातिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न पढ़ाने वाले विद्वान् पण्डित का सुयोग मिल जाय, तो जैसे वह पुरुष हर्ष और उत्साह के साथ विद्या ग्रहण करता है और पढ़ी हुई विद्या को बार-बार स्मरण-चिन्तन करके अपने हृदय में चिरस्थायी बना लेता है; उसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव हर्ष और उत्साह से युक्त होकर जिनवाणी को ग्रहण करता है और बार-बार स्मरण, मनन, निदिध्यासन करके उसके रस को चिरस्थायी बनाता है।

जैसे वचन सुनने में आते हैं प्रायः वैसे ही विचार बन जाते हैं और फिर वे विचार कालान्तर में उस व्यक्ति की वैसी ही प्रवृत्ति के कारण बनते हैं। शुद्ध कथन के श्रवण से शुद्ध विचार और अशुद्ध कथन के श्रवण से अशुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं। किन्तु शुद्ध विचारों की अपेक्षा अशुद्ध विचारों का असर बहुत शीघ्र होता है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि ऊपर चढ़ने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है और विलम्ब भी लगता है, पर नीचे गिरने में

न अधिक समय लगता है और न प्रयास ही करना पड़ता है। वेश्या, नर्तकी आदि का नृत्य और गायन देखने-सुनने का जब प्रसंग प्राप्त होता है, तो मृदंग और तबला में से आवाज निकलती है—डुबक डुबक; अर्थात् डूबे,-डूबे। तब मंजीर में से प्रश्न रूप ध्वनि आती है–'कुण कुण ?' अर्थात् कौन-कौन ? तब वेश्या मानो इस प्रश्न का उत्तर देती हुई घूम-घूम कर, दोनों हाथ पसार-पसार कर कहती है—'ये जी भला ये !' अर्थात् कुदृष्टि से देखने वाले जितने हैं, वे सभी डूबते हैं।* किन्तु प्रेक्षक लोग इन्द्रियों के विषय में लुब्ध हो, मुग्ध बन कर, परमार्थ की परवाह न करते हुए, वेश्या के कामोत्तेजक हाव-भाव, कटाक्ष आदि के सन्मुख देखते और प्रसन्न होते हुए, उसके शब्दों में आसक्त होकर प्रसन्नतापूर्वक पतित बनते हैं। इस प्रकार जैसे विषयोत्पादक शब्दों का असर जल्दी होता है, वैसा वैराग्योत्पादक शब्दों का प्रभाव होना कठिन है। जैसे करेला और नीम का कीड़ा कटुक रस में ही मज़ा मानता है उसी प्रकार गुरुकर्मा जीव डूबने में ही मज़ा मानता है। उसे धर्म कथा के नाम से ही ज्वर चढ़ आता है ! यह मिथ्यादृष्टि के चिह्न हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष पूर्वोक्त कथन के अनुसार जिनवचनों के श्रवण-मनन आदि में मग्न रहते हैं। यह सम्यग्दृष्टि के तीन चिह्न हैं।

तीसरा बोलः—विनय दस



धर्म का मूल विनय है। जहाँ विनय गुण का अस्तित्व होता है वहाँ अन्यान्य गुण स्वयं आकर्षित होकर चले आते हैं। सम्यक्त्वी पुरुष में विनय-नम्रता का गुण स्वाभाविक ही होता है। कितनेक खुशामदी लोग राजाओं के सामने, तथा राजमान्य, श्रीमान्, बलवान् आदि के सामने नम्रता धारण करते हैं। वे समझते हैं कि ऐसा करने से हमें सुख की प्राप्ति होगी। इनकी

---

*सवैया—नर राम विसार के काम रचे, गुरु साधु-कथा न गमे तिनको।
दाम दे रामा बुलाय लई, तिहाँ लागे हैं रामा नचावन को।
धिक है धिक है मिरदंग कहे, मंजीर कहे किन को किन को ?
तब रामा हाथ पसार कहे, इनको इनको इनको इनको।

सहायता से हमारा मनोरथ पूर्ण हो सकेगा। मगर आजकल प्रायः उलटा ही मामला देखा जाता है। राजा की तरफ से उपाधियों के रूप में जो पुरस्कार मिलता है, जैसे रायबहादुर, दीवानबहादुर, आदि-आदि, इससे सरकार इन उपाधिधारियों को मुफ्त में अपना नौकर बना लेती है और अपने जाल में उन्हें फँसा लेती है। कदाचित् दी हुई उपाधि वापिस छीन ली जाय तो वह दुनिया में मुख दिखाते भी शरमाता है। कभी-कभी तो अपघात करने का भी प्रसंग आ जाता है। और श्रीमंत लोग तो श्रीमंतों को ही पसंद करते हैं और उन्हीं का आदर करते हैं। वे धन के मद में चूर होकर गरीबों को तुच्छ समझते हुए, उनसे बोलने में भी खुश नहीं होते। उनकी सहायता करने की तो बात ही दूर रही! गरीबों के रक्षक श्रीमान् क्वचित् विरले ही मिलेंगे। मगर सच समझो, वक्त पर गरीब जितना काम आता है, प्रायः श्रीमंत नहीं आता। संसार में सुखोपभोग के जितने पदार्थ हैं, उनमें विशेष हिस्सा गरीबों का ही है। ऐसा जानते हुए भी बहुत-से लोग राजा श्रीमानों का तो विनय करते हैं किन्तु धर्मात्माओं का विनय नहीं करते। गुणी जनों का विनय न करना कितने अफसोस की बात है! समझना चाहिए कि श्रीमंतों का विनय स्वार्थसाधन का हेतु होने से विनय की गिनती में नहीं आता, उसे तो चापलूसी कहते हैं। सच्चा विनय वह है जो गुणों में वृद्ध जनों का किया जाता है। ऐसे विनय के दस प्रकार हैं:—(१) अरिहन्त का विनय (२) सिद्ध का विनय (३) आचार्य का विनय (४) उपाध्याय का विनय (५) स्थविर का अर्थात् ज्ञानवृद्ध, चारित्रवृद्ध और वयोवृद्ध का विनय (६) तपस्वी का विनय (७) समान साधु का विनय (८) गण-सम्प्रदाय का विनय (९) साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप संघ का विनय और (१०) शुद्ध क्रियावान् का विनय।

चौथा बोल—शुद्धता तीन

●

जिस प्रकार रक्त से भरे वस्त्र को रक्त से ही धोया जाय तो वह शुद्ध नहीं होता किन्तु अधिक मलीन होता है; उसी प्रकार आरंभ-परिग्रह आदि

से मलीन आत्मा आरंभ के कृत्य करने से विशुद्ध नहीं हो सकती। ऐसा करने से आत्मा की मलीनता और अधिक बढ़ती है।

आत्मा की विशुद्धि निरारंभी कार्य करने से-आरंभ का त्याग करने से होती है। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को निर्मल बनाने के लिए, मन, वचन काय से आरंभ से निवृत्त होते हैं। जो देव, गुरु तथा धर्म आरंभ के काम में रक्त हैं, उनका भी वे त्याग करते हैं, क्योंकि जैसे की उपासना, सेवा, भक्ति, ध्यान, स्मरण, संगति की जाती है, वैसी ही बुद्धि भी हो जाती है। सुना जाता है कि-भ्रमरी लट (द्वीन्द्रिय कीड़े) को पकड़ लाती है और अपने मिट्टी के घर में मूँद देती है और उसके ऊपर गुन-गुनाती रहती है। कालान्तर में उस घर को फोड़ कर वही कीड़ा भ्रमरी बन कर बाहर आता है। बड़े-बड़े शास्त्रवेत्ता, ध्यान का फल और संगति का गुण दिखलाने के लिए यह उदाहरण दिया करते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य अशुद्ध अर्थात् कामक्रोध आदि रिपुओं से ग्रसित देव या गुरु का उपासक बनता है, उनके कहे धर्म का आचरण करता है, वह कामी, क्रोधी आदि होकर मायाजाल में फँस जाता है इसके विपरीत, जो कामादिक शत्रुओं को जीतने वाले देव-गुरु की उपासना करता है, उनके कहे धर्म का आचरण करता है, वह कामादि शत्रुओं का विजेता बन कर इह-परभव में परमानन्दी, परमसुखी बन जाता है। ऐसा जान कर सम्यक्त्वी जीव निरारंभी देव, गुरु, धर्म को* (१) मन से अच्छा समझते हैं (२) वचन से उन्हीं का गुणगान करते हैं और (३) काय से उन्हीं को नमस्कार करते हैं। ऐसा करने से उनके तीनों योगों के व्यापार अर्थात् विचार, उच्चार और आचार पवित्र रहते हैं।

---

* *भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः।*
अनुद्धता सत्पुरुषाः समृद्धिभिः, स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥

अर्थात्—जैसे फल लगने पर वृक्ष नम्र हो जाते हैं, जल से भरे मेघ भूमि की ओर झुक जाते हैं, उसी प्रकार सत्पुरुष सम्पत्ति पाकर नम्र हो जाते हैं; परोपकारियों का स्वभाव ही ऐसा होता है।

पाँचवाँ बोल—दूषण पाँच



जैसे वात, पित्त, कफ आदि दोषों का उद्भव होने से शरीर रुग्ण होता है, उसी प्रकार निम्नलिखित पाँच दोषों से सम्यक्त्व रुग्ण अर्थात् दूषित हो जाता है:—

(१) शंका—श्रीजिनप्रणीत शास्त्र के कथन में संशय धारण करना; जैसे:-(१) एक बूँद पानी में, घड़े भर पानी में और समुद्र के पानी में भी असंख्यात-असंख्यात जीव बतलाये हैं। यह कथन किस प्रकार सच्चा माना जाय? क्योंकि जब एक ही बूँद में असंख्यात जीव हैं तो घड़े भर पानी में असंख्यात से भी ज्यादा जीव होने चाहिए और समुद्र भर पानी में और भी अधिक होने चाहिए। कहाँ एक बूँद और कहाँ समुद्र?

ऐसी शंका करने वाले को समझना चाहिए कि दो को भी संख्या कहते हैं, हजार को भी संख्या कहते हैं, लाख, करोड़ और परार्ध को भी संख्या कहते हैं। दो में और परार्ध में कितना अन्तर है? फिर भी इन्हें एक ही शब्द कहते हैं। इसी प्रकार एक बूँद में और समुद्र में बहुत अन्तर है। एक बूँद में जितने जीव हैं, उनकी अपेक्षा घड़े भर पानी में असंख्यात गुणा अधिक हैं, समुद्र के पानी में इससे भी असंख्यातगुणा अधिक जीव हैं; फिर भी सामान्य रूप से उन सभी में असंख्यात ही जीव कहलाते हैं, क्योंकि असंख्यात के असंख्यात विकल्प हैं।

दूसरी आशंका यह की जाती है कि पानी के छोटे से बूँद में असंख्यात जीवों का समावेश किस प्रकार हो सकता है? ऐसी शंका करने वालों को समझना चाहिए कि जैसे एक करोड़ औषधियों का अर्क निकाल कर तेल बनाया गया हो तो उस तेल के एक बूँद में ही करोड़ औषधियों का समावेश हो जाता है, जब मनुष्य के बनाये हुए पदार्थ में भी इस प्रकार रूपी पदार्थों का समावेश हो जाता है, तो फिर कुदरती वस्तु के एक बूँद में असंख्यात जीवों का समावेश होने में क्या आश्चर्य है? कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। असंख्यात तो क्या, अनन्त का भी समावेश हो सकता है।

इस प्रकार की और-और भी अनेक आशंकाएँ करके कितने ही अज्ञानी जीव जिन वचनों को अयथार्थ समझने लगते हैं। 'संकाए नासे सम्मत्तं' आचारांगसूत्र के इस कथन के अनुसार वे अपने सम्यक्त्व को नष्ट कर डालते हैं। ऐसा जान कर सम्यक्त्वी पुरुष मिथ्यात्वियों के कुहेतुओं और कुदृष्टान्तों से प्रभावित होकर कभी भी जिन वचनों में शंकाशील नहीं होते हैं। अगर शास्त्र की कोई बात समझ में नहीं भी आती तो अपनी बुद्धि की कमी मानते हैं, परन्तु जिनवचनों को तो सत्य ही समझते हैं। श्री आचारांग सूत्र में कहा है;—

तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

अर्थात् वही तत्त्व सच्चा और असंदिग्ध है, जो जिनों ने कहा है। सम्यग्दृष्टि का यह मुद्रालेख है।

(२) कांक्षा—श्रीजिनेश्वर भगवान् द्वारा प्रणीत विनयमूलक, दयामय धर्म, सब प्रकार के ढोंग-धतूरों से रहित और सत्य है। इस धर्म को पालने वाला, अन्य मतावलम्बियों के मिथ्याडम्बर या झूठे चमत्कारों से प्रभावित होकर, व्यामोह को प्राप्त होकर, उस मत को ग्रहण करने की अभिलाषा करे तो कांक्षा दोष लगता है। सम्यग्दृष्टि इस दोष से दूर रहता है। वह समझ लेता है कि यह मिथ्या आडम्बर या चमत्कार आत्मा का कल्याण करने वाले नहीं हैं।

किसी ऊँट ने हलवाई की दुकान के पास लींडे किये। उनमें से एक लींडा उछल कर चासनी की कढ़ाई में पड़ गया और उस पर शक्कर का गलेफ चढ़ गया। वह लड्डू सरीखा बन गया। हलवाई ने उसे लड्डूओं के साथ रख दिया और वह लड्डुओं के भाव में ही बिक गया। जहाँ तक गलेफ था वहाँ तक खाने वाले को मजा आया, पर आखिर तो वह लींडा ही था! लड्डू में जैसे भीतर-बाहर मिठास होती है, वह उसमें कैसे हो सकती थी? इसी प्रकार बालतपस्वी नाखून बढ़ाना, उलटे लटकना, शरीर सुखाना, पंचाग्नि तप करना और कन्दमूल आदि का भक्षण करना, वगैरह

तप करते हैं। वे कन्दमूल के फलादि के अनन्त जीवों की, अग्नि के असंख्य जीवों की और अग्नि में गिरने वाले अनेक त्रस जीवों की हिंसा करते हैं। वे बेचारे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण दूसरों की देखा देखी अविवेकपूर्वक क्रियाएँ करते हैं और अज्ञान तप से भोले लोगों के दिल में व्यामोह उत्पन्न करके इस लोक में महिमा-पूजा प्राप्त कर लेते हैं। अज्ञान-कष्ट के प्रभाव से परलोक में वे आभियोग्य (नौकर) जाति के देवों की जाति में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वे सांसारिक सुख का कुछ अंश तो भले ही पालें, किन्तु चौरासी के चक्कर से छुटकारा नहीं पा सकते। नमिराज ऋषि ने शक्रेन्द्र से कहा था:-

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं❀ ॥

श्री उत्तराध्ययन, अ. ९.

❀ इस गाथा के चौथे पद 'कलं अग्घइ सोलसिं' का अर्थ 'मोहनगुणमाला' नामक ग्रन्थ के उत्तरार्ध में दिया है। निम्नोक्त सोलह कलाएँ बतलाई गई हैं:—

(१) चेतन की चेतना अक्षर के अनन्तवें भाग अनावृत (उघड़ी) रहना।

(२) यथाप्रवृत्ति करण में वर्धमान परिणाम की धारा होने पर सब कर्मों की स्थिति का क्षय करके एक कोड़ा कोड़ी सागर से कुछ कम रह जाना।

(३) अपूर्वकरण में ग्रंथिभेद करना।

(४) अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्व को दूर करना।

(५) शुद्ध श्रद्धा-सम्यक्त्व की प्राप्ति होना।

(६) देशविरति की प्राप्ति होना।

(७) सर्वविरति चारित्र के गुण प्रकट होना।

(८) धर्मध्यान की एकाग्र धारा बन जाना।

(९) क्षपकश्रेणी पर आरोहण होना।

(१०) अवेदी होकर शुक्लध्यान की धारा प्रकट होना।

(११) सर्वथा लोभ का क्षय हो जाने पर आत्मज्योति प्रकट होना।

(१२) चार घनघातिया कर्मों का क्षय होना।

(१३) केवल ज्ञान की प्राप्ति होना।

(१४) शैलेशीकरण की प्राप्ति होकर योगों का निरोध करना।

(१५) अयोगी होकर सब कर्मों को नष्ट करना।

(१६) सिद्ध-परमात्म पद की प्राप्ति होना।

अर्थात्—कोई अज्ञानी करोड़ पूर्व वर्ष पर्यन्त निरन्तर महीने-महीने का उपवास करे, पारणे में कुशाग्र पर आवे उतना आहार करे और अंजलि में आवे उतना पानी पीए, तो अज्ञानी जीव का इतना भारी तप भी सम्यग्दृष्टि के नवकारसी (दो घड़ी) के तप की बराबरी नहीं कर सकता। क्योंकि सम्यग्दृष्टि का तप भवभ्रमण को घटाने वाला होता है और अज्ञानी का तप संसार की वृद्धि करने वाला होता है।

परमार्थ को न जानने वाला कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष कदाचित् विचार करे कि इतना दुष्कर तप तो अपने मत में नहीं है; इसलिए यह तप भी मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग को हमें भी स्वीकार करना चाहिए। तो ऐसा विचार करने से ही उसके सम्यक्त्व में कांक्षा दोष लगता है। दृढ़ सम्यक्त्वी पुरुष जानता है कि मोक्ष के मार्ग दो नहीं हैं। सच्चा मोक्षमार्ग तो वीतराग प्रणीत दयामूलक धर्म ही है। वे गान-तान, नृत्य, ख्याल, स्नान, शृंगार तथा अन्य हिंसक क्रियाओं से होने वाले अन्य मतावलम्बियों के फितूर से कभी व्यामोह को प्राप्त नहीं होते। वे वीतरागप्रणीत जैन धर्म के सिवाय किसी भी अन्य मत की कांक्षा-वाञ्छा नहीं करते हैं।

(३) विचिकित्सा—कितनेक जैनधर्मावलम्बी उपवास आदि तप, सामायिक आदि धर्मक्रिया और दान आदि धर्म का स्वयं पालन करते हैं अन्य को पालन करते देखते हैं; किन्तु इस लोक सम्बन्धी कुछ भी फल की प्राप्ति न होती देखकर, कई-एक धर्मात्माओं को दुखी देखकर मन में वहम करने लगते हैं कि इतनी धर्मक्रिया की गई, मगर उसका फल तो कुछ भी दिखाई नहीं दिया! ऐसी दशा में धर्मार्थ जो इतना कष्ट उठाया जा रहा है यह सब निरर्थक ही तो नहीं है? अमुक को धर्म करते इतने दिन हो गए,

---

अज्ञान तप करने वाला इन सोलह कलाओं में से प्रथम कला में ही रहता है। भले ही वह चारों वेदों और षट् शास्त्रों में पारगामी हो, पर सम्यग्दर्शन के बिना उसका ज्ञान सम्यक् नहीं होता, इसलिए वह गिनती में नहीं आता। क्योंकि जब तक जीव और अजीव का विवेक न हो जाय, तब तक समग्र विद्या अविद्या ही है। इसलिए सुआख्यात धर्म की जिसको प्राप्ति हुई है, उसी की करणी उक्त कलाओं को प्रकट कर सकती है। उसी की अपेक्षा से उक्त कथन किया है।

उसको भी अभी तक फल प्राप्त नहीं हुआ। तो मुझे क्या मिलने वाला है? इस प्रकार विचार करना विचिकित्सा दोष है।

ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि करणी कदापि निष्फल नहीं होती है। करणी चाहे अच्छी हो या बुरी, काल पकने पर उसका फल अवश्य ही प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि औषध लेने वाले प्रत्येक रोगी को तत्काल नीरोगता नहीं प्राप्त हो जाती; किन्तु नियत समय तक सेवन करने पर और पथ्य का पालन करने पर कालान्तर में ही वह गुण करती है। हे भव्य! थोड़े काल से उत्पन्न हुए रोग का नाश करने में भी जब इतना समय लगता है तो अनादि काल के कर्म-रोग का समूल विनाश तत्काल कैसे हो सकता है? किन्तु धर्म करणी रूपी औषधि का सेवन करके, जो दोषत्याग रूप पथ्य का पालन करेगा, उसे कालान्तर में सुखसम्पदा रूप फल की प्राप्ति अवश्य होगी।

आम का वृक्ष क्या तत्काल फल देने लगता है? वर्षों तक उसे सींचना पड़ता है, उसकी रक्षा करनी पड़ती है, तब कहीं काल पूर्ण होने पर उसके फल मिलते हैं। महान् परिश्रम से खेत जोतकर उसमें बोया हुआ बीज भी कालान्तर में फल देता है। इसी प्रकार करनी का फल अबाधा काल समाप्त होने पर अवश्य प्राप्त होता है।

किसी ने वैद्यराज से पूछा—किस पदार्थ के खाने से ताकत आती है?
वैद्यराज ने उत्तर दिया—दूध पीने से।

प्रश्नकर्त्ता ने उसी वक्त भरपेट दूध पिया और मल्ल के साथ कुश्ती करने के लिए अखाड़े में कूद पड़ा। नतीजा वही हुआ, जो हो सकता था। वह जब हार गया तो क्रोधित होकर वैद्यराज को उलहना देने लगा—तुम झूठी दवा बताकर दूसरों का फजीता करवाते हो!

वैद्यराज ने हँसते हुए कहा—बाबा, मेरी दवाई सच्ची है; मगर समय पर गुण करेगी।

यही दशा उस उतावले मनुष्य की है , जो धर्मक्रिया के फल की तत्काल अपेक्षा करता है ।

कोई-कोई धर्मात्मा दुःखित अवस्था में देखे जाते हैं, सो वह दुःख उस समय की जाने वाली करणी का फल नहीं है; किन्तु पूर्वोपार्जित कर्मों का ही फल समझना चाहिए। धर्म तो निश्चय से सुख का ही दाता है; किन्तु पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का क्षय हुए बिना शुभ कर्मों का उदय किस प्रकार होगा ? वास्तव में ऐसा नहीं हो सकता। जिस प्रकार शारीरिक नीरोगता के लिए वैद्य पहले जुलाब देकर कोठा साफ करता है, फिर औषध देकर और पथ्य का पालन करवाकर नीरोग करता है, उसी प्रकार धर्म करते हुए जो दुःख होता है, वह जुलाब के समान आत्मशुद्धि कारक है। शुद्धि होने पर अशुभ कर्मों का नाश होते ही तत्काल सुख की प्राप्ति हो जायगी। धर्मकरणी का फल सुखरूप होगा, इस विषय में लेश मात्र भी संशय नहीं करना चाहिए।

श्रीउववाई सूत्र के उत्तरार्धविभाग में, करणी के फल के सम्बन्ध में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने, गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया है:—

(१) ग्राम (जिसके चारों ओर धूल का कोट हो) में, आकर (सुवर्ण आदि धातुओं की खान के पास की वस्ती में), नगर (जहाँ कर न लगता हो) में, कर्वट (मध्यम वस्ती वाले ग्राम-कसबे) में, मंडप (शहर के पास की वस्ती) में, द्रोणमुख (जहाँ जाने के लिए जल मार्ग भी हो और स्थलमार्ग भी हो-बंदर) में, पाटन (जहाँ सभी प्रकार के पदार्थ मिल सकते हों) में, आश्रम (तापसों के निवास स्थान) में, संवाह (पहाड़ी वस्ती) में, तथा सन्निवेश (गुवालों की वस्ती) में, आदि स्थानों में रहने वाले मनुष्यों को आहार-पानी नहीं मिलने के कारण भूख-प्यास सहन करनी पड़े, स्त्री आदि न मिलने से ब्रह्मचर्य पालना पड़े, मरुस्थल जैसे प्रान्त में विशेष पानी न मिलने के कारण स्नान किये बिना ही रहना पड़े, वस्त्र और स्थान न मिलने से सर्दी, गर्मी, डांस-मच्छर-खटमल आदि का दंश सहन करना पड़े, इस प्रकार अकाम (बिना

स्वेच्छा के) कष्ट स्वल्प समय तक अथवा दीर्घकाल तक सहन करना पड़े, तो कष्ट सहन करने वाले जीव पुण्य का उपार्जन करते हैं। मृत्यु के अवसर पर अगर शुभ परिणाम आ जाएँ तो दस हजार वर्ष की आयु वाले वाण-व्यन्तर जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं।

(२) उक्त ग्राम आदि स्थानों में रहने वाले मनुष्य अगर कारागार (कैदखाने) में रक्खे गये हों, काष्ठ के खोड़े में डाल दिये गये हों, बेड़ियाँ पहनाई गई हों, पैरों में लकड़ी डाल दी गई हो, रस्सी से बाँधे हुए हों, उनका हाथ, पैर, कान, आँख, नाक, होठ, दांत, जीभ या मस्तक आदि अंगोपांग छेद दिया गया हो, अंडकोश फोड़ डाले गये हों, शरीर के तिल-तिल बराबर खण्ड कर दिये गये हों, गड़हे या भूगृह में बंद कर दिये हों, वृक्ष से बाँध दिये हों, चन्दन आदि की तरह शिला पर घिसे गये हों, काष्ठ की तरह वसूले से शरीर को छीला हो, शूली से भेद दिये गये हों, पानी में पीले हों, क्षार आदि तीक्ष्ण वस्तु के पानी को शरीर पर छिड़का हो, अग्नि में जलाया हो, कीचड़ में गाड़ दिया हो, भूखे प्यासे रखकर रुला-रुला कर मारा हो, जो इन कारणों से मरे हों अथवा जो मृग-पतंग-भ्रमर-मत्स्य-हस्ती आदि की तरह इन्द्रियों के वश में होकर मृत्यु के शिकार हुए हों, जो लिये हुए व्रत को भंग करके उसकी आलोचना किये विना ही मृत्यु को प्राप्त हुए हों, जो वैर-विरोध को उपशमाये विना-क्षमायाचना किये विना ही मृत्यु को प्राप्त हुए हों, जो पर्वत से अथवा वृक्ष से पड़कर मरे हों, जो हस्ती आदि के कलेवर में प्रवेश करके मरे हों या विष से अथवा शस्त्र से जिनकी मृत्यु हुई हो, इन पूर्वोक्त कारणों में से किसी भी कारण से जो मरे हों, उनको मृत्यु के समय अगर शुभ परिणाम आ जाय तो वे बारह हजार वर्ष की आयु वाले वाण- व्यन्तर देव होते हैं।

(३) उक्त ग्राम आदि में रहने वाले जो मनुष्य स्वभाव से ही भद्र-सरल स्वभावी हों, स्वभाव से ही क्षमावान् और शीतलस्वभावी हों, स्वभाव से ही विनीत-नम्रात्मा हों, स्वभाव से ही जिनके क्रोध आदि चारों कषाय पतले हों, जो गुप्तेन्द्रिय हों, गुरु की आज्ञा के अनुसार चलने वाले हों,

माता-पिता की भक्ति करने वाले हों और उनकी आज्ञा को उल्लंघन करने वाले न हों, अल्प तृष्णा वाले हों, अल्पारंभी हों, अल्पसावद्य वृत्ति से आजीविका करने वाले हों, वे आयु पूर्ण करके चौदह हजार वर्ष की आयु वाले वाण-व्यन्तर देव होते हैं।

(४) उक्त ग्राम आदि में रहने वाली जो स्त्रियाँ अन्तःपुर (रनवास) में रहती हैं, विशेष काल पर्यन्त पति का संयोग न मिलने से, पति के विदेश गमन करने से, पति की मृत्यु होने से, पति की अनचाहती होने से, बाल-विधवा होने से; माता, पिता, भ्राता, पति, सास, ससुर, जाति आदि की लज्जा से या इनके बंदोबस्त से, मन में भोग करने की इच्छा करती हुई भी जो ब्रह्मचर्य का पालन करती हैं; स्नान, मर्दन, पुष्प-माला आदि से शरीर का शृंगार नहीं करती, शरीर पर मैल एवं स्वेद धारण किये रहती हैं; दूध, दही, घृत, तेल, गुड़, मक्खन, मदिरा, मांस आदि बलकारक और उन्मादकारक आहार का त्याग करती हैं, अल्पारंभ-समारंभ से जो अपनी आजीविका करती है, तथा जिनने अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष का सेवन नहीं किया है, ऐसी स्त्रियाँ मर कर ६४००० वर्ष की आयु वाले वाण-व्यन्तर देव हो जाती हैं।

(५) उक्त ग्राम आदि में रहने वाले जो मनुष्य अन्न और पानी के सिवाय और किसी द्रव्य का उपभोग नहीं करते, अथवा जो तीन, चार, पाँच यावत् ग्यारह द्रव्यों के सिवाय और कुछ नहीं भोगते, अथवा जो गौ की भक्ति करने वाले, देव का तथा वृद्ध का विनय करने वाले, तप, व्रत का आचरण करने वाले, श्रावकधर्म के शास्त्रों का श्रवण करने वाले, दूध, दही, घृत, तेल, गुड़, मदिरा, मांस को भोगने का त्याग करने वाले सिर्फ सरसों का तेल ही ग्रहण करने वाले होते हैं, वे ८४००० वर्ष की आयु वाले वाण-व्यन्तर देव हो जाते हैं।

(६) उक्त ग्राम आदि में रहने वाले जो तपस्वी अग्निहोत्र करते हैं, सिर्फ एक वस्त्र रखते हैं, पृथ्वी पर शयन करते हैं, अपने शास्त्रों के वचन

पर श्रद्धा रखते हैं, थोड़े उपकरण रखने वाले हैं, कमण्डलु-धारक हैं, फल-भक्षण करके निर्वाह करते हैं, पानी में रहते हैं, शरीर पर मिट्टी का लेप करने वाले हैं, जो गंगा नदी के उत्तर या दक्षिण किनारे पर रहते हैं, जो शंखध्वनि करके भोजन करने वाले हैं, जो सदैव खड़े रहते हैं, जो ऊर्ध्व दंड रखकर फिरने वाले हैं, मृगतापस हैं, हस्ती-तापस* हैं, जो पूर्व आदि चारों दिशाओं को पूजने वाले हैं, जो वल्कल वस्त्र धारण करते हैं जो सदा राम-राम या कृष्ण-कृष्ण रटते रहते हैं, जो खड्डे या बिल में निवास करते हैं, जो वृक्षों के नीचे रहते हैं, जो सिर्फ पानी पीकर रहते हैं, जो वायु भक्षी हैं, सेवारभक्षी हैं, जो मूल-आहारी या कन्द-आहारी, पत्र-आहारी, पुष्प आहारी हैं, जो स्नान करके भोजन करने वाले हैं, जो पंचाग्नि तापते हैं, जो शीत-ताप आदि कष्टों से शरीर को कसते हैं, जो सूर्य के ताप में रहते हैं, जो सदैव प्रज्वलित अंगारों के पास रहने वाले हैं, इत्यादि अनेक प्रकार से अज्ञान-तप करते हैं, वे आयु पूर्ण करके उत्कृष्ट एक पल्योपम पर एक लाख वर्ष के आयुष्य वाले (चन्द्रविमानवासी) ज्योतिषी देव होते हैं।

(७) उक्त ग्राम आदि में कितनेक जैन दीक्षा धारण किये हुए होते हैं। वे साधु की बाह्य क्रिया का तो पालन करते हैं किन्तु जो काम को जागृत करने वाली कुकथाएँ करते हैं; नेत्रों से एवं मुख आदि अंगों से कुचेष्टाएँ करते हैं, अयोग्य निर्लज्ज वचन बोलते हैं, वादित्र के सहारे गीत आदि गाते हैं, जो स्वयं नाचते और दूसरों को नचाते हैं, ऐसे जन कर्मों को उपार्जन करते हुए बहुत वर्षों तक साधु की ऊपरी क्रिया का पालन करते हैं। वे एक पल्योपम पर एक हजार वर्ष की आयु वाले पहले सौधर्म देवलोक में कंदर्प जाति के देव होते हैं।

(८) उक्त ग्राम आदि में रहने वाले तापस, जैसे सांख्यमतावलम्बी,

---

*यह लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के पुण्य में भेद नहीं समझते। सब जीवों को समान ही समझते हैं। एक हाथी जैसे बड़े जीव का वध करके बहुत दिनों तक अपना उदरनिर्वाह करने में धर्म मानते हैं, अतः मृग या हाथी का वध करते हैं।

अष्टांग योग के ज्ञाता तथा साधक, कपिलकृत* शास्त्र को मानने वाले, वन में निवास करने वाले, नग्न रहने वाले, सदैव परिभ्रमण करते रहने वाले, मठों का अवलम्बन करके क्षमा, शील, सन्तोष आदि गुणों के धारक, नारायण के उपासक तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, निघण्ड, व्याकरण, षष्ठितंत्र, शास्त्र के छह अंग, ज्योतिष आदि शास्त्रों के ज्ञाता, गुरुगम से इनके अर्थ को धारण करने वाले, इनमें पारगामी बने हुए और दूसरों को पढ़ाने वाले, अक्षरों की उत्पत्ति, छंद बनाने की रीति, उच्चारण की विधि अन्वय-पदच्छेद करने की पद्धति, आदि में कुशल, तथा दान देना, शुचि रहना, तीर्थाटन करना आदि धर्म कार्यों का स्वयं आचरण करने वाले और दूसरों से पलवाने वाले, ऐसे तपस्वी दूसरों की आज्ञा से सिर्फ गंगा नदी का पानी ग्रहण करते हैं; दूसरे जलाशय का पानी नहीं लेते, वह भी बिना छाने नहीं लेते। गाड़ी, घोड़ा, नौका आदि चलते फिरते

** भरत चक्रवर्ती के पुत्र मरीचि ने श्रीऋषभदेव भगवान् के पास जैन दीक्षा तो धारण की थी, किन्तु वह साधु की दुष्कर चर्या का पालन करने में असमर्थ रहा। साथ ही पुनः गृहस्थ बनने में भी लज्जित हुआ। तब उसने मनःकल्पित लिंग-वेश धारण कर लिया। उसने सोचा—अन्य साधु निर्मल व्रतों के पालक हैं और मैं व्रत भंग करके मलीन हुआ हूँ, इसलिए मुझे भिन्न ही प्रकार का वेष धारण करना चाहिए। यह सोच कर उसने भगवे वस्त्र धारण किये। अन्य साधु जिनाज्ञा रूप छत्र के धारक हैं, मैं ने जिनाज्ञा को भंग किया है, अतः मुझे बांस का छत्र धारण करना उचित है। अन्य साधु मनोदण्ड आदि तीन दण्डों के त्यागी हैं, मैं इन दंडों से दंडित हूँ, अतः मुझे लकड़ी का त्रिदंड रखना चाहिए। इस प्रकार सोचकर उसने मनःकल्पित नवीन वेष धारण किया और भगवान् के साथ रहने लगा। किन्तु वह समवसरण के बाहर रहकर उपदेश देता था। जिसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता उसे भगवान् ऋषभदेव के पास दीक्षा लेने भेज देता था। एक बार जब मरीचि बीमार हो गया तो सेवा-शुश्रूषा करने के लिए उसे चेला बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय कपिल नामक एक गृहस्थ उसके पास आया। उपदेश सुनकर वह विरक्त हो गया। मरीचि ने उससे भगवान् ऋषभदेव के पास जाने को कहा, मगर वह गया नहीं। तब मरीचि ने उसे अपना ही शिष्य बना लिया। मरीचि आखिर प्राण त्याग कर देव हुआ। कपिल का शिष्य आसुरी हुआ। उसे अपठित ही छोड़ कर कपिल भी ब्रह्मलोक स्वर्ग में देव हो गया। उसने देवलोक से आकर आसुरी को पढ़ाया, तब उसने नये शास्त्रों की रचना करके नवीन मत प्रचलित किया। वैष्णवधर्म के शास्त्र में कहा है कि भगवान् का पुत्र मनु, मनु का पुत्र मरीचि और मरीचि का पुत्र कपिल हुआ।*

या तिरते किसी भी यान (सवारी) का सेवन नहीं करते, जो वनस्पति का स्वयं आरम्भ नहीं करते, स्त्रीकथा आदि चार विकथाएँ नहीं करते, तूंबे मृत्तिका के सिवाय किसी भी धातु का पात्र नहीं रखते, पवित्री (मुद्रिका) के अतिरिक्त अन्य आभरण नहीं धारण करते, गेरुए रंग के सिवाय अन्य रंग के वस्त्र नहीं रखते, गोपीचन्दन के सिवाय किसी अन्य वस्तु का तिलक-छापा नहीं करते। ऐसा आचार पालने वाले ब्राह्मण जाति के आठ तपस्वी हुए। उनके नाम यह है:-(१) कृष्ण (२) करकट (३) अंबड*(४) पाराशर (५) कर्णिय

---

* अम्बड संन्यासी ने कंपिलपुर में भगवान् महावीर स्वामी के उपदेश से श्रावक धर्म धारण किया था, किन्तु अपने मतावलम्बियों को जैनधर्मी बनाने के उद्देश्य से अपना पहले वाला वेष नहीं बदला था। विनीत एवं भद्रिक भाव से बेले-बेले पारणा करने से तथा दोनों हाथ ऊँचे करके सूर्य की आतापना लेने से अनेक रूप बना लेने की विक्रियालब्धि और अवधिज्ञानलब्धि प्राप्त हुई थी। पारणा करने के लिए वह सौ घरों का आमंत्रण स्वीकार करता और अपने सौ रूप बनाकर सौ घरों मे पारणा करता था। (श्रावक को पारणा कराने में धर्म होता है, तभी तो सौ सौ घर वाले उसे पारणा के लिए आमंत्रण देते थे।) अम्बड समाधिमरण करके पाँचवें देवलोक में देव हुए। आगे महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

अम्बड़ संन्यासी के ७०० शिष्य थे। वे ज्येष्ठ के महीने में एक बार कंपिलपुर से पुरिमतालपुर जा रहे थे। उनके पास जो पानी था, वह समाप्त हो गया। नया पानी लेने की आज्ञा देने वाला कोई गृहस्थ उस अरण्य में नहीं मिला। संन्यासी प्यास से व्याकुल हो कर आपस में कहने लगे—अब क्या करना चाहिए? फिर भी अपने व्रत के भंग हो जानेके भय से किसी ने आज्ञा नहीं दी। तब पास ही गंगा नदी की तपी हुई बालू में बैठ कर अरिहन्त, सिद्ध और धर्मगुरु को 'नमुत्थुणं' के पाठ से नमस्कार करके उन्होंने तीन करण तीन योग से अठारह पाप स्थानकों का त्याग किया और चारों प्रकार के आहार का परित्याग कर दिया इस प्रकार समाधि मरण करके वे भी पाँचवे ब्रह्मदेवलोक में, दस सागरोपम की आयु वाले देव हुए।

पाठको! व्रतपालन की दृढ़ता का विचार कीजिए! यहाँ कोई कह सकता है कि, जीव रक्षा में धर्म होता तो सात सौ सन्यासियों में से कोई एक गृहस्थ होकर शेष को पानी ग्रहण करने की अनुमति दे देता; मगर उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया? ऐसा कहने वालों को उत्तर देना चाहिए कि—मान लो किसी कसाई ने एक हजार गायें मारने के लिए खड़ी की, वहाँ कसाई को बचाने की भावना से किसी ने कहा—भाई, हिंसा मत कर। तब कसाई ने उत्तर दिया—अगर तुम एक ग्रास मांस का खालो तो मैं हिंसा का यह पाप नहीं करूँगा। अब कहिए, क्या वह उपदेशक मांस खाएगा? नहीं खाएगा। यद्यपि वह कसाई को पाप से बचाना चाहता है फिर भी अपनी मर्यादा को भंग नहीं करेगा। इसी प्रकार जीवों को मरने से

(६) द्वीपायन (७) देव पुत्र और (८) नारद। क्षत्रिय जाति में सात तपस्वी हुए हैं:—(१) सिलाई (२) शशिहर (३) णग्गइ (४) मगइ (५) विदेही राजा (६) राम और (७) बलभद्र। इस प्रकार के ज्ञान के धारक और क्रिया के पालक तपस्वी आयु पूर्ण करके उत्कृष्ट दस सागरोपम की आयु वाले पाँचवें ब्रह्मलोक में देव होते हैं।

(६) उक्त ग्राम आदि में फिरने वाले साधु, जो साधु के आचार का तो बराबर पालन करते हैं, किन्तु आचार्य, उपाध्याय, कुल, गुरुभ्राता, गण-सम्प्रदाय के साधु आदि गुणवन्तों के प्रत्यनीक (विरोधी) बनकर उनकी निन्दा करते हैं, उन पर द्वेष भाव धारण करते हैं; वे ऐसा करके सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिथ्यादृष्टि बन जाते हैं। वे आयु पूर्ण होने पर मनुष्यों में चाण्डाल के समान, किल्बिषी नामक नीच देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। उनमें उत्कृष्ट तेरह सागरोपम के आयुष्य वाले देव होते हैं।*

बचा लेना तो धर्म है, मगर अपनी मर्यादा में रहते हुए ही बचाया जा सकता है। मर्यादा को भंग न करके बचाने में धर्म ही है। संन्यासियों की जो मर्यादा थी उसे उन्होंने भंग नहीं किया; एतावता यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ मर्यादा भंग न होती हो वहाँ भी जीवरक्षा करना अधर्म है। संन्यासियों को जीवरक्षा प्राणाधिक प्यारी थी, पर मांसाहार के व्रतभंग करना योग्य नहीं समझकर वे संथारा लेकर देवलोक गये।

पाठक जरा विचार करें कि आचार्य की या गुरु की निन्दा करना कितना भारी पाप है! जिसके प्रभाव से शुद्ध संयम का पालन करने पर भी चाण्डाल जैसी नीच योनि प्राप्त होती है! अतएव उपकारी महापुरुषों की निन्दा से अवश्य बचना चाहिए।

** पानी में रहकर सामायिक प्रतिक्रमण किस प्रकार कर सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जलचर जीव सामायिकादि व्रत का काल पूर्ण न हो जाय तब तक हलन-चलन नहीं करते—निश्चल रहते हैं। इसी से उनका व्रत पल जाता है।*

(१०) उक्त ग्राम आदि में रहने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच—पानी में रहने वाले मत्स्य आदि जलचर, पृथ्वी पर चलने वाले गाय बैल आदि स्थलचर, आकाश में उड़ने वाले हंस आदि खेचर—में से किसी की विशुद्ध परिणामों की प्रवृत्ति होने के कारण उनके ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम हो जाय तो उन्हें जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उस जातिस्मरण से वे जानने लगते हैं कि मैं ने पहले मनुष्य के भव में व्रत-प्रत्याख्यान करके उसे भंग कर डाला था। इस कारण मैं मर कर तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ हूँ। इस जन्म में भी अगर मैं अपनी आत्मा का कुछ सुधार कर लूँ तो अच्छा है। इस प्रकार सोचकर जातिस्मरण से पहले लिये हुए अणुव्रतों आदि का स्मरण करते हैं और फिर उनका पालन करते हैं। वे सामायिक, पौषध व्रत* आदि करनी करते हैं। वे आयु के अन्त में संलेखना के साथ समाधिमरण करके अठारह सागरोपम की आयु वाले आठवें देवलोक में देव होते हैं।

(११) उक्त ग्राम आदि में विचरने वाले आजीवक श्रमण अर्थात् गोशालक के अनुयायी श्रमण, जो अनेक प्रकार के अभिग्रह धारण करते हैं, जैसे कि एक, दो, तीन यावत् अनेक घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करेंगे, या विद्युत् चमकेगी तो भिक्षा ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं; तथा कुछ व्रतनियम का भी आचरण करने वाले होते हैं; वे आयु पूर्ण करके उत्कृष्ट २२ सागरोपम की आयु वाले बारहवें देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

(१२) उक्त ग्राम आदि में विचरने वाले जैनधर्म के साधु, जो पंच-महाव्रत आदि का तो पालन करते हैं, किन्तु जो मद में छके होते हैं, अपनी स्तुति और पर की निन्दा करते हैं, मंत्र, तंत्र, यंत्र, ज्योतिष, निमित्त, और औषध आदि की प्ररूपणा करते हैं, पादप्रक्षालन करके तथा वस्त्र आदि से शरीर की विभूषा करते हैं, वे इन दोषों की आलोचना निन्दा किये बिना

---

*पानी में रहकर सामायिक प्रतिक्रमण किस प्रकार कर सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जलचर जीव सामायिकादि व्रत का काल पूर्ण न हो जाय तब तक हलन-चलन नहीं करते—निश्चल रहते हैं। इसी से उनका व्रत पल जाता है।

ही आयुष्य पूर्ण करें तो उत्कृष्ट २२ सागरोपम की आयु वाले बारहवें देव-लोक में देव होते हैं।

(१३) उक्त ग्राम आदि में रहने वाले, जो जिनेश्वर के वचन का उत्थापन करते हैं, विपरीत रूप से परिणत करते हैं, जो (१) जमालि (२) तिष्यगुप्त (३) आषाढाचार्य (४) अश्वमित्र (५) गर्गाचार्य (६) गोष्ठामहिल (७) प्रजापति, इन सात निह्नवों के समान और भी जो कदाग्रही होते हैं, वे व्यवहार में तो जैनधर्म की क्रिया के पालक होते हैं, किन्तु अपने अशुभ परिणामों से मिथ्यात्व का उपार्जन करके मिथ्यात्वी बन जाते हैं और दुष्कर करनी के प्रभाव से कदाचित् उत्कृष्ट २१ सागरोपम की स्थिति वाले नवग्रैवेयक में देव हो जाते हैं।*

(१४) उक्त ग्राम आदि में रहने वाले कितनेक मनुष्य मिथ्यात्व का वमन करके चतुर्थ गुणस्थानावलम्बी सम्यग्दृष्टि बने हैं और कितनेक देश-विरति का आचरण करके श्रावक बने हैं। वे श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का यथाशक्ति स्वयं पालन करते हैं, दूसरों से पालन कराते हैं और सम्यक्त्व तथा व्रतों में अतिचार भी नहीं लगाते हैं, अतः वे सुशील और सुव्रती होते हैं। वे शुद्ध चित्त से श्रमणों-साधुओं की भक्ति करने के कारण श्रमणोपासक कहलाते हैं।

ऐसे श्रावकों में से कितनेक श्रावक प्राणातिपात आदि पापों का, आरंभ-समारंभ का, वध बन्धन ताड़न तर्जन आदि करने का त्याग करते हैं, वे स्नान, शृंगार, शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श रूप इन्द्रिय विषयों के सेवन आदि से निवृत्त हो चुके हैं और कितनेक इन विषयों से निवृत्त नहीं भी हुए हैं, किन्तु वे भी जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया अधिकरण (कर्मबंध के कारण शस्त्र आदि), बंध और मोक्ष तत्त्वों के ज्ञाता

* इन तेरह कलमों में से १०वीं कलम में कहे जीवों के सिवाय और सब जीवों की करणी जिनाज्ञा से बाहर है, अतः वे आराधक नहीं कहे गये हैं। आगे की कलमों में कहे हुए सब जीव आराधक होते हैं। इनकी धर्म करणी जिन भगवान् की आज्ञा में है।

बन कर जिनप्रणीत धर्म में पूरी तरह निश्चल बने हैं। उनकी निश्चलता ऐसी है कि देव, दानव, मानव, आदि कोई भी उन्हें ग्रहण किये हुए धर्म से नहीं डिगा सकता। वे जिनमार्ग में कदापि शंका, कांक्षा, विचिकित्सा नहीं धारण करते हैं। उनकी नस-नस में जैनधर्म की श्रद्धा व्याप्त हो गई है। वे शास्त्रश्रवण के अवसर पर शास्त्रश्रवण करते हैं और पठन के अवसर पर पठन करते हैं। शास्त्र के अर्थ और परमार्थ को सम्यक् प्रकार से हृदय में धारण करते हैं। कदाचित् कहीं संशय हो तो गीतार्थों से पूछकर निर्णय कर लेते हैं। जब कभी किसी से वार्तालाप करने का प्रसंग आता है तो वे कहते हैं— देवानुप्रिय! एक मात्र जिनमत ही अर्थ और परमार्थ रूप है, सारभूत है, और सब अनर्थ तथा असारभूत हैं।

ऐसे श्रावकों के हृदय स्फटिक के समान निर्मल होते हैं। वे अनाथों और अपंगों के पोषणार्थ घर के द्वार खुले रखते हैं। वे अपने सदाचार की ऐसी छाप दूसरों पर लगा देते हैं कि कदाचित् राजा के भण्डार में या अन्तःपुर में चले जाएँ तो भी उन पर कभी किसी को अविश्वास नहीं होता है।

वे अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी, तथा तीर्थंकरों के कल्याणक की तिथियों को पूर्ण पौषधव्रत करते हैं। वे उदार परिणाम से साधुओं को देने योग्य शुद्ध अन्न, पानी, खाद्य, स्वाद्य आदि आहार, वस्त्र, पात्र, बिछाने का पयाल, रजोहरण, औषध भेषज, पथ्य, पाट, बाजौठ, मकान (स्थानक) आदि अवसर मिलने पर देते हैं।

ऐसे श्रावक आयु के अन्त में आलोचना-निन्दा युक्त समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर उत्कृष्ट २२ सागरोपम की आयु वाले बारहवें देवलोक में देव होते हैं।

(१५) उक्त ग्राम आदि में विचरने वाले कितनेक महात्मा ऐसे हैं जिन्होंने तीन करण तीन योग से आरंभ का और परिग्रह का तथा अठारह पापों का त्याग कर दिया है। पचन, पाचन, ताड़न, तर्जन, वध-बन्धन,

स्नान, शृंगार, शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषय आदि का परित्याग कर दिया है। वे पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों आदि के विशुद्ध पालक हैं। जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। ऐसे साधु समाधिभाव से आयुष्य पूर्ण होने पर अगर समस्त कर्मों का क्षय हो गया हो तो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। अ ार थोड़ कर्म शेष रह जाएँ तो ३३ सागरोपम की आयु वाले सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव होते हैं और वहाँ से चय कर आगामी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(१६) उक्त ग्राम आदि में विचरने वाले जो महात्मा राग, द्वेष, विषय, कषाय, मोह-ममत्व आदि कर्मबन्ध के हेतुओं का सर्वथा परित्याग करके यथाख्यात चारित्र व शुक्लध्यान से सब कर्मांशों का क्षय कर डालते हैं वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भव्य जीवो! श्रीउववाई शास्त्र के इस प्रमाण से निश्शंक बनो। विश्वास रक्खो कि करणी का फल अवश्य प्राप्त होगा। जिन भगवान् की आज्ञा में चलने से संसार संक्षिप्त बनता है, और आज्ञा बाहर की शुभ करणी से पुण्य रूप फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अशुभ करणी से पाप रूप फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार श्रद्धालु बनकर विचिकित्सा दोष से अपने सम्यक्त्व को दूषित मत होने दो। जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा के अनुसार क्रिया करके परमानन्दी परम सुखी बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

(४) परपाखण्डप्रशंसा—जैन के सिवाय अन्य पाखंडियों व्रतधारियों की सारंभी क्रिया, मिथ्याडम्बर, अज्ञानपूर्वक सहन किये जाने वाले काय-क्लेश आदि की प्रशंसा करना परपाखण्डप्रशंसा दोष है। सम्यक्त्वी इस दोष का भी सेवन नहीं करते हैं। क्योंकि सारंभी क्रिया का अनुमोदन करने वाला भी उस पापारंभ के भाग का अधिकारी होता है। इसके अतिरिक्त ऐसा करने से सम्यग्दृष्टियों के परिणाम भी उस ओर आकर्षित होते हैं, जिससे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है और सम्यक्त्व का घात होता है।

(५) परपाखण्डसंस्तव-नमक के सम्बन्ध से दूध फटकर बिगड़ जाता है। वह न अच्छा दूध रहता है, न उससे मक्खन ही निकलता है और न उसकी

छाछ बनती है। वह किसी भी काम का नहीं रहता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अगर पाखण्डियों के परिचय में रहे तो 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' अर्थात् संगति से दोष और गुण उत्पन्न होते हैं, इस उक्ति के अनुसार सम्यग्दृष्टि भी भ्रष्ट हो जाते हैं। वे न तो इधर के रहते हैं और न उधर के रहते हैं, न आत्मार्थ का साधन कर सकते हैं। जिस प्रकार सती स्त्री, व्यभिचारिणी के संसर्ग से सतीत्व से भ्रष्ट हो जाती है और परपुरुष की प्रशंसा से बदनाम होती है, उसी प्रकार इन दोनों अतिचारों से सम्यग्दृष्टि भी अपने को दूषित बना लेता है।※

इन पाँच दोषों का विशेष सेवन करने से सम्यक्त्व का नाश होता है और थोड़े सेवन से सम्यक्त्व मलीन होता है। ऐसा जानकर विवेकवान् सम्यक्त्वी पाँचों ही दूषणों से अपने आपको बचाकर सम्यक्त्व को निर्मल रखते हैं।

छठा बोल—लक्षण पाँच



जैसे तेज प्रकाश से सूर्य पहचाना जाता है और शीतल प्रकाश से चन्द्रमा पहचाना जाता है, उसी प्रकार निम्नोक्त पाँच लक्षणों द्वारा सम्यक्त्वी जीव की पहचान होती है:—

(१) शम (सम)—शत्रु पर, मित्र पर और शुभाशुभ वस्तुओं पर सम-

※ *बोलिये न और बोल डोलिये न ठौर ठौर,*
संगत की रंगत एक लागि है पै लागि है।
जाय बैठे बागन में वास आवे फूलनि की,
कामिनी की सेज काम जागि है पै जागि है।
काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो पैसे,
काजल की एक रेख लागि है पै लागि है।
कहे कवि केसोदास इतने का यह विचार,
कायर के संग सूरा भागि है पै भागि है।

भाव रक्खे,* अर्थात् मित्र पर मोह-राग न करे और शत्रु का विनाश और नुकसान न चाहना। ऐसे प्रसंग उपस्थित होने पर सम्यक्त्वी विचार करता है कि जो कुछ भी भला, बुरा, नफा, नुकसान, यश, अपयश होता है, उसका प्रधान कारण तो मेरे पूर्वसंचित शुभाशुभ कर्म ही हैं। भला-बुरा करने वाले दूसरे लोग तो निमित्त मात्र हैं। अनाथी मुनि ने श्रेणिक राजा से कहा थाः—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २० गा. ३७

अर्थात् अगर अपन अपनी आत्मा को सुप्रतिष्ठ करें अर्थात् शुभ कर्मों में लगावें तो उन अच्छे कर्मों का फल सुख रूप होने से अपना आत्मा ही मित्र हो जाता है; अगर आत्मा को दुप्रतिष्ठ किया—अशुभ कर्मों में लगाया तो उन अशुभ कर्मों का फल दुख रूप होने से अपना ही आत्मा शत्रु हो जाता है। अतएव सुख और दुःख का कर्त्ता तथा हर्त्ता आत्मा ही है। संसार का कोई भी बाह्य पदार्थ, हमारे आत्मा की सहायता के विना हमें सुख दुःख का अनुभव नहीं करा सकता।

सम्यग्दृष्टि पुरुष इस तथ्य को भलीभाँति समझता है, इस कारण वह इस प्रकार समभाव धारण करता हैः—

मित्ती मे सव्वभूएसु,
वेरं मज्झ न केणई।

---

* अच्छी वस्तु को अच्छी जानना और बुरी वस्तु को बुरी समझना सुज्ञ जन का लक्षण है। जैसे अग्नि को दाहकर्त्ता जान कर उससे दूर रहना, विषैली वस्तु का भक्षण न करना आदि। इसे द्वेष नहीं कह सकते। उसी प्रकार पाखंडियों की संगति न करना उनसे द्वेष करना नहीं है और शरीररक्षा के लिए आहार लेना या वस्त्र धारण करना, गुरु का गुणानुवाद करना राग नहीं समझना चाहिए। जिस वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसे उसी रूप में मानना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है। अलबत्ता किसी वस्तु में अमनोज्ञ या मनोज्ञ की कल्पना करके राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

अर्थात् प्राणी मात्र पर मेरा मैत्रीभाव है। मेरा किसी भी प्राणी के साथ वैरभाव नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव को निश्चय से तो शुभ कर्मोदय होने से सुख की प्राप्ति होती है और व्यवहार से मन के द्वारा किसी का अशुभ चिन्तन न करने से हित, मित, प्रिय, वाणी बोलने से, काया से किसी को दुःख न पहुंचाने से, नम्रतापूर्वक सेवक की भाँति रहने से, सभी प्राणी उसको सुख-दाता बन जाते हैं। इसी प्रकार निश्चय से अशुभ कर्मों का उदय होने से दुःख की प्राप्ति होती है और व्यवहार से, मन के द्वारा दूसरों का अशुभ चिन्तन करने से, वचन से मिथ्या, हानिकारक वचन बोलने से और काय से दूसरों को हानि पहुंचाने या कष्ट देने से वे शत्रु बन जाते हैं और दुःख देने लगते हैं। सम्यग्दृष्टि के अन्तःकरण में यह विवेक जाग जाता है। कदाचित् दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार करने पर भी वह सम्यग्दृष्टि के साथ बुरा व्यवहार करता है तो सम्यग्दृष्टि यही सोचता है कि—इसके साथ मेरा पहले का वैरानुबंध है, जो इस समय उदय में आया है। किये कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता।* कहा भी है:—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

जो कर्म पहले किया था, उसका फल प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, तो फिर नवीन राग-द्वेष आदि करके अगर नये कर्म उपार्जन करेगा तो आगे फिर दुखी होना पड़ेगा। जानबूझ कर ऐसा काम करना मेरे लिए उचित नहीं है।

अगर किसी तरह से सुख प्राप्त हो तो सम्यग्दृष्टि को समझना चाहिए कि यह मेरे कर्मोदय का फल है। मेरा भला या बुरा मैं स्वयं ही कर सकता हूँ।* ऐसा समझकर सम्यग्दृष्टि विवेकशील पुरुष को राग-द्वेष

** बाँधा सो ही भोगिये, कर्म शुभाशुभ भाव।*
फले निर्जरा होत हैं, यह समाधि चित चाव॥

* सवैया— *कौन तेरे मात तात कौन सुत दारा भ्रात,*
कौन तेरे न्याती मिले सब ही स्वार्थी।

धारण करना उचित नहीं है।*

शुभ या अशुभ पुद्गलों में राग या द्वेष करना योग्य नहीं है। वे अपने-अपने स्वभाव में वर्त्त रहे हैं तो मुझे अपने स्वभाव को त्याग कर रागी द्वेषी क्यों बनना चाहिए? पुद्गल स्वभाव से ही क्षणभंगुर हैं। जरा सी देर में बुरे से अच्छे और अच्छे से बुरे हो जाते हैं। मिष्टान्न खाते समय अच्छा लगता है और वमन करते समय वही ग्लानि उपजाता है। मृत्तिका और और पत्थर यों पड़े-पड़े खराब लगते हैं; किन्तु कोरनी करके, कुशलता पूर्वक आकृति बनाने से और यथायोग्य स्थान पर लगाने से अच्छे लगने लगते हैं। इस प्रकार जिसका परिणमन होता रहता है, उस पर राग-द्वेष करना वृथा है। इत्यादि विचार करके सम्यक्त्वी जीव प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना में समभाव ही धारण करता है।

अर्थ के खुटाऊ हैं जी धन के बटाऊ,
होय तो बँटाय लैंगे मिल के धनार्थी।
तेरी गति कौन बूझै स्वारथ के माहि रूझै,
भव-भव माहीं उलझै कोई न परमार्थी।
चेतन विचार चित्त अकेला ही तू है नित्त,
उवट चलत आयो आप ही अकार्थी।
वैरी घर माहे तेरे जानत सनेही मेरे,
दारा सुत वित तेरो लूटि लूटि खायगो।
और ही कुटुम्ब बहु तेरे चारों ओर हूँ ते,
मीठी-मीठी बात कहि तोसूं लपटायगो।
संकट पड़ैगो जब तेरो नहीं कोऊ तब,
बखत की बेर कोई काम नहीं आयगो।
'सुन्दर' कहत तू तो याही ते विचार देख
तेरे यह किये कर्म तू ही फल पायगो॥

* *न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित्कस्यचिद् रिपुः।*
अर्थतस्तु प्रवर्त्तन्ते, मित्राणि रिपवस्तथा॥

—महाभारत, शान्तिपर्व अ० १३८

वास्तव में न कोई किसी का मित्र है, न कोई किसी का शत्रु है। अपने स्वार्थ से मित्र या शत्रु बन जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी कषाय का, जो अत्यन्त तीव्र होता है, उपशम, क्षय या क्षयोपशम कर देता है। इस कारण उसके परिणामों में पहले की तरह उग्रता नहीं रहती। वह शम भाव का अपूर्व रस चखता रहता है।

(२) संवेग—अन्तःकरण में निरन्तर वैराग्य भाव रहना संवेग कहलाता है।

> शारीरमानसागन्तोत्वदनाप्रभवाद् भवात्।
> स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पादरतिः संवेग उच्यते॥

अर्थात्—देह संबंधी रोग आदि दुःख शारीरिक वेदना है। मन संबंधी चिन्ता मानसिक दुःख है और बाहर से अचानक आ जाने वाली विपत्ति आगन्तुक वेदना है। इन सब वेदनाओं के कारणों पर द्वेष न करना। संसार पर अर्थात् सांसारिक सुखों पर रति भाव न धारण करना तथा स्वप्न और इन्द्रजाल के समान※ क्षणभंगुर संसार की सम्पदा पर राग न करना संवेग कहलाता है।

यह संसार दुःखों से परिपूर्ण है। कहा भी है—'संसारम्मि दुक्खपउराए' इस प्रकार का विचार करके सम्यक्त्वी पुरुष संसार के सम्बन्धों से उदास भाव धारण करे, निरन्तर वैराग्य में रमण करे। वही सच्चा संवेगी कहलाता है।

※ एक भिखारी ने राजऋद्धि और हलवाई की दुकान पर घेवर आदि मिठाई देखी। वह भूखा था। मिठाई आदि का विचार करते-करते रसोई बनाने के लिए लाये हुए कंडों (छाणों) को सिराने रखकर सो गया। उसने स्वप्न में देखा कि नगर का राजा मर गया है और मैं राजा बन गया हूँ और मिजवानी में पेट भर मिठाई खाकर सो गया हूँ। इतने में किसी की आवाज सुनकर भिखारी की आँख खुल गई। वह रोने लगा। किसी ने रोने का कारण पूछा तो वह बोला—हाय! मैं लुट गया। मेरी राज ऋद्धि कहाँ चली गई? खाये हुए घेवर कहाँ गये? यहाँ तो बस, कंडे ही बचे हैं! अब मैं क्या करूँ? उसकी ऐसी बहकी बातें सुन कर लोग कहने लगे-यह पागल हो गया है! भव्य जीवों! यह संसार की ऋद्धि आदि सब स्वप्न के ही समान है। इनके चक्कर में पड़ने वालों को अन्त में भिखारी की तरह ही रोना पड़ता है।

(३) निर्वेग—आरंभ-परिग्रह से निवृत्त होना निर्वेग कहलाता है। आरंभ-परिग्रह घोर अनर्थ के कारण हैं, जन्म-मृत्यु को बढ़ाने वाले हैं, दुर्गति के दुःखों के दाता हैं, पाप के मूल हैं, क्षमा शील सन्तोष आदि गुणों को दावानल के समान भस्म करने वाले हैं, मित्रता के नाशक हैं, वैर-विरोध बढ़ाने वाले हैं, इनके सिवाय अनेक अन्य अवगुणों के भंडार हैं। इनका त्याग करने से ही आत्मा के निज गुणों का विकास होता है। ऐसा जान कर सम्यक्त्वी जीव इन्हें निरन्तर कम करने की चेष्टा करते रहते हैं। और पाँचों इन्द्रियों के भोगोपभोग की सब सामग्री, राज्य आदि महान् ऋद्धि, तथा अन्य प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी उसमें आसक्त नहीं होते हैं। वे सदैव रूक्ष वृत्ति (उदासीन भाव) में रमण करते रहते हैं।

(४) 'अनुकम्पनम्-अनुकम्पा; अर्थात् किसी प्राणी को दुखी देख कर उसके प्रति दया होना, दुःख को दूर करने के लिए प्रवृत्ति करना, अनुकम्पा है। कहा है—

सत्त्वं सर्वत्र चित्तस्य, दयार्द्रत्वं दयावतः।
धर्मस्य परमं मूल-मनुकम्पा प्रवक्ष्यते॥

अर्थात्—महान् पुरुषों का आदेश है कि धर्म का उत्कृष्ट मूल अनुकम्पा ही है। यह मूल धर्मात्मा पुरुष के अन्तःकरण में होता है। अतएव सुख के अभिलाषी जीवों पर दुःख पड़ा देख कर उनके चित्त में अनुकम्पा उत्पन्न होती है। तब वे बेचारे दुखी जीवों का यथाशक्ति सुखोपचार करके उन्हें सुखी बनाते हैं। तीर्थंकर भगवान् अपने वचनातिशय से ऐसी देशना फरमाते हैं जो सब जीवों की समझ में आ जाय। साधु क्षुधा, तृषा, शीत, ताप मार्गातिक्रमण आदि के घोर कष्ट सहन करके ग्राम-ग्राम में उपदेश देते फिरते हैं। इसका मुख्य प्रयोजन संसार के प्राणियों को शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त होने का उपाय बतलाना ही है। यह भी अनुकम्पा ही है। दुःखी जीव को देख कर उस पर कदापि अनुकम्पा उत्पन्न न होना अभव्य का लक्षण है। अंगारमर्दनाचार्य❀ के समान, इस समय कितनेक जैना-

❀ पाटलिपुर नगर के राजा ने पक्खी के पोषध मे स्वप्न देखा कि ५०० हस्तियों

भास आभिग्रहिक मिथ्यात्वीवत् दुराग्रह करके, शास्त्रों के अर्थ को विपरीत परिणत करके, भोले जीवों को भ्रम में फँसाने के लिए कहते हैं कि—किसी मरते जीव को बचाओगे तो वह जिंदा रह कर जो-जो पाप करेगा उसकी क्रिया बचाने वाले को लगेगी। इत्यादि कुबोध से मनुष्यों के हृदय में विद्यमान अनुकम्पा को उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं। वे स्वयं घोर कर्मों का बंध करते हैं और 'आप डुबंता पांडे ले डूबे जजमान' इस कहावत के अनुसार अपने भोले भक्तों को भी डुबाते हैं। सम्यक्त्वी जीव तो जानते हैं कि 'करंता सो भरंता' अर्थात् जो पाप करेगा वही भरेगा, उसी को उसका फल भोगना पड़ेगा।

यह बात तो सभी जैन मानते हैं कि पाँचवें आरे के जीव मोक्ष नहीं जाते। किन्तु धर्मकरणी के फलस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति होती है और स्वर्ग के देव अव्रती तथा अनेक पापाचरण करने वाले होते हैं। अब विचार कीजिए कि किसी साधु के उपदेश से किसी पुरुष ने धर्म का आचरण किया और अन्त में मर कर वह देव हुआ। देवगति में पहुँच कर वह देवांगनाओं के साथ भोगविलास करेगा तो उसका पाप क्या साधुजी को लगेगा, जिनके उपदेश के निमित्त से वह देवलोक में गया है? अगर इस प्रकार पाप लगने लगे तो तीर्थंकरों और साधुओं का धर्मोपदेश देना उलटा पापजनक हो जायगा! अतएव जैसे तीर्थंकर भगवान् और साधु जीवों को दुःख से मुक्त करने के लिए धर्मोपदेश करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वी तथा श्रावकजन भी अनाथों, अपंगों और दुःख में पड़े हुए अन्य जीवों को दुःख से छुड़ाने के आशय से उन्हें छुड़ाते हैं, वे पाप के भागी कदापि नहीं हो सकते। उन्हें—

के आगे भण्ड सूअर आ रहा है। प्रातःकाल ५०० साधुओं के परिवार के साथ आचार्य आये। उनकी परीक्षा के लिए राजा ने, जिस जगह वे ठहरे थे, उसके आस पास, रात्रि में कोयले बिछवा दिये। उन्हें देख-देख कर जीवों की शंका होने के कारण साधु तो वापिस लौट गये और आचार्य उन कोयलों को खूंदते हुए चले गये। राजा समझ गया कि यही भण्ड सूअर के समान अनुकम्पा-रहित अभव्य जीव मालूम होता है। प्रातःकाल सब साधुओं को समझा कर उसे आचार्य पद से हटाया और योग्य साधु को आचार्य बनाया। इस प्रकार अभव्य जीव के हृदय में अनुकम्पा नहीं होती है।

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं ।

—सूयगडांगसूत्र, अ० ६

अर्थात् समस्त दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, इस जिनाज्ञा के अनुसार अभयदान का महान् फल प्राप्त होता है।

अगर कोई किसी को चिन्तामणि बतला कर कहने लगे—मैं तुझे यह रत्न देता हूँ, तू इसके बदले अपने प्राण दे दे। तो वह तत्काल चिन्तामणि को फैंक देगा और अपने प्राणों को ही बचाने का प्रयत्न करेगा। इससे जाना जाता है कि तीन लोक की सम्पदा से* भी प्राण अधिक प्यारे हैं। ऐसी स्थिति में अगर थोड़े-से प्रयत्न से अथवा थोड़ा-सा द्रव्य खर्च करने से किसी के प्राण बचते हैं तो इस लाभ का कहना ही क्या है! 'आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति' अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव सब प्राणियों के प्राणों को अपने प्राणों के समान प्यार करते हैं और जिस सदुपाय से बन सके, उसी सदुपाय से सब को अभय देने की भावना रखते हैं।

सम्यग्दृष्टि पुरुष तो कसाई आदि दुष्ट प्राणियों पर भी अनुकम्पा रखते हैं और उन्हें पाप-कर्मों से छुड़ाने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। अगर वह पाप-कर्म का त्याग कर दे तो ठीक; यदि न त्यागे तो उसकी कर्मगति प्रबल जान कर उस पर भी द्वेष नहीं करते हैं। जिस प्रकार गृहस्थ अपने कुटुम्ब को दुःख से बचाने के लिए उपचार करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् सब प्राणियों पर मेरा मैत्रीभाव है, ऐसा मानता हुआ और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों को अपना कुटुम्ब जानता हुआ, उनके हित-सुख की योजना करता है। दान से भी दया-अनुकम्पा अधिक कही गई है, क्योंकि धन समाप्त हो जाने पर

* आयुः क्षणलवमात्रं; न लभ्यते हेमकोटिभिः क्वापि।
तद् गच्छति सर्वमृषतः काऽधिका हानिः?

अर्थात्—करोड़ों मोहरें खर्च करने पर भी क्षण या लव मात्र भी आयु प्राप्त नहीं हो सकती, अतएव प्राणघात से बढ़कर कोई हानि नहीं है।

दान देना बंद हो जाता है, किन्तु अनुकम्पा का झरना सम्यग्दृष्टि के हृदय में निरन्तर झरता रहता है। यह अनुकम्पा ही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है।

(५) आस्था-आस्तिक्य-श्री जिनेश्वर-कथित शास्त्र के कथन पर और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा-प्रतीति रखना आस्था है। कहावत है-'आस्ता सुख सासता' अर्थात् आस्था रखने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। आस्था ही मंत्र, यंत्र, तंत्र, जड़ी, बूटी, औषधि व्यापार और धर्म आदि सब पदार्थों का यथारूप फल देने वाली है। भूतकाल में हुए अरणक (अर्हन्नक), कामदेव, मण्डूक,* श्रेणिक महाराज और कृष्ण वासुदेव आदि सम्यग्दृष्टि श्रावक कितनी प्रगाढ़ श्रद्धा के धारक थे! प्राणान्त कष्ट आने पर भी वे धर्म से चलित नहीं हुए। धर्म से विपरीत स्वांग बनाकर देव, दानव और मानव उन्हें छल नहीं सके। धर्म से अणुमात्र भी डिगा नहीं सके। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी धर्मदृढ़ता से, उन दुःख देने वालों और धर्म से चलित करने का प्रयत्न करने वालों को भी मिथ्यात्व त्याग कर सम्यग्दृष्टि बन जाने का निमित्त दिया और वे स्वयं दृढ़ श्रद्धा वाले बन भी गये। ऐसी दृढ़ आस्था से ही वे जीव एकावतारी अर्थात् एक भव के अन्तर से मोक्षगामी हो गये। किसी-किसी ने सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकरगोत्र का उपार्जन किया।

---

* *अरणक, कामदेव, श्रेणिक और श्रीकृष्ण का वृत्तान्त तो बहुत-से जैनी जानते हैं, किन्तु मण्डूक श्रावक का कथन उतना अधिक प्रसिद्ध नहीं है। उसका उल्लेख यहां किया जाता है:—*

राजगृही नगरी के गुणशिल नामक चैत्य में श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने पंचास्तिकाय का उपदेश दिया। कालिय आदि अन्य तीर्थी उसे नहीं समझे। उन्होंने समवसरण के बाहर आकर, उपहास करते हुए, दर्शनार्थ जाने वाले मण्डूक श्रावक से कहा—तेरे गुरु महावीर तो बड़े गपोड़े मारते हैं। आज उपदेश में उन्होंने कहा कि धर्मास्तिकाय गमन करने में सहायता देता है! किन्तु हम तो उसे कभी देखते ही नहीं हैं?

मण्डूकजी विशेषज्ञ न होने से इस कथन को जानते नहीं थे। तब भी उन्होंने अपनी औत्पातिकी बुद्धि से कहा—यह वृक्ष का पत्ता किससे हिलता है? वे बोले—वायु से। मण्डूकजी बोले—वायु को आप देखते हैं क्या? वे बोले—नहीं तो। फिर वायु का नाम क्यों लेते हो? उन्होंने कहा-पत्ता हिलता देखकर अनुमान करते हैं। तब मण्डूकजी ने कहा-जैसे वायु सूक्ष्म है, वैसे ही धर्मास्तिकाय भी सूक्ष्म है। और जैसे वायु पत्ते के हिलने में सहायक है, वैसे ही धर्मास्तिकाय गमन में सहायक है। इत्यादि कथन से उन्होंने उनको निरुत्तर कर दिया। भगवान् ने मण्डूकजी की प्रशंसा की।

कितनेक अन्यमतावलम्बी जैनधर्म को अर्वाचीन बतलाते हैं और अपने-अपने धर्म को प्राचीन बतलाकर जैनों को श्रद्धाहीन कहते हैं। किन्तु उन्हें जानना चाहिए कि जैनधर्म अर्वाचीन नहीं है। वह अनादि-कालीन धर्म है। अनेक निष्पक्ष विद्वानों ने इस सत्य को स्वीकार किया है और जैनधर्म के सिद्धान्तों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए यहाँ कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं:—

(१) ॐ नमोऽर्हन्तो ऋषभो वा, ॐ ऋषभं पवित्रम्।

—यजुर्वेद अ० २५ मंत्र १६

(२) ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितानां चतुर्विंशतितीर्थंकराणाम्।
ऋषभादिवर्द्धमानान्तानां, सिद्धानां शरणं प्रपद्ये॥

—ऋग्वेद

अर्थात्—ऋषभदेव से वर्द्धमान पर्यन्त जो चौबीस तीर्थंकर तीन लोक में प्रतिष्ठित हैं, मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ।

(३) ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा। वामदेव शान्त्यर्थमुपविधीयते। सोऽस्माकं अरिष्टनेमिः स्वाहा।

—यजुर्वेद, अ० २५

(४) ॐ स्वस्ति नो इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

—ऋग्वेद अष्टक १, अध्याय ६

उक्त दोनों मंत्रों में बाईसवें तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमि भगवान् का नाम है। इस प्रकार वेदों में भी जैन तीर्थंकरों के नाम पाये जाते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि वेदों की रचना होने से पहले भी जैनधर्म विद्यमान था। अब पुराणों के कुछ उद्धरण लीजिए:—

(५) रैवताद्रौ जिनो नेमिः, युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव, मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

—प्रभासपुराण।

अर्थात्—रैवतगिरि (गिरनार पर्वत) पर नेमिनाथ ने, विमलाचल पर युगादि (ऋषभदेव) ने ऋषियों के आश्रम से मुक्तिमार्ग चलाया।

(६) नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा।

योगवाशिष्ठ में वसिष्ठऋषि से श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—मैं राम नहीं हूँ, मेरी किसी कार्य में इच्छा नहीं है; मैं तो जिनदेव की तरह आत्मशान्ति प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ।

(७) दशभिर्भो जितैर्विप्रैः यत्फलं जायते कृते।
मुनेरर्हन्तभक्तस्य, तत्फलं जायते कलौ॥
—नगरपुराण

अर्थात्—कृतयुग में दस ब्राह्मणों को भोजन देने से जितना फल मिलता था, उतना ही फल कलियुग में अर्हन्त भक्त मुनि को भोजन देने से होता है।

(८) जैना एकस्मिन्नेव वस्तुनि उभये निरूपयन्ति। —प्रभासपुराण

अर्थात् जैन सिर्फ एक ही वस्तु-जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निरूपण करते हैं।

(९) दर्शनवर्त्म वीराणां, सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रयकर्त्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः॥
—मनुस्मृति।

अर्थात् वीर पुरुषों को मार्ग बतलाने वाले, देवों और दानवों द्वारा नमस्कार किये हुए, युग की आदि में तीन प्रकार की नीति के स्थापन कर्त्ता पहले जिन (ऋषभदेव) हुए।

(१०) एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धधारी हरः।
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः॥
—वैराग्यशतक

अर्थात्—रागियों में तो शंकर ही शोभा पाते हैं, जिन्होंने अपने देह के आधे भाग में पत्नी को धारण कर रक्खा है; और वीतरागों में जिन ही शोभा पाते हैं, जिन्होंने स्त्री-संसर्ग का सर्वथा त्याग कर दिया है, उनसे बढ़ कर वीतराग कोई और नहीं है।

(११) नाभिस्तु जनयेत्पुत्रं, मरुदेव्यां महाद्युतिम् ।
ऋषभं क्षत्रियश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥ —ब्रह्मपुराण

अर्थात्—नाभि राजा और मरुदेवी के पुत्र ऋषभदेवजी सब क्षत्रियों में श्रेष्ठ और सब क्षत्रियों के पूर्वज हैं।

(१२) प्रथमं ऋषभो देवो, जैनधर्मप्रवर्त्तकः ॥११॥
एकादशसहस्राणि, शिष्याणां धरिता मुनिः ।
जैनधर्मस्य विस्तारं करोति जगतीतले ॥१२॥
—श्रीमालपुराण ।

अर्थात्—पहले श्री ऋषभदेव ने ११००० शिष्यों सहित जैनधर्म का जगत् में प्रचार किया।

(१३) हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्त्यल्पभाषिणः ॥
—शिवपुराण

अर्थात्—हाथ में पात्र और मुख पर वस्त्र धारण करने वाले, मलिन वस्त्र धारण करने वाले और थोड़ा बोलने वाले जैन मुनि होते हैं।

उपरिलिखित प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि जैनधर्म के (इस युग के) आदि प्रवर्त्तक श्री ऋषभदेव भगवान् थे। कुछ अज्ञान लोगों का कथन है कि जैनधर्म के प्रवर्त्तक गौतमऋषि थे पर उनका यह कथन प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। अब प्राचीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है और ऐसी ऊलजलूल मान्यताओं को कोई भी विद्वान् स्वीकार नहीं कर सकता। गौतम ने तो जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण की थी। देखिए:—

(१४) गौतमोऽपि ततो राजन् ! गतो काश्मीरके पुनः ।
महावीरेण दीक्षां च धत्ते जैनमतेप्सिताम् ॥

—श्रीमालपुराण, अध्याय ७३

अर्थात्—वशिष्ठ ऋषि मान्धाता से कहते हैं—राजन् ! गौतम काश्मीर देश में गये और उन्होंने महावीर से दीक्षा लेकर इच्छित अर्थ को सिद्ध किया।

(१५) द्विसहस्रा गता राजन्, अब्दा कलियुगो यदा ।
तदा चातो महावीरो, देशे काश्मीरके नृपः ।
गौतमोऽपि तदा तत्र, धारितुं जैनधर्मकम् ।
श्रिया वाक्येन सन्तुष्टो, जगाम श्रीनिकेतनम् ॥४॥

—श्रीमालपुराण, अ० ७४

अर्थात्—हे राजन् ! जब कलियुग के दो हजार वर्ष बीत गये तब काश्मीर देश में महावीर उत्पन्न हुए। उस समय लक्ष्मी के कहने से गौतम जैनधर्म को धारण करने के लिए गये।

(१६) भो भो स्वामिन् ! महावीर ! दीक्षां देहि मम प्रभो !
जैनधर्मं गृहीतुमागतस्तव सन्निधौ ॥ *

अर्थात्—गौतम बोले—हे स्वामिन् ! हे प्रभो महावीर ! मुझे दीक्षा दीजिए। मैं आपके पास जैनधर्म ग्रहण करने के लिए आया हूँ।

* श्रीमालपुराण के कथन के अनुसार महावीर का काश्मीर में उत्पन्न होना, गौतम का दीक्षा लेने के लिए लक्ष्मी के कहने से वहाँ जाना, ऐतिहासिक सचाई नहीं है। तथापि यहाँ सिर्फ यही बताना अभीष्ट है कि गौतम जैनधर्म के संस्थापक नहीं थे। यह बात वैदिक पुराण के कथन से ही सिद्ध करने के लिए यह उद्धरण दिये गये हैं। भ० महावीर की जन्मभूमि आधुनिक विहार प्रान्त है। भ० महावीर के काश्मीर में जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। —सम्पादक

इन सब प्रमाणों से निश्चित समझना चाहिए कि जैनधर्म गौतम ऋषि से भी पहले का है।

कुछ लोगों का खयाल है कि जैनधर्म, बौद्धधर्म की शाखा है। किन्तु यह कथन भी सत्य नहीं है। इस खयाल की असत्यता में अब विद्वानों को तनिक भी सन्देह नहीं रह गया है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अपने अधूरे अध्ययन के आधार पर यह भ्रमपूर्ण विचार प्रकट किया था। मगर विशेष अध्ययन करने के पश्चात् पाश्चात्य विद्वानों ने ही उस विचार को गलत मान लिया है और अब यह प्रायः सर्वसम्मत तथ्य बन चुका है कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र और बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन धर्म है।

जैन और बौद्ध मान्यताओं पर थोड़ा-सा दृष्टिपात करते ही प्रतीत हो जाता है कि महावीर और बुद्ध अलग-अलग व्यक्ति थे और दोनों का धर्म भी अलग-अलग था। यहाँ नमूने के तौर पर कुछ बातों का उल्लेख किया जाता है:—

(१) महावीर स्वामी का जन्म 'क्षत्रियकुण्ड' में हुआ था और बुद्ध (शाक्य सिंह) का जन्म कपिलवस्तु में।

(२) महावीर स्वामी जब अट्ठाईस वर्ष के थे तब तक उनकी माता और पिता दोनों विद्यमान थे, जब कि बुद्ध की माता का उनका जन्म होते ही स्वर्गवास हो गया था।

(३) महावीर स्वामी ने अपने बड़े भाई से आज्ञा प्राप्त करके दीक्षा ली, जब कि म० बुद्ध ने बिना किसी से कहे-सुने चुपचाप निकल कर दीक्षा ली।

(४) श्री महावीर स्वामी की विराट साधना का काल साढ़े बारह वर्ष और पन्द्रह दिन था, जब कि बुद्ध का तपश्चर्याकाल सिर्फ छह वर्ष का रहा है।

(५) श्री महावीर ने तपश्चर्या को धर्म का आवश्यक अंग और मुक्ति का कारण कहा है, जब कि बुद्ध ने तपश्चर्या को व्यर्थ बतलाया है।

(६) श्री महावीर स्वामी का निर्वाण पावापुरी में हुआ था और बुद्ध की जीवन-लीला का संहरण कुडिगुँड में हुआ था।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक बातें हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि महावीर स्वामी और बुद्ध दो अलग-अलग थे। महावीर स्वामी जैनधर्म के प्रचारक थे और बुद्ध, बौद्धधर्म के संस्थापक थे। जैनधर्म में हिंसा के मूल कारण मांसभक्षण की स्पष्ट मनाई की गई है, किन्तु बुद्ध ने सीधा तैयार किया हुआ मांस ग्रहण कर लेना निर्दोष बतलाया है। जैनसिद्धान्त स्याद्वादमय है, बौद्धमत एकान्त क्षणिकवाद का प्ररूपण करता है। जैनधर्म आत्मा को अनादि-अनन्त द्रव्य स्वीकार करता है, बौद्धधर्म ऐसा नहीं मानता। वह अनात्मवादी है। महावीर स्वामी ने परलोक सम्बन्धी स्पष्ट विवेचन किया है, जब कि बुद्ध ने ऐसी बातों में मौन धारण किया।

मांसभक्षण की स्वतन्त्रता होने के कारण बौद्धधर्म का मांसाहारी देशों में प्रचार हो गया है और इन्द्रियों पर काबू रखने का विधान करने वाले जैनधर्म के अनुयायी कम रह गये हैं। कहावत है—

खाते पीते हर मिले तो हम से कहना,
और सिर साठे हर मिले तो चुपके रहना।

अतएव निश्चित रूप से मानना चाहिए कि इस युग में जैनधर्म भगवान् ऋषभदेव से चला आ रहा है और वेद उसके बहुत पीछे बने हैं। यही कारण है कि वेदों में जैन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख मिलता है। भगवान् ऋषभदेव असंख्य वर्ष पहले हो चुके हैं। यही कारण है कि जैनधर्म की उत्पत्ति का कोई समय है ही नहीं; क्योंकि वह अनादि है। सत्य अनादि है, वस्तु का स्वरूप अनादि है और 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वरूप ही धर्म है, इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला धर्म जैनधर्म

भी अनादि है। ऐसी आस्था रखकर किसी के बहकाये बहकना नहीं। सम्यक्त्व में दृढ़ रहकर, आत्मा का परम कल्याण कर परमानन्दी परम सुखी बनना चाहिए।

इस समय जैन और विशेषतया साधुमार्गी जैन ऐसे शिथिल बन गये हैं कि गोबर के कीले के समान जिधर नमाओ उधर ही नम जाते हैं और नर्मदा नदी के गोटे (गोलमटोल पत्थर) की तरह, जिधर लुढ़काओ उधर ही लुढ़क जाते है। इसी कारण महाप्रभावशाली जैनधर्म के धारक होकर और अलौकिक प्रभाव से परिपूर्ण नमस्कारमंत्र का स्मरण करने वाले होते हुए भी प्रतिदिन इज्जत से, जनसंख्या से, सुख से और धर्म से अवनति को प्राप्त हो रहे हैं। वे अनेक प्रकार के दुःखों से दुखित बने प्रज्वलित हृदय देखे जाते हैं। यह देखकर खेद और आश्चर्य होता है। चारों खंधों का धारण करना, दुष्कर व्रताचरण करना, लम्बी-लम्बी तपस्या करना, सामायिक, पौषधव्रत आदि करना, इन सब व्यावहारिक क्रियाओं में वे सब से आगे देखे जाते हैं, मगर श्रद्धा दृढ़ता के अभाव में उस करणी का परिपूर्ण फल प्राप्त नहीं कर पाते हैं। वे पर्याप्त सद्ज्ञान के अभाव से यश और पूजा के भूखे बन कर करणी करते हैं, अतः मानों करोड़ों का माल कौड़ियों में गँवा देते हैं। इसीलिए चेतावनी देनी है कि—भव्य जीवो! देह, धन, यश, और विषय-सुख की प्राप्ति तो अनन्त बार हो चुकी है। उससे आत्मा का कोई प्रयोजन पूरा नहीं हुआ। 'सद्धा परमदुल्लहा' अर्थात् संसार में आत्मा को सच्ची श्रद्धा प्राप्त होना बहुत कठिन है। क्रिया करने में तो महान् परिश्रम उठाना पड़ता है सो तो कर लेते हो, मगर क्रिया का सच्चा और परिपूर्ण फल देने वाली तथा बिना किसी परिश्रम के धारण की जा सकने वाली आस्था में शिथिल बन जाते हो। यह आश्चर्य और खेद की बात है। भाइयो! चेतो, चेतो। सौभाग्य से आपको इस समय सच्चे धर्म की प्राप्ति हुई है तो धन, स्त्री, पुत्र, सुख, यश आदि की इच्छा का परित्याग कर दृढ़ श्रद्धाशील बनो और यथाशक्ति करणी करके उसके महान् फल के भागी बनो।

उक्त सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था, यह पाँच लक्षण जिसमें पाये जाते हों, उसी को सच्चा सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

सातवाँ बोल—भूषण पाँच



जिस प्रकार अलंकारों अर्थात् आभूषणों से मनुष्य का शरीर शोभित होता है, उसी प्रकार निम्नलिखित पाँच गुण रूपी आभूषणों से सम्यक्त्वी शोभा पाता है:—

(१) धर्म में कुशलता-कुशलता–चतुरता के साथ किया हुआ प्रत्येक कार्य अच्छा होता है। अतएव कार्य करने वाले अपने अभीष्ट कार्य को सम्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम कुशलता प्राप्त करते हैं और फिर अपने अभीष्ट कार्य में उसका सदुपयोग करके अपने कार्य को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने वाले धीरे-धीरे अपने कार्य को बहुत अच्छा बना सकते हैं और किसी के छल में आकर ठगे भी नहीं जाते। इसी प्रकार सम्यक्त्वी भी अपने धर्म-कार्य को समुचित और अच्छा बनाने के लिए प्रथम गीतार्थ गुरु से शास्त्रों का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त होने से वह धर्ममार्ग में चतुर बन जाता है और फिर उस ज्ञान के प्रभाव से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, रूप धर्म की प्रभावना करने के लिए अनेक नवीन-नवीन युक्तियों की योजना करता है। अपने उपदेश में, व्रत में, तपस्या में, कुशलता बता कर भव्यात्माओं के मन को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस प्रकार कुशल बना हुआ सम्यक्त्वी पाखण्डियों के कुतर्कों से छला नहीं जाता। अपनी उत्पात बुद्धि से उनके कुतर्क का खण्डन करके अपने प्रभावशाली तर्कों से सत्य पक्ष की स्थापना करता है।

(२) तीर्थ की सेवा—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चार तीर्थ हैं।* इनको धर्माराधन के कार्य में सहायता देना, इनकी सेवा-भक्ति

* मकसूदाबाद—अजीमगंज निवासी बाबू धनपतिसिंहजी की तरफ से प्रकाशित 'नन्दिसूत्र के पृष्ठ २२४ पर कहा है:—

करना सम्यक्त्वी का भूषण है। राजा की सेवा करने से राज्य सुख की प्राप्ति होती है, सेठ की सेवा करने से धन-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार उक्त चार तीर्थों की सेवा मुक्तिसुख देने वाली है। तीर्थसेवकों का कर्त्तव्य है कि जब साधु-साध्वी का आवागमन हो तो यतनापूर्वक उनके सामने जावें, गुणगान करते हुए ग्राम में प्रवेश करावें, यथोचित स्थानक (मकान) आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध आदि वस्तुएँ आवश्यकतानुसार स्वयं देवें, दूसरों से दिलावें, धर्मोपदेश श्रवण करें, उसे धारण करें, यथा-शक्ति व्रत-नियम स्वयं धारण करे, दूसरों को धारण करने की प्रेरणा करें और तन से, मन से, धन से, यथोचित धर्मसाधना स्वयं करें और दूसरों से करावें। देखिए, प्राचीन काल में साधु ग्राम से बाहर ठहरते थे और श्रद्धालु धर्मात्मा वहाँ भी धर्मलाभ प्राप्त करने के लिए जाते थे तथा सर्वस्व अर्पण करके धर्मोन्नति करते थे। किन्तु आज कल कितने ही भारी कर्मा जीव ऐसे

नदी आदि तथा यात्रा करने के तीर्थ वे सब द्रव्यतीर्थ, जिस कर संसार न तीराई, अने सावद्य कर्त्तव्य कर तीर्थ तीरना नहीं है। जो भावतीर्थ ते चतुर्विध संघज ज्ञानादि कर सहित, अज्ञान नथी, ते माटे जे भावथकी तीरे ते भाव तीरथ, तथा क्रोधाग्नि दाहा उपशमावी वो लोभतृष्णा टाली वो कर्ममल फेड वुं अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र ए विषे रहीवो तिणने भावतीर्थ कहीए।

योगीन्द्रदेवविरचित 'श्रीअनुभवमाला' अपरनाम 'स्वानुभवदर्पण' का भाषान्तर माणकलाल घेलाभाई ने तथा कपूरचन्द लालन ने मिल कर किया है, जो बम्बई के निर्णय-सागर प्रेस में छपा है। उसके पृष्ठ ५२ में लिखा है—

भमे कुतीर्थ तहां सुधी करे धूर्तता ढंग।
सद्गुरु-वचन न सांभले, करे कुगुरुनो संग ॥४०॥
तीर्थ ने देहरा विषे, निश्चय देव न जाण।
जिन गुरु वाणी इम कहे, देह में देव प्रमाण ॥४१॥
तन-मंदिर मां जीव जिन मंदिर मूर्ति न देव।
राजा भिक्षार्थे भमे, एवो जनने टेव ॥४२॥
नथी देव देहरा विषे, छे मूर्ती चित्राम।
ज्ञानी जाने देवने, मूर्ख भमे बहु ठाम ॥४३॥
खरो देव छे देहमां, ज्ञानी जाणे तेह।
तीर्थ देवालय देव नहिं, प्रतिमा निश्चय एह ॥४४॥

हैं कि घर के निकट ठहरे हुए साधु के दर्शन का भी लाभ नहीं लेते। कहा भी है:—

पुण्यहीन को ना मिलै, भली वस्तु का जोग।
जब द्राक्षा पकने लगी, काग कंठ हो रोग॥

अर्थात्—जब द्राक्षा पकती है तब कौवे को कण्ठमाला रोग हो जाता है, जिससे वह द्राक्षा नहीं खा सकता। हाँ, जब निंबौलियाँ पकती हैं तो वह नीरोग हो जाता है। इसी प्रकार जो जीव भारीकर्मा होते हैं उन्हें साधु-समागम, व्याख्यानश्रवण, धर्मलाभ लेने आदि के प्रसंग पर रोग, शोक, रगड़े-झगड़े आदि अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। किन्तु कर्मबन्ध के कारणभूत तमाशे, जुआ, खेल आदि के अवसर पर, उनका लाभ उठाने की खूब फुर्सत मिल जाती है!

भव्यो! सच समझिए। धन-सम्पदा आदि का योग तो अनन्त वार मिल चुका है और फिर भी मिल सकता है, किन्तु संतसमागम और धर्म की साधना करने का योग मिलना अत्यन्त कठिन है। कहा भी है—

मात मिले सुत भ्रात मिले पुनि,
तात मिले मन-वांछित पाई,
राज मिले गज बाजि मिलै,
सुख साज मिलै युवती सुखदाई।
इह लोक मिले परलोक मिलै,
सब थोक मिलै वैकुण्ठ सिधाई,
'सुन्दर' सब सम्पत्ति मिलै,
पन साधु-समागम दुर्लभ भाई॥

ऐसा समझ कर सम्यक्त्वी जीव, साधु-समागम का अवसर मिलने पर कभी चूकते नहीं हैं। यथोचित सेवा करके और लाभ उठा करके अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं। इसी प्रकार स्वधर्मी श्रावक और श्राविका की

सेवा-भक्ति में भी लाभ समझना चाहिए। श्रावक की करणी की सज्झाय में कहा भी है—

स्वामी वत्सल करजे घणा,
सगपण मोटा स्वामी तणा।

अर्थात्—माता, पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र आदि का सांसारिक सगपण (सम्बन्ध) तो स्वार्थ का है। वह आत्मोद्धार के कार्य में विघ्नरूप है, किन्तु सहधर्मी भाइयों का सम्बन्ध पारमार्थिक और आत्मोद्धार के कार्य में सहायक है। यहाँ स्वामी का अर्थ है—तीर्थङ्कर भगवान्। तीर्थङ्कर भगवान् के सम्बन्ध से, उनके सभी उपासक हमारे सम्बन्धी हैं। धर्म का यह सम्बन्ध महान् सम्बन्ध है। इन सम्बन्धियों पर यथोचित वत्सलता का भाव रखना चाहिए। इस प्रकार विचार कर सम्यग्दृष्टि साधर्मियों की वत्सलता-सेवा-भक्ति करने में तत्पर रहते हैं। ज्ञान के इच्छुकों को पुस्तक आदि ज्ञान के उपकरण देते हैं। तथा तपस्वी श्रावक के लिए उष्ण पानी ला देना, तैल आदि का मालिश कर देना, बिछौना बिछा देना, वस्त्रों का प्रतिलेखन कर देना, धारणा-पारणा सम्बन्धी साता उपजाना, विशेषज्ञ धर्मोपदेशक को सुख-साता पहुँचाना अनाथों अपंगों गरीबों को द्रव्य, आहार,व स्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं की सहायता देना, आजीविका लगा देना, व्यापार में यथायोग्य सहायता करना, सत्कार-सन्मान करके धर्माराधन में उत्साही बनाना, आदि-आदि धर्मवृद्धि एवं उपकार के कार्यों में यथाशक्ति सहायता करते ही रहते हैं। इस प्रकार वे स्वयं सेवा-भक्ति करते हैं और दूसरों से भी कराते हैं।

(३) तीर्थ के गुणों का ज्ञाता—पहले जो चार तीर्थ कहे हैं, उनका गुण की अपेक्षा दो विभागों में समावेश हो जाता है—(१) साधु और (२) श्रावक। इनमें से साधु के २७ गुण और श्रावक के २१ गुण कहे हैं। सम्यग्दृष्टि को इन गुणों का ज्ञाता अवश्य होना चाहिए, क्योंकि 'अपने के गुण की पूजा, निगुनों को पूजे वह पंथ ही दूजा।' इस समय कितने ही मायावी लोग अपनी उदरपूर्ति के लिए गुणों की प्राप्ति किये बिना ही, श्रावक

का तथा साधु का भेष धारण करके, कल्पित गपोड़ों से भोले लोगों को भ्रम में डाल कर ठगाई करते हैं। वे अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए मन्त्र, यंत्र, औषध आदि करते हैं। कई तो व्यभिचार जैसे कुकर्मों का सेवन करके धर्म को भी कलंकित करते हैं। ऐसे लोगों की करतूत देख कर भोले लोग सच्चे साधु और श्रावक को भी ठग समझ कर श्रद्धाहीन हो जाते हैं। जो साधु और श्रावक के गुणों का ज्ञाता होगा, वह ऐसे ढोंगियों के भ्रम में नहीं फँसेगा, क्योंकि वह परीक्षापूर्वक ही उनका मान-सन्मान करेगा। वह निगुनों का संसर्ग मात्र भी नहीं करेगा और ढोंगियों को पदभ्रष्ट करके जैनधर्म की ज्योति को जागृत रक्खेगा। वह स्वयं धर्म में दृढ़ रहेगा और दूसरों को भी दृढ़ बनाएगा।

(४) धर्म से चलायमान को स्थिर करना—कोई साधु, श्रावक या सम्यक्त्वी, किसी अन्यमतावलम्बी के सहवास से, धर्म से च्युत हो जाय, तो सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है कि वह उसे धर्म में दृढ़ बनावे। अगर वह स्वयं उसकी शंका का निराकरण करने में समर्थ हो तो स्वयं निराकरण करे। यदि स्वयं समर्थ न हो तो किसी विशेषज्ञ गीतार्थ के योग से, संवाद द्वारा शंका का समाधान करावे। अगर कोई किसी संकट में पड़ कर धर्म-भ्रष्ट हो रहा हो या हो गया हो और उसका संकट दूर करने में स्वयं समर्थ हो तो उसे स्वयं संकट से मुक्त करे। यदि स्वयं समर्थ न हो तो अन्य की सहायता से उसके संकट को दूर करके उसे फिर धर्म में दृढ़ करे। कदाचित् संकट दूर करने का कोई उपाय न हो तो उसे समझावे कि—हे भाई! कर्मगति बड़ी विचित्र है। तीर्थंकर और चक्रवर्त्ती जैसे लोकोत्तर और लौकिक महापुरुषों * को भी कर्म ने नहीं छोड़ा, तो अपनी क्या कथा?

** आदिनाथ अन्न बिना मास द्वादश रहे,*
महावीर साढ़े बारा वर्ष दुःख पाये हैं।
सनत्कुमार चक्री कोढ़ी वर्ष सात सौ लों,
ब्रह्म चक्री अन्ध रहि नरक सिधाये हैं।
इत्यादिक इन्द्र औ नरिंद कर्मवश बने,
विडम्बना सही तेरी गिनती कहलाये हैं।

किन्तु संकट के समय जो सन्त, सतियाँ या श्रावक आदि धर्म पर दृढ़ रहे हैं, उनके संकट किंचित् काल में टल गये, उनके दुःख दूर हो गये और वे महान् सुख के अधिकारी बन गये। इसके सिवाय संसार में वे अपना नाम अमर कर गये। शास्त्रों में, कथाओं में, ढालों में ऐसे ही दृढ़धर्मी जनों का नाम आता है, जिन्होंने संकट के समय धर्म का पालन सुख के समय से अधिक किया है। कर्म को हटाने वाला और संकट को काटने वाला एक मात्र धर्म ही है, दूसरा कोई नहीं। इसलिए संकट से मुक्त होने का उपाय यही है कि संकट के समय अधिक उत्साह के साथ धर्माराधन किया जाय। धर्म की आराधना से संकट उसी प्रकार दूर भाग जाता है, जैसे सामना करने से कुत्ता भाग जाता है।

बन्धु! तुम धर्म करने को प्रवृत्त हुए हो सो कर्म रूपी शत्रु को हटाने के लिए मानों कर्मों के सन्मुख हुए हो। इसलिए अब कर्मशत्रुओं को हटा कर अक्षय सुख रूप राज्य को प्राप्त कर लेना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। अब यह जो कर्म उदय में आये हैं सो मानों वे तुम्हें सुख रूप राज्य देने के लिए तुम्हारे सन्मुख आये हैं। वे तुम्हारी योग्यता की परीक्षा कर रहे हैं। इस परीक्षा से तुम्हें घबराना नहीं चाहिए। जो क्षत्रिय एक बार संग्रामभूमि में आकर भाग जाता है, उसकी बड़ी खराबी होती है। इसी प्रकार तुम अगर कर्मोदय से डरकर भाग जाओगे अर्थात् धर्म से च्युत हो जाओगे तो तुम्हारी भी फजीहत होगी। अर्थात् नरक और तिर्यंच गति में, इस प्राप्त दुःख से भी अनन्तगुणा दुःख भुगतना पड़ेगा। अगर इस समय दृढ़ रह कर थोड़े-से संकट को समभाव से सहन कर लोगे, धर्म में दृढ़ता रक्खोगे तो थोड़े ही काल में अशुभ कर्म नष्ट हो जाएँगे और सदा के लिए परमानन्द के स्वामी बन जाओगे। ज्यों-ज्यों ताप लगता है, सुवर्ण त्यों-त्यों चमकदार और शुद्ध बनता जाता है किन्तु पीतल काला पड़ता जाता है। अपने को तो सुवर्ण के समान ही होना उचित है।'

कहत 'अमोल' जिन वचन हृदय तोल,
समता सों कर्म तोड़े सो ही सुख पाये हैं ॥

कोई-कोई भोले भाई संकट के समय सोचने लगते हैं कि-जब से मैं धर्म करने लगा तभी से मुझ पर यह दुःख आ रहा है। इस भ्रमपूर्ण विचार से वे धर्म को कलंकित करते हैं और वज्र-कर्मों का उपार्जन कर लेते हैं। उन्हें समझाना चाहिए कि-'भाइयो! इतना तो निश्चय ही समझो कि धर्म करने से कभी दुःख नहीं हो सकता। यह दुःख जो हुआ है सो पूर्वकृत कर्मों का ही परिणाम है। सो जैसे हड्डी का ज्वर, औषध का प्रयोग करने से, उभर कर बाहर आ जाता है और जैसे जुलाब के प्रयोग से पेट में संचित मल बाहर निकलता है, उसी प्रकार धर्म के प्रयोग से आत्मा की शुद्धि के लिए तथा कष्टों का नाश होने के लिए ही यह कर्म उभर के आरहे हैं। जो मनुष्य जुलाब से घबरा कर कुपथ्य का सेवन कर लेता है, वह बहुत दुःख पाता है। इसी प्रकार जो कर्मोदय से घबरा कर धर्मभ्रष्ट हो जाता है और कुमत ग्रहण कर लेता है वह भी दोनों भवों में अनन्त दुःखों को प्राप्त होता है। अतएव स्मरण रखना चाहिए कि अशुभ कर्मों का नाश हुए विना सुख की प्राप्ति होती ही नहीं है। यह दुःख, सुख का साधक है। इसलिए थोड़े समय तक इस दुःख को भोग कर सुखी बनने का मार्ग साफ कर लेना चाहिए। 'दुःखान्ते सुखम्' अर्थात् दुःख का अन्त होते ही सुख तैयार है।

इस प्रकार के उपदेश से तथा सहायता के द्वारा धर्म से विचलित होते हुए भाइयों को जो धर्म में निश्चल बनाता है, वह अपने सम्यक्त्व को भूषित करता है।

(५) धर्म में धैर्यवान् होना—चौथे बोल में धर्म से चलित होने वाले को धैर्य बँधाने के लिए कहा, किन्तु 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे' अर्थात् दूसरों को उपदेश देने वाले तो संसार में बहुत मिल सकते हैं, किन्तु उस उपदेश के अनुसार स्वयं चलने वाले थोड़े ही मिलेंगे।*

---

* *परोपदेशवेलायां, शिष्टा सर्वे भवन्ति वै।*
विस्मरन्ति हि शिष्टत्वं, स्वकार्ये समुपस्थिते॥

अर्थात् दूसरों को उपदेश देते समय तो सभी कुशल बन जाते हैं, किन्तु जब अपने ऊपर बीतती है तो उस उपदेश को भुला देते हैं। —मानवधर्मशास्त्र।

मगर जो अपनी आत्मा को स्थिर करके फिर दूसरे की आत्मा को स्थिर करने का प्रयत्न करेगा, उसी का उपदेश सफल होगा। अतएव सम्यग्दृष्टि को चाहिए कि जब खुद पर रोग, शोक या वियोग आदि के दुःख का प्रसंग आ जाय तो वह स्वयं भी अचल रहे अर्थात् न आर्त्तध्यान करे, न रौद्रध्यान करे। न शोक करे, न सन्ताप करे, न विलाप करे। घोर संकट में भी सुखमय अवस्था के समान हर्षोत्साह से युक्त बना हुआ अधिक-अधिक धर्मवृद्धि करता रहे, जिससे आपका भी कल्याण हो और दूसरों पर भी धर्म की छाप लग जाय। ऐसा व्यवहार करके जगत् के सामने सच्चे धर्मात्मा का आदर्श उपस्थित करे। अपने कुडुम्बी जन अगर आर्त्तध्यान, शोक, सन्ताप करते हों तो उन्हें भी उपालंभ देकर रोके। जो लोग मिलने के लिए आवें, उन सम्बन्धियों और कुडुम्बियों के सामने भी अपने दुःख को प्रकट न करता हुआ उन्हें वैराग्य का उपदेश करे। ऐसे दृढ़धर्मी धर्मात्मा स्वयं भी सुखी होते हैं और दूसरों को भी सुखी रखते हैं। यही नहीं, संकट के समय धैर्य पूर्वक समभाव रखने के प्रताप से घोर कर्मों की निर्जरा करते हैं और अनेकों को कर्मबन्धन से बचाकर, उन्मार्ग में जाने से रोक कर सन्मार्ग में लगाते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के इन पाँच भूषणों-अलंकारों से अपने सम्यक्त्व को भूषित करते हुए, दूसरों के मन को भी सम्यक्त्व की ओर आकर्षित करते हैं।

आठवाँ बोल—प्रभावना आठ



जिस कृत्य के करने से धर्म का प्रभाव फैले-बढ़े और उस प्रभाव को देख कर दूसरे लोग धर्म की ओर आकर्षित हों, वह प्रभावना कहलाती है। वह प्रभावना निम्नलिखित आठ प्रकारों से होती है:—

(१) प्रवचनप्रभावना—अर्थात् जिनेश्वर भगवान् के वचन (शास्त्र) अर्थात् प्रवचन के प्रभाव को बढ़ाना। वर्त्तमान काल में शास्त्र ही धर्म के

सच्चे प्रभावक हैं।* भूतकाल में केवलज्ञानी तथा श्रुतकेवली महापुरुषों द्वारा जिनप्रणीत धर्म का असाधारण प्रभाव पड़ता था। ऐसे महापुरुषों का इस समय अभाव हो गया है। अब उनकी वाणी से उद्धृत वचन ही, जो महाविद्वान् प्रभावक गणधरों और आचार्यों द्वारा संकलित किये गये हैं, धर्म के स्तंभ रूप-आधार रूप हैं।

शास्त्र में कहा में कहा है:—

न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमए दिस्सइ मग्गगोचरे।
संपइ नेयाउए पहे,
समयं गोयम! मा पमायए॥

—श्री उत्तराध्ययन, अ० १०; ३१

अर्थात्—श्री महावीर स्वामी ने मोक्ष पधारते समय कहा- हे गौतम! पाँचवें आरे में जिन-तीर्थंकरों के दर्शन तो होंगे नहीं, किन्तु मुक्तिमार्ग के उपदेशक होंगे। उनसे न्यायपथ-मुक्तिमार्ग प्राप्त करने में भव्य जीवों को एक समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि को शास्त्रों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए आप्त पुरुषों का कथन गहन और परमार्थदर्शक होता है, अतः गुरुगम से शास्त्रों का पठन, चिन्तन, मनन अवश्य करना चाहिए और यथाशक्ति दूसरों को कराना चाहिए। ज्ञान में परिपक्व बना हुआ सम्यक्त्वी अपनी तथा अन्य की आत्मा को उन्मार्ग में गमन करने से रोक कर, सन्मार्ग में स्थापित करके धर्म का प्रभावक बनता है।

---

* अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

अर्थात् व्यापे हुए अज्ञान-रूपी अंधकार को दूर करके यथायोग्य जिनेन्द्र भगवान् के शासन की महिमा को प्रकट करना प्रभावना है।

(२) धर्मकथा प्रभावना–धर्मकथा के द्वारा प्रभावना करे। व्याख्यान उपदेश द्वारा भी धर्म का अच्छा प्रभाव फैलाया जा सकता है। अतएव सम्यक्त्वी सभा-सोसाइटी में, समितियों और परिषदों में तथा विभिन्न प्रकार के सम्मेलनों में, जहाँ-जहाँ जनसमूह उपस्थित हो, वहीं जाकर द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देख कर सब की समझ में आने योग्य भाषा में रोचक और प्रभावशाली शब्दों में, जिनप्रणीत धर्म के तत्त्वों का, अनेक मत-मतान्तरों के प्रमाणों, युक्तियों और तर्कों के उद्धरण देकर स्याद्वादशैली से, सरल शब्दों में, महत्त्व प्रकट करे। जिससे श्रोताओं के हृदय में सच्चे जिनधर्म का प्रभाव अंकित हो जाय।

(३) निरपवाद प्रभावना—अनन्त ज्ञानियों द्वारा प्रणीत शास्त्रों के वाक्य संक्षिप्त और बहुअर्थी होते हैं। उनमें शब्द थोड़े किन्तु अर्थ विशाल होता है। अतएव जिसने भलीभाँति चिन्तन-मनन किया हो, ऐसे गीतार्थ के सिवाय प्रत्येक की समझ में आना सरल नहीं है। अतएव कोई अनभिज्ञ पुरुष विपरीत अर्थ करके, जैनमार्ग का अपवाद करता हो तो सम्यक्त्वी का कर्त्तव्य है कि वह सच्चे अर्थ को प्रकाशित करके उस अपवाद को दूर करे। इसी प्रकार कोई मिथ्या आडम्बर करने वाला पाखण्डी जन सम्यग्दृष्टियों को भ्रष्ट करने के लिए उद्यत हुआ हो तो संवाद तथा शक्ति द्वारा उसे पराजित करके उन्हें भ्रष्ट होने से बचावे। इस प्रकार धर्म सम्बन्धी प्रत्येक अपवाद को निवारण करना भी प्रभावना है।*

---

*वर्त्तमान में अनेक पाश्चात्य विद्वान् जैनशास्त्रों का महत्त्व समझने लगे हैं, इस कारण उन्होंने जैनसूत्रों के अंगरेजी, जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद किये हैं। किन्तु कितनी ही जगह अर्धमागधी भाषा के गुह्य अर्थ की पूरी समझ न होने के कारण उन्होंने अर्थ का अनर्थ कर दिया है, जिससे परम दयालु जैनों पर भी मांस-मदिरा भोजी होने का कलंक लगाने का उन्होंने साहस किया है। इस अपवाद का निवारण करने के लिए पहले भी कतिपय विद्वानों ने खूब प्रयत्न करके भ्रम दूर किया है। इसका विशेष स्पष्टीकरण पण्डित मुनिवर्य श्रीमोहनलालजी द्वारा रचित 'प्रश्नोत्तर मोहनमाला' के उत्तरार्ध में किया है। यहाँ उसका थोड़ा-सा उल्लेख करते हैं:—

आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में पाठ है—'मंसगं मच्छगं भोच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से तं जाव परिट्ठवेज्जा।' अर्थात्—मांस और मच्छ तो खा जाना किन्तु हड्डी और कांटों को लेकर यतना से डाल देना। यह अर्थ झूठा है, क्योंकि—

(४) त्रिकालत्रप्रभावना—भूत, भविष्य और और वर्त्तमान, इस प्रकार तीनों कालों की घटनाओं को जानने वाला भी प्रभावक हो सकता है।

---

(१) सूयगडांगसूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के दूसरे अध्ययन में कहा है—'अमज्जमंसासिणो' अर्थात् साधु मद्य और मांस के त्यागी होते हैं।

(२) प्रश्नव्याकरणसूत्र के चौथे संवरद्वार में कहा है—'महुमज्जविगइपरिचत्त' अर्थात् मधु, मद्य आदि विगय को त्याग करे।

(३) उत्तराध्ययनसूत्र के पाँचवें और उन्नीसवें अध्ययन में ठाणांगसूत्र में तथा अन्य बहुत-से शास्त्रों में मांसभक्षी को अज्ञानी कहा है। नरकगामी बतलाया है। दशवैकालिकसूत्र के पाँचवें अध्ययन में मदिरा-पान के बहुत दोष बतलाये हैं। मदिरापान करने वाले को भी नरकगामी बतलाया है। इसलिए जैनधर्मी मांस, मच्छ, मदिरा आदि जैसी अभक्ष्य वस्तुओं के भोगी कदापि नहीं होते। ऐसी स्थिति में सूत्र में मांस, मत्स्य, अस्थि (अट्ठि) वगैरह जो शब्द पाये जाते हैं, उनका असली अर्थ दूसरा है। वहाँ मांस का अर्थ वनस्पति के फलों का तथा फलियों का गिर (गूदा) समझना चाहिए।

(१) दशवैकालिकसूत्र के अध्ययन ५, गाथा १३ में फल की गुठली को 'अट्ठि' कहा है। (२) पन्नवणासूत्र के प्रथम अध्ययन के सूत्र १२ में फल के गिर को 'मंस' कहा है। (३) पन्नवणा के इसी पद में दो प्रकार के वृक्ष कहे हैं—एगट्ठिया, बहुअट्ठिया, अर्थात् एक गुठली वाले और बहुत गुठलियों वाले। (४) हेमचन्द्राचार्यकृत कोष में 'तिक्ताऽरिष्टा कटुर्मत्स्या' इस प्रकार मत्स्य नामक वनस्पति कही है। (५) 'शब्दचिन्तामणि' नामक गुजराती शब्दकोष में मत्स्यगधा, मत्स्यंडी, मत्स्यपिसा, मत्स्याक्षी, मत्स्यागी, मत्स्यादनी, ऐसी पाँच वनस्पतियाँ मत्स्य के नाम की कही हैं। (६) आचारांगसूत्र के पिण्डैषणाध्याय के आठवें उद्देशक में फलों के धोवन-पानी लेने का वर्णन है। वहाँ यह भी कहा है कि पानी में 'अट्ठ' अर्थात् गुठलियाँ हों तो निकाल दे। (७) प्रश्नव्याकरणसूत्र के चौथे संवरद्वार में 'मच्छंडी' कही है सो वहाँ मच्छ के अंडों का अर्थ नहीं है, किन्तु मिश्री-शक्कर अर्थ है।

इत्यादि उदाहरणों से निश्चय कीजिए कि शास्त्र में साधु के आहार ग्रहण के प्रकरण में 'मंस' शब्द आया है सो वहाँ फल का गिर अर्थ समझना चाहिए। जहाँ 'मच्छ' शब्द आया है, वहाँ मच्छ नामक वनस्पति अथवा पानी में उत्पन्न होने वाले सिंघाड़े आदि फल समझना चाहिए। जहाँ 'अट्ठि' या 'अट्ठिय' शब्द आया हो वहाँ गुठली अर्थ समझना चाहिए।

भगवतीसूत्र के पाठ पर भी थोड़ा विचार कर लेना उचित है। श्रमण भगवान् महावीर को लोहीठाण की बीमारी हो गई थी। उसके इलाज के लिए भगवान् ने सिंह अनगार को भेजकर मिंढिया ग्राम की रेवती नामक गाथापत्नी के घर से औषध मँगवाई। इस विषय में भगवतीसूत्र में यह पाठ है—

क्योंकि भूतकाल में हुए भले या बुरे पुरुषों के जीवन वृत्तान्त, तथा वर्त्तमान समय के ज्ञाता ज्ञानी जन धर्मकर्म की विचित्रता और काल की गहन गति

'मम अट्ठा दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं नो अट्ठो, से अएणे परियासि मज्जारकडए कुक्कडमंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो।'

अर्थात्—मेरे लिए दो कपोत के शरीर तैयार किये हैं; वे नहीं लाना, किन्तु दूसरे के लिए मार्जारकृतक कपोतमांस तैयार किया है, उसे ले आना।

इस पाठ में जो कवोय (कपोत-कबूतर), मज्जार (मार्जार-बिल्ली), और कुक्कुड (कुक्कुट-मुर्गा) शब्द आये हैं, इनका भी यथार्थ अर्थ न समझने के कारण लोग शंकाशील बन जाते हैं। किन्तु 'कपोत' शब्द से कबूतर के आकार वाले कूष्माण्ड (कोला नामक) फल का अर्थ समझना चाहिए। मज्जार शब्द का अर्थ वायु रोग तथा विल्वफल का गिर समझना चाहिए। (बिल्व वृक्ष के पत्र महादेवजी की मूर्ति पर चढ़ाये जाते हैं। उसी वृक्ष का फल यहाँ ग्रहण करना) कुक्कुड शब्द का अर्थ बिजौरा नामक फल है।

वर्त्तमान काल में भी उदर-व्याधि होने पर तथा लोहिठाण की बीमारी होने पर बिल्ली के फल का गिर तथा कुक्कुड वेल के फल का गिर दिया जाता है। अनेक वैद्यों से ऐसा मालूम हुआ है। अतएव डाक्टर होरनल ने अंगरेजी भाषा के अनुवाद में कबूतर, बिल्ली, मुर्गा वगैरह अर्थ किये हैं, सो सूत्रज्ञान सम्बन्धी अनभिज्ञता के कारण किये हैं। उस अर्थ को सत्य नहीं समझना चाहिए।

मनुष्य और तिर्यञ्च के नाम की अनेक वनस्पतियों के नाम शास्त्रों और ग्रन्थों में देखे जाते हैं। यथा—(१) पन्नवणासूत्र के प्रथम पद में नागरुक्ख (नाग वृक्ष), मातुलिंग (बिजौरा), बिल्लेय (बिल्ले वृक्ष), तथा पिप्पलिया (वनस्पति भी है और पिपीलिका-चींटी को भी कहते हैं), एरावण (वनस्पति भी है और इन्द्र के हाथी को भी कहते हैं), गोवालिय (वनस्पति भी है और गोपालक-गुवाल को भी कहते हैं)। इसी प्रकार 'कागली' एक वनस्पति भी है और कौवे की मादा को भी कहते हैं। अज्जुण (अर्जुन) वृक्ष भी होता है और पाण्डवों के भाई का भी नाम है।

इसी प्रकार साधारण वनस्पति के नाम में भी अस्सकण्णी (अश्वकर्णी), सिंहकर्णी आदि अनेक नाम हैं। 'शालिग्रामनिघण्टुभूषणम्' वैद्यकोपयुक्त निघण्टु-कोष है। इसमें प्रत्येक औषधि के नाम बारह-बारह भाषाओं में दिये हैं। इस ग्रन्थ के (१) पृष्ठ ६–७ पर कस्तूरी के नाम मृगमद, मृगनाभि, अंडजा, मृगी गार्जारी, श्यामा इत्यादि दिये हैं। इन नामों में 'मृग' शब्द आया है जो पशु का वाचक है। (२) पृष्ठ २८ पर तगर का अर्थ हस्ती है। (३) पृष्ठ ४० पर शैलारस का नाम कपि, कपितैल दिया है। कपि का अर्थ बन्दर भी प्रसिद्ध है। (४) पृष्ठ ४८ पर इलायची का अर्थ महिला, कन्याकुमारी, कान्ता, बाला आदि दिया है। यह स्त्री के भी अर्थ होते हैं। (५) पृष्ठ ५३ पर नागकेसर का अर्थ नाग

से चलायमान नहीं होते, उन्हें आश्चर्य या अफसोस नहीं होता। तथा वर्त्तमान में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार वे सुधार कर सकते हैं और ज्योतिष विद्या के प्रभाव से तथा अनुमान प्रमाण से भविष्य के ज्ञाता होने के कारण दुष्काल, रोग आदि उपसर्गों से अपने को तथा अपने धर्मबंधुओं को बचाकर सुखी कर सकते हैं। इसी प्रकार कालज्ञान में कुशल पंडित मृत्यु का समय निकट आया जान कर समाधिमरण द्वारा अपने तथा अन्य के आत्मा का कल्याण साध सकता है।

(५) दुष्करतपःप्रभावना—दुष्कर-कठिन तप से भी धर्म की बड़ी प्रभावना होती है। अन्यमतावलम्बी सिर्फ अन्न का त्याग करके मेवा, मिठाई फल, कन्दमूल आदि का भरपेट भक्षण करके तप समझ लेते हैं। ऐसे ही इस्लामधर्म के अनुयायी रात्रि में पेट भर खाकर, दिन में भूखे रहने में तप समझते हैं। ऐसा करने वालों को भी कितनेक लोग धन्य-धन्य कहते हैं। ऐसी स्थिति में निराहार उपवास-तप को देख-सुनकर उनका आश्चर्ययुक्त होना स्वाभाविक है। इसलिए उपवास, बेला, तेला, अठाई, पक्षोपवास,

---

दिया है, जो सर्प का भी वाचक है। (६) पृष्ठ ६७ पर गोरोचन का नाम गोलोचन दिया है, जिसका दूसरा अर्थ है—गाय की आँख। (७) पृष्ठ १०६ पर आँवले को 'अंडे' कहा है और अण्डे पक्षी के भी होते हैं। (८) पृष्ठ १२१ पर चित्रक का नाम चित्ता है। (९) पृष्ठ ३२० पर गरणी का नाम कोयल है। इसी प्रकार इन्द्राणी, शकाणी, मर्कटी, शुका, वानरी, लालमुर्गी, कोकिला, देवी, चण्डा, काकजंघा, काकनाशिका, दासी, राजहँसी, हंसराज, हंसपदी, पार्वती (काजुकली), पुत्रजीवी, कौन्तेय, कृष्णा, गोशृङ्ग, नाग (सीसा), मयूर (मोरथूत्ता) घवा की भाजी अनेक नाम हैं। सुवा तोते को भी कहते हैं। उर्दू भाषा में उड़द को मांस कहते हैं और संस्कृत में 'माष' कहते हैं। कहाँ तक गिनाएं, पशुओं, पक्षियों और मनुष्यों के नाम की अनेक औषधियाँ हैं। इसलिए शास्त्र के शब्दों का यथार्थ और यथोचित अर्थ ही समझना चाहिए। महादयालु जैन गृहस्थ भी स्वप्न में भी उक्त अभक्ष्य वस्तुओं की इच्छा नहीं करते तो फिर साधुओं और तीर्थंकरों का तो कहना ही क्या है? अर्थात् जैनधर्म के अनुयायी मांस, मच्छ, मदिरा का आहार कदापि नहीं करते हैं। यह बात निश्चित है और सत्य है।

उक्त विषय पर विशेष प्रकाश डालने वाली रचनाएँ हैं—'रेवतीदान-समालोचना', 'जैनदर्शन औ मांसाहार' आदि। जिज्ञासुजन उन्हें पढ़ें।

मासोपवास, यावत् षट्मासोपवास करना तथा आयु का अन्त निकट आया जानकर, जीवन-पर्यन्त चारों प्रकार के आहार का और उपधि का परित्याग कर देना, इत्यादि तपश्चर्या के द्वारा सम्यक्त्वी जैन धर्म की प्रभावना करते हैं।

(६) सर्वविद्याप्रभावना—विद्या ही समस्त जगत् के पदार्थों को प्रकाश में लाने वाली है। अतएव अनेक विद्याओं का ज्ञाता भी धर्म का प्रभावक होता है। जो अनेक भाषाओं और लिपियों का ज्ञाता है, वह सर्वज्ञ भगवान् की वाणी को उन भाषाओं और लिपियों में परिणत करके जनता के समक्ष उपस्थित करता है। इससे उन भाषाओं के ज्ञाता लोगों को धर्मतत्त्व का ज्ञान होता है और धर्म की ओर उनका चित्त आकर्षित होता है। फलस्वरूप धर्म का प्रभाव बढ़ता है।

इसके अतिरिक्त जो वैद्यकविद्या, मंत्रविद्या आदि विभिन्न विद्याओं का स्वयं ज्ञाता होता है, वह किसी अन्य के किये चमत्कार से मोह को प्राप्त नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि या संयत जन अपनी उदरपूर्ति के लिए या मानप्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उन विद्याओं का प्रयोग नहीं करते, मगर जब धर्म की हानि होते देखते हैं तब विद्याओं का प्रयोग करते हैं और धर्म का उद्योत करते हैं।

(७) प्रकट व्रताचरणप्रभावना—दुष्कर व्रतों का आचरण करने से भी धर्म का अच्छा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि संसार में ममता को मारना बड़ा ही कठिन कार्य माना जाता है और वास्तव में है भी कठिन। व्रत का आचरण करने के लिए ममता को मारना पड़ता है। ममता मारे बिना व्रतों का आचरण नहीं हो सकता। अतएव ममत्व-विजयी सम्यग्दृष्टि, धर्म की प्रभावना के एक मात्र उद्देश्य से, न कि मान-सन्मान की इच्छा से, महोत्सवपूर्वक, बड़े जनसमूह के सामने, शक्ति के अनुसार जोड़ा सहित ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार करे, रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करे, सचित्त वनस्पति का त्याग करे, सचित्त पानी पीने का त्याग करे। इस

प्रकार अनेक प्रत्याख्यान, युवावस्था में भी करके, आसक्त जनों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करके धर्म की प्रभावना करे।

(८) कवित्वशक्तिप्रभावना—प्रायः देखा जाता है कि कई जगह उपदेश की अपेक्षा भी कविता का असर अधिक होता है। अतएव कविता भी धर्म-प्रभावना का एक अच्छा साधन है। जिन सम्यग्दृष्टि पुरुषों को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से कविता बनाने की शक्ति प्राप्त हुई हो, उन्हें चाहिए कि वे विषयवासना बढ़ाने वाली, विरोध को उत्तेजना देने वाली या कुमार्गगमन में उत्साह दिलाने वाली कविता करने में अपनी बुद्धि का व्यय न करें, अपनी प्रशस्त शक्ति का दुरुपयोग न करें। जिनेश्वर के, साधु के, साध्वी के, श्रावक या श्राविका के—धर्मात्माओं और गुणवान् विद्वानों के गुणानुवाद करने वाली, संसार से विरक्ति उत्पन्न करने वाली, वैराग्य के परम रमणीक सरोवर में अवगाहन कराने वाली, अध्यात्म के अनोखे आनन्द की झांकी दिखलाने वाली, सरस शान्त रसमयी कविता बनावें और उसे यथोचित अवसर पर रागपूर्वक सुनाकर लोगों में धर्म की प्रभा फैलावें।

जिस जैनधर्म के प्रताप से अपनी आत्मा उन्नत स्थिति को प्राप्त हुई है, जिस धर्म के प्रसाद से जीवन में अद्भुत शान्ति का अनुभव हुआ है और अनेक प्रकार की आधियाँ—उपाधियाँ मिट गई हैं, जिस धर्म ने जीवन को अन्धकार-पथ से हटा कर प्रकाश की ओर मोड़ दिया है, जिस धर्म की आराधना से जीवन पवित्र, पुनीत, शान्त सन्तोषमय, सुखी और सरल बना है, उस धर्म का प्रभाव दूसरों के सामने प्रकट करना सम्यक्त्वी पुरुषों का कर्त्तव्य है। इस परम कर्त्तव्य को बजाने के लिए ही आठ प्रभावनाओं का प्रतिपादन किया गया है। इनमें से जिसके पास जैसी शक्ति हो, उसी के अनुरूप कार्य करके धर्म की उन्नति और वृद्धि करे। किन्तु प्रभावक होकर यह अभिमान नहीं करना चाहिए कि 'मैं धर्मप्रभावक हूँ, धर्मदीपक हूँ' आदि। इस प्रकार का अभिमान करने से प्राप्त होने वाले धर्म का महान् फल नष्ट हो जाता है। अतएव यह बात सदैव लक्ष्य में रखना चाहिए।

नौवां बोल—यतना छह

●

यतना का अर्थ है सावधानी या सार सँभाल। प्रत्येक अच्छी वस्तु जब प्राप्त हो जाती है तो उसकी सार-सँभाल करना भी आवश्यक होता है। सम्यक्त्व गुण का माहात्म्य अपार है। सौभाग्य से उसकी प्राप्ति होती है, अतएव प्राप्त होने पर हर प्रकार से उसकी रक्षा करने की सावधानी रखनी चाहिए। निम्नलिखित छह बातों से सम्यक्त्व की रक्षा होती है:—

(१) आलाप—मिथ्यादृष्टि के साथ बिना प्रयोजन बातचीत न करे, अथवा उसके बोले बिना उससे बात न करे।* हाँ, सम्यग्दृष्टि बोले या न बोले तो भी उसके साथ यथोचित वार्त्तालाप करे।

(२) संलाप—मिथ्यादृष्टि छल-कपट से भरे होते हैं। वे सहज ही सम्यक्त्व में बट्टा लगा देते हैं। अतएव उनके साथ विशेष वार्त्तालाप न करे और सम्यग्दृष्टियों के साथ धर्मचर्चा आदि वार्तालाप बार-बार करे।

(३) दान—दुखी, दरिद्री, अनाथ, अपंग आदि पर करुणा करके उन्हें दान देना तो सम्यक्त्वी का कर्त्तव्य है, किन्तु इन्हें दान देने से मोक्ष प्राप्त होगा, ऐसी इच्छा से मिथ्यात्वी को दान न दे। हाँ, अपने पास जो श्रेष्ठ, उपकारक और देने योग्य वस्तु हो, उसे देने के लिए सम्यक्त्वी को आमन्त्रित करे। सम्यग्दृष्टि को जिस वस्तु की चाहना हो सो दे। यथाशक्ति स्वधर्मियों की सहायता अवश्य करे।

पाखण्डिनो विकर्मस्थान्, वैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च, वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥
—मनुस्मृति, अ० ४, श्लो० ३०

अर्थात्—पाखण्डियों का, निषिद्ध कर्म करने वालों का, बिल्ली के समान दगाबाजों का, बगुले के समान दिखावटी आचार पालने वाले धूर्तों का, शठों का, देव, गुरु और शास्त्रों पर श्रद्धा न रखने वालों का और शास्त्रों के विरुद्ध तर्क करने वालों का वचन मात्र से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।

(४) मान—मिथ्यादृष्टियों का सन्मान न करे। मिथ्यादृष्टि का सन्मान करने से, प्रकारान्तर से मिथ्यात्व का सन्मान होता है। ऐसा सन्मान होते देखकर सम्यग्दृष्टियों का मन मिथ्यात्व की ओर आकर्षित होता है, वे शिथिल बनते हैं और कदाचित् मिथ्यादृष्टि भी बन जाते हैं। हाँ, सम्यग्दृष्टि का सन्मान-सत्कार अवश्य करना चाहिए, जिससे वे दृढ़धर्मी बनें और सम्यक्त्व का मान-माहात्म्य बढ़ता देखकर मिथ्यात्वियों का मन भी सम्यक्त्व की ओर आकर्षित हो और वे भी सम्यक्त्व को स्वीकार करें।

(५) वन्दना—मिथ्यादृष्टियों के आडम्बर की, सम्पत्ति की, एकता या संगठन की, हिंसक क्रियाओं की प्रशंसा न करे और सम्यक्त्वी के किये हुए धर्मकृत्य की, उदारता आदि गुणों की पुनः पुनः प्रशंसा करे। गुणवानों के गुणों को दिपावे।

(६) नमस्कार—मिथ्यात्वी को नमस्कार न करे। जिस प्रकार शंख श्रावक की स्त्री उप्पला बाई ने पोक्खली श्रावक को तिक्खुत्तो के पाठ से नमस्कार किया है, उसी प्रकार जो अपने से गुणों में वृद्ध हों, वयोवृद्ध हों, ऐसे स्वधर्मियों को यथायोग्य नमस्कार करना चाहिए। स्वधर्मियों के साथ सदैव विनयपूर्वक-नम्रतापूर्वक व्यवहार करना चाहिए। जैसे वैष्णव लोग जयगोपाल कहकर पारस्परिक शिष्टाचार-नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वी को भी 'जयजिनेन्द्र' शब्द का उच्चारण करके आपस में नमस्कार करना चाहिए। यह सम्यक्त्वी का अपने धर्म को दर्शाने का चिह्न है। सम्यक्त्वी के लिए यह उचित नहीं है कि वह जयगोपाल, सलाम आदि शब्दों का उच्चारण करके अपने धर्म को लुप्त, गुप्त या दूषित करे।

जिस प्रकार धनवान् अपने धन की चोर आदि से रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वी अपने सम्यक्त्व रूप धन की, मिथ्यात्व रूप चोर से रक्षा करने के लिए सदैव सतर्क और सावधान रहे। सम्यक्त्व के गुणों की वृद्धि करे और सम्यग्दृष्टियों का उत्साह बढ़ावे। इसी प्रयोजन से छह यतनाओं का वर्णन किया गया है।

दसवाँ बोल—आगार छह



(१) राज्याभियोग—राजा अथवा राजा के सामन्त, कर्मचारी वगैरह कदाचित् सम्यक्त्वी की जान, माल, इज्जत, लेने की धमकी देकर सम्यक्त्व से विरुद्ध कार्य करने की आज्ञा दें, और सम्यक्त्वी राजा आदि के अत्याचार से डर कर पश्चात्ताप के साथ, सम्यक्त्व से विरुद्ध कार्य करे तो सम्यक्त्व भंग नहीं होता।

(२) गणाभियोग—सम्यक्त्वी के कुटुम्बी, स्वजन तथा जाति के पंच आदि, जो अन्यमतावलम्बी हों, जाति-बहिष्कार आदि की धमकी देकर कुल के देव को, कुल के गुरु को नमन-पूजन आदि सम्यक्त्व-विरुद्ध कार्य करने के लिए विवश करें और उनके दबाव में पड़ कर वह पश्चात्ताप करता हुआ यह कार्य करे तो सम्यक्त्व भंग नहीं होता।

(३) बलाभियोग—कदाचित् कोई धनबली, जनबली, तनबली, विद्याबली (मांत्रिक) सम्यक्त्वी से सम्यक्त्वविरुद्ध कार्य करने के लिए कहे। सम्यक्त्वी उसके अधीन होकर, उसके जुल्म से भयभीत होकर पश्चात्ताप के साथ ऐसा कोई कार्य करे तो सम्यक्त्व भंग नहीं होता।

(४) सुराभियोग—कदाचित् कोई देव जान, माल को नष्ट करने की धमकी देकर सम्यक्त्व से विरुद्ध कार्य करने को बाधित करे और उसके उपद्रव से डर कर सम्यक्त्वी पश्चात्ताप करता हुआ ऐसा कोई कार्य करे तो समकित भंग नहीं होता।

(५) गुरुनिग्रह—(१) माता पिता, ज्येष्ठ भ्राता या बहुतों का माननीय कोई बड़ा पुरुष घर से निकाल देने आदि की धमकी देकर सम्यक्त्व से विरुद्ध कोई काम करने के लिए लाचार करे (२) कोई मिथ्यादृष्टि पुरुष सम्यक्त्वी के देव, गुरु धर्म की प्रशंसा करे और इस अनुराग से प्रेरित हो कर सम्यक्त्वी उसका सत्कार आदि करे (३) कदाचित् सम्यक्त्वी को अन्य

उत्कृष्ट धर्मलाभ आदि के कार्य के लिए कोई सम्यक्त्व-विरुद्ध कार्य करने के लिए कहे और वह वैसा कार्य करे तो सम्यक्त्व का भंग नहीं होता।

(६) वृत्तिकान्तार—सम्यक्त्वी कदाचित् रास्ता भूलकर घोर जंगल में पहुँच जाय। वहाँ अपने शरीर या कुटुम्ब की रक्षा के लिए किसी वस्तु का सेवन करना पड़े जो उसकी मर्यादा से बाहर हो, अथवा वहाँ कोई रास्ता बतलाने का लालच देकर सम्यक्त्व से विरुद्ध आचरण करने के लिए कहे, ऐसी स्थिति में सम्यक्त्वी प्राण या स्वजन की रक्षा के लिए वैसा कोई कार्य करे तो सम्यक्त्व भंग नहीं होता। इसी प्रकार दुष्काल आदि विकट प्रसंग उपस्थित होने पर शरीर या स्वजनों की प्राणरक्षा के लिए समकित से विरुद्ध कोई कार्य करना पड़े तो सम्यक्त्व भंग नहीं होता।

इन छह को आगार कहते हैं। कोई-कोई इन्हें छंडी (गली) भी कहते हैं। सड़क पर चलते-चलते कदाचित् कोई व्याघात उपस्थित हो जाय तो सड़क छोड़कर गली में होकर फिर सड़क पर पहुँचना होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व का पालन करते-करते पूर्वोक्त व्याघातों में से कोई व्याघात उपस्थित हो जाय तो इन गलियों में से निकल कर फिर सम्यक्त्व रूपी सड़क पर आ जाना चाहिए।

यह आगार सब सम्यक्त्वियों के लिए नहीं है। जो सम्यग्दृष्टि शूरवीर, धीर, साहसी और दृढ़ होता है, जिसकी हड्डियों की मीजी किरमिची रंग के समान धर्म के रंग में रँगी हुई हैं, वे प्राण, धन आदि सर्वस्व का नाश हो जाने पर भी सम्यक्त्व में लेश मात्र भी दोष नहीं लगाते। वे घोर से घोर आपदा का दृढ़ता के साथ सामना करते हुए अपने समकित को बेदाग बनाये रखते हैं। वे अरणक और कामदेव आदि श्रावकों की भाँति प्राणान्त संकट में भी कभी चलायमान नहीं होते। किन्तु जिनमें इतना साहस नहीं है, दृढ़ता नहीं है, कायरता है, जो संकट आने पर दृढ़ता के साथ धर्म का आचरण नहीं कर सकते उनके लिए आगार हैं। वे इन आगारों पर दृष्टि रखते हुए, सम्यक्त्व से विरुद्ध आचरण करते हुए भी साफ भ्रष्ट नहीं होते हैं। अलबत्ता उनका सम्यक्त्व दूषित अवश्य हो जाता

है। इसलिए सम्यक्त्वी को चाहिए कि जब कभी ऐसा कोई विकट प्रसंग उपस्थित हो और दूसरे प्रकार से सम्यक्त्व का बचाव होता न दीखे तथा विरुद्धाचरण करना ही पड़े तो मन में ऐसी भावना रक्खे कि अगर मैं पहले साधु हो गया होता तो दोष लगाने का प्रसंग ही न आता! वे महापुरुष धन्य हैं जो इससे भी अधिक भयंकर प्रसंग आने पर भी लेशमात्र विचलित नहीं होते! मुझे धिक्कार है कि मैं इस नाशवान् शरीर की रक्षा के लिए यह अकृत्य कर रहा हूँ। मेरे लिए वह दिन परम कल्याणमय होगा जब कि मैं पूर्ण रूप से निर्मल सम्यक्त्व का पालन करूँगा और दोष के इस कारण से निवृत्त होकर आत्मसाक्षी से या गुरु आदि की साक्षी से इस दोष की आलोचना-निन्दा करके, प्रायश्चित्त लेकर अपने सम्यक्त्वरत्न को पुनः निर्मल बना लूँगा।

ग्यारहवाँ बोल—भावना छह



प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए भावना-बल की परमावश्यकता होती है। कहा भी है:—'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। अतएव अपनी भावना को शुद्ध बनाये रखने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। भावना को सुधारने के लिए निम्नलिखित छह बातों पर लक्ष्य रक्खा जाय तो सम्यक्त्वी अपने सम्यक्त्व में निश्चलता प्राप्त कर सकता है।

(१) सम्यक्त्व धर्मवृक्ष का मूल है—जिस प्रकार वृक्ष का मूल (जड़) अगर मजबूत होता है तो वह वायु आदि का उपद्रव होने पर विनष्ट नहीं होता। वह शाखाओं, प्रशाखाओं, पत्रों, पुष्पों, फलों से सम्पन्न और विविध प्रकार से सुख देने वाला होता है। इसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व अगर दृढ़ हुआ तो धर्मात्मा पुरुष मिथ्यात्व रूपी वायु के उपद्रव से पराभूत नहीं होता-अचल बना रहता है। उसमें कीर्त्ति रूपी शाखाएँ लगने से वह विशाल बनता है। दया रूप पत्रों की छाया, सद्गुण रूपी पुष्प

और निरामय सुख रूप फल लगते हैं। इस वैभव के कारण वह संसार के ताप को शान्त करता है, सहारा देता है और सब प्रकार से सुखदाता होता है।

(२) सम्यक्त्व धर्मनगर का कोट तथा द्वार है—सुन्दर भवन आदि के वैभव से युक्त नगर का कोट अगर मजबूत हो तो, वह नगर परचक्री के द्वारा पराभूत नहीं होता है, उसी प्रकार विविध प्रकार की करणी रूप ऋद्धि से परिपूर्ण धर्म रूपी नगर का सम्यक्त्व रूप कोट अगर मजबूत होगा तो पाखण्डी रूपी परचक्री उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे। तथा जिस प्रकार द्वार से ही नगर में प्रवेश किया जा सकता है और वहाँ इच्छित वस्तु प्राप्त की जा सकती है, इसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी द्वार से ही प्राणी धर्म रूप नगर में प्रवेश कर सकते हैं और आत्मिक-वैभव के भागी होकर परम सुख प्राप्त कर सकते हैं।

(३) सम्यक्त्व धर्मप्रासाद की नींव है–जिस मकान या महल की नींव मजबूत होती है, उस पर इच्छानुसार मंजिलें बनवाई जा सकती हैं। फिर भी वह स्थिर रहेगा। इसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी मजबूत नींव वाले धर्म रूपी महल पर इच्छानुसार करणी रूप मंजिल चढ़ाने पर भी वह अचल रह सकता है।

(४) सम्यक्त्व धर्मरत्न की मंजूषा है—मजबूत मंजूषा (तिजोरी) में अगर रत्न आदि मूल्यवान् पदार्थ रख दिये जायँ तो चोर उसे चुरा नहीं सकते, इसी प्रकार सम्यक्त्व अगर दृढ़ हो तो काम, क्रोध आदि चोर धर्म-क्रिया रूपी रत्नों को हरण नहीं कर सकते। जैसे तिजोरी रत्न आदि की रक्षा का उत्तम स्थान है, उसी प्रकार धर्म की रक्षा का स्थान सम्यक्त्व है।

(५) धर्म भोजन, सम्यक्त्व भाजन है—जैसे चावल, दाल, घृत, पकवान आदि भोजन को थाली, कटोरी आदि भाजन धारण कर रखते हैं, उसी प्रकार धर्मक्रिया रूपी आत्मिक गुणों के पोषक इष्ट, मिष्ट भोजन को

सम्यक्त्व रूपी भाजन ही धारण कर सकता है। जैसे भाजन के बिना भोजन नहीं ठहरता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना धर्म नहीं ठहरता।

(६) सम्यक्त्व धर्म-किरियाने का कोठा है—मजबूत और साफ-सुथरे कोठे में बादाम आदि किरियाना रख दिया जाय तो कीड़ों, चूहों और चोरों आदि से सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी स्वच्छ कोठे में यदि धर्मक्रिया रूप किरियाना स्थापित किया जाय तो मिथ्यात्व रूपी कीड़े, विषय रूपी चूहे और कषाय रूपी चोर उसे बिगाड़ या हरण नहीं कर सकते। सम्यक्त्व ही धर्म का रक्षक है।

शास्त्रों में सम्यक्त्व की बड़ी महिमा बतलाई गई है। समकित के अभाव में ही आत्मा अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है। समकित होने पर ही आत्मा का उत्थान होता है। सम्यक्त्व के अभाव में धर्माचरण नहीं होता। अगर होता भी है तो वह संसार का ही कारण बनता है। संसार से मुक्त होने का सम्यक्त्व के अभाव में कोई उपाय नहीं है। आशाधरजी ने कहा है:—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वग्रस्तचेतनाः॥

अर्थात्—मिथ्यादृष्टि जीव मनुष्य होने पर भी पशु के समान हैं। जैसे पशु में अपने हित-अहित का विशिष्ट विवेक नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्यात्वी के मन में भी हित-अहित का विवेक नहीं होता। इसके विपरीत सम्यक्त्व से विभूषित पशु भी मनुष्य के समान है, क्योंकि उसमें हित-अहित का विवेक उत्पन्न हो जाता है। शरीर में जो स्थान नेत्र का है, अध्यात्म शास्त्र में वही स्थान सम्यक्त्व का है। अतएव आत्म-कल्याण के अभिलाषी पुरुषों को सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करके उसका निर्मल रूप से पालन करना चाहिए और उसकी महिमा को सदा ध्यान में रखने के लिए उल्लिखित छह भावनाएँ भानी चाहिए। ऐसा करने से उनकी आत्मा निर्मल बनेगी और धर्मक्रिया की ओर रुचि जागृत होगी।

बारहवाँ बोल—स्थानक छह

●

(१) आत्मा है—घट, पट, आदि के समान आत्मा को आँखों से न देख सकने के कारण कई लोग उसके विषय में नाना प्रकार की अज्ञानपूर्ण कल्पनाएँ करते है। कोई-कोई नास्तिक कहते हैं कि आत्मा कोई वस्तु नहीं है। पृथ्वी, पानी, आग और हवा के मिलने से चेतनाशक्ति उत्पन्न हो जाती है और इनके बिखर जाने पर चेतना नष्ट हो जाती है। परलोक में जाने वाली कोई आत्मा नहीं रहती। ऐसा कहने वाले लोग घोर अज्ञान में पड़े हुए हैं। उनसे पूछना चाहिए कि अगर आत्मा नहीं है तो 'आत्मा नहीं है' ऐसी कल्पना करने वाला और आत्मा का निषेध करने वाला कौन है? घट और पट को मानने वाला और जानने वाला कौन है? शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श का विज्ञान किसे होता है? स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का जागृत अवस्था में स्मरण करने वाला कौन है? इन प्रश्नों के उत्तर में यदि कहो कि पृथ्वी आदि के मेल से बनी हुई चेतनाशक्ति से यह सब काम होते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है। पृथ्वी, पानी आदि जड़ हैं। जड़ पदार्थों में चेतनाशक्ति नहीं होती। फिर उनके मेल से भी वह शक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है? बालू के एक कण में तेल नहीं है तो उनके समूह से भी तेल उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त अगर आत्मा नहीं है तो शरीर से कौन निकल जाता है? मृत्यु क्यों होती है? पृथ्वी, पानी आदि तो मुर्दा शरीर में भी रहते हैं, फिर मुर्दा जीवित क्यों नहीं हो जाता? इन सब बातों से ज्ञात होता है कि आत्मा, पृथ्वी आदि भूतों से अलग ही पदार्थ है। आश्चर्य की बात तो यह है कि खुद आत्मा ही आत्मा के अस्तित्व में शंकाशील होता है। मगर बुद्धिमान् को समझना चाहिए कि जो शंका करता है वही तो आत्मा है।

(२) आत्मा नित्य है—कुछ लोग आत्मा का होना तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे क्षणिक-विनश्वर मानते हैं। उनके मत से जैसे जगत् के

अन्यान्य पदार्थ क्षण-क्षण पलटते रहते हैं, ऐसे ही आत्मा भी क्षण-क्षण में बदलता रहता है अर्थात् नया-नया उत्पन्न होता रहता है। इस कारण आत्मा अनित्य है, अशाश्वत है।

ऐसे लोगों को समझना चाहिए संसार का कोई भी पदार्थ न तो सर्वथा नष्ट होता है और न कभी नवीन उत्पन्न ही होता है। संसार में जितने भी जड़ पदार्थ हैं, सदा उतने ही रहते हैं। न कोई घटता है, न बढ़ता है। लोग जिसे पदार्थ का उत्पन्न होना कहते हैं, वह वास्तव में रूपान्तर होना ही है। इसी प्रकार किसी पदार्थ का नष्ट होना भी रूपान्तर होना ही है। कल्पना कीजिए, आपके पास सोने का कड़ा है। उसे मिटवा कर आपने हार बनवा लिया। अब आप कहते हैं कि कड़ा नष्ट हो गया और हार उत्पन्न हो गया। मगर वास्तव में कड़ा शून्य नहीं बन गया है और न शून्य से हार की उत्पत्ति हुई है। जो सोना पहले कड़े के रूप में था, वही अब हार के रूप में परिणत हो गया है। दोनों अवस्थाओं में सोना ज्यों का त्यों है। किसी में ऐसी शक्ति नहीं है जो शून्य से हार बना दे। इस उदाहरण के आधार पर अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार करने पर भी यही प्रतीत होगा कि जो वस्तु मौजूद है, उसका सर्वथा नाश कदापि नहीं होता और जो सर्वथा नहीं है, उसकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। कहा भी है:-

नासतो विद्यते भावो नाभावो जायते सतः।

अर्थात् असत् कभी सत् नहीं हो सकता और सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करके फिर उसका नाश मान लेना सर्वथा अनुचित है।

रूपान्तर पदार्थों में अवश्य होता है, मगर अपनी-अपनी जाति से विरुद्ध नहीं होता। अर्थात् एक द्रव्य, दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता। जड़ का रूपान्तर जड़ ही होता है और चेतन का रूपान्तर चेतन ही होता है। जड़ कभी चेतना नहीं बनता और चेतन कभी जड़ नहीं बन सकता। जगत् में जितने जीव हैं, अनन्त काल तक उतने ही रहेंगे और जितने जड़ परमाणु

हैं, वे भी उतने के उतने ही रहेंगे। न तो एक भी जीव कम हो सकता है, न एक भी परमाणु कम हो सकता है। परमाणुओं में मिलने और बिछुड़ने का गुण है, अतएव जड़ को विनाशशील कहते हैं। जीव में रूपान्तर तो होता है, मगर जीव के प्रदेशों में मिलने-बिछुड़ने का धर्म नहीं है। अर्थात् किसी जीव के कुछ प्रदेश उससे अलग नहीं हो सकते और न दूसरे जीव में मिल सकते हैं। इस दृष्टि से कहा जाता है कि आत्मा शाश्वत है। आत्मा में जो रूपान्तर होता है वह यही कि कभी आत्मा मनुष्य के शरीर में रहता है, कभी पशु के शरीर में, कभी पक्षी या कीड़े के शरीर में। किसी भी शरीर में आत्मा चला जाय, मगर उसका एक भी प्रदेश न्यूनाधिक नहीं होता।

अगर मात्मा की उत्पत्ति और विनाश माना जाय, क्षण-क्षण में उस का पलटना स्वीकार किया जाय तो धर्म-अधर्म पुण्य-पाप आदि का फल भोगने वाला कोई नहीं रहेगा। किसी आत्मा ने धर्म का आचरण किया और वह उसी क्षण नष्ट हो गया तो फिर उस धर्म का फल कौन भोगेगा? इस प्रकार पाप का फल भोगने वाला भी कोई नहीं रहेगा। अगर इस मत को सच्चा मान लिया जाय तो न्यायाधीश किसी को सजा ही नहीं दे सकेगा। क्योंकि अपराध करने वाला आत्मा उसी समय नष्ट हो गया और जिसे दंड दिया जा रहा है वह दूसरा ही है। इसी प्रकार संसार का लेन-देन आदि सभी व्यवहार बिगड़ जायगा। किसी साहूकार से किसी मनुष्य ने ऋण लिया। साहूकार उससे ऋण चुकाने का तकाजा करेगा तो ऋणी कहेगा—लेने वाला और देने वाला तो क्षणविनश्वर था। वह लेते-देते समय ही नष्ट हो चुके। अब आप दूसरे हैं और मैं भी दूसरा हूँ। ऐसी हालत में मैं आपको ऋण कैसे चुकाऊँ?

आत्मा एक भव से दूसरे भव में जाता है, ऐसा माने विना काम नहीं चल सकता। अनेक प्रमाणों से इस बात की पुष्टि होती है। बच्चा उत्पन्न होते ही स्तन-पान की इच्छा करता है। चूहे और बिल्ली में बिना कारण ही वैर होता है। यह सब बातें पुनर्जन्म को सिद्ध करती हैं। जीव ने पूर्व जन्म

के शरीर में जो कर्म किये, उनका फल इस जन्म में भोगता है और इस जन्म में जो कर्म कर रहा है, उनका फल भविष्य में भोगेगा। इस प्रकार शरीर का रूपान्तर होता है, फिर भी आत्मा नित्य है। निश्चित रूप से मानना चाहिए कि आत्मा का कभी विनाश नहीं होता।

(३) आत्मा कर्त्ता है—कई लोग आत्मा की नित्यता को तो स्वीकार करते हैं किन्तु यह मानते हैं कि आत्मा स्वाधीन नहीं है, ईश्वर के अधीन है। ईश्वर की आज्ञा के अनुसार अर्थात् ईश्वर की इच्छा से ही संसार के सारे काम होते हैं। वे यह युक्ति देते हैं कि आत्मा स्वाधीन होता तो दुखी क्यों होता? कोई भी जीव अपनी इच्छा से दुःख नहीं भोगना चाहता। अतएव आत्मा कर्त्ता नहीं है। ऐसा कहने वालों को समझना चाहिए कि अगर ईश्वर ही कर्त्ता है, आत्मा कर्त्ता नहीं है, तो कर्मों का फल भी ईश्वर ही को भोगना चाहिए, आत्मा को फल नहीं भोगना चाहिए, क्योंकि 'करंता सो भरंता' अर्थात् जो कर्म करता है वही फल भोगता है। कर्म तो करे ईश्वर और फल भोगना पड़े आत्मा को, यह न्यायसंगत बात नहीं है। अगर ईश्वर फल का भोक्ता मान लिया जाय तो आत्मा में और ईश्वर में कोई भेद ही नहीं रहेगा। पिछले प्रकरण में इस विषय की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा चुकी है। जिज्ञासु पाठक उस पर मनन करें।

(४) आत्मा भोक्ता है—उक्त युक्तियों से कोई-कोई यह मान्य करते हैं कि आत्म कर्त्ता तो है, किन्तु कर्म जड़ होने के कारण गमनागमन नहीं कर सकते। इसलिए किए हुए सब कर्म यहीं रह जाते हैं। अर्थात् जीव के साथ नहीं जाते हैं। इस कारण किये कर्मों का फल भोगने वाला आत्मा नहीं है।

ऐसा मानने वालों से कहा जाता है कि कर्म जड़ है, यह तो ठीक है, किन्तु जैसे मदिरापान करने वाले के साथ मदिरा का शीशा नहीं जाता है, फिर भी मदिरा पीने वाला जहाँ कहीं भी जाता है वहीं मदिरा के गुण का परिणाम यथासमय उसे अवश्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार कृत कर्म का फल आत्मप्रदेशों के साथ परिणत होकर जीव के साथ जाता है और उसके

फल-स्वरूप सुख-दुःख जीव को अवश्य भुगतने पड़ते हैं। एक उदाहरण और लीजिए। मिर्च जड़ है। उसे यह विचार नहीं होता कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। फिर भी जो मिर्च खाता है उसका मुँह चरपरा अवश्य होता है। इसी प्रकार जड़ होने पर भी कर्म शुभाशुभ फल अवश्य प्रदान करते हैं।

(५) आत्मा को मोक्ष है—कितनेक लोग आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उसे कर्त्ता और भोक्ता भी मानते हैं, किन्तु वे कहते हैं कि जैसे यह संसार अनादि अनन्त है, उसी प्रकार आत्मा का और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि अनन्त है। कर्म करना और उनके फल भोगना, यह सिलसिला अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। जो पदार्थ आदि वाला होता है उसी का अन्त हो सकता है। जो अनादि है उसका अन्त भी नहीं हो सकता। ऐसा मानने वाले को समझना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं कि जो अनादि है वह अनन्त ही होना चाहिए। अनादि का भी अन्त हो सकता है। उदाहरणार्थ—कोई पुरुष बालब्रह्मचारी हो तो उसका पितृपरम्परा का सम्बन्ध तो अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु उसके पुत्र न होने से वह सम्बन्ध टूट जाता है। इस प्रकार हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अनादि काल से चले आने वाले सिलसिले का अन्त भी हो जाता है। मृत्तिका और सुवर्ण आदि धातुओं का सम्बन्ध तो अनादि से है किन्तु अग्नि, क्षार, सुहागा आदि के संयोग से वह अनादि का सम्बन्ध भी नष्ट हो जाता है और सुवर्ण अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी अनादि कालीन कर्म-सम्बन्ध को नष्ट करके अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाता है। आत्मा का पूर्ण रूप से शुद्ध स्वरूप में आ जाना ही मोक्ष है। अतः आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है।

(६) मोक्ष का उपाय है—उक्त कथन श्रवण करके मुमुक्षुओं को मोक्ष प्राप्त करने के उपाय जानने की अभिलाषा स्वाभाविक होती है। उन्हें जानना चाहिए कि जिस प्रकार स्वर्णकार मृत्तिका से सुवर्ण को पृथक् करने

के लिए मूस में स्वर्ण को स्थापित करके, क्षार और अग्नि के प्रयोग से मृत्तिका को जला कर शुद्ध स्वर्ण निकाल लेता है, उसी प्रकार (१) ज्ञान रूप स्वर्णकार ने जाना कि अष्टकर्म मृत्तिका में आत्मा रूप सुवर्ण मिला हुआ है। इसे अलग निकालना उचित है। तब (२) सब गुणों के भाजन सम्यक्त्व रूपी मूस ❀ में आत्मा को स्थापित करके (३) आत्मा के कर्म-मल को पृथक् करने वाले चारित्ररूपी सुहागे के क्षार का प्रयोग मिलाकर अर्थात् चारित्रधर्म को स्वीकार करके (४) कर्मरूपी मल को जला कर भस्म करने वाले तप रूप अंगारे के प्रयोग से अर्थात् बाह्य तप से बाह्य उपाधि को भस्म करे और आभ्यन्तर तप से आभ्यन्तर उपाधि को भस्म करे। यों आत्मा और परमात्मा की एकता रूप ध्यान से, धर्म रूप मृत्तिका को आत्मा रूप सोने से अलग करे। कर्मों का अलग हो जाना ही मोक्ष प्राप्त करना कहलाता है।

जिस प्रकार इधर-उधर भटकने वाला जन स्वस्थान को प्राप्त करके सुखी बनता है, उसी प्रकार अनादिकाल से मिथ्यात्व-मार्ग में भ्रमण करने वाला आत्मा उक्त षट् स्थानों का विचार करके, सद्धर्म के स्वरूप को यथा-तथ्य समझ करके, सम्यक्त्व स्थान में स्थिर हो सुखी होता है।

श्रद्धा ३, लिंग ३, विनय १०, शुद्धता ३, लक्षण ५, दूषण ५, भूषण ५, प्रभावना ८, यतना ६, आगार ६, स्थानक ६ और भावना ६, यह सब मिल कर व्यवहार सम्यक्त्व के ६७ बोलों से सम्यक्त्व के स्वरूप का पूरी तरह ज्ञान हो जाता है।

सम्यक्त्व की १० रुचि



(१) निसर्गरुचि—गुरु आदि के उपदेश के बिना ही, सम्यक्त्व का आवरण करने वाली प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम हो जाने से

❀ मूस पावक सोहागी, फूंके तना उपाय।
राम चरन चारों मिले, मैल कनक का जाय॥

जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहलाता है। जैसे—कलिंग देश के राजा करकंडु सेना के साथ वन में गये। वहाँ एक रमणीक आम्रवृक्ष को देखकर उन्होंने उसकी मंजरी तोड़ी। उनकी देखादेखी सारी सेना ने मंजरी तोड़ ली। किसी ने पत्ते और किसी ने टहनियाँ तोड़ लीं। तब वह वृक्ष बिना पत्तों और मंजरियों का ठूँठ-सा दिखाई देने लगा। पीछे लौट कर राजा ने उसी वृक्ष को अरमणीय देखा और उन्हें वैराग्य हो गया। सोचा—संसार की सारी शोभा क्षणभंगुर है!

(२) पांचाल देश के राजा महोत्सव के निमित्त सिंगारे हुए स्तंभ को देखकर प्रसन्न हुए। महोत्सव पूर्ण होने पर स्तंभ गिर पड़ा। उसे देख कर विरक्त हो गये। उन्होंने सोचा—संसार में पुण्य के सम्बन्ध से प्रतिष्ठा होती है और पुण्य समाप्त हो जाने पर ऐसी (स्तम्भ जैसी) स्थिति हो जाती है।

(३) विदेहराज नमि के दाह-ज्वर को उपशान्त करने के लिए उनकी रानियाँ चन्दन घिसने लगीं। उनके हाथों की चूड़ियों का शब्द सुन कर राजा को व्याकुलता हुई। तब रानियों ने हाथ में एक-एक चूड़ी रख कर और सब चूड़ियाँ उतार दीं। इससे शोर बन्द हो गया। यह देख राजा ने सोचा-संसार में संयोग ही अशान्ति का मूल है और एकाकीपन में शान्ति है। ऐसा सोच कर वे विरक्त हो गये।

(४) गान्धार देश के राजा 'निग्गई' ने गायों का एक झुण्ड देखा। उनमें एक सुन्दर और पुष्ट सांड भी था। कुछ दिनों बाद वही सांड दुर्बल होकर गिर पड़ा। तबकोई भी उसके पास नहीं फटका। यह देखकर राजा को वैराग्य हो गया कि—संसार में सभी प्रेमी मतलब के हैं। (यह चारों प्रत्येक बुद्ध राजा दीक्षा धारण करके मोक्ष पधारे हैं।)

इसी प्रकार किसी अन्य जीव को कोई भी वस्तु देखने से, सुनने से, जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिससे वह पूर्व भव में पढ़े हुए जीव आदि नौ पदार्थों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से यथातथ्य स्मरण करके

जिनधर्म के प्रति रुचि प्राप्त कर लेता है और धर्म को स्वीकार कर लेता है। किसी-किसी अन्यमतावलम्बी अज्ञान-तपस्वी को अपने अज्ञान-तप के प्रभाव से कर्म का कुछ क्षयोपशम होता है, जिससे उसे विभंग ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब वह जैनधर्म की विशुद्ध प्रवृत्ति देख कर जैनधर्म का अनुरागी बन जाता है। शुद्ध श्रद्धा प्राप्त होने पर उसका अज्ञान, अवधिज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। इस तरह दूसरे के उपदेश के बिना ही जो सम्यक्त्व प्राप्त हो, वह निसर्गरुचि कहलाता है।

(२) उपदेशरुचि—तीर्थंकरों का, केवलज्ञानियों का, मुनियों का या श्रावक आदि का उपदेश श्रवण करने से जीवादि नौ पदार्थों का यथातथ्य स्वरूप समझ लेने पर धर्म करने की जो रुचि जागृत हो, उसे उपदेशरुचि कहते हैं।

(३) आज्ञारुचि—राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि दुर्गुणों का नाश करके आत्मा को ज्ञान आदि सद्‌गुणों में स्थापित करने वाली, अनन्त भवभ्रमण के दुःखों का नाश करने वाली, मुक्तिमार्ग में प्रवृत्त करने वाली, अनेक गुणों की खान जिनेश्वर भगवान् की जो आज्ञा है, उसे आराधने की, उसी के अनुसार प्रवृत्ति करने की इच्छा होना आज्ञारुचि कहलाती है।

(४) सूत्ररुचि—श्री जिनेश्वरप्रणीत, गणधर आदि द्वारा रचित द्वादशांग आदि जो सूत्र हैं, उनका श्रवण पठन करते-करते, उनमें गर्भित ज्ञान को अनुभव में परिणमाते हुए, ज्ञान के अपूर्व, अद्‌भुत रस में आत्मा तल्लीन हो जाय और उत्साहपूर्वक उसी का बार-बार श्रवण-पठन करने की उत्कंठा जागृत हो उसे सूत्ररुचि कहते हैं।

(५) बीजरुचि—जैसे हल, बखर आदि से शुद्ध किये हुए, खाद आदि से पुष्ट किये हुए, पानी से तृप्त हुए काली मिट्टी के खेत में डाला हुआ बीज का एक दाना, अनेक दानों के रूप में प्रकट होता है, उसी प्रकार विषय कषाय कम करने से शुद्ध बने हुए, गुरु-उपदेश से पोषण किये हुए, सन्तोष आदि गुणों से तृप्त बने भव्य जीव के हृदय रूपी खेत में डाला हुआ ज्ञान-

बीज वृद्धि पाता है। अथवा जैसे पानी में डाला हुआ तेल का बूँद फैल जाता है, उसी प्रकार किसी-किसी की आत्मा में एक पद का पढ़ाया हुआ ज्ञान अनेक पद रूप परिणत हो जाता है। उसे बीजरुचि कहते हैं।

(६) अभिगमरुचि—किसी जीव के श्रुतज्ञान की विशुद्धि होने से वह अंग, उपांग, पइन्ना, आदि सूत्रों का अभ्यास करते-करते विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होने से सम्यक्त्व प्राप्त करता है। उसे अभिगमरुचि कहते हैं। ऐसा श्रुतज्ञानी अगर दूसरे को ज्ञान सुनाता है और उस श्रोता को अगर सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है तो उसे भी अभिगमरुचि कहते हैं।

(७) विस्ताररुचि—जीवादि नौ तत्त्वों का, धर्मास्तिकाय आदि षट् द्रव्यों का, नैगम आदि सात नयों का, नाम आदि चार निक्षेपों का, प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों का, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से, विस्तारपूर्वक अभ्यास करते-करते जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह विस्तार रुचि कहलाता है।

(८) क्रियारुचि—क्रियाओं का पालन कर-करते, प्रतिदिन आचार-क्रिया की विशुद्धि करते-करते, सम्यक्त्व की प्राप्ति होना क्रियारुचि है।

(९) संक्षेपरुचि—कितनेक लघुकर्मी जीव धर्म-अधर्म का कुछ भी भेद न जानते हुए, अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी की तरह सभी को मानते हैं। वे कदाचित् पुण्ययोग से सत्संगति को प्राप्त करके सद्ज्ञान श्रवण करने का सुयोग मिलने से, सद्गुणों का संक्षिप्त कथन श्रवण करके तत्काल भाव-भेद को समझ जाते हैं और मिथ्यात्व का परित्याग करके सद्धर्म को अंगीकार कर लेते हैं। वह संक्षिप्तरुचि वाला कहलाता है।

(१०) सम्यक्त्व आदि सूत्रधर्म, व्रत आदि चारित्रधर्म तथा क्षमा आदि यतिधर्म, इत्यादि प्रकार के धर्मों का कथन शास्त्र में जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार उसका श्रद्धान करके आराधन करने की रुचि हो, तथा धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों के सूक्ष्म भावों का, गांगेय अनगार आदि के भांगों का श्रवण करके, संदेह रहित सत्य श्रद्धान करके उत्साहपूर्वक धर्मक्रिया का आचरण करने वाले को धर्मरुचि समझना चाहिए।

जैसे ज्वर का नाश होने पर मनुष्य को भोजन की रुचि जागृत होती है और रुचिपूर्वक किया हुआ भोजन सुखकारक होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप ज्वर का नाश होने पर दस प्रकार के धर्म का आराधन करने की रुचि जागृत होती है और रुचिपूर्वक-उत्साह-पूर्वक आचरण किया हुआ धर्म यथार्थ फलदायक होकर आत्मा को अक्षय सुखी बनाता है।

सम्यक्त्वी को हितशिक्षा

●

श्री आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन में श्रमण भगवान् श्री महावीर ने सम्यक्त्वी जनों को निम्नलिखित हितशिक्षा दी है:—

(१) भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल के सभी तीर्थंकरों का फरमान है कि प्राणियों की (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की), भूत (वनस्पतिकाय) की, जीव (पंचेन्द्रिय) की और सत्व (पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायुकाय की) किंचिन्मात्र भी हिंसा न होना, उन्हें किंचित् भी दुःख न होना ही सत्य सनातन शुद्ध धर्म है। यह धर्म रागियों को, त्यागियों को, भोगियों और योगियों को—सभी को एक-सा आदरणीय है। (२) उक्त प्रकार के धर्म को स्वीकार करके उसके पालन में कदापि प्रमादशील नहीं होना चाहिए, किन्तु निरन्तर सुदृढ़, अचल भाव से पालन-स्पर्शन करना चाहिए। (३) मिथ्यात्वियों द्वारा किये हुए आडम्बर या पाखण्डाचार को देखकर व्यामोह नहीं पाना चाहिए। (४) संसार में रहे हुए सम्यक्त्वियों को मिथ्यात्वियों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। (५) जो मिथ्यात्वियों का अनुकरण नहीं करता, उससे कुमति सदैव दूर रहती है। (६) उक्त धर्म पर श्रद्धा न होना ही सब से बड़ी कुमति है। (७) सब तीर्थंकरों ने केवल-ज्ञान से जानकर और गणधरों ने श्रवण से सुनकर और हृदयचक्षु से देख कर उक्त धर्म का आदेश दिया है। (८) संसारी प्राणी मिथ्यात्व के पाश में फँस कर ही अनन्त संसार-भ्रमण करते हैं। (९) तत्त्वदर्शी महात्मा कहीं

हैं जो निरन्तर अप्रमादी रह कर, सावधान बने हुए धर्मपथ में विचरते हैं। इति प्रथमोद्देशक।

(१) कर्मबंधन के कारण भी सम्यक्त्वियों के लिए समय पर कर्म तोड़ने के कारण बन जाते हैं। (२) मिथ्यात्वियों के लिए कर्म तोड़ने के कारण भी कदाचित् कर्मबन्ध के कारण बन जाते हैं। (३) जितने कर्मबंधन के हेतु हैं, उतने ही कर्म तोड़ने के भी हेतु हैं। (४) जगत् के जीवों को कर्मों से पीड़ित होते देख कर कौन धर्म करने को उद्यत न होगा? सुखार्थी जीव तो अवश्य ही उद्यत होगा। (५) विषयासक्त और प्रमादी जीव भी जैन शास्त्रों को श्रवण करके धर्मात्मा बन जाते हैं। (६) अज्ञानी मृत्यु के ग्रास बने हुए भी आरम्भ में तल्लीन होकर भव-भ्रमण की वृद्धि करते हैं। (७) कितने ही जीव नरक के दुःख के भी शौकीन हैं, जो पुनः पुनः नरक-गमन करते हुए भी वहाँ से तृप्त नहीं होते। (८) क्रूर कर्म करने वाले दुःख पाते हैं और छोड़ने वाले सुख पाते हैं। (९) दस पूर्वों के धारक श्रुतज्ञानी का कथन भी केवली के कथन के समान ही प्रमाणभूत होता है। (१०) हिंसा के काम में भी जो दोष नहीं मानते वही अनार्य हैं। (११) ऐसे अनार्यों का कथन पागल के प्रलाप के समान है। (१२) जीव का घात करना तो दूर रहा, जो दुःख भी नहीं देते वही आर्य हैं। (१३) तुम्हें सुख अच्छा लगता है कि दुःख? यह प्रश्न अज्ञानियों से पूछने पर, उनके उत्तर से ही सच्चे धर्म का निश्चय हो जायगा।

(१) जो पाखण्डी जनों के चाल-चलन पर लक्ष्य नहीं देते, वही धर्मात्मा हैं। (२) हिंसा को दुःखदायी समझकर हिंसा का त्याग करे। शरीर पर ममत्व न करे। धर्म के तत्त्व का ज्ञाता बने। कपटहीन क्रिया का आचरण करे, और कर्म तोड़ने में सदैव तत्पर रहे, वही सम्यक्त्वी है। (३) जहाँ तक सम्भव हो, किसी को जो दुःख न दे, वही धर्मात्मा है। (४) जिनेश्वर की आज्ञा का पालन करे, आत्मा को अकेली जाने, तपश्चरण करके तन को तपावे, वही पण्डित है। (५) जो पुराने काष्ठ के समान शरीर के ममत्व का शीघ्रता से त्याग करता है और तप की अग्नि में कर्मों

को जलाता है, वही मुनि है। (६) मनुष्य की आयु अल्प जान कर क्रोध को जीतने वाला ही सन्त है। (७) क्रोध आदि कषायों के वशीभूत बना जगत् दुखी हो रहा है, ऐसा विचार करने वाला ज्ञानी है। (८) कषाय को उपशान्त करके जो शान्त बने, वही सुखी है। (९) जो क्रोधाग्नि से प्रज्वलित नहीं बनता वही विद्वान् है।

(१) पहले थोड़ा और फिर बहुत, यों क्रम से धर्म की और तप की वृद्धि करना चाहिए। (२) शान्ति, संयम, ज्ञान इत्यादि सद्गुणों की वृद्धि करने का सदैव उद्यम करना चाहिए। (३) मुक्ति का मार्ग बड़ा विकट है। (४) ब्रह्मचर्य को पालन करने का और मोक्ष प्राप्त करने का सब से बड़ा उपाय तपश्चर्या ही है। (५) जो संयमधर्म से भ्रष्ट बने हैं वे किसी काम के नहीं हैं। (६) मोह रूप अंधकार में डूबे जीव जिनाज्ञा का लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। (७) अतीत जीवन में जिन्होंने जिनाज्ञा का आराधन नहीं किया, वे अब क्या करेंगे? (८) जो ज्ञानी बन कर अपनी आत्मा को आरम्भ से अलग रखते हैं, वही प्रशंसनीय होते हैं। (९) क्योंकि अनेक प्रकार के दुःख आरम्भ से ही उत्पन्न होते हैं। (१०) धर्मार्थी जन प्रतिबन्ध का त्याग कर एकान्त मोक्ष को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। (११) कृतकर्म के फल अवश्य भुगतने पड़ेंगे, ऐसा जान कर कर्म का बन्धन करते डरना चाहिए, और (१२) जो सदुद्यमी, सत्य धर्मावलम्बी, प्राप्त हुए ज्ञानादि गुणों में रमण करने वाला, पराक्रमी, आत्मकल्याण की ओर दृढ़ लक्ष्य रखने वाला, पापकार्य से निवृत्त और यथार्थ लोकस्वरूप का दर्शक होता है, उसे कोई भी दुखी नहीं कर सकता।

यह तत्त्वदर्शी महापुरुषों के अभिप्राय हैं। जो इनके अनुसार चलेगा वह आधि, व्याधि, उपाधि का क्षय करके अक्षय, अव्याबाध सुख का भोक्ता बनेगा।

शास्त्रों और ग्रन्थों में सम्यक्त्व का जैसा स्वरूप दर्शाया गया है, यहाँ कथन किया गया है। सम्यक्त्व, धर्म की पहली पंक्ति-सीढ़ी है। अर्थात् सम्य[illegible]पूर्वक किया हुआ धर्माचरण ही अनन्त कर्म-

वर्गणाओं की निर्जरा रूप महान् फल को देने वाला है और सम्यक्त्व के बिना की हुई क्रिया मोक्षदायक न होने से निरर्थक कही है।

इक समकित पाये बिना, तप जप किरिया फोक।
जैसे शव सिनगारना, समझो कहे 'तिलोक' ॥

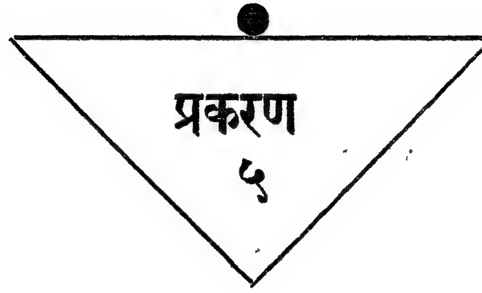
इसलिए धर्म के यथार्थ फल को चाहने वाले को प्रथम ही समकित अवश्य प्राप्त करना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र के ३६ वें अध्ययन में कहा है:—

सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणसुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा हवे बोही ॥

अर्थात्—जो जीव मिथ्यात्व और राग-द्वेष के मल से रहित होता है, तथा क्लेश-रहित, शान्तिस्वरूप बन जाता है और जिनप्रणीत शास्त्रानुसार निदानरहित निर्मल करणी करने में तत्पर रहता है, वही स्वल्पसंसारी होता है। भव-भव में उसके लिए बोधि सुलभ होती है और वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

॥ चौथा प्रकरण समाप्त ॥




प्रकरण
५

सागारधर्म-श्रावकाचार

●

(श्लोक)

श्रीसर्व[illegible]ब्जसेवनमतिः शास्त्रागमे चिन्तना,
तत्त्वातत्त्वविचारणे कुशलता सत्संयमे भावना ।
सम्यक्त्वे रुचिता [illegible]ता जीवादिके रक्षणा,
सत्सागारिगुणा जिनेन्द्रकथिता येषां प्रसादाच्छिवम् ॥

अर्थात्—श्री जिनेन्द्र भगवान् ने सागारधर्म अर्थात् श्रावकधर्म का पालन करने वाले के गुण इस प्रकार कहे हैं—सर्वज्ञ-केवलज्ञानी भगवान् के चरण-कमलों के सेवन में ही जिसकी बुद्धि लगी रहती है, अर्थात् जो सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन करने की भावना रखता है और भक्तिभाव से युक्त है, आप्त पुरुषों द्वारा प्रणीत आगम-शास्त्र के चिन्तन-मनन में जो संलग्न रहता है, जो तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय का विचार करने में कुशल है, जिनप्ररूपित संयम का पालन करने की अभिलाषा रखता है, सम्यक्त्व में रुचिमान् है, जो पापों को घटाने का निरन्तर प्रयास करता है, द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का तथा पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों का यथाशक्ति रक्षण करता है, वही सागारी-श्रावक है। जिनेन्द्र भगवान् ने श्रावक के यह गुण कहे हैं। इनके प्रसाद से शिव-सुख की प्राप्ति होती है। और भी कहा है:—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजेत्,
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः ।

युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ।।

—सागारधर्मामृत

अर्थात्—न्याय से द्रव्योपार्जन करने वाला हो, गुणी जनों का सत्कार करने वाला हो, मधुर वाणी बोले, धर्म, अर्थ और काम को परस्पर अविरुद्ध रूप से यथोचित सेवन करने वाला हो, धर्मसाधन में सहायक पत्नीवान् तथा स्थानवान् हो, लज्जावान् हो, श्रावक धर्म की मर्यादा के अनुसार आहार और व्यापार आदि व्यवहार करने वाला हो, सत्पुरुषों की संगति करने वाला हो, बुद्धिमान्-विवेकशील हो, अन्यकृत यत्किंचित् उपकार को भी महान् मानने वाला कृतज्ञ हो, अपनी इन्द्रियों को और मन को काबू में रखने वाला हो, सत् शास्त्रों को श्रवण करने वाला हो, दयालु हो और पापकृत्यों से डरने वाला हो, यह सब गुण श्रावकों के लिए आदरणीय हैं। जो इन गुणों से युक्त होता है, वही वास्तव में गृहस्थधर्म का पालन कर सकता है।

(१) अगार का अर्थ है—घर। जो घर-गृहस्थी में रह कर धर्माराधन करते हैं उन्हें 'सागार' कहते हैं और उनका धर्म 'सागारधर्म' कहलाता है। व्यवहार में कहा जाता है कि साधु के व्रत तो मोती के समान अखंडित रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं। साधु सर्वथा प्रकार से अर्थात् तीन करण और तीन योग से सावद्य योग का प्रत्याख्यान करते हैं और पाँचों महाव्रतों के धारक ही होते हैं। एक-दो महाव्रतों का धारक साधु नहीं कहलाता है। इस प्रकार साधु के व्रत अखण्डित रूप में ग्रहण किये जाने के कारण तथा साधु के व्रतों में किसी प्रकार का आगार न होने के कारण और साधु घर त्यागी होने के कारण अनगार कहलाते हैं। किन्तु श्रावक के व्रत सुवर्ण के समान होते हैं। तात्पर्य यह है कि मोती के समान ही सोने को अखंडित रूप में ग्रहण करना अनिवार्य नहीं है। सोना माशा, दो माशा, तोला, सौ तोला, जितनी इच्छा हो और जितने दाम पास में हों, उतना खरीद सकते हैं। इसी प्रकार श्रावक भी इच्छानुसार व्रत ग्रहण कर सकते हैं। इच्छा हो तो एक व्रत धारण करे, इच्छा हो तो दो व्रत धारण करे, यावत् किसी की इच्छा

हो तो बारह व्रत धारण करे। इसी प्रकार इच्छा हो तो एक करण, एक योग से और इच्छा हो तो तीन करण तीन योग से व्रतों को ग्रहण कर सकता हैं। तात्पर्य यह है कि श्रावक के व्रतों में ऐसा आग्रह नहीं है कि इतने व्रतों को और इतने करण-योग से ही ग्रहण करना चाहिए। इस कारण से भी गृहस्थ के धर्म को 'सागारधर्म' कह सकते हैं। अर्थात् आगार युक्त व्रत के धारक व पालक श्रावक कहलाते हैं।

(२) उक्त सागारधर्म के पालक का दूसरा नाम श्रावक शब्द 'श्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है श्रवण करना-सुनना। अर्थात् जो शास्त्रों को श्रवण करने वाले हैं, उन्हें श्रावक कहते हैं। व्यवहार में श्रावक शब्द का अर्थ इस प्रकार है:—

श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं, दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः ॥

अर्थात्—जो श्र-श्रद्धावान् हो या शास्त्र को श्रवण करे, व-दान का वपन करे या विवेकवान् हो, क-पाप को काटे या क्रियावान् हो, वह श्रावक है। आशय यह है कि जो शुद्ध श्रद्धा से युक्त हो और विवेकपूर्वक क्रिया करे वह श्रावक है।

(३) श्रावक का तीसरा नाम 'श्रमणोपासक' भी है। श्रमण का अर्थ है-साधु और उपासक अर्थ है- भक्त। अर्थात् जो साधुओं की सेवाभक्ति करे वह श्रावक कहलाता है।*

श्री ठाणांगसूत्र में चार प्रकार के श्रमणोपासक कहे हैं:—

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तंजहा-अम्मापिउसमाणा, भाउसमाणा मित्त-समाणा; सवत्तिसमाणा।

अर्थात्—भगवान् ने चार प्रकार के श्रमणोपासक कहे हैं। वे इस प्रकार हैं:— (१) माता-पिता के समान—जिस प्रकार माता-पिता अपने पुत्र की सार सँभाल करते हैं, उसी प्रकार कितने ही श्रावक, साधु की तरफ से किसी भी प्रकार का उपकार प्राप्त किये

श्रमणोपासक या श्रावक के पद की प्राप्ति दो प्रकार से होती है। निश्चय में तो दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का, अनन्तानुबंधी चौकड़ी

बिना ही, स्वभाव से ही साधु-साध्वी के संरक्षण में तत्पर रहते हैं। ऐसे श्रावक माता-पिता के समान कहलाते हैं।

(२) भाई के समान—यों तो भाई परस्पर में विशेष रूप से प्रेम नहीं दिखलाते किन्तु जब एक भाई पर कोई कठिन प्रसंग आ पड़ता हैं, कोई विपत्ति आ जाती है, तब अपना सर्वस्व अर्पण करके भी एक दूसरे की सहायता करते हैं। इसी प्रकार कितनेक श्रावक, साधु-साध्वी पर विशेष प्रेम नहीं रखते हैं, किन्तु आपत्ति आने पर अपना सर्वस्व अर्पण करके भी उनकी सहायता करते हैं। उस समय वे हृदय के सच्चे प्रेम से और वात्सल्य बुद्धि से भक्ति करते हैं।

(३) मित्र के समान—जैसे मित्र परस्पर एक दूसरे का उपकार करते हैं। एक, दूसरे के काम आये तो दूसरा भी उसके काम आता हैं और आपत्ति आने पर वह उसकी सहायता करता है, इसी प्रकार कितनेक श्रावक, साधु से ज्ञान आदि गुण ग्रहण करते हैं और यह साधुजी मेरे उपकारी हैं, ऐसा समझ कर उन्हें आहार, वस्त्र, औषध आदि देकर यथोचित साता पहुँचाते हैं। और कदाचित् साधु पर किसी प्रकार की आपदा आ जाय तो यथाशक्ति सहायता करके साता उपजाते हैं।

(४) सौत के समान—जैसे सौतें आपस में एक दूसरी पर ईर्षा रखती हैं, निन्दा करती हैं, शाप देती है, पति से एक दूसरी की चुगली करती हैं, झूठा दोष लगाती हैं, मान भंग करने का प्रयत्न करती हैं उसी प्रकार कितनेक श्रावक, साधु पर ईर्षा करते हैं, साधु की निन्दा करते हैं, साधु का बुरा विचारते हैं, दूसरे के सामने अवर्णवाद बोलते हैं, मिथ्या दोषारोपण करते हैं। ऐसे श्रावक सौत (सपत्नी) के समान कहलाते हैं।

इसके अतिरिक्त श्रमणोपासक दूसरी तरह से भी चार प्रकार के कहे गये हैं:—

'अद्दागसमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरकंटसमाणे।'

अर्थात् चार के श्रावक होते हैं—(१) आदर्श (आरीसा-काँच) के समान, काँच में जैसा रूप होता है वैसा ही दिखाई देता है, उसी प्रकार कितने ही श्रावक व्याख्यान आदि श्रवण करते समय जैसे उत्सर्ग-अपवाद आदि मार्ग की प्ररूपणा साधु करते हैं उसी प्रकार श्रद्धान करते हैं। निःशंक भाव से आगम-वाक्यों पर श्रद्धा रखते हैं।

(२) पताका के समान—जिधर की हवा चलती है, पताका उधर ही फिर जाती है। इसी प्रकार कितने ही श्रावक जिनका उपदेश सुनते हैं, उन्हीं में मिल जाते हैं। यह अच्छा या वह अच्छा, इसे पकड़ूं या उसे? इस प्रकार उनका चित्त सदैव डाँवाडोल बना रहता है। वे सार-असार का भेद नहीं समझते।

का तथा अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी का-इस प्रकार ग्यारह प्रकृतियों का क्षयोपशम होने से और व्यवहार में २१ गुण, २१ लक्षण, १२ व्रत और ११ प्रतिमा आदि गुणों को स्वीकार करने से श्रावक का पद प्राप्त होता है। इन सबका विवेचन आगे क्रम से किया जाता है।

श्रावक के २१ गुण

●

अखुद्दो रूववं पगइसोमो लोगपियाओ।
अक्रूरो भीरू असढो दक्खिण्ण लज्जालु दयालु ॥१॥
मज्झत्थो सुदिट्ठी, गुणानुरागी सुपक्खजुत्तो सुदीह।
विसेसन्नू वुड्ढानुगो विणीय कयण्णु परहियकत्ता लद्धलक्खो ॥२॥

(१) अक्षुद्र—दुःखप्रद स्वभाव वाले-ओछी प्रकृति वाले को क्षुद्र कहते हैं। श्रावक अपना अपराध करने वाले को भी दुःखप्रद नहीं होता है, तो औरों का तो कहना ही क्या है? अर्थात् किसी को भी दुःखप्रद न होने से श्रावक अक्षुद्र होता है।

(२) रूपवान्—'यथाऽऽकृतिस्तथा प्रकृतिः' अर्थात् जैसी शरीर की

---

(३) कीले के समान—जैसे कीला एक बार जहाँ गाड़ दिया जाता है, वहाँ से इधर-उधर नहीं सरकता है, उसी प्रकार कितनेक श्रावक अपने ग्रहण किये कदाग्रह को नहीं छोड़ते हैं। चर्चा-वार्त्ता में अपना ही कक्का पक्का करने का प्रयत्न करते हैं। मैं जो कहता हूँ सो ही सच्चा, ऐसे हठी होते हैं।

(४) तीखें काँटे के समान—जैसे लगा हुआ काँटा खटकता है, दुःख देता है, विषैला काँटा अंग को सड़ा देता है, उसी प्रकार कितनेक श्रावक धन के अभिमान से तथा प्राप्त किये हुए ज्ञान के गर्व से गर्वित बने हुए, काँटे के समान चुभने वाले वचन बोलकर साधु का मन दुखाते हैं और रुष्ट होकर साधु का समूल नाश करने के लिए भी तैयार हो जाते हैं।

शास्त्र में कहे हुए इन आठ प्रकार के श्रावकों में से माता-पिता के समान, भाई के समान, मित्र के समान और आदर्श के समान तो अच्छे हैं, किन्तु सौत के समान, पताका के समान, कीले के समान और कंटक के समान बुरे हैं। ऐसा कदापि नहीं बनना चाहिए।

आकृति होती है। वैसी उस मनुष्य की प्रकृति होती है। इस कथन के अनुसार श्रावक पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से हस्त-पाद आदि पूर्ण अंगों वाला होता है। और कान, आँख आदि इन्द्रियाँ भी उसकी परिपूर्ण होती हैं। वह सुन्दर आकृति वाला, तेजस्वी और सशक्त शरीर वाला होता है।

(३) प्रकृति-सौम्य—जैसे ऊपर से सुन्दर रूप वाला होता है, उसी प्रकार शान्त, दान्त, क्षमावान्, शीतलस्वभावी, मिलनसार, विश्वसनीय आदि गुणों से भीतर से भी सुन्दर होता है।

(४) लोकप्रिय—इहलोक, परलोक और उभयलोक से विरुद्ध कार्यों का त्यागी होने से सब को प्रिय होता है, गुणी जनों की निन्दा, दुर्गुणियों की तथा मूर्खों की हँसी-दिल्लगी, पूज्य पुरुषों के प्रति मत्सरता-ईर्षा, बहुतों के विरोधी से मित्रता, देश के सदाचार का उल्लंघन, सामर्थ्य होने पर भी दूसरों की सहायता न करना, इत्यादि कार्य लोकविरुद्ध गिने जाते हैं, तथा ठेकेदारी, जंगल कटवाना, साँप-बिच्छू आदि को मारना इत्यादि कार्य इह-लोक से विरुद्ध नहीं गिने जाते ,तथापि परलोक में दुःखप्रद होते हैं, और सात कुव्यसनों का सेवन* दोनों लोकों से विरुद्ध और दुःखप्रद कर्म हैं।

---

* द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या,
पापर्धिचौर्ये पर-दारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके,
घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥

(१) हार-जीत के जितने खेल तथा काम है, वे सब जुआ में गिने जाते हैं। जैसे ताश का खेल और सट्टा आदि व्यापार। यह जुआ इसलिए कहलाता है कि सद्गुणों से तथा सुख-सम्पत्ति से मनुष्य को जुआ (जुदा-अलग) करके दुर्गुणी और दुखी बना देता है। जो इस कुव्यसन का शिकार होता हैं उसके धन का और इज्जत का नाश हो जाता है। वह राजा का तथा पंचों का अपराधी बनता है और नरक आदि दुर्गतियों में जाता है।

(२) मांस का आहार भी हिंसा का वर्द्धक, प्रकृति को क्रूर बनाने वाला तथा कोढ़ आदि रोगों का उत्पादक होता है। मांसभोजी लोग पशुओं के और कदाचित् मनुष्यों के भी घातक बन जाते हैं और आगे नरक-निगोद के दुःख भोगते हैं।

इन तीनों प्रकारों के निन्दनीय कार्यों का परित्याग करके श्रावक जगत् का प्रेम-पात्र बनता है।

(५) अक्रूर—क्रूर अर्थात् निर्दय एवं कठोर दृष्टि और कठोर स्वभाव का त्याग करके सरल स्वभावी हो, गुणग्राही हो। पराये छिद्र देखने वाले का चित्त सदैव मलीन रहता हैं। इसलिए अन्य के छिद्र कभी न देखे, अपने अवगुण देखा करे, जिससे नम्र बना रहे।

(६) भीरु—लोकापवाद से तथा पाप-कर्म से और नरक आदि दुर्गतियों के दुःख से सदैव डरता रहे। पापकर्म का तथा लोकविरुद्ध कार्य का कभी आचरण न करे।

(७) अशठ—जैसे मूर्ख भली-बुरी वस्तु में गड़बड़ कर देता है, वैसे श्रावक पुण्य-पाप के कार्य में गड़बड़ न करे। धर्म और अधर्म के फल को तथा पुण्य और पाप के फल को पृथक्-पृथक् समझ कर अधर्म को घटावे तथा धर्म और पुण्य की वृद्धि करे।

---

(३) मदिरापान भी शुद्धि का, बल का, धन का और प्रतिष्ठा का नाशक है। मदिरा पीने वाला बेभान हो कर माता और बहिन के साथ भी व्यभिचार करने पर उतारू हो जाता है और क्लेश बढ़ाता है। वह आगे नरक का अतिथि बनता है।

(४) वेश्यागामी भी जाति से और धर्म से भ्रष्ट होकर अपनी बुद्धि, धन; आबरू आदि का नाश करके सुजाक, प्रमेह आदि भयानक बीमारियों से सड़ कर अकालमृत्यु का ग्रास बन कर नरक में जाता है।

(५) शिकार करने वाला अनाथ, गरीब, निरपराध, बेचारे घास-पानी पर निर्वाह करने वाले जलचर, स्थलचर और खेचर आदि जीवों की हिंसा करता है। वह आगे नरक में जाकर यमों का शिकार बनता है।

(६-७) चोरी और जारी (परस्त्रीगमन) करने वाला भी जगत् में सब का निन्दनीय बन कर, राजा और पंचों का अपराधी होकर, अकालमृत्यु से मरकर नरक को जाता है।

इस प्रकार यह सातों व्यसन दोनों लोकों में दुःखदाता होने के कारण उभयलोक-विरुद्ध हैं। इनका त्याग श्रावक को अवश्यमेव करना चाहिए। इनके वशवर्त्ती हुआ मनुष्य धर्म का आचरण नहीं कर पाता।

(८) दक्ष—अर्थात् खूब विचक्षण हो। दृष्टि डालते ही मनुष्य को एवं कार्य को समझ जाय। अवसरोचित कार्य करने वाला हो और ऐसा होशियार रहे कि पाखण्डियों के छल में न फँसे।

(९) लज्जालु—अनन्तज्ञानी की और गुरुजनों की लज्जा रखता हुआ गुप्त रूप से या प्रकट रूप से कभी कुकर्म का आचरण न करे, व्रतों को भंग न करे। लज्जा सर्व गुणों का आभूषण है। जो लज्जा त्याग कर निर्लज्ज हो जाता है उसके पतन की सीमा नहीं रहती।

(१०) दयालु—दया ही धर्म का मूल है। ऐसा जानकर समस्त जीवों पर दया रक्खे,* दुखी जीवों को देखकर अनुकम्पा लावे, यथाशक्ति सहायता करके उनका दुःख दूर करे, मरते हुए को बचाने का प्रयत्न करे।

(११) मध्यस्थ—अच्छी-बुरी बातों को सुनकर तथा अच्छी-बुरी वस्तुओं को देख कर राग-द्वेषमय परिणाम न धारण करे, किसी भी पदार्थ में गृद्धि धारण न करे, क्योंकि राग, द्वेष और गृद्धि ही चिकने कर्म-बन्धन के मुख्य कारण हैं।* अतएव सब पदार्थों में और अच्छे-बुरे बनावों में मध्यस्थ रहे। रूक्ष-शुष्क वृत्ति धारण करके रहे, जिससे चिकने कर्मों का

---

* *अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम्।*
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अर्थात्—यह मेरा है और यह पराया है, ऐसा विचार तुच्छ बुद्धि वालों का होता है। श्रेष्ठ जन तो सारे संसार को ही अपना कुटुम्ब समझते हैं।

* *जो समदृष्टि जीव है, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।*
अन्तर से न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

अर्थात्—जिस प्रकार धाय, बच्चे का लालन-पालन करती हुई भी अन्तस में समझती है कि यह बच्चा मेरा नहीं है। जब तक मैं इसे दूध पिलाती हूँ, तब तक यह मुझे माता मानता है। दूध छूटा कि फिर मेरा नाम भी नहीं लेगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कुटुम्ब का पालन-पोषण करते हुए भी अन्तरंग में सब को पराया ही समझता है। उनमें मोह, ममता या आसक्ति धारण नहीं करता।

बन्धन हो और पूर्वोपार्जित कर्म शिथिल हो जायँ और उनसे शीघ्र ही छुटकारा मिल जाय।

(१२) सुदृष्टि—इन्द्रियों से विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों का अवलोकन करके अन्तःकरण को मलीन न बनावे, किन्तु ऐसे पदार्थों की ओर से अपनी दृष्टि हटा लेवे। सौम्यदृष्टि ढलते नेत्रों से रहे। अपनी दृष्टि को सदा पवित्र रखे।

(१३) गुणानुरागी—ज्ञानी, ध्यानी, जपी, तपी, संयमी, शुद्ध क्रिया के पालक, ब्रह्मचारी, क्षमावान्, धैर्यवान्, धर्मप्रभावक, दानवीर इत्यादि पुरुषों के सद्‌गुणों पर अनुराग रक्खे, इनका बहुमान करे, माहात्म्य बढ़ावे, यथाशक्ति सहायता करे, उनके गुणों को प्रदीप्त करे। समझे कि हमारे अहोभाग्य हैं कि हमारे कुल में, ग्राम में या समाज में ऐसे-ऐसे गुणवान् सज्जन विद्यमान हैं। इनके सम्बन्ध से अपने कुल की तथा धर्म की उन्नति होगी। इत्यादि विचार करके उनके गुणों का प्रेमी और प्रशंसक बने।

(१४) सुपक्षयुक्त—न्याय और न्यायी का पक्ष ग्रहण करे और अन्याय तथा अन्यायी का पक्ष छोड़ देवे। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि पहले तो रागद्वेष करने की मनाही की है। अब न्यायी का पक्ष लेने और अन्यायी का पक्ष छोड़ने को कहा है। तो ऐसा करना राग-द्वेष हुआ कि नहीं? इसका समाधान यह है कि अमृत को अमृत और विष को विष समझने में या कहने में राग-द्वेष नहीं समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जिस वस्तु का जैसा यथार्थ स्वरूप समझता है, वैसा ही कहता है। जब अच्छे-बुरे का यथार्थ स्वरूप समझेगा तभी बुरे को छोड़ कर अच्छे को स्वीकार कर सकेगा। तभी आत्मा का सुधार कर सकेगा। इसलिए श्रावक को न्यायपक्षी अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रावक के माता पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि स्वजन सदाचारी धर्मात्मा होने से भी श्रावक सुपक्षयुक्त कहलाता है।

(१५) सुदीर्घदृष्टि—श्रावक अच्छी और दूरगामिनी दृष्टि वाला हो। श्रावक किसी भी कार्य के अन्तिम फल पर दीर्घ दृष्टि से विचार करता है। जो कार्य भविष्य में आत्मिक गुणों का लाभ कराने वाला हो, सुखदाता हो, प्रामाणिक पुरुषों द्वारा श्लाघनीय हो, वही कार्य करता है। निन्दनीय और दुःखप्रद कार्य वह नहीं करता। विना विचार किये भी कोई कार्य नहीं करता, क्योंकि ऐसा करने वाले को भविष्य में पश्चात्ताप करना पड़ता है।

(१६) विशेषज्ञ—गाय का और आक का दूध रंग में एक-सा होता है, सोना और पीतल भी रंग से समान ही होते हैं, मगर उनके गुणों में आकाश-पाताल जितना अन्तर होता है। इस अन्तर की परीक्षा विशेषज्ञ-विज्ञानी पुरुष ही कर सकते हैं। वे ऊपरी दिखावे के भ्रम में नहीं पड़ते किन्तु भीतर के गुणों की जाँच करके निर्णय करते हैं। इसी प्रकार श्रावक भी नौ तत्त्व आदि के विषय में विशेषज्ञ बन कर उनमें से जानने योग्य को जानते हैं, ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करते हैं और त्यागने योग्य का त्याग करते हैं।

(१७) वृद्धानुग—श्रावक वयोवृद्ध और गुणवृद्ध की आज्ञा में रहने वाला हो। अर्थात् उनके अच्छे चाल-चलन को स्वीकार करे, यथाशक्ति उनके अनुसार प्रवृत्ति करे, यथासम्भव उनकी सेवा-चाकरी करने वाला हो। साथ ही वृद्ध जनों के ज्ञानादि गुणों का अनुकरण करने वाला भी हो।

(१८) विनीत—कहा है—'विणओ जिणसासण-मूलं' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के शासन का मूल विनय ही है। ऐसा जान कर माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, और शिक्षक आदि गुरुजनों का यथोचित विनय करे और सब के प्रति नम्र होकर रहे।

(१९) कृतज्ञ—नीतिकारों का कथन है कि जो दूसरों के किये उपकारों को नहीं मानता है, ऐसा कृतघ्न पृथ्वी के लिए भारभूत है। इस कथन को ध्यान में रख कर जो अपने ऊपर किंचित् भी उपकार करे, उसे महान्

उपकारक मान कर, उसके उपकार से उऋण होने का यथाशक्ति प्रयत्न करे।*

(२०) परहितकर्त्ता—कहा है—'परोपकारः पुण्याय' अर्थात् पर का उपकार करना पुण्य है। ऐसा जानकर यथाशक्ति, यथोचित रूप से श्रावक सदैव परोपकार करता रहता है। कदाचित् परोपकार के कार्य में अपने को किसी प्रकार का कष्ट या दुःख हो या हानि होती हो तो भी वह परोपकार से मुख नहीं मोड़ता।

(२१) लब्धलक्ष्य—जैसे लोभी को धन की तृष्णा होती है और कामी को स्त्री की लालसा होती है, उसी प्रकार श्रावक को गुणों की लालसा होती है। निरन्तर थोड़े-थोड़े गुणों का अभ्यास करते-करते मनुष्य अच्छा गुणवान् बन जाता है। ऐसा जानकर श्रावक नित्य नये-नये गुणों का अभ्यास करते रहने से लब्धलक्ष्य हो जाता है। जिन-जिन गुणी जनों

---

* श्रीस्थानांगसूत्र में तीन जनों से उऋण होना अर्थात् उनके उपकार का बदला चुकाना मुश्किल कहा है:—(१) गर्भ धारण से लेकर स्वयं समर्थ होने तक अनेक प्रकार के कष्ट सहन करके, अनेक उपचारों द्वारा रक्षण, पालन-पोषण करने वाले माता-पिता को कोई पुत्र स्वयं स्नान करावे, वस्त्राभूषणों से अलंकृत करे, इच्छित भोजन करावे और उनकी आज्ञानुसार चल कर उन्हें सन्तुष्ट रक्खे, यहाँ तक कि उन्हें पीठ पर उठा कर सर्वत्र लिये फिरे तो भी उनके उपकार का बदला नहीं चुका सकता। हाँ, जिनेन्द्र प्रणीत धर्म उनको अंगीकार करा कर अन्त में यदि समाधिमरण करावे तो उरिन हो सकता है।

(२) किसी सेठ ने दरिद्री को द्रव्य की सहायता देकर व्यापार में लगा दिया हो और श्रीमान् बना दिया हो। कर्मयोग से वह सेठ स्वयं दरिद्र अवस्था को प्राप्त हो जाय। उस समय वह उपकृत नया श्रीमान् यदि अपना सारा धन उस सेठ को अर्पित कर दे और अपने माता-पिता के कथनानुसार उसकी उम्र भर सेवा करे तो भी उरिन नहीं हो सकता। हाँ, जिनप्रणीत धर्म में स्थापित करके अन्त में समाधिमरण करावे तो उरिन हो सकता है।

(३) किसी धर्माचार्य का उपदेश श्रवण करके कोई मनुष्य, देवपद को प्राप्त हुआ। वह देव उन आचार्य की यथोचित सेवा-भक्ति करे, परीषह, उपसर्ग, दुर्भिक्ष आदि से उनका संरक्षण करे, अन्य प्रकार से वैयावृत्य करे तो भी वह उरिन नहीं होता। हां, कदाचित् आचार्य के परिणाम संयम से या धर्म से विचलित हो जाएँ और उन्हें यथोचित उपाय करके वह धर्म में स्थिर करे तो उरिन हो सकता है।

की संगति होती है उनके गुणों को ग्रहण करते-करते अनेक गुणों का पात्र बन जाता है। इसके अतिरिक्त श्रावक अनेक शास्त्रों और ग्रन्थों का पठन-पाठन करने वाला होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के इक्कीसवें अध्ययन में कहा है—'निग्गंथे पावयणे सावए से वि कोविए' अर्थात् चम्पा नगरी के पालित श्रावक निर्ग्रन्थ-प्रवचन (शास्त्र) में कुशल है। तेईसवें अध्ययन में कहा है—'सीलवंता बहुस्सुया' अर्थात् राजीमतीजी शीलवती और बहुत श्रुतों को जानने वाली थी। ऐसे बहुत-से उदाहरण और प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे विदित होता है कि प्राचीन काल के श्रावकों और श्राविकाओं को अनेक शास्त्रों का ज्ञान होता था। ऐसा जान कर सामायिक से लेकर सब अंगों का तथा सम्यक्त्व से लेकर सर्वविरति तक की क्रिया का अभ्यास करते-करते, सर्व गुणों का धारक बन जाना चाहिए।

जो उक्त इक्कीस गुणों के धारक होते हैं, वे श्रावक कहे जाते हैं। ऐसा जान कर श्रावक कहलाने वालों का कर्त्तव्य है कि उक्त इक्कीस गुणों में से यथासम्भव अधिक से अधिक गुणों को धारण करें और सच्चे श्रावक बनकर अपनी और धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ावें।

श्रावक के २१ लक्षण



(१) अल्पइच्छा—श्रावक धन की तथा विषयभोगों की तृष्णा को कम करके अल्प तृष्णा वाले होते हैं। प्राप्त धन में तथा प्राप्त विषयभोग की सामग्री में भी अत्यन्त लुब्ध-आसक्त नहीं होते।

(२) अल्पारम्भ—जिस कार्य को करने से पृथ्वीकाय आदि छहों कायों का विशेष आरम्भ होता है, ऐसे कार्यों की वृद्धि नहीं करते, किन्तु प्रतिदिन कमी करते जाते हैं और अनर्थदण्ड से तो सदैव अलग ही रहते हैं। इस कारण वे अल्पारम्भ वाले होते हैं।

(३) अल्पपरिग्रह—श्रावक के पास जितनी सम्पत्ति होती है उसके उपरान्त वह मर्यादा कर लेता है और पहले के परिग्रह का सत्कार्यों में व्यय

करके उसे भी कम करता जाता है, कुव्यापारों से द्रव्योपार्जन करने की इच्छा भी नहीं करता है, अतः वह अल्पपरिग्रही होता है।

(४) सुशीलता—श्रावक परस्त्रीगमन का त्यागी तो होता ही है, स्वस्त्री में भी मर्यादाशील होता है, इसलिए शीलवान् कहलाता है। तथा आचार विचार की शुद्धता होने से सुशील होता है।

(५) सुव्रत—ग्रहण किये हुए व्रतों का, प्रत्याख्यान का, नियम का निरतिचार और चढ़ते परिणामों से पालन करता है, अतः श्रावक 'सुव्रत' कहलाता है।

(६) धर्मनिष्ठता—श्रावक धर्म-कार्यों में निष्ठ होता है; नित्य-नियम आदि का विधिपूर्वक पालन करता है और अपने प्रत्येक जीवन-व्यवहार में धर्म का विचार रखता है। अतएव वह धर्मनिष्ठ होता है।

(७) धर्मवृत्ति—श्रावक अपने तन, मन और वचन से अधर्म में प्रवृत्ति नहीं करता, लोकनिन्दित कार्य नहीं करता, उसके तीनों योग धर्म-मार्ग में प्रवृत्त हों, ऐसी आकांचा रखता है।

(८) कल्प उग्रविहारी—श्रावकधर्म के जो-जो कल्प अर्थात् आचार हैं, उनमें उग्र अर्थात् अप्रतिहत विहार करने वाला अर्थात् परीषह एवं उप-सर्ग आने पर भी अपने आचार के विरुद्ध कार्य नहीं करने वाला होता है।

(९) महासंवेगविहारी—श्रावक का लक्ष्य सदा निवृत्ति मार्ग की ओर ही रहता है। वह संसार में रहता हुआ भी संसार में रचा-पचा नहीं रहता, अतः महासंवेगविहारी कहलाता है।

(१०) उदासीन—घर-गृहस्थी का निर्वाह करने के लिए श्रावक को जो हिंसामय कृत्य करने पड़ते हैं, उन्हें करता हुआ भी वह उन्हें भला नहीं समझता। उन्हें करके प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता, बल्कि उदासीन (रूक्ष) वृत्ति रखने वाला होने के कारण उदासीन कहलाता है।

(११) वैराग्यवान्—धन-सम्पत्ति और कुटुम्ब-परिवार आदि के प्रति गहरी आसक्ति नहीं रखता तथा आरंभ और परिग्रह से निवृत्त होने का इच्छुक होता है।

(१२) एकान्त आर्य—श्रावक बाह्याभ्यन्तर एक सरीखी शुद्ध और सरल वृत्ति वाला होता है। सर्वथा निष्कपट होने से एकान्त आर्य कहलाता है।

(१३) सम्यग्मार्गी—सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मार्ग में चलने के कारण श्रावक सम्यग्मार्गी होता है।

(१४) सुसाधु—श्रावक ने परिणामों से तो अव्रत की क्रिया का सर्वथा निरुंधन कर दिया होता है। सिर्फ सांसारिक कार्यों के लिए जो द्रव्यहिंसा करता है, वह भी अनिच्छा से, निरुपाय होकर,* और उदासीन भाव से करनी पड़ती है। उसे करता हुआ भी वह धर्म की वृद्धि करता रहता है; अतः आत्मसाधना करने वाला होने से अर्थात् मोक्षमार्ग का साधक होने से श्रावक, सुसाधु कहलाता है।

(१५) सुपात्र—जैसे सुवर्ण के पात्र में सिंहनी का दूध ठहर सकता है, उसी प्रकार श्रावक में सम्यक्त्व आदि सद्गुण सुरक्षित रह सकते हैं। इस कारण वह सुपात्र कहलाता है।

---

* हिंसा-अहिंसा की चौभंगीः—

(१) द्रव्य से हिंसा और भाव से हिंसा—जैसे कसाई और पारधी द्वारा की जाने वाली हिंसा।

(२) द्रव्य से हिंसा, भाव से अहिंसा—जैसे पंचमहाव्रतधारी, समितिवान् साधु द्वारा आहार-विहार आदि करने में हो जाने वाली हिंसा।

(३) द्रव्य से अहिंसा, भाव से हिंसा—जैसे अभव्य या द्रव्यलिंगी साधु प्रमार्जन करके गमनागमन आदि क्रिया करता है।

(४) द्रव्य से अहिंसा और भाव से अहिंसा—जैसे अप्रमादी साधु तथा केवली की अहिंसा।

(१६) उत्तम—श्रावक मिथ्यात्वी की अपेक्षा अनन्त गुणी विशुद्ध पर्याय का धारक होने के कारण उत्तम है।

(१७) क्रियावादी—पुण्य-पाप के फल को मानने वाला तथा बंध-मोक्ष को मानने वाला होने के कारण श्रावक क्रियावादी होता है।

(१८) आस्तिक—श्रीजिनेन्द्र भगवान् के वचनों पर श्रावक को परिपूर्ण प्रतीति होती है, अतएव वह आस्तिक होता है। वह आत्मा के अनादि अनन्त अस्तित्व को तथा परलोक को मानता है, इस कारण भी वह आस्तिक कहलाता है।

(१९) आराधक—श्रावक जिन-आज्ञा के अनुसार धर्मक्रिया करने के कारण आराधक कहलाता है।

(२०) जिनमार्ग का प्रभावक—श्रावक मन से सब जीवों पर मैत्रीभाव रखता है, गुणाधिक पर प्रमोदभाव रखता है, दुखी जीवों पर करुणाभाव रखता है और दुष्टों पर मध्यस्थ भाव रखता है। वचन से तथ्य और पथ्य वाणी का प्रयोग करता है और सम्यग्दृष्टि से लेकर सिद्ध भगवान् पर्यन्त गुणवानों का गुणकीर्तन करता है, धन से धर्मोन्नति के कामों में उदारता दिखलाता है, विवेकपूर्वक द्रव्य का निरन्तर सद्व्यय करता है, अतएव वह जिनशासन का प्रभावक होता है।

(२१) अर्हन्त का शिष्य—साधु अर्हन्त भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य हैं और श्रावक लघुशिष्य होते हैं, अतः श्रावक अर्हन्त भगवान् का शिष्य कहलाता है।

उक्त २१ प्रकार के गुणों के धारक तथा २१ लक्षणों से युक्त जो होते हैं, वही ऊँची श्रेणी के श्रावक कहे जाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि श्रावक के व्रत नाना प्रकार के होते हैं और इस कारण श्रावकों की अनेक श्रेणियाँ होती हैं। उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेद करने पर बारह-

व्रतधारी श्रावक उत्कृष्ट हैं, पंच अणुव्रत आदि के धारक मध्यम हैं और सिर्फ सम्यक्त्व के धारक जघन्य हैं।

श्रावक के गुणों का छन्द

(मनहर सवैया)

मिथ्यामत भेद टारी भया अणुव्रतधारी,
एकादश भेद भारी हिरदे वहत है।
सेवा जिनराज की है यही सिरताज की है,
भक्ति मुनिराज की है चित्त में चहतु है।
विषै है निवारी रीति भोजन अभक्ष्य प्रीति,
इन्द्रिन को जीति चित्त थिरता गहतु है।
दया भाव सदा धरै मित्रता प्रमाण करै,
पाप-मल-पंक हरे श्रावक सो कहतु है॥

अर्थात्—सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् जो श्रावक व्रत धारण करते हैं, वे मिथ्यात्वमय समस्त रीति-रिवाजों का त्याग कर देते हैं और अणुव्रतों, गुणव्रतों तथा शिक्षाव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करते हैं। अवसर प्राप्त होने पर श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का भी आचरण करते हैं। ऐसे श्रावक जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा में ही धर्म मानते हैं और सदैव निर्ग्रन्थ मुनिराजों की सेवा करते हैं। विषय-कषाय को मन्द करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। जिह्वा-इन्द्रिय वश में होने से इन्द्रियों की लोलुपता का त्याग कर देते हैं और जितेन्द्रिय होने से चित्तवृत्ति को भी स्थिर रखते हैं। वे समस्त प्राणियों पर दयादृष्टि रखने वाले, सब पर मैत्रीभाव रखने वाले, अनाथ अपंग दुखी जीवों पर दया करके यथाशक्ति सहायता करने वाले होते हैं। कठोर-क्रूर वृत्ति का त्याग करके सदा नम्र भाव धारण करते हैं। जो इतने गुणों के धारक होते हैं वे श्रावक कहलाते हैं।

श्रावक के १२ व्रत



जिस प्रकार तालाब के नाले का निरोध कर देने से पानी का आगमन रुक जाता है, उसी प्रकार हिंसा आदि का निरोध कर देने से पाप का निरोध हो जाता है। इसी को व्रत कहते हैं। व्रतों का समाचरण दो प्रकार से किया जाता है—जो हिंसा आदि का सर्वथा त्याग करके साधु बनते हैं वे सर्वव्रती (महाव्रती) कहलाते हैं और जो आवश्यकतानुसार छूट रख कर-आंशिक रूप से-हिंसा आदि पापों का त्याग करते हैं, वे अणुव्रती-श्रावक कहलाते हैं। उन्हें देशव्रती भी कहते हैं। देशव्रती के चारित्र में पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का-इस प्रकार बारह व्रतों का समावेश होता है। आगे इन्हीं का विस्तारपूर्वक कथन किया जाता है:—

पाँच अणुव्रत



जिस प्रकार पिता की अपेक्षा पुत्र छोटा होता है, उसी प्रकार साधु के पाँच महाव्रतों की अपेक्षा, वही व्रत एक देश से धारण किये जाने के कारण अणुव्रत कहलाते हैं। अणु अर्थात् आत्महित के कर्त्ता होने से भी इन्हें अणुव्रत कहते हैं। अथवा अणु अर्थात् कर्मों को तथा पाप को पतला करने वाले होने से भी इन्हें अणुव्रत कहते हैं। यह अणुव्रत पाँच हैं।

पहला अणुव्रत—स्थूल प्राणातिपातविरमण



पहले अणुव्रत में स्थूल हिंसा से अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्त होना आवश्यक है।

जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) स्थावरजीव और (२) त्रस जीव। स्थावर जीवों की हिंसा सूक्ष्म हिंसा है और त्रसजीवों की हिंसा स्थूल हिंसा

है। गृहस्थ लोग स्थावर जीवों की हिंसा को त्यागने में समर्थ नहीं होते—सांसारिक कार्यों में स्थावर जीवों की हिंसा होना अनिवार्य है। श्रावकों को प्रायः पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की हिंसा का प्रसंग आता ही रहता है। अतएव वह स्थूलहिंसा का ही त्याग करता है। लट आदि द्वीन्द्रिय, कीड़ी आदि त्रीन्द्रिय, भौंरा, खटमल आदि चतुरिन्द्रिय और मनुष्य पशु, पक्षी, आदि पंचेन्द्रिय जीवों की जान-बूझकर, संकल्प करके अर्थात् 'मैं इसे मारूँ' इस प्रकार मारने की भावना से दो करण तीन योग से अर्थात् मन से हिंसा करने का तथा कराने का विचार न करे, वचन से हिंसा करने और कराने को न कहे, काय से हिंसा न करे तथा न करावे। करना कराना अनुमोदन करना, यह तीन करण कहलाते हैं और मन, वचन, काय-यह तीन योग कहलाते हैं। पहला व्रत दो करण और तीन योग से ग्रहण किया जाता है।

पहले व्रत के आगार—(१) गृहस्थ के लिए त्रस जीव की हिंसा के कार्य की अनुमोदना से बचना कठिन है; क्योंकि नौकर आदि के द्वारा कराये हुए गृहकार्यों में किसी जीव की हिंसा हो जाय तो भी गृहस्थ उस कार्य को अच्छा बतलाता है। इसके अतिरिक्त राजा अगर बड़ा भारी शिकार खेल कर आया हो या संग्राम में शत्रु-सेना का संहार करके आया हो तो उसकी प्रशंसा करनी पड़ती है, भेंट देनी पड़ती है और कदाचित् उत्सव भी करना पड़ता है। इत्यादि कारणों से गृहस्थ त्रस जीव की हिंसा के अनुमोदन का आगार रखता है।

(२) अपने शरीर में अथवा माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि स्वजन के शरीर में, या दास, दासी, गाय, भैंस, घोड़ा आदि आश्रितों के शरीर में कृमि आदि जीवों की उत्पत्ति हो जाने पर जुलाब वगैरह औषध, मरहमपट्टी आदि उपकार करना पड़ता है।

(३) परचक्री आदि शत्रु तथा चोर, डकैत और कोई मारने के लिए आया हो तो गृहस्थ को अपनी तथा अपने आश्रित कुटुम्बियों की रक्षा के लिए संग्राम करना पड़ता है—उसे मारना पड़ता है।

(४) पृथ्वी खोदते हुए कदाचित् त्रस जीव का घात हो जाता है, छान कर पानी पीने पर भी सूक्ष्म त्रस जीव उसमें रह सकता है, अग्नि का आरम्भ करने पर कदाचित् त्रस जीव उसमें गिर जाता है और मर जाता है, गमनागमन करते या शयनासन करते समय कोई त्रस जीव दब कर मर जाता है। इस प्रकार त्रस जीवों को बचाने का उपयोग रखने पर भी हिंसा हो जाती है। उसका पाप तो लगता है किन्तु व्रतभंग नहीं होता।

चौबीस स्थान के थोकड़े में बारह प्रकार के अव्रत कहे हैं—छह काय के छह अव्रत, इन्द्रियों के पाँच अव्रत और एक मन का अव्रत। इन बारह अव्रतों में से पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक को त्रस जीव के एक अव्रत के सिवाय शेष ग्यारह अव्रत लगते रहते हैं। जिनमें त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा हो ऐसे कार्य जान-बूझ कर करने वाला श्रावक नहीं हो सकता, अतः जिन-जिन कार्यों में त्रस जीवों की हिंसा होती है, ऐसे कार्यों में से कुछ यहाँ बतलाये जाते हैं। ऐसे कार्यों से श्रावक को निवृत्त होना चाहिए:—
(१) प्रहर रात्रि व्यतीत होने के बाद और सूर्योदय से पहले बुलन्द आवाज से बोलना नहीं चाहिए, क्योंकि बुलन्द आवाज से हिंसक प्राणी जाग कर हिंसा में प्रवृत्त हो जाते हैं, नजदीक के मनुष्य एवं पशु जागृत होकर मैथुन-सेवन, कूटना, पीसना, पकाना आदि आरम्भ के कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः उक्त समय में जोर से नहीं बोलना चाहिए। (२) रात्रि के समय राँधना, झाड़ना, छाछ बिलौना, स्नान करना, वस्त्र धोना, मुसाफिरी करना, खान-पान❀ करना, इत्यादि प्रवृत्तियों से त्रस जीवों की हिंसा होती है।

मृतस्वजनगोत्रेऽपि सूतकं जायते किल।
अस्तं गते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम् ॥

अर्थात्—स्वजन, स्वगोत्री की मृत्यु हो जाने पर सूतक गिनकर भोजन नहीं किया जाता तो दिन के नाथ सूर्य के अस्त हो जाने पर भोजन कैसे किया जाय? अर्थात् नहीं करना चाहिए।

रक्तं भवन्ति तोयानि, अन्नानि पिशितानि च।
रात्रिभोजनसक्तस्य, भोजनं क्रियते कथम्? ॥

और साँप-बिच्छू आदि जहरीले जानवरों की झपट में आ जाने एवं विष-भक्षण आदि हो जाने से प्राण भी संकट में पड़ जाते हैं अथवा अकालमृत्यु

अर्थात्—रात्रि में पानी रक्त के समान हो जाता है और अन्न मांस के समान हो जाते हैं—रात्रि में भोजन करने वाले को तथा पानी पीने वाले को मांसभक्षण तथा रक्तपान करने के समान दोष लगता है, तो रात्रिभोजन कैसे किया जाय? (महाभारत, शान्तिपर्व)

उदकं नैव पातव्यं, रात्रावेव युधिष्ठिर!
तपस्विना विशेषेण, गृहिणा च विवेकिना ।।

अर्थात्—हे युधिष्ठिर! विवेकवान् गृहस्थों को और विशेषतया तपस्वियों को रात्रि में पानी नहीं पीना चाहिए।

ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं, वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य, फलं मासेन जायते ।।

अर्थात्—जो बुद्धिमान् मनुष्य कभी भी रात्रिभोजन नहीं करते हैं, उन्हें प्रतिमास एक पखवाड़े (१५ दिन) के उपवास का फल प्राप्त होता है।

नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं न विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ।।

अर्थात्—रात्रि में देवता को आहुति (होम), स्नान, श्राद्ध, देवपूजन, दान-इतने काम नहीं करने चाहिए और भोजन तो खास तौर से नहीं करना चाहिए।

हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचेरभावतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ।। —आयुर्वेद।

अर्थात्—सूर्य अस्त होने पर हृदयकमल और नाभिकमल संकुचित हो जाता है, अतः रात्रिभोजन रोगोत्पादक है। इसके अतिरिक्त भोजन के साथ छोटे-छोटे जीव भी खाने में आ जाते हैं। अतः रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए।

मेधां पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम्,
कुरुते मक्षिका वान्तिं कुष्ठरोगं च कोलिका।
कंटकं दारुखण्डं च वितनोति गलव्यथाम्,
व्यञ्जनान्तर्निपतितं तालु विध्यति वृश्चिकः ।। —योगशास्त्र।

अर्थात्—रात्रि में भोजन करते समय भोजन में चिउंटी आ जाय तो बुद्धि का नाश होता है, जूं आ जाय तो जलोदर रोग हो जाता है, मक्खी आ जाय तो वमन हो

भी हो जाती हैं। अतएव ऊपर बतलाये हुए कार्य रात्रि में नहीं करना चाहिए। (३) पाखाने में दिशा जाने से और मोरी, गटर आदि में पेशाब करने से असंख्यात सम्मूर्छिम जीवों का घात होता है। दुर्गन्ध से तथा रोगी मनुष्य के पेशाब पाखाने पर पेशाब-पाखाना हो जाने से गर्मी आदि भयानक बीमारियाँ हो जाती हैं। (४) खड्डे में, फटी भूमि में, राख, तुष, घास, गोबर आदि के ढेर पर पेशाब या पाखाना फिरने से उसके आश्रित रहे हुए त्रस जीवों का हनन हो जाता है। (५) बिना देखे धोबी को कपड़े देने से, खाट, पलंग आदि पानी में डुबोने से, या उन पर गर्म पानी डालने से, उनके आश्रित रहे हुए खटमल आदि त्रस जीवों का घात हो जाता है। (६) दशहरा, दीपावली आदि पर्वों के अवसर पर जो चौमासे में आते हैं— खटमल आदि जीव दीवारों आदि पर विशेष रूप से पाये जाते हैं। परन्तु उपयोग न रखते हुए, लोकरूढ़ि के अनुसार लीपना, छावना, धोना आदि क्रियाएँ करने से उनका घात हो जाता है। (७) आटा, दाल, शाक, सूखी तरकारी, पापड़, बड़ी, मेवा मसाले, पकवान आदि वस्तुओं का बहुत दिनों तक संग्रह कर रखने से, उनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। उनको देखे बिना काम में लाने से तथा खाने से उन जीवों का घात होता है। (८) चौमासे के दिनों में नमी अधिक होने से जमीन पर, छाणों में, लकड़ियों में, मिट्टी के बर्त्तनों में कुँथुवा आदि जीव बहुतायत से उत्पन्न हो जाते हैं।

जाता है, छिपकली आ जाय तो कोढ़ हो जाता है, काँटा आ जाय या लकड़ी का टुकड़ा आ जाय तो गला दुखने लगता है, भोजन में बिच्छू आ जाय तो वह तालु को भेद देता है।

रात्रिभोजन करने से ऐसी-ऐसी अनेक भयंकर हानियाँ होती हैं। इसलिए जैन-शास्त्रों में तथा अजैन शास्त्रों में भी रात्रिभोजन का निषेध किया गया है। किसी ने कहा है:—

चिड़ी कमेड़ी कागला, रात चुगन नहिं जाय।
नर तनधारी मानवी, रात पड़े क्यों खाय ?।
अन्धा जीमन रात का, करे अधर्मी जीव।
किंचित् जीवन के लिए, देय नरक की नींव ॥

उन्हें ऊन या सन की पूँजनी से पूँजे बिना काम में लाने से उनका घात हो जाता है। (९) चूले पर, परिंडे (पानी के स्थान) पर, चक्की पर, ऊखल पर, चन्दोवा नहीं बाँधने से ऊपर चलने वाले जीव उनमें गिर पड़ते हैं और मर जाते हैं तथा वस्तु को भी खराब करते हैं। (१०) बिना छना पानी काम में लाने से तथा पानी छानने के बाद छन्ने में रही जिवानी की यतना न करने से तथा जिवानी को दूसरे जलाशय में डालने से बहुत त्रस जीवों की हिंसा होती है।❀ (११) किराने के, धान्य के, मील गिरनी के, मिठाई के, तेल घी आदि रसों के, लाख चपड़ी आदि के, लकड़ी-छाने के, भाजी-फल-मेवे आदि के व्यापार में त्रस जीवों की अधिक हिंसा होती है। (१२)

❀ *सूक्ष्माणि जन्तूनि जलाश्रयाणि,*
जलस्य वर्णाकृतिसंस्थितानि।
तस्माज्जलं जीवदयानिमित्तं,
निरग्रशूरा परिवर्जयन्ति ॥

—भागवत पुराण।

अर्थात्—छोटे-छोटे जन्तु जल के आश्रित रहते है। उनका वर्ण और उनकी आकृति जल के ही समान होती है। अतएव जीवों की दया के निमित्त शूरवीर पुरुष सचित्त तथा अनछना पानी पीना छोड़ देते हैं।

संवत्सरेण यत्पापं, कैवर्त्तस्य हि जायते।
एकाहे तदवाप्नोति, अपूतजलसंग्रहात् ॥

अर्थात्—मछली मारने वाले धीवर को एक वर्ष में जितना पाप लगता है, उतना पाप एक दिन बिना छना पानी काम में लाने या पीने से होता है।

विंशत्यंगुलमानं तु, त्रिंशदंगुलमायतम्।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य, गालयेज्जलमापिवन्।
तस्मिन् वस्त्रे स्थितान् जीवान्, स्थापयेज्जमध्ये तु।
एवं कृत्वा पिबेत्तोयं, स याति परमां गतिम् ॥

—महाभारत।

अर्थात्—बीस अंगुल चौड़े और तीस अंगुल लम्बे वस्त्र को दोहरा करके पानी छान कर पीना चाहिए। पानी छानते समय वस्त्र में जो जीव रह जाएँ उन्हें उसी जलाशय में स्थापित कर देना चाहिए, जिससे वह पानी निकाला गया हो। इस विधि के अनुसार जो जल पीता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

दूध, दही, घी, तेल, छाछ, पानी, आचार-मुरब्बा आदि प्रवाही या अर्ध-प्रवाही पदार्थों के बर्त्तन तथा दीपक, चूल्हा, सिगड़ी, खाली बर्त्तन आदि उघाड़े रखने से उनमें चूहा आदि त्रस जानवर पड़कर मर जाते हैं। (१३) मक्की के भुट्टे, जवार के हुरड़े, बाजरा के पूँख, चने के बूँट, गेहूँ की बालें, बेर, नागर बेल के पान, मूले, मैथी की भाजी, मीठे फल, सड़ी-गली वस्तु, इत्यादि में त्रस जीव अधिकता से पाये जाते हैं। इनको भूँजने से तथा भक्षण करने से उनमें रहे हुए त्रस जीवों का घात हो जाता है। (१४) गाय, भैंस, अश्व आदि के रहने के स्थान में धुँआ करने से मच्छर आदि जीवों की हिंसा होती है। (१५) जूते के तले में कीलें-नालें लगी होती हैं। उसे पहन कर चलने से पैर के नीचे त्रस जीव कुचल जाते हैं।

ऊपर जिन कार्यों का उल्लेख किया गया है, उन सब का गृहस्थ सर्वथा त्याग तो नहीं कर सकता, फिर भी उनमें सावधानी अवश्य रखी जा सकती है। अगर पहले से प्रमाद त्याग कर सावधानी रखी जाय तो उक्त हिंसा से श्रावक का बचाव हो सकता है। सच्चे श्रावक को विवेकपूर्वक यतना के साथ प्रवृत्ति करके इस हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

यद्यपि श्रावक स्थावर जीवों की हिंसा से सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकता तथापि उसे निरर्थक हिंसा से तो बचना ही चाहिए। जहाँ तक संभव हो, किसी भी जीव की हिंसा न हो, ऐसा श्रावक का सदैव लक्ष्य रहता है। अतः निम्नोक्त प्रकार से श्रावक को मर्यादित होने का प्रयत्न करना चाहिए:—

(१) पृथ्वीकाय—सुरंगें लगा कर ज़मीन फोड़ने का, नमक खार, खड़िया मिट्टी, हिंगलु, गेरू, हिरमिची, मुलतानी मिट्टी आदि पृथ्वीकाय

(अडिल्ल छन्द)

जल में झीणा जीव थाग नहीं कोय रे,
अनछाना जल पिये सो पापी होय रे।
गाढे कपड़े छाने बिन नहीं पीजिये,
पर जीवानी-जतन युक्ति से कीजिये॥

के व्यापार का, सचित्त क्षार आदि से वस्त्र धोने का, सचित्त मिट्टी से दातौन करने का तथा हाथ धोने का, चूला, कोठी आदि उपकरण और नया मकान बनवाने का, इत्यादि प्रकार से पृथ्वीकाय की हिंसा का यथाशक्ति प्रत्याख्यान करे, वृथा मिट्टी के ढेर को खूँदे नहीं, मिट्टी के ऊपर बैठे नहीं, पत्थर आदि से तोड़े-फोड़े नहीं। इस प्रकार विवेक के साथ पृथ्वीकाय की यतना करे।

(२) अप्काय—नदी, तालाब, कूप, बावड़ी आदि जलाशयों के भीतर घुस कर स्नान करने से पानी दुर्गन्धित होता है, रोगकारी हो जाता है, उतनी दूर तक के त्रस और स्थावर जीव मर जाते हैं। कितनेक अज्ञानी लोग मरे हुए मनुष्य को स्वर्ग में पहुँचाने के उद्देश्य से उसके शरीर की राख और हड्डियों को तीर्थस्थान आदि के पानी में डालते हैं। कोई-कोई गरमागरम राख को ही पानी में डाल देते हैं। परिणामस्वरूप पानी गरम हो जाता है और उसमें रहे हुए मच्छ आदि पंचेन्द्रिय जीव भी मर जाते हैं तो दूसरे छोटे जीवों का तो कहना ही क्या है! इसके अतिरिक्त राख में भी क्षार रहता है। उस क्षार से मिश्रित पानी का वेग जितनी दूर तक जाता है, उतनी दूर तक के जीव मारे जाते हैं। मरने वाला तो मरते ही अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि किसी गति में चला जाता है। वहाँ के बाँधे हुए आयुष्य को पूरा भोगे विना उस गति से निकल नहीं सकता, यह ध्रुव सत्य है। ऐसी स्थिति में उसके निमित्त त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करने से क्या लाभ है?

कितनेक लोग चन्द्र या सूर्य ग्रहण होने पर, घर के भीतर ढँक कर रक्खा हुआ, ग्रहण की छाया से बचा हुआ पानी तो फैंक देते हैं और जिस सरोवर पर ग्रहण की छाया पड़ी, उसके पानी को पवित्र मान कर घर में ले आते हैं। यह कितनी विपरीत बुद्धि है! उनसे पूछना चाहिए कि अगर घर में के पानी को ग्रहण लगा तो दूध, दही आदि पदार्थों को भी ग्रहण लगा होगा। फिर उन पदार्थों को क्यों नहीं फैंक देते हो? मगर उन वस्तुओं की कीमत लगती है और पानी मुफ्त में मिलता है। इसीलिए पानी का व्यय करने में बेदरकारी की जाती है! उन्हें समझना चाहिए कि

आर्थिक मूल्य होने से ही कोई वस्तु मूल्यवान् और आर्थिक मूल्य न होने से मूल्यहीन नहीं हो जाती। वस्तु का महत्त्व और-और दृष्टियों से भी समझना चाहिए। जल जगत् का जीवन है। जीवन की दृष्टि से उसका बहुत मूल्य है। दूध और घी के बिना करोड़ों मनुष्य जन्म व्यतीत कर देते हैं, किन्तु पानी के बिना एक भी दिन व्यतीत करना बड़ा कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से जगत् के अन्य सब पदार्थों से जल अधिक मूल्यवान् है। इस तरह की विवेकदृष्टि प्राप्त करके श्रावक जन मिथ्यात्वियों की देखादेखी नहीं करते हैं। अर्थात् वे ग्रहण आदि के प्रसंग पर पानी नहीं फैंकते हैं, पानी में हड्डियाँ या राख नहीं डालते हैं, पानी में घुस कर स्नान नहीं करते हैं, बिना छने पानी से शरीर या वस्त्र नहीं धोते हैं, न पीते हैं। होली आदि पर्वों के प्रसंग पर पानी उछालना, रंग डालना आदि कार्य करके पानी की हानि नहीं करते हैं। कुए, बावड़ी, नल आदि की मर्यादा करते हैं। कितनेक विशेष धर्मात्मा श्रावक सचित्त पानी पीने का भी प्रत्याख्यान कर लेते हैं और घी आदि से भी पानी की अधिक यतना करते हैं। क्योंकि जीवन की दृष्टि से घी-दूध आदि की अपेक्षा पानी अधिक मूल्यवान् पदार्थ है। घी निर्जीव है, पानी के एक बूँद में असंख्यात जीव होते हैं।

(३) तेजस्काय—अग्नि दशों दिशाओं का शस्त्र है। इसकी झपट में आते ही छहों कायों के जीव भस्म हो जाते हैं। ऐसा जानकर श्रावक को यथासम्भव अग्नि के आरम्भ से अवश्य बचना चाहिए। कितनेक लोग शरीर पर पर्याप्त वस्त्र होने पर भी, गरीबों की देखादेखी, रास्ते का कूड़ा-कचरा इकट्ठा करके आग जला कर तापने बैठ जाते हैं, तथा अलाव, अँगीठी, सिगड़ी आदि में लकड़ी, छाने आदि संसार के अनेक कार्यों में उपयोग में आने वाले पदार्थों को जला कर, अपने क्षणिक सुख के लिए ताप करते हैं। इस प्रकार तापने से शरीर के सौन्दर्य का नाश होता है, आगे गर्मी और पीछे सर्दी लगने से सर्द गर्मी की बीमारी हो जाती है, अगर वस्त्र आदि में आग लग जाय तो अकालमृत्यु की सम्भावना रहती है।

कितनेक अज्ञान लोग विवाहोत्सव, दीपावली आदि के प्रसंग पर क्षणिक मजा लूटने के लिए आतिशबाजी छोड़ते हैं। उससे प्रतिवर्ष सैकड़ों मनुष्यों की मृत्यु के समाचार सुने जाते हैं, फिर अन्य जीवों की हिंसा का तो कहना ही क्या है? इसलिए यह भी अनर्थ का कारण है। दीपावली के अवसर पर एक ओर लक्ष्मी के आगमन के लिए लक्ष्मी की पूजा की जाती है और दूसरी ओर आई हुई लक्ष्मी में आग लगाई जाती है! भला इस प्रकार लक्ष्मी कैसे आ सकती है?

तमाखू पीने का व्यसन भी बहुत बढ़ गया है। वास्तव में तमाखू में कोई स्वाद नहीं है। खाने, पीने और सूँघने वाले के मुंह से और नाक से दुर्गंध निकलती है। हाथ में और कलेजे में दाग पड़ जाते हैं। कलेजा जल जाता है। क्षय आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं और कदाचित् अकाल मृत्यु भी हो जाती है। इत्यादि हानियाँ जानते हुए भी हुक्का, चिलम, बीड़ी, सिगरेट आदि पीने वाले लोगों को बुद्धिमान् कैसे कहा जाय?

श्रावक को इस प्रकार का अग्नि का आरंभ नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार धर्मार्थ भी धूप, दीप यज्ञ-हवन आदि नहीं करना चाहिए। चूल्हा, भट्ठी, सिगड़ी, दीपक आदि का सांसारिक आरंभ भी यथासंभव घटाना चाहिए।

(४) वायुकाय—पंखा करने से, झूला झूलने से, बाजा बजाने से, फूँक मारने से, झटक-पटक करने से और खुले मुँह बोलने से वायुकाय की हिंसा होती है। वायु के झपट्टे में आकर त्रस जीव भी मर जाते हैं। ऐसा सोच कर जितना संभव हो, वायुकाय का बचाव करना चाहिए।

(५) वनस्पतिकाय—इसके मुख्य तीन भेद हैं, यथा-(१) गेहूँ, चना, बाजरा आदि धान्य तथा सूखे बीज और गुठली आदि में एक जीव होता है। (२) हरे फूल, फल, भाजी, तृण, पत्ता, डाली आदि के सूचिकाग्र भाग जितने टुकड़े में असंख्यात जीव होते हैं और (३) कन्दमूल आदि में अनन्त जीव होते हैं। सचित्त वस्तु भोगने का त्याग हो सके तो बहुत अच्छा, किन्तु अन्न के बिना तो काम चलना कठिन है, फिर भी हरितकाय के भक्षण से तो

यथासंभव बचाव करना ही चाहिए और कन्दमूल आदि अनन्त काय का तो स्पर्श भी नहीं करना चाहिए-भक्षण करने की तो बात ही क्या है।

अगर कोई पंचेन्द्रिय जीव कान, आँख आदि किसी एक इन्द्रिय से हीन होता है अर्थात् बहिरा या अंधा होता है अथवा गूँगा या लूला-लँगड़ा होता है तो दयालु मनुष्य उस पर दया दिखलाते हैं। तो बेचारे पाँच स्थावर जीव तो चार इन्द्रियों से हीन हैं। अतः वे भी दया के पात्र होने चाहिए। बेचारे स्थावर जीव कर्मोदय के अधीन हैं, अपने किये कर्मों का फल भोग रहे हैं, वे अपनी रक्षा के लिए प्रयत्न नहीं कर सकते, अपना दुःख दूसरों को नहीं सुना सकते, किसी से फरियाद नहीं कर सकते; अतएव इस दृष्टि से वे और भी अधिक दया के पात्र हैं। उन पर जो दया भाव नहीं रखते, जो उनका घात करते हैं उन्हें कर्मबंध होता ही है। इस प्रकार समझ कर विवेकवान् श्रावक यथासंभव स्थावर जीवों की भी रक्षा करते हैं और निष्प्रयोजन हिंसा से तो सदैव बचते रहते हैं।*

---

* ग्रन्थ में कहा है कि साधुजी बीस विस्वा दया पालते हैं। श्रावक की दया साधुजी की दया की अपेक्षा सवा विस्वा होती है।

जीवा सुहुमा थूला संकप्पारंभओ भवे दुविहा।
सावराह-निरवराहा, साविक्खा चेव निरविक्खा॥

अर्थ—साधुजी त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की दया पालते हैं, मगर श्रावक से स्थावर जीवों की दया पलना कठिन है, अतएव २० विस्वा में से १० विस्वा कम हो गये। साधुजी संकल्पजा (मारने के इरादे से की हुई) हिंसा और आरम्भजा (संसार के कृषि, व्यापार आदि कार्यों में होने वाली) हिंसा—दोनों के त्यागी होते हैं किन्तु श्रावक सिर्फ संकल्पजा हिंसा के त्यागी होते हैं; आरंभजा हिंसा के त्यागी नहीं होते, अतः दस विस्वा में से पाँच विस्वा और कम हो गये। साधुजी तो सापराध और निरपराध दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं, किन्तु श्रावक सिर्फ निरपराध जीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं, सापराध की हिंसा के त्यागी नहीं होते। क्योंकि राजा आदि भी इस व्रत का आचरण करते हैं और उनको संग्राम आदि का प्रसंग भी प्राप्त हो जाता है। अन्य श्रावकों को भी चोर डाकू आदि का सामना करने आदि का प्रसंग प्राप्त हो जाता है, तथा शत्रु मारने आवे तो उसे मारने का प्रसंग आ जाता है। इत्यादि कारणों से सापराध की हिंसा का त्याग करना कठिन होता है, अतः पाँच विस्वा में से अढ़ाई विस्वा की ही दया रह गई।

पहले व्रत के पाँच अतिचार

●

(१) बन्ध ❀—अर्थात् किसी जीव को बंधन में बाँधे तो अतिचार लगता है। जैसे—पुत्र, भ्राता, स्त्री, मित्र, शत्रु, दास, दासी आदि मनुष्यों को, गाय, बैल, भैंस, अश्व आदि पशुओं को, तोता, मैना, मुर्गा आदि पक्षियों को, साँप, अजगर आदि अपदों को—इत्यादि किसी भी प्रकार के प्राणी को रस्सी, डोरी, साँकल, खोड़ा, बेड़ी, कोठा, कोठरी, पींजरा, टोपला, टिपारा आदि बंधनों में डालने से अतिचार लगता है। क्योंकि बंधन में डाले हुए जीव विवश होकर अति कष्ट पाते हैं, घबराते हैं, तड़फते हैं। ऐसा निर्दय कृत्य श्रावक को करना उचित नहीं है। कदाचित् कोई मनुष्य किसी अपराध के कारण दण्ड का पात्र हो, तथा कोई पशु काबू में न रहता हो, किसी प्रकार की हानि करता हो और वचन की शिक्षा मात्र से न समझता हो और बन्धन में डालना अनिवार्य हो जाय तो भी ऐसे मजबूत बन्धन से नहीं बाँधना चाहिए जिससे गड्ढा पड़ जाय, वह इधर-उधर हिल-डुल न सके, कदाचित् आग आदि का उपद्रव हो जाय तो छूट कर अपना बचाव न कर सके। मजबूत-गाढ़े बन्धन से बाँध देने पर कदाचित् जीव की मृत्यु हो जाय तो पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा का पाप लगता है।

तथा साधु सापेक्ष अर्थात् सप्रयोजन और निरपेक्ष अर्थात् निष्प्रयोजन—दोनों प्रकार की हिंसा के त्यागी होते हैं, जब कि श्रावक सिर्फ निष्प्रयोजन हिंसा के ही त्यागी होते हैं। वे सप्रयोजन हिंसा का त्याग नहीं करते, इसलिए अढ़ाई विस्वा में से सवा विस्वा दया ही श्रावक की रहती है।

❀ किसी के किसी वस्तु को भोगने का प्रत्याख्यान हो और वह उसे भोगने का विचार करे तो अतिक्रम, उसे भोगने की तैयारी करे—प्रयत्न करे तो व्यतिक्रम, उसे भोगने के लिए ग्रहण कर ले तो अतिचार और उसे भोग ले तो अनाचार समझना चाहिए। अतिक्रम का पाप पश्चात्ताप से, व्यतिक्रम का पाप आलोयणा से, अतिचार का पाप प्रायश्चित्त से और अनाचार का पाप मूल व्रतोच्चार करने से दूर होता है। इन चार प्रकार के पापों में से व्रतों के अतिचारों को तीसरे प्रकार का पाप समझना चाहिए।

पक्षियों का पालन करना भी श्रावकों के लिए योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उनकी प्रिय स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है और इस कारण वे कष्ट का अनुभव करते हैं। पींजरे में डाल कर पक्षियों को मेवा-मिष्टान्न आदि खिलाया जाय तो भी वे बन्धन में सुखी नहीं रहते। घायल हुए पक्षी को उसकी रक्षा के निमित्त अगर पींजरे में रखना पड़े तो अतिचार का पाप नहीं लगता, क्योंकि ऐसी स्थिति में पींजरे में रखने वाले की भावना पक्षी को बन्धन में डालने की नहीं किन्तु उसकी रक्षा करने की होती है। यही बात पशुओं आदि के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। किन्तु आराम हुए बाद उसे बन्धन से मुक्त कर देना चाहिए।

(२) वध—किसी भी मनुष्य और पशु पर प्रहार करे, उसे मारे-पीटे तो यह अतिचार लगता है। जैसा कि पहले पहले अतिचार में कहा है, कोई अपराधी वचन और बन्धन से भी न समझता हो, अथवा पशु आदि सीधे रास्ते न चलता हो और उसे लकड़ी, चाबुक आदि से प्रहार करने का अवसर प्राप्त हो जाय तो भी ऐसा निर्दय होकर न मारे कि जिससे उसके अंग पर घाव पड़ जाय, रक्त निकल आय, वह मूर्छित होकर पड़ जाय। साथ ही जिस स्थान पर एक बार प्रहार किया हो, उसी स्थान पर दूसरी बार प्रहार न करे, सिर, गुदा, गुप्तेन्द्रिय, हड्डी आदि मर्मस्थानों पर प्रहार नहीं करे, क्योंकि ऐसे मर्मस्थानों पर मारने से उसे बहुत कष्ट होता है।

(३) छविच्छेद—चमड़ी का, अंगोपांग या किसी अवयव का छेदन-भेदन करे तो अतिचार लगता है। कितने ही अज्ञानी जन गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदि को अपनी आज्ञा में चलाने के लिए उसकी नासिका छेद कर नथ पहनाते हैं, लोहे की काँटेदार लगाम लगाते हैं, पैरों में कीलें-नाल लगवाते हैं, तथा शोभा के निमित्त या पहचान के लिए लोहे के त्रिशूल चक्र आदि तपा कर उनके अंग पर चिपका कर चिह्न बना देते हैं, कुत्ते आदि के कानों का छेदन करते हैं, पूँछ काट लेते हैं, सींग काटते हैं, गुप्तेन्द्रिय का छेदन करते हैं, अण्ड फोड़ते हैं। ऐसे निर्दयतापूर्ण कृत्य श्रावक को कदापि नहीं करना चाहिए। कदाचित् रक्तविकार, फोड़ा

आदि के दुःख से मुक्त करने के लिए उनके अंगोपांग का छेदन करना पड़े तो आराम होने से पहले उनसे कुछ भी काम नहीं लेना चाहिए। इसी प्रकार पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि को जेवर पहिनाने के लिए उनके कान या नाक छिदवाना आवश्यक हो तो उनकी इच्छा के बिना जबर्दस्ती से छेदन न करावे।

(४) अतिभार—मनुष्य, पशु आदि पर उनकी शक्ति से अधिक बोझा लादना अतिभार नामक अतिचार है। जैसे—अश्व, बैल, भैंसा, हमाल, मजदूर आदि के द्वारा एक जगह से दूसरी जगह माल पहुँचाने का अवसर आ जाय तो जिसकी पीठ पर, कंधे पर चांदी, गूमड़ा आदि किसी प्रकार का दर्द हो या लँगड़ा, लूला, अपंग, दुर्बल, रोगी, कम उम्र वाला, वृद्ध वय वाला या हीन शक्ति वाला हो, उस पर किसी प्रकार का वजन न लादे। ऐसे पर वजन लादने से उसे बहुत कष्ट होता है और कदाचित् मर भी जाता है। अगर कोई गरीब हो और उदरपूर्ति के लिए भार उठाना स्वीकार भी कर ले तो उस पर दयाभाव लाकर बिना काम लिये ही यथा-शक्ति उसकी सहायता करना दयालु श्रावकों का कर्त्तव्य है। जो निरोगी, हृष्ट-पुष्ट एवं वजन उठाने में समर्थ हो, उस पर भी उसकी शक्ति से अधिक या राज्य के द्वारा बंधी हुई मर्यादा से अधिक वजन न लादे। अगर प्रमाणोपेत वचन उस पर लाद दिया हो तो सवारी न करे। सवारी करना हो तो उसी परिमाण में वजन कम लादे। मनुष्य से वजन उठवाते समय पूछ ले कि तू इतना वजन उठा सकेगा? शक्ति से अधिक उठाने के लिए कभी कहे नहीं। सवा मन के बोझ को मन भर कहकर, झूठ-कपट से उस पर बोझ लादे नहीं। इसी प्रकार शक्ति से ज्यादा कोस आदि की मर्यादा से अधिक न ले जावे।

(५) भक्तपानविच्छेद—भोजन-पानी में विच्छेद करे—अन्तराय डाले तो यह अतिचार लगता है। जो स्वजन, मित्र, गुमाश्ता, दास, दासी, नौकर, गाय, अश्व आदि पशु वगैरह-वगैरह, जो आश्रित रहने वाले हों, उन्हें क्रोध के आवेश में आकर, या किसी अपराध का दण्ड देने के अभि-

प्रायः से महंगाई या दुष्काल आदि के प्रसंग पर उन्हें भूखा-प्यासा न रक्खे, क्योंकि कहा है—'अन्नं वै प्राणाः' अर्थात् अन्न प्राण हैं, अन्न के विना कोई जीवित नहीं रह सकता। भूख, प्यास के कारण क्रोध की, धृष्टता की और वैर की वृद्धि होती है। भूखे-प्यासे का हृदय बड़ा ही व्याकुल रहता है, जिससे चिकने कर्मों का बन्ध होता है।

कितनेक निर्दय और स्वार्थी लोग वृद्धावस्था या रोग आदि के कारण निर्बल या निकम्मे हुए माता-पिता आदि स्वजनों को; दास, दासी आदि को; निर्माल्य, ठंडा, वासी, खराब हुआ भोजन देते हैं, नौकरी कम देते हैं, गाय, बैल आदि पशुओं को घास, दाना, पानी खराब या कम देते हैं। गाय भैंस, बकरी जब दूध देना बंद कर देती हैं तो उन्हें बाँटा नहीं देते हैं। कितनेक दुष्ट लोग तो कृतघ्नता करके वृद्ध, निकम्मे पशु को कसाई को बेच देते हैं। यह कितना जबर्दस्त अन्याय है ? ऐसे काम श्रावकों को कदापि नहीं करने चाहिए। श्रावक को समझना चाहिए कि जैसे हम आराम चाहते हैं, उसी प्रकार सब जीव आराम चाहते हैं। फिर स्वयं तो सब प्रकार से सुखी रहना, जितना सुकाल में खाते थे उतना ही दुष्काल में खाना और अपने आश्रितों को तरसाना दयालु का काम नहीं है।

माता पिता आदि का अपनी सन्तान पर बड़ा उपकार है। उन्होंने अनेक कष्ट सहन करके हर प्रकार से अपना पोषण-तोषण करके सुखपूर्वक हमें बड़ा किया है। बड़े कष्ट से उपार्जित की हुई लक्ष्मी भी हमारे सिपुर्द करदी है। उन्होंने यह सब इसलिए किया है कि यह हमारी वृद्धावस्था में हमें आराम देगा, हमारा पालन-पोषण करेगा। ऐसी स्थिति में उनके प्रति कृतघ्नता दिखलाना और विश्वासघात करना घोर पातक है।

जिनकी मिहनत से कमाई हुई दौलत से सेठ सुखोपभोग कर रहे हैं, उन मुमास्ता आदि को, जिन्होंने उम्र भर सेवा चाकरी करके सुख-सुविधा पहुंचाई है ऐसे दास-दासियों को, वृद्धावस्था में अथवा रोग आदि के कारण बेकार हो जाने पर दुःखी अवस्था में छोड़ देना या वेतन कम करके उनकी

आजीविका को भंग कर देना भी विश्वासघात है। बेचारे मूक पशुओं का उपकार भी क्या कम है? वे घास खाकर दूध, दही, मावा, मक्खन, घी मलाई, तक्र आदि बलप्रद और स्वादिष्ठ वस्तुएँ देते हैं और अपना पोषण-तोषण करते हैं। मानव-जाति पर उनका यह असीम उपकार है। जिस माता का करीब एक साल दूध पिया जाता है, उसकी जीवन पर्यन्त सेवा की जाती है, तो फिर बचपन से लेकर जीवन के अन्तिम क्षणों तक जिसका दूध पिया जाता है, उस महामाता-गाय आदि की कितनी सेवा नहीं बजानी चाहिए? इसी प्रकार एक माता का जो दो जन दूध पीते हैं वे परस्पर भाई का संबंध रखते हैं तो बैल, भैंसा, बकरा आदि की माता का दूध पीने वालों को उनके प्रति द्वेष-भाव धारण करना कहाँ तक उचित है? कदाचित् भाई तो बेईमान बन जाते हैं, मगर यह बेचारे पशु तो भाई से भी अधिक मदद-गार, नमकहलाल और उपकारक होते हैं। वे खेत में हल, बखर आदि खींच कर अन्न, वस्त्र आदि के काम में मदद देते हैं, कुएँ में से पानी निकालना, शक्ति से ज्यादा बोझ लाद दिया हो तो भी उसे खींचकर इच्छित स्थान पर पहुँचा देना, भूख प्यास सर्दी गर्मी खाड़ पहाड़ उजाड़ आदि के दुःखों की परवाह न करते हुए प्रत्येक कार्य में सहायता देना क्या कम उपकार है? यह सुमित्र के समान प्रेम रखने वाले, सुशिष्य के समान मार-पीट को भी सहन करके सेवा करने वाले, विश्वासी नौकर के समान पहरा देने वाले, साधु के समान जितना मिल जाय उतने ही आहार पर सन्तुष्ट रहने वाले इन पशुओं के सिवाय इस जगत् में और कोई विरला ही मिलेगा।

ऊन के गरम वस्त्र और कस्तूरी आदि बहुमूल्य पदार्थ भी पशुओं द्वारा ही प्राप्त होते हैं। किं बहुना, उनके शरीर से उत्पन्न होने वाले गोबर, मूत्र आदि भी निकम्मे नहीं जाते हैं। घर की स्वच्छता और रोग के प्रतीकार करने के लिए वे उपयोगी होते हैं। मरने के बाद भी पशुओं के शरीर का कोई भाग निकम्मा नहीं जाता। उनके चमड़े से जूते बनते हैं, जो कंकर, कंटक और ताप से पैरों की रक्षा करते हैं। हड्डी खाद के लिए उपयोगी होती है। ऐसे महान् उपयोगी और उपकारी प्राणियों के साथ विश्वासघात

और कृतघ्नता करना कितना घोर पाप है ? ऐसा जानकर धर्मात्मा जन कदाचित् दूध देना बन्द कर देने पर, वृद्धावस्था या रोग आदि से अशक्त हो जाने पर, न तो उनके खान-पान में अन्तराय डालते हैं, न उन्हें घर से निकाल देते हैं और न घातकों को सौंप देते हैं। बल्कि अपने कुटुम्बी जनों के समान उम्र भर उनका पालन-पोषण करते हैं।*

सम्भव है किसी मनुष्य से या पशु से किसी काम का बिगाड़ हो जाय तो विचारना चाहिए कि—जान-बूझकर तो कोई किसी काम को बिगाड़ता नहीं है, अगर इससे कुछ बिगाड़ हो गया है तो किसी कारण से, भूल से या परवशता से हो गया है। ऐसा सोचकर जैसे कोई बच्चा काम बिगाड़ देता है तो उसे नादान समझ कर क्षमा कर दिया जाता है, उसी प्रकार भोले मनुष्यों को तथा पशुओं को भी नादान समझ कर क्षमा कर देना चाहिए। उन्हें वचन-मात्र की शिक्षा ही काफी है, भूखा-प्यासा रखना उचित नहीं है। कदाचित् ऐसी स्थिति आ जाय कि भूख-प्यास का दण्ड दिये विना सुधार नहीं हो सकता, तो जब तक उन्हें खिला-पिला न दे तब तक स्वयं भी नहीं खाना-पीना चाहिए। हाँ, ज्वर आदि की निवृत्ति के लिए लंघन कराना पड़े तो वह बात दूसरी है।*

---

* यस्मिन् जीवति जीवन्ति, बहवः स तु जीवति।
काकोऽपि किं न कुरुते, चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥

अर्थात्—जिसके सहारे बहुत जीव जिन्दे रहते हैं, वही वास्तव में जिन्दा है। अन्यथा अपना पेट तो कौवा भी भर लेता है।

* *श्री उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में भगवान् महावीर ने आनन्द श्रावक को व्रतों के अतिचार बतलाते समय प्रथम व्रत के अतिचारों में कहा है—*

'भत्तपाणवुच्छेए।'

अर्थात्—शक्ति होने पर भी जो किसी के आहार-पानी में अन्तराय देगा उसे पहले व्रत के अतिचार का पाप लगेगा। मानो इसीलिए सवा पहर दिन चढ़े तक श्रावक अपने अभंगद्वार रखते थे, जिससे कोई भूखा-प्यासा अपने द्वार पर आकर निराश होकर न लौट जाय। कोई कह सकता है कि श्रावक तो साधुजी को दान देने के लिए द्वार खुला

उक्त पहले व्रत के पाँचों अतिचार मनुष्य को अधोगति में ले जाने वाले हैं। अपनी आत्मा को इनसे बचाने के लिए इन्हें जानना तो जरूर चाहिए किन्तु आचरण नहीं करना चाहिए। जो जीव दया भगवती का निरतिचार रूप से आराधन करेंगे वे दोनों लोकों में आरोग्यता प्राप्त करेंगे, बलवान् होंगे, यशवान् होंगे, विजय और वैभव प्राप्त करके उसके भोक्ता बनेंगे और क्रमशः थोड़े ही भवों में अनन्त मोक्षसुख के भोगने वाले बन जाएंगे।

जैसे किसान धान्य की रक्षा के लिए खेत के चारों ओर वाड़ लगाते हैं, उसी प्रकार अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए आगे कहे जाने वाले सत्यव्रत आदि का पालन किया जाता है।

२—दूसरा अणुव्रत-स्थूलमृषावादविरमण



गृहस्थ के लिए साधु की तरह सर्वथा मृषावाद (असत्य भाषण) से निवृत्त होना कठिन है। गृहस्थ प्रायः सहज ही कह देते हैं—'अरे उठ, पहर दिन चढ़ गया!' वास्तव में दिन घड़ी भर भी नहीं चढ़ा होता। इत्यादि अनेक प्रकार झूठ वचन सहज ही बोल देते हैं, इसलिए गृहस्थ को स्थूल मृषावाद अर्थात् बड़े मृषावाद से निवृत्त होना चाहिए। शास्त्रों में पाँच बड़े मृषावाद कहे हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) कन्यालीक (कन्नालीए)—अर्थात् कन्या (कुमारिका) सम्बन्धी अलीक (मृषावाद)। जैसे कितने ही श्रीमान् अपनी पुत्री को श्रीमानों के

रखते थे, तो यह कथन शास्त्र से संगत नहीं होता, क्योंकि साधुजी तो दोपहर दिन आये बाद गोचरी जाते थे। इससे ज्ञात होता है कि उक्त नियम अभ्यगतों के लिए ही था। अफसोस है कि इस शास्त्र को मानने वाले ही भूखे-प्यासे को देने में एकान्त पाप बतलाते हैं। वे जिनवाणी को विपरीत परिणमा कर भोले लोगों को भ्रम में फँसाते हैं। मगर विवेकी जनों को भ्रम में नहीं फँसना चाहिए।

घर देने के लिए, धन के लोभी धनोपार्जन करने के लिए तथा इनके संबंधी और अन्यायी पंच आदि खुशामद करने की भावना से कन्या के लिए झूठ बोलते हैं। कन्या अन्धी, कानी, बहरी, लूली, लँगड़ी, कुलच्छनी, रूपहीन, बुद्धिहीन या किसी अन्य दुर्गुण से युक्त हो तो उस दुर्गुण को छिपा कर कन्या की झूठी प्रशंसा करके दूसरे को फँसा देते हैं। विवाह होने के पश्चात् जब उस कन्या के दुर्गुण प्रकट होते हैं तब उसके पति को और कुटुम्बियों को बड़ा ही पश्चात्ताप होता है, अनेक प्रकार के झगड़े खड़े हो जाते हैं। संताप और क्लेश के कारण दम्पती (पति-पत्नी) का जीवन दूभर हो जाता है। कभी-कभी तो आत्मघात की भी नौबत आ जाती है।

कुछ लोग दस वर्ष की कन्या को साठ वर्ष के बूढ़े के साथ ब्याह देते हैं। वे 'बीबी घर जोग और मियांजी घोर (कब्र) जोग' इस कहावत को चरितार्थ करते हैं। कोई-कोई सोलह वर्ष की कन्या को दस वर्ष के बच्चे को परणा देते हैं, मानो ऊँटनी के साथ बकरा बाँध दिया हो! ऐसे कुजोड़ संबंध मिला देने से भी अनर्थ उत्पन्न होता है। महाजनों में, उच्च जातियों में और दयामय जैनधर्म पालने वालों में यह रचना देख कर बड़ा ही आश्चर्य होता है! इस्लामधर्म के अनुयायी मोमिन लोग अत्यन्त गरीबी के दुःख से पीड़ित होते हुए भी कन्या की कौड़ी मात्र भी ग्रहण नहीं करते, बल्कि यथाशक्ति लड़की को देते हैं और जिनके पूर्वजों ने पुत्री के घर का पानी पीना भी गुनाह समझा, जो कुछ द्रव्य दिये बिना पुत्री के घर का पानी भी कभी नहीं पीते हैं, वही लोग अपनी पेट की बच्ची, बेचारी अबला बालिका को, बेजोड़ संबंध में फँसा कर, गाय-बकरी की तरह नीलाम पर चढ़ाते हैं। वह अपना सारा जीवन हाय हाय करके पूरा करती है। उसे घोर दुःख के गड्हे में गिराते हुए जरा भी शर्म और दया नहीं लाते हैं! कसाई से भी अधिक दयाहीन-कठोर कलेजा बना कर अपनी प्यारी पुत्री के रक्त-मांस का विक्रय करते हैं! वह बेचारी रो-रो कर मर जाती है! इस बेजोड़ संबंध और कन्याविक्रय के फलस्वरूप दुराचार फैलता है। अतृप्त वासना वाली वह स्त्री व्यभिचार के घोर पाप में पड़ जाती है!

बालविधवाओं का तो कुछ ठिकाना ही नहीं रहा। बालहत्या, गर्भपात, और आत्मघात जैसे भी घोरातिघोर अनर्थ हो रहे हैं। यह सब देख कर भी महाजन कहलाने वालों की अक्ल ठिकाने नहीं आई है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करने में जो सहायक बनते हैं वे श्रावक के पद के लिए नालायक हैं! अतः जो सच्चा श्रावक होगा वह कन्यालीक का अवश्य त्याग करेगा।

'कन्यालीक' शब्द उपलक्षण है, अतः 'कन्या' शब्द से समस्त द्विपदों का (दो पैर वालों का) ग्रहण हो जाता है। जैसे पहले कन्या के विषय में कहा है, उसी प्रकार वर के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। अतएव 'वरालीक' भी त्याज्य समझना चाहिए। कितनीक बार वर भी बड़ा अन्याय करते हैं। वृद्धावस्था में पहुँच करके भी कुंवर कन्हैया बनने के लिए खिजाब से बाल काले कर लेते हैं और पत्थर के दांतों की बत्तीसी जमाते हैं। ऐसे-ऐसे ढोंग करके अपनी उम्र कम बतला कर दूसरों को फँसाते हैं। ऐसा करना श्रावक को शोभा नहीं देता। इसी प्रकार दत्तक पुत्र लेने के लिए या देने के लिए, गुमाश्ता नौकर आदि रखने के लिए उसके दुर्गुण छिपाकर सद्गुणी बतलाते हैं। इसी प्रकार अन्य द्विपदों के संबंध में भी झूठ बोला जाता है। यह सब झूठ कन्नालिए में समाविष्ट होता है। यह अनर्थकारी झूठ स्थूल झूठ है और श्रावक को इसका त्याग अवश्य करना चाहिए।

(२) गवालीक (गवालीए)—अर्थात् गौ संबंधी अलीक। चतुष्पदों में गौ श्रेष्ठ होने के कारण यहाँ गौ का ग्रहण किया है, किन्तु उससे समस्त चतुष्पदों का ग्रहण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी चौपाये के विषय में झूठ बोलना गवालीक कहलाता है। इसलिए गाय, भैंस, बैल, भैंसा, घोड़ा, हाथी, ऊँट, बकरा आदि पशुओं का व्यापार करना तो श्रावक के लिए अनुचित है ही, मगर कदाचित् घर संबंधी पशु को बेचने का प्रसंग आ जाय तो भी झूठ न बोले। अज्ञ-अविवेकी लोभी लोग औषध आदि के प्रयोग से गाय, भैंस आदि के स्तन फुलाकर, सींग आदि अवयवों को टेढ़ा सीधा बनाकर खराब आकृति को अच्छी बनाने की चेष्टा करते हैं और कहते हैं कि यह गरीब है, सयानी है और दूध बहुत देती है। इत्यादि मिथ्या गुण

बतला कर उसे बेच देते हैं। जब कहे हुए गुण उसमें नहीं पाये जाते तो खरीदने वाले को बड़ा भारी पश्चात्ताप होता है। उस पशु को भी दुःख भोगना पड़ता है। श्रावक को ऐसा व्यवहार करना भी उचित नहीं है। अतः श्रावक चतुष्पद सम्बन्धी असत्य का भी त्याग करे।

(३) भूम्यलीक—अर्थात् जमीन संबंधी झूठ। ज़मीन दो प्रकार की होती है—(१) क्षेत्र-खुली भूमि, जैसे खेत, बाड़ी, बाग, अडाण, जंगल, तालाब, कुंआ, बावड़ी आदि। (२) वास्तु-ढँकी हुई भूमि, जैसे महल, हवेली, घर, दुकान, बंगला, बखार, नोहरा आदि। इनके विषय में झूठ बोलना भूम्यलीक है। जैसे—किसी खेत में या बाग आदि में धान्य या फल आदि की थोड़ी उपज होती हो अथवा खराब उपज होती हो, फिर भी उसे खूब उपज वाला या अच्छी उपज वाला बतलाना; कूप, तालाब आदि जलाशय का पानी खराब हो, रोगकारी हो किन्तु उसे स्वादिष्ठ और स्वास्थ्यकर बतलाना, मकान में व्यन्तर का या सर्प आदि का उपद्रव हो फिर भी उसे निरुपद्रव और साताकारी बतलाना, इस तरह खराब वस्तु को अच्छी कह कर दूसरों को बहुत कीमत में बेचकर फँसाने से तथा दुश्मन की वस्तु को भी बुरी बतला कर उसके ग्राहकों को भरमा कर लाभान्तराय देने से कई झगड़े खड़े हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त श्रावक का विश्वास उठ जाता है। और भी अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। अतः उक्त प्रकार का झूठ बोलना, धोखा देना उचित नहीं है।

इस 'भूम्यलीक' शब्द में सब अपद (विना पैर की) वस्तुओं का समावेश होता है। अतएव सचित्त मिट्टी, पानी, वनस्पति, फल, फूल, आदि के लिए तथा अचित्त वस्तु वस्त्र, आभूषण, सोना, चांदी, पात्र आदि के लिए और मिश्र वस्तु—किराना आदि के लिए भी झूठ नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार का झूठ भी अनर्थ का कारण है।

(४) थापणमोसो (स्थापनामृषा)—किसी की धरोहर को दबाने के लिए झूठ बोलना 'थापणमोसो' कहलाता है। कोई मनुष्य घोर मुश्किल से

योग्य-अयोग्य कर्त्तव्य करके द्रव्योपार्जन करे। यह द्रव्य समय आने पर मेरे काम आएगा, ऐसा सोचकर अपने प्राणप्यारे द्रव्य को किसी मित्र या साहूकार पर विश्वास लाकर गुप्त रूप से रख जाय। वह मित्र या साहूकार उस द्रव्य में लुब्ध होकर उसे छिपा ले या तोड़-भाँग कर या गला कर रूपान्तरित कर ले। धरोहर रखने वाला जब माँगने आवे तब मुकर जाय। 'उलटा चोर कोतवाल को दंडे' इस कहावत को चरितार्थ करता हुआ, अपनी चोरी को छिपाने के लिए उलटा माँगने वाले को झूठा और बेईमान बतलावे, उसकी फजीहत करे, क्योंकि कोई गवाह-साक्षी तो है ही नहीं! यह कितना घोर अन्याय है! इस प्रकार का अत्याचार करने से बेचारा धन का मालिक दिङ्मूढ़ बन जाता है। कोई-कोई तो पागल तक हो जाते हैं। कितनेक झूर-झूर कर मरते हैं और किसी-किसी की तीव्र आघात लगने के कारण तत्काल मृत्यु हो जाती है। ऐसे विश्वासघाती मित्रद्रोही जनों के पाप का घड़ा जब फूटता है तो वे प्रथम तो इसी भव में जनसमाज के तिरस्कार के पात्र, घृणास्पद और अनेक कष्टों को भोगने वाले बनते हैं। और फिर परलोक में भी अनेक दुःखों के भाजन बनते हैं। वे धरोहर दबाने वाले आगामी भव में दरिद्र, कंगाल और निपूते होते हैं तथा नरक एवं तिर्यञ्च गति के दुःख भोगते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि अन्याय-अनीति से उपार्जित धन बहुत दिनों तक नहीं ठहरता है। वह गांठ की पूँजी भी साथ लेकर चला जाता है।* अतः श्रावक जन ऐसे हराम के धन की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते।×

---

* अन्यायोपार्जितं वित्तं; दश वर्षं हि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे, समूलं हि विनश्यति॥

अर्थात्—अनीति से कमाया धन अधिक से अधिक दस वर्ष तक ठहरता है। ग्यारहवाँ वर्ष लगने पर मूल पूञ्जी सहित नष्ट हो जाता है।

× धरोहर छिपाने का काम यद्यपि चोरी में सम्मिलित है, मगर इसमें झूठ बोलने की मुख्यता होने के कारण यहाँ झूठ में शामिल किया गया है।

(५) कूटसाक्षी—अर्थात् झूठी गवाही देना। कितनेक वकील बैरिस्टर आदि द्रव्य के लोभ में फँस कर, कितनेक न्यायाधीश आदि रिश्वत खाकर और कितने ही लोभी एवं खुशामदी लोग स्वजन मित्र आदि की शर्म या ममता में फँसकर न्यायालय में, पंचसभा में या अन्यत्र झूठी गवाही देते हैं या सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा सिद्ध करते हैं। न्यायी को अन्यायी और अन्यायी को न्यायी बना देते हैं। किन्तु जब सच्चा मनुष्य झूठा बन जाता है तो उसकी आत्मा को बड़ा ही क्लेश होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी वह अपघात भी कर लेता है। यह कूटसाक्षीमृषावाद इस प्रकार अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाला है। जब सत्य बात प्रकाश में आती है * तो असत्य साक्षी देने वालों को राजदण्ड और पंचदण्ड तथा अपयश आदि अनेक संकट भोगने पड़ते हैं। अतः महापाप का कारण और दोनों भवों में दुःखदाता जान कर श्रावक झूठी गवाही देने का त्याग करते हैं।

इस प्रकार इन पाँच तरह के झूठों में प्रायः सभी स्थूल झूठों का समावेश हो जाता है। श्रावक इसका प्रत्याख्यान पहले व्रत की तरह दो करण तीन योग से करते हैं। उनके लिए सिर्फ अनुमोदन खुला रहता है। इसका कारण यह है कि गृहस्थ को कभी-कभी इस प्रकार के असत्यों से भी प्रसन्नता का अनुभव होता है। उदाहरणार्थ—'तुम्हारी भोली कन्या का सम्बन्ध प्रपंच करके अच्छी जगह कर दिया है, फलां मकान या खेत अच्छी कीमत में बेच दिया है, झूठी साक्षी दिलवा कर तुम्हारे पुत्र को छुड़वा दिया है, धरोहर रखने वाला मर गया है और उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं है, इत्यादि बातें सुन कर मन में खुशी आ जाती है। मगर इससे भी अपने आपको बचाने का सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए।

---

* *पाप छिपाया ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग।*
दाबी दूबी नहीं रहे, रुई लपेटी आग॥

अर्थात—जैसे रुई में अंगार छिपाया नहीं छिपता है, उसी प्रकार पाप भी छिपाने से नहीं छिप सकता।

दूसरे व्रत के पाँच अतिचार

●

(१) सहसब्भक्खाण—विना सोचे-समझे किसी पर झूठा कलंक चढ़ा देना दूसरे व्रत का अतिचार है। जैसे कौवा हृष्ट-पुष्ट पशु को देखकर दुखी होता है, क्योंकि वहाँ उसे खाने को कुछ नहीं मिलता है, उसी प्रकार दोषगवेषी लोग, ज्ञानी, गुणी, ब्रह्मचारी, शुद्धाचारी, श्रीमान्, बुद्धिमान्, तपस्वी, क्षमावान् आदि सत्पुरुषों को देखकर, उनकी कीर्ति एवं महिमा को सुनकर सहन नहीं कर सकते हैं, अतः उन पर मात्सर्य भाव धारण करते हैं। सत्पुरुषों के सदाचरण को देखकर लोग दुर्गुणियों के दुर्गुणों के ज्ञाता बन जाते हैं। इससे दुराचारियों एवं कुकर्मियों के कृत्यों में विघ्न खड़ा होता है। तब वे उनके गुणों को आच्छादित करके अपना इष्ट साधने के लिए उन पर मिथ्या कलंक चढ़ाने के लिए कहते हैं—हम इन्हें खूब जानते हैं। यह ब्रह्मचारी कहलाते हैं पर गुप्त रूप से व्यभिचार का सेवन करते हैं, तपस्वी कहलाते हैं मगर छिपे-छिपे मौज उड़ाते हैं। ऊपर से क्षमावान् दिखाई देते हैं किन्तु भीतर क्रोध की ज्वालाएँ जल रही हैं। बाहर से शुद्धाचारी मालूम होते हैं, भीतर पोल ही पोल है। वाक्याडम्बर से पण्डित मालूम होते हैं, पर मैंने परीक्षा करके देख लिया है, कुछ भी नहीं जानते। इस प्रकार मिथ्यादोषारोपण करके ज्ञानी, गुणी पुरुषों की, सन्तों की, सतियों की निन्दा करके कठिन कर्मों का बन्ध करते हैं। उस बाँधे हुए कर्म के फल-स्वरूप वे इस लोक में तथा परलोक में वैसे ही कलंकों से कलंकित होते हैं, जैसे कलंक दूसरों पर उन्होंने लगाये थे। ऐसा भगवतीसूत्र के पाँचवें शतक के छठे उद्देशक में कहा है। इसके अतिरिक्त उन्हें मुख सम्बन्धी अनेक रोग भोगने पड़ते हैं। वे नरक-तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों में चिरकाल तक भटकते हैं। यह अतिचार ऐसे चिकने कर्मों के बन्ध का कारण है। ऐसा जानकर आत्मसुखार्थी श्रावक इसका परित्याग करते हैं।

(२) रहस्याभ्याख्यान—अर्थात् गुप्त बात को प्रकट करने से भी अतिचार लगता है। प्रत्येक छद्मस्थ भूल का पात्र है। वीतराग भगवान् के

सिवाय मनुष्य मात्र में सद्गुण और अवगुण—दोनों पाये जाते हैं। अपनी-अपनी धोती में सभी नंगे होते हैं। अर्थात् वीतराग के सिवाय कोई विरला ही होगा जिसमें कुछ दुर्गुण न हों। मगर दुर्गुणी मनुष्य अपने दुर्गुणों की ओर तो लक्ष्य नहीं देता है, दूसरों के छिद्र खोजता है, दूसरों के अवगुण ग्रहण करता है और लड़ाई-झगड़ा हो जाने पर उसकी तथा उसके कुटुम्बियों की लघुता प्रकट करने के लिए उनके दोषों का बखान करने लगता है। वह कहता है—मेरे सामने क्या ऊँची नाक करके बोलता है! हम तुझे और तेरे बाप-दादा को अच्छी तरह जानते हैं। अमुक अकार्य करने वाला तू ही तो है! इस प्रकार के शब्द सुनकर वह बेचारा लज्जित हो जाता है। उसके हृदय को तीव्र आघात लगता है और कभी-कभी तो आत्मघात करने की भी नौबत आ जाती है।

इसके अतिरिक्त कोई दो व्यक्ति एकान्त में बात-चीत करते हों। उन्हें देखकर या उनकी अंगचेष्टा आदि देखकर उन पर शंका कर के राजा से चुगली कर दे कि—'अमुक आदमी राजद्रोह की बातें कर रहे हैं।' ऐसा करने से वे पकड़े जाते हैं और दुखी होते हैं। इसी प्रकार मित्रों के पारस्परिक प्रेम को भंग करने के अभिप्राय से इधर-उधर चुगली करके झगड़ा करा देते हैं। इस तरह अनेक तरीकों से दुष्ट जन दूसरों की गुप्त बातें प्रकट करके निन्दा करते हैं, अपमान करते हैं, फजीहत करते हैं, झगड़ा कराते हैं। ऐसे लोग भी कठोर कर्मों का बन्ध करते हैं। दोनों भवों में दुःख पाते हैं। ऐसा जानकर श्रावक जन सब को आत्मोपम अर्थात् अपने समान जान करके 'सागरवरगम्भीरा' बनते हैं। अर्थात् उनके जानने, सुनने या देखने में किसी की कोई गुप्त बात आ गई हो तो वे कदापि मुख से बाहर नहीं निकालते हैं। इस प्रकार सच्चा श्रावक वही है जो किसी की गुप्त बात को प्रकट करके उसे दुःख नहीं पहुँचाता।

(३) स्वदारमन्त्रभेद—अर्थात् अपनी स्त्री के मर्म को प्रकाशित करे तो अतिचार लगता है। स्त्री के हृदय में बात कम टिकती है। वह अपने प्यारे पति पर विश्वास करके उसके समक्ष अपना हृदय खोल देती है। ऐसी

स्थिति में स्त्री की कोई अयोग्य बात अगर पति किसी दूसरे के सामने प्रकाशित कर दे और स्त्री को इसका पता लग जाय तो उसे मार्मिक वेदना होती है। स्त्री का हृदय इतना कोमल होता है कि वह अपने रहस्यभेद को सहन नहीं कर सकती और कदाचित् अपघात भी कर लेती है। इस प्रकार का अनर्थ समझ कर श्रावक अपनी पत्नी की कही हुई बात दूसरे के आगे कदापि प्रकट नहीं करता। इसी प्रकार पत्नी को भी चाहिए कि कदाचित् मोहाधीन होकर पति ने अपनी कोई गुप्त बात कह दी हो तो वह किसी के सामने उसे प्रकट न करे। कदाचित् कोई मित्र या प्रेमी स्वजन अपनी कोई रहस्यमय बात कह दे तो उसे भी प्रकाशित कर देना उचित नहीं है। ऐसा करने से श्रावक की महत्ता को कलंक लगता है।

उक्त तीनों अतिचारों के त्याग का मुख्य आशय यही है कि यथाशक्ति गुणवानों के गुणों का आदर करना चाहिए, गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए, किन्तु किसी के दुर्गुणों को भूलकर भी प्रकट नहीं करना चाहिए।

(४) मृषोपदेश—अर्थात् झूठा उपदेश देना। जैसे—हिंसा आदि पाँच आस्रवों का उपदेश देना, अष्टांग निमित्त का उपदेश देना, मन्त्र, तन्त्र आदि का उपदेश देना, हिंसाकारी यज्ञ-हवन आदि का उपदेश देना, स्नान करने का, फल-फूल आदि तोड़ने का उपदेश देना, हिंसामय धर्म का, दया अनुकम्पा को उठाने का, चारों तीर्थों की विनय-भक्ति को विच्छिन्न करने का उपदेश देना, गरीबों-अनाथों को अन्न-वस्त्र आदि देकर साता पहुँचाने में पाप बतलाना, क्लेश-उत्पादक और क्लेशवर्धक उपदेश देना, पुत्र, पिता, स्त्री, पति, सेठ, नौकर, भाई-भाई आदि में विरोध पैदा करने वाला उपदेश देना, स्त्रीकथा, राजकथा, देशकथा, भोजनकथा, चोरकथा, जारकथा इत्यादि विकथाएँ करना, प्रपंच रच कर दूसरों को ठगने या पराजित करने की युक्ति बतलाना, सम्मति देना, आदि-आदि अनेक प्रकार से मिथ्या उपदेश देना मृषोपदेश कहलाता है। जिसके उपदेश से आरम्भ और क्लेश आदि निष्पन्न होता है, वह भी उस पाप का भागी बनता है। अतएव निरर्थक बातें बनाने का, श्रावक को अधिकार नहीं है। प्रयोजन होने पर

प्रामाणिक, सत्य, निर्दोष वचन उच्चारण करके * अपनी आत्मा को पाप से बचाने वाले ही सच्चे श्रावक कहलाते हैं।

(५) कूटलेखकरण—अर्थात् झूठा लेख लिखना भी अतिचार है। कितने ही लोग लालच में पड़कर भोले लोगों को लूटने के लिए या अदा-

---

** बोलने के विषय में श्रावक को आठ गुण धारण करने चाहिए:—*

(१) अधिक बोलने से प्रतिष्ठा नहीं रहती, इसलिए बहुत अर्थ वाले थोड़े शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

(२) थोड़ा बोलने में भी अमनोज्ञ शब्दों का प्रयोग न करे। थोड़े-से अमनोज्ञ वचन भी दुःखदाता और निन्दाकारक हो जाते हैं, अतः श्रावक इष्ट, मिष्ट और पथ्य वचन ही बोले।

(३) मिष्ट वचनों को बोलते समय भी अवसर का खयाल रक्खे। विना अवसर की अच्छी बात भी बुरी लगती है, जैसे विवाह के समय कोई 'राम नाम सत्य है' कह दे तो लोग लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं। इसके विरुद्ध अवसर के अनुकूल कही हुई बुरी बात भी भली लगती है। स्त्रियाँ जमाई या सम्बन्धियों को गाना गाकर बुरी-बुरी गालियाँ सुनाती हैं, फिर भी लोग प्रसन्न होते हैं। अतएव श्रावक अवसर देख कर बोले।

(४) अवसरोचित भी चतुराई से बोले। वाक्चातुर्य से बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं को और बड़ी-बड़ी सभाओं को प्रभावित एवं आकर्षित किया जा सकता है, अतएव श्रावक चतुराई के साथ बोले।

(५) चतुराई से तो बोले, किन्तु अपने मुख से अपनी श्लाघा करने से लघुता प्रकट होती है और दूसरे के गुणों की प्रशंसा करने से अपने गौरव की वृद्धि होती है। इसलिए आत्मप्रशंसा न करे, अभिमानरहित होकर बोले।

(६) अभिमान-रहित तो बोले किन्तु मर्मवेधी वचन दूसरों को अनिष्ट होते हैं। ऐसे वचन बोलने वाले को शहद की छुरी कहते हैं। अतः किसी के मर्म (दुर्गुण) को प्रकाशित न करे।

(७) मर्म-वेधी वचन न बोलते हुए भी, जो कुछ बोले शास्त्र की साक्षी से बोले, क्योंकि ऐसे वचन सर्वमान्य और प्रतिष्ठापात्र होते हैं।

(८) शास्त्र की साक्षी से बोलता हुआ भी अवसर देखकर सब को साताकारी होने वाले वचन बोले। किसी के दिल को चुभने वाली बात मुख से न कहे।

वत के कारण विरोधी को फँसाने के लिए दगाबाजी करते हैं। जैसे-सौ के आगे एक बिन्दी लगाकर हजार बना देते हैं। अन्य के अक्षरों जैसे अक्षर बना कर झूठी चिट्ठी, हुँडी आदि लिख लेते हैं, झूठे रुक्के या खत बनाते हैं, गरज वाले को एक सौ रुपये देकर दो सौ लिखवा लेते हैं और फिर उसे फँसा कर दो सौ वसूल करते हैं, लाँच-रिश्वत देकर झूठी गवाही खड़ी करते हैं, इत्यादि अनेक प्रकार से झूठे लेख लिख कर झूठे झगड़े खड़े करते हैं। जिसके विरुद्ध ऐसी कारवाई की जाती है, उसे जब इस प्रपंच की बात मालूम पड़ती है तो वह दहशत खा जाता है, उसे बड़ी भयानक वेदना होती है, मगर बेचारा निरुपाय हो कर, अपनी आबरू बचाने के लिए जेवर कपड़े मकान आदि बेच कर या गिरवी रखकर किसी प्रकार चुकाता है। ऐसी आपदा में फँस कर कितनेक लोग तो प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। कदाचित् यह दगाबाज़ी प्रकट हो जाती है तो उस दगाबाज़ की, धन की और प्रतिष्ठा की जबर्दस्त हानि होती है। ऐसे अकृत्य से, अनीति से उपार्जित किया हुआ धन भी अधिक समय तक नहीं ठहरता है।

इस प्रकार दूसरे व्रत के अतिचारों को समझ कर विवेकशील श्रावक उनसे सदैव बचते रहने का प्रयास करे और अपने व्रत को दृढ़ता के साथ निर्दोष रूप में पालन करे।

असत्य भाषण के मुख्य कारण



यों तो असत्य भाषण करने के कारणों की गिनती नहीं की जा सकती, मगर मुख्य-मुख्य कारणों पर विचार किया जाय तो वे चौदह हैं। इन चौदह कारणों में ही प्रायः सब का समावेश हो जाता है। चौदह कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) क्रोध—क्रोध में मनुष्य पागल हो जाता है। क्रोध का जब तीव्र आवेश होता है तो क्रोधी को उचित-अनुचित का अथवा सत्य और असत्य का भान नहीं रहता। उस अवस्था में क्रोधी ऐसे भयानक असत्य का उच्चारण कर देता है, जिससे कभी-कभी पंचेन्द्रिय जीव का भी घात

हो जाता है। अतएव जो असत्य से बचना चाहता है, उसे क्रोध से बचते रहने का सदा प्रयत्न करना चाहिए।

(२) अभिमान—मनुष्य अभिमान के कारण भी असत्य बोल देता है। जब किसी के हृदय में अभिमान प्रचंड होता है तो वह कहता है- मेरे समान इस संसार में कोई 'भूतो न भविष्यति।' अर्थात् न कोई हुआ है, न होगा।

(३) कपट—मायाचार या दगाबाजी तो झूठ का मूल ही है।

(४) लोभ—लोभ के अधीन होकर व्यापारी, ब्राह्मण और यहाँ तक कि नामधारी साधु भी झूठ बोलने लग जाते हैं।

(५-६) राग-द्वेष—यह हैं तो दो दुर्गुण, मगर दोनों एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। जहाँ राग है वहाँ द्वेष अवश्य रहता है। किसी एक वस्तु पर जब राग उत्पन्न होता है तो उससे भिन्न या उसकी विरोधी वस्तु पर द्वेष आ ही जाता है। यह दोनों दोष जीवन में व्यापक रूप से रहते हैं। बच्चे को खिलाते हुए राग के कारण असत्य भाषण किया जाता है और द्वेष के वश होकर शत्रु पर झूठा कलंक चढ़ाने में संकोच नहीं किया जाता।

(७) हास्य—हँसी-मजाक में, गप्पें मारते हुए झूठ बोला जाता है।

(८) भय—डर के कारण राजा के, स्वामी के या अधिकारी के समक्ष अपने अकृत्य को छिपाने के लिए झूठ बोला जाता है।

(९) लज्जा—लाज-शर्म के वश होकर अपने कुकर्म को छिपाने के लिए झूठ बोला जाता है।

(१०) क्रीड़ा—क्रीड़ा के वश होकर स्त्री आदि के सामने झूठ बोला जाता है।

(११) हर्ष—हर्षोत्साह के कारण उत्सव आदि के प्रसंगों पर असत्य बोला जाता है।

(१२) शोक—वियोग आदि के अवसर पर शोक के कारण झूठ बोला जाता है।

(१३) दाक्षिण्य—अपनी चतुरता दूसरों को बताने के लिए वकील आदि झूठ बोलते हैं।

(१४) बहुभाषण—आवश्यकता से अधिक-बहुत बोलने से भी झूठ बोला जाता है।

श्रावक जन प्रथम तो इन चौदह कारणों के वशीभूत नहीं होते हैं। वे प्रत्येक स्थिति में मर्यादा का ध्यान रखते हैं। कदाचित् वशीभूत हो जाएँ तो भी झूठ नहीं बोलते हैं।

कितने ही वचन यथार्थ होते हुए भी सत्य नहीं—असत्य सरीखे ही होते हैं। जैसे—अन्धे को अन्धा कहना, काने को काना कहना, कुष्ठ रोगी को कोढ़िया कहना, नपुंसक को नामर्द, हीजड़ा कहना, चोर को चोर कहना, जार को जार कहना, लबार को लबार कहना, गोले को गोला कहना, विधवा स्त्री को रांड कहना, बन्ध्या को बाँझड़ी कहना। इत्यादि वचन कुछ हिस्सों में सत्य होते हैं, तथापि मनुष्यों को दुःखप्रद होने के कारण भगवान् ने उन्हें असत्य कोटि में ही रक्खा है। अतएव श्रावक को ऐसे वचन बोलना उचित नहीं है। *

सत्य का फल

झूठ बोलने वाले के सब सद्गुण लुप्त हो जाते हैं। झूठे आदमी की प्रतीति नहीं रहती। वह चाहे सत्य ही बोल रहा हो, फिर भी कोई उस पर

---

* न सत्यमपि भाषेत, परपीडाकारकं हि यत्।
लोकेऽपि श्रूयते यस्मात्, कौशिको नरकं गतः॥

जो वचन दूसरे को पीड़ाकारक हो, वह सत्य हो तो भी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि लौकिक शास्त्रों में भी सुना जाता है कि कौशिक मुनि दुःखदायक वचन बोलने के कारण नरक में गये।

विश्वास नहीं करता। झूठे के मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, विद्या, औषध आदि फलित नहीं होते हैं। झूठे को कभी-कभी अकालमृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। झूठे को लोग गप्पी, लबार, लुच्चा, बदमाश, ठग, धूर्त आदि कुनामों से सम्बोधन करते हैं। इत्यादि अनेक दुर्गुणों और अनर्थों का भागी इसी लोक में बनना पड़ता है। परलोक में भी उसकी दुर्दशा होती है। झूठा मर कर मूक, बोबड़ा, कडुभाषी, तोतला, गूँगा, दुर्गन्धित मुख वाला और अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त होता है। वह प्रायः एकेन्द्रिय जाति में उत्पन्न होता है। नरक में जाय तो वहाँ परमाधामी देव उसके मुख में काँटे ठूँसते हैं, कटारी घुसेड़ते हैं, जीभ खींच कर निकाल लेते हैं। इत्यादि झूठ के दुःखप्रद फल समझ कर सुज्ञ जनों को झूठ बोलने का सर्वथा परित्याग कर देना ही उचित है।

सत्य का फल



सत्य की महिमा अपार है। सत्यवान् की ओर सब सद्गुण आकर्षित होकर चले आते हैं। सत्यवादी सब का विश्वासभाजन होता है। कृत धर्म का सच्चा फलदाता सत्य ही है। 'सत्य की बन्धी लक्ष्मी फिर मिलेगी आय' इस कथन के अनुसार सत्य ही लक्ष्मी का निवास स्थान है। जो सत्य-निष्ठ है, उसके समस्त कार्य अनायास और शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं।*

* अथर्वणवेद के माण्डूक्योपनिषद् में कहा है कि:—

सत्यमेव जयते, नानृतम्।

अर्थात्—विजय सत्य से ही होती है, असत्य से नहीं।

नास्ति सत्यसमो धर्मो, न सत्याद्विद्यते परम्।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते ॥

—महाभारत, आदि पर्व।

अर्थात्—जगत् में न तो कोई धर्म सत्य के समान है और न सत्य से बढ़ कर है इसी प्रकार असत्य से बढ़ कर कोई बड़ा पाप ही इस संसार में विद्यमान है—असत्य अत्यन्त तीव्र पाप है।

सत्य के प्रभाव से भयंकर रोग भी नष्ट हो जाते हैं। सत्य के प्रभाव से संग्राम में तथा संवाद में भी विजय की प्राप्ति होती है। सत्यवान् को मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, विद्या और औषध आदि तत्काल फलित होते हैं। सत्यवादी सदा निश्चिन्त रहता है। उसे किसी से मुँह नहीं छिपाना पड़ता। सत्यवान् का कथन नरेन्द्र-सुरेन्द्र आदि को भी मान्य होता है। जो अन्तःकरण में सत्य को ही स्थान देता है, उससे बड़े-बड़े पुरुष, यहाँ तक कि उसको अपना शत्रु मानने वाले भी सम्मति माँगते हैं। सत्य में ऐसी शक्ति है कि शत्रु भी सत्यवान् के वशीभूत हो जाते हैं। सत्य का सेवक इसी लोक में देवेन्द्रों और नरेन्द्रों का पूज्य बन जाता है और भविष्य में इष्ट, मिष्ट, प्रिय, आदेय वचन वाला और स्वर्ग तथा मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

तीसरा अणुव्रत—स्थूल अदत्तादानविरमण

●

साधु सर्वथा प्रकार से अदत्तादान के त्यागी होते हैं, मगर गृहस्थ के लिए ऐसा करना कठिन है, क्योंकि तृण, कंकर, धूल आदि जैसी चीजें ग्रहण करते समय गृहस्थ किसी की आज्ञा की दरकार नहीं करते। मोल लाई हुई वस्तु कदाचित् देने वाले की निगाह चूक जाने से अधिक आ जाय तो वापिस लौटाने कौन जाता है? इस प्रकार संसार सम्बन्धी कामों में सहज ही चोरी का दोष लग जाता है। ऐसी साधारण चोरी यद्यपि लोकविरुद्ध नहीं गिनी जाती है तथापि धर्मविरुद्ध तो है ही। इससे जितना बचाव हो सके उतना ही अच्छा, नहीं तो निम्नोक्त पाँच प्रकार से बड़ी चोरी करने का प्रत्याख्यान तो श्रावक को अवश्य करना चाहिए:—

(१) सेंध लगाकर—गृहस्थों को धन प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है। धनपति लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार धन का संरक्षण करने का ऐसा उपाय करते हैं कि वह उनके पास से कहीं भी चला न जाय। कोई धन को जमीन में गाड़ देते हैं, कोई तिजोरी में बन्द कर देते हैं, पहरा और

चौकी लगवाते हैं, स्वयं जागते रहते हैं। इत्यादि अनेक प्रयत्न करके उसकी रक्षा करते हैं। पर अन्याय से धन कमाने वाले चोर-डाकू आदि धनवानों के दुःख और शोक की परवाह नहीं करते। वे कुदाल, कोश आदि लेकर, भींत आदि फोड़ कर, दरवाजा आदि तोड़ कर, दीवार फाँद कर, गुप्त रूप से रक्खे हुए धन के पास किसी तरह पहुँच जाते हैं और उस धन को निकाल ले जाते हैं। जब धनवान् को इसका पता लगता है तो उसका दिल बैठ जाता है। वह विलाप करता है, हाय हाय करता है, सन्ताप करता है और दुःख से पीड़ित होता है। कितने ही लोग तो प्राण भी छोड़ देते हैं। संयोगवश चोर अगर पकड़ा जाता है तो उसको कारागार भुगतना पड़ता है, मार-पीट, ताड़ना-तर्जना, भूख-प्यास आदि अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। कभी-कभी इन भयानक कष्टों के कारण अकालमृत्यु का भी ग्रास बनना पड़ता है और फिर नरक की असीम वेदनाओं का पात्र बनता है। इस प्रकार चोरी का काम दोनों लोकों में दुःखप्रद है, ऐसा जान कर श्रावक चोरी के कार्यों का परित्याग करता है।

(२) गठड़ी छोड़कर—ग्रामान्तर या देशान्तर में जाते समय तथा चोर आदि से बचाने के लिए अपने प्राणों से प्यारे द्रव्य को नौली, डब्बा, गठड़ी, सन्दूक, पिटारे आदि में रख कर, अपने पड़ौसी, मित्र, साहूकार या सम्बन्धी पर विश्वास लाकर, उनके पास रख देते हैं। फिर वे पड़ौसी आदि उस धन के लालच में फँसकर, नौली आदि को फाड़ कर, तोड़ कर उसमें से धन निकाल लेते हैं और आप साहूकार बने रहने के लिए, उसमें खराब माल भर देते हैं और फिर ज्यों का त्यों उसे जोड़ देते हैं। रखने वाला जब माँगने आता है तो उसे सौंपते हुए अपनी साहूकारी जतलाने के लिए कहते हैं—देख भाई, अच्छी तरह सम्भाल ले। बाद में हम जिम्मेदार नहीं होंगे। वह बेचारा भोला उनके प्रपंच को नहीं समझ पाता। उन पर विश्वास करके, ऊपर-ऊपर से देखकर, खोले बिना ही घर ले जाता है। बड़ी उमंग के साथ घर पहुँच कर उसे खोल कर देखता है। जब अपना रक्खा माल उसमें नहीं पाता तो उसे ऐसी व्यथा होती है, जैसे किसी ने

कलेजे में छुरी भौंक दी हो! गृहस्थ को एक पाई की हानि होती है तो भी उसकी अन्न पर से प्रीति उतर जाती है। तो फिर सारी जिन्दगी का आधार भंग हो जाने पर उसे कितनी दुस्सह वेदना होती होगी? इस प्रश्न पर आप अपने अनुभव से ही विचार कीजिए। यह चोरी का काम घोर विश्वास-घातमय और महापातकपूर्ण है, ऐसा जान कर श्रावक इसका त्याग करता है।

(३) वाट पाड़कर—तात्पर्य यह है कि कितने ही अनीति और अत्याचार-पूर्वक द्रव्य उपार्जन करने वाले लोग अपने जैसे लोगों की टोली बना लेते हैं। वे जंगल आदि विषम स्थानों में रहते हैं और राहगीरों को शस्त्र से डरा-धमका कर, मार-पीट कर, लूट-खसोट करते हैं। इसी प्रकार कितने ही दुस्साहसी लुटेरे खेतों में, ग्रामों में, बाजारों में या घरों में लूट मचा देते हैं। कितनेक तो धनी की निगाह बचा कर, जेब कतर लेते हैं और रुपया-पैसा या जेवर निकाल देते हैं। कहाँ तक कहा जाय, कोई-कोई नृशंस लोग तो जेवर के लालच में पड़ कर अपनी मनुष्यता को तिलांजलि दे बैठते हैं और एकदम पैशाचिक वृत्ति धारण करके अबोध शिशुओं को मार डालते हैं। अचानक किसी गाँव में पहुँच कर डाका डाल देते हैं। अनेक स्त्रियों और पुरुषों के प्राण ले लेते हैं। इस प्रकार अनेक तरीकों से निर्दय कृत्य करके लूट-खसोट करते हैं। ऐसे लोग जब पकड़ में आते हैं और चंगुल में फँस जाते हैं तो फाँसी पर चढ़ाये जाते हैं। धन के साथ प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। वही धन उनकी मौत का कारण बनता है। परभव में वे दुर्गति के दुस्सह दुःख भोगते हैं। ऐसे कृत्य को घोर अनर्थ का कारण जान कर श्रावक उससे दूर ही रहते हैं।

(४) ताले में कूँची लगा कर—अर्थात् कोई मनुष्य अपने घर, भंडार, कोठार, दुकान, तिजोरी, सन्दूक आदि पर ताला लगा कर अपने किसी विश्वासपात्र मनुष्य को उसकी कूँची (चाबी) सौंप देते हैं। फिर कूँची सम्भा-लने वाला धन के लोभ में फँस कर, उसकी गैरमौजूदगी में, उसी कूँची से वह ताला खोल कर माल निकाल लेता है और फिर ज्यों का त्यों ताला

बन्द कर देता है। इसी प्रकार कितनेक मुनीम, गुमाश्ते, पड़ौसी वगैरह या उसी मकान में रहने वाले लोग मालिक की गैरमौजूदगी में, ताले में लगने वाली दूसरी चाबी लाकर उससे अथवा कील आदि से ताला खोल डालते हैं। घर में से सार-सार माल निकाल लेते हैं और फिर जैसे का तैसा ताला बन्द कर देते हैं। जब घर का मालिक आता है और अपनी रक्खी हुई वस्तुएँ घर में नहीं पाता है तब चिन्ता में पड़ जाता है। मगर वह करे तो क्या करे ? किसका नाम ले ? कदाचित् वह समझ जाय और किसी का नाम भी लेवे तो चोरी करने वाला क्यों कबूल करेगा ? इस प्रकार विश्वास-घात करने वाले चोरी के कृत्य इह भव में तथा परभव में बड़े ही दुःखदायी होते हैं। ऐसा जानकर श्रावक इन कर्मों का भी परित्याग करते हैं।

(५) पड़ी हुई वस्तु के धनी को जान करके भी ग्रहण करे, अर्थात् संयोगवश किसी की कोई वस्तु रास्ते चलते गिर पड़ी हो, अथवा कोई कहीं रखकर भूल गया हो और श्रावक की दृष्टि उस पर पड़ जाय और वह जान जावे कि यह वस्तु फलाने की है, तो उसे उठा कर, छिपा कर अपनी बना कर रखना उचित नहीं है। बल्कि उसी वक्त चार मनुष्यों को साक्षी बना कर उस वस्तु को सम्भाल कर रक्खे। जब उसका मालिक आवे तो उसे सौंप देवे। कदाचित् मालिक का पता न लगे तो उस वस्तु का जितना द्रव्य प्राप्त हो, वह सब धर्म के कार्य में लगा दे।

उक्त पाँचों प्रकार की चोरी करने वाले लोग राजदण्ड के पात्र होते हैं, लोकनिन्दा के पात्र बनते हैं और मर कर नरक के दुस्सह दुःखों के पात्र बनते हैं। चोरी का कार्य लोक-विरुद्ध है और धर्मविरुद्ध है, ऐसा जानकर श्रावक इस प्रकार की चोरी का सर्वथा परित्याग कर देते हैं।

तीसरे व्रत के पाँच अतिचार



(१) तेनाहडे (स्तेनाहृत)-अर्थात् चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु को ग्रहण करना पहला अतिचार है। कितने ही लोग चोरी के कर्म का तो त्याग कर

देते हैं, किन्तु बहुत मूल्य का माल अल्प मूल्य में मिलता देख कर, उसे चोरी का माल समझ लेते हैं, फिर भी सोचते हैं कि मैं ने तो चोरी करने का त्याग किया है, घर आया माल कीमत देकर ले लेने में क्या हर्ज है? और इस प्रकार अपने मन को तसल्ली देकर उस माल को खरीद लेते हैं। मन ही मन बहुत प्रसन्न होते हैं कि आज अच्छी कमाई हुई। उस समय उन्हें यह विचार नहीं आता कि अगर यह बात प्रकट हो जायगी तो दुगुना चौगुना द्रव्य खर्च करने पर भी इज्जत की रक्षा करना कठिन हो जायगा। कोई-कोई तो धृष्टता करके कह देते हैं कि हमें कैसे पता चले कि यह माल चोरी का है। मगर वे यदि लालच के पर्दे को हटा कर आँख खोल कर देखें कि सौ रुपये का माल पचहत्तर रुपये में क्यों मिल रहा है, तो उन्हें पता लगे विना नहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त चोर की आँखें और बोली भी छिपी नहीं रहती। विवेकी श्रावक लालच में न फँसते हुए चोरी का माल लेना चोरी करने के समान ही समझ कर उसका परित्याग कर देते हैं।

(२) तस्करप्रयोग—अर्थात् चोर को चोरी करने में सहायता देना। यह भी चोरी का अतिचार है।* कितनेक लोभी चोरी का माल लेने में

---

* प्रश्नव्याकरण सूत्र में चोर की १८ प्रसूतियाँ कही हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) चोर से कहा कि मुझे अपने में शामिल समझो। मैं समय पर तुम्हारी सहायता करूँगा। (२) चोर की सुख-साता पूछना (३) उंगली आदि से चोरी करने का स्थान बतलाना (४) पहले साहूकार बन कर राजा या सेठ आदि का स्थान देख आना और फिर चोर को वह स्थान बतलाना। (५) चोर को छिपने का स्थान बतलाना (६) चोर को पकड़ने वाले आवें तो चोर पूर्व में गया हो तो पश्चिम में बतलाना और पश्चिम में गया हो तो पूर्व में बतलाना (७) चोर को रहने के लिए मकान देना, बैठने के लिए आसन देना और सोने के लिए बिस्तर आदि देना (८) चोर कहीं पड़कर या गोली आदि के घात से घायल हो गया हो तो उसे घर पहुँचाने के लिए अश्व आदि वाहन देना (९) चोर की घर जाने की शक्ति न हो तो अपने घर में छिपा कर रखना (१०) चोर का माल खरीदना (११) चोर का सत्कार करने के लिए उसे ऊँचे स्थान पर ऊँचे आसन पर बिठलाना (१२) घर में हो फिर भी पकड़ने वाले से 'नहीं है' ऐसा कह देना (१३) घर आये चोर को आहार, पानी, वस्त्र आदि देकर साता उपजाना और साथ में भाता (मार्ग में खाने के लिए भोजन) रख देना (१४) चोर को

अधिक लाभ समझ कर, उसे प्राप्त करने के लिए चोर को चोरी करने का उपाय बतलाते हैं, उसे खान-पान, शस्त्र-मकान आदि आवश्यक साधन देते हैं। चोर से कहते हैं—डरो मत। बेधड़क होकर चोरी करो। हम तुम्हारा सब माल ले लेंगे। कभी किसी प्रकार का संकट आ पड़ेगा तो तुम्हें यथोचित सभी प्रकार की सहायता देंगे। इत्यादि प्रकार से चोर को उकसाते हैं। ऐसे लोग भी चोर कहलाते हैं। वे भी राजदण्ड आदि के पात्र होते हैं। श्रावक ऐसे कृत्यों को अनुचित समझ कर उनका परित्याग कर देते हैं।

(३) विरुद्धरज्जाइकम्मे—अर्थात् राजा या राज्य के विरुद्ध कार्य करे तो अतिचार लगता है। राजा राष्ट्र के कल्याण के लिए या प्रजा के सुख के लिए जो नियम (कानून) बनाता है, उनका पालन करना प्रजा का कर्त्तव्य है। अगर कोई ऐसे नियमों का उल्लंघन करता है तो उसे तीसरे व्रत का अतिचार लगता है। उदाहरणार्थ—राजा ने प्रजा का अहित समझ कर मदिरा आदि किसी वस्तु का व्यापार करने की मनाई कर दी, अथवा किसी वस्तु को आवश्यकता से अधिक संग्रह करने का निषेध कर दिया तथापि लोभ-लालच से प्रेरित होकर ऐसा व्यापार करना या संग्रह करना चोरी का अतिचार कहलाएगा। इसी प्रकार दो राज्यों की संधि में रह कर, राज्याज्ञा के विरुद्ध इधर की वस्तु ले जाकर उधर बेचना, कर की चोरी करना, राजा के पुत्र, मित्र, सामन्त, चपरासी या किसी भी अन्य कर्मचारी को फुसला कर, रिश्वत देकर राज्याज्ञा के विरुद्ध कार्य करना अथवा कराना, उनमें आपस में झगड़ा उत्पन्न कर देना आदि भी अतिचार है। ऐसा करने वाला

जिस जगह जो वस्तु चाहिए, उस जगह वह वस्तु पहुँचा देना (१५) थक कर आये चोर की तैल आदि से मालिश करना, उष्ण जल आदि से स्नान कराना, गुड़ फिटकड़ी आदि खिलाना, अग्नि से तपाना, घाव पर मरहमपट्टी करना आदि (१६) चोर को भोजन आदि बनाने के लिए अग्नि आदि सामग्री देना (१७) चुराकर लाये हुए धन, वस्त्र, आभूषण, गो, अश्व आदि वस्तुओं को अपने घर में बंदोबस्त के साथ रखना (१८) चोर को सब प्रकार की सुविधा देना।

इस प्रकार चोरी के माल में हिस्सा बंटाने के लिए चोर की सहायता करने वाला भी चोर ही कहलाता है। कानून के अनुसार वह भी चोर के समान सजा का भागी होता है।

कारागार की सज़ा आदि का पात्र होता है, बहुतों का विरोधी और अविश्वासपात्र बनता है, बेइज्जत होता है। इसलिए अपने तथा अपने देश के हित करने वाले कानूनों का श्रावक को कभी भंग नहीं करना चाहिए।

(४) कूटतुलामानोन्मान—अर्थात् खोटा तोल, खोटा माप रखना आदि भी अतिचार है। कितने ही लोभी बनिये अन्याय से धनोपार्जन करने के लिए व्यापार में दगाबाजी और बेईमानी करते हैं। वे दूसरों से माल लेने के लिए बड़े माशा, तोला, सेर, पंसेरी, धड़ा, मन आदि तोलने के बाँट रखते हैं तथा पायली, तपेला, गज, फुट आदि नापने के साधन भी बड़े रखते हैं मगर देने के लिए छोटे रखते हैं और दिखलाने के लिए बराबर रखते हैं। इस प्रकार तीन तरह के बाँट तथा नाप रखकर चालाकी और बेईमानी करते हैं। इसी तरह माल तोलते समय तराजू की डंडी दबा देते हैं, पलड़ा झुका देते हैं, गज को सरका देते हैं, गिनती में गड़बड़ कर देते हैं। ऐसे कुकर्म करके भोले लोगों को तथा गरीबों को छलते हैं। बेचारे गरीब आदमी दिन भर तन तोड़ कठिन परिश्रम करते हैं, तब कहीं चार-छह आने प्राप्त कर पाते हैं। उन्हीं पर उनका सारा कुडम्ब निर्भर रहता है। ऐसे गरीबों को भी जो लोग ठगते हैं वे साहूकार भले कहलाते हों परन्तु हैं कठोर हृदय चोर।* ऐसा विश्वासघाती और घोर जुल्मी धन्धा करने में तात्कालिक कुछ लाभ दीखता है किन्तु परिणाम में बड़ी हानि उठानी पड़ती है। ऐसा करने से

---

* इस समय मिलावटी वस्तुओं का प्रचार बहुत अधिक बढ़ गया है। विदेशी शक्कर में हड्डियों का चूरा मिला होता है। उसे श्वेत और स्वच्छ करने के लिए गाय और सुअर का रक्त छाँट कर धोते हैं। घी में गाय, भैंस, बैल आदि की चर्बी मिलाई जाती है। केसर में गौ की नसों के बारीक चूंथे से बनाकर सूअर की चर्बी और रक्त मिलाया जाता है। मिल के कपड़ों में चर्बी लगाई जाती है। किसी-किसी साबुन में भी चर्बी मिलाई जाती है। इस प्रकार सर्व साधारण के सदा उपयोग में आने वाली वस्तुओं को अपवित्र और भ्रष्ट कर दिया गया है। पैसे के लोभी और शौकीन लोग जाति और धर्म का तनिक भी खयाल न रखते हुए ऐसी अपवित्र वस्तुओं का उपयोग करने में संकोच नहीं करते हैं और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा में निमित्त बनते हैं, जिससे नरक गति के अधिकारी बनते हैं। विचारशील पुरुषों का कर्त्तव्य है कि अपने मन को और अपनी जीभ को वश में रख कर ऐसी धर्मभ्रष्ट करने वाली वस्तुओं का कदापि उपयोग न करें।

जनता में व्यापारियों की प्रतिष्ठा नहीं रहती, जिससे धन्धे का नाश हो जाने का प्रसंग आ जाता है। साथ ही राजदण्ड आदि विपत्तियाँ भी भुगतनी पड़ती हैं। ऐसा जानकर श्रावक जन इस प्रकार के चोरी के सभी कार्यों का परित्याग कर देते हैं।

(५) तत्प्रतिरूपकव्यवहार—अर्थात् सरीखी वस्तु मिलाकर बेचने से भी अचौर्य व्रत में अतिचार लगता है। लालची मनुष्य जिस रूप रंग की बहुमूल्य वस्तु होती है, उसी रूप-रंग की अल्प मूल्य की वस्तु उसमें मिला-कर, बहूमूल्य के भाव में बेचते हैं। हीरा, पन्ना, माणक, मोती आदि में भी ऐसी मिलावट होती है। इनमें की हुई मिलावट को कुशल जौहरी के सिवाय और कौन पहचान सकता है? इसी प्रकार गिरवी रखने वाले रखते कुछ हैं और उन्हें वापिस लौटाते कुछ हैं। बेचारे अपरीक्षक लोग इस बारीकी को समझ नहीं पाते हैं। इसी प्रकार घी में वनस्पति का तेल, मूँगफली आदि का तेल, शक्कर में आटा, दूध में पानी, अच्छे धान्य में खराब धान्य आदि सरीखी वस्तु मिला देते हैं। कितने ही लोग सुपारी आदि पर रंग चढ़ा कर, नये माल में मिला कर नये के भाव बेच देते हैं। कोई-कोई नमूना अच्छा दिखला कर खराब चीज दे देते हैं। इसी प्रकार चोरी की वस्तु का रूप बदल कर, उसे भाँग-तोड़ कर, गला कर या दूसरा रंग चढ़ा कर बेच देते हैं। कोई पशुओं का अंगोपांग छेदन करके रूप पलट कर बेच देते हैं। यह सब बड़ी चोरी कहलाती है। धर्मात्मा श्रावकों को यह सब चोरी के कर्म करना उचित नहीं है, अतः श्रावक इनका त्याग करते हैं।

अचौर्यव्रत के यह पाँच अतिचार हैं। श्रावक का कर्त्तव्य है कि अपने व्रत का निर्मल-निरतिचार रूप से पालन करने के लिए इन अतिचारों से सदैव बचता रहे। जो लोभ-लालच में फँसकर इन अतिचारों का सेवन करके अपने कर्त्तव्य से-धर्म से-च्युत होते हैं, उनका पतन अधिकाधिक होता ही जाता है। वे अतिचारों का सेवन करते-करते अनाचार का भी सेवन करने लगते हैं, जिससे व्रत सर्वथा भंग हो जाता है।

व्यापार में की जाने वाली इस चोरी और दगाबाज़ी ने व्यापार को भी बड़ी हानि पहुँचाई है। जनता में से व्यापारियों का विश्वास दिनों दिन उठता जाता है। और इससे व्यापारियों की प्रतिष्ठा को ही क्षति नहीं पहुँचती है, वरन् उनकी आय को भी क्षति पहुँच रही है। आजकल न्यायालय में न्यायाधीश लंगोटी लगाने वाले का जितना भरोसा करते हैं, उतना कड़े-कंठा पहनने वालों का नहीं करते हैं। यह थोड़ी शर्म की बात नहीं है। अतएव जाति और धर्म की शर्म रख कर तथा पाप से होने वाले भयानक फलों का खयाल करके न्यायोपार्जित द्रव्य में ही सन्तोष धारण करना चाहिए।

कदाचित् दुष्काल आदि का प्रसंग आ जाय और वस्तु बहुत महँगी हो जाय तो श्रावकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने धर्म का चमत्कार बतलाने के लिए ऐसे प्रसंग पर अधिक मूल्य न लेवें। इसी प्रकार दूसरे लोग कितना ही अधिक ब्याज क्यों न लेते हों, मगर श्रावकों को उनकी देखा-देखी नहीं करनी चाहिए, बल्कि साहूकारों में आम तौर से ब्याज का जो दर मुकर्रर हो उससे अधिक ब्याज नहीं लेना चाहिए। प्रति रुपया एक पैसे से अधिक ब्याज तो लेना ही नहीं चाहिए। इस प्रकार सन्तोष धारण करने से लोग समझेंगे कि जैन लोग बड़े दयालु और सदाचारी होते हैं। ऐसे कर्त्तव्य करके धर्म की प्रभावना करना श्रावक का खास कर्त्तव्य है।

इस तीसरे अचौर्याणुव्रत का सम्यक् प्रकार से आराधन करने वाला कदाचित् राजा के भण्डार में अथवा साहूकार की सूनी दुकान में चला जाय तो भी उस पर कोई अविश्वास नहीं करता। वह राजा का और पंचों का माननीय होता है। जगत् में उसकी कीर्ति विस्तार पाती है। वह सब का विश्वासपात्र होता है। उसकी न्याय से उपार्जन की हुई लक्ष्मी बहुत काल तक स्थिर रहती है, वृद्धि पाती है और सुखदायिनी होती है। इस व्रत को पालन करने वाला सदैव निश्चिन्त रहता है। उसके हृदय में दया भगवती का निवास होता है, वह व्रत-प्रत्याख्यान का निर्मल रूप से निर्वाह करता है। अनेक प्रकार के विघ्नों से अपने आपको बचाता है और सन्तोष के प्रताप

से इस लोक में अनेक सुखों का भोक्ता बन कर भविष्य में स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों का भी भोक्ता बन जाता है।

(४) चौथा अणुव्रत—स्वदारसन्तोष

समस्त शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य को समस्त तपों में उत्तम तप बतलाया है। ब्रह्मचर्य में अलौकिक प्रभाव है। ब्रह्मचर्य का प्रताप असीम है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। आत्मा के कल्याण के लिए, मानसिक शक्ति के विकास के लिए और शारीरिक शक्ति को टिकाये रखने एवं विकसित करने के लिए ब्रह्मचर्य से बढ़ कर और कोई उत्तम साधन नहीं है। अतः मनुष्य को जहाँ तक संभव हो, पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। मगर यह आशा नहीं की जा सकती कि प्रत्येक गृहस्थ, साधु की भाँति पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करेगा, क्योंकि मोह का माहात्म्य बड़ा प्रबल है। मनुष्य गति में ही जीव में समस्त कर्मों के सर्वथा क्षय करने का सामर्थ्य होता है और तभी मोहनीय कर्म भी अपनी प्रबल सत्ता मनुष्यों पर आजमाता है।* अर्थात् अन्य गतियों की अपेक्षा मनुष्य गति में मैथुन संज्ञा का उदय अधिक होता है। मनुष्य गति पाकर जीव यदि अपना आपा सम्भाल कर कर्म के वश में न फँसे तो मोक्ष प्राप्ति के अपने अभीष्ट अर्थ को सिद्ध कर सकता है। किन्तु प्रत्येक मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं होती। कोई-कोई शूरवीर, धीर पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं और वे साधुपना धारण कर लेते हैं। फिर भी श्रावक जन अनादि काल के सम्बन्धी कर्मों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करते ही हैं और स्थूल मैथुन का त्याग करके स्वदार-सन्तोषव्रत धारण करते हैं। पंचों की साक्षी से जिस स्त्री के साथ विधिपूर्वक विवाह हुआ हो वह स्वस्त्री कहलाती है और उसके अतिरिक्त अन्य समस्त

---

* नरक गति में भय संज्ञा की प्रबलता, तिर्यञ्चगति में आहार संज्ञा की प्रबलता, देवगति में परिग्रह संज्ञा की प्रबलता और मनुष्यगति में मैथुनसंज्ञा की प्रबलता होती है।

स्त्रियाँ परस्त्री कहलाती हैं। श्रावक अपनी स्त्री में ही सन्तुष्ट रहता है और परस्त्री को माता-बहिन के समान समझता है।

स्वस्त्रीसन्तोषी श्रावक विषयभोग में अत्यन्त आसक्त नहीं बनता। विषयासक्ति से चिकने कर्मों का बंध होता है। विषयों में अतिशय आसक्त होने वाला पुरुष विवेक को भी भूल जाता है और वैसी दशा में गर्मी, प्रमेह आदि अनेक भयंकर रोगों का शिकार बनता है। विषयासक्ति बुद्धि को मन्द कर देती है, बल की हानि करती है। ऐसा जान कर श्रावक रूक्ष वृत्ति धारण करते हैं। वे भली-भाँति जानते हैं कि हजारों वर्षों तक देवांगनाओं के साथ एक बार नहीं*, अनन्त बार भोग भोगे हैं, फिर भी तृप्ति नहीं हुई, तो अब मनुष्य संबंधी अशुचि और अल्पकालीन भोगों से क्या तृप्ति होने वाली है? सन्तोष तो भोगों का त्याग करने से ही हो सकता है। इस प्रकार विचार करके श्रावक सन्तोष धारण करते हैं। वे परस्त्री का तो सर्वथा त्याग करते हैं और स्वस्त्री का भी द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा तथा उद्दिष्टपर्व अर्थात् तीर्थंकरों के पंच कल्याणक की तिथियों में तथा दिन के समय सेवन न करके ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। दिन में स्त्रीप्रसंग करने से निर्बलता, खराब सन्तान की उत्पत्ति, आयु की क्षीणता आदि अनेक हानियाँ होती हैं। द्वितीया, पंचमी आदि तिथियों में स्त्रीप्रसंग करने से कुगति की आयु का बंध होता है।×

---

*वैमानिक देव के २००० वर्ष पर्यन्त, ज्योतिषी देव के १५०० वर्ष पर्यन्त, भवनपति देव के १००० वर्ष पर्यन्त और वाणव्यन्तर देव के ५०० वर्ष पर्यन्त भोग-संयोग रहता है।

×द्वितीया, पंचमी आदि पाँच पर्वों स्थापित करने का कारण इस प्रकार है:— असंख्यात वर्ष की आयु वाले नारक, देव और भोगभूमिज (युगल) मनुष्य की आयु जब छह महीना शेष रहती है तब उनकी आगामी भव की आयु बँधती है। और संख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों की आयु तीसरा भाग शेष रह जाने पर बंधती है। अर्थात् जब उनकी भुज्यमान आयु के दो भाग व्यतीत हो जाते हैं और एक भाग शेष रह जाता है तब आगामी भव की आयु का बंध होता है। कदाचित् इस समय आयु न बंधे तो उस तीसरे भाग के भी दो भाग बीत जाने पर और एक भाग शेष रहने पर आयु बँधती है। यदि

श्रावक एक रात्रि में दूसरी बार भी संभोग नहीं करता; क्योंकि तंदुलवेयालियपइन्ना में कहा है कि एक बार मैथुन-सेवन करने के बाद १२ मुहूर्त्त पर्यन्त योनि सचित्त रहती है। उत्कृष्ट ९००००० संज्ञी मनुष्य और असंख्य असंज्ञी मनुष्यों की उत्पत्ति होती है।❀ दूसरी बार संयोग करने से

उस वक्त भी आयु न बँधे तो फिर शेष रही आयु के तीसरे भाग के शेष रहने पर ही आयु का बन्ध होता है। मानों इसी कारण करुणासागर जिनेन्द्र देव ने तथा आचार्यों ने पाँच पर्वी कायम की हैं, जिससे कि अशुभ आयु का बंध न हो जावे। उदाहरणार्थ-तृतीया और चतुर्थी तिथि के दो भाग गये कि पंचमी का तीसरा भाग आया, षष्ठी और सप्तमी के दो भाग बीते कि अष्टमी का तीसरा भाग आ गया। नौवीं और दशमी बीती कि एकादशी का तीसरा भाग आ गया। द्वादशी और त्रयोदशी के दो भाग व्यतीत हुए कि चतुर्दशी का तीसरा भाग आया। पूर्णिमा और अमावस्या के दिन पाक्षिक पर्व होता है। इन दिनों पर-भव की आयु का बंध होना सम्भव है, अतः सदैव बचे तो ठीक ही है अन्यथा इन दिनों तो अवश्य ही संसार के कार्य से विरक्त होकर दया, शील सन्तोष, सामायिक, पौषध आदि धर्मक्रिया का आचरण करना चाहिए।

❀ *गाथा—मेहुणसरणारूढो, नवलक्खं हणइ सुहुमजीवाणं।*
केवलिणा पणत्तं, सद्दहियव्वं सया कालं॥

इत्थीए जोणीए संभवंति दुइंदियाइ जे जीवा।
इक्को वादुण्णि वा तिण्णि वा, लक्खपुहुत्तं तु उक्कोसं॥

पुरिसेण सह गयाए, तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं।
वेणुगदिट्ठंतेणं तत्तायसिलागएणं च॥

अर्थात्—सर्वज्ञ प्रभु ने कहा है कि स्त्री की योनि में कभी एक, कभी दो, कभी तीन और कभी उत्कृष्ट नौ लाख द्वीन्द्रियादि सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार बाँस की नली में रुई भरी हो और उसमें लोहे की तपी हुई सलाई डाली जाय तो वह रुई जल जाती है, उसी प्रकार स्त्री के साथ पुरुष का सम्बन्ध होते ही वे सब जीव मर जाते हैं। यह कथन सदा श्रद्धान करने योग्य है। और भी कहा है:—

पंचिंदिय मणुस्सा, एगणरभुत्तणारिगब्भंमि।
उक्कोसं नव लक्खा, जायंते एगहेलाए॥

णवलक्खाणं मज्झे, जायइ एगो दुण्हे य सम्मती।
सेसा पुणरामेव य, विलयं वच्चंति तत्थेव॥

—तंदुलवेयालिय।

उन सब का नाश हो जाता है। इसके अतिरिक्त बल और आयु की भी क्षति होती है।

गृहस्थ को सन्तान प्राप्ति के लिए स्त्रीप्रसंग करने की आवश्यकता कही जाती है, अतः निरर्थक बल-वीर्य को नष्ट नहीं करना चाहिए और अधिक से अधिक संयम का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। अधिक स्त्रीसंभोग करने से पुत्र की उत्पत्ति न होने की भी संभावना रहती है। वेश्या के अधिक सन्तति नहीं होती है, इसका भी यही कारण होना चाहिए। बहुत से श्रीमंतों के यहाँ भी सन्तान का अभाव देखा जाता है, इसके अनेक कारणों में से एक कारण यह भी हो सकता है। अतएव गृहस्थों को जहाँ तक संभव हो, अपने मन को काबू में रख कर संयम का पालन करना चाहिए।

चौथे व्रत के पाँच अतिचार



(१) इत्तरियपरिग्गहियागमणे—अपनी विवाहिता कम उम्र की स्त्री के साथ गमन किया हो। विवाह हो जाने के पश्चात् भी जब तक स्त्री ऋतु-मती न हो तब तक उसके साथ गमन करे तो अतिचार लगता है।

कोई भोगलोलुप ऐसा विचार करे कि मैं ने तो परस्त्री का परित्याग किया है, किन्तु वेश्या किसी पर की स्त्री नहीं है, थोड़ा धन देकर अमुक समय तक परपुरुष से गमन न करे इस प्रकार की व्यवस्था करके वेश्या को अपनी स्त्री बना लूँ तो क्या हर्ज है? इस तरह विचार करके कोई विषयी

अर्थात्—एक बार स्त्री-प्रसंग करने से नौ लाख संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य गर्भ में उत्पन्न होते हैं। उनमें से किसी समय एक, कभी दो और कभी तीन जीव बचते हैं, बाकी के सभी जीव वहीं नष्ट हो जाते हैं।

स्त्रीसम्भोग के पश्चात् बारह मुहूर्त्त तक योनि सचित्त रहती है, अर्थात् उसमें जीवों की उत्पत्ति और मृत्यु होती रहती है। इन बारह मुहूर्त्त में किसी भी गति में से मनुष्य की आयु जिसने बाँधी हो ऐसा जीव उस योनि में आकर उत्पन्न हो सकता है।

पुरुष वेश्या के साथ गमन करे तो उसका व्रत दूषित हो जाता है, क्योंकि जब वेश्या किसी की स्त्री नहीं है तो उसकी भी कैसे हो सकती है ? स्वदार तो वही कहलाती है जिसका पंचों की साक्षी से विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया हो, उससे भिन्न जितनी भी स्त्रियाँ हैं वे सब परस्त्री हैं। जो पुरुष उक्त विचार से वेश्यागमन करता है उसे अनाचार लगता है अर्थात् उसका व्रत भंग हो जाता है।

(२) अपरिग्गहियागमणे—पाणिग्रहण होने से पहले ही, जिस स्त्री के साथ सगाई (वाग्दान) सम्बन्ध हुआ है, उसके साथ गमन करे तो अतिचार लगता है।

(१) कोई ऐसा विचार करे कि मैंने परस्त्री का प्रत्याख्यान किया है, परन्तु यह कुमारिका अभी परस्त्री (दूसरे पुरुष की स्त्री) नहीं हुई है, इसके साथ गमन करने में क्या हानि है ? ऐसा सोच कर कुँवारी के साथ गमन करे तो अनाचार लगता है। क्योंकि अपनी विवाहिता स्त्री से भिन्न सभी स्त्रियाँ परस्त्री ही हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा कुकर्म राज्यविरुद्ध है, जातिविरुद्ध है और अनीतिमय है। कदाचित् गर्भ रह जाय तो जगत् में निन्दा होती है, मुँह दिखलाना कठिन हो जाता है और उस बेचारी कन्या का तो सम्पूर्ण जीवन ही बर्बाद हो जाता है। ऐसे कुकर्म के फलस्वरूप गर्भपात और आत्मघात जैसे भयंकर दोष उत्पन्न होते हैं।

(२) कोई ऐसा तर्क करे कि विधवा किसी की स्त्री नहीं है, उसके साथ गमन करने में क्या हानि है ? ऐसा सोच कर अगर कोई विधवा के साथ संभोग करता है तो उसे भी अनाचार का पाप लगता है, क्योंकि पति की मृत्यु के पश्चात् भी वह विधवा उसी की स्त्री कहलाती है। जब तक विधिवत् पाणिग्रहण न किया जाय तब तक कोई भी स्त्री स्वस्त्री नहीं कहला सकती। इसके अतिरिक्त विधवागमन से लोकापवाद, दुराचार की वृद्धि, गर्भपात, बालहत्या और आत्मघात आदि महाभयंकर अनर्थ होते देखे जाते हैं।

(३) इसी प्रकार वेश्या के विषय में सोच कर गमन करने वाले को अनाचार का पातक लगता है।

चाहे कोई कुंवारी हो, विधवा हो या वेश्या हो, जिसके साथ विवाह नहीं हुआ है, वह सब परस्त्री हैं। उत्तम पुरुष उनका सेवन कदापि नहीं करते। सेवन करना लोकविरुद्ध भी है और लोकोत्तरविरुद्ध भी है। इस भव में और परभव में—दोनों भवों में दुःखप्रद है। इसके अतिरिक्त वेश्या तो जगत् की जूँठन है। स्वार्थ की सगी है। स्वार्थ के वश होकर वह अंधे, लूले-लँगड़े, कोढी, चाण्डाल आदि सभी को अपना प्यारा बना कर सब के साथ गमन करती है और जब स्वार्थ नहीं सधता तो उसी को धक्के दिलवा-कर निकाल देती है। वेश्यागामी पुरुषों में घोर निर्लज्जता आ जाती है। वे सर्वथा विवेकहीन हो जाते हैं और माता, बहिन या पुत्री के साथ गमन करने का घोरातिघोर पातक भी कर डालते हैं। क्योंकि वेश्या के घर पर ऐसा कोई साइनबोर्ड लगा नहीं होता कि अमुक साहब यहाँ तशरीफ लाया करते हैं। अतः जिस वेश्या के पास बाप जाता है उसके पास बेटा भी चला जाता है। ऐसी दशा में उसे मातृगामी कह देने में क्या अनौचित्य है? और बाप के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई वेश्या की लड़की के साथ गमन करने-वाला भगिनीगामी कहा जाय तो क्या हानि है? और अपने ही सम्बन्ध से उत्पन्न हुई वेश्या की पुत्री के साथ भोग भोगने में वेश्यागामी पुरुष संकोच नहीं करता। ऐसी दशा में वेश्यागामी को अगर पुत्रीगामी भी कहा जाय तो क्या अनुचित है? आह! जिस विशेषण को गाली के रूप में सुन कर लोग क्रोध से पागल हो उठते हैं, उसी विशेषण को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने वाले वेश्यागामी पुरुष के अधःपतन की कोई सीमा है! इससे अधिक घृणास्पद और खेदजनक स्थिति और क्या हो सकती है! वेश्यागमन के परिणाम स्वरूप ऐसे घोर अनर्थ और जुल्म होते हैं।

वेश्यागामी को प्रत्येक व्यक्ति घृणा की दृष्टि से देखता है। उसके प्रति किसी की सद्भावना और सहानुभूति नहीं होती। वेश्यागामी पुरुष गर्मी, सुजाक और प्रमेह आदि भयानक बीमारियों का शिकार हो जाता है

और दुःख भोगता-भोगता, सड़ता-सड़ता मरता है। मरने के बाद भी उसे साता कहाँ ? नरक में जाने के बाद परमाधामी देवता धधकती हुई लोहे की पुतली के साथ, तीखे खीलों वाली शय्या पर सुला कर, आलिंगन कराते हैं और ऊपर से मुद्गरों की मार मारते हैं। इस प्रकार व्यभिचार इस लोक में और परलोक में भयंकर दुःख का कारण है, ऐसा जानकर श्रावक परस्त्री-गमन का सर्वथा परित्याग कर देते हैं। वे अपनी विवाहिता पत्नी में ही सन्तुष्ट रहते हैं। उसके साथ भी मर्यादा पूर्वक ही रहते हैं।

(३) अनंगक्रीड़ा—कामभोग के अंगों के सिवाय अन्य अंगों से क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा अतिचार कहलाता है। कोई कामुक पुरुष ऐसा विचार करे कि मैंने परस्त्रीगमन का प्रत्याख्यान किया है किन्तु अनंगक्रीड़ा करने में क्या हानि है ? ऐसा विचार कर परस्त्री के अधरों का चुम्बन करे, कुचमर्दन करे तो उसको अतिचार लगता है—व्रत दूषित होता है, क्योंकि ऐसा करना भी एक प्रकार का व्यभिचार ही है। अनंगक्रीड़ा करने के पश्चात् गमन करने से बचना कठिन हो जाता है और ऐसा करने में भावना तो उसी प्रकार दूषित हो जाती है जैसे व्रत को भंग करने में दूषित होती है। इसी कारण शास्त्र में ब्रह्मचारी को गुप्त अंगोपांगों का निरीक्षण करने की भी मनाई की गई है।

काष्ठ, पाषाण, मृत्तिका, वस्त्र, चर्म आदि की पुतली के साथ भी कामक्रीड़ा करने से अनंगक्रीड़ा का अतिचार लगता है। हस्तकर्म एवं नपुंसकगमन भी अनंगक्रीड़ा में सम्मिलित हैं। यह कर्म मोहोत्पादक और विषयवर्धक है। इस तरह वीर्य का नाश करने से शारीरिक और मानसिक घोर से घोर हानियाँ होती हैं और बड़े भयानक रोग उत्पन्न होते हैं। अतएव ऐसे नीच, निंद्य, निरर्थक, और नालायकी भरे कर्मों का श्रावक सर्वथा परित्याग कर देते हैं।

(४) परविवाहकरणे—स्वजन के सिवाय दूसरों का विवाह-संबंध करावे तो अतिचार लगता है। कितनेक अन्य मतावलम्बी कन्यादान करने में धर्म

समझ कर तथा कितनेक अभिमानी लोग अपना बड़प्पन सिद्ध करने के लिए अपनी नामवरी के वास्ते अपने ग्राम वालों का देश वालों का लग्नसंबंध कराते हैं। यह काम श्रावक के लिए उचित नहीं है। यह मैथुनवृद्धि का कार्य है अतः ऐसा करने से संसार की वृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त पति-पत्नी में कदाचित् अनबन हो जाय या दो में से किसी की मृत्यु हो जाय तो अपयश, क्लेशवृद्धि और निन्दा होती है। इत्यादि बुराइयाँ जानकर अन्य का विवाह कराने का त्याग करते हैं। खुद के पुत्र, पुत्री आदि का विवाह कराये विना काम नहीं चलता, अतः अपने कुडम्बी जनों के सिवाय अन्य का संबंध मिलाने के झगड़े में नहीं पड़ते हैं।

व्रत ग्रहण करने के पश्चात् अपना खुद का दूसरा विवाह करना भी परविवाहकरण अतिचार कहलाता है।

(४) तीव्र कामभोगाभिलाषा—अर्थात् कामभोग करने की तीव्र अभिलाषा करना भी अतिचार है। श्रोत्रेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय का विषय काम कहलाता है और घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय के विषय भोग कहलाते हैं।

जैसे—(१) श्रोत्रेन्द्रिय से वीणा, हारमोनियम, फोनोग्राफ, बैंड आदि वाद्यों की सहायता से छह रागों और छत्तीस रागिनियों के श्रवण में लीन रहना। (२) चक्षुरिन्द्रिय से स्त्रियों को, खास कर उनके गुप्त अंगोपांगों को देखने में, तथा नग्न चित्र, सिनेमा, नाटक आदि देखने में लुब्ध होना। (३) घ्राणेन्द्रिय से इत्र, फूल आदि सूँघने में लुब्ध रहना (४) रसनेन्द्रिय से दूध, दही, घृत, तेल, मिठाई-इन पाँच विगयों के भोगने में तथा मक्खन, मांस, मदिरा और मधु रूप चार महाविगयों के भोगने में एवं मनोज्ञ भोजन में आसक्त होना। और (५) स्पर्शनेन्द्रिय से वस्त्र, आभूषण, शय्या, स्त्री आदि के सेवन में आसक्त होना। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के विषयभोग में तीव्र आसक्ति होना काम-भोग की तीव्र अभिलाषा कहलाती है।

कितनेक लोग विषयासक्त हो कर स्नान-शृंगार आदि के द्वारा अपने रूप को अत्यन्त आकर्षक बनाते हैं। ऐसे निर्लज्जतापूर्ण बारीक वस्त्र पहनते हैं कि जिनसे गुप्त अंग भी नज़र आते हैं। इत्र आदि कामोत्तेजक वस्तुओं का सेवन करते हैं और रसायन, गुटिका आदि कामोत्तेजक पदार्थों का उपभोग करते हैं और इस प्रकार अपनी विषयवासना को जानबूझ कर बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। मगर भोगोपभोग में लुब्ध बनने से चिकने कर्मों का बंध होता है। कदाचित् रसायन आदि फूट निकले तो कुष्ट आदि अनेक प्रकार के राजरोगों से ग्रसित होते हैं। सुजाक, शूल, चित्तभ्रम, कम्प वायु, मूर्च्छा, सुस्ती, विकलता, क्षय, निर्बलता, आदि अनेक रोगों से सड़-सड़ कर अकाल में ही मृत्यु के शिकार बनते हैं। शास्त्र में कहा है:—

कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दोग्गई।

—उत्तराध्ययनसूत्र।

कामभोग की अभिलाषा रखने वाला, कामभोग का सेवन किये बिना ही मर कर नरक गति-दुर्गति में जाता है।

ऐसा जानकर श्रावक जन इस अतिचार से अपने आपको बचा कर विषयवासना बढ़ाने वाले कामों से दूर रहते हैं। बल्कि निरन्तर ब्रह्मचर्य की भावना को बढ़ाने के लिए उद्यत रहते हैं। वे कामभोग की इच्छा को कम करने के लिए स्वस्त्री के साथ भी एक शय्या पर शयन नहीं करते हैं। आयंबिल, उपवास आदि तप करते रहते हैं और ऐसे साहित्य एवं सन्तों-सत्तियों के चरित आदि का पठन-श्रवण करते रहते हैं जिससे अन्तःकरण की विषय-वासना कम हो, ब्रह्मचर्य की ओर प्रीति बढ़े और चित्त में काम-विचार की लहरें उत्पन्न न हों।

ब्रह्मचर्य रूप श्रेष्ठ व्रत का पालन करने वाले की देवादिक भी सेवा करते हैं। उसकी कीर्ति विश्वव्यापिनी हो जाती है। उसकी बुद्धि, बल, रूप, तेज आदि की वृद्धि होती है। दुष्टों द्वारा किये जाने वाले मंत्र, तंत्र, मूठ, कामण आदि का उस पर किंचित् भी असर नहीं होता। व्यन्तर

आदि दुष्ट देव उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। उसके लिए अग्नि भी पानी बन जाती है। समुद्र स्थल के समान हो जाता है। सिंह बकरी सरीखा बन जाता है। सूर्य, फूलमाला के समान और वन, ग्राम के समान हो जाता है। विष भी अमृत के रूप में परिणत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी पुरुष के लिए अनिष्ट पदार्थ भी इष्ट रूप धारण कर लेते हैं। प्रतिदिन करोड़ मोहरों का दान करने की अपेक्षा भी एक दिन ब्रह्मचर्य पालन करने का फल अधिक होता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी इस लोक में भी अनेक प्रकार के सुखों को भोगता है और भविष्य में भी स्वर्ग-मोक्ष आदि का परम सुख उसे प्राप्त होता है।

पाँचवाँ अणुव्रत—परिग्रहपरिमाण



साधु के समान पूर्ण रूप से निष्परिग्रह रहना गृहस्थ के लिए सम्भव नहीं है। कहावत है—'साधु कौड़ी रक्खे तो कौड़ी का और गृहस्थ के पास कौड़ी न हो तो कौड़ी का।' अपनी प्रतिष्ठा का संरक्षण करने के लिए तथा शरीर एवं कुटुम्ब के भरण-पोषण आदि के लिए गृहस्थ को द्रव्य की आवश्यकता होती है। अतः न्यायपूर्वक व्यापार आदि करने से जो द्रव्य प्राप्त होता है, उसमें श्रावक सन्तोष धारण करते हैं। वे अधिक तृष्णा के चक्कर में नहीं पड़ते हैं। कहा भी है—'तृष्णायां परमं दुःखम्' अर्थात् तृष्णा परम दुःख का कारण है। तथा 'तृष्णा गुरुजी बिन पाल सरवर' अर्थात् जैसे बिना पाल के तालाब में कितना भी पानी आ जाय, फिर भी वह भरता नहीं है, उसी प्रकार तृष्णातुर को कितना ही द्रव्य मिल जाय तो भी उसे सन्तोष नहीं होता। शास्त्र में कहा है:—

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढई। —उत्तराध्ययनसूत्र।

ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। लोभ की कहीं सीमा नहीं है। जिनके लिए वृक्षों के पत्ते ही वस्त्र थे, फल-कन्द-

मूल ही जिनका भोजन था और मृत्तिका का लेपन ही जिनका शृङ्गार था, ऐसी हीन स्थिति के लोग जब राजा बन बैठते हैं, तब भी उन्हें तृप्ति नहीं होती। उस समय भी वे अपनी राजसम्पत्ति की वृद्धि के लिए अपने आश्रितों से द्रोह करते हैं और लाखों-करोड़ों मनुष्यों एवं पशुओं का अनिष्ट कर डालते हैं। ऐसे तृष्णाशील मनुष्यों को कदाचित् सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य प्राप्त हो जाय तब भी उनकी तृष्णा शान्त होने वाली नहीं है। ऐसी हीन स्थिति के लोग इतनी ऊँची स्थिति पर पहुँच कर भी जब तृप्त नहीं होते तो हजारपति लखपति होकर और लखपति करोड़पति होकर क्या तृप्त हो सकता है? कदापि नहीं। तृप्ति धन में नहीं है, वह तो मन में होती है। मन में जब सन्तोष की भावना उदित होती है तभी तृप्ति आती है। अतएव विवेकशील पुरुषों को प्राप्त हुए धन से ही तृप्त हो जाना चाहिए और सारा जीवन धन के लिए ही समर्पित नहीं कर देना चाहिए।

कोई-कोई लोग सोचा करते हैं कि हम धन का संचय करेंगे तो हमारे बाल-बच्चे सुखी रहेंगे। मगर ऐसा सोचने वालों को इस पर ध्यान देना चाहिए कि:—

पूत कपूत तो क्यों धन संचे?
पूत सपूत तो क्यों धन संचे?

अर्थात्—अगर पुत्र कपूत होगा तो धन का संग्रह करना वृथा है, क्योंकि वह संचित किये हुए धन को नष्ट कर देगा। और यदि पुत्र सपूत होगा तो न्याय-नीति के अनुसार चल कर वह स्वयं अपना निर्वाह कर लेगा, उसके लिए धन-संग्रह करना वृथा है।

इस कारण तू पुत्र के लिए द्रव्य संचय करने का कष्ट क्यों उठाता है? क्यों तृष्णा की आग में पड़कर सन्ताप भोगता है? क्यों व्यर्थ कर्म-बन्धन करता है? निश्चय समझ ले कि संसार में कोई किसी को सुखी या दुःखी नहीं बना सकता। सब जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही सुख या दुःख भोगते हैं। कई गरीब माता-पिता के पुत्र धनवान् बन गये हैं और

कई धनवान् माता-पिता के पुत्र भिखारी हो गये हैं। अभी तो तुम पुत्र-पौत्र आदि की और अपने शरीर की रक्षा करने की चिन्ता कर रहे हो, किन्तु जब गर्भाशय में जठराग्नि पर उलटे लटकते थे तब किसने तुम्हारी रक्षा की थी? गर्भाशय से बाहर आते ही दूध पीने की आवश्यकता हुई तो किसने माता के स्तनों में दूध पैदा कर दिया था? यह तुम्हारा पुण्य ही तो था जिसके उदय से तुम गर्भाशय से जीवित बाहर निकल आये और बाहर आते ही माता के स्तनों में दूध भर गया! इसी से तुम वृद्धि पाकर सब काम करने योग्य हुए हो। अब शरीर का पोषण करने की, पेट भरने की और पुत्र-पौत्र आदि की जीविका के लिए क्यों हाय-हाय करते हो? अपने-अपने संचित कर्मों के अनुसार सबको सब वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। भविष्य में भी दैव के अनुसार समय पर सब कुछ प्राप्त हो जायगा।* ऐसा समझ कर और सन्तोष धारण करके तृष्णा को अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिए, किन्तु अपने पास जितना धन हो उसी में सन्तोष मान कर आनन्द और कामदेव आदि श्रावकों की तरह अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए। कदाचित् इतनी तृष्णा न जीत सको तो भी एक निश्चित सीमा अवश्य बाँध लेना चाहिए और उसके उपरान्त धन की तृष्णा त्याग देना चाहिए।

कहा जा सकता है कि हमारे पास जब सौ रुपया भी नहीं है तब एक लाख की मर्यादा कर लेने से और उससे अधिक का प्रत्याख्यान करने से क्या लाभ होगा? ऐसा कहने वालों को जानना चाहिए कि—

स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं,
देवो न जानाति कुतो मनुष्यः?

---

* *यद्यपि सोच करै धन को कहो गर्भ में केतक गाठ को खायो,*
जा दिन जन्म लियो जग में तब केतिक कोटि लिये संग आयो?
वाकौ भरोसो क्यों छोड़े अरे मन जासौं अहार अचेत में पायौ?
ब्रह्म भनै जन सोच करे वही सोची जो विरह लायौ लहायौ।

—ब्रह्मविलास।

अर्थात्—पुरुष के भाग्य को मनुष्य की तो बात ही क्या, देव भी नहीं जान सकता है ! गायें और बकरियाँ चराने वाले भी राजा-महाराजा बन जाते हैं। जिसने मर्यादा की होगी वह अधिक प्राप्ति के समय सन्तोष धारण करके अपनी मर्यादा में ही रहेगा, उससे अधिक ग्रहण नहीं करेगा। वह और अधिक परिग्रह नहीं बढ़ाएगा तो उतने पाप से ही उसकी आत्मा बचेगी। मगर प्रत्याख्यान किये विना सन्तोष होना कठिन है। इस प्रकार मर्यादा करके तृष्णा को रोकने से सन्तोष की प्राप्ति होती है। मर्यादाशील पुरुष सोचता है—अब हाय-हाय करने से क्या लाभ है ? और वह सन्तोष के परम सुख का भागी बन जाता है।* ऐसा समझ कर श्रावक निम्नलिखित नौ प्रकार से परिग्रह का परिमाण करते हैं:—

(१) खेत्त यथा परिमाण—अर्थात् खुली भूमि का इच्छित परिमाण करे। वर्षा के पानी से जहाँ धान्य की उत्पत्ति होती है वह खेत कहलाता है। कूप, बावड़ी, तालाब आदि जलाशय के पानी से जहाँ धान्य उपजता है वह अडाण कहलाता है। जहाँ अनेक प्रकार के मेवा, फल, फूल आदि की उत्पत्ति होती है वह बाग कहलाता है। जहाँ शाक सब्जी, भाजी आदि होती है वह बाड़ी कहलाती है। जहाँ घास उत्पन्न होता है उसे वन कहते हैं। इस सब खुली भूमि का त्याग करे तो अच्छा है, सर्वथा त्याग न कर सके तो उक्त खेत आदि की लम्बाई-चौड़ाई तथा संख्या का परिमाण करके अधिक रखने का प्रत्याख्यान करे और उससे अधिक न रक्खे, बल्कि कम करता जाय।

(२) वत्थुयथापरिमाण—अर्थात् गृह आदि ढँकी हुई भूमिका का इच्छित परिमाण करे। एक मंजिल वाला मकान घर कहलाता है, दो या

---

* जह जह अप्पो लोहो, जह जह अप्पो परिग्गहारंभो।
तह तह सुहं पवड्ढई, धम्मस्स य होइ संसिद्धी ॥

अर्थात्—जैसे-जैसे लोभ कम होता जाता है और ज्यों-ज्यों आरंभ-परिग्रह कम होता जाता है, त्यों-त्यों सुख की वृद्धि होती है और धर्म की सिद्धि होती जाती है।

दो से अधिक मंजिल वाला मकान हवेली या महल कहलाता है, जो शिखर-बन्ध हो वह प्रासाद कहलाता है। व्यापार करने की जगह को दुकान कहते हैं, माल-किराना आदि रखने की जगह को बखार या गोदाम कहते हैं, जमीन के अन्दर बने घर को भौंयरा (भूगृह) कहते हैं, बाग,बगीचे में बने घर को बंगला कहते हैं, घास-फूस के बने घर को कुटी या झौंपड़ी कहते हैं। इन सब में से जिस-जिसकी जितनी आवश्यकता हो उतने नगों की, लम्बाई-चौड़ाई की मर्यादा करके, उससे अधिक रखने का प्रत्याख्यान करे। रहने को मकान पर्याप्त हों तो नया बनवाने का आरम्भ न करे। कदाचित् पर्याप्त मकान न हो तो बने हुए घर भी बिकाऊ मिल सकते हैं। द्रव्य के खर्च की ओर न देखकर आत्मा की ओर देखना चाहिए और यथासम्भव आरम्भ से बचना चाहिए। फिर भी काम न चलता हो तो मकान की संख्या तथा लम्बाई-चौड़ाई की मर्यादा करके अधिक मकान बनवाने का तथा अपनी नेश्राय में रखने का भी त्याग कर दे।

(३-४) हिरण्य-सुवर्णयथापरिमाण—हिरण्य अर्थात् चांदी का और सुवर्ण अर्थात् सोने का इच्छित परिमाण करे। जैसे थप्पी, लगड़ी या डली आदि बिना घड़ा हुआ सोना या चांदी और मुद्रिका, कंठी, कड़ा, हार, नूपूर आदि आभूषण घड़ा हुआ सोना-चांदी। इनकी कीमत का, नग का तथा वजन का परिमाण करे। जहाँ तक पुराने आभूषणों से काम चलता हो, नये आभूषण न बनवाए। क्योंकि अग्नि का आरम्भ जहाँ होता है वहाँ छहों कायों की हिंसा होती है। बने-बनाये आभूषण मिलते हों तो आरम्भ करके वृथा कर्म-बन्ध करना उचित नहीं है। कदाचित् इस प्रकार काम न चले तो नये जेवर बनवाने के नग, तोल और कीमत का परिमाण करे तथा अपने नेश्राय में रखने का भी परिमाण करे। परिमाण से अधिक का त्याग करे।

(५) धनयथापरिमाण—अर्थात्—नकद द्रव्य का इच्छित परमाण करना। सरकार की ओर से प्रचलित सिक्के, जैसे पाई, पैसा, इकन्नी, दुअन्नी, चुअन्नी, अठन्नी, रुपया, मोहर, नोट आदि की तथा हीरा,

माणिक, मोती आदि जवाहिरात की कीमत की तथा गिनती की मर्यादा करे, अधिक रखने का प्रत्याख्यान करे। पृथ्वी खुदवा कर, पत्थर चिरवा कर जवाहिरात निकलवाने का तथा सीपों को चिरवा कर मोती निकालने का काम न करे, क्योंकि इससे त्रस जीवों का भी घात होता है। सीप तो त्रस (द्वीन्द्रिय) प्राणी ही है। उनको चीरने से लाल रंग का रक्त जैसा पानी निकलता है। श्रावक को ऐसा कृत्य करना उचित नहीं है। उसे अपनी आवश्यकताएँ कम से कम करते जाना चाहिए, जिससे अल्प से अल्प आरम्भ में ही उसका काम चल जाय। कदाचित् काम न चले तो भी सीप चिरवाने का काम तो कदापि नहीं करना चाहिए और जवाहरात निकालने की मर्यादा करके उससे अधिक का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

(६) धान्ययथापरिमाण—धान्य अर्थात् अनाज (गल्ले) का परिमाण करे। जैसे—शालि (चावल), गेहूँ ज्वार, मोंठ, मक्का, बाजरा, मूँग, उड़द, आदि चौबीस प्रकार का धान्य और धान्य के समान ही राजगिरा खसखस, आदि हैं। धान्य में मेवा, मिठाई, पक्वान, घृत, गुड़, शक्कर, करियाणा, नमक, तेल आदि अनेक वस्तुएँ भी सम्मिलित समझनी चाहिए। यह सब वस्तुएँ घर-खर्च के लिए जितनी आवश्यक हों उतनी की मर्यादा रख कर शेष का त्याग करे। सेर, मन आदि के हिसाब से इनकी मर्यादा करे।

इन सब वस्तुओं को अधिक समय रखने से इनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, अतएव, इनके रखने के समय की मर्यादा करना भी आवश्यक है। अधिक समय तक इन्हें रखना उचित नहीं है। श्रावक इनका व्यापार न करे तो बहुत अच्छा, क्योंकि इनका व्यापार करने से त्रस जीवों की हिंसा होती है। इसके अतिरिक्त अनाज का व्यापारी प्रायः दुष्काल पड़ने की भावना किया करता है, क्योंकि दुष्काल पड़ने से उसे अधिक कमाई हो सकती है। इस प्रकार के आर्त्त-रौद्र ध्यान से चिकने कर्मों का बन्ध होता है। कदाचित् ऐसा व्यापार किये विना न चल सकता हो तो वस्तुओं के वजन का और उन्हें रखने के समय का परिमाण करे और परिमाण से अधिक वस्तु न रखे और मर्यादित समय से अधिक भी न रक्खे। मन में ऐसा

विचार कदापि न आने दे कि दुष्काल पड़ जाय तो अच्छा ! श्रावक प्राणी मात्र के हित की अभिलाषा करे।

(७) द्विपदयथापरिमाण—द्विपद अर्थात् दो पैर वालों का परिमाण करे। दास, दासी, नौकर-चाकर तथा तोता आदि पक्षी द्विपद परिग्रह गिने जाते हैं। जहाँ तक सम्भव हो, श्रावक दास-दासी, नौकर-चाकर न रक्खे, क्योंकि ऐसा करने से प्रमाद की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त अपने हाथ से काम करने से भी यतना हो सकती है, दूसरे से काम कराने पर उतनी यतना नहीं होती। इतने पर भी यदि नौकर-चाकर रखने ही पड़ें तो जहाँ तक स्वधर्मी का योग मिले, विधर्मी को न रक्खे। इससे स्वधर्मी को सहायता मिलेगी और यतनापूर्वक तथा नमकहलाली से काम होगा। विधर्मी को रखना पड़े तो उसे स्वधर्मी बनाने का प्रयास करे और उसके काम पर पूरी-पूरी देख-रेख रक्खे, जिससे अयतना से काम न होने पावे और धर्मात्मा की संगति के फलस्वरूप वह भी दयालु एवं धर्मात्मा बन जाय।

इसी प्रकार गाड़ी, रथ आदि वाहन भी आवश्यकता से अधिक नहीं रखना चाहिए। इससे भी प्रमाद और अयतना की वृद्धि होती है। कदाचित् रखने पड़ें तो इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि अधिक से अधिक अयतना किस प्रकार टाली जा सकती है?

श्रावक नौकर-चाकरों एवं गाड़ी आदि की मर्यादा करके उससे अधिक रखने का त्याग करे। पक्षियों को रखने का निषेध पहले ही व्रत में किया जा चुका है। श्रावक को ऐसी मर्यादा भी कर लेनी चाहिए कि इतनी सन्तान होने के बाद मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा।

(८) चतुष्पदयथापरिमाण—चौपाये पशुओं का इच्छित परिमाण करे। गाय भैंस, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गधा, बकरी, कुत्ता आदि पशुओं का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना श्रावक के लिए उचित नहीं है, क्योंकि उनके लिए वनस्पति, पानी आदि का अधिक आरम्भ करना पड़ता है। श्रावक जिन पशुओं को रक्खे, उनके सम्बन्ध में सावधान रहकर उन्हें अन्त-

राय न लगे और स्वयं अधिक से अधिक आरम्भ से बचे, ऐसा प्रयत्न करे। एक निश्चित किये परिमाण से अधिक न रक्खे।

(६) कुवियथापरिमाण—घर-गृहस्थी के फुटकल सामान का इच्छित परिमाण करे। तांबे, पीतल, कांसे, शीशे, कथीर, लोहे, जर्मनसिलवर आदि के बने हुए थाल, कटोरा, घड़ा, लोटा आदि बरतनों का, मिट्टी और काष्ठ के बरतनों का, कागज आदि गला कर बनाये हुए ठांठे आदि का तथा कीलों और खूँटियों का और पहनने-ओढ़ने के वस्त्रों वगैरह का परिमाण कर लेना चाहिए। यह सब वस्तुएँ कुविय में सम्मिलित हैं। यह जितनी कम होंगी उतनी ही उपाधि कम होगी। कहा भी है—'जितनी सम्पत्ति उतनी विपत्ति' अर्थात् काम में तो थोड़े ही बरतन आदि आते हैं पर सार-सम्भाल सब की करनी पड़ती है। घर में ज्यादा बिखेरा होने से उनमें नीलन-फूलन अनन्त काय जीवों की तथा त्रस जीवों की उत्पत्ति का भी प्रसंग होता है। उन वस्तुओं की सार-सम्भाल करने में उन जीवों की भी हिंसा हो जाती है। ऐसा जान कर अधिक सामान बढ़ाना उचित नहीं है। अतएव आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का प्रत्याख्यान कर देना ही उचित है।

पाँचवें व्रत का प्रत्याख्यान एक करण तीन योग से ग्रहण किया जाता है। अर्थात् मैं इतने परिग्रह से अधिक मन, वचन, काय से नहीं रक्खूँगा, इस प्रकार त्याग किया जाता है। पुत्र आदि अन्य को रखने देने का और रखने वाले को अच्छा जानने का नियम गृहस्थ से निभना कठिन है, क्योंकि कभी-कभी वह पुत्र आदि को व्यापार आदि करके धनवृद्धि करने के लिए कह देता है। अगर पुत्र आदि ने व्यापार करके धनलाभ किया हो तो उससे प्रसन्नता भी आ जाती है। फिर भी पाप से जितना बचाव हो सके उतना ही कल्याणकर है।

पाँचवें व्रत के अतिचार



(१) खेत्तवत्थुपरिमाणातिक्रम—क्षेत्र (खेत) और वास्तु (घर) के किये हुए परिमाण का आंशिक रूप से उल्लंघन करने पर यह अतिचार लगता है। जैसे मर्यादा करते समय एक खेत रक्खा हो और दूसरा खेत आ जाय तो पहले खेत की मेंड़ (पाल) तोड़ कर दूसरे खेत को उसमें मिला ले। इसी प्रकार पहले के घर की दीवाल तोड़ कर दूसरे घर को उसमें मिला ले और दोनों को एक बना ले तो अतिचार लगता है। अतएव परिमाण करते समय लम्बाई-चौड़ाई का भी परिमाण कर लेना चाहिए। कदाचित् दूसरा घर अपने अधिकार में आ जाय तो उसे धर्मार्थ समर्पित कर देना उचित है।

(२) हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम—चांदी, सोना के परिमाण का उल्लंघन करे तो अतिचार लगता है। मर्यादा से अधिक चांदी, सोना आ जाय तो उसे पहले के ढेले में, लगड़ी में या आभूषण में मिलवा ले, आप कमाई करके पुत्र आदि को सौंप दे तो अतिचार लगता है। यदि कदाचित् मर्यादा से अधिक अचानक लाभ हो जाय तो धर्मार्थ दान कर देना चाहिए।

(३) धन-धान्यपरिमाणातिक्रम—नकद द्रव्य का, जवाहरात का एवं धान्य का जो परिमाण किया है, उससे अधिक रक्खे या आप उपार्जन करके पुत्र आदि को दे तो अतिचार लगता है। क्योंकि व्रत ग्रहण करने का उद्देश्य तो इच्छा को सीमित करना और आरंभ को घटाना है, परन्तु ऐसा करने से वह पूरा नहीं होता। स्वयं व्यापार करके द्रव्योपार्जन करे और पुत्र आदि की मालिकी का बतला कर आप सन्तोषी बनना चाहे तो ऐसा करना मायाचार है। केवलज्ञानी से भावना छिपी नहीं रहती। अतएव जो मर्यादा की है उसे अपनी आत्मा की साक्षी से और सर्वज्ञ भगवान् की साक्षी से पालन करना चाहिए। कदाचित् अधिक द्रव्य हो जाय तो उसे धर्मार्थ समर्पित कर देना चाहिए।

(४) द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिक्रम—द्विपद अर्थात् नौकर आदि का तथा चतुष्पद अर्थात् गाय, बैल, भैंस, अश्व आदि का जो परिमाण किया है, उसका आंशिक रूप से उल्लंघन करे तो अतिचार लगता है। गाय आदि पशुओं के बच्चों का, चतुष्पदों का परिमाण करते समय खयाल रक्खे तो ठीक है, अन्यथा ऐसी व्यवस्था करना चाहिए जिससे बच्चों को कष्ट न हो और परिमाण का उल्लंघन भी न हो। कदाचित् लूले-लंगड़े पशु को या मृत्यु के मुख से बचाये पशु-पक्षी को, जब वह अन्य स्थान में भेजने योग्य न हो तब तक दया के लिए, या रक्षा के निमित्त रख लिया जाय तो दोष नहीं है। लोभ की भावना से नहीं रखना चाहिए।

(५) कुप्यधातुपरिमाणातिक्रम—अर्थात् घर-बखेर के बर्त्तन-भांड़े, पाट आदि मर्यादा से अधिक हो गये हों और उन्हें तोड़-फोड़ कर मिलावे या पुत्र आदि के नाम पर कर रक्खे तो अतिचार लगता है। अधिक की तो बात क्या, की हुई मर्यादा से अधिक एक सुई मात्र भी रखने से दोष का भाजन होना पड़ता है।

तृष्णा दुःखों का मूल है। तृष्णा प्रेरित होकर द्रव्य का उपार्जन करने के लिए क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि के अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। जब द्रव्य की प्राप्ति हो जाती है तब भी उससे सुख या चैन नहीं मिलता। कुटुम्ब के और राज के अनेक झगड़े लग जाते हैं। चोरों का भय सताने लगता है। आग और पानी से भी द्रव्य की रक्षा करने की चिन्ता लगी रहती है। कृपण मनुष्य उसे खाने-खरचने में भी दुःख का अनुभव करते हैं। इतने पर भी वह द्रव्य स्थायी रूप से ठहरता नहीं है। व्यापार में घाटा लगने से, घर में आग लग जाने से, चोरी हो जाने से या कुटुम्बी जनों द्वारा बँटवारा करा लेने से अथवा अन्य किसी न किसी कारण से उस द्रव्य का नाश होता ही है। तब भी धन के स्वामी को घोर दुःख होता है। इस प्रकार धन, उपार्जन करते समय, रक्षा करते समय और नाश के समय दुःख ही दुःख देने वाला है। कदाचित् जीवन पर्यन्त बना रहे तो मृत्यु के समय उसे अवश्य ही

त्यागना पड़ता है और उस समय त्यागने से ममता के कारण समाधिमरण नहीं हो पाता ।

धन के इस वास्तविक स्वरूप को समझ कर श्रावक को धन संबंधी तृष्णा का त्याग कर देना चाहिए । पूरी तरह त्याग न कर सके तो उसे मर्यादित अवश्य करना चाहिए और धीरे-धीरे पूरी तरह उससे छुटकारा पा लेना चाहिए । श्रावक को विचारना चाहिए कि द्रव्य की कितनी ही वृद्धि क्यों न हो जाय, मेरे किस काम की है ? घर में हजार घोड़े हुए तो भी सवारी तो एक ही घोड़े पर की जा सकेगी ! बीसों मकान होने पर भी रहने के लिए तो एक ही मकान अपेक्षित है ! मोती, हीरे आदि का ढेर होगा तो उससे क्या लाभ है ? दाल-रोटी की जगह हीरे-मोती तो खाये नहीं जा सकते । खाने के लिए तो पाव भर आटा ही काफी है ! फिर अधिक द्रव्य बढ़ा कर क्यों व्यर्थ परेशानी मोल लूँ ? इस प्रकार विचार कर श्रावक को मर्यादाशील बनना चाहिए ।

द्रव्य की प्राप्ति पुण्य और धर्म के प्रताप से होती है । अतएव जिस पुण्य और धर्म के प्रताप से धन आदि की प्राप्ति हुई है, उसे कदापि भूलना नहीं चाहिए और जितना हो सके धर्म के और पुण्य के मार्ग में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करना चाहिए । स्मरण रक्खो, ज्ञान की वृद्धि, धर्म की उन्नति दया और दान आदि सुकृत्य में जितना द्रव्य लगाया जायगा, उतना ही द्रव्य तुम्हारा है । जो द्रव्य बचा रहेगा उसके स्वामी तो तुम्हारे जीते जी या मरे बाद दूसरे बन बैठेंगे । हाँ, उसका उपार्जन करने में जो-जो पाप तुमने किये होंगे उनकी गठड़ी तुम्हारे साथ जायगी । जब परलोक में तुम अपने पापों का फल भुगत रहे होओगे तब दूसरे लोग तुम्हारे कमाये धन से मजे उड़ाते होंगे । वे तुम्हारे दुःखों में कोई हिस्सा नहीं बँटाएँगे और न तुम्हारी सहायता करने आएँगे । ऐसी स्थिति में बुद्धिमान् पुरुष के लिए यह उचित नहीं है कि वह कुटुम्ब परिवार के व्यर्थ मोह में फँस कर, कष्ट-कर उपायों से धनोपार्जन करके पाप-कर्मों का संचय करे और जान बूझ कर अपनी आत्मा का अनिष्टसाधन कर ले ! अतएव अपने लौकिक कर्त्तव्यों

और उत्तरदायित्वों को निभाते हुए भी परलोक का तथा आत्महित का भी ध्यान रखना चाहिए और मन में सन्तोषवृत्ति जगानी चाहिए।

जो पुरुष धर्मकार्य में अपनी लक्ष्मी का व्यय करता है, उसकी लक्ष्मी अचल रहती है। उसकी कीर्ति बढ़ती है। उसे जन-समाज में प्रतिष्ठा मिलती है। उसका हृदय सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार वह वर्त्तमान जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत करके अपने भविष्य को भी उज्ज्वल बना लेता है और स्वर्ग एवं मोक्ष का अधिकारी बनता है।

तीन गुणव्रत



तीन गुणव्रत पूर्वोक्त पाँच अणुव्रतों के सहायक हैं। जिस प्रकार कोठार में रक्खा हुआ धान्य नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार इन तीन गुणव्रतों को धारण करने से पाँच अणुव्रतों की रक्षा होती है। असंयमी जीव को समस्त दिशाओं और समस्त देशों सम्बन्धी अविरति निरन्तर आया करती है। गुणव्रतों को धारण करने से उसका संकोच होता है और आत्मा के गुणों में विशुद्धि तथा वृद्धि होती है। इस कारण इन्हें गुणव्रत कहते हैं। तीनों गुणव्रतों का स्वरूप आगे लिखा जाता है:—

छठा व्रत—दिशापरिमाण



मुख्य दिशाएँ तीन हैं—(१) ऊर्ध्व (ऊँची) दिशा (२) अधो (नीची) दिशा और (३) तिर्छी दिशा। तिर्छी दिशा के चार प्रकार हैं—(१) पूर्व (२) दक्षिण (३) पश्चिम (४) उत्तर। इस प्रकार छह दिशाएँ भी कही जा सकती हैं। चार तिर्छी दिशाओं के सन्धिस्थलों को विदिशा या दिक्कोण कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अग्निकोण (२) नैऋत्यकोण (३) वायव्यकोण और (४) ईशान कोण। इन चारों को भी पूर्वोक्त छह दिशाओं में

सम्मिलित करने पर दिशाओं की संख्या दस होती है। विस्तारपूर्वक दिशाओं की संख्या अठारह मानी गई है—४ दिशाएँ, ४ विदिशाएँ, ८ आंतरे, तथा ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा।*

यहाँ सर्व प्रथम कही हुई तीन दिशाओं की ही मुख्यता है। इन दिशाओं में गमनागमन करने की मर्यादा न होने से सारे जगत् में होने वाले पापकर्मों का हिस्सा लगता है, जैसे कि खिड़की और द्वार खुला रहने से घर में कचरा भरता रहता है। और दिशाओं की मर्यादा कर लेने से जितना क्षेत्र खुला रक्खा हो उतने के पाप का ही हिस्सा आता है, शेष समस्त लोक का आस्रव बन्द हो जाता है। अतएव श्रावक—

(१) ऊर्ध्वदिशा का यथापरिमाण—अर्थात् ऊँची दिशा में गमन करने का परिमाण करे। जैसे—पहाड़ पर, वृक्ष पर, महल पर, मीनार पर, हवाई जहाज या विमान में बैठकर ऊंचे जाने का इच्छानुसार परिमाण करे।

(२) अधोदिशा का यथापरिमाण—अर्थात् नीची दिशा में गमन करने का परिमाण करे, जैसे—तलघर, खान, कुवा, बावड़ी आदि में घुसने की मर्यादा करना।

(३) तिर्छी दिशा का यथापरिमाण—अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में इतने कोस से आगे नहीं जाऊँगा, इस प्रकार प्रत्याख्यान करे। यह प्रत्याख्यान दो करण तीन योग से होता है। इस प्रत्याख्यान का उद्देश्य मर्यादित क्षेत्र से बाहर अठारह पापों से तथा पाँच आस्रवों से निवृत्त होना है। किन्तु किसी जीव को बचाने के लिए या साधु के दर्शन के लिए

* अठारह भावदिशाएँ इस प्रकार हैं—(१) पृथ्वी (२) पानी (३) अग्नि (४) वायु ये चार सत्त्व, (५) अग्रबीज (६) मूलबीज, (७) स्कंधबीज (८) पर्वबीज यह चार भेद वनस्पति के (९) द्वीन्द्रिय (१०) त्रीन्द्रिय (११) चतुरिन्द्रिय (१२) पंचेन्द्रिय यह चार तिर्यञ्च, (१३) सम्मूर्च्छिम (१४) कर्मभूमि (१५) अकर्मभूमि (१६) अन्तर्द्वीप यह चार भेद मनुष्य के, (१७) नारक और (१८) देवता। इन योनियों और स्थानों में सकर्मी जीव गमनागमन करते हैं।

अथवा महान् उपकार के कार्य के लिए जाने से तथा दीक्षा धारण करने के पश्चात् उस प्रदेश में जाने से व्रत भंग नहीं होता।

दिशाव्रत के पाँच अतिचार



(१-२-३) ऊर्ध्व-अधःतिर्यग्दिशा-परिमाणातिक्रम—ऊंची, नीची और तिर्छी दिशा में गमन करने का जो परिमाण किया है, उसका जान-बूझ कर उल्लंघन करने से अनाचार लगता है। अगर अनजान में, बनाये हुए निशान को भूलकर आगे चला जाय, मोटर या रेलगाड़ी में निद्रा आ जाने से आगे चला जाय, जहाज में तूफान आ जाने से या ऐसे ही किसी अन्य कारण से मर्यादित क्षेत्र के बाहर गमन हो जाय तो अतिचार लगता है। ऐसी स्थिति में भान होते ही मर्यादित क्षेत्र में आ जाना चाहिए। कोई वस्तु मर्यादित क्षेत्र के बाहर उड़कर चली गई हो या कुआं आदि में पड़ गई हो और लेने के लिए स्वयं जाय या किसी दूसरे को भेजे तो अतिचार लगता है, अगर बिना कहे कोई ला दे और उस वस्तु को ले ले तो अतिचार नहीं।

(४) क्षेत्रवृद्धि—क्षेत्र में वृद्धि करे तो अतिचार लगता है। जैसे चारों दिशाओं में ५०-५० कोस क्षेत्र रक्खा हो और किसी समय पूर्व में १०० कोस जाने की आवश्यकता पड़ जाय तो सोचे—पश्चिम में जाने की मुझे आवश्यकता नहीं पड़ती है, अतः पश्चिम के पचास कोस पूर्व में मिला लूँ; और ऐसा सोच कर पूर्व में सौ कोस चला जाय तो अतिचार लगता है। श्रावक को ऐसा नहीं करना चाहिए।

(५) सइअन्तरद्धा—संशय होने पर भी आगे चला जाय। चित्तभ्रम आदि के कारण विस्मरण हो जाय कि मैंने ५० कोस रक्खे हैं या ७५ कोस? अथवा ५० कोस यहाँ पूरे हो गये हैं या नहीं? इस प्रकार शंका होने पर आगे चला जाय तो अतिचार लगता है।

छठा व्रत धारण करने से ३४३ घनरज्जु विस्तार वाले सम्पूर्ण लोक सम्बन्धी जो पाप आता था वह रुक कर जितने कोस की मर्यादा की होती है उतने ही कोस क्षेत्र का पाप लगता है। व्यापक तृष्णा का निरोध हो जाता है और मन को सन्तोष तथा शान्ति प्राप्त होती है।

सातवाँ व्रत—उपभोगपरिभोगपरिमाण

●

आहार—अन्न, पानी, पकवान, शाक, इत्र, तांबूल आदि जो वस्तु एक ही बार भोगी जाती है वह उपभोग कहलाती है और स्थान, वस्त्र, आभूषण, शयनासन, वासन आदि जो वस्तु बार-बार भोगी जाती है वह परिभोग कहलाती है। इन दोनों प्रकार की वस्तुओं के मुख्य रूप से २६ प्रकार कहे हैं। श्रावक उनकी मर्यादा कर लेता है। यथाः—

(१) उल्लणियाविहं—शरीर साफ करने या शौक के लिए रक्खे जाने वाले रूमाल, टूवाल आदि की मर्यादा।

(२) दंतणविहं—दातौन करने के काष्ठ की मर्यादा।

फलविहं—आम, जामुन, नारियल, नारंगी आदि फलों को खाने की मर्यादा तथा माथे में लगाने के लिए आंवला आदि की मर्यादा।

(४) अब्भंगणविहं—अतर, तेल, फुलेल आदि की मर्यादा।

(५) उव्वट्टणविहं—शरीर को स्वच्छ और सतेज करने के लिए पीठी वगैरह उवटन लगाने की मर्यादा।

(६) मज्जणविहं—स्नान के लिए पानी की मर्यादा।

(७) वत्थविहं—वस्त्रों की जाति*और संख्या की मर्यादा।

---

* एक गज रेशम बनाने में हजारों कीड़ों का घात होता है। रेशम के कीड़े अपने मुख से लार निकाल कर अपने ही शरीर पर लपेट लेते हैं। उन कीड़ों को उबलते हुए पानी

(८) विलेवणविहं—शरीर पर लेपन करने की अगर, तगर, केसर, अतर, तेल, सैंट आदि वस्तुओं की मर्यादा।

(९) पुष्फविहं—फूलों* की जाति तथा संख्या की मर्यादा।

(१०) आभरणविहं—आभूषणों की संख्या तथा जाति की मर्यादा।

(११) धूपविहं—धूप की जाति तथा वजन की मर्यादा।

(१२) पेज्जविहं—शर्बत, चाय, काफी, उकाली आदि पेय की मर्यादा

(१३) भक्खणविहं—पकवान और मिठाई की मर्यादा।

(१४) ओदणविहं—चावल, खिचड़ी थुल्ली आदि की मर्यादा।

(१५) सूपविहं—चना, मूँग, मौंठ, उड़द आदि दालों की तथा चौवीस प्रकार के धान्यों की मर्यादा।

(१६) विगयविहं—दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शक्कर आदि की मर्यादा।

(१७) सागविहं—मैंथी, चंदलई आदि भाजी तथा तोरई, ककड़ी, भिंडी आदि अन्य शाकों की मर्यादा।

(१८) माहुरविहं—बादाम, पिश्ता, चिरौंजी, खारक, दाख, अंगूर आदि मेवा की तथा आंवला आदि के मुरब्बे की मर्यादा।

(१९) जीमणविहं—भोजन में जितने पदार्थ भोगने में आवें उनकी मर्यादा।

में डाल कर मार डाला जाता है और फिर रेशम उकेल ली जाती है। रेशमी वस्त्र पहनने वाला भी इस घोर हिंसा का भागी होता है। अतः श्रावक को ऐसे रेशमी वस्त्र नहीं पहनना चाहिए।

** फूल अत्यन्त कोमल होने से अनन्त जीवों वाला होता है। उसमें त्रस जीवों का भी निवास होता है। उसका छेदन-भेदन करने से त्रस जीवों की भी हिंसा होती है। कितनेक लोग देव-देवियों को फूल चढ़ाने में धर्म मानते हैं। श्रावक को ऐसा नहीं करना चाहिए।*

(२०) पाणीविहं—नदी, तालाब, कूप, नल, नहर, कुंड आदि के पानी की मर्यादा ।

(२१) मुखवासविहं—पान, सुपारी, लौंग, इलायची, जायफल, चूर्ण, खटाई, पापड़ आदि की मर्यादा ।

(२२) वाहनविहं—हाथी, घोड़ा, ऊंट, बैल आदि चलने वाली, गाड़ी, बग्घी, मोटर, साइकिल आदि फिरने वाली, जहाज, नौका, स्टीमर आदि तिरने वाली, विमान, हवाई जहाज, गुब्बारा आदि उड़ने वाली तथा अन्य प्रकार की सवारियों की मर्यादा ।

(२३) वाणह (उपानह) विहं—जूता, चप्पल, खड़ाऊं आदि की मर्यादा ।

(२४) सयणविहं—खाट, पलंग, पाट, कोच, टेबिल, कुर्सी, बिछौने की जितनी भी जातियाँ हैं उन सब की मर्यादा ।

(२५) सचित्तविहं—सचित्त बीज वनस्पति, पानी, नमक आदि की मर्यादा ।

(२६) दव्वविहं—जितने स्वाद बदलें उतने द्रव्य गिने जाते हैं । जैसे—गेहूँ एक वस्तु है, पर उसकी रोटी, पूड़ी, थुली आदि बहुत-सी चीजें बनती हैं, वह सब अलग-अलग द्रव्य गिने जाते हैं । इसी प्रकार और-और द्रव्य समझ लेना चाहिए । इन द्रव्यों की मर्यादा कर लेना द्रव्यविध कहलाती है ।

उक्त छब्बीस प्रकार की वस्तुओं में कोई उपभोग की है और कोई परिभोग की है । इनमें सभी वस्तुओं का समावेश हो जाता है । श्रावक का कर्त्तव्य है कि जो-जो वस्तु अधिक पापजनक हो उसका परित्याग करे और जिन-जिन को काम में लाये बिना काम न चल सकता हो, उनकी संख्या का एवं वजन आदि की मर्यादा करे और अतिरिक्त का त्याग कर दे । मर्यादा की हुई वस्तुओं में से भी अवसरोचित कम करता जाय, उनमें

लुब्धता न धारण करे। अपनी आवश्यकताओं को कम से कम बनाना और सन्तोषवृत्ति को अधिक बढ़ाना इस व्रत का प्रधान प्रयोजन है। ज्यों-ज्यों यह प्रयोजन पूरा होता जाता है त्यों-त्यों जीवन हल्का और अनाकुलतापूर्ण बनता चला जाता है।

बाईस अभक्ष्य

●

१ २ ३ ४ ५ ६
ओला घोरवड़ा निशिभोजन बहुबीजा बैंगन संधान,
७ ८ ९ १० ११ १२
बड़ पीपल ऊंबर कठूंबर, पाकर फल जो होय अजान।
१३ १४ १५ १६ १७ १८ १९
कन्दमूल माटी विष आमिष मधु मक्खन अरु मदिरापान,
२० २१ २२
फल अति तुच्छ तुषार चलितरस जिनमत यह बाईस अखान॥

(१–५) बड़ के फल, पीपल के फल, गूलर के फल, कठूमर के फल और पाकर (पर्कटी) के फल, इन पाँच प्रकार के फलों में बहुत से सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं और अनगिनती त्रस जीव भी होते हैं। गूलर आदि के फल को तोड़ने से त्रस जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

(६) मदिरा—महुए के तथा खजूर के फल को या द्राक्ष आदि को सड़ा कर मदिरा बनाई जाती है। सड़ाने से उनमें अगणित जीव पैदा होते हैं। मदिरा में उनका अर्क भी शामिल ही निकलता है। मदिरा के सेवन से लोग पागल हो जाते हैं, बेभान होकर अन्टसन्ट बकते हैं और मल-मूत्र के स्थानों में और सड़कों पर गिरते-पड़ते बुरी हालत को प्राप्त होते हैं। माता, भगिनी और पुत्री के साथ भी कुकर्म करने पर उतारू हो जाते हैं। मदिरापान का व्यसन अतिशय निन्दनीय और अहितकारी है। इसके चंगुल में फँसने वाला पुरुष जीवन को पूरी तरह बर्बाद कर लेता है। शराबी को सभी

लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उसकी दशा बड़ी ही दयनीय होती है। जब नशे का उतार होता है तो माल खाने की इच्छा होती है। घर में पैसा नहीं बचता। तब स्त्री, माता आदि के गहने गिरवी रख कर माल खाता है। जब वह समाप्त हो जाते हैं तो उनसे झगड़ता है, मार-पीट करता है और उन्हें सताता है। शराबी को भक्ष्य-अभक्ष्य का भान नहीं रहता। शराबी का घर नरक सरीखा बन जाता है। उसे अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बनकर नरक का अतिथि बनना पड़ता है। इस कारण सभी मतों में इसके सेवन का निषेध किया गया है।

(७) मांस—मांस की प्राप्ति जीवहिंसा से ही होती है। कच्छप आदि जलमें रहने वाले प्राणी, गाय भैंस बकरे आदि ग्राम में रहने वाले प्राणी, हिरन, खरगोश, सुअर आदि जंगल में रहने वाले प्राणी, कबूतर, चिड़िया, कौवा आदि उड़ने वाले प्राणी जब मारे जाते हैं तभी मांस की निष्पत्ति होती है। सिर्फ पेट के गड्हे को भरने के लिए उपयोगी और उपकारी, दूध जैसे पौष्टिक पदार्थ देने वाले, ऊन आदि उपयोगी वस्तुएँ देने वाले और घास-पात जैसी मामूली वस्तुएँ खाकर अपना जीवन-निर्वाह करने वाले बेचारे निरपराध जीवों का कत्ल करना कितनी बड़ी कृतघ्नता है!

प्राचीन काल में ऐसा रिवाज था कि कट्टर शत्रु भी अगर मुंह में तिनका दबा ले तो उसे अभयदान मिलता था, तो फिर नित्य ही तिनके खाने वाले पशुओं को क्या पूरी तरह अभयदान नहीं मिलना चाहिए? वैदिक धर्म में कहा है कि ईश्वर ने मच्छ, कच्छ, वराह और नृसिंह, यह चार अवतार पशुयोनियों में धारण किये थे। ईश्वर के ऐसे प्यारे पशुओं का घात करना कितना भयंकर पाप है! विवेकवान् पुरुषों को इस बात पर अवश्य ही विचार करना चाहिए और कभी भी, किसी भी पशु का घात नहीं करना चाहिए और न मांसभक्षण ही करना चाहिए। इस्लाम धर्म के अनुयायी पेशाब को बहुत नापाक समझते है। कपड़े में उसका दाग न लग जाय, इस विचार से वे वजू करते हैं, मिट्टी के ढेले से गुप्तेन्द्रिय को साफ करते हैं। तो फिर पेशाब से उत्पन्न होने वाली वस्तु मांस का तो उन्हें स्पर्श

भी नहीं करना चाहिए। कुरानशरीफ के सुरायन पैरे में गोश्त को हराम बतलाया है। सुराह हज की ३६ वीं आयत में खुद अल्लाहताला ने फरमाया है कि गोश्त और लोहू मेरे पास नहीं पहुँच सकेगा, किन्तु एक मात्र परहेजगारी (पाप का डर और संयम) ही पहुँच सकेगा। इसी प्रकार बाईबिल के बीसवें प्रकरण में कहा है कि Thou shalt not kill अर्थात् जीव-हिंसा मत करो। इस प्रकार सभी धर्मों के माननीय शास्त्रों में हिंसा करने का निषेध किया गया है और हिंसा किये बिना मांस मिल नहीं सकता, अतः मांस खाने की मनाई तो आप हो गई! इसके अतिरिक्त मांस और रक्त अशुचि से भरा हुआ और दुर्गन्धयुक्त होता है। मांस क्षय, गंडमाल, रक्तपित्त, वात, पित्त, संधिवात, ताप, अतिसार आदि-आदि अनेक रोगों का उत्पादक होता है। धर्म से भ्रष्ट करने वाला, भविष्य में नरक गति में* ले जाने वाला और घोर अतिघोर दुःख देने वाला है। अतएव मांस सर्वथा अभक्ष्य है।

---

* *तुम्हं पियाइं मंसाइं, खंडाइं सोल्लगाणि य।*
खाइओ मि समंसाइं, अग्गिवण्णाइ णेगसो॥

—उत्तराध्ययन, अ. १६, ६६

अर्थात् परमाधामी देव नारक जीव से कहते हैं—तुझे मांस बहुत प्रिय था। मांस के टुकड़ों को तल-तल कर तू खाया करता था। तो ले, तुझे अब हम तेरे ही शरीर का मांस गरमागरम खिलाते हैं। यह तुझे खाना पड़ेगा! इस प्रकार कह कर उसके शरीर का मांस चीमटों से नोंच-नोंच कर और आग में गरम कर-करके खिलाते हैं। इस तरह मांसाहारी जीव की नरक में बड़ी दुर्दशा होती है।

हिंसामूलममेध्यमास्पदमलं ध्यानस्य रौद्रस्य यद्-
बीभत्सं रुधिराविलं कृमिगृहं दुर्गन्धिपूयादिकम्।
शुक्रासृक्प्रभवं नितान्तमलिनं सद्भिः सदा निन्दितं,
को भुङ्क्ते नरकाय राक्षससमो मांसं तदात्मद्रुहम्॥

अर्थात्—मांस हिंसा का कारण है-हिंसा करने पर ही निष्पन्न होता है, अपवित्र है, रौद्र ध्यान का कारण है, देखने में बीभत्स है, खून से लथपथ होता है, कृमियों—सूक्ष्म जन्तुओं का घर है, दुर्गन्धयुक्त पीव आदि वाला होता है, शुक्र-शोणित से उत्पन्न होने वाला, अत्यन्त मलीन और सत्पुरुषों द्वारा सदैव निन्दित है! ऐसे मांस का भक्षण कौन समझदार करेगा?

(८) मधु—अर्थात् शहद भी अभक्ष्य है। मधु-मक्खियाँ अनेक वनस्पतियों के फूलों के रस को इकट्ठा करके उस पर बैठती है। भील, कोल आदि असंस्कारी जाति के लोग आग लगा कर, धुआं करके मक्खियों को उड़ाते हैं और मक्खियों द्वारा बड़ी मुसीबत से तैयार किये हुए छत्ते को तोड़कर,

---

आत्मा का अकल्याण करने वाले मांस का सेवन वही करेगा जो नरक का मेहमान बनना चाहता है और राक्षस के समान है।

योऽत्ति यस्य यन्मांसमुभयोः पश्यतान्तरम्।
एकस्य क्षणिका तृप्तिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥

अर्थात्—जो मांस खाता है और जिसका मांस खाया जाता है, विचार कीजिए उन दोनों में कितना अन्तर है? मांस खाने वाले की क्षण भर के लिए तृप्ति होती है और जिसका मांस खाया जाता है वह बेचारा घोर कष्ट भोगता हुआ अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है?

कुछ लोग कहते हैं-हम अपने हाथों से हिंसा नहीं करते, तैयार मांस खरीद कर खा लेते हैं। ऐसा करने से हमें क्या दोष लगता है? किन्तु उनका यह कथन अज्ञानपूर्ण है, क्योंकि मांस खाने वाला भी उस हिंसा का अनुमोदक और सहायक है। मनुस्मृति में कहा है:-

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥

अर्थात्—(१) प्राणी के वध की आज्ञा देने वाला (२) शरीर पर घाव करने वाला (३) मारने वाला (४) खरीदने वाला (५) बेचने वाला (६) पकाने वाला (७) परोसने वाला (८) खाने वाला, यह आठों घातक हैं।

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं निरुक्तं मनुरब्रवीत् ॥

अर्थात्—निरुक्ति से मनुजी ने मांस का अर्थ इस प्रकार कहा—मां-मुझ को, सः—वह प्राणी परलोक में खायगा, जिसका मांस मैंने इस लोक में खाया है। तात्पर्य यह जो मनुष्य इस जीवन में जिसका मांस खाता है वह प्राणी आगामी जीवन में उसको खायगा।

आमासु य पक्कासु य, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
आयंतियमुववाओ, भणिओ दु णिगोयजीवाणं ॥

अर्थात—दिगम्बर जैन आम्नाय के ग्रंथ में कहा है-कच्चे मांस में, पकाये हुए मांस में, पकाये जाते हुए मांस में—मांस की प्रत्येक अवस्था में उसमें अनन्त निगोदिया जीवों की उत्पत्ति होती ही रहती है।

कपड़े में बाँधकर निचोड़ लेते हैं। निचोड़ते समय मक्खियों के अंडों का रस भी उसमें मिल जाता है। इस प्रकार घृणास्पद और पाप से पैदा होने वाला मधु खाने योग्य नहीं है।

(९) मक्खन— छाछ से अलग होने के बाद थोड़े ही समय में मक्खन में कृमि आदि जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। उसमें लीलन-फूलन भी आ जाती है। इसके अतिरिक्त मक्खन काम-विकार को उत्पन्न करने वाला होने से भी अभक्ष्य है।

(१०) हिम—बरफ कच्चे पानी का जमाया हुआ होने से असंख्य जीवों का पिण्ड है, अतएव अभक्ष्य है।

(११) विष— जहरीले पदार्थ, जैसे अफीम, वच्छनाग, सोमल भंग गांजा, तमाखू आदि नशा उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ भी अभक्ष्य हैं। इनमें कोई-कोई वस्तु शौक के लिए भोगी जाती है और कोई-कोई औषध के तौर पर। नशैली चीजें एक बार खाना शुरू करने पर फिर बहुत मुश्किल से छूटती हैं। शरीर को नष्ट कर देती हैं। इनके सेवन से क्षणिक जोश उत्पन्न होता है किन्तु परिणाम में अत्यन्त निर्बलता और मुर्दापन उत्पन्न करती हैं। नशैली वस्तुओं को सेवन करने वाला मनुष्य बलहीन तेजोहीन, रूपहीन बन जाता है। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। समय पर नशे की वस्तु न मिले तो बहुत ही दुःख होता है, तड़फता है और कभी-कभी अकालमृत्यु का शिकार हो जाता है। इसके अतिरिक्त अफीम आदि विषैले पदार्थ तैयार करने में अनेक त्रस जीवों का घात भी होता है। अतएव किसी भी प्रकार की नशैली वस्तु सेवन करने योग्य नहीं है।

(१२) ओला (करक-करा-गड़ा)—आकाश से बरसने वाले ओले भी असंख्य अप्काय जीवों का पिण्ड और रोगोत्पादक होने के कारण खाने योग्य नहीं हैं।

(१३) माटी—गेरू, गोपीचन्दन, खड़िया, मैनसिल आदि मृत्तिका खाने से पथरी, पाण्डुरोग, उदरवृद्धि, मंदाग्नि, बंधकोष आदि अनेक रोग

उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त वह असंख्य जीवों का पिण्ड होने से भी अभक्ष्य है।

(१४) रात्रिभोजन—सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पहले किसी भी वस्तु को खाना-पीना बिलकुल अनुचित है। कोई-कोई रात्रि में केवल अन्न नहीं खाते किन्तु मिठाई-पकवान खा लेते हैं, वह भी अनुचित है, क्योंकि रात्रिभोजन अन्धाभोजन है। रात्रि में भोजन करने से अनेक त्रस जीवों का भक्षण हो जाता है और तरह-तरह के रोग उत्पन्न होते हैं। छिपकली, मकड़ी, सर्प की गरल आदि रात्रिभोजन में खाकर कई मर गये हैं, ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं।

(१५) पंपोट फल—अनार, बैंगन, अंजीर, टमाटर आदि बहुत बीज वाले फल भी भक्षण करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि जितने बीज उतने ही जीव उनमें होते हैं।

(१६) अनन्तकाय❀—(१) सूरणकन्द (२) वज्रकन्द (३) हरी हल्दी (४) अदरख (५) कचूरा (६) सवतारी (७) विराली (८) कुँवारी (९) थूहर (१०) गुड़वेल (११) लहसुन (१२) वंश करेला (१३) गाजर (१४) साजी वृक्ष (१५) पद्मकन्दी (१६) गिरकरणी (नये पत्ते की वल्ली), (१७) खीर-

---

❀ *लशुनं गंजनं चैव, पलाण्डं पिण्डमूलकः।*
मत्स्यो मांसं सुरा चैव, मूलकंतु ततोऽधिकम्॥
वरं भुक्तं पुत्रमांसं, न च मूलं तु भक्षितम्।
भक्षणाज्जायते नर्कं, वर्जनात्स्वर्गमिष्यते॥

—पद्मपुराण

अर्थात्—लहसुन, कांदा, (प्याज), मूलक, मांस और मदिरा का भक्षण नहीं करना चाहिए। कदाचित् दुष्काल आदि के प्रसंग में खाने को अन्न न मिले तो मृतक पुत्र का मांस भले खा ले किन्तु कंद का भक्षण तो कदापि नहीं करना चाहिए, क्योंकि कन्द आदि के भक्षण से नरक में उत्पन्न होना पड़ता है और उनका त्यागी स्वर्ग में जाता है।

मनुस्मृति अ० ५ में कहा है कि जो शाक, फलादि विष्टामूत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न हुए हैं, वे अभक्ष्य हैं।

कन्द (१८) थेगकन्द (१६) हरी मोथ (२०) लोण वृक्ष की छाल (२१) खिलूड़ाकन्द (२२) अमर बेल (२३) मूली (२४) भूफोड़ा (२५) विरूड़ा (धान्य के अंकुर), (२६) ढग बथुआ (२७) सुवबाल (कांदा-प्याज), (२८) पालका शाक (२६) जिसमें गुठली न बँधी हो ऐसी कच्ची इमली (३०) आलू (३१) पिण्डालु और (३२) जिसके तोड़ने पर दूध निकले तथा जिसकी सन्धि टूटने के बाद उष्ण प्रतीत हो, नस-सन्धि-गांठ प्रत्यक्ष दीखती हो, जिसमें गुठली न बँधी हो ऐसा कोई भी फल, और मोठ, चना, मूँग आदि को भिगाने से निकले हुए अंकुर, यह सब अनन्तकाय हैं। यह अनन्तानन्त जीवों का पिण्ड होने से अभक्ष्य हैं।

(१७) अथाना—आम, नीबू, मिर्च आदि के अचार में बहुत दिनों तक रहने के कारण फूलन और त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। वह सड़ जाता है। अतएव ऐसा अथाना (अचार) भी खाने योग्य नहीं है।

(१८) घोल बड़े—कच्चे दही को पानी में घोलकर उसमें बड़े (पकौड़े) डाले जाते हैं। वे कुछ समय बाद खदबदा जाते हैं। वे भी अभक्ष्य हैं।

(१६) बैंगन—बैंगन की आकृति भी खराब होती है और उसमें बीज बहुत अधिक होते हैं, अतः अभक्ष्य है।

(२०) अनजाने फल—जिस फल का नाम और गुण मालूम न हो, उसका भक्षण करना उचित नहीं है। उससे अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति की, यहाँ तक की मृत्यु की भी सम्भावना रहती है।

(२१) तुच्छफल—जिसमें खाने योग्य अंश कम हो और फैंकने योग्य अंश अधिक हो, वह त्याज्य है। जैसे—ईख (सांठा), सीताफल, बेर तथा जामुन।

(२२) चलितरस—जो वस्तु बिगड़ कर खट्टी से मीठी और मीठी से खट्टी हो गई हो, दुर्गन्ध आने लगी हो वह त्याज्य है। ऐसी वस्तु से रोगोत्पत्ति तथा असंख्यात जीवों की हिंसा होने की सम्भावना रहती है।

सातवें व्रत के अतिचार



सातवें व्रत के भोजन सम्बन्धी पाँच और कर्म (व्यापार) सम्बन्धी पन्द्रह अतिचार हैं। इस प्रकार इस व्रत के अतिचारों की संख्या २० है। भोजन सम्बन्धी अतिचार इस प्रकार हैः—

(१) सचित्त आहार—जहाँ तक काम चल सकता हो, श्रावक को सचित्त वस्तु (वनस्पति, पानी) मात्र का त्याग कर देना चाहिए। काम न चल सकता हो या त्याग की इतनी मात्रा न बढ़ पाई हो तो मर्यादा तो करनी चाहिए। श्रावक ने जिस सचित्त वस्तु का प्रत्याख्यान कर दिया है, वह वस्तु भोजन में आ जाय और भली-भाँति निर्णय न हो सके कि यह सचित्त है या अचित्त है, तब तक उसका उपभोग करना योग्य नहीं है। उपभोग करने से अतिचार लगता है। जिसने सचित्त वस्तुओं की मर्यादा की है, वह कदाचित् की हुई मर्यादा को भूल जाय तो जब तक स्मरण न हो तब तक सचित्त वस्तु का उपभोग न करे। अगर वह उपभोग कर ले तो उसे अतिचार लगता है।

(२) सचित्त प्रतिबद्ध आहार—पका हुआ आम, खरबूजा आदि ऊपर से निर्जीव है और उसके अन्दर के बीज तथा गुठली सजीव हैं। वृक्ष से तुरत का तोड़ा हुआ गोंद, तत्काल पीसी हुई चटनी, तत्काल का धोवन-पानी, इत्यादि वस्तुएँ सचित्तप्रतिबद्ध कहलाती हैं। आम आदि की गुठली को अलग करने से पहले तथा चटनी आदि पर पूरी तरह से शस्त्र का परिणमन होने से पहले, सचित्त का त्यागी उनका उपभोग करे तो अतिचार लगता है।

(३) अपक्वभक्षण—आम, केले, आदि फल पकाने के लिए किसी घास आदि में दबाये हों किन्तु पूरी तरह पके न हों, हरी तरकारी पूरी पकी (सीझी) न हो, चने के बूँट, गेहूँ की उंबी, जवार के हुरड़े, बाजरे के पूँख,

मक्का के भुट्टे, आग में भूँजे गये हों तो उनमें कई दानें सचित्त (कच्चे) भी रह जाते हैं। उन्हें अचित्त समझ कर खाने से अतिचार लगता है।

(४) दुष्पक्वभक्षण—जो वस्तु बहुत पक कर बिगड़ गई हो, सड़ गई हो, दुर्गन्धित हो गई हो, जिसमें त्रस जीव उत्पन्न हो गये हों, ऐसी वस्तु को खाने से अतिचार लगता है।

(५) तुच्छभक्षण—ईख, सीताफल, बोर, सेंमले की फली आदि वस्तु, जिसमें खाद्य अंश बहुत कम और फैंकने योग्य अंश ज्यादा होता है, खाने से अतिचार लगता है।

पन्द्रह कर्मादान



(१) अंगार कर्म—कोयला बना-बना कर बेचने का व्यापार करना, तथा लुहार, सुनार, कुम्भार, हलवाई, भड़भूजा, धोबी, कसेरा, धातुमार, भील और गिरनियों आदि का व्यापार करना, जो कि अग्नि के आरम्भ से होता है।

(२) वन कर्म—बाग-बगीचा-बाड़ी आदि में फल, फूल, भाजी आदि उत्पन्न करके बेचने का धन्धा करना, कूँजड़े का व्यापार करना, वन में से घास, लकड़ी काट कर लाना और बेचना कन्दमूल लाकर बेचना, सुथारी का धन्धा करना, यह वनकर्म है।

(३) शकटकर्म—गाड़ी, रथ, छकड़ा बग्घी, तांगा, म्याना, पालकी, नाव, जहाज आदि बना-बनाकर बेचना या उनके उपकरण चक्र आदि बेचना।

(४) भाटीकर्म—ऊँट, घोड़े, गधे, बैल, गाड़ी, जहाज आदि को भाड़े पर दूसरों को देना।

(५) स्फोटकर्म—जमीन को फोड़ने का व्यापार करना, मिट्टी, पत्थर, कंकर, मुरड़, सिला, रेल के कोयले आदि को खुदवाकर उनका व्यापार

करना, कूप, बावड़ी, कुंड, तालाब, नहर आदि बनवा-बनवाकर बेचना, घट्टी (चक्की), ऊखली, कुंडी, खरल आदि पत्थर के बना-बनाकर बेचना, हल-बखर आदि से पृथ्वी सुधारने का धन्धा करना, तथा ऐसे ही विशिष्ट आरम्भ के अन्य कार्य करना।

(६) दन्तवाणिज्य—हाथी के दांतों* का, उल्लू या व्याघ्र के नाखूनों का, हिरण या व्याघ्र आदि के चमड़े का, चमरी गाय की पूँछ के बालों× का तथा शंख सीप कौड़ी और कस्तूरी आदि का व्यापार करना।

(७) लाक्षावाणिज्य—लाख, चपड़ी, गोंद, मनसिल, धावड़ी के फूल, कुसुँबा हड़ताल, आदि का व्यापार लाक्षावाणिज्य में अन्तर्गत है।

(८) रसवाणिज्य—मदिरा आदि रसों का व्यापार करना।

(६) विषवाणिज्य—अफीम, वच्छनाग, सोमल, धतूरा आदि जहरीली प्राणघातक वस्तुओं का तथा तलवार, खड्ग, बंदूक, तोप आदि शस्त्रों का व्यापार करना।

(१०) केशवाणिज्य—पशुओं और पक्षियों का व्यापार करना या मनुष्यों को बेचना आदि।

(११) यन्त्रपीडनकर्म—तेल निकालने की घानी, ईख आदि पीलने की कोल्हू आदि अथवा इनके पुर्जे बना कर बेचने का धंधा करना।

---

* हाथी पकड़ने वाले खूब गहरा गड्हा खोद कर, उसके ऊपर पतले बांस बिछा देते हैं और कागज की हथिनी खड़ी कर देते हैं। हाथी, हथिनी के आकर्षण से वहाँ जाता है और बांसों के टूटते ही गड्ढे में गिर कर मृत्यु को प्राप्त होता है। उसकी हड्डियों के चूड़े बनते हैं। सुनते हैं फ्रांस देश में प्रति वर्ष सत्तर हजार हाथी मारे जाते हैं। हाथी दांत के व्यापारी और उसकी बनी वस्तुओं का उपयोग करने वाले भी उस पाप के भागी होते हैं। जैन जैसे दयालु समाज में से हाथी-दांत के चूड़े पहनने का रिवाज शीघ्र बन्द हो जाना चाहिए।

× जिन्दी चमरी गाय की पूंछ दगा से काट ली जाती है, जिसके चमर बनते हैं और अत्यन्त खेद की बात है कि धर्मस्थानों में भी उनका प्रयोग किया जाता है। पूंछ काटने से कभी-कभी गाय की मौत भी हो जाती है।

(१२) निर्लाञ्छन कर्म—बैल, घोड़े आदि पशुओं को खस्सी करना। (अंडकोष फोड़कर उन्हें नपुंसक बनाना) उनके कान, नाक, सींग, पूँछ आदि अंगों को छेदन करना, मनुष्यों को नाजर करना (अंग-भंग करके नामर्द बनाना), इस प्रकार के कार्य निर्लाञ्छन कर्म कहलाते हैं।

(१३) दवाग्निदापनिकाकर्म—बाग-बगीचा में, खेत में तथा जंगल में धान्य, घास या वृक्ष अधिक उगाने के लिए आग लगाना। कई भील आदि असंस्कारी लोग धर्म समझ कर जंगल में आग लगा देते हैं। यह 'दवग्गि-दावणियाकर्म' कहलाते हैं।

(१४) सरद्रहतालाबशोषणकर्म—तालाब, कुंड, आदि जलाशयों को सुखाने का कार्य करना। (इससे उस जल काय की हिंसा तो होती है, जलाशय में रहे हुए मछली आदि त्रस जीवों की भी अपरिमित हिंसा होती है।)

(१५) असतीजनपोषणकर्म—असती अर्थात् दुराचारिणी स्त्रियों का पोषण करके उनसे दुराचार का सेवन करवा कर द्रव्य उपार्जन करना*;

---

*असतियों को पाल-पोस कर दुराचार करवा कर आजीविका चलाना अतीव गर्हित निर्लज्जतापूर्ण और पापमय कार्य है। इसके फलस्वरूप समाज में दुराचार की, व्यभिचार की प्रवृत्ति बढ़ती है, बहुतों का जीवन नष्ट हो जाता है और गर्भपात आदि घोर अनर्थ होते हैं।

कितनेक लोग 'असईजन' की जगह भ्रम से या धोखा देने के लिए 'असंजईजन' पाठ बदल देते हैं और कहते हैं कि असंयती अर्थात् अव्रती का पोषण करने से कर्मादान का पाप लगता है। किन्तु ऐसा पाठ और अर्थ शास्त्रविरुद्ध है। उपासकदशांगसूत्र में उल्लेख है कि आनन्द आदि श्रावकों के यहाँ हजारों-हजारों गायें थीं। भगवतीसूत्र में, तुंगियानगरी के श्रावकों की ऋद्धि का वर्णन करते कहा है कि उन श्रावकों के यहाँ गायें, भैंसे, बकरे आदि पशु बहुत थे और दास-दासियाँ भी बहुत थीं। वे सब असंयमी ही होने चाहिए, फिर भी श्रावक उनका पालन-पोषण करते थे। अगर उनका पोषण न किया जाता तो पहले व्रत का पाँचवाँ अतिचार 'भत्तपाणविच्छेए' नामक अतिचार लगता। इसलिए जो लोग सूत्रपाठ को उलट कर या बदल कर उलटा अर्थ करते हैं वे वज्र-कर्मों का बंधन करते हैं। आत्महित चाहने वालों को उनके चक्कर में नहीं आना चाहिए और ऊपर जो अर्थ किया है वही अर्थ यथार्थ समझना चाहिए। न तो दया करने से वंचित होना चाहिए और न दान देने से ही। दया-दान से आत्मा का परम कल्याण होता है।

तथा चूहा मारने के लिये बिल्ली पालना, बिल्ली को मारने के निमित्त कुत्ता पालना, शिकारी कुत्ते आदि पाल कर बेचना, इत्यादि इस प्रकार के धंधे करना असतीजनपोषणकर्म कहलाता है। दया की भावना से अथवा किसी दुखी पशु-पक्षी मनुष्य की रक्षा करने के उद्देश्य से जीवों का पालन किया तो दोष नहीं है।

उक्त पन्द्रह ही कर्मादान विशेष कर्मबंधन के कारण हैं, क्योंकि इनमें जीवहिंसा की अधिकता है। कितनेक व्यापार ऐसे भी हैं जो अनर्थकारी हैं अथवा निन्दित हैं। अतएव यह श्रावक को करने योग्य नहीं हैं। किन्तु कदाचित् उसी व्यापार से आजीविका चलती हो तो उसकी मर्यादा अवश्य करनी चाहिए। जैसे आनन्द श्रावक ने ५०० हलों की जमीन रक्खी थी। सकडाल कुंभार निम्बाड़े पचा कर ही अपनी आजीविका करते थे।

इस प्रकार जो श्रावक बीसों अतिचारों से बच कर सातवें व्रत का पालन करते हैं, वे मेरु पर्वत के बराबर पापों से बच जाते हैं और सिर्फ राई के बराबर पाप ही उन्हें लगता है। वे शारीरिक आरोग्यता और मानसिक शान्ति, निराकुलता, संतोष और सुख के साथ अपना जीवन व्यतीत करके स्वर्ग के और क्रमशः मोक्ष के अनन्त सुख के भोक्ता बन जाते हैं।

आठवां व्रत—अनर्थदण्डविरमण



दण्ड दो प्रकार के हैं—अर्थदंड अनर्थदंड। अपने शरीर आदि की रक्षा के लिए अथवा कुटुम्ब-परिवार, समाज-देश आदि के पालन-पोषण करने के लिए जो आरंभ होता है, वह अर्थदण्ड कहलाता है। और बिना प्रयोजन अथवा प्रयोजन से अधिक जो आरंभ किया जाता है, वह अनर्थदंड कहलाता है। अर्थदंड की अपेक्षा अनर्थदंड में ज्यादा पाप होता है, क्योंकि अर्थदंड में आरंभ करने की भावना गौण और प्रयोजन को सिद्ध करने की भावना प्रधान होती है, जब कि अनर्थदंड में आरंभ करने की बुद्धि प्रधान होती है और प्रयोजन कुछ होता नहीं।

गृहस्थ श्रावक साधु के समान पूरी तरह दंड से निवृत्त नहीं हो सकते, क्योंकि प्रयोजनवश उन्हें आरम्भ-समारम्भ करना पड़ता है, तथापि श्रावक इस बात का भली-भाँति ध्यान रखते हैं कि अनिवार्य आवश्यकता से अधिक आरम्भ न हो। वे उस आरम्भ में आसक्त भी नहीं बनते। जो कार्य आरम्भ के बिना नहीं होते उन्हें करते हुए भी अनुकम्पा और विवेक के साथ उन्हें यथासम्भव संकुचित करते जाते हैं और अवसर प्राप्त होने पर सर्वथा त्याग कर देने की अभिलाषा रखते हैं। निरर्थक दंड से पूरी तरह बचते हैं। अनर्थ-दण्ड के मुख्य चार प्रकार हैं:—

(१) अपध्यानाचरित—अर्थात् असत्, अशुभ या खोटे विचार करना। जैसे—(१) इष्टकारी स्त्री, पुत्र, स्वजन, मित्र, स्थान, खानपान, वस्त्राभूषण, आदि का संयोग मिलने पर आनन्द में मग्न हो जाना और इन सब के वियोग में तथा ज्वर आदि कोई रोग हो जाने पर दुःख मनाना, हाय हाय करना, सिर और छाती पीटना। यह सब आर्त्तध्यान कहलाता है। (२) हिंसा के काम में मृषावाद के काम में, चोरी के काम में तथा भोगोपभोग के संरक्षण के कार्य में आनन्द मानना, दुश्मनों की घात या हानि होने का विचार करना। यह रौद्रध्यान कहलाता है। यह दोनों ध्यान अपध्यान हैं। श्रावक को ऐसे विचार नहीं करने चाहिए। कदाचित् ऐसे अशुभ विचार उत्पन्न हो जाएँ तो सोचना चाहिए—'रे चेतन ! स्वर्गलोक की ऋद्धि और देवों का सुख तू अनन्त बार भोग आया है, नरक की असीम यातनाएँ भी तू ने अनन्त बार भोगी हैं। उनके सामने यह सुख-दुःख तो किसी गणना में ही नहीं हैं। और पापारम्भ के कार्य और विचार से चिकने कर्मों का बन्ध होता है। उन कर्मों का फल भोगते समय बड़ी वेदना होती है। तू नाहक कर्म का बन्ध क्यों करता है ?' इस प्रकार विचार करके समभाव धारण करना चाहिए और खोटे विचार को उत्पन्न होते ही शुभ विचार के द्वारा दबा देना चाहिए।

(२) प्रमादाचरित—प्रमाद करना भी अनर्थदण्ड है। प्रमाद पाँच प्रकार के हैं—

मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया ।
एए पंच पमाया, जीवा पाडंति संसारे ॥

अर्थात्—मदिरा आदि नशा करने वाले पदार्थों का सेवन, पाँच इन्द्रियों के २३ विषयों में लुब्धता, क्रोध आदि चार कषाय, निद्रा और स्त्रीकथा आदि चार निरर्थक विकथाएँ तथा विषय-वासनाजनक बातें, यह पाँच प्रमाद हैं। इन प्रमादों में से एक-एक प्रमाद का सेवन करने वाले भी अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हैं, तो पाँचों प्रमादों को सेवन करने वालों की क्या दशा होगी ? ऐसा विचार करके श्रावक को चाहिए कि वह पाँचों प्रमादों को कम से कम करने के लिए और अन्ततः पूरी तरह त्यागने के लिए यत्नशील बने।

प्रमाद के दूसरे प्रकार से आठ भेद कहे गये हैं। यथा—

अण्णाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य ।
राग-दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणादरो ॥
जोगाणं दुप्पणिहाणं, पमाओ अट्ठहा भवे ।
संसारुत्तारकामेणं, सव्वहा वज्जियव्वओ ॥

अर्थात्—(१) अज्ञान में रमण करना (२) बात-बात में वहम करना (३) पापोत्पादक कहानियाँ, कोकशास्त्र आदि असत् साहित्य को पढ़ना (५) धन-कुटुम्ब आदि में अत्यन्त आसक्त होना (५) विरोधियों पर तथा अनिष्ट वस्तुओं पर द्वेष धारण करना (६) धर्म, धर्मक्रिया एवं धर्मात्मा का आदर न करना और (८) खोटे विचार, खोटे उच्चार तथा खोटे आचार से तीनों योगों को मलीन करना, यह आठों प्रमाद संसार-सागर से पार होने की इच्छा रखने वालों को सर्वथा त्याग देने चाहिए। क्योंकि इनके सेवन से लाभ कुछ होता नहीं, उनसे कर्मबंध सहज ही हो जाता है।

कितनेक लोग ताश, शतरंज, चौपड़ आदि के खेल में, इधर-उधर की गप्पें मारने में या खराब पुस्तकों के पढ़ने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उन्हें समय का भी ध्यान नहीं रहता और खाना-पीना भी भूल जाते हैं।

ऐसे लोग अनेक प्रकार की बीमारियों से पीड़ित हो जाते हैं। उनके आगे तरह-तरह की झंझटें खड़ी हो जाती हैं। वे सज्जनों से भी शत्रुता कर लेते हैं। ताश आदि के खेल में जो हार जाता है वह शर्मिन्दा होता है और दुर्व्यसनी बन जाता है। ताश आदि खेलते-खेलते जुआ खेलने की आदत पड़ जाती है। जुआ खेलने की आदत सारी सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि पर पानी फेर देती है और कारागार आदि की सजा का भागी बना देती है। इससे सारा जीवन और भविष्य दुःखमय हो जाता है।

ऐसे कुकर्मों में जो समय बर्बाद किया जाता है उसे धर्मोपदेश सुनने में, धार्मिक पुस्तकें पढ़ने में, सेवा या परोपकार के कार्य में लगाया जाय तो कितना अच्छा हो! इस प्रकार अपने समय का सदुपयोग करने वाला बहुतों का प्यारा बन जाता है, मान-सन्मान प्राप्त करता है, कीर्ति और प्रतिष्ठा का उपार्जन करता है। अतएव फुर्सत का समय बुरे कामों में न व्यय करके सत्कार्यों में व्यय करना ही उचित है।

कोई-कोई अज्ञानी साफ रास्ता छोड़ कर इधर-उधर उबट में चलते हैं और कच्ची मिट्टी, सचित्त पानी, वनस्पति, दीमकों और चींटियों के बिलों को कुचलते हुए चलते हैं। चलते-चलते विना प्रयोजन वृक्षों की डाली, पत्ते, फूल, घास, तिनका आदि तोड़ते जाते हैं। हाथ में छड़ी हुई तो चलते रास्ते वृक्ष को, गाय को या कुत्ता आदि को मारते चलते हैं। अच्छी जगह छोड़ कर मिट्टी के ढेर पर, अनाज की राशि पर, धान्य के थैलों पर अथवा हरी घास आदि पर बैठ जाते हैं। दूध, दही, घी, तेल, छाछ, पानी आदि के बर्तनों को विना ढँके छोड़ देते हैं। खांडने, पीसने, लीपने, रांधने, धोने आदि कामों के लिए ऊखल, मूसल, खलबट्टा, चक्की, चूल्हा, वस्त्र, बर्तन आदि को विना देखे-भाले ही काम में ले आते हैं। ऐसा करने से भी बहुत वार त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार के सभी कार्य प्रमादाचरित समझने चाहिए। इनका सेवन करने से लाभ तो कुछ भी नहीं होता है और हिंसा आदि पापों का आचरण होने से घोर कर्मों का बंध हो जाता

है, जिनका फल बड़ी कठिनाई से भोगना पड़ता है। ऐसा जान कर श्रावकों को प्रमादाचरित अनर्थदण्ड से सदैव बचते रहना चाहिए।

(३) हिंसाप्रदान या हिंसावचन—अर्थात् विना प्रयोजन हिंसक साधनों को देना और हिंसाकारी वचन बोलना। जैसे—

सुकडित्ति सुपक्किचि, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी॥

—दशवैकालिकसूत्र

अर्थात्—मकान, वस्त्र, आभूषण, पकवान आदि को देखकर कहना कि—'बहुत अच्छा बनाया।' वृक्ष आदि के फलों को तथा माल-मसाले से युक्त भोजन को देखकर कहना—'बहुत बढ़िया पकाया है! यह खाने योग्य बना है!' तथा फल, शाक, भाजी आदि को बारीक काटा देख कर कहना—'बहुत सुन्दर काटा है! यह मण्डप आदि बहुत अच्छा बनाया है! इस काठ पर या इस पाषाण पर कोरनी बहुत बढ़िया की है! कृपण का धन चोर ने चुरा लिया, मकान जल गया या दिवाला निकल गया सो अच्छा ही हुआ! वह दुष्ट, पापी, अन्यायी, पाखण्डी या साँप-बिच्छू, खटमल, मच्छर आदि मर गये सो अच्छा ही हुआ! उनका मर जाना ही अच्छा था! घर, दुकान, दही तथा हार-तोरे आदि को देख कर कहना—इन्हें बहुत अच्छा जमाया है। किन्हीं मनोरम स्त्री-पुरुष को देखकर कहना—यह हृष्ट-पुष्ट हैं, जल्दी ही इनका विवाह कर दो! यह बकरा खूब मस्त है, यह वध करने योग्य है। यह सब और ऐसे ही अन्य वचन हिंसा की प्रशंसा रूप होने से तथा हिंसा की वृद्धि करने वाले होने के कारण बोलने योग्य नहीं हैं।

इसी प्रकार हिंसाजनक अन्य वचन बोलना भी अनर्थदण्ड ही है। जैसे—स्नान कर लो, फूल-फल, धान्य आदि अभी सस्ते हैं, इन्हें खरीद लो। खा लो। बैठे-बैठे क्या करते हो, कुछ रोजगार धन्धा करो, वर्षा का मौसिम आ गया है अपना घर सुधरवा लो, खेत को सुधार लो, धान्य बोओ, सर्दी बहुत पड़ रही है तो अलाव जला कर ताप लो, पानी का छिड़काव

करो, पुराना घर गिरा दो, नया घर बनवा लो, लीपो, छाओ, रंगो, आहार बनाओ, पानी लाओ आदि-आदि। इस प्रकार निरर्थक हिंसाकारी वचन बोलने से, वृथा ही पाप को उत्तेजना देने से पाप का भागी बनना पड़ता है। दूसरा ऐसे काम करता है तो अपने प्रयोजन से करता है, किन्तु उसकी सराहना या उसके लिए उत्तेजना करने वाले के हाथ कुछ नहीं आता! व्यर्थ ही आत्मा पर कर्मों का बोझ बढ़ता है।

इसी प्रकार तलवार, बंदूक, आग आदि हिंसा के उपकरण दूसरों को देने से भी वृथा पाप-कर्म का बंध होता है।

(४) पापकर्मोपदेश—पाप-कर्म का उपदेश देना। जैसे—खटमल, मच्छर, साँप, बिच्छू आदि क्षुद्र जानवरों को मारने के लिए उपदेश देना, रुद्राणी या भैरव आदि देवों को भैंसा, बकरा, मुर्गा आदि जीवों का भोग देने की सलाह देना, ऋतुदान में धर्म बतलाना आदि। इसी प्रकार लड़ाई-झगड़े का, दूसरों को फँसाने का, झूठा मुकदमा चलाने का, झूठी गवाही देने का, विषयभोग करने के चौरासी आसनों का, चोरी करने का उपदेश देना भी पापकर्मोपदेश है। ऐसा उपदेश देने वाले के उपदेश को सुनकर मनुष्य जिस पापकर्म में प्रवृत्ति करता है, उस पापकर्म का भागी उपदेशदाता भी होता है। मिथ्याधर्म-कर्म की वृद्धि होने से अनेकों की आत्मा का अहित होगा। और उपदेश देने वाले को कुछ भी लाभ नहीं होगा! अतएव ऐसे दण्ड से अपनी आत्मा को दण्डित करना श्रावक के लिए उचित नहीं है। अतः दो करण तीन योग से अनर्थदण्ड का त्याग करके इस व्रत को पहले व्रत के समान अंगीकार करना चाहिए।

आठवें व्रत के पाँच अतिचार



(१) कंदप्पे (कन्दर्प)—अर्थात् कामोत्पादक कथा करना, जैसे—स्त्रियों के सन्मुख पुरुष के और पुरुष के सन्मुख स्त्री के हावभाव, विलास, खानपान शृंगार, भोगोपभोग, गमनागमन, हँसी-विनोद, गुप्त अंगोपांगों का वर्णन

रूप विकार-जनक बातें कहने से कहने वाले और सुनने वाले के चित्त में विकार उत्पन्न होता है, अनेक प्रकार की दूषित भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, और कुकर्म में प्रवृत्ति होती है। अतएव यह अतिचार कहा गया है।

(२) कुक्कुइए (कौत्कुच्य)—काय से कुचेष्टाएँ करना। जैसे-भौंहें मटकाना, आँख टमकाना, होठ बजाना, नासिका मोड़ना, उबासी लेना, मुँह मलकाना, हाथ-पैर की उंगलियाँ बजाना, हाथ-पैर नचाना, इत्यादि विकार पैदा करने वाली अंग-चेष्टाएँ करना। तथा होली के दिनों में नग्न पुतला बिठलाना, नग्न रूप धारण करके अशिष्ट गान नृत्य करना आदि।

(३) मोहरिए (मौखर्य)—वैरी के समान वचन बोलना। जिस वचन के बोलने से अपने या दूसरे के आत्मिक गुणों का, द्रव्य का या मनुष्य का नुकसान हो, ऐसा वचन बोलना, असम्बद्ध वचन बोलना, वचन की चपलता करना, वाचालता धारण करना, असभ्य गालियाँ देना, रे तू आदि तुच्छ वचन बोलना, खराब गायन ख्याल आदि बनाना या गाना, गालियाँ गाना काम-राग उत्पन्न करने वाले तथा द्वेष जगाने वाले वचन बोलना, यह सब मौखर्य नामक अतिचार है। ऐसे वचन बोलने से निन्दा होती है, झगड़े होते हैं और मारपीट आदि अनेक प्रकार के उपद्रव उठ खड़े होते हैं। यह काम असंस्कारी और अज्ञानी जनों के हैं। श्रावक को उनकी देखादेखी नहीं करनी चाहिए।

(४) संजुत्ताहिगरण (संयुक्ताधिकरण)-अर्थात् शस्त्र का संयोग मिलाना जैसे-ऊखल हो तो मूसल और मूसल हो तो ऊखल नया बनवाना, चक्की का एक पाट हो तो दूसरा बनवाना, चाकू, छुरी, तलवार आदि को हत्था या मूँठ लगवाना, धार भोटी हो गई हो तो तीक्ष्ण करवाना, कुल्हाड़ी बरछी हल आदि में डंडा आदि लगवाना, इस प्रकार अपूर्ण उपकरण को पूर्ण करने से वे आरंभ की वृद्धि करने वाले बन जाते हैं, कोई दूसरा माँगे तो उन्हें भी देने पड़ते हैं। ऐसा जान कर अपूर्ण शस्त्र को विना प्रयोजन पूर्ण नहीं कराना चाहिए। और आवश्यकता से अधिक शस्त्रों का संग्रह भी नहीं करना चाहिए। जो शस्त्र घर में हों उन्हें इस प्रकार गुप्त रखना चाहिए कि

वे अन्य के हाथों न पड़ें। इस प्रकार श्रावक को ऐसे कार्यों में सावधान रहना चाहिए।

(५) उवभोगपरिभोगाइरित्ते (उपभोग-परिभोगातिरिक्त)-अर्थात् उपभोग और परिभोग में अति आसक्त बन कर उपभोग-परिभोग के साधन आवश्यकता से अधिक जुटाना। तथा नाटक, चेटक, खेल, तमाशा, स्त्री-पुरुषों के रूप का निरीक्षण करने में, राग-रागिणी और वादित्र सुनने में, अतर-पुष्प आदि की सुगंध सूँघने में, मनोज्ञ भोजन के उपभोग में, स्त्री-प्रसंग आदि में अत्यन्त आसक्त बनना। 'वाह वाह! क्या मजा है ?' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करना आदि। इस प्रकार भोगोपभोग में आसक्त बनने से जीव तीव्र रस वाले, चिकने और लम्बी स्थिति वाले दुस्सह्य कर्मों का बंध करता है। ऐसा जान कर श्रावक अप्राप्त भोगों की इच्छा मात्र नहीं करता और प्राप्त भोगों में अत्यन्त आसक्त नहीं बनता। लाला रणजीतसिंहजी ने बृहदालोयणा में कहा है—

समझा शंके पाप से, अनसमझा हर्षन्त।
वे लूखे वे चीकने, इस विध कर्म बंधंत।
समझ सार संसार में, समझा टालै दोष।
समझ समझ कर जीवड़े, गये अनन्ते मोक्ष॥

अर्थात् ज्ञानी पुरुष प्रथम तो पाप-कर्म करते ही नहीं हैं, कदाचित् करने पड़ें तो वे मन ही मन शंकित होते हैं, पाप-कर्म से डरते रहते हैं। इस प्रकार रूक्ष वृत्ति से जो पापकर्म लगते हैं उनमें चिकनापन नहीं होता। जैसे भींत पर रेत की मुट्ठी डाल दी जाय तो वह लगकर उसी समय हट जाती है, उसी प्रकार उनके कर्म भी जप, तप तथा प्रायश्चित्त-पश्चात्ताप करने से छूट जाते हैं। अतएव संसार में मनुष्यजन्म आदि उत्तम सामग्री प्राप्त करने का यही सार है कि समझ (सम्यग्ज्ञान) प्राप्त करके आत्महित किया जाय। जो ज्ञानी होगा वह पुण्य-पाप के फल को यथार्थ रूप से समझेगा और पुण्य को सुखदाता तथा पाप को दुःखदाता समझ लेगा। वह पुण्य की वृद्धि करेगा और पाप से यथासंभव बचने की कोशिश करेगा। वह पाप को

घटाता-घटाता किसी समय पाप से सर्वथा रहित हो जायगा और पुण्य से स्वतः निवृत्त हो कर मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

इसके विपरीत अज्ञानीजन पापकर्म का आचरण करके हर्षित होते हैं। वे पाप-कर्म में लुब्ध होते हैं। इस कारण उन्हें बहुत चिकने कर्मों का बन्ध होता है। जैसे कर्दम का गीला लोंदा भीत से चिपक जाता है और फिर कठिनाई से छूटता है, उसी प्रकार अज्ञानी के कर्म भी बड़ी कठिनाई से छूटते हैं। अज्ञानी जीव नरक-निगोद के दुःख भोगते-भोगते, रो रोकर अपने चिकने कर्मों से छुटकारा पाता है।

भोगोपभोगों को चाहे लुब्ध होकर भोगो, चाहे रूक्ष भाव से भोगो, सुख तो एक ही सरीखा मिलेगा। रूक्ष भाव से खाने पर भी मिश्री मीठी लगेगी और लुब्धभाव से खाने पर भी वैसी ही लगेगी। फिर लुब्ध बनकर चिकने कर्म क्यों बाँधे जाएँ? यों व्यर्थ ही महान् दुःख उपार्जन कर लेना विवेकवान् व्यक्तियों के लिए उचित नहीं है।

चार शिक्षाव्रत



(१) जब कोई हितैषी किसी को रत्न आदि उत्तम और बहुमूल्य पदार्थ सौंपता है तो साथ में यह शिक्षा भी देता है कि—इसे सावधानी से सम्भालना, गँवा मत देना आदि। इसी प्रकार पूर्वोक्त पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों की भली-भाँति रक्षा करने के लिए चार शिक्षाव्रतों की शिक्षा दी गई है। चार शिक्षाव्रतों में प्रवृत्ति करने से भूतकाल में लगे दोषों का ज्ञान हो जाता है और भविष्य में सावधान रहने को शिक्षा मिलती है। इसी कारण इन्हें 'शिक्षाव्रत' कहते हैं।

(२) जैसे शिक्षक, अपने विद्यागुरु की उपासना करके विद्यावान् बन-कर संसार में सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करता है, उसी प्रकार चार शिक्षाव्रतों में प्रवृत्ति करने वाला श्रावक, पूर्वोक्त आठों व्रतों का बार-बार स्मरण करके

ऐसा आत्मबल प्राप्त कर लेता है कि जिससे उन व्रतों का सुखपूर्वक निर्वाह हो सके। इस कारण भी इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

(३) जैसे राजा या न्यायाधीश अपराध करने वाले को शिक्षा (दण्ड) देकर भूतकाल के अपराधों से निवृत्त करता है और भविष्य के लिए सावधान कर देता है, उसी प्रकार गुरु आदि, उक्त आठों व्रतों में प्रमाद आदि किसी कारण से हुई त्रुटि के लिए इन चार शिक्षाव्रतों में से किसी व्रत का दण्ड दे देते हैं, जिससे भूतकालीन दोषों की शुद्धि हो जाय और भविष्य में सावधानी रहे। इस कारण भी यह शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

शिक्षाव्रत चार हैं—(१) सामायिकव्रत (२) देशावकाशिकव्रत (३) पौषधोपवासव्रत और (४) अतिथिसंविभागव्रत। इन चारों का स्वरूप आगे क्रमशः प्रदर्शित किया जाता है:—

नौवाँ व्रत—सामायिक



जीव अजीव आदि समस्त पदार्थों पर तथा शत्रु-मित्र पर समभाव की प्रवृत्ति होना, आत्मा का आत्मस्वरूप में रमण करना निश्चय सामायिक है।*

** सामायिक का स्वरूप इस प्रकार है:—*

समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभभावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

अर्थात्—प्राणी मात्र के प्रति समता का भाव रखना, पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना, हृदय में शुभ भावना रखना और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करके धर्मध्यान में लीन होना सामायिकव्रत है।

इस सामायिकव्रत का अधिकारी कौन है, किसे पूरी तरह सामायिकव्रत की प्राप्ति होती है, इस विषय में श्रीअनुयोगद्वारसूत्र में कहा है—

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं॥

निश्चय सामायिक की प्राप्ति के उद्देश्य से व्यवहार सामायिक की जाती है। व्यवहार सामायिक करते समय संसार के सब पदार्थों से निवृत्तिभाव धारण करे, मिट्टी, पानी, अग्नि, पुष्पफल, धान्य, वनस्पति आदि सचित्त (सजीव) वस्तुओं से अलग रहे, पौषधशाला, उपाश्रय, स्थानक आदि एकान्त स्थान में, पगड़ी, अंगरखी, आभूषण* आदि गार्हस्थ्य-वेष का त्याग कर दे, पहनने-ओढ़ने के वस्त्र में कोई दाना या जीव-जन्तु न रहने पावे, इस उद्देश्य से उनकी प्रतिलेखना करे, प्रासुक (जीव-जन्तु से रहित) भूमि को रजोहरण या पूँजणी से प्रमार्जन करके, एक पुट आसन (ऊनी या सूती) बिछा कर, आठ पुट वस्त्र की मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके उसे मुंह पर बाँधे,+ इसके पश्चात् साधु या साध्वी हों तो उन्हें नमस्कार कर सामायिक ग्रहण करने की आज्ञा लेवे। अगर साधु-साध्वी न हों तो पूर्व तथा उत्तर दिशा की तरफ मुख रख खड़ा हो। फिर नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करके, तिक्खुत्तो के पाठ से नमस्कार करे।

नमस्कार मन्त्र और तिक्खुत्तो के पाठ इस प्रकार हैं:—

(नमस्कार मन्त्र)

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं॥

अर्थ—अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में स्थित सब साधुओं को नमस्कार हो।

अर्थात् जो पुरुष त्रस और स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव धारण करता है उसी की सामायिक शुद्ध होती है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

* उपासकदशांग सूत्र के छठे अध्ययन में वर्णन है कि कुण्डकोलिक श्रावक ने जब सामायिक ली तो अपने नाम वाली अंगूठी भी उतार दी थी, इससे जाना जाता है कि सामायिक के समय शरीर पर कोई भी आभूषण नहीं रहना चाहिए।

+ मुखपत्ती के विना सामायिक करने पर ग्यारह सामायिकों का प्रायश्चित्त आता है।

(तिक्खुत्तो का पाठ)

"तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि ।"

अर्थ—तीन बार दाहिनी ओर से (आरम्भ करके) प्रदक्षिणा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, सन्मान करता हूँ, गुरुदेव ! आप कल्याणरूप हैं, मंगलरूप हैं, देवतारूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। मैं आपकी उपासना करता हूँ और मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ।

तिक्खुत्तो के पाठ से गुरुदेव को वन्दना करके, फिर खड़ा रहकर कहे—'इच्छाकारेण संदिसह भगवं ! इरियावहियं पडिक्कमामि ?'

अर्थात्—भगवन् ! इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिए (जिससे मैं) ऐर्यापथिकी क्रिया (गमनागमन) करने अथवा स्वीकृत धर्माचरण में होने वाली पापक्रिया) का प्रतिक्रमण करूँ ?

जब गुरु की ओर से आज्ञा मिल जाय तो कहना चाहिए—इच्छं। इच्छामि पडिक्कमिउं।' अर्थात् आपकी आज्ञा प्रमाण है। मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ।

तत्पश्चात् निम्नलिखित पाठ का उच्चारण करेः—

इरियावहियाए, विराहणाए, गमणागमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा उत्तिंग-पणग-दग-मट्टिया-मक्कडासंताणा संकमणे, जो मे जीवा विराहिया—एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवाओ ववरोविया, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थात्—गमन-आगमन करते समय किसी प्राणी को दबाकर, सचित्त बीज हरित-वनस्पति को कुचल कर, आकाश से गिरने वाली ओस, चींटी के

बिल, पँचरंगी काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकड़ी के जालों को मसल कर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की विराधना की हो, सामने आते हुओं को रोका हो, धूल आदि से ढँका हो, जमीन पर या आपस में रगड़ा हो, एकत्र करके उनका ढेर किया हो, क्लेश-जनक रूप से छुआ हो, परितापना दी हो, थकाया हो, हैरान किया हो, एक जगह से दूसरी जगह रक्खा हो, जीवन से रहित कर दिया हो, तो मेरा पाप निष्फल हो।

यह पाठ बोल कर फिर 'तस्स उत्तरी' का निम्नलिखित पाठ बोलना चाहिए:—

तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्ली-करणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।

अर्थात्—उस दूषित आत्मा को उत्कृष्ट (निष्पाप) बनाने के लिए, प्रायश्चित्त के लिए, विशुद्धि करने के लिए, शल्यहीन करने के लिए, पाप-कर्मों का पूरी तरह नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा के उक्त पाठ का उच्चारण करने के पश्चात् कायोत्सर्ग में रक्खे जाने वाले आगारों का पाठ भी उसके साथ ही बोलना चाहिए। यथा—

अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं, भमलीए, पित्तमुच्छाए—

सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं,
एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो।
जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि, ताव कायं ठाणेणं,
मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि।

अर्थात्—(कायोत्सर्ग में समस्त शारीरिक क्रियाओं का त्याग करता हूँ, किन्तु जिन क्रियाओं का त्यागना शक्य नहीं है) उनको छोड़ कर, यथा—

उच्छ्वास, निश्वास, खांसी, छींक, जंभाई, डकार, अपानवायु का संचार, चक्कर, पित्त के विकार से होने वाली मूर्छा, तथा सूक्ष्म रूप से अंगों का हिलना, सूक्ष्म रूप से कफ का निकलना, सूक्ष्म रूप से दृष्टि का घूमना, ※ इत्यादि आगारों के कारण मेरा कायोत्सर्ग भंग न हो, विराधित न हो। (क्योंकि मैं पहले से ही इनकी छूट रख लेता हूँ।) मैं जब तक अरिहंत भगवान् को नमस्कार न कर लूँ, तब तक एक ही जगह स्थिर रह कर, मौन रहकर, धर्मध्यान में चित्त एकाग्र करके अपने शरीर को पाप कार्यों से निवृत्त करता हूँ।

इस प्रकार पाठों का उच्चारण करके, तत्पश्चात् दोनों हाथों को सीधे लटकते रख कर, पैर के अंगूठे पर दृष्टि जमा कर, स्थिर होकर कायोत्सर्ग करे। 'नमो अरिहंताणं' कह कर कायोत्सर्ग को समाप्त करे। कायोत्सर्ग करते समय 'इच्छाकारेण' के अर्थ का चिन्तन करे किन्तु 'मिच्छा मि दुक्कडं' वाक्य जो इच्छाकारेण के पाठ में आता है उसे छोड़ दे।

कायोत्सर्ग को समाप्त करने के पश्चात् निम्नलिखित पाठ बोलेः—

(चतुर्विंशतिस्तव का पाठ)

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥१॥
उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

※ इत्यादि शब्द से जीवरक्षा के निमित्त क्रिया करने की तथा आग या राजा का उपद्रव होने पर व्रतरक्षा के लिए बीच में कायोत्सर्ग पार ले तो दोष नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

एवं मए अभिथुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥
कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग-बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगम्भीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

अर्थात्—समस्त लोक में धर्म का उद्योत करने वाले, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले, राग-द्वेष को जीतने वाले, काम-क्रोध आदि अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करने वाले, केवलज्ञानी चौबीस तीर्थङ्करों का मैं कीर्त्तन करूँगा ।

श्रीऋषभदेव और श्रीअजितनाथ को वन्दना करता हूँ । सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ जिन को भी नमस्कार करता हूँ ।

सुविधिनाथ (पुष्पदन्त), शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, बिमलनाथ, राग-द्वेष विजेता अनन्तनाथ, धर्मनाथ और शान्तिनाथ को वन्दना करता हूँ ।

श्री कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत और नमिनाथ को मैं वन्दना करता हूँ । तथा भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी को भी मैं वन्दना करता हूँ ।

जिनकी मैंने वन्दना की है, जो कर्म रूप रज एवं मैल को नष्ट कर चुके हैं, जो जरा और मरण से रहित हैं, वे चौबीसों जिनवर तीर्थङ्कर मुझ पर प्रसन्न हों ।

जिनकी इन्द्रादि देवों और मनुष्यों ने स्तुति की है, वन्दना की है, पूजा की है, जो संसार में सब से उत्तम हैं, जिन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली है, वे तीर्थङ्कर भगवान् मुझे आरोग्य (सिद्धि) तथा बोधि (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय) का पूर्ण लाभ और उत्तम समाधि प्रदान करें ।

जो चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयंभूरमण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें।

इस प्रकार का मूल पाठ उच्चारण करने के पश्चात् यदि धर्मगुरु मौजूद हों तो उनके समक्ष, न मौजूद हों तो पूर्व तथा उत्तर दिशा की तरफ मुख रखकर खड़ा हो और हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहे:—

(प्रतिज्ञासूत्र)

करेमि भंते ! सामाइयं,
सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।
जावनियमं पज्जुवासामि।
दुविहं तिविहेणं—
मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि।
तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि,
अप्पाणं वोसिरामि।

अर्थात्—हे भगवन् ! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ, पापकारी क्रियाओं का परित्याग करता हूँ।

जब तक मैं दो घड़ी के नियम की उपासना करूँ, तब तक दो करण तीन योग से—मन वचन काय से पापकार्य न स्वयं करूँगा, न दूसरे से कराऊँगा। (जो पापकर्म पहले हो गये हैं उनका) हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अपनी साक्षी से निन्दा करता हूँ, ❀ आपकी साक्षी से गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को पापमय व्यापार से अलग करता हूँ।

इस पाठ का उच्चारण करके सामायिकव्रत को ग्रहण करे। बांया घुटना ऊँचा रखकर बैठे, फिर दोनों हाथ जोड़ कर पहले सिद्ध भगवान् को

❀ किसी को अनजान में ठोकर लग जाने पर उससे क्षमा मांग ले तो दोष नहीं रहता, इसी तरह प्रतिक्रमण करते, अनजान में हुए दोषों का पश्चात्ताप करने से वे शिथिल पड़ जाते हैं।

और फिर अरिहंत भगवान् को, इस प्रकार दो बार 'नमोत्थुणं' का पाठ उच्चारण करे। (नमोत्थुणं का पाठ इस ग्रंथ में पहले दिया जा चुका है। वहाँ देख लेना चाहिए।)

सामायिक व्रत के अतिचार



(१) मनःदुष्प्रणिधान—अर्थात् मन में खराब विचार करना। मन बन्दर की तरह चपल और जंगली अश्व के समान अड़ियल एवं सन्मार्ग को छोड़ कर उन्मार्गगामी होता है। सामायिकधारी श्रावक को चाहिए कि वह ज्ञान रूप लगाम लगाकर मनःरूप घोड़े को काबू में रक्खे और सन्मार्ग में प्रवृत्त करे। सामायिक में मन के दस दोष कहे हैं—

(१) अविवेकदोष—सामायिकक्रिया के फल से अनभिज्ञ लोग, दूसरों की देखादेखी मुँह बाँधकर सामायिक करने बैठ जाते हैं, परन्तु मन में ऐसी कुकल्पना करते हैं कि इस प्रकार बैठने से क्या लाभ हो सकता है? आदि।

(२) यशोवाञ्छादोष—यश की इच्छा करना; जैसे-मैं सामायिक करूँगा तो मुझे लोग धर्मात्मा जानकर धन्य-धन्य कहेंगे! मेरी कीर्ति होगी।

(३) धनेच्छादोष-फलां आदमी सामायिक करता है तो उसे व्यापार में बहुत लाभ होता है। उसी प्रकार मैं भी 'करूँगा समाई तो होगी कमाई' इत्यादि विचार से सामायिक करना।

(४) गर्वदोष—अभिमान करना। जैसे—मेरे समान निर्दोष और त्रिकाल सामायिक करने वाला कौन है! मैं बड़ा धर्मात्मा हूँ, आदि।

(५) भयदोष—डर से सामायिक करना। जैसे—मेरे बाप-दादा बहुत सामायिक करते थे। मैं सामायिक नहीं करूँगा तो लोग मेरी निन्दा करेंगे। इस प्रकार निन्दा के भय से अथवा आजीविका आदि के भय से सामायिक करना। या सर्प आदि को देखकर भय से व्याकुल होना।

(६) निदानदोष—सामायिक करके उसके फल की इच्छा करना। जैसे—इस सामायिक के फलस्वरूप मुझे स्त्री, पुत्र, ऋद्धि, स्वर्ग सुख, आदि की प्राप्ति हो।

(७) संशयदोष—सामायिक के फल में संदेह करना। जैसे—घर का काम छोड़ कर मैं सामायिक करता हूँ, लेकिन सामायिक का कुछ फल होगा या नहीं?

(८) कषायदोष—झगड़ा करके, कषाययुक्त होकर क्रोध से सामायिक करने बैठ जाय; सब लोग घर का काम करें, मैं बड़ा हूँ अतः सामायिक करूँ यों अभिमान करके सामायिक करे; सामायिक करूँगा तो मुझे काम नहीं करना पड़ेगा, इस तरह कपट करके सामायिक करना; सामायिक करूंगा तो अमुक सांसारिक लाभ होगा, इस प्रकार लोभ से सामायिक करे।

(९) अविनयदोष—देव, गुरु, धर्म, शास्त्र संबंधी कुविचार करे, पुस्तक माला आदि धर्मोपकरण नीचे रक्खे और आप स्वयं ऊपर बैठे, साधु-साध्वी आवें ते मन में विनय भाव न लावे आदि।

(१०) अपमान दोष—दूसरे का अपमान करने के विचार से अकड़ कर, या पीठ देकर बैठे; तथा जैसे हमाल सोचता है कि कब ठिकाने पहुँचूँ और बोझा उतार फैंकूँ, उसी प्रकार सामायिक में बैठा-बैठा घड़ी हिलाता रहे, मिनट गिनता रहे, पूर्ण होने से पहले ही सामायिक पारने की सोचता रहे और पूर्ण होते ही ऐसा भागे जैसे पशु बंधन से छूटते ही भागता है। इस प्रकार अनादर के साथ सामायिक करना।

सामायिक में मन के द्वारा यह दस दोष लगते हैं। दोष लगाने से लाभ कुछ भी नहीं होता। ऐसा जान कर मन को शुद्ध रख कर धर्मध्यान में मन रमाना चाहिए।

(२) वयदुप्पणिहाणे—(वचोदुष्प्रणिधान)—अर्थात् वचन का अशुभ व्यापार करना। खराब वचन बोलना।

अधिक बोलने से सहज ही सावद्य वचन निकल जाता है, अतएव विना प्रयोजन बोलना ही उचित नहीं है। अगर प्रयोजन हो और बोलना अनिवार्य हो जाय तो वचन संबंधी दस दोषों से बच कर बोलना चाहिए। दस दोष इस प्रकार हैं:—

(१) अलीकदोष—झूठ बोलना।

(२) सहसाकारदोष—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता का विचार किये विना ही जो मन में आ जाय सो बोल देना।

(३) असाधारणदोष—शुद्ध श्रद्धा का विनाशक वचन बोलना, अन्य-मतावलम्बियों के आडम्बर का बखान करना तथा मिथ्या उपदेश देकर दूसरों की श्रद्धा में गड़बड़ी उत्पन्न करना।

(४) निरपेक्षादोष—शास्त्र के दृष्टिकोण का विचार न करके बोलना। परस्पर असंगत, विरोधजनक और दूसरों को दुःख उपजाने वाले वाक्य कहना।

(५) संक्षेपदोष—नमस्कार मन्त्र, एवं सामायिक आदि के पाठों का अधूरा उच्चारण करना, जल्दबाजी में परिपूर्ण उच्चारण न करना।

(६) क्लेशदोष—मर्मवेधी वचन बोलकर पुराना क्लेश जगाना अथवा नया क्लेश उत्पन्न करना।

(७) विकथादोष—देश-देशान्तर की, राजा-राजेश्वरों की, स्त्रियों के शृङ्गार आदि की तथा भोजन-पान सम्बन्धी बातें करना।

(८) हास्यदोष—सामायिक में हँसी-ठट्ठा करना, किसी का मज़ाक उड़ाना, खिसियाना करना।

(९) अशुद्धवचनदोष—सामायिक आदि सूत्रपाठ में ह्रस्व की जगह दीर्घ, दीर्घ की जगह ह्रस्व या मात्राएँ कम-ज्यादा बोलना। अशिष्ट और निर्लज्जतापूर्ण गालियाँ बोलना आदि।

(१०) मम्मणदोष—गुनगुनाते हुए इस प्रकार बोलना जिससे सुनने वाला पूरी तरह न समझ सके।

वचन के इन दस दोषों में से किसी भी दोष का सेवन करने से सामायिक में दोष लगता है, आत्मा मलीन होती है, अपयश होता है और लाभ कुछ भी नहीं होता। ऐसा समझ कर इन दोषों से बचना चाहिए।

(३) कायदुष्प्रणिधान—अर्थात् शरीर को अशुभ व्यापार में प्रवृत्त करना। जहाँ शरीर की अधिक चपलता होती है वहाँ प्रायः कुछ न कुछ दोष लगे विना नहीं रहता। अतएव सामायिक में बिना कारण हलन-चलन करना योग्य नहीं है। काय के बारह दोषों से बचना चाहिए। यथा—

(१) अयोग्यासन दोष—पैर पर पैर चढ़ा कर बैठने से अभिमान प्रकट होता है और वृद्धों का अविनय होता है, अतएव अयोग्य आसन से बैठना दोष है।

(२) चलासनदोष—डगमगाते हुए सिला, पाट आदि पर बैठने से उनके नीचे स्थित जन्तु कुचल जाते हैं, तथा जिस स्थान पर बैठने से बार-बार उठना पड़े, ऐसे आसन और स्थान पर बैठना उचित नहीं है। स्वभाव की चपलता से बार-बार आसन बदलना, उठना-बैठना भी जीवघात का कारण हो जाता है, यह भी चलासन दोष है। इससे भी बचना चाहिए।

(३) चलदृष्टिदोष—दृष्टि की चपलता से बार-बार इधर-उधर अवलोकन करना, स्त्री-पुरुष के अंगोपांगों का निरीक्षण करना। ऐसा करने से मन में विकार उत्पन्न होता है, लोगों में निन्दा होती है और अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।

(४) सावद्यक्रियादोष—हिसाब-नामालेखा लिखना, कपड़ा सीना, कसीदा निकालना, अचित्त पानी से लींपना या बच्चों को स्नान कराना, इत्यादि कामों में किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती है, ऐसा समझ कर सामायिक में यह सब कार्य करना।

(५) अवलम्बनदोष—भींत, स्तम्भ, वस्त्रों की गांठ आदि का सहारा लेकर बैठना। इससे उनके आश्रित जीवों का घात हो जाता है और निद्रा आदि प्रमाद की उत्पत्ति होती है। कदाचित् वृद्धत्व, रोग या तपस्या आदि के कारण अवलम्बन लिये विना न बैठा जाय जो जिसका अवलम्बन ले, उस भींत आदि को देखे-पूंजे विना अवलम्बन न ले।

(६) आकुंचन-प्रसारणदोष—बैठे-बैठे शरीर को बार-बार सिकोड़ना और फैलाना। इससे भी जीवहिंसा होने की सम्भावना रहती है।

(७) आलस्य दोष—अंग मरोड़ना, जंभाइयाँ लेना, शरीर को इधर-उधर पटकना, आदि।

(८) मोड़नदोष—हाथ-पैर की उंगलियों का तथा शरीर के अन्य भाग का कड़का निकालना।

(९) मलदोष—शरीर का मैल उतारना, पूँजे विना शरीर को खुजलाना।

(१०) विमासनदोष—हथेली पर सिर रख कर, जमीन की तरफ दृष्टि रख कर, गृहकार्य का, देन-लेन का तथा ऐसे ही अन्य कार्यों का विचार करना।

(११) निद्रादोष—सामायिक में नींद लेना।

(१२) वेयावच्चदोष—सामायिक में हाथ-पैर आदि की मालिश करना।

यह काय के बारह दोष सामायिक में नहीं लगाने चाहिए। मन के १० वचन के १० और काय के १२, सब मिल कर सामायिक सम्बन्धी ३२ दोषों से बचने पर शुद्ध सामायिक होती है। यह तीन अतिचार हुए।

(४) सामाइस्स सइ अकरणयाए—निद्रा, मूर्छा, चित्तभ्रम, आदि किसी कारण से सामायिक के काल में संशय उत्पन्न हो जाय कि सामायिक का काल पूर्ण हुआ है या नहीं ? तो जब तक संशय दूर न हो जाय और पूर्ण

काल का निर्णय न हो जाय, उससे पहले ही सामायिक पार ले तो अति-चार लगता है।

(५) सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए—अर्थात् सामायिक का काल पूर्ण होने से पहले सामायिक पारना, या सामायिक का अवसर प्राप्त होने पर भी सामायिक न करना और विधिपूर्वक शुद्ध सामायिक न करना।

प्रश्न—इस प्रकार की सब अतिचारों और दोषों से रहित सामायिक इस काल में होना कठिन है। तो सदोष सामायिक करने से तो न करना ही अच्छा है।

उत्तर—निर्दोष सामायिक करना कठिन भले हो, अशक्य नहीं है। संसार-व्यवहार चलाने के लिए, अल्पकालीन जीवन को सुखमय बनाने के लिए लोग बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलते हैं तो आत्मा के शाश्वत कल्याण के लिए दो घड़ी भी सावधान नहीं रह सकते? जिसे आत्मा का भान हो गया है, जिसने हेय और उपादेय का विवेक प्राप्त कर लिया है और जो सच्चे हृदय से सामायिक करना चाहता है, उसके लिए निर्दोष सामायिक करना कठिन नहीं है।

इसके अतिरिक्त जैसे खाने को पकवान न मिले तो कोई भूखा नहीं रहता, रत्नकंबल ओढ़ने को न मिले तो नंगा नहीं रहता, इसी प्रकार कदाचित् पूर्ण निर्दोष सामायिक न हो सके तो सामायिक करना ही छोड़ देना उचित नहीं है। पकवान खाने की इच्छा रखने वाला, जब तक पकवान न मिले, रोटी से ही काम चलाता है और पकवान प्राप्ति के लिए उद्योगशील रहता है। ऐसा करने से उसे कभी पकवान भी मिल जाता है। इसी प्रकार कालदोष से, संहनन की हीनता से तथा प्रमाद आदि कारणों से कदाचित् शुद्ध सामायिक न बन सके तो जैसी बने वैसी करे; लगने वाले दोषों के लिए पश्चात्ताप करे और शुद्ध सामायिक करने का उद्योग करता रहे। ऐसा करने से किसी समय शुद्ध सामायिक भी होने लगेगी।

स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी काम एकदम नहीं सुधर जाता। विद्या के अध्ययन में कठिनाई देखकर जो पढ़ना छोड़ देता है, जो पहलेपहल अपने खराब अक्षर देखकर लिखना छोड़ देता है, वह मूर्ख और निरक्षर ही रह जाता है। फिर उसके सुधरने की आशा नहीं रहती। किन्तु एक-एक पद पढ़ते-पढ़ते पंडित बन जाता है और एक-एक अक्षर लिखते-लिखते अच्छा लेखक बन जाता है।

जरा निश्चय सामायिक का विचार कीजिए। अगर एक समय मात्र भी चित्त में समभाव की जागृति हो जाती है तो निश्चय सामायिक हो जाती है। तो एक मुहूर्त्तकाल में क्या एक समय के लिए भी समभाव नहीं आयगा? उद्योगवान् पुरुष के लिए यह कोई कठिन बात नहीं है। ऐसा समझ कर अधिक से अधिक शुद्ध सामायिक करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न—दिन भर पापाचरण करके एक- दो सामायिक कर भी ली तो उससे क्या लाभ हुआ?

उत्तर—सैकड़ों हाथ डोरी लोटे के साथ कूप में छोड़ दी और पतंग के साथ आकाश में छोड़ दी, सिर्फ दो अंगुल डोरी हाथ में रह गई। तब कोई सोचे-जब सैकड़ों हाथ छोड़ दी तो दो अंगुल रही तो क्या और न रही तो क्या! ऐसा सोच कर वह उस दो अंगुल डोरी को भी छोड़ दे तो क्या परिणाम होगा? वह लोटा तथा पतंग को गँवा बैठेगा। अगर उस दो अंगुल डोरी को मजबूती से पकड़ रक्खेगा और फिर खींचना प्रारंभ करेगा तो सारी डोरी को, लोटे को और पतंग को प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार अगर सारा दिन पापाचरण में गँवा दिया और सिर्फ दो घड़ी का समय सामायिक में लगाया तो भी ऐसा करने वाला कभी रत्नत्रय रूप माल को खींच कर प्राप्त कर सकेगा। ऐसा जान कर सदैव सामायिक अवश्य करना चाहिए।

सामायिकव्रत संयमधर्म की बानगी है। साधु का संयम जीवनपर्यन्त का होता है अतः वे शास्त्रविधि के अनुसार खानपान, शयन आदि कर

सकते हैं, किन्तु गृहस्थ का सामायिकव्रत स्वल्पकाल का होने से वे सामायिक में खान-पान, शयन आदि नहीं कर सकते।

सामायिक का फल

दिवसे दिवसे लक्खं,देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।
इयरो पुण सामाइयं, न पहुप्पहो तस्स कोइ ॥

—सम्बोधसत्तरी,

अर्थात्—बीस मन की एक खंडी होती है। ऐसी लाख-लाख खंडी सुवर्ण, लाख वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन कोई दान दे और दूसरा एक सामायिक करले। तो इतना सुवर्ण दान देने वाले का पुण्य एक सामायिक के बराबर नहीं हो सकता।* क्योंकि दान से पुण्य की वृद्धि होती है और पुण्य की वृद्धि से सुख-सम्पदा की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु सामायिक भवभ्रमण से छुड़ा कर मोक्ष का अनन्त सुख प्राप्त कराने वाली है।

सामाइयं कुणंतो समभावं सावओ घडीअ दुगं।
आउं सुरस्स बंधइ इति अमिताइ पलियाइं ॥१॥
बाणवइ कोडोओ, लक्ख गुणसट्ठी सहस्स पणवीसं।
णवसय पणवीसाए, सत्तिय अडभागपलियस्स ॥२॥

—पुण्यप्रमाण।

जो श्रावक समभाव से दो घड़ी (४८ मिनिट) की एक ही सामायिक विधिपूर्वक करता है, वह ९२, ५९, २५, ९२५$\frac{3}{8}$ (बानवे करोड़, उनसठ लाख, पच्चीस हजार नौ सौ पच्चीस पल्योपम और एक पल्योपम के आठ भागों में से तीन भाग) की देवगति की आयु बाँधता है।

लाख खंडी सोना तणी, लाख वर्ष दे दान।
सामायिक तुल्ये नहीं, भाख्यो श्रीभगवान् ॥

पारणे में कुशाग्र पर आवे उतना अन्न और अंजलि में आवे उतना पानी ग्रहण करके, मासखमण की तपस्या करोड़ पूर्व तक करने वाले अज्ञान तपस्वी के तप का फल, सम्यक्त्वी श्रावक की एक सामायिक के फल के सोलहवें भाग की तुलना भी नहीं कर सकता है ! सामायिक का फल इतना महान् है । अतएव अगर अधिक न बन सके तो सदैव प्रातःकाल में, मध्याह्नकाल में और संध्याकाल में, इस प्रकार त्रिकाल सामायिक अवश्य करनी चाहिए । इतना भी शक्य न हो तो प्रातःकाल और सायंकाल दो बार सामायिक अवश्य ही करे । कहावत है—'आठ पहर काज की तो दो घड़ी जिनराज की ।' आठों पहर संसार के धन्धे में रचे-पचे रहने वाले को आत्मा के कल्याण के लिए भी कुछ समय लगाना ही चाहिए ।

सामायिकव्रत का सम्यक् प्रकार से आराधन करने से चित्तसमाधि की प्राप्ति होती है । आत्मा की अनन्त शक्ति प्रकट होती है । राग-द्वेष रूप दुर्जय शत्रुओं का विनाश होता है । ज्ञानादि रत्नत्रय का लाभ होता है । जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों का अन्त होता है और स्वर्ग के तथा अन्त में मोक्ष के अनन्त सुख की प्राप्ति होती है ।

दसवाँ व्रत—देशावकाशिक



पूर्वोक्त छठे व्रत में दिशाओं का और सातवें व्रत में उपभोग-परिभोग का जो परिमाण किया जाता है, वह यावज्जीवन के लिए किया जाता है, किन्तु उतने कोस जाने का और भोगोपभोग भोगने का सदैव काम नहीं पड़ता है और अविरति उतने की निरन्तर लगती रहती है । इस कारण आत्मार्थी सुज्ञ श्रावक अपनी आत्मा को पाप से बचाने के लिए सदैव प्रातः काल में एक घड़ी, दो घड़ी, एक-दो पहर अथवा एक दिन-रात के लिए या पक्ष-मास के लिए, इस तरह जितने समय तक उसकी सुविधा और इच्छा हो, उतने काल तक के लिए जीवन-पर्यन्त की मर्यादा में से भी कमी करने का नियम ले लेता है । जैसे—कोई घर से बाहर जाकर, कोई ग्राम से बाहर

जाकर, कोई एक माइल से आगे जाकर, दो करण तीन योग से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन पाँचों आस्रवों के सेवन का प्रत्याख्यान कर देता है। इसी प्रकार सातवें व्रत में भोगोपभोग के छब्बीस बोलों की जो मर्यादा की है, उस मर्यादा में से आवश्यकतानुसार रख कर तदुपरान्त भोगोपभोग भोगने का परिमाण घड़ी का, पहर का, अहोरात्रि का, पक्ष का या महीना आदि का एक करण तीन योग से किया जाता है।

इस व्रत के आगार—कदाचित् राजा की आज्ञा होने से मर्यादा के बाहर जाना पड़े, देवता या विद्याधर हरण करके मर्यादित क्षेत्र से बाहर ले जाय, उन्माद आदि रोगों से विवश बेभान होकर मर्यादा से बाहर चला जाय, साधु के दर्शनार्थ जाना पड़े तथा मरते जीव को बचाने के लिए जाना पड़े या अन्य किसी बड़े उपकार के लिए जाना पड़े तो व्रत भंग नहीं होता। जहाँ तक बन सके, मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर उक्त आगारों के अनुसार जाना पड़े तो वहाँ हिंसा आदि पाँचों आस्रवों का सेवन न करे।

१७ नियम



दसवें व्रत का सदैव आसानी से आचरण करने के लिए १७ नियमों की योजना की गई है। वे इस प्रकार हैं—

(१) सचित्त—सजीव वस्तु की मर्यादा कर लेना—जैसे नमक आदि कच्ची मिट्टी, नल, कुँवा, बावड़ी, तालाब, परिंडा आदि का पानी, चूल्हा, सिगड़ी, चिलम, बीड़ी, दीपक आदि अग्नि, पंखा, झूला, बाजा से होने वाले वायुकाय के आरम्भ, फल, फूल, भाजी, फली आदि सचित्त वनस्पति तथा कच्चा धान्य, मेवा आदि सजीव वस्तु सेवन की मर्यादा कर लेना।

(२) द्रव्य—खाने के, पीने के और सूँघने के पदार्थों की मर्यादा करना।

(३) विगय—दूध, दही, घृत, तैल, मिठाई तथा तली हुई वस्तु। इन विगयों में से कम से कम एक विगय अवश्य त्यागना चाहिए।

(४) पन्नी—जूता, मोजा, खड़ाऊँ आदि पैर में पहरने की वस्तुओं की मर्यादा।

(५) ताम्बूल—सुपारी, लौंग, इलायची, चूरन*, खटाई आदि की मर्यादा।

(६) कुसुम—तमाखू (सूँघनी), अतर, घृत, पुष्प आदि सूँघने की वस्तुएँ।

(७) वस्त्र—पहरने-ओढ़ने के वस्त्रों की मर्यादा।

(८) शयन—पलंग, खाट, गादी, सतरंजी आदि बिछाने की वस्तुओं की मर्यादा।

(९) वाहन—घोड़ा, बैल, गाड़ी, तांगे, रेल, मोटर, साइकिल, जहाज, नाव आदि सवारियों की मर्यादा।

(१०) विलेपन—तेल, पीठी, केसर, चन्दन, कांच, कंघा तथा हाथ धोने के काम आने वाली मिट्टी, राख आदि की मर्यादा।

(११) अब्रह्म—स्त्री-पुरुष के साथ संभोग करने की मर्यादा।

(१२) दिशा—पूर्व आदि छह दिशाओं में गमनागमन करने की मर्यादा।

(१३) स्नान-धोवन—छोटे-बड़े स्नान की तथा वस्त्र आदि धोने की मर्यादा।

(१४) भक्त—खाने-पीने की सब वस्तुओं के समुच्चय वजन की मर्यादा।

(१५) असि—पंचेन्द्रिय की घात जिससे हो ऐसे तलवार आदि शस्त्रों की तथा सुई, कैंची, लकड़ी, छड़ी आदि की मर्यादा।

---

* सचित्त नमक डाल कर बनाया हुआ चूर्ण एक बार वर्षा होने के बाद अचित्त गिना जाता है।

(१६) मषि—दावात, कलम, कागज, बही तथा जवाहरात, कपड़ा, किराना, ब्याज आदि संबंधी व्यापार की मर्यादा ।

(१७) कृषि—खेत, बगीचा, बाड़ी आदि की मर्यादा ।

प्रतिदिन काम में आने वाली वस्तुओं को यहाँ सत्तरह विभागों में इसलिए बाँट दिया गया है जिससे परिमाण करते समय भूल न हो जाय और सभी वस्तुओं की मर्यादा हो सके। दसवें व्रत का पालन करने के लिए श्रावक को इनकी मर्यादा करते रहना चाहिए।

इनमें वाहन आदि कई वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका संख्या से परिमाण किया जाता है और भोजन आदि कई ऐसी भी हैं जिनका वजन से परिमाण किया जाता है। कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनका संख्या और वजन दोनों से परिमाण किया जाता है, जैसे सचित्त द्रव्य, विगय आदि ।

जो वस्तु जिस प्रकार परिमाण करने योग्य हो उसका उसी प्रकार परिमाण करना चाहिए। परिमाण से अधिक वस्तु भोगने का एक करण तीन योग से प्रत्याख्यान करना चाहिए अर्थात् मन, वचन और काय से स्वयं न भोगे। कुडम्ब का पालन-पोषण करने के लिए जो आरम्भ करना पड़े उसका आगार रहता है। प्रातःकाल जो-जो नियम ग्रहण करे, संध्या समय उन्हें स्मरण कर ले और संध्या के समय जो नियम ले उसे प्रातःकाल याद कर ले। भूल से कदाचित् कोई वस्तु अधिक काम में आ जाय तो उसके लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहकर पश्चात्ताप करे।

दयापालन व्रत



एक अहोरात्रि या अधिक काल पर्यन्त के लिए सचित्त वस्तु को सेवन करने का, बिना यतना बोलने का, पगरखी आदि पहनने का, पुरुष को स्त्री का और स्त्री को पुरुष का संघटा करने का, व्यापार आदि सांसारिक कार्य करने का प्रत्याख्यान करें। अन्य के लिए बनाया हुआ सूझता

आहार तथा अचित्त जल का सेवन कर सारे दिन-रात (८ पहर) धर्माराधन में लगा रहे, कम से कम ग्यारह सामायिक अवश्य करे, इससे अधिक हो सकें तो अधिक करे। यह दयापालन व्रत कहलाता है। यह भी दसवें व्रत में अन्तर्गत है।*

प्रत्याख्यान

●

(१—नवकारसी का प्रत्याख्यान)

सूरे उग्गये नमुक्कारसहियं× पच्चक्खामि—असणं, पाणं÷, खाइमं, साइमं, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं वोसिरे।

नवकारसी के प्रत्याख्यान में दो आगार रखे जाते हैं—(१) भूलकर कोई वस्तु मुंह में डाल ली हो और (२) जैसे गौ का दूध निकालते समय मुंह में छींटा पड़ जाता है, उसी प्रकार कोई भी कार्य करते हुए कोई वस्तु अचानक मुंह में पड़ जाय तो आगार है।

२— सी का प्रत्याख्यान

●

सूरे उग्गये पोरसियं+पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं 'वोसिरे'।

---

* श्री भगवतीसूत्र में तुंगिया नगरी के पोक्खलजी आदि श्रावकों ने भोजन करके पौषधव्रत का पालन किया, ऐसा अधिकार चला है। वह दयापालन व्रत ही होना चाहिए।

× दिन के १६ वें भाग को नवकारसी कहते हैं, तथा णमोकारमंत्र पढ़ कर जो प्रत्याख्यान पार लिया जाय उसे नवकारसी कहते हैं।

÷ पानी के सिवाय तीनों आहारों का ही प्रत्याख्यान करना हो तो 'पाणं' शब्द नहीं बोलना चाहिए।

+ दिन के चौथे भाग को पोरसी कहते हैं।

पोरसी के इस प्रत्याख्यान में छह आगार हैं। पहला और दूसरा आगार पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। तीसरा-बादल में सूर्य छिप जाने से समय मालूम न पड़े। चौथा- दिशा में भूल पड़ जाने से समय का पता न चले। पाँचवाँ-किसी अधिक उपकार के कार्य को सिद्ध करने के लिए गुरु आज्ञा दें। छठा-रोग आदि के कारण शरीर में असमाधि उत्पन्न हो जाय।

३—दो पोरसी का प्रत्याख्यान

●

सूरे उग्गए पुरिमड्ढं* पच्चक्खामि---असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।

दो पोरसी के प्रत्याख्यान में सात आगार हैं। इनमें से छह पूर्ववत् हैं। एक 'महत्तरागार' अधिक है, जिसका अर्थ है—माता, पिता आदि बड़ों के आग्रह से।

४—एकाशन का प्रत्याख्यान

●

एगासणं:: पच्चक्खामि—असणं, पाणं खाइमं, साइमं, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं (सागारी आगारेणं), आउट्टणपसारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, (पारिट्ठावणियागारेणं), महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।

एकाशन के प्रत्याख्यान के आठ आगार हैं। पहले और दूसरे आगार का अर्थ पहले के ही समान समझना चाहिए। तीसरा आगार-गृहस्थ के आगमन से भोजन करते-करते उठना पड़े। चौथा-हाथ-पैर का संकोचन या प्रसारण करना पड़े। पाँचवाँ-गुरुजी का आगमन होने पर उनके सत्कार के लिए

---

* मध्याह्न काल को दो पोरसी या पुरिमड्ढ कहते हैं।

:: एक स्थान पर बैठ कर एक बार भोजन करना एकाशन कहलाता है।

खड़ा होना पड़े। छठा—अन्य साधु का आहार अधिक हो और वह परठ रहे हों तो उस आहार को भोग लेना। सातवें और आठवें आगार का अर्थ पूर्ववत्।

५—एकलठाणा का प्रत्याख्यान

●

एकलठाणं पच्चक्खामि-असणं, पाणं, खाइमं साइमं, अएणत्थणाभोगेणं सहसागारेणं (सागारी* आगारेणं), गुरुअब्भुट्ठाणेणं (परिट्ठावणियागारेणं), सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।

एकलठाणे के प्रत्याख्यान में सात आगार हैं, जिनका अर्थ पूर्ववत् है।

६—निव्विगइय का प्रत्याख्यान

●

निव्विगइयं पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अएणत्थणा-भोगेणं सहसागारेणं, लेवालेवेणं, (गिहत्थसंसट्ठेणं), उक्खित्तविवगाणं, पडुच्च-विगएणं, परिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।

इस नियम में ९ आगार हैं। इनमें से आठ का अर्थ पहले आ चुका है। एक नया है, जिसका अर्थ है पूड़ी रोटी आदि के पुट में किसी विगय का लेप लगा हो और उसे ग्रहण कर ले।

७—आयंबिल का प्रत्याख्यान

आयंबिलं× पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणा-

* जो आगार कोष्ठक में दिये गये हैं, वे साधु के लिए ही हैं।

× भूंजा हुआ, रूखा, विना नमक का धान-पानी भिगोकर एक ही बार खाना, फिर दिन-रात में कुछ भी न खाना आयंबिल तप कहलाता है।

भोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं (गिहत्थसंसट्ठेणं). उक्खित्तविवगाणं परिठा-वणियागारेणं), महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे ।

आयंबिल के आठ आगार हैं, जिनमें से १-२-६-७-८ का अर्थ ऊपर बतलाया जा चुका है । तीसरे का अर्थ है—रूखी रोटी चुपड़ी रोटी पर रखने से घृत का लेप उस पर लग जाय तो आगार । चौथे का अर्थ है—दातार विगय से भरे हाथों से कोई वस्तु दे तो आगार । पाँचवें का अर्थ है—गुड़ आदि सूखी वस्तु आयंबिल की वस्तु पर रख कर उठा ली हो और उसका अंश उसमें लगा रह गया हो तो आगार है ।

८—उपवास का प्रत्याख्यान



सूरे उग्गये अभत्तं पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्न-त्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, (परिट्ठावणियागारेणं), महत्तरागारेणं, सव्वसमाहि-वत्तियागारेणं वोसिरे ।

उपवास❀ के पाँच आगारों का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए ।

❀ उपवास को अभत्तट्ठ भी कहते हैं और चउत्थभत्त भी कहते हैं । बेले को छट्ठभत्त (षष्ठभक्त) और तेले को अट्ठमभत्त (अष्टमभक्त) कहते हैं । इस तरह दो-दो भक्त बढ़ा कर इच्छित उपवासों का प्रत्याख्यान इसी पाठ से कराया जाता है ।

कषाय-विषया-हारत्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः ॥

अर्थात्—कषायों का, इन्द्रियों के विषयों का तथा आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है । कषाय और विषयों का त्याग न करके सिर्फ आहार का त्याग करना उपवास नहीं—लंघन मात्र है ।

उपावर्त्तेत्तु पापेभ्यो, वासश्चैव गुणैः सह ।
उपवासः स विज्ञेयः, सर्वभोगविवर्जितः ॥

अर्थात्—उप-पाप से निवृत्त होकर, वास-गुणों में—धर्म में वास करना, आत्मा को धर्म में रमण कराना उपवास है । उपवास में सभी प्रकार के भोगोपभोगों का त्याग करना चाहिए ।

९—दिवसचरम का प्रत्याख्यान



दिवसचरमं+ पच्चक्खामि—असणं पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।

इसके चारों आगारों का अर्थ भी पूर्ववत् ही है।

१०—गंठि-मुट्ठिसहियं का प्रत्याख्यान



गंठिसहियं:: पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थ-

[illegible] तपस्तप्येत् योऽल्पधीः।
शोष एव शरीरस्य, न तस्य तपसः फलम्॥

अर्थात्—जो अल्पबुद्धि मनुष्य अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए, धन या पुत्र आदि के लिए या ख्याति के लिए तप करता है, वह केवल अपने शरीर को दुखाता है, उसे तपस्या का फल प्राप्त नहीं होता।

विवेकेन विना यच्च, तत्तपस्तनुतापकृत्।
अज्ञानकष्टमेवेदं, न भूरिफलदायकम्॥

अर्थात्—विवेक के बिना जो तप किया जाता है उससे सिर्फ शरीर को संताप पहुँचता है। वह अज्ञान तप है। उससे अकामनिर्जरा के सिवाय और कुछ विशेष फल नहीं होता है।

कायो न केवलमयं परितापनीयो,
मिष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः।
चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेन,
वश्यानि येन च तदाचरितं जिनानाम्॥

अर्थात्—शरीर को न तो अति तपस्या करके परिताप ही पहुँचाना चाहिए और न नाना प्रकार के मधुर रसों से उसका लालन-पालन ही करना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा है कि जिस तप से चित्त और इन्द्रियाँ उन्मार्ग में न जाएँ, वश में रहें, इसी प्रकार का तप करना चाहिए।

+ थोड़ा दिन शेष रहने पर प्रत्याख्यान कर लेना दिवसचरम का प्रत्याख्यान है।

:: रूमाल आदि वस्त्र को तथा चोटी को गाँठ लगा कर जब तक उसे खोले नहीं तब तक किसी वस्तु का सेवन न करे, इसे गंठिप्रत्याख्यान कहते हैं। जब तक बायें हाथ की मुट्ठी बँधी रक्खे तब तक खावे, खोलने के बाद न खावे, यह मुट्ठीसहियं का प्रत्याख्यान कहलाता है।

णाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे ।

इसके चारों आगारों का अर्थ भी पहले आ चुका है ।

इन दस प्रत्याख्यानों का समावेश दसवें व्रत में ही होता है। दसवाँ व्रत इतना व्यापक है कि इसमें अतिथिसंविभाग व्रत के अतिरिक्त सभी व्रतों का समावेश हो जाता है।

वर्त्तमान काल में इस व्रत का आचरण करने के दो प्रकार देखे जाते हैं—(१) गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ आदि प्रदेशों के निवासी श्रावक इस व्रत के पाठ के अनुसार प्रातःकाल से ही धर्मस्थान में पहुँच कर दिशाओं की और उपभोग-परिभोग की मर्यादा करके, सब सचित्त वस्तुओं के सेवन का, स्त्री के संघट्ट का, इत्यादि दयाव्रत में बतलाई हुई मर्यादाओं का पालन करते हैं तथा अन्य के निमित्त बने हुए आहार को प्राप्त करके भोगते हैं। (२) किन्तु मालवा, मेवाड़, मारवाड़ तथा दक्षिण आदि प्रदेशों के श्रावक उपवास में पानी पिया हो, अफीम खाई हो, तमाखू सूँघी हो, इस प्रकार व्यसन की वस्तु का सेवन किया हो तो भी, तथा उपवास करने वाला सारे दिन संसार के कार्य करके थोड़ा दिन शेष रहने पर पौषधव्रत करने के लिए धर्मस्थानक में आ गया हो तो वह दसवें व्रत को अंगीकार करने वाला समझा जाता है।

दसवें व्रत के पाँच अतिचार



(१) आनयनप्रयोग—मर्यादा की हुई भूमि से बाहर की किसी वस्तु को दूसरे से मँगाना।

(२) प्रेष्यप्रयोग—मर्यादा की हुई भूमि से बाहर किसी को भेजना या कोई वस्तु भेजना।

(३) शब्दानुपात—मर्यादा से बाहर के किसी मनुष्य को शब्द उच्चारण करके बुला लेना।

(४) रूपानुपात—अपना रूप दिखला कर या अंगचेष्टा से किसी को बुला लेना।

(५) पुद्गलक्षेप—कंकर, काष्ठ, तृण आदि फैंककर बुलाने का संकेत करना।

इन पाँच प्रकारों से अतिचार लगता है; क्योंकि देश की मर्यादा दो करण तीन योग से की जाती है और उक्त पाँचों कामों में तीनों योगों की प्रवृत्ति होती है।

उक्त पाँच अतिचार केवल देश की मर्यादा संबंधी ही हैं; किन्तु इस व्रत में उपभोग की मर्यादा भी की जाती है और १७ नियम तथा दस प्रत्याख्यान भी इसी व्रत में सम्मिलित हैं। इसलिए इनके पाँच अतिचार इस प्रकार समझने चाहिए—(१) जितने द्रव्य रक्खे हैं उनसे ज्यादा प्राप्त होने पर विशिष्ट स्वाद के लिये दो-तीन को एक साथ मिला कर भोगना। जैसे दूध और शक्कर को मिला कर एक द्रव्य गिनना।※ (२) मर्यादा के बाहर की वस्तु के विषय में यह कहना कि अभी इसे रहने दो, प्रत्याख्यान पूर्ण होने के बाद इसे खाऊँगा, पहनूँगा या अमुक काम करूँगा। (३) प्रत्याख्यान की हुई वस्तु को स्वीकार करने के लिए उसकी प्रशंसा करना। (४) प्रत्याख्यान की हुई वस्तु को ग्रहण करने के लिए उसकी आकृति, चित्र बनाकर बतलाना या लिखकर अपने लिए रहने देने की सूचना करना। (५) आसक्ति के साथ मर्यादित वस्तु का सेवन करना। इन पाँचों अतिचारों से आत्मा को बचाना चाहिए।

※ स्वाद के लिए जो द्रव्य आपस में मिलाये जाते हैं, वे अलग-अलग गिने जाते हैं, किन्तु स्वादहीन बनाने के लिए दाल और दूध जैसी वस्तु मिलाकर खावे तो उसे एक ही द्रव्य गिन लेने में हर्ज नहीं, ऐसा वृद्धों का कथन है।

ग्यारहवां व्रत—पौषध



सम्यग्ज्ञान आदि रत्नत्रय का पोषक तथा निज गुणों में रमण करा कर स्वात्मा का पोषक होने से और छहों कायों की रक्षा का कारण होने से परमात्मा का भी पोषक होने से यह व्रत पौषध कहलाता है।

पौषध करने की विधि इस प्रकार है—जिस दिन पौषध व्रत करना हो, उससे पूर्व के दिन 'एगभत्तं च भोयणं' अर्थात् सिर्फ एक बार भोजन करे, अहोरात्रि अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करे। दूसरे दिन प्रातःकाल में पौषधशाला या उपाश्रय आदि धर्मस्थानक में, या घर के ऐसे एकान्त में, जहाँ गृहकार्य दृष्टिगोचर न होते हों, जहाँ धान्य, कच्चा पानी, हरित काय, चिउँटी का बिल या कीड़ी-मकोड़े न हों, जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक न रहते हों और जहाँ पर्याप्त प्रकाश आता हो, (ऐसे स्थान में) एक मुहूर्त्त रात्रि शेष रहने पर रायसी प्रतिक्रमण करे। सूर्योदय होते ही ओढ़ने-बिछाने के वस्त्रों की प्रतिलेखना करे, ७२ हाथ से अधिक वस्त्र न रक्खे, फिर रजोहरण आदि से भूमिका का प्रमार्जन करे, फिर जिसमें चिउँटी आदि जन्तु प्रवेश न कर सकें इस प्रकार आसन जमा कर, मुंह पर मुंहपत्ती बाँधे, फिर इरिया-वहिया तथा तस्सुत्तरी का पाठ सम्पूर्ण बोल कर इरियावहिया का कायोत्सर्ग करे। नमोकारमन्त्र के उच्चारण के साथ काउस्सग्ग पार कर लोगस्स का पाठ बोले। फिर कहे—

पडिक्कमामि—निवृत्त होता हूँ।

चउकालं—दिन के तथा रात्रि के प्रथम और अन्तिम चार पहर में।

सज्झायस्स—शास्त्र का स्वाध्याय।

अकरणयाए—नहीं करने के कारण।

उभओ कालं—दिन के पहले और अन्तिम प्रहर में।

भण्डोवगरणं—वस्त्र, रजोहरण मात्रियादि का।

अप्पडिलेहणाए—प्रतिलेखन न करने के कारण।

दुप्पडिलेहणाए—पूरी तरह विधिपूर्वक न देखने के कारण।

अप्पमज्जणाए—जीव की शंका होने पर और यह जीव अगर हाथ से ग्रहण करने योग्य न हो तो पूँजणी या रजोहरण से न पूँजने के कारण।

दुप्पमज्जणाए–विधिपूर्वक प्रमार्जन न करने के कारण।

अइक्कमे—प्रतिकूल विचार सम्बन्धी पाप।

वइक्कमे—प्रतिकूल प्रवृत्ति सम्बन्धी पाप।

अइयार-अतिचार—आंशिक रूप से व्रतभंग करने सम्बन्धी पाप।

अणायारे—पूर्णतया व्रतभंग सम्बन्धी पाप।

जो मे—जो मैंने।

देवसिय—दिवस सम्बन्धी।

अइयारो—पाप।

कओ—किया हो।

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं—वह मेरा पाप निष्फल हो।

यह पाठ उच्चारण करके फिर उक्त प्रकार से 'इच्छामि पडिक्कमिउं' और 'तस्सुत्तरी' का पाठ कह कर कायोत्सर्ग करे। उक्त प्रकार से कायोत्सर्ग पार कर फिर 'लोगस्स' का पाठ उच्चारण करे। इसके पश्चात् यदि वहाँ साधु या साध्वी हों तो उनके मुख से पौषधव्रत को ग्रहण करे, साधु-साध्वी न हों तो वयोवृद्ध व्रती श्रावक से पौषधव्रत लेवे, कदाचित् श्रावक भी न हों तो स्वयं पूर्व तथा उत्तर दिशा की तरफ मुख करके पंचपरमेष्ठी को वन्दना-नमस्कार करके निम्नलिखित पाठ से पोषधव्रत को अंगीकार करे।

"ग्यारहवाँ पौषधव्रत—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामि; अबंभं पच्चक्खामि, मालावण्णगविलेवणं पच्चक्खामि, मणिसुवण्णं पच्चक्खामि, सत्थमुसलादिसावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव

अहोरत्तं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।'

अर्थात्—ग्यारहवें पौषधव्रत में अन्न, पानी, पक्वान, मुखवास—इन चारों आहारों का, अपि शब्द से सूँघने आदि के योग्य पदार्थों का, मैथुन सेवन करने का, पुष्पों एवं सुवर्ण की माला आदि आभूषणों का, हीरा, पन्ना, मोती, रत्न आदि जवाहरात का, तैल-चन्दनादि के विलेपन का, मूसल, खड्ग, चक्र आदि शस्त्रों का तथा पापमय मन वचन काय के व्यापार का, प्रथम व्रत के समान दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान करे।

इसके पश्चात् साधु-साध्वी के सन्मुख अथवा पूर्व-उत्तर दिशा के सन्मुख बैठे। बायां घुटना नीचे दबावे, दाहिना घुटना खड़ा रक्खे, दोनों हाथों को कमल की डोडी के आकार में जोड़ कर ललाट पर स्थापित करे और मस्तक झुका कर दो बार 'नमुत्थुणं' कहे। फिर किसी गृहस्थ से, जिसने पौषधव्रत अंगीकार न किया हो, रजोहरण, गुच्छक, लघुनीति परठने का भाजन आदि का उपयोग करने की आज्ञा ले।

इस विधि के अनुसार पौषधव्रत ग्रहण करके उपदेशश्रवण, पुस्तकपठन, ज्ञानपरिवर्त्तना, प्रभु का स्मरण, धर्मकथा, धर्मध्यान आदि में अहोरात्रि व्यतीत करे। कदाचित् लघुनीति की बाधा हो तो उपाश्रय में मौजूद मृत्तिका आदि के भाजन में बाधा से निवृत्ति प्राप्त करके परठने के लिए बाहर जाते समय 'आवस्सइ' शब्द तीन बार कहे। फिर हरितकाय, चींटी के बिल, दीमक आदि जीव-जन्तुओं से रहित प्रासुक जगह देखकर और उसे रजोहरण से पूँज कर 'अणुजाणह मे जस्सुग्गहं' शब्द से शक्रेन्द्रजी की आज्ञा ग्रहण करके पेशाब परठ दे। परठते समय इस बात का ध्यान रक्खे कि वह न तो बहने पावे और न एक ही जगह भरा रहे—इस प्रकार बिखेर-बिखेर कर परठे। परठ कर 'वोसिरे' शब्द तीन बार कहे। परठ कर स्थानक में प्रवेश करते समय 'निस्सही' शब्द का तीन बार उच्चारण करे। फिर भाजन को सुखा कर एकान्त में यतना से रख देवे। फिर पूर्वोक्त प्रकार से इरियावही का

कायोत्सर्ग करे; लोगस्स कह कर कहे-परठने की क्रिया यथाविधि न की हो छह काय के जीवों की विराधना की हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'। कदाचित् बड़ी नीति का कारण उत्पन्न हो जाय तो पौषध में धारण किये वस्त्र तथा मुखवस्त्रिका ज्यों की त्यों रक्खे और किसी गृहस्थ के घर से लोटे आदि में अचित्त पानी लेकर एकान्त प्रासुक निर्जीव भूमि में निवृत्त होकर लघुनीति परठने की विधि के अनुसार ही करे। ऊपर से राख या धूल डाल देने से त्रसजीव की घात का, सम्मूर्छिम जीवों का तथा वायुमंडल के दुर्गंधित होने का बचाव हो सकता है। श्लेष्म आदि परठने की भी यही विधि समझनी चाहिए।

पौषध में विना कारण दिन में शयन नहीं करना चाहिए। दिन के चौथे पहर में अपने उपयोग में आने वाले वस्त्रों की, रजोहरण की तथा गुच्छक की प्रतिलेखना करे। संध्या समय दैवसिक प्रतिक्रमण करे, एक पहर रात्रि तक धर्मध्यान करे। फिर निद्रा लेने की आवश्यकता हो तो रजोहरण से भूमिका और विस्तर की प्रमार्जना करे और ध्यान स्मरण करता हुआ हाथों-पैरों का विशेष संकोचन-प्रसारण न करता हुआ निद्रा से निवृत्त होकर पहर रात्रि रहते जाग जाय। फिर इरियावहिया तथा तस्सुत्तरी का पाठ बोल कर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चार बार लोगस्स का पाठ उच्चारण करे। नमोकार मंत्र कहता हुआ कायोत्सर्ग पारने का पाठ तथा एक बार लोगस्स का पाठ कहे। तत्पश्चात् निम्नलिखित पाठ बोले— ·

पडिक्कमामि—पाप से निवृत्त होता हूँ।

पगामसिज्जाए—मर्यादित काल से अधिक निद्रा ली हो।

निगामसिज्जाए—मर्यादा से अधिक लम्बा चौड़ा मोटा विस्तर किया हो।

संथारा-उवट्टणाए—बिछौने में विना पूँजे करवट बदली हो।

परियट्टणाए—उक्त प्रकार बार-बार करवट बदली हो।

आउट्टणाए—विना पूँजे हाथ-पैर सिकोड़े हों।

पसारणाए—विना पूँजे हाथ-पैर फैलाए हों।

छप्पइसंघट्टणाए—यूका आदि को दबाया हो।

कुइए—विना यतना बोला हो।

कक्कराइए—दांत पीसे हों।

छीए—विना यतना छींका हो।

जंभाइए—विना यतना जँभाई ली हो।

आमोसे—शरीर को विना पूँजे खाज खुजाई हो।

ससरक्खामोसे—सचित्त रज वाले बिछौने पर पूँजे विना सोया बैठा होऊँ

आउलमाउलाए—आकुल-व्याकुल हुआ होऊँ।

सुविणवत्तियाए—खराब स्वप्न आया हो।

इत्थीविपरियासयाए—स्वप्न में स्त्री-प्रसंग किया हो।

दिट्ठिविपरियासयाए—स्वप्न में दृष्टि (बुद्धि) का विपरीत परिणाम हुआ हो।

मणविपरियासयाए—स्वप्न में मन की प्रतिकूल प्रवृत्ति हुई हो।

पाणभोयणविपरियासयाए—स्वप्न में आहार-पानी भोगा हो।

जो मे—जो मैंने

राइसिय—रात्रि संबंधी

अइयारो कओ—अतिचार किया हो।

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं—मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो।

इतना कहकर मौन होकर धर्मध्यान करे। सूर्योदय से पहले राइसिय प्रतिक्रमण करे। सूर्योदय होने पर वस्त्रादि की प्रतिलेखना करे। कदाचित् वस्त्र में मृतक जन्तु का कलेवर निकले तो यतना से एकान्त में परठ कर उसका प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो।

पौषध के १८ दोष



(१—६) पौषधव्रत में क्षौर (हजामत) तथा मज्जन (स्नान) नहीं करना है, मैथुनसेवन नहीं करना है, आहार नहीं करना है, वस्त्र नहीं धोना है, जेवर नहीं पहनना है, वस्त्र आदि नहीं रँगना है, अतएव पौषध के पहले दिन यह काम कर लूँ, इस विचार से यह छह कार्य करे तो दोष लगता है। (७) पौषध में अव्रती को सत्कार देना, आसन देना, वैयावृत्य करना। (८) शरीर का शृङ्गार करना—जैसे सिर के बाल सँवारना, दाढ़ी-मूँछ सँवारना, धोती की पटली जमाना आदि। (९) खुद के या दूसरे के शरीर का मैल उतारना। (१०) दिन में निद्रा लेना या रात्रि में दो पहर से अधिक निद्रा लेना, (११) पूँजणी से पूँजे बिनाखाज खुजलाना। (१२) विकथाएँ करना। (१३) चुगली निन्दा हँसी-मजाक आदि करना, (१४) व्यापार सम्बन्धी, हिसाब सम्बन्धी बातें करना या गप्पें मारना, (१५) अपने शरीर को या स्त्री आदि के शरीर को रागमय दृष्टि से देखना, (१६) गोत्र, जाति, नाते आदि मिलाना, जैसे आप हमारे गोत्र के हैं, आप हमारे अमुक रिश्तेदार हैं आदि कहना। (१७) खुले मुंह बोलने वाले तथा सचित्त वस्तु जिसके पास हो, उससे वार्त्तालाप करना। (१८) रुदन करना, शोक-सन्ताप करना।

पौषधव्रत का आचरण करने वाले श्रावक को इन अठारह दोषों से बचना चाहिए, तभी निर्दोष व्रत की आराधना होती है।

पौषध के पाँच अतिचार



(१) अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसेज्जासंथारए—अर्थात् जिस स्थान पर पौषधव्रत किया हो, उस स्थान को, ओढ़ने-बिछाने के वस्त्रों को तथा पाट पराल आदि को सूक्ष्म दृष्टि से पूरी तरह देखे विना काम में लेवे तथा हलन-चलन करते, शयनासन करते, गमनागमन करते समय भूमि या बिछौने

को न देखे या भली-भाँति न देखे तो अतिचार लगता है। क्योंकि न देखने से अथवा अच्छी तरह न देखने से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होने की सम्भावना रहती है।

(२) अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसेज्जासंथारए---शय्या और संस्तारक को विना पूँजे या यतनापूर्वक विना पूँजे उपयोग में लावे।

(३) अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमि---मल-मूत्र त्याग करने की भूमि को देखे नहीं, और देखे भी तो अच्छी तरह विधिपूर्वक न देखे।

(४) अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उच्चारपासवणभूमि---मल-मूत्र त्यागने की भूमि का प्रमार्जन न करना अथवा विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन न करना।

(५) पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणयाए---पौषधव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन न करना। अर्थात् ऊपर बतलाई हुई विधि के अनुसार पौषधव्रत ग्रहण न करे अथवा ग्रहण करके भी सम्यक् प्रकार से उसका पालन न करे---पूर्वोक्त अठारह दोषों में से कोई दोष लगावे। 'अरे! आज मेरा अमुक जरूरी काम था, मैंने वृथा ही पोसा कर लिया' इत्यादि प्रकार से पश्चात्ताप करे, पौषध में पारणे के समय खाने-पीने की वस्तुओं का विचार करे, पौषध के बाद आरम्भ के कार्यों को करने का विचार करे, असम्बद्ध वचन बोले, अयतना से गमनागमन करे, साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका आदि का अपमान करे, पौषध का समय पूर्ण होने से पहले ही व्रत को पार ले, पारते समय गड़बड़ करे, इत्यादि किसी भी प्रकार का दोष लगाने से अतिचार लगता है।

इन पाँच अतिचारों और अठारह दोषों से रहित, प्रीति और हर्ष के साथ, पौषधव्रत का समाचरण करने से २७,७७,७७,७७,७७७ पल्योपम और एक पल्योपम के नौ भागों में से एक भाग अधिक काल की देवायु का बन्ध होता है। पौषधव्रत का यह फल व्यावहारिक या आनुषंगिक फल

है। इसका असली फल और भी महान् है। एक ही बार पौषधव्रत का सम्यक् प्रकार से आराधन करने वाला अनन्त भव-भ्रमण से मुक्त होकर थोड़े ही भवों में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

चक्रवर्त्ती महाराज अपने लौकिक स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए द्रव्य तप और द्रव्य पौषध करते हैं; फिर भी वे सिर्फ १३ तेलों के पौषध से षट्-खण्ड भरत क्षेत्र के राज्य के अधिपति बन जाते हैं। करोड़ों देव उनकी आज्ञा में चलने लगते हैं। वे नव निधियों और चौदह रत्नों के तथा अन्य महान् ऋद्धि के भोक्ता बन जाते हैं।

वासुदेव आदि अनेक पुरुषों ने एक ही तेले के पौषधव्रत से बड़े-बड़े देवों को अपने अधीन बना लिया था और उनसे अनेक कार्य करवाये थे। ऐसी स्थिति में जो भावपौषध करेगा, जो जिन भगवान् की आज्ञा के अनुसार उसका आराधन करेगा, उसे जो महान् फल प्राप्त होगा उसका तो कहना ही क्या है? वास्तव में पौषधव्रत आत्मिक गुणों का अनन्त लाभ देने वाला है। ऐसा जान कर सच्चे श्रावक को कम से कम छह पौषध एक महीने में अवश्य करने चाहिए। कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की अष्टमियों में दो पौषध, चतुर्दशी और अमावस्या का बेला करके दोनों दिनों के दो पौषधव्रत तथा चतुर्दशी और पूर्णिमा का बेला करके दोनों दिनों के दो पौषधव्रत, यह छह पौषध प्रत्येक मास में अवश्य करना चाहिए। प्राचीन काल के श्रावक ऐसा करते थे और इस समय के श्रावकों को भी ऐसा करना उचित है। कदाचित् छह पौषध न हो सकें तो चार—दो अष्टमी और दो पक्खियों के दिन ही करें। और कदाचित् चार भी न बन सकें तो पक्खी के दिन प्रति मास दो पौषध तो करने ही चाहिए। अन्य मतावलम्बी भी कहते हैं—गधे की तरह चर किन्तु एकादशी कर।' अर्थात् महीने के २८ दिन भले ही पेट भर खाया कर किन्तु दो एकादशियों के दिन दो व्रत अवश्य कर।

सुज्ञ आत्मार्थी श्रावकों का कर्त्तव्य है कि प्रचलित कुरूढ़ियों को त्याग कर सच्चे और शुद्ध पौषधव्रत को विधि के अनुसार भावपूर्वक आराधन

करें। अज्ञ लोगों की देखा-देखी न करें। शुद्ध पौषध के प्रभाव में आनन्द और कामदेव आदि श्रावक एकभवावतारी हुए हैं।

बारहवाँ व्रत—अतिथिसंविभाग



जो भिक्षा के लिए सदैव नहीं आता, बारी बाँध कर भी नहीं आता, तथा आमन्त्रण देने से भी नहीं आता, अर्थात् जिसके आने की कोई तिथि नियत न हो उसे 'अतिथि' कहते हैं*।

यह अतिथि विषय-कषाय का शमन करने वाले होने के कारण 'श्रमण' भी कहलाते हैं। द्रव्य से अकिंचन (परिग्रहहीन) और भाव से कर्मग्रंथि का भेदन करने वाले होने के कारण 'निर्ग्रन्थ' भी कहलाते हैं।

ऐसे श्रमण, निर्ग्रन्थ अतिथि (साधु) के लिए सदैव प्रासुक-अचित्त और एषणीय भोजनादिक का संविभाग करे। अर्थात् प्राप्त भोजनादि में से कुछ भाग देने का मनोरथ श्रावक प्रतिदिन करे। साधु का योग मिलने पर भक्ति के साथ दान करे। यह उत्कृष्ट अतिथिसंविभाग व्रत है।

गृहस्थ के घर में जो भोजन निष्पन्न हुआ है, उसमें समस्त कुटुम्ब का, जो उस घर के चौके में भोजन करते हैं, हिस्सा होता है। किन्तु भोजन करते समय थाली में जो भोजन आ जाता है, उसमें किसी दूसरे का हिस्सा नहीं रहता अर्थात् उस भोजन का एक मात्र स्वामी वही है। अतएव अपने हिस्से के भोजनादि में से दान देकर दान के महालाभ को प्राप्त करने का अभिलाषी श्रावक भोजन करने बैठते समय पानी आदि सचित्त वस्तु का संघट्टा

---

* *तिथिः पर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना।*
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः॥

अर्थात्—जिस महात्मा ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि का त्याग कर दिया है, अर्थात् जिसने फलां दिन फलां के घर जाना, ऐसा नियम नहीं बाँध रक्खा है, वह अतिथि कहलाता है। शेष भिक्षुक-अभ्यागत कहलाते हैं।

करके न बैठे; क्योंकि सचित्त वस्तु का संघट्टा करने वाले से साधु आहार-पानी आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं। गांव में साधु हों या न हों, तो भी भोजन का ग्रास लेने से पहले किंचित् काल ठहर कर द्वार की ओर दृष्टि डाले और सोचे कि कोई साधु-साध्वी पधारें तो उन्हें दान दूं, क्योंकि अप्रतिबन्धविहारी साधु कदाचित् अचानक ही आ जाते हैं। अगर साधु-साध्वी दृष्टिगोचर हो जाएँ तो भोजन में कोई जीव-जन्तु न पड़े, इस प्रकार की व्यवस्था करके, साधु के सन्मुख आकर यथोचित नमस्कार करे और आदर के साथ भोजनशाला में ले जाकर उलट भाव से आहारदान दान देवे।

साधु को १४ प्रकार की वस्तुएँ दी जाती हैं:—(१) अशन अर्थात् चौबीस प्रकार के धान्य में से जो धान्य उस समय पकाया हो, तला हो, भूँजा हो और जो उस समय उपस्थित हो। (२) पान-धोवन पानी, उष्ण पानी, तक्र, आछ, शर्बत, ईख का रस आदि जो मौजूद हो। (३) खाद्य-पकवान, अचित्त मेवा, मिठाई आदि। (४) स्वाद्य—खटाई, सुपारी, लौंग, चूरन आदि। (५) वस्त्र—श्वेत वर्ण वाले सन के, रेशम के या सूत के। (६) प्रतिग्रह-लकड़ी, तूम्बे या मिट्टी के पात्र। (७) कम्बल—ऊन के वस्त्र, कंबल, बनात आदि। (८) पादप्रोञ्छन—रजोहरण (ओघा), पूँजनी तथा बिछाने के लिए मोटा वस्त्र। यह आठ वस्तुएं दे दी जाने के बाद फिर वापिस नहीं ली जाती हैं, अतएव उन्हें अपडिहारी कहते हैं। (९) पीठ—आहार-पानी रखने के लिए या बैठने के लिए छोटा पाट या चौकी। (१०) फलक—शयन करने का बड़ा पाट और पीठ की तरफ लगाने का पाटिया, (११) शय्या—रहने के लिए मकान। (१२) संस्तारक—वृद्ध, तपस्वी या रोगी साधु को बिछाने के लिए गेहूँ का, शालि का या कोद्रव आदि का घास। (१३) औषध—सोंठ, हरड़, काली मिर्च, अचित्त नमक* आदि

* नींबू के आचार में का नमक, किसी जगह को तपाने के लिए गर्म किया नमक तथा काला नमक, यह अचित्त गिना जाता है। चूर्ण बनाने के बाद वर्षा हो गई हो तथा चूर्ण में रस भिद गया हो तो उसमें का नमक भी अचित्त हो जाता है।

औषध की वस्तु। (१४) भेषज—शतपाक आदि तेल, चूर्ण, गोली आदि बनी हुई दवा।

इन वस्तुओं में से जिन-जिन का योग हो, उनके लिए आमंत्रण करे, देते समय गड़बड़ न करे, घबरावे नहीं। साधु के पूछने पर जो बात सच हो सो कह देवे, झूठ न बोले। शुद्ध (सूझता) लेने वाले को अशुद्ध (असूझता) न देवे; क्योंकि असूझता देने से हीन आयु का बंध होता है। अतएव जैसा हो वैसा ही कह देवे। अगर साधु कहें कि—'हे आयुष्मन् गृहस्थ! यह हमें नहीं कल्पता है' तब गृहस्थ अपना दानान्तराय कर्म का उदय समझ कर पश्चात्ताप करे और उस दिन के लिए किसी प्रकार का प्रत्याख्यान करे।

हाँ, अगर सच-सच कह देने पर भी कोई रस-लम्पट प्रमादी साधु उस असूझते आहार को ही ग्रहण कर लेवे तो उसके लिए गृहस्थ दोष का पात्र नहीं है; क्योंकि गृहस्थ का द्वार तो दान के लिए सदा खुला रहता है। साधु के पात्र में जितना आहार जायगा, संसार के ताप से उतना ही बचाव हुआ समझना चाहिए।

आहार आदि ग्रहण करने के पश्चात् जब साधु लौटें तो कम से कम सात-आठ पाँव पहुंचा कर नमस्कार करके कहे—महाराज, आज अच्छा लाभ दिया है, वार-वार ऐसी ही कृपा किया कीजिए।×

कदाचित् साधु-साध्वी का योग न मिले तो विचारना चाहिए कि जहाँ साधु-साध्वी विराजमान हैं वह नगर-ग्राम धन्य हैं और वे गृहस्थ भी धन्य हैं जो उन्हें १४ प्रकार का दान देते हैं।

बारहवें व्रत के पाँच अतिचार

●

(१-२) सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान—साधु सचित्त वस्तु को ऊपर रक्खी हुई तथा सचित्त से ढंकी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करते हैं।

× जिसके हाथ से दान दिया जाता है, वही दान के फल का अधिकारी होता है। देय वस्तु जिसकी होती है उसे धर्मदलाली का फल मिलता है।

ऐसा जानता हुआ कोई गृहस्थ साधु को कोई वस्तु न देने के इरादे से वह वस्तु सचित्त के ऊपर रख दे या सचित्त के नीचे रख दे तो अतिचार लगता है। दान देने के इच्छुक श्रावक का कर्त्तव्य है कि साधु के निमित्त अचित्त वस्तु को सचित्त से अलग न करे, किन्तु गृह कार्य के लिए सहज ही वह अलग रक्खी गई हो तो साधु को न देने के इरादे से उसे सचित्त वस्तु के ऊपर या नीचे न रक्खे।

(३) कालातिक्रम—दान के समय का अतिक्रमण करना अर्थात् भिक्षा का समय बीत जाने पर साधु को दान देने का आमंत्रण करना अथवा वस्तु का काल बीत जाने पर-बिगड़ी हुई वस्तु देने का विचार करना।

(४) परव्यपदेश—स्वयं सूझता होते हुए भी दूसरे को दान देने के लिए कहना; अथवा न देने की भावना से अपनी वस्तु को दूसरे की बतलाना।*

(५) मात्सर्य—मत्सर भाव धारण करना। (१) साधु तो आ ही धमके हैं, इन्हें आहार-पानी नहीं दूंगा तो लोगों के सामने ये मेरी निन्दा करेंगे, ऐसा विचार करके देना। (२) अच्छी वस्तु होते हुए भी न देना और खराब वस्तु देना। (३) मेरे सरीखा दातार कोई नहीं है, इसी कारण साधु बार-बार मेरे घर आते हैं, ऐसा अभिमान करना। (४) साधु या साध्वी मेरे संसार के सम्बन्धी हैं, अतः इन्हें आहार-पानी देना ही चाहिए इस प्रकार सोच कर देना तथा यह बेचारे साधु जैनों के हैं, इन्हें अपन न देंगे तो दूसरा कौन देगा, ऐसी भावना से देना।+

---

* दानं प्रियवाक्सहितं, ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
वित्तं त्यागनियुक्तं, दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके॥ —विष्णुश्रम

अर्थात्—प्रिय एवं मधुर वचनों के साथ दान, गर्वरहित ज्ञान, क्षमा से युक्त शूर-वीरता और त्याग सहित धन, यह चार बातें मिलना दुर्लभ है।

+ 'तहारूवं समणं वा माहणं वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मं, तस्स हीलित्ता निंदित्ता, खिंसित्ता, गरिहित्ता, अवमानित्ता, अमणुन्नेणं अप्पियकारगेणं असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता, से असुहदीहंतरं कम्मं पकरेंति। —श्रीभगवतीसूत्र।

श्री ठाणांगसूत्र में दस प्रकार के दान× कहे गये हैं, किन्तु धर्मदान उन सब में श्रेष्ठ है। धर्मदान से संसार परीत होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार बारहवें व्रत के अतिचारों के सेवन से दुःख की उत्पत्ति होती जान कर विवेकशील पुरुषों को उनसे बचना चाहिए और यथोचित सुपात्रदान का लाभ प्राप्त करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं वे इस लोक में भी यश एवं सुख-सम्पत्ति के भोक्ता बनते हैं तथा देवादिकों के पूजनीय भी होते हैं। कदाचित् उत्कृष्ट रसायन पक जाय तो तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन करके तीसरे भव में तीर्थंकर भगवान् होकर सम्पूर्ण जगत् के पूजनीय हो जायंगे और मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। कोई-कोई दानदाता भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं, कोई स्वर्गीय सुखों के भोक्ता देव बन जाते हैं। इस तरह सुखमय देवभव या मनुष्यभव करके सुबाहुकुमार आदि की तरह थोड़े ही भवों में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

अर्थात्—जिन शास्त्रोक्त लिंग के धारक, संयम और व्रत के द्वारा पाप-कर्म का घात करने वाले श्रमण या श्रावक की कोई निन्दा करेगा, गर्हा करेगा, अपमान करेगा, अमनोज्ञ एवं अप्रीतिकारक आहार-पानी-खाद्य-स्वाद्य उन्हें देगा तो वह लम्बा आयु तो पाएगा किन्तु दुःखों से पीड़ित होकर अपना जीवन व्यतीत करेगा।

× *अणुकंपा१ संगहे२ चेव, ३भयकालुणिए४ त्ति य।*
लज्जाए५ गारवेणं६ च, अहम्मे७ पुण सत्तमे॥
धम्मे८ च अट्ठमे वुत्ते काहीतीत९ कयंतिए१०॥

—ठाणांगसूत्र, ठा० १०, उ० ३

अर्थात्—(१) अनुकम्पादान—दुखी जीवों को दुःख से मुक्त करने के लिए दिया जाने वाला दान (२) संग्रहदान—संकटग्रस्त को सहायता देना। (३) भयदान—डर के कारण दिया जाने वाला दान (४) कारुण्यदान—करुणा (शोक) के कारण दिया जाने वाला दान (५) लज्जादान—लज्जा के कारण दिया जाने वाला दान (६) गौरवदान—कीर्त्ति-बड़प्पन के लिए दिया जाने वाला दान (७) अधर्मदान—पाप सेवन करने वालों को पाप सेवन के लिए दिया जाने वाला दान (८) धर्मदान—धर्म के लिए दान देना धर्मदान है (९) करिष्यतिदान—भविष्य में प्रत्युपकार की आशा से दिया जाने वाला दान (१०) कृतदान—किये हुए उपकार के बदले दिया जाने वाला दान।

इस आर्यभूमि भारतवर्ष में कई नामधारी साधु ऐसे भी हैं जो अपने सिवाय दूसरों को दान देने में एकान्त पाप बतलाते हैं। और कई श्रावक भी हैं जो स्वयं दान देने में और दूसरों से दिलाने में समर्थ होते हुए भी पक्षपात से, लोभ से, द्वेष से प्रेरित होकर स्वयं दान देते नहीं हैं और दूसरों को मना करते हैं। वे अपने सम्प्रदाय के साधुओं के सिवाय दूसरों को मिथ्यात्वी, पाखण्डी, भगवान् की आज्ञा के चोर, कुपात्र, आदि कहकर कलंकित करते हैं। अगर कोई दाता दान देता है तो उसे तलवार की धार को तीखा करने वाला, भगवान् का चोर और सम्यक्त्व का नाशक, नरकगामी कह कर भ्रम उत्पन्न करते हैं। अपने सिवाय अन्य को दान देने का त्याग भी कराते हैं।

भोले भक्त ऐसे पाखण्डियों के उपदेश को सत्य समझ कर उसे स्वीकार कर लेते हैं। फलस्वरूप वे त्यागी, वैरागी, जिनाज्ञानुयायी साधुओं के द्वेषी बन जाते हैं और बाबा, जोगी, फकीर आदि से भी जैन साधुओं को खराब समझने लगते है। कई बार तो वे साधुओं को कष्ट भी पहुँचाते हैं। उनकी स्थिति कितनी दयनीय है?

भगवान् ने भोजन-पानी के विच्छेद को प्रथम व्रत का अतिचार बतलाया है। ऋषभदेवजी ने अपने पूर्वभव में एक बैल के मुंह पर छींका चढ़ाया था, जिसके फलस्वरूप बारह महीनों तक उन्हें आहार की प्राप्ति नहीं हुई। जब तीर्थङ्कर जैसे महान् पुण्यशाली पुरुषों को भी कर्मों ने नहीं छोड़ा तो ऐसे लोगों की क्या दशा होगी?

इस कथन पर विचार करके श्रावक को अवसर के अनुसार यथाशक्ति दान अवश्य करना चाहिए।

यहाँ तक पाँच अणुव्रतों का, तीन गुणव्रतों का और चार शिक्षाव्रतों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। शक्ति हो तो इन बारह व्रतों को स्वीकार करना श्रावक का कर्त्तव्य है। कदाचित् बारह व्रतों को धारण करने की शक्ति न हो तो जितने व्रत धारण करने की शक्ति हो उतने ही व्रतों की

धारण करना उचित है। आगे ज्यों-ज्यों अवसर प्राप्त होता जाय त्यों-त्यों व्रतों में वृद्धि करके सम्पूर्ण व्रतों को ग्रहण करना चाहिए।

श्रावक की ग्यारह पडिमाएँ



पूर्वोक्त बारह व्रतों का पालन करते-करते और अपने वैराग्यभाव में वृद्धि करते-करते श्रावक जब विशेष रूप से विरक्त होते हैं, तब अधिक धर्म-साधना की अभिलाषा से प्रेरित होकर अपने गृहकार्य का और परिग्रह का भार अपने पुत्र, भ्राता आदि को सौंप देते हैं। वे स्वयं गार्हस्थ्य संबंधी ममता से निवृत्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् धर्मोपकरण-आसन गुच्छक, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, माला, शास्त्र, ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र, भाजन-मातरिया आदि, लेकर पौषधशाला या उपाश्रय आदि धर्मस्थान में चले जाते हैं। फिर नीचे लिखी हुई श्रावक की प्रतिमाओं का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार समाचरण करते हैं। यथा—

श्रावकपदानि देवैरेकाश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणारन्यगुणैः सह, सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार।

अर्थात्—तीर्थङ्कर देवों ने श्रावक के ग्यारह स्थान कहे हैं। वे स्थान क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और अगले स्थानों में पूर्व-पूर्व के गुण पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पहली प्रतिमा की विधि दूसरी प्रतिमा में और इसी प्रकार सब पिछली प्रतिमाओं की विधि अगली प्रतिमाओं में भी पालन की जाती है। वे प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं:—

(१) दर्शनप्रतिमा (दंसणपडिमा)—एक महीने तक निर्मल सम्यक्त्व का पालन करे। सम्यक्त्व का शंका, कांक्षा आदि कोई भी अतिचार किंचित् भी न लगने दे। गृहस्थों को तथा अन्यतीर्थियों को नमस्कार आदि न करे और एकान्तर उपवास करे।

(२) व्रतप्रतिमा (वयपडिमा)—दो महीने पर्यन्त सम्यक्त्वपूर्वक बारह व्रतों का निर्मल-निरतिचार रूप से पालन करे। किसी भी अतिचार का सेवन न करे और बेले-बेले पारणा करे।

(३) सामायिक प्रतिमा (सामाइयपडिमा)—तीन महीने तक सम्यक्त्व और व्रतपूर्वक प्रातः मध्याह्न और सायंकाल बत्तीस दोषों से रहित सामायिक करे और तेले-तेले का पारणा करे।

(४) पौषधप्रतिमा (पोसहपडिमा)—चार मास पर्यन्त, सम्यक्त्व, व्रत, और सामायिकपूर्वक, पौषध के पूर्वोक्त १८ दोषों से बच कर प्रतिमास छह पौषधोपवास करे। चौले-चौले पारणा करे।

(५) नियम प्रतिमा—पाँच महीने पर्यन्त, सम्यक्त्व, व्रत, सामायिक और पौषधोपवासपूर्वक पाँच प्रकार के नियमों का समाचरण करे। पाँच नियम यह हैं—(१) बड़ा स्नान न करना (२) चौर (हजामत) न करना (३) पैरों में जूता आदि न पहनना (४) धोती की एक लांग खुली रखना (५) दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना। पंचोले-पंचोले पारणा करे।

(६) ब्रह्मचर्यप्रतिमा—छह महीना तक, सम्यक्त्व, व्रत, सामायिक, पौषध और नियमपूर्वक नव वाड़ों से युक्त अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना और छह-छह उपवासों का पारणा करना।

(७) सचित्तत्यागप्रतिमा—सात मास तक, सम्यक्त्व, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम और ब्रह्मचर्य के साथ, सब प्रकार की सचित्त वस्तुओं के उपभोग-परिभोग का परित्याग करे और सात-सात उपवास का पारणा करे।

(८) आरम्भत्यागप्रतिमा—आठ मास तक, सम्यक्त्व, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, ब्रह्मचर्य और सचित्तत्याग के साथ पृथ्वीकाय आदि छहों कायों का स्वयं आरम्भ करने का त्याग करे और आठ-आठ उपवासों का पारणा करे।

(९) प्रेष्यारम्भत्यागप्रतिमा --नौ महीने पर्यन्त, सम्यक्त्व, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग और स्वयंकृत आरम्भ त्याग के साथ छहों कायों का आरम्भ दूसरे से कराने का भी त्याग करे। नौ-नौ उपवासों के बाद पारणा करे।

(१०) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा—दस महीने तक, सम्यक्त्व, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, आरम्भत्याग, प्रेष्यारम्भत्याग के साथ-साथ उद्दिष्ट वस्तुओं का भी त्याग करे। अर्थात् अपने निमित्त बनाये हुए आहार आदि समस्त पदार्थ भोगने का त्याग करे। दस-दस उपवास के बाद पारणा करे।

(११) श्रमणभूतप्रतिमा—सम्यक्त्व आदि पूर्वोक्त दशों बोलों का पालन करते हुए, ग्यारह मास तक, साधु के समान आचरण करे, तीन करण तीन योग से सावद्य कार्य का त्याग करे, सिर के, दाढ़ी के तथा मूछों के बालों का लोच करे, शिखा रक्खे, शक्ति न हो तो क्षौर करा ले, रजोहरण की डंडी पर वस्त्र न लपेटे—खुली डंडी का रजोहरण रक्खे, धातु के पात्र रक्खे। अपनी जाति में भिक्षावृत्ति करके ४२ दोषों से रहित आहार-पानी आदि आवश्यक वस्तुएँ ग्रहण करे। कदाचित् कोई भ्रमवश उसे साधु समझ ले तो स्पष्ट शब्दों में कह दे कि—'मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूँ, साधु नहीं हूँ।' भिक्षा के आहार-पानी आदि को उपाश्रय आदि में लाकर गृद्धिरहित होकर भोगे। ग्यारह-ग्यारह उपवास के पारणा करे।

इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं के पालने में ५॥ वर्ष लगते हैं। इसके पश्चात् साधु-दीक्षा धारण कर लेनी चाहिए। कदाचित् शरीर अधिक निर्बल हो गया हो और आयु का अन्त सन्निकट ही आ गया प्रतीत हो और जीवित रहने की आशा न रही हो तो संलेखना करके समाधिपूर्वक ही शरीर का त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार श्रावक तीन प्रकार के हैं—(१) सम्यक्त्वधारी जघन्य-श्रावक हैं, (२) बारह व्रतधारी मध्यम श्रावक हैं और (३) प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक होते हैं।

सच्चे श्रावक के लक्षण

●

(आर्या छन्द)

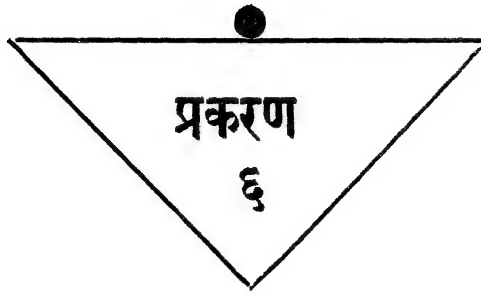
कयवयकम्मो तह सीलवं च गुणवं च उज्जुववहारी।
गुरुसुस्सूसू पवयणकुसलो खलु भगवओ सड्ढो ॥

अर्थात्—सम्यक्त्व तथा व्रत आदि श्रावक के कर्मों का सम्यक् प्रकार से समाचरण करने वाला, शीलवान्, गुणवान्, सरल व्यवहार करने वाला गुरुजनों की सेवा-भक्ति करने वाला, जिनेन्द्र के प्रवचन में कुशल जिन भगवान् का श्राद्ध (श्रावक) होता है।

(गाथा)

अगारी सामाइयंगाणि, सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥२३॥
एवं सिक्खासमावन्ने गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चइ छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥२७॥
—श्री उत्तराध्ययन।

अर्थात्—श्रद्धावान् गृहस्थ को सामायिक आदि व्रतों का पालन करना चाहिए। कृष्णपक्ष में और शुक्लपक्ष में पौषधव्रत का आचरण करना चाहिए। एक रात्रि भी विना धर्मक्रिया के नहीं गँवानी चाहिएं अर्थात् प्रतिदिन आवश्यक दैनिक धर्मकृत्य अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा से युक्त श्रावक गृहवास करता हुआ भी सुव्रती कहलाता है। वह मल, मूत्र, रक्त, मांस आदि के पिण्ड इस औदारिक शरीर को त्याग कर यक्ष लोक को प्राप्त होता है अर्थात् देवगति पाकर इच्छानुसार रूप बना लेने वाला वैक्रियशरीर का धारक देव होता है। इसके पश्चात् वह थोड़े ही भवों में जन्म जरा, मरण के तथा आधि, व्याधि, उपाधि के समस्त दुःखों का अन्त करके मुक्ति के अनन्त अक्षय अव्याबाध सुख का अधिकारी बनेगा।


प्रकरण
६

अन्तिम शुद्धि



मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य, वीतरागो ददातु मे।
समाधिबोधपाथेयं, यावन्मुक्तिपुरी पुरः ॥

—मृत्युमहोत्सव

जिस प्रकार विदेश जाते समय घर के प्रेमी जन जाने वाले के साथ मार्ग में खाने पीने की सामग्री रख देते हैं, जिससे कि मार्ग में जाने वाले को किसी प्रकार का कष्ट न हो, उसी प्रकार, हे वीतराग देव ! हे धर्म-पितामह ! मैं मृत्यु-मार्ग पर अग्रसर हो रहा हूँ। मुझे मुक्ति रूपी नगरी में पहुँचना है। मुक्ति-पुरी तक सकुशल पहुँचने के लिए मुझे समाधि का बोध अथवा चित्त की समाधि और सद्बोध प्रदान कीजिए, जिससे मेरी यात्रा सानन्द पूर्ण हो।

मृत्यु के १७ प्रकार



(१) अविचियमृत्यु (अनुवीचि मरण)—उत्पन्न होने के बाद उदय में आये हुए आयुकर्म के दलिकों का प्रतिसमय निर्जीर्ण होना। अर्थात् समय-समय पर आयु का कम होते जाना।

(२) तद्भवमरण—वर्त्तमान भव में जो शरीर प्राप्त हुआ है, उससे संबंध छूट जाना।

(३) अवधिमृत्यु—एक बार भोगकर छोड़े हुए परमाणुओं को दुबारा भोगने से पहले पहले जब तक जीव उनका भोगना शुरु नहीं करता तब तक अवधिमरण कहलाता है।

(४) आद्यन्तमरण—सर्व से और देश से आयु क्षीण होना तथा दोनों भवों में एक सी मृत्यु होना।

(५) बालमरण—विष, शस्त्र, अग्नि या पानी से अथवा पहाड़ से नीचे गिर कर आत्मघात करके मरना तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना न करके अज्ञानपूर्वक हाय हाय करते हुए मरना।

(६) पण्डितमरण—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित समाधिपूर्वक आयु पूर्ण होना।

(७) वलन्मृत्यु—संयम एवं व्रत से भ्रष्ट होकर मरना।

(८) बालपण्डितमरण—सम्यक्त्वयुक्त श्रावक के व्रतों का आचरण करके समाधिभाव के साथ शरीर का त्याग करना।

(९) सशल्यमरण—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यात्वशल्य में से किसी भी शल्य के साथ मरना।

(१०) प्रमादमृत्यु—प्रमाद के वश होकर तथा घोर संकल्प-विकल्पमय परिणामों के साथ प्राणों का परित्याग करना।

(११) वशार्त्तमृत्यु—इन्द्रियों के वश होकर, कषाय के वश होकर, वेदना के वश होकर या हास्य के वश होकर मृत्यु होना।

(१२) विप्रणमृत्यु—संयम, शील, व्रत आदि का निर्वाह न होने से घात करना।

(१३) गृद्धपृष्ठमृत्यु—संग्राम में शूरवीरता के साथ प्राण त्यागना।

(१४) भक्तप्रत्याख्यान मृत्यु—विधिपूर्वक तीनों प्रकार के आहार के त्याग का यावज्जीवन प्रत्याख्यान करके शरीर को त्यागना।

(१५) इंगितमृत्यु—संथारा ग्रहण करने के पश्चात् दूसरे से वैयावृत्य न कराते हुए शरीर को त्यागना।

(१६) पादोपगमनमृत्यु—आहार और शरीर का यावज्जीवन त्याग करके स्वेच्छापूर्वक हलन-चलन आदि क्रियाओं का भी त्याग करके समाधिपूर्वक शरीरोत्सर्ग करना।

(१७) केवलिमरण—केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् मोक्ष में जाते समय अन्तिम रूप से शरीर का छूटना।

मृत्यु के यह सत्तरह प्रकार अष्टपाहुड ग्रन्थ के पाँचवें भावपाहुड में बतलाये गये हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में सामान्य रूप से मृत्यु के दो भेद बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे॥

—श्रीउत्तराध्ययन, अ० ५, गा० ४

अर्थात्—अज्ञानी जीव अकाममृत्यु से मरते हैं। उन्हें पुनः पुनः मरना पड़ता है। किन्तु पण्डित अर्थात् ज्ञानी पुरुषों का सकाममरण होता है, और वह उत्कृष्ट एक बार ही होता है, उन्हें फिर मरना नहीं पड़ता—वे अमर-मुक्त हो जाते हैं।

आत्महित के अभिलाषी पुरुषों को दोनों प्रकार की मृत्यु का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। वह निम्नलिखित है:—

जो जीव परलोक में आस्था नहीं रखते, वे कहते हैं—कौन जाने परलोक है या नहीं ? हमारे इतने सगे-सम्बन्धी, कुटुम्बी और स्नेही लोग मर गये, मगर किसी ने कुछ भी समाचार-सन्देश नहीं भेजा ! अतएव परलोक के सुखों की मिथ्या आशा से इस लोक में—इस भव में प्राप्त हुए कामभोगों का त्याग कर देना उचित नहीं है। इस जीवन के सुख छोड़ कर भूख,

प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के दुःख भविष्य के सुख की कल्पना करके सहन करना बुद्धिमानी नहीं है। जो सुख प्राप्त हैं इन्हीं को अधिक से अधिक भोग लेना अच्छा है।

इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर वे हिंसा करते हुए, मिथ्या भाषण करते, चोरी करते हुए, व्यभिचार का सेवन करते हुए और सभी प्रकार के पापों का आचरण करते हुए संकुचित नहीं होते हैं। वे मदिरा का सेवन करने लगते हैं, मांसभक्षण से परहेज नहीं करते, विषयभोग में अत्यन्त आसक्त होकर वेश्यागमन जैसे घोर दुष्कर्म करने से भी नहीं चूकते। वे धर्म के नाम से चिढ़ते हैं, पाप के कामों में हर्ष के साथ प्रवृत्ति करते हैं, सन्तों की संगति से दूर रहते हैं, चोरों-जारों की संगति में मज़ा मानते हैं।

इस प्रकार जीवन पर्यन्त पापों का आचरण करके जब मृत्यु के समीप आते हैं तब उन्हें अतिसार, कुष्ठ, जलोदर, भगंदर, शूल, क्षय, आदि भयंकर रोग आ घेरते हैं और वे त्रास पाते हैं, व्याकुल होते हैं और रोते हैं कि—'हाय रे! अब मुझे महान् कष्ट से संचित किये हुए भोगोपभोग के साधनों को त्याग कर चला जाना पड़ेगा! इस तरह वे मृत्यु की इच्छा के बिना ही रोते-विलाप करते हुए मृत्यु के मुंह में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार का मरण बालमरण कहलाता है। बालमरण से मरने वाला प्राणी इस अपार संसार में अनन्त जन्म-मरण को प्राप्त होता है। जब तक इस प्रकार के मरण से मरता रहता है तब तक वह संसार के दुखों से छुटकारा नहीं पाता। वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इस ज़ीव ने इस बालमरण के प्रभाव से अनन्त काल नाना योनियों में जन्म-मरण करके बिता दिया है।

जब कभी प्राणी सब कर्मों की स्थिति को खपा कर एक कोटाकोटी सागरोपम के अन्दर की स्थिति को प्राप्त करता है, तब कहीं उसके चित्त में धर्म की आराधना करने की भावना उत्पन्न होती है। सौभाग्य का उदय होने पर उसे सद्गुरु की संगति प्राप्त होती है तो वह संसार के वास्तविक स्वरूप को समझता है। भवभ्रमण के दुःखों को जानता है। तत्पश्चात् उन

दुःखों से उद्विग्न होकर उन मुमुक्षु पुरुषों को सकाम मरण के स्वरूप को समझने की सहज ही अभिलाषा होती है।

जैसे शूरवीर धीर क्षत्रिय राजा पर कोई पराक्रमी राजा चढ़ाई करता है तो उसकी चढ़ाई का समाचार सुनते ही उस शूरवीर की नसों में खून दौड़ने लगता है, रोम-रोम में वीर रस व्याप्त हो जाता है। वह तत्काल अपनी सेना के साथ सुसज्जित होकर, राजकीय सुखों का परित्याग करके, शीत-ताप, क्षुधा-तृषा आदि के कष्टों की तथा शस्त्रों के प्रहार संबंधी दुःखों की तनिक भी चिन्ता न करता हुआ, यहाँ तक कि उस दुःख को भी सुख का साधन समझता हुआ, अपनी वीरता कुशलता और प्रबलता से शत्रु की सेना को पराजित करके विजयी बनता है। विजय प्राप्त करके विना किसी विघ्नबाधा के राज्य भोगता है। इसी प्रकार महात्मा पुरुष, काल रूपी शत्रु को रोग आदि रूप दूतों के द्वारा निकट आया जान कर तत्काल सावधान हो जाते हैं। वे शारीरिक सुखों का सर्वथा परित्याग करके, क्षुधा-तृषा आदि के दुःखों को दुःख न मानते हुए, बल्कि सुख का साधन समझते हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित होकर सकाम मरण रूप संग्राम के द्वारा काल रूप दुर्दान्त शत्रु को पराजित कर देते हैं। फल स्वरूप वे अनन्त, अक्षय, आत्मिक सुख की प्राप्ति रूप मोक्ष के महाराज्य को प्राप्त करके सदा के लिए निष्कंटक बन जाते हैं।

जिसने जन्म लिया है, उसे एक न एक दिन मरना तो होगा ही। मृत्यु से बचने का जगत् में कोई उपाय नहीं है। बड़े-बड़े प्रतापशाली, चक्रवर्त्ती, वासुदेव आदि समर्थ पुरुष इस भूतल पर आये, मगर उनमें से एक भी मृत्यु से नहीं बचा! वास्तव में मृत्यु से बचना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार जब मृत्यु निश्चित है तो उसे बिगाड़ कर आत्मा का अहित क्यों करना चाहिए? रोते, कराहते और हाय-हाय करते क्यों मरना चाहिए? ऐसा उपाय क्यों नहीं करना चाहिए जिससे कि एक ही बार मर कर सदा के लिए अमरता प्राप्त हो जाए? वह उपाय कितना ही विकट क्यों न हो, फिर भी पुनः पुनः मृत्यु के घोर कष्ट भोगने की अपेक्षा तो वह उपाय अल्प

कष्टकर ही है। अनन्त जन्म-मरण के दुःखों की तुलना में समाधिमरण का कष्ट किसी गिनती में ही नहीं है। ऐसा विचार कर शूरवीर महात्मा सकाममरण करते हैं और सदा के लिए मृत्यु के दुःखों से छूट जाते हैं।

सकाममरण के पाँच गुणनिष्पन्न नाम हैं—(१) मुमुक्षु जीवों की कामना जन्म-जरा-मृत्यु से बचने की होती है। इस कामना की सिद्धि होने के कारण उसे 'सकाम-मरण' कहते हैं। (२) सब प्रकार की आधि, व्याधि, उपाधि से चित्त जब निवृत्त होता है और शान्ति के साथ धर्मध्यान में लगा रहता है तभी सकाममरण होता है, अतः उसका दूसरा नाम 'समाधिमरण' है। (३) मृत्यु के समय तीन या चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, अतएव उसे 'अनशन' भी कहते हैं। (४) अन्तिम बार बिछौने में शयन करने के कारण इसे 'संथारा लेना' भी कहते हैं। (५) सकाममृत्यु के समय अपने जीवन भर के दोषों का सम्यक् प्रकार से निरीक्षण किया जाता है, उनकी आलोचना, निन्दा और गर्हा की जाती है, अतएव इसे 'सल्लेखना' भी कहते हैं। अथवा माया, मिथ्यात्व और निदान रूप तीनों शल्यों की आलोचना आदि करने के कारण इसे सल्लेखना कहते हैं।

सागारी संथारा



मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है। कभी-कभी वह अचानक ही हमला कर देती है और जीवन-धन का अपहरण कर लेती है। कई लोग सदा की भाँति सोते हैं और सोते-सोते ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। ऐसी हालत में धर्मशील पुरुषों को सदैव सावधान रहना चाहिए। कदाचित् अचानक मृत्यु आ जाय तो आत्मा कोरा परभव में चला जाएगा, ऐसा भय सदैव रख कर रात्रि में सोते समय इत्वर (स्वल्प) काल के लिए अर्थात् सोकर उठने तक के समय के लिए और कदाचित् सोते-सोते ही मृत्यु आ जाय तो

यावज्जीवन के लिए यथायोग्य प्रत्याख्यान कर लेना चाहिए। ऐसे प्रत्याख्यान को सागारी संथारा❀ कहते हैं। वह इस प्रकार किया जाता है:—

शयन करने से पहले पूर्वोक्त आवस्सही इच्छाकारेण की पाटी और तस्सुत्तरी की पाटी कह कर चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। एक लोगस्स प्रकट में कह कर दोनों हाथ जोड़ कर कहे—

भक्खंति, उज्झंति, मारंति किंवि उवसग्गेणं मम आउ-अन्तो भवेज्ज तहा सरीर-सम्बन्ध-मोह-ममत्त-अट्ठारसपावट्ठाणाणि चउव्विहं पि आहारं वोसिरामि, सुहसमाहिएणं निद्दावइक्कती तओ आगारो।

अर्थात्—सोते समय कदाचित् सिंह आदि खा जाय, आग लगने से शरीर जल जाय, पानी में बह जाऊँ, शत्रु आदि मार डाले या आयु पूर्ण होने से मर जाऊँ या किसी अन्य उपसर्ग से मेरी आयु का अन्त हो जाय तो मैं अपने शरीर की मोह-ममता का, अठारह पापस्थानों का और चारों प्रकार के आहारों का त्याग करता हूँ। अगर सुख-समाधि के साथ जागृत होऊँ तो मैं सब प्रकार से खुला हूँ।

इस प्रकार संकल्प करके नमस्कार मन्त्र का स्मरण करता हुआ शयन करे। जागने पर पूर्वोक्त प्रकार से चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करके निम्नलिखित पाठ का उच्चारण करे:—

'पडिक्कमामि निगामसिज्जाए संथारा उत्तट्टणाए, परियट्टणाए, आउट्टणपसारणाए, छप्पइसंघट्टणाए, कुइए, कक्कराइए, छीए, जंभाइए, आमोसे,

---

कुण्डलिया छन्द

❀ मरदों माथे मनुष्य ने मरवानो तो छेज,
पण परमार्थ करणे मरणों मुश्किल एज।
मरणो मुश्किल एज सकल संसार संभारे,
वाह वाह कहि सहु विश्व अहोनिशि कीर्ति उच्चारे।
दाखे दलपतराम वचनना पालो बिरदो,

ससरक्खामोसे, आउलमाउलाए, सुविणवत्तियाए, इत्थीविपरियासयाए, दिट्ठिविपरियासयाए, मणविपरियासयाए, पाणभोयणविपरियासयाए, 'जो मे राइसिय अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं× ।'

इस पाठ का उच्चारण करने के बाद कहना चाहिए:—

सागारिय अणसणस्स—आगारयुक्त अनशन (संथारे) का ।

पच्चक्खाणं—प्रत्याख्यान (नियम)

फासियं—स्पर्शा

पालियं—पाला

सोहियं—शुद्ध किया

तीरियं—पार पहुँचाया

किट्टियं—कीर्तित-कीर्तियुक्त

आराहियं—आराधित

आणाए अणुपालियं—जिनाज्ञा के अनुसार पालन किया

न भवइ—न हो तो

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं—इस सम्बन्ध का मेरा पाप निष्फल हो* ।

यह सागारी संथारा की विधि है । कदाचित् चोर, सिंह, साँप, व्यन्तर, अग्नि, पानी आदि का ऐसा संकट आ पड़े जिससे प्राणान्त होने की संभावना हो या ऐसी ही कोई बीमारी अचानक उत्पन्न हो जाय और अनगारी संथारा करने का अवसर न हो तो वहाँ भी उक्त प्रकार से ही सागारी संथारा करना उचित है ।

× इस पाठ का अर्थ पौषधोपवास के वर्णन में आ चुका है ।

* नवकारसी आदि दस प्रत्याख्यानों को तथा पौषध एवं दया को पारते समय भी यह पाठ बोलना चाहिए ।

अनगारी संलेखना



[आर्या छन्द]

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायाञ्च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्याः ॥

—रत्नकरण्डक श्रावकाचार ।

अर्थात्—प्राणान्तकारी उपसर्ग के आने पर, अन्न-पानी की प्राप्ति न हो सके ऐसे दुर्भिक्ष के पड़ने पर, वृद्धावस्था के कारण शरीर के अत्यन्त ही जीर्ण हो जाने पर, असाध्य रोग उत्पन्न हो जाने पर-इस प्रकार का संकट आ जाने पर जब प्राण बचने का कोई उपाय न हो-तब (अथवा निमित्त ज्ञान आदि के द्वारा अपनी आयु का निश्चित रूप से अन्त समीप आया जान कर) अपने धर्म की रक्षा के लिए शरीर का त्याग करना संलेखना तप कहलाता है, गणधरों ने कहा हैं—

संलेहणा हि दुविहा, अब्भन्तरिया य बाहिरा चेव ।
अभ्यन्तरा कसाएसु, बाहिरा होइ हु सरीरे ॥२११॥

—भगवती आराधना ।

अर्थात्—क्रोध आदि कषायों का त्याग करना आभ्यन्तर संलेखना है और शरीर का त्याग करना बाह्य संलेखना है। इस प्रकार संलेखना दो तरह की है:—

संलेखना की विधि—संलेखना को 'अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा भूसणा आराहणा' भी कहते हैं। जब मृत्यु निकट आ जाय तो उसे सुधारने के लिए धर्मसेवन पूर्वक शरीर का त्याग करने के लिए सावधान बनना चाहिए। जिनकी मनोकामना संसार के कामों से निवृत्त हो गई है, अर्थात् जिन्हें अब संसार का कोई भी कार्य नहीं करना है, वही आत्मार्थ का साधन करने के लिए अर्थात् संथारा करने के लिए तैयार हो सकते हैं। जो संलेखना करने को उद्यत हुआ है उसका कर्त्तव्य है कि-पहले इस भव में सम्यक्त्व और व्रतों

को ग्रहण करने के पश्चात् सम्यक्त्व में और व्रतों में उपयोगपूर्वक जो-जो अतिचार लगे हों, उनकी गवेषणा करे। अतिचारों की गवेषणा करने पर स्ववश, परवश या मोहवश जो जो अभिचार लगे हों, उन सब छोटे-बड़े अतिचारों की आलोचना करने के लिए आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु, जो उस अवसर पर निकट में विराजमान हों, उनके समक्ष निवेदन कर दे। कदाचित् आलोचना सुनने योग्य साधु मौजूद न हों तो गंभीरता आदि गुणों से युक्त साध्वीजी के सामने अपने दोषों को प्रकट करे। अगर साध्वीजी का योग भी न मिले तो उक्त गुणयुक्त श्रावक के समक्ष और श्रावक भी मौजूदा न हो तो श्राविका के सामने अपने दोषों को प्रकट कर दे। कदाचित् श्राविका भी न हो तो जंगल में जाकर पूर्व तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके, सीमन्धर स्वामी को नमस्कार करके, हाथ जोड़ कर खड़ा हो और पुकार कर कहे-प्रभो ! मैंने अमुक-अमुक अनाचीर्ण का आचरण किया है, मैं अपनी समझ के अनुसार उसका प्रायश्चित्त आपकी साक्षी से स्वीकार करता हूँ। अगर वह न्यून या अधिक हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

इस प्रकार निश्शल्य होकर फिर संथारा करे। जैसे काले रंग का कोयला आग में पड़ कर श्वेत वर्ण की राख के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार संथारा रूपी अग्नि में झौंकने से आत्मा भी पाप की कालिमा को त्याग कर उज्ज्वल हो जाती है। अतएव संथारा करने के इच्छुक साधक को ऐसे स्थान पर जाना चाहिए जहाँ खान-पान, भोग-विलास के पदार्थ विद्यमान न हों, संसार-व्यवहार सम्बन्धी शब्द और दृश्य सुनने तथा देखने में न आवें। जहाँ त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा होने की सम्भावना न हो। ऐसे उपाश्रय, पौषधशाला आदि स्थानों में अथवा जंगल, पहाड़, गुफा आदि स्थानों में जाय। वहाँ जाकर जहाँ चित्त की समाधि का योग हो ऐसे शिला आदि स्थानों को रजोहरण से आहिस्ते-आहिस्ते प्रमार्जन करे। कचरे को किसी पाटी आदि पर ले ले और निर्जीव जगह देख कर विधिपूर्वक परठ दे। फिर लघुनीति और बड़ी नीति, श्लेष्म और पित्त आदि को परठने की भूमिका का प्रतिलेखन करे। वह भूमि हरितकाय; अंकुर, चींटी आदि

के बिल वगैरह से रहित होनी चाहिए। उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखकर फिर संथारा करने की जगह आ जाय।

इतना सब कर चुकने के पश्चात् प्रतिलेखन और प्रमार्जन करने में तथा गमन-आगमन करने में जो पाप लगा हो, उसकी निवृत्ति के लिए पूर्वोक्त विधि के अनुसार 'इच्छाकारेण' का तथा 'तस्सुत्तरी' का पाठ कह कर 'इच्छाकारेण' का कायोत्सर्ग करे, तत्पश्चात् 'लोगस्स' का पाठ बोले। फिर निम्नलिखित शब्द कहे—प्रतिलेखना में पृथ्वीकाय आदि किसी भी काय की विराधना की हो या कोई भी दोष लगा हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

इसके पश्चात् अगर शरीर कष्ट सहन करने में समर्थ हो तो जमीन पर या शिला पर बिछौना करके उस पर संथारा करे। अगर शरीर असमर्थ प्रतीत हो तो गेहूँ, चावल, कोद्रव, राला आदि का पराल या घास, जो साफ और सूखा हो और जिसमें धान्य के दाने बिलकुल न हों, मिल जाय तो उसे लाकर उसका ३॥ हाथ लम्बा और सवा हाथ चौड़ा बिछौना करे। उसे श्वेत वस्त्र से ढँक कर उसके ऊपर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके, पर्यङ्क आसन (पालथी मार कर) आदि किसी सुखमय आसन से बैठे। अगर बिना सहारे बैठने की शक्ति न हो तो भींत आदि किसी वस्तु का सहारा लेकर बैठे। अथवा लेटा-लेटा ही इच्छानुसार आसन करे। फिर दोनों हाथ जोड़ कर दसों उंगलियाँ एकत्र करे। जिस प्रकार अन्य मतावलम्बी आरती घुमाते हैं, उसी प्रकार जोड़े हुए हाथों को दाहिनी ओर से बाईं ओर उतारता हुआ तीन बार घुमावे। फिर मस्तक पर स्थापित करे। तत्पश्चात् निम्नलिखित 'नमुत्थु णं' के पाठ का उच्चारण करेः—

नमुत्थु णं—नमस्कार हो

अरिहंताणं भगवंताणं—अरिहन्त भगवान् को

आइगराणं—धर्म की आदि करने वाले

तित्थयराणं—तीर्थ की स्थापना करने वाले

सयं संबुद्धाणं—स्वयं ही बोध को प्राप्त

पुरिसुत्तमाणं—पुरुषों में उत्तम

पुरिससीहाणं—पुरुषों में सिंह के समान

पुरिसवरपुंडरीयाणं—पुरुषों में प्रधान पुण्डरीक कमल के समान

पुरिसवरगंधहत्थीणं—पुरुषों में गंधहस्ती के समान

लोगुत्तमाणं—लोक में उत्तम

लोगनाहाणं—लोक के नाथ

लोगहियाणं—लोक के हितकर्त्ता

लोगपईवाणं—लोक में दीपक के समान प्रकाश करने वाले

लोगपज्जोयगराणं—लोक में उद्योत करने वाले

अभयदयाणं—अभयदान के दाता

चक्खुदयाणं—ज्ञान रूप चक्षु देने वाले

मग्गदयाणं—मोक्ष-मार्ग के दाता

सरणदयाणं—शरणदाता

जीवदयाणं—जीवन दान देने वाले

बोधिदयाणं—बोधि बीज-सम्यक्त्व के दाता

धम्मदयाणं—धर्म के दाता

धम्मदेसयाणं—धर्म का उपदेश करने वाले

धम्मनायगाणं—- धर्म के नायक

धम्मसारहीणं—धर्म रूपी रथ के सारथी

धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं—धर्म के चारों दिशाओं का शासन करने वाले चक्रवर्ती के समान।

दीवो ताणं सरण-गइ-पइट्ठाणं—द्वीप के समान, शरणभूत, गति और प्रतिष्ठा रूप

अप्पडिहयवरणाणदंसणधराणं—अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक
वियट्टछउमाणं—छद्म (कषाय) से सर्वथा निवृत्त
जिणाणं—राग द्वेष आदि शत्रुओं को स्वयं जीतने वाले
जावयाणं—दूसरों को जिताने वाले
तिण्णाणं—स्वयं संसार सागर से तिरे हुए
तारयाणं—दूसरों को तिराने वाले
बुद्धाणं—स्वयं तत्त्व के ज्ञाता
बोहयाणं—दूसरों को तत्त्वज्ञान देने वाले
मुत्ताणं—स्वयं कर्मों से छूटे हुए
मोयगाणं—दूसरों को कर्मों से छुटाने वाले
सव्वन्नूणं—सर्वज्ञ
सव्वदरिसीणं—सर्वदर्शी, तथा
सिवमयलमरुअं—उपद्रवरहित, अचल और रोगहीन
अणंतमक्खयं—अनन्त और अक्षय
अव्वाबाहमपुणरावित्ति—बाधा रहित तथा पुनर्जन्म से रहित
सिद्धिगइनामधेयं ठाणं—सिद्धिगति नामक स्थान को
संपत्ताणं—प्राप्त हुए
नमो जिणाणं—जिन भगवान् को नमस्कार हो।

यह 'नमुत्थुणं' सिद्ध भगवान् के लिए कहा। इसी प्रकार दूसरी बार अरिहन्त भगवान् के लिए कहना चाहिए। अन्तर यह है कि 'ठाणं संपत्ताणं' की जगह 'ठाणं संपाविउकामाणं' ऐसा बोलना चाहिए। इसका अर्थ है—सिद्धि स्थान को प्राप्त होने वाले हो।' फिर 'नमुत्थुणं मम धम्मगुरु-धम्मायरिय धम्मोवदेसगस्स जाव संपाविउकामस्स' अर्थात् मेरे धर्मगुरु, धर्माचार्य और धर्मोपदेशक यावत् मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी आचार्य महाराज को नमस्कार हो।

इस प्रकार वन्दना-नमस्कार करके, पूर्व में आचरण किये हुए सम्यक्त्व और व्रतों में आज इस समय तक, जानते-अनजानते, स्ववश, परवश भी कोई अतिचार लगा हो, उसकी आलोचना-विचारणा करके उससे निवृत्त होता हूँ। आत्मा की साक्षी से उसकी निन्दा करता हूँ, गुरु की साक्षी से उसकी गर्हा करता हूँ।

इस तरह कह कर भविष्य के लिए प्रत्याख्यान करे। माया, मिथ्यात्व और निदान, इन तीनों शल्यों का सर्वथा परित्याग करे। इस प्रकार अपने अन्तःकरण को पूरी तरह निर्मल बनाकर 'सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि' अर्थात् हिंसा का सर्वथा त्याग करता हूँ, 'सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि' मृषावाद का सर्वथा त्याग करता हूँ, 'सव्वं अदिण्णादानं पच्चक्खामि' अदत्तादान का सर्वथा त्याग करता हूँ, 'सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि' मैथुन का सर्वथा त्याग करता हूँ, 'सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि' परिग्रह का सर्वथा त्याग करता हूँ, 'सव्वं कोहं माणं मायं लोहं पच्चक्खामि' अर्थात् क्रोध, मान, माया लोभ का सर्वथा त्याग करता हूँ, 'रागदोसं कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं, परपरिवायं, रइयरइं, मायामोसं, मिच्छादंसणसल्लं, अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि' सब राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति, अरति, मायामृषा, मिथ्यादर्शनशल्य और अकरणीय योग का प्रत्याख्यान करता हूँ। 'जावजीवं तिविहं तिविहेणं' जीवन पर्यन्त तीन करण तीन योग से, 'न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, मणसा वयसा कायसा' अर्थात् उक्त अठारह ही पापों का सेवन न करूँगा, न कराऊँगा और न करने वाले की अनुमोदना करूँगा; मन से, वचन से, काय से। इस तरह अठारह ही पापों का त्याग करे।

तत्पश्चात्—'सव्वं असणं, पाणं, खाइमं साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि' अर्थात् सर्वथा प्रकार से—विना किसी आगार के अन्न, पानी पकवान, मुखवास का तथा (पि-अपि शब्द से) सूँघने की वस्तु का, आँख में डालने के अंजन आदि का भी प्रत्याख्यान करता हूँ। ऐसा कह कर आहार का सर्वथा परित्याग कर दे।

आहार का त्याग करने के पश्चात् निम्नलिखित पाठ का उच्चारण करके शरीर का भी प्रत्याख्यान कर दे:—

जंपि इमं सरीरं—यह जो मेरा शरीर

इट्ठं—इष्ट रहा

कंतं—सती को पति के समान वल्लभ रहा है

पियं—प्यारा

मणुण्णं—मनोज्ञ

मणामं—मनोरम

धिज्जं—धैर्यदाता

विसासियं—विश्वसनीय

सम्मयं—माननीय

बहुमयं—लोभी को धन के समान बहुत माननीय

अणुमयं—अनुमत-दुर्गुणी समझ कर भी भला माना

भंडकरंडगसमाणं—जिसे आभूषणों की पेटी की तरह हिफाज़त से रक्खा

रयणकरंडगभूयं—रत्नों के पिटारे के समान माना, (और जिसके विषय में यह सावधानी रक्खी कि—)

मा णं सीया—इसे सर्दी न लग जाय

मा णं उण्हा—गर्मी न लग जाय

मा णं खुहा—भूख का कष्ट न हो

मा णं पिवासा—प्यास का कष्ट न हो

मा णं वाला—साँप (आदि विषैला कीड़ा) न काट खाय

मा णं चोरा—चोर (आदि) कष्ट न पहुँचावें

मा णं दंसमसगा—डाँस-मच्छर न काटें

मा णं वाहियं पित्तियं कप्फियं संभीमं सन्निवाइयं विविहा रोगायंका परिसहा उवसग्गा फासा फुसंतु—	वात, पित्त, कफ, श्लेष्म, सन्निपात आदि विविध प्रकार के रोगों और आतंकों, परीषहों और उपसर्गों तथा अप्रिय स्पर्शों का संयोग न हो (उसी शरीर को अब)।
चरमेहिं उस्सासनीसासेहिं— वोसिरामि	अन्तिम श्वासोच्छ्वास पर्यन्त त्याग करता हूँ अर्थात् शारीरिक ममत्व का त्याग करता हूँ
कालं अणवकंखमाणे—	जल्दी मृत्यु हो जाय, ऐसी इच्छा न करता हुआ
विहरामि—	विचरता हूँ।

संलेखना के पाँच अतिचार

(१) इह लोगासंसप्पओगे—इस संथारे के फलस्वरूप, मेरी कीर्ति, ख्याति, प्रतिष्ठा हो, लोग मुझे बड़ा त्यागी, वैरागी समझें, धन्य धन्य कहें, इस प्रकार इस लोक संबंधी आकांक्षा करने से अतिचार लगता है।

(२) परलोगासंसप्पओगे—मृत्यु के पश्चात् मुझे इन्द्र का पद मिले, उत्कृष्ट ऋद्धि का धारक देव बनूँ, चक्रवर्त्ती या राजा होऊँ, सुन्दर शरीर की प्राप्ति हो, संसार के भोगोपभोग प्राप्त हों, इत्यादि परलोक संबंधी आंकाक्षा करने से यह अतिचार लगता है।

(३) जीवियासंसप्पओगे—संथारे में अपनी महिमा पूजा होती देख कर बहुत समय तक जीवित रहने की इच्छा करना।*

(४) मरणासंसप्पओगे—क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा से व्याकुल होकर जल्दी मर जाने की इच्छा करना।*

* अधिक जीना या जल्दी मरना किसी की इच्छा के अधीन नहीं है। इच्छा करने से आयु कम ज्यादा नहीं हो सकती, सिर्फ कर्म का बन्ध होता है। अतएव व्यर्थ कर्म-बन्ध नहीं करना चाहिए।

(५) कामभोगासंसप्पओगे—काम-भोगों की इच्छा करना।

संलेखनाव्रत जीवन का अंतिम और महान् व्रत है। वह मृत्यु को सुधारने की उत्कृष्ट कला है। इस कला की साधना अतीव सावधानी के साथ करनी चाहिए। उक्त पाँच अतिचारों में से किसी भी अतिचार का सेवन नहीं करना चाहिए। संथारे का प्रधान फल आत्मशुद्धि और आत्मकल्याण है। उससे आनुषंगिक फल के रूप में जो सांसारिक सुख प्राप्त होने वाले हैं वे तो इच्छा न करने पर भी स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। उन फलों की इच्छा करने से व्रत मलीन हो जाता है और व्रत का प्रधान फल मारा जाता है। अतएव किसी भी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं रखते हुए, जिनेन्द्र भगवान् के गुणों में ही अपने चित्त को रमाकर, संसार के अनित्य स्वरूप का विचार करते हुए, धर्मध्यान में ही संथारे का समय व्यतीत करना चाहिए। कहा भी है—

किं बहुना लिखितेन, संक्षेपादिदमुच्यते।
त्यागो विषयमात्रस्य, कर्त्तव्योऽखिलमुमुक्षुभिः॥

अर्थात्—अधिक लिखने से क्या लाभ! संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि मोक्ष की अभिलाषा रखने वालों को विषय मात्र का त्याग कर देना चाहिए।

संलेखना वाले की भावना



(१) अहा! पुद्गल के परमाणुओं के मिलने पर इस शरीर-पिण्ड का निर्माण हुआ था। देखते-देखते ही इसका प्रलय होने लगा! पुद्गलों का संयोग ऐसा विनाशशील है!

(२) प्रभो! आपने कहा था—'अधुवे असासयंमि' अर्थात् यह जीवन अध्रुव (अस्थिर) और अशाश्वत (अनित्य) है, आपके इस कथन पर इतने

दिन तक मैंने ध्यान नहीं दिया। अब शरीर की यह विनाशशील रचना देख कर मुझे निश्चय हो गया है कि आपका कथन पूर्ण रूप से सत्य है।

(३) जिस प्रकार मनुष्यों का एक जगह इकट्ठा हो जाना मेला कहलाता है और कालान्तर में उनके बिखर जाने पर शून्य अरण्य हो जाता है, इसी प्रकार अनेक मनुष्यों के मिल जाने पर कुटुम्ब का मेला लग जाता है और पुद्गलों के संयोग से शरीर का मेला बन जाता है। मगर चार दिन बाद ही वह बिखरने लगता है! इसमें हर्ष या विषाद करना उचित नहीं है। जैसे मेले में शामिल होने वाले लोग बिखरते समय चिन्ता या शोक नहीं करते, उसी प्रकार कुटुम्ब या शरीर का मेला बिखरते समय मुझे भी शोक करना योग्य नहीं है। संयोग का फल वियोग है। चिन्ता करके भी कोई वियोग से बच नहीं सकता। ऐसी स्थिति में चिन्ता या शोक करके अपनी आत्मा को अशान्त और मलीन करने की क्या आवश्यकता है?

(४) इस जगत् का न कोई कर्त्ता है, न कोई हर्त्ता है। सभी पदार्थ स्वभाव से ही मिलते और बिछुड़ते हैं। शरीर का संयोग भी स्वभाव से ही हुआ है और स्वभाव से ही मिटने वाला है। मैं संयोग बनाये रखना चाहूँ तो रह नहीं सकता और बिखेरना चाहूँ तो बिखर नहीं सकता। तो फिर इसके बिखरने की चिन्ता मैं क्यों करूँ? जो होना होगा सो आप ही हो जायगा।

(५) मैं अजर, अमर, अविनाशी, अमूर्त्ति सच्चिदानन्द हूँ और शरीर विनश्वर, मूर्तिक और जड़ रूप है। शरीर का नाश होने पर भी मेरे स्वभाव का कदापि नाश नहीं हो सकता। तब इस शरीर की चिन्ता मैं क्यों करूँ?

(६) हे जिनेन्द्र! मैं अविवेक के कारण इस शरीर को अपना मानता था। पर अब मुझे भास हुआ है कि वह मेरी भ्रान्ति थी—भूल थी। वास्तव में शरीर मेरा नहीं है। यह मेरी इच्छा के अनुसार चलता नहीं है। मैं कब चाहता था कि यह बूढ़ा हो जाय? मैं ने कब इच्छा की थी कि सब अंगो-

पांग शक्तिहीन, शिथिल और जर्जरित हो जाएँ ? मेरी इच्छा नहीं थी कि यह शरीर नाना प्रकार के रोगों का घर बन जाय। फिर भी यही हुआ। मेरी इच्छा न होने पर भी यह मेरे शत्रु रोगों से मिल गया और इसने बुढ़ापे को स्वीकार कर लिया। अगर यह मेरा होता तो मेरे दुश्मनों से क्यों मिल जाता ? मुझे दुखी करने के लिए क्यों तैयार होता ? ऐसे स्वामीद्रोही शरीर को अपना मानना उचित नहीं है। अब मैं समझ गया—अब यह मेरा नहीं है। चाहे रहे चाहे जाय !

(७) हे भोले जीव ! इस शरीर को माता-पिता अपना पुत्र कहते हैं, भ्राता और भगिनी अपना भाई कहते हैं, काका और काकी अपना भतीजा कहते हैं, मामा और मामी अपना भानजा कहते हैं, पत्नी अपना पति कहती है, पुत्र-पुत्री अपना पिता कहते हैं, इत्यादि सब इसे अपना-अपना कहते हैं और तू इसे अपना कहता है। अब कह, यह शरीर वास्तव में किसका है ? परमार्थ दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि यह किसी का नहीं है, क्योंकि कोई भी इसे रखने में समर्थ नहीं है। अतएव सब कुटुम्बियों और संबंधियों से ममत्व का त्याग कर निश्चित समझ ले कि तू सच्चिदानन्द-स्वरूप है। अतएव अब निज स्वभाव में रमण करना ही मुझे उचित है।

(८) रे आत्मन् ! यह शरीर-सम्पदा इन्द्रजाल की माया के समान है। कहा भी है:—

बालो यौवनसम्पदा परिगतः, क्षिप्रं क्षितौ लक्ष्यते।
वृद्धत्वेन युवा जरापरिणतो व्यक्तं समालोक्यते।
सोऽपि क्वापि गतः कृतान्तवशतो न ज्ञायते सर्वथा,
पश्यैतद्यदि कौतुकं किमपरैस्तैरिन्द्रजालैः सखे !

—वैराग्यशतक.

हे मित्र ! यह शरीर काल के वशीभूत होकर इन्द्रजाल के तमाशे के समान, क्षण-क्षण में परिवर्तित होता जाता है। जरा इस ओर दृष्टि दे। बाल्यावस्था में यह शरीर सब को प्यारा लगता है—सब का खिलौना बना

रहता है, मगर बहुत दिनों तक यह हालत नहीं रहती। पुद्गलों का प्रचय होते-होते यह वृद्धावस्था में प्रवेश करता है और छटादार एवं मनोहर बन जाता है। मगर यह अवस्था भी थोड़े ही दिन ठहरती है। क्षण-क्षण में पलटते-पलटते यह वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। गलित-पलित होकर घृणा का पात्र बन जाता है। पहले जो लोग इसे प्यारा समझते थे, उन्हें ही यह खारा लगने लगता है। फिर इसकी और अधिक दुर्दशा होती है। मृत्यु इस पर हमला करती है और यह मुर्दा बन जाता है। तब वही प्रेमी स्वजन मोह-ममता त्याग कर इसे अग्नि में भस्म कर देते हैं। शरीर की और कुटुम्बियों की इस स्थिति को देखते हुए और जानते हुए भी शरीर और कुटुम्बी जनों के प्रति आसक्त होना कितने आश्चर्य और खेद की बात है?

(९) जो जीता है वह मरता नहीं है और जो मरता है वह जीता नहीं है। अर्थात्—आत्मा अविनाशी है और शरीर विनाशशील है। इसलिए मृत्यु शरीर को अपना ग्रास बना सकती है, आत्मा को नहीं। शरीर तो प्रतिक्षण पलटता जा रहा है, क्षीण होता जा रहा है। किन्तु मैं (आत्मा) सदैव तीनों काल ज्यों का त्यों हूँ और रहूँगा। मृत्यु की मेरे पास तक पहुँच नहीं हुई और होगी भी नहीं। जिसने इस सचाई को भली-भाँति समझ लिया है, उसे मृत्यु का भय कदापि नहीं सता सकता।

(१०) मैं आकाशवत् हूँ, इस कारण अग्नि में जलता नहीं, पानी में गलता नहीं, वायु से उड़ता नहीं, शस्त्रों से भिदता नहीं, हस्तादि से ग्रहण किया जा सकता नहीं। मैं कदापि नष्ट नहीं हो सकता। आकाश से मेरी विशेषता यह है कि आकाश अचेतन है मैं चेतन हूँ, आकाश जड़ है मैं चिन्मय हूँ। अतएव मुझे कभी किसी से भय नहीं हो सकता।

(११) जैसे श्रीमान् के पुत्र के दोनों तरफ की जेबों में मेवा भरा रहता है और वह जिधर हाथ डालता है उधर ही उसे स्वादिष्ट पदार्थ मिलते हैं। इसी प्रकार मेरे भी दोनों हाथों में मेवा है अर्थात् जब तक जीता हूँ तब तक संयम पालता हूँ या श्रावक के व्रत पालता हूँ, स्वाध्याय, तप आदि करता हूँ और जब मर जाऊँगा तो स्वर्ग-मोक्ष के सुख का अधिकारी बनूँगा।

महाविदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी आदि तीर्थंकरों के, गणधरों के तथा मुनियों और आर्यिकाओं के उपदेश और दर्शन का लाभ प्राप्त करूँगा। इससे राग और द्वेष का उच्छेद करने में समर्थ बनूँगा और फिर मानव-जन्म को प्राप्त करके संयम और तप के द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करूँगा।

(१२) जैसे कोई गृहस्थ श्रीमन्त बन कर, अपने पुराने टूटे-फूटे घर का परित्याग कर देता है और विपुल द्रव्य का व्यय करके मनोहर हवेली बनवाता है और हवेली बन कर तैयार होते ही बड़े उत्सव और हर्ष के साथ उस नई हवेली में निवास करने लगता है, इसी प्रकार मेरी यह आत्मा संयम-तप आदि द्रव्य से श्रीमन्त बनी है। अब यह आधि, व्याधि, उपाधि से युक्त, अस्थि, मांस, रक्त आदि अशुचि द्रव्यों से परिपूर्ण, चमड़ी से मढ़े हुए, सड़न-पड़न स्वभाव वाले इस औदारिक शरीर रूप झोंपड़ी का त्याग करने के लिए, पुण्य रूप विपुल द्रव्य को व्यय करके तैयार करवाये हुए, आधियों एवं व्याधियों से रहित, इच्छानुसार रूप में परिणत हो जाने वाले देव के दिव्य शरीर रूपी हवेली में निवास करूँगा। वहाँ पहुँचाने के लिए मुझे मृत्यु रूपी मित्र सहायक मिल गया है! मुझे मृत्यु से झिझकना नहीं चाहिए, उसका स्वागत करना चाहिए।

(१३) लोभी वणिक् भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के अनेक कष्ट सहन करके, देश-देशान्तर में भटक कर धन और माल का संचय करता है। संचय करके उसे अपने भंडार में सुरक्षित रखता है और तेजी की प्रतीक्षा करता है। भाव तेज होते ही अत्यन्त कष्ट-पूर्वक इकट्ठे हुए और रक्षित किये हुए माल की ममता का त्याग कर देता है और उसे बेच कर लाभ उठाता है। उसी प्रकार हे जीव! प्राणप्यारे धन कुटुम्ब का परित्याग करके, क्षुधा तृषा शीत ताप उग्रविहार आदि का कष्ट सहन करके इस शरीर से तप, संयम, धर्म आदि रूप जो माल इकट्ठा किया है और उसे दोषों से बचा कर रक्खा है, उस माल के बदले में अब स्वर्ग-मोक्ष रूपी लाभ प्राप्त करने के

लिए यह मृत्यु रूपी तेजी का भाव आया है। इस अवसर पर चूकना नहीं चाहिए और पूरा-पूरा लाभ उठा लेना चाहिए।

(१४) जैसे दिन भर की हुई मजदूरी का फल सेठ देता है, उसी प्रकार जीवन भर की हुई करनी का फल मृत्यु के द्वारा प्राप्त होता है। तो फिर मृत्यु से दूर क्यों भागना चाहिए ? डरना क्यों चाहिए ? मृत्यु का तो आभार मानना चाहिए।

(१५) किसी राजा को किसी परचक्री राजा ने पराजित करके कारागार में कैद कर दिया। वह उसे भूख-प्यास, ताड़ना-तर्जना आदि के दुःखों से पीड़ित करने लगा। यह समाचार उसके किसी मित्र राजा को मिला। वह अपना दल-बल लेकर आता है और अपने मित्र राजा को कारागृह के कष्टों से छुड़ाता है। इसी प्रकार कर्म रूपी परचक्री राजा ने चेतन रूपी राजा को पराजित करके शरीर रूप कारागृह में बन्द कर रक्खा है। रोग, शोक, पराधीनता आदि नाना प्रकार के कष्टों से वह आत्मा को पीड़ित कर रहा है। इन दुःखों से छुड़ाने के लिए मृत्यु रूपी मित्र राजा अपनी राजरोग आदि सेना सहित आया है। अतएव यह मेरा महान् उपकारक है। इसी की सहायता और कृपा से मैं नाना कष्टों से छुटकारा पा सकूँगा और सुखी बन सकूँगा।

(१६) भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान काल में जिन्होंने स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम सुखों को प्राप्त किया है, करते हैं और करेंगे, सो सब समाधिमरण का प्रताप समझना चाहिए, क्योंकि समाधिमरण के विना स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम सुखों की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः हे सुखार्थी आत्मन्! तुझे समाधिमरण करना उचित है।

(१७) कल्पवृक्ष की छाया में बैठकर जो जैसी शुभ या अशुभ भावना करता है, उसे वैसा ही शुभ या अशुभ फल प्राप्त होता है। अर्थात् शुभ अभिलाषा का शुभ फल और अशुभ अभिलाषा का अशुभ फल प्राप्त होता है। यह मृत्यु भी कल्पवृक्ष के समान है। मृत्यु की छाया में बैठकर अर्थात्

मृत्यु के समय में जो विषय-कषाय की भावना करता है, मोह-ममता आदि मलीन भावनाओं का सेवन करता है, वह नरक और तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों के दुःखों का भागी बनता है। इसके विपरीत जो सम्यक्त्वयुक्त त्याग, वैराग्य, व्रत, नियम, सत्य, शील, दया, क्षमा आदि गुणों का आराधन करता हुआ समाधिभाव धारण करता है, वह स्वर्ग-मोक्ष के सुखों का भाजन बनता है। इसलिए मृत्यु रूपी कल्पवृक्ष को पाकर अब शुभ भाव रखना ही योग्य है, जिससे परमानन्द-परमसुख की प्राप्ति हो सके।

(१८) अशुचि से परिपूर्ण, फूटे हंडे के समान सदैव स्वेद, श्लेष्म, मल, मूत्र आदि घिनावनी वस्तुएँ बहाने वाले इस जर्जरित औदारिक शरीर के फंदे से छुड़ा कर अशरीर (सिद्ध भगवान्) बनाने वाला या देवता के दिव्य शरीर को प्रदान करने वाला समाधिमरण ही है। अतएव समाधिमरण का स्वागत करना ही उचित है।

(१९) जैसे धर्मोपदेशक मुनि महात्मा अनेक नय, उपनय, प्रमाण, हेतु, दृष्टान्त आदि के द्वारा शरीर का स्वरूप समझा कर ममत्व को घटाने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार मेरे शरीर में उत्पन्न हुआ यह रोग भी मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा मानों उपदेश दे रहा है कि—अरे जीव! तू इस शरीर पर क्यों ममता करता है? यह शरीर तेरा तो है नहीं। यह तो मेरे स्वामी काल का भक्ष्य है। अब तू इस पर अपनी ममता त्याग दे!

(२०) किं बहुना, यह शरीर मुझे तो मुनिराज से भी अधिक असरकारक उपदेश देने वाला मालूम होता है। क्योंकि जिस शरीर को मैं प्राण-प्यारा समझ कर अनेक उपचारों से पाल-पोस कर फूला नहीं समाता था और जिसकी सुन्दरता तथा कोमलता आदि गुणों पर लुब्ध और मुग्ध हो रहा था, उस शरीर की ममता मुनिराज के उपदेश से भी छूटना कठिन थी। किन्तु रोग होने पर अनेक प्रकार के उपचारों से निराश करके शरीर ने वह ममता सहज ही छुड़ा दी।

(२१) हे जीव ! यदि तू रोग-जन्य दुःख से घबराता हो, सचमुच ही यह रोग तुझे अप्रिय प्रतीत होता हो और इस दुःख से अगर तू ऊब गया हो तो अब तू बाह्य उपचार का परित्याग कर दे। क्योंकि यह रोग कर्माधीन है। कर्माधीन रोग या कष्ट को मिटाने की सत्ता बाह्योपचार में नहीं है। कदाचित् एकाध रोग कुछ कम भी हो गया तो क्या हुआ ? हमेशा के लिए तो वह मिट ही नहीं सकता—संख्यात या असंख्यात काल के अनन्तर फिर उसका उदय हो जाता है। अगर तू समस्त रोगों की सदा के लिए चिकित्सा करना चाहता है तो श्रीजिनेन्द्र भगवान् रूप अलौकिक वैद्यराज द्वारा कही हुई समाधि रूप परमौषध का सेवन कर। समाधि ऐसी अद्भुत रसायन है कि उसके सेवन से मानसिक, शारीरिक और आत्मिक—सभी रोग समूल नष्ट हो जाते हैं। उसको सेवन करने वाला अनन्त, अक्षय, असीम, अव्याबाध आनन्द का भोक्ता बन जाता है।

(२२) ज्यों-ज्यों वेदनीय कर्म का उदय प्रबल होता जाय त्यों-त्यों आप भी अधिक प्रसन्न होता चला जाय। क्योंकि सुवर्ण को जैसे-जैसे अधिकाधिक ताप लगता जाता है, वह वैसे ही वैसे स्वच्छ होता जाता है और कुन्दन बन जाता है। इसी प्रकार तीव्र वेदनीय कर्म का उदय होने पर समभाव धारण करने से कठिन कर्मों का भी शीघ्र ही समूल नाश हो जाता है। उस समय आत्मा रूपी सुवर्ण शुद्ध एवं निर्मल होकर कंचन अर्थात् सिद्धस्वरूप बन जाता है। कदाचित् कुछ कर्म शेष रह जाएँ तो देवगति तो मिलती ही है।

(२३) मुनिवर गजसुकुमार के मस्तक पर सोमल ब्राह्मण ने अंगार रखे। मुनि ने अंगारों की घोरतर वेदना सहन की। मुनिराज स्कंधक के शरीर की चमड़ी उनके जीते जी उन्हीं के भगिनीपति ने उतरवा ली। उन्होंने वह दुस्सह वेदना सहन की। श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्कर के शासन के समय के स्कंधक मुनि के ५०० शिष्यों को पालक प्रधान ने घानी में पिलवा दिया। उन क्षमाशील मुनियों ने वह असीम वेदना समभाव से सहन की। इन सब महापुरुषों ने रोमांच खड़ा कर देने वाली वेदनाएँ समभाव, शान्ति और

क्षमा के साथ सहन कीं तो उन्हें तत्काल मोक्ष की प्राप्ति हुई। हे जीव, इन आदर्श पुरुषों के पावन चरितों से शिक्षा लेकर तू भी दुःख के समय समभाव धारण कर। तेरा भी आत्मकल्याण हो जायगा। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

(२४) हे जीव! तू ने नरक में दस प्रकार की घोर से घोर क्षेत्र-वेदना सहन की है। परमाधामियों की निर्दय मार-पीट भी सही है। तिर्यञ्च योनि में क्षुधा, तृषा, ताड़ना, पराधीनता आदि के विविध कष्ट सहन किये हैं। मनुष्यभव में दरिद्रता, दारुण वियोग की वेदना, पराधीनता आदि के दुःख भुगते हैं। यहाँ तक कि देवगति में भी आभियोग्य देव होकर इन्द्र के वज्र-प्रहार आदि के दुःख भोगे हैं। वैसे कष्ट तो यहाँ तुझे नहीं हैं। मगर जितने कर्मों की निर्जरा अनन्त काल तक कष्ट सहते-सहते भी नहीं हुई, उतनी बल्कि उससे भी अनन्तगुणी निर्जरा समभाव से वेदनीय कर्म के उदय को सहन करने से हो जायगी। यही नहीं, सदा के लिए उन सब कष्टों से छुटकारा भी पा जायगा।

(२५) संसार सम्बन्धी लेन-देन के व्यवहार में जो कई कर्जदार, साहूकार को सौ रुपये के बदले पंचानवे रुपये देकर नम्रतापूर्वक चुकौती माँगता है तो साहूकार सन्तुष्ट होकर चुकौती दे देता है। अगर कर्जदार ढिठाई करता है तो सवाये दाम चुकाने पर भी पिण्ड छूटना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार वेदनीय कर्म का यह उदय पूर्वोपार्जित ऋण को चुकाने के लिए आया है। जो कर्ज तेरे माथे पर चढ़ा है उसे नम्रता के साथ चुकता कर दे, जिससे थोड़े में ही तेरा छुटकारा हो जाय।

(२६) आत्मन्, यह तू निश्चय समझ ले कि—'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् पहले उपार्जन किये हुए कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में तू भोगने में समर्थ होता हुआ भी क्यों जी चुराता है? वृथा क्यों ब्याज बढ़ा रहा है? बुद्धिमत्ता इसी में है कि शीघ्र से शीघ्र सारा कर्ज चुकता करके हल्का हो जा।

(२७) विचक्षण वणिक् बहुमूल्य वस्तु को अल्प मूल्य में मिलती देखता है तो चुपचाप हर्ष और उल्लास के साथ उसे खरीद लेता है। इसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष के जो सुख मुनि महात्मा दुष्कर तप, संयम, ध्यान, मौन आदि साधना के द्वारा प्राप्त करते हैं, वही सुख केवल समाधिमरण से ही तुझे मिलता है। तुझे महामूल्य निर्वाण के सुख, समाधिमरण रूप अल्प मूल्य में ही प्राप्त करने का यह सुन्दर सुयोग मिला है। तो किसी भी प्रकार की आनाकानी या गड़बड़ी न करता हुआ व्यवहार में चुपचाप (मौन धारण करके) और निश्चय में समाधि भाव धारण करके उन महामूल्य सुखों को खरीद लेना ही कुशलता है।

(२८) सुभटगण धनुर्विद्या आदि का अभ्यास करके और प्रयोग के द्वारा उसकी साधना करके सुसज्जित रहते हैं और जब कभी शत्रु का सामना होता है तो सिद्ध की हुई उस विद्या के द्वारा शत्रु को पराजित करके अपने किये हुए श्रम को सार्थक समझते हैं। इसी प्रकार हे प्राणी! तू ने इतने दिनों तक जो ज्ञानाभ्यास किया है, तप और संयम की महान् साधना की है, वह इसी अवसर के लिए तो की है। उस साधना की सार्थकता आंकने का यही समय है। यह समय जब आ पहुँचा है तो अब सच्चे अन्तःकरण से, परिपूर्ण निर्भयता के साथ रोग एवं मृत्यु आदि शत्रुओं का मुकाबिला कर। उनके सामने डट कर खड़ा हो जा और अपना चिरप्रतीक्षित ध्येय साध ले।

(२९) लोक में उक्ति प्रचलित है—'अतिपरिचयादवज्ञा' अर्थात् जिसके साथ अत्यन्त परिचय हो जाता है, उससे स्वभावतः प्रीति कम हो जाती है। इस उक्ति के अनुसार शरीर के प्रति तेरी प्रीति अब कम हो जानी चाहिए, क्योंकि शरीर के साथ तेरा अनादिकाल का परिचय है।

(३०) उपयोग में लाते-लाते सुन्दर वस्त्र भी जब जीर्ण हो जाता है तो उस पर ममता नहीं रहती। उसे उतार कर फैंक दिया जाता है और हर्ष के साथ नूतन वस्त्र धारण कर लिया जाता है। इसी प्रकार यह औदारिक शरीर अनेक कामों में आने से, रोगों के संयोग से तथा तप, संयम,

विनय, वैयावृत्य आदि के काम में लाने से जीर्ण हो गया है। अब इसका परित्याग करके नूतन दिव्य देवशरीर को प्राप्त करना है। इसमें विषाद का क्या कारण है ? पुराना वस्त्र उतार कर ही नया धारण किया जाता है, इसी प्रकार इस शरीर का त्याग करने पर ही देवशरीर की प्राप्ति हो सकती है। ऐसी दशा में इस जीर्ण-शीर्ण शरीर का त्याग करने में झिझकने की क्या जरूरत है ?

समाधिमरण सम्बन्धी प्रश्नोत्तर



प्रश्न—मृत्यु के आगमन से पहले ही आहार-पानी आदि का परित्याग करके मृत्यु के सन्मुख होकर मर जाना अथवा मृत्यु को आमन्त्रण देकर बुला लेना क्या आत्मघात नहीं है ? संलेखना से अपघात का महापातक नहीं लगता ?

उत्तर—समाधिमरण और आत्मघात में बहुत अन्तर है। प्रथम तो, आत्मघात में इस बात का विचार नहीं किया जाता कि मेरे जीवन का अन्त सन्निकट आ गया है या नहीं ? मेरी मृत्यु शीघ्र ही अवश्यम्भावी है या नहीं ? दूसरे, आत्मघात कषाय के उदय से किया जाता है और उसमें हठात् प्राणत्याग किया जाता है। समाधिमरण उपसर्ग आदि विशेष कारण होने पर किया जाता है। वह कषाय के उदय से नहीं किया जाता, बल्कि कषाय जब उपशान्त होते हैं तब किया जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वश में होकर अन्न पानी आदि का त्याग करके मरे अथवा क्रोध आदि से पागल होने पर आग में जल कर, पानी में डूब कर, विष का सेवन करके अथवा फाँसी आदि लगा करके मरे तो आत्मघात का पाप लगता है। किन्तु क्रोध आदि किसी भी कषाय के बिना, सिर्फ अपनी आत्मा के कल्याण के लिए, संसार और शरीर से मोह-ममता का त्याग करके, चारों आराधनाओं के साथ, आहार आदि का त्याग करके, उपसर्ग, दुर्भिक्ष, असाध्य रोग आदि कारण उपस्थित होने पर

शरीर से ममता हटा कर शान्ति और समाधि के साथ मृत्यु का वरण किया जाता है, उसे समाधिमरण कहते हैं। समाधिमरण और आत्मघात में इस प्रकार बहुत अन्तर है।

हट्टे-कट्टे नौजवान पट्ठे संग्राम में मारे जाते हैं। उनका मरना आत्मघात नहीं कहलाता। बल्कि भगवद्गीता में तो यहाँ तक कहा है कि संग्राम में मृत्यु पाने वाले स्वर्ग में जाते हैं। तो जिस प्रकार बाह्य (द्रव्य) संग्राम में मरना आत्मघात नहीं गिना जाता, उसी प्रकार आध्यात्मिक शत्रुओं का नाश करने वाले भावसंग्राम में प्रवृत्त होकर शरीर का परित्याग करना आत्मघात कैसे गिना जा सकता है? वस्तुतः वह आत्मघात नहीं है।

नीयन्तेऽत्र कषायाः हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—हिंसा के कारण रूप कषायों को कम करने के लिए जो कार्य किया जाता है उसे अहिंसा ही कहते हैं। अतः अहिंसा की सिद्धि के लिए किया जाने वाला सल्लेखनाव्रत भी अहिंसारूप ही है। उसमें आत्मघात रूप हिंसा किंचिन्मात्र भी नहीं है।

(२) प्रश्न—शास्त्रकारों ने मनुष्यजन्म को अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है, और मनुष्यशरीर की रक्षा एवं पालन-पोषण करने से ही शुद्ध उपयोग, व्रत, संयम आदि धर्म की साधना भी हो सकती है। अतएव ऐसे उपकारक शरीर की रक्षा करना ही उचित है। संथारा करके उसे नष्ट कर देना कैसे योग्य कहा जा सकता है?

उत्तर—आपका कहना सत्य है। हम भी यही जानते और मानते हैं। किन्तु जैसे कोई साहूकार द्रव्य को उपार्जन करने के लिए दुकान की हिफाजत करता है। फिर भी कभी दुकान में आग लग जाय तो वह जहाँ तक

सम्भव होता है, दुकान और उसमें रक्खे हुए द्रव्य–दोनों को बचाने का प्रयत्न करता है। पर जब वह देखता है कि किसी भी अवस्था में दुकान नहीं बच सकती तो उसमें के द्रव्य को ही बचाने का प्रयत्न करता है। वह दुकान के साथ धन का नाश नहीं होने देता। इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष शरीर रूप दुकान की सहायता से तप, संयम, परोपकार आदि अनेक लाभ उपार्जन करते हैं और इस लाभ के कारण अन्न-वस्त्र आदि से उसका पोषण करते हैं और रोग रूपी साधारण आग लगने पर औषध-सेवन आदि के द्वारा उसकी रक्षा भी करते हैं। किन्तु मृत्यु रूप प्रचंड अग्नि लगने का प्रसंग उपस्थित होने पर, शरीर का किसी भी प्रकार बचाव न होता देखकर, शरीर रूपी दुकान की रक्षा की आशा छोड़ कर सम्यग्ज्ञान आदि रूप रत्नों की ही रक्षा में तत्पर होते हैं। क्योंकि आत्मिक गुणों के प्रसाद से ही अक्षय मोक्षसुख की प्राप्ति हो सकती है।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति, समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति, यस्माद् भूयो न जायते ॥

अर्थात्—जिस पुरुष को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है और जो विचारशील नहीं है वह सदा अपवित्र है। वह संसार में परिभ्रमण करता है। उसे मुक्तिपद की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु जो सम्यग्ज्ञानी और विचारशील है, जिसका अन्तःकरण सदैव पवित्र रहता है—शुद्ध भाव में रमण करता है, उसे उस अक्षय पद की प्राप्ति होती है जिससे फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

समाधिमरणस्थ के चार ध्यान



(१) पिण्डस्थध्यान—शरीर की उत्पत्ति से लेकर प्रलय अवस्था तक होने वाली शरीर की विचित्रताओं का, अर्थात् पुद्गल के परिवर्त्तन का,

रोग आदि असमाधि के समय के वैराग्यमय विचारों का, शरीर के भीतर और बाहर रहे हुए अशुद्ध पदार्थों का, शरीर की आकृतियों के परिवर्त्तन का, शरीर और आत्मा की भिन्नता का, मन में चिन्तन करना पिण्डस्थध्यान कहलाता है। लोक के संस्थान का तथा इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के द्वितीय प्रकरण में कथित लोकस्थित स्थानों का चिन्तन करना भी पिण्डस्थध्यान में ही अन्तर्गत है।

(२) पदस्थध्यान—नमस्कारमन्त्र, लोगस्स, नमुत्थुणं, शास्त्रस्वाध्याय, आलोचनापाठ, स्तवन, छन्द, महापुरुषों और सतियों के चरित्र आदि का पठन, श्रवण करके उसके मर्म का चिन्तन करना और मन को स्थिर करके उन महापुरुषों की महान् साधना पर विचार करना पदस्थध्यान है। पदस्थ-ध्यान में 'ओं' 'ओं ह्रीं' आदि पवित्र मन्त्रों का भी ध्यान किया जाता है।

(३) रूपस्थध्यान—समवसरण में विराजमान अरिहन्त भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना। अरिहन्त परमात्मा के गुणों के साथ अपनी आत्मा के गुणों की एकता का, तथा आर्हन्त्यदशा प्राप्त करने के साधनों का चिन्तन-मनन करना।

(४) रूपातीतध्यान—सिद्ध भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना। सिद्ध भगवान् की आत्मा के साथ अपनी आत्मा के गुणों की समानता एवं एकता स्थापित करना। ऐसा विचार करना कि जैसे सिद्ध भगवान् व्यक्त रूप से सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं, उसी प्रकार मैं भी शक्तिरूप में सत्-चित्-आनन्दमय हूँ। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अखण्डितता, अमूर्तिकता, अजरता, अमरता, अविनाशीपन आदि गुण सिद्ध भगवान् में व्यक्त रूप से हैं और मुझमें भी यही सब गुण शक्ति रूप में विद्यमान हैं। इस दृष्टि से जो सिद्ध भगवान हैं सो ही मैं हूँ और जो मैं हूँ सो ही सिद्ध परमात्मा हैं

इस प्रकार चारों ध्यानों को बाह्यरूप में ध्यावे और फिर बाह्य रूप से खिसक कर शारीरिक रूप में संलग्न हो जाय, अर्थात् अपने ही शरीर के विभिन्न भागों को इन ध्यानों का विषय (ध्येय) कल्पित करके चिन्तन करे। जैसे—कमर के ऊपर के भाग की तरफ लक्ष्य स्थिर रखना पिण्डस्थध्यान और कमर के नीचे के भाग की तरफ लक्ष्य रखना पदस्थध्यान। ग्रीवा के ऊपर के अंग की तरफ मनोवृत्ति को एकाग्र करना रूपस्थध्यान और सर्व शरीरव्यापी आत्मा का ध्यान करना रूपातीत ध्यान।

इस तरह चार प्रकार का धर्मध्यान करके फिर शुक्लध्यान की ओर बढ़ने का प्रयास करना चाहिए। शुक्लध्यान का पहला पाया पृथक्त्ववितर्क है। आत्मद्रव्य और उसकी पर्यायों में गोते लगाकर इसकी साधना करनी चाहिए। तत्पश्चात् पर्यायों के चिन्तन का परित्याग करके केवल मात्र द्रव्य में ही स्थिर हो कर एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान के दूसरे पाये का चिन्तन करना चाहिए। इस ध्यान से आत्मा जब श्रेणीसम्पन्न हो जाता है और आत्मा के गुणों में तन्मय हो जाता है तो चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है और केवलदर्शन तथा केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। फिर शुक्लध्यान का तीसरा पाया आरम्भ होता है। इसमें योग की सूक्ष्मक्रिया बनी रहती है, अतः उसे सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिध्यान कहते हैं। इसके पश्चात् चौथा पाया स्वभावतः आरम्भ हो जाता है। उसमें सूक्ष्मक्रिया का भी अभाव हो जाता है, अतः उसे समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्तिध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान का चौथा पाया प्राप्त होने पर शेष रहे हुए चार अघातिक कर्मों का भी एक साथ क्षय हो जाता है। तब आत्मा सर्वथा निष्कर्म होकर मोक्षप्राप्ति करके सिद्धदशा प्राप्त कर लेती है। उस दशा में सम्पूर्ण कृत-कृत्यता, परिपूर्ण निष्ठितार्थता और सर्वोत्कृष्ट सुखमय अवस्था प्राप्त हो जाती है। संसार-चक्र से आत्मा का छुटकारा हो जाता है।

कदाचित् शुद्ध ध्यान की मन्दता और शुभध्यान की प्रबलता हो जाय और आयु सात लव या इससे कुछ ज्यादा की कम हो और इस कारण से

किंचित् कर्म शेष रह जाएँ तो उन्हें भोगने के लिए, विमल पुण्य का पात्र बना हुआ जीव सर्वार्थसिद्धविमान आदि ऊँचे देवलोक में उत्पन्न होता है। अहमिंद्र, इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन पाँच श्रेष्ठ पदवियों में से किसी एक पदवी का धारक होकर अत्युत्तम सुखोपभोग करके, पुनः मनुष्यगति में जन्म लेता है और दस बोलों का धारक मनुष्य होता है:—

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसो बले ॥

—श्रीउत्तराध्ययन, अ० ३, गा० १७-१८

अर्थात्—वह पुण्यशाली पुरुष (१) खेत-बाग-बगीचे (२) महल-हवेली (३) धन-धान्य (४) अश्व, गज आदि पशु, इन चार कामस्कंधों के समूह को प्राप्त करता है। इन चार वस्तुओं का स्कंध एक बोल समझना चाहिए। जीवन-सुख के लिए यह चार वस्तुएँ मूलतः आवश्यक हैं। अतः जहाँ यह स्कंध होता है वहीं वह पुण्यात्मा पुरुष उत्पन्न होता है। (२) वह उत्तम मित्रों वाला तथा (३) ज्ञाति वाला होता है। (४) उच्च गोत्र वाला (५) सुन्दर रूप वाला (६) रोगहीन शरीर वाला (७) महान् बुद्धि का धनी (८) विनीत तथा सन्माननीय (९) यशस्वी और (१०) बलवान् होता है।

इस प्रकार सुखमय और गुणमय स्थिति में उत्पन्न होकर जब तक भोगावली कर्म का उदय होता है तब तक रूक्ष वृत्ति से भोग भोग कर पुनः संयम का आचरण करके, यथाख्यात चारित्र में रमण करता हुआ, समस्त कर्मांशों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर अतुल और अनुपम सुखों का भोक्ता बन जाता है।

अतुलसुहसागरगया, अव्वाबाहमणोवमं पत्ता।
सव्वमणागयमद्धं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥

—श्रीउववाई सूत्र, २२

अर्थात्—सिद्ध भगवान् के सुख की तुलना किसी भी सुख से की ही नहीं जा सकती। ऐसे अनुपम अतुल, अनाबाध सुख के सागर में मग्न बने हुए अनन्त अनागत (भविष्य) काल तक–सदा के लिए एकान्त सुखी बने रहते हैं।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

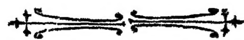
उपसंहार

एस धम्मे धुवे णिच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेण, सिज्झिस्संति तहावरे ॥त्ति बेमि॥

—श्री उत्तराध्ययन, अ० १६

इस 'जैनतत्त्वप्रकाश' ग्रन्थ में सूत्रधर्म और चारित्रधर्म आदि का जो विस्तारपूर्वक कथन किया गया है, वह धर्म भूतकाल में हुए अनन्त तीर्थङ्करों ने इसी प्रकार प्रतिपादन किया है। वर्त्तमान काल में महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान बीस तीर्थङ्कर इसी प्रकार प्रतिपादन कर रहे हैं। और भविष्य में जो अनन्त तीर्थङ्कर होंगे वे सब इसी प्रकार प्रतिपादन करेंगे। अर्थात् इस ग्रन्थ का जो मूलाशय है वह जिनाज्ञा से सम्मत है, अतः वह धर्मपर्याय से ध्रुव निश्चल है, द्रव्यदृष्टि से नित्य है, वस्तुत्व की अपेक्षा से शाश्वत-अविनाशी है। इस कारण वह सत्य है, तथ्य है, पथ्य है। सब के लिए आदरणीय और माननीय है, क्योंकि इस धर्म की परमाराधना करके भूतकाल में अनन्त जीव सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, वर्त्तमान में असंख्यात जीव सिद्ध हो रहे हैं और भविष्यकाल में अनन्त जीव सिद्धगति प्राप्त करेंगे।

ऐसा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पाँचवें गणधर श्रीसुधर्मा स्वामी ने अपने ज्येष्ठ शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहा है।



अन्तिम मंगल

(सूत्र)

एय णं धम्मे पेच्चभवे य इहभवे य हियाए, सुहाए, खेमाए, णिस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए भविस्सइ ।

अर्थात्—इस जीव के लिए यही धर्म परभव में तथा इस भव में सुखकारी, कल्याणकारी, श्रेयस्कर और साथ देने वाला होगा । इसी से तेरा निस्तार होगा । तथास्तु ।

विज्ञप्ति

सुज्ञ पाठकगण ! श्री जिनवरेन्द्र भगवान् द्वारा प्रकाशित और श्री गणधर महाराज द्वारा ग्रथित सूत्रों और आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के अनुसार तथा निज मत्यनुसार इस 'जैनतत्त्वप्रकाश' ग्रन्थ की रचना करने का जो श्रम किया है सो केवल मेरा दानधर्म का कर्त्तव्य बजा कर भव्यात्माओं को लाभ पहुँचाने के लिए उपकारक दृष्टि से ही साहस किया है, न कि मेरी विद्वत्ता बताने । क्योंकि मैं नहीं समझता हूँ कि मैं विद्वान् हूँ । इसलिए मेरे आशय पर लक्ष्य स्थापन कर, इस ग्रन्थ में मेरी छद्मस्थता से जो कोई दोष रह गया हो उसे बाजू पर रख कर उसकी क्षमा कीजिए और इसमें कथित सद्बोध व सद्गुणों के गुणानुरागी बन गुण ही गुण को ग्रहण कीजिए । यही मेरी नम्र विज्ञप्ति है जी ।

हितेच्छु -

अमोलक ऋषि